गुप्त-साम्राज्य

•

डॉ० परमेश्वरीलाल गुप्त

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

गुप्त-साम्राज्य

•

डॉ० परमेश्वरीलाल गुप्त

लेखक की अन्य प्रमुख कृतियाँ

इतिहास, पुरातत्त्व, मुद्रातत्त्व

1. The Imperial Guptas (2 Volumes)
2. गुप्त-साम्राज्य
3. अग्रवाल जाति का विकास (अप्राप्य)
4. पुरातत्त्व परिचय (अप्राप्य)
5. भारतीय वास्तु-कला
6. प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख (खण्ड-1) (मौर्य-काल से गुप्त-पूर्व काल तक)
7. प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख (खण्ड-2) (गुप्त-काल 319-543 ई०)
8. Gangetic Valley Terracotta Art
9. Patna Museum Catalogue of Antiquities (Edited)
10. Coins (The Land and People of India Series)
11. Coins : the Source of Indian History
12. Punch-marked Coins from Andhra Pradesh Government Meseum
13. Amravati Hoard of Silver Punch-marked Coins
14. Early Coins of Kerala
15. Roman Coins from Andhra Pradesh
16. Gupta Gold Coins in Bharat Ka Bhavan
17. Copper Coins of Barid Shahi of Barar
18. Bibliography of the Hoards of Punch-marked Coins of Ancient India (अप्राप्य)
19. Bibliography of Indian Coins (1950-60 2 Parts)
20. Bibliography of Indian Numismatics (1961-1970) (2 Parts)
21. Coin-Hoards from Maharastra
22. Coin-Hoard from Gujarat State
23. हमारे देश के सिक्के
24. Numismatic History of Himanchal Pradesh
25. Coins of Dal Khalsa and Lahore Darbar
26. प्राचीन भारतीय मुद्राएँ
27. प्राचीन भारत के पूर्वकालिक सिक्के

हिन्दी-साहित्य

28. कर्णिका (कहानी)
29. बन्दी की कल्पना (गद्य-काव्य)
30. बिसराम के बिरहे (लोक-साहित्य)
31. प्रसाद के नाटक (आलोचना)
32. मौलाना दाऊद कृत चन्दायन (सम्पादित ग्रन्थ)
33. कुतुबन कृत मिरगावती (सम्पादित ग्रन्थ)
34. मलिक मुहम्मद जायसी कृत कन्हावत (सम्पादित ग्रन्थ)
35. यूरोप और अमेरिका में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थ
36. शोध और समीक्षा (सूफी साहित्य सम्बन्धी शोध और समीक्षा परक लेखों का संग्रह)
37. वे दिन वे लोग

गुप्त साम्राज्य

राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक इतिहास)
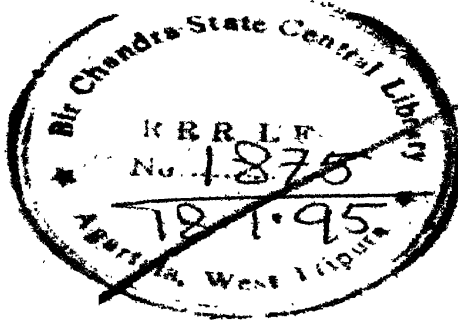
परमेश्वरीलाल गुप्त
एम० ए०, पी-एच० डी०, एफ० आर० एन० एस०
निदेशक
इंडियन इंस्टीट्यूट आफ रिसर्च
इन न्यूमिसमेटिक स्टडीज
अंजनेरी, नासिक (महाराष्ट्र)

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

GUPTA SAMARAJYA

by

Dr. P. L. Gupta

1965

ISBN 81-7124-065-8

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रानिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०
वराणसी

यह संस्करण

यह पुस्तक १९७० ई० मे प्रकाशित हुई थी और अब पुनर्प्रकाशित हो रही है। इस अन्तराल मे नयी शोध सामग्री के रूप में कुछ अभिलेख और सिक्कों के निखात प्रकाश मे आये है। अनेक स्थलो पर मुझे अपने पूर्वप्रतिपादित विचारों को नये सिरे से सोचने की आवश्यकता भी जान पडी। किन्तु उन सबको पुस्तक मे यथास्थान समाविष्ट कर प्रकाशित करने का अर्थ यह होता कि समूची पुस्तक को नये सिरे से टाइप-कम्पोजिंग करा कर तब प्रकाशित किया जाय। ऐसा करने पर आज के बढते हुए मूल्य के परिप्रेक्ष्य मे, पुस्तक का जो मूल्य अभी निर्धारित किया गया है, वह इससे कई गुना अधिक हो जाता, और तब वह इतनी अधिक महँगी हो जाती कि उसे सर्वसाधारण विद्यार्थी के लिए खरीद कर पढ़ पाना कठिन हो जाता और पुस्तक के प्रचार-प्रसार की गति अवरुद्ध हो जाती।

अत श्रेयस्कर यही जान पडा कि पुस्तक को यथावत आफसेट पद्धति से मुद्रित किया जाय और नव-ज्ञात सामग्री और अपने सशोधित विचारो को अलग से 'पुनश्च' के रूप मे जोड दिया जाय। इसी रूप मे यह सस्करण आपके सामने है। आशा है पाठक इस व्यवस्था से सहमत होगे और इसकी सराहना करेंगे। इसी विश्वास के साथ यह सस्करण प्रस्तुत किया जा रहा है।

मेरा यह प्रयास जिस रूप मे अध्यापको और विद्यार्थियो के बीच समादरित हुआ और लोगो ने जिस रूप मे इसकी सराहना की, उसे मैं अपनी एक बडी उपलब्धि समझता हूँ, और यह मेरे लिए सन्तोष का विषय है।

भारतीय मुद्रातत्व शोध सस्थान,
अँजनेरी, नासिक (महाराष्ट्र)

परमेश्वरीलाल गुप्त

आमुख

गुप्तों के महान् साम्राज्य के काल को समुचित कारणों से ही भारतवर्ष का सर्वोत्तम काल (क्लासिकल एज) कहा जाता है। यह वह युग था जब प्राचीन ब्राह्मण धर्म तथा ब्राह्मण रूढिवादिता के प्रभाव से भारतीय जनता के लोकविश्वासो के बीच विकसित ईश्वरवाद में धीरे-धीरे समाहित होने वाले बौद्धवाद से सर्वथा भिन्न भारत के प्रधान धर्म के रूप मे पौराणिक हिन्दुत्व मुखरित हुआ। यह वह युग था जब भारत के महाकाव्य (रामायण और महाभारत) अन्तिम रूप मे सम्पादित हुए, जब अनेक पुराण और धर्मशास्त्र सकलित किये गये। यह बौद्धिक चेतना का भी महान् युग था। इस युग मे आर्यभट्ट और वराहमिहिर सदृश गणितज्ञ, सुश्रुत सदृश चिकित्सक, अमरसिह सदृश कोषकार ने जन्म लिया। इस काल मे कालिदास की रचनाओं के रूप मे सस्कृत साहित्य ने जो पूर्णता प्राप्त की, वह उसे फिर नसीब न हो सकी। यही नही, इस काल मे भारतीय मूर्तिकला और चित्रकला के अवशिष्ट सर्वोत्तम नमूनो मे से कितनो की रचना हुई।

गुप्त-काल मे इस प्रकार का जो उच्च सास्कृतिक स्तर बना, उसका कुछ अशो मे कारण यह था कि उन दिनो भारत के बहुलाश उत्तरार्ध पर कई पीढियो तक योग्य और उत्साही शासक दृढता के साथ न्यायपूर्ण और सहज शासन करते रहे। उनकी जानकारी हमे मुख्यत सस्कृत अभिलेखो, जिनमे से अनेक काव्य की भाँति ही मनोरम है और उन शासको द्वारा प्रचलित सुवर्ण के सुन्दर सिक्को की लबी शृखला से प्राप्त होती है। गुप्तो से सम्बन्धित थोडे-से साहित्यिक उल्लेख भी मिले है और उनसे हमारी जानकारी मे वृद्धि भी हुई है। तथापि इस काल के राजनीतिक इतिहास के अनेक पहलू अभी भी अस्पष्ट हैं और उनकी नाना प्रकार से व्याख्या की जा सकती है।

मेरे अनन्य मित्र डॉक्टर परमेश्वरीलाल गुप्त ने इस बृहद् ग्रन्थ के रूप मे जो अध्ययन प्रस्तुत किया है, वह अब तक किये गये गुप्तो के राजनीतिक इतिहास के अध्ययनो मे निस्सन्देह विस्तृत, पूर्ण और व्यापक है। उन्होने आरम्भ मे महत्त्वपूर्ण अभिलेखो को मूल रूप मे उद्धृत किया है, सभी भाँति के सिक्को का परिचय दिया है और गुप्तो से सम्बन्धित साहित्यिक अवतरणो को सकलित किया है, तदनन्तर राजनीतिक इतिहास उपस्थित किया है। डॉक्टर गुप्त का गुप्तो के सम्बन्ध मे पहला लेख[1] सन् १६३६ मे प्रकाशित हुआ था। तब से अब तक के अपने पचास वर्ष से अधिक काल के अध्ययन और लिपि तथा मुद्रा सम्बन्धी ज्ञान के भण्डार को इस ग्रन्थ मे भर दिया है। उन्होने समस्त

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४४ (सं० १६६६), अक ३, पृष्ठ २६३ ।

महत्त्वपूर्ण विवादास्पद विषयो का पूर्ण सतर्कता के साथ परीक्षण किया और विरोधी प्रतिपाद्यों को विश्लेषणात्मक रूप से एक-दूसरे के विरुद्ध तौला है । प्रमाणों के, जो बहुधा अपर्याप्त और विरोधी है, तौलने में उन्होंने अपनी ऐतिहासिक पैठ का परिचय दिया है । राजनीतिक इतिहास के साथ-साथ इस ग्रन्थ मे उन्होंने गुप्तकालीन सामाजिक जीवन और कला का भी महत्त्वपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया है ।

मुझे विश्वास है, उन सभी विद्वानों और विद्यार्थियों के लिए, जो हिन्दू भारत का विस्तृत अध्ययन करना चाहेंगे, यह ग्रन्थ सदा अनिवार्य बना रहेगा ।

आस्ट्रेलियन नेशनल युनिवर्सिटी
कैनबरा (आस्ट्रेलिया)

ए० एल० बैशम

आत्म-निवेदन

गुप्त सम्राट् और उनके साम्राज्य का व्यवस्थित इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयास सर्व प्रथम विन्सेण्ट स्मिथ (**अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया**, आक्सफोर्ड, १९१० ई०) ने किया था। पश्चात् उसकी चर्चा हेमचन्द्र रायचौधुरी (**पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियण्ट इण्डिया**, कलकत्ता, १९२३) ने की। तदनन्तर एस० कृष्णस्वामी आयँगार (**स्टडीज इन गुप्त हिस्ट्री**, मद्रास, १९२८), रघुनन्दन शास्त्री (**गुप्त वंश का इतिहास**, लाहौर १९३२), गंगाप्रसाद मेहता (**चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य**, प्रयाग, १९३२), राखालदास बनर्जी (**द एज ऑव इम्पीरियल गुप्ताज**, काशी, १९३३), राधागोविन्द बसाक (**हिस्ट्री ऑव नार्थ ईस्टर्न इण्डिया**, कलकत्ता, १९३४), वासुदेव उपाध्याय (**गुप्त साम्राज्य का इतिहास**, प्रयाग, १९३९), आर० एन० दांडेकर (**अ हिस्ट्री ऑव द गुप्ताज**, पूना, १९४१), आर० एन० सलातूर (**लाइफ इन द गुप्त एज**, बम्बई, १९४३), रमेशचन्द्र मजूमदार और अनन्त सदाशिव अल्तेकर (**द वाकाटक-गुप्त एज**, लाहौर, १९४६), राधाकुमुद मुखर्जी (**द गुप्त इम्पायर**, बम्बई, १९४७), वी० वी० आर० दीक्षितार (**गुप्त पॉलिटी**, मद्रास, १९५२) प्रभृति अनेक विद्वानों ने इस विषय पर स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रस्तुत किये। इधर हाल के वर्षों में भी एक आध पुस्तकें इस विषय पर निकली हैं। ऐसी अवस्था में मेरे इस ग्रन्थ का औचित्य क्या है, यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से पाठकों के मन में उभर सकता है।

इसके उत्तर में यही कहना चाहूँगा कि प्राचीन भारतीय इतिहास के सूत्र इतने कम और इतनी अधिक दिशाओं में बिखरे हुए हैं कि उनको समेट कर कोई रूप देना उतना सहज नहीं है जितना कि परवर्ती काल का इतिहास लेखन। विभिन्न दिशाओं में बिखरी सामग्री को एकत्र कर सजाने मात्र से हमारा प्राचीन इतिहास तैयार नहीं हो जाता। प्राप्त सामग्री के विश्लेषण, विवेचन करने के साथ साथ उनकी व्याख्या भी करनी पड़ती है। इसके लिए आवश्यक है कि सामग्री प्राप्त होने वाली प्रत्येक दिशा में पैठ हो, जो सामान्यतः सबके लिए सुलभ नहीं है। इस कारण उपर्युक्त सभी पुस्तकें एकांगी हैं। कुछ तो सामान्य ढंग से लिखे गये परिचय मात्र हैं; कुछ में गम्भीर विवेचन अवश्य किया गया है, पर वे मुख्यतः आभिलेखिक सामग्री पर ही आश्रित हैं। साहित्यिक सामग्री इतने छिटफुट ढंग से सामने आयी है कि उन पर गम्भीरता के साथ विचार करना किसी के लिए सम्भव नहीं हो पाया है। गुप्त सम्राटों के सिक्के बड़ी मात्रा में उपलब्ध हैं; पर इतिहास सामग्री के रूप में उनका उपयोग कदाचित् ही किसी ने अपनी पुस्तक में गम्भीरता के साथ किया हो। वे जान एलन और अनन्त सदाशिव अल्तेकर की सूचियों (**ब्रिटिश म्यूजियम मुद्रा सूची** और **क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर**) में ही सिमट कर रह गये हैं। अतः इस बात की आवश्यकता बराबर बनी

रही है कि सभी सामग्री को एक साथ रख कर गुप्त सम्राटों और उनके साम्राज्य का विस्तृत विवेचनात्मक इतिहास प्रस्तुत किया जाय।

प्रस्तुत ग्रन्थ अपने स्वरूप में अब तक प्रस्तुत अन्य सभी ग्रन्थों से सर्वथा भिन्न है। मेरे अनेक मित्रों ने, जिन्होंने इसे पाण्डुलिपि अथवा मुद्रित फार्मों के रूप में देखा है, इसे 'गुप्त-कालीन इतिहास-कोश' की संज्ञा दी है। यह संज्ञा ग्रन्थ के लिए कितनी सार्थक है, यह तो मैं नहीं कह सकता। इतना ही कह सकता हूँ कि इसको प्रस्तुत करते समय मेरा ध्यान विद्यार्थियों की ओर अधिक रहा है। उन्हीं को दृष्टि में रख कर इसे लिखा गया है। साथ ही इस बात का भी ध्यान रहा है कि यह अनुसन्धित्सुओं और प्राध्यापकों के भी समान रूप से काम आ सके। इस प्रकार इसमें अधिक-से-अधिक सामग्री उपस्थित करने का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ चार स्पष्ट खण्डों—(१) सन्धान-सूत्र, (२) वृत्त-सन्धान, (३) राज-वृत्त, और (४) समाज-वृत्त—में विभक्त है। ये सभी खण्ड अपनी सीमा में एक-दूसरे से इतने स्वतन्त्र हैं कि उन्हें सहज ही अलग-अलग पुस्तक के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। अब तक जो ग्रन्थ प्रस्तुत किये गये हैं, उनमें किसी में भी प्रथम दो खण्ड नहीं हैं। अन्तिम दो खण्डों की सामग्री ही इन पुस्तकों में देखने में आती है; पर ये दोनों खण्ड सभी पुस्तकों में हों, अनिवार्य नहीं है।

प्राचीन भारतीय इतिहास रचना में सन्धान-सूत्रों का बहुत महत्त्व है पर प्रायः पाया यह जाता है कि लोग उसका कोई स्वतन्त्र परिचय नहीं देते। यदि देते भी हैं तो इतना संक्षिप्त कि उससे पाठक, विशेषतः विद्यार्थियों के पल्ले कुछ नहीं पड़ता। स्वतन्त्र रूप में भी सभी सन्धान सामग्री कहीं एकत्र प्राप्त नहीं होती। अभिलेखों का एक संकलन फ्लीट ने १८८८ ई० में **कार्पस इन्स्क्रप्शनम् इण्डिकेरम** (खण्ड ३) के रूप में किया था। उसके बाद से विगत ८० वर्षों में कितने ही नये अभिलेख प्रकाश में आये हैं, वे सभी पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे पड़े हैं और विद्यार्थियों को सर्वसुलभ नहीं हैं। साहित्यिक सामग्री की चर्चा तो शोध-पत्रिकाओं तक ही सीमित है और मूल रूप में वह पाठकों को कम ही उपलब्ध हो पाती है। सिक्के ही एक ऐसे हैं जिन पर स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में विस्तार से कुछ लिखा गया है; किन्तु उनका उपयोग इतिहास-रचना में इतना कम हुआ है कि सामान्य पाठक का उनसे नाम मात्र का ही परिचय है। इसलिए इस बात की आवश्यकता है कि किसी इतिहास-ग्रन्थ को प्रस्तुत करने से पूर्व सन्धान-सूत्रों से पाठकों को परिचित करा दिया जाय। वे स्वयं उन्हें देख कर ग्रन्थ में कही गयी बातों का मूल्यांकन कर सकें। इस दृष्टि से ही ग्रन्थ का पहला खण्ड प्रस्तुत किया गया है। इसमें अभिलेख, मुहर, मुद्रा और साहित्य की सामग्री को अलग-अलग प्रस्तुत किया गया है। अभिलेख वाले अंश में अब तक ज्ञात सभी अभिलेखों का संक्षिप्त परिचय है और कुछ महत्त्वपूर्ण अभिलेख अपने अविकल रूप में भी उद्धृत किये गये हैं। सिक्कों को वर्गीकृत कर उनके मुख्य तत्त्वों को सहज ढंग से प्रस्तुत किया गया है। साहित्य वाले अंश में उन सारे अवतरणों का परिचय है, जो गुप्तकालीन इतिहास के किसी अंग

पर प्रकाश डालते हुए अनुमान किये गये हैं। आवश्यकतानुसार उनका मूल्यांकन भी किया गया है।

सन्धान-वृत्त (हिस्टोरियोग्राफी) की ओर भी भारतीय इतिहासकारों का बहुत कम ध्यान गया है। किसी इतिहास रचना का विकास किस प्रकार हुआ, इसकी अब तक उपेक्षा ही होती रही है। इस कारण विद्यार्थी यह जान ही नहीं पाता कि जो इतिहास उसके सामने है, उसमें कौन सा तत्त्व कब और किस प्रकार समाविष्ट हुआ; उसने किस प्रकार रूप धारण किया और किसी समस्या के समाधान में लोगों ने किस प्रकार का प्रतिपाद्य कब और किन परिस्थितियों में उपस्थित किया। इसके अभाव में विद्यार्थियों को पूर्व-पृष्ठ की जानकारी नहीं हो पाती और वे इतिहास को पूरी तरह समझ नहीं पाते। प्रस्तुत ग्रन्थ में सन्धान-वृत्त के अन्तर्गत वंशावली, राज्यानुक्रम और गुप्त संवत् पर किये गये अनुसन्धानों का परिचय देते हुए उनका विवेचन किया गया है। वंशावली और राज्यक्रम दोनों ही गुप्त इतिहास के बहुत ही विवादास्पद विषय रहे हैं और यह विवाद अब तक समाप्त नहीं हुआ है। उत्तरवर्ती शासकों के सम्बन्ध में विद्वान् एक मत नहीं हो सके हैं। गुप्त-संवत् का आरम्भ कब हुआ यह पिछली शताब्दी का एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न था। इसका उत्तर फ्लीट ने जिस प्रकार उपस्थित किया, उससे विवाद बहुत कुछ समाप्त हो गया पर कभी कदा उनके निष्कर्ष को चुनौती देने वाले लेख देखने में आ जाते हैं। इस प्रश्न पर भी इस ग्रन्थ में नये सिरे से विस्तार के साथ विचार किया गया है।

तीसरा खण्ड राज-वृत्त है जो ग्रन्थ का मुख्य विषय है। इसमें अलग-अलग शासकों के रूप में राजनीतिक इतिहास प्रस्तुत किया गया है। इसे प्रस्तुत करने में सभी सूत्रों को एक में पिरोने का प्रयास किया गया है। आभिलेखिक सामग्री का पूर्ववर्ती लेखकों ने इतना अधिक उपयोग किया है कि उसमें मेरे लिए अपने ढंग से कहने के लिए कम ही रह गया था। तथापि मैंने उसे अपनी दृष्टि से देखने की चेष्टा की है। साहित्यिक सामग्री का अधिकांश इतना विवादास्पद है कि उसके सहारे कुछ भी कहना नये विवाद को जन्म देना है। फिर भी मैंने तटस्थ भाव से उस सामग्री के उपयोग करने का प्रयास किया है। इन दोनों सूत्रों के माध्यम से मैंने कुछ नया कहा है, यह कहने का साहस तो मैं नहीं करूँगा, इतना ही कहूँगा कि पाठकों के लिए मैंने सारी सामग्री एकत्र कर दी है।

इस अंश में यदि कुछ ऐसा है जिसे मैं अपना कह सकूँ तो वह यह कि इतिहास की समस्याओं को मैंने मुख्यतः मुद्राओं की आँखों देखा, परखा और समझा है और उन्हीं के सहारे उनका समाधान भी प्रस्तुत किया है। मुद्राओं के सहारे मैंने जो कुछ कहा है उसमें मेरा आत्म-विश्वास निहित है।

अन्तिम खण्ड-समाज वृत्त के अन्तर्गत गुप्तकालीन राज्य और शासन, सामाजिक जीवन, कृषि वाणिज्य और अर्थ, धर्म और दर्शन, साहित्य और विज्ञान तथा कला

और शिल्प का विवेचन है। कला और शिल्प वाले अध्याय में कुछ ऐसे तथ्य उपस्थित और मत प्रतिपादित किये गये हैं जो सर्वथा अपने हैं, यह मैं बिना किसी आत्म-श्लाघा के कह सकता हूँ। मेरी कही बातें कितना मूल्य और महत्त्व रखती हैं, यह पाठकों के विवेचन का विषय है; तत्सम्बन्ध में मुझे कुछ नहीं कहना है। अन्य अध्यायों में ऐसा विशेष कुछ भी नहीं है जिसे मैं अपना कह सकूँ। बातें वही हैं, जो दूसरों ने कही हैं, केवल कहने का ढंग अपना है।

इस ढंग की पुस्तक की आवश्यकता का अनुभव मैंने तभी किया था जब मैं काशी विश्वविद्यालय में एम० ए० का छात्र था। और इसका राजनीतिक इतिहास वाला खण्ड भी मैंने आज से १७-१८ वर्ष पहले १९५२-५३ में ही लिख डाला था। तभी मेरे मित्र शान्तिस्वरूप (अध्यक्ष, इतिहास विभाग, डी० ए० बी० डिग्री कॉलेज, आजमगढ़) ने देखा था और पसन्द किया था तथा कुछ सुझाव दिये थे। किन्तु उस समय उसके प्रकाशन की दिशा में कुछ किया नहीं जा सका। सन् १९५५ में बम्बई प्रिन्स ऑव वेल्स म्यूजियम पहुँच जाने पर मुझे तीन अच्छे और बड़े पुस्तकालयों—संग्रहालय का अपना पुस्तकालय, एशियाटिक सोसाइटी का पुस्तकालय और बम्बई विश्वविद्यालय का पुस्तकालय—की पुस्तकों के उपयोग की सहज और सुखद सुविधा मिली; काशी रहते ऐसी सुविधा सुलभ न थी। वहाँ पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी ऐसी बहुत-सी सामग्री प्राप्त हुई जिसे मैंने पहले देखा न था। उन्हीं दिनों वहाँ आन्ध्र विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के अवकाशप्राप्त अध्यक्ष मित्रवर गुर्ती वेंकटराव रह रहे थे; उनके संसर्ग का भी लाभ मिला। इस प्रकार वहाँ रहते राजनीतिक इतिहास वाला खण्ड नये सिरे से तो लिखा ही गया, प्रथम दो खण्डों के प्रस्तुत करने की भी प्रेरणा मिली। पुस्तक एक नये रूप में तैयार हुई पर यह सारा काम अत्यन्त मन्द गति से होता रहा। १९६२ में जब मैं ब्रिटिश म्यूजियम के निमन्त्रण पर लन्दन गया तो इसकी पाण्डुलिपि भी साथ लेता गया। वहाँ स्नेही मित्र डा० ए० एल० बैशम ने इसे कठोर आलोचक की दृष्टि से देखा और कितने ही बहुमूल्य सुझाव दिये। उनका भरपूर लाभ उठा कर अनेक स्थलों पर पुनर्विचार किया। इस प्रकार पाण्डुलिपि में कितने ही परिवर्तन-परिवर्धन किये गये और एक तीसरी आवृत्ति तैयार हुई। इस नये रूप मे ही पुस्तक आपके सामने है।

विश्वविद्यालय प्रकाशन (काशी) के संचालक श्री पुरुषोत्तमदास मोदी ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन की इच्छा कई वर्ष पहले ही प्रकट की थी और तभी इसके लिए उनके साथ अनुबन्ध हो गया था। पर तब पाण्डुलिपि उन्हें न दी जा सकी थी। लन्दन से लौट कर ही पाण्डुलिपि उनके पास पहुँच सकी। किन्तु तब मोदीजी की अपनी कठिनाइयाँ थीं; वे उसे तत्काल प्रेस में न दे सके। कई बरस तक पाण्डुलिपि उनके पास पड़ी रही। उस समय पुस्तक अंगरेजी में लिखी गयी थी और उसके उसी भाषा में प्रकाशित करने का विचार था। बाद में जब स्नातकोत्तर कक्षाओं की पढ़ाई हिन्दी माध्यम

से होने की चर्चा उठी तो मोदीजी ने इसे अंगरेजी और हिन्दी दोनों में साथ-साथ प्रकाशित करने का विचार किया। किन्तु दोनों संस्करणों के मुद्रण की समानान्तर व्यवस्था सम्भव न हो सकी। अंगरेजी का एक खण्ड छप जाने के बाद हिन्दी संस्करण में हाथ लगा। अंगरेजी संस्करण का मुद्रण आगे कुछ अंशों तक छपने के बाद रुक गया और हिन्दी संस्करण का मुद्रण भी अत्यन्त मन्द गति से होता रहा। हिन्दी संस्करण अब आपके हाथ में है और अंगरेजी संस्करण में अभी कुछ विलम्ब है।

पुस्तक के प्रणयन से प्रकाशन तक लगभग अठारह वर्ष लगे और वह प्रकाशक और मुद्रक के बीच आठ वर्ष तक रही। यह स्थिति किसी भी पुस्तक और उसके लेखक के लिए सुखकर नहीं कही जायेगी। जब तक पाण्डुलिपि मेरे पास रही, कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहा। यह स्थिति लेखक को सदा ग्रन्थ के अधूरेपन का बोध कराती रहती है और यह लेखक के लिए एक दुःखद स्थिति होती है; वह अपने को उस ग्रन्थ से मुक्त नहीं पाता। यह यन्त्रणा तो मैं सह ही रहा था, पुस्तक के साथ एक विचित्र दुर्घटना और घटी। जिन दिनों इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि मोदीजी के पास पड़ी रही, उन्हीं दिनों उनके एक मित्र ने, जो उन दिनों पी-एच० डी० की उपाधि के लिए शोध-कार्य कर रहे थे, इसकी पाण्डुलिपि को पढ़ा और बिना किसी प्रयास के सुलभ इतनी अधिक सामग्री देखकर गुप्तकालीन राजनीतिक इतिहास को अपने शोध का विषय बना डाला, जबकि उनके शोध का दूसरा ही विषय था; और इस आशंका से कि मेरा ग्रन्थ कहीं पहले प्रकाशित न हो जाय और उनके शोध की मौलिकता का भण्डाफोड़ न हो जाय विश्वविद्यालय को अपना निबन्ध प्रस्तुत करने से पूर्व उन्होंने उसे मुद्रित भी करा डाला। इस प्रकार कितनी ही बातों को जिन्हें मैं अपनी मौलिक उद्भावना कह सकता था, अब मेरी होते हुए भी पाठकों की दृष्टि में दूसरे के शोध का परिणाम ही समझी जायेगी। किन्तु मुझे इसका दुःख नहीं है। ज्ञान बिखेरने के लिए ही है, सँजो कर अपने पास रखने के लिए नहीं। कोई बात मैंने कही या किसी अन्य ने इससे न तो विषय पर प्रभाव पड़ता है और न समाज उसको कोई महत्त्व देता है। दुःख तो इस बात का है कि आज हमारा युवक समाज तस्कर बन कर अपने ज्ञान का ढोल पीटना चाहता है। पर तस्करी ज्ञान और आत्मार्जित ज्ञान दोनों में अन्तर इतना स्पष्ट है कि उन्हें छिपाना चाह कर भी कोई अधिक दिनों तक छिपा नहीं सकता।

मुद्रण की दीर्घसूत्रता का एक दूसरा परिणाम यह हुआ कि इस बीच कितनी और नयी सामग्री प्रकाश में आयी और मैं पुस्तक को अप-टु-डेट रखने का लोभ संवरण न कर सका। फलतः जिस भी संस्करण का ऐसा अंश प्रूफ के रूप में सामने आया, जिसमें नयी सामग्री का उपयोग किया जा सकता था, मैंने निस्संकोच समावेश किया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि हिन्दी और अंगरेजी संस्करणों की एकरूपता नष्ट हो गयी है। कुछ सामग्री अंगरेजी संस्करण में है वह हिन्दी में नहीं है और जो हिन्दी में है वह अंगरेजी में नहीं है। इसका मुझे खेद है पर यह एक अनिवार्य विवशता थी।

ग्रन्थ के अन्त में उन सभी प्रकाशित लेखों की सूची देना चाहता था जो गुप्त-कालीन इतिहास के विविध पहलुओं से सम्बन्ध रखते हैं और शोध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। किन्तु ग्रन्थ अपने मूल रूप में इतना बड़ा हो गया है कि अनेक कारणों से उसे अधिक बड़ा नहीं बनाया जा सकता था। अतः उस सूची के देने का लोभ संवरण करना पड़ा। यदि वह सूची दी जा सकती तो उसका महत्त्व होता। उसके न देने से पाठकों की कोई हानि नहीं है। इन सभी लेखों का उल्लेख किसी न किसी रूप में पाद-टिप्पणियों में उपलब्ध है; वह पाठकों के लिए पर्याप्त है।

अन्त में पाठकों से अनुरोध है कि यदि कहीं उन्हें कोई बात खटके अथवा उन्हें कथनीय जान पड़े, वे मुझे अवश्य बताने की कृपा करें। उससे मेरे ज्ञान में वृद्धि होगी और मैं उनपर विचार कर आगामी संस्करणों में उनका उपयोग कर दूसरों को लाभान्वित करने की चेष्टा करूँगा।

जिन मित्रों ने अपने परामर्श और सुझावों द्वारा इस ग्रन्थ के तैयार करने में मेरी सहायता की है, उन सबका मैं आभार मानता हूँ। वैशमजी ने ग्रन्थ का आमुख लिखने की जो उदारता दिखाई है, वह उनके स्नेह का परिचायक है; धन्यवाद की औपचारिकता द्वारा उसके महत्त्व को कम करना न चाहूँगा। अनुक्रमणिका तैयार करने में मेरे दौहित्र सुशील और राहुल का योग रहा है।

अन्त मे जो चित्र-फलक दिये गये हैं, उन्हें प्राप्त करने में भारतीय पुरातत्त्व विभाग, पटना और भोपाल अनुमण्डल कार्यालयों, अमेरिकन अकादमी ऑव बनारस, लखनऊ संग्रहालय, मथुरा संग्रहालय, विक्टोरिया एण्ड एलबर्ट म्यूज़ियम, लंदन और सर्वश्री कृष्णदत्त वाजपेयी, गोपीकृष्ण कानोडिया, फ्रेडरिक ऐशर और पृथ्वीकुमार अग्रवाल ने सहायता की है; उनका मैं ऋणी हूँ। ये चित्र विभिन्न संग्रहों और संग्रहालयों से सम्बन्ध रखते हैं; अतः उन सभी संग्राहकों, संग्रहालयों और संस्थाओंका भी आभार मानता हूँ, उन्होंने कृपापूर्वक इनको प्रकाशित करनेकी अनुमति प्रदान की है।

परमेश्वरीलाल गुप्त

पटना संग्रहालय,
पटना

विषय-सूची

संधान-सूत्र

वृत्त-संधान

राजवृत्त

समाज-वृत्त

चित्र-सूची

(घ) स्त्री शीर्ष (अहिच्छत्रा) (मृण्मूर्ति)

(च) त्रिनेत्रशिव (राजघाट) (,,)

(छ) पुरुष शीर्ष (राजघाट) (,,)

१४. नृत्य-दृश्य (देवगढ़, झाँसी)

१५. बुद्धगुप्त-कालीन विष्णु-ध्वज (एरण)

१६. (क) साँची-मन्दिर

(ख) मुण्डेश्वरी-मन्दिर

संकेत-सूची

संकेत	विवरण
अ० भ० ओ० रि० इं०	अनाल्स ऑव भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना
अ० स० इ० अ० रि० अ० रि० वा० रि०	आर्क्यालाजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, एन्युएल रिपोर्ट
अ० स० रि०, वे० स०	आर्क्यालाजिकल सर्वे रिपोर्ट, वेस्टर्न सर्किल
अ० हि० इ०	स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया
इ० ए०	इण्डियन ऐण्टीक्वेरी
इ० क०	इण्डियन कल्चर, कलकत्ता
इ० म्यू० सू० इ० म्यू० मु० सू०	इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता की मुद्रा सूची, भाग १
इ० हि० क्वा०	इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, कलकत्ता
उ० हि० रि० ज०	उड़ीसा हिस्टॉरिकल रिसर्च जर्नल, भुवनेश्वर
ए० इ०	एपीग्रैफिया इण्डिका
ए० प्रो०रि०, अ० स० इ०	ऐन्युअल प्रोग्रेसिव रिपोर्ट, आर्क्यालाजिकल सर्वे ऑव इण्डिया
क० इ० इ०	फ्लीट, कार्पस इन्स्क्रप्शनम इण्डिकेरम, भाग ३, गुप्त वंश
क० आ० स० रि०	कनिंगहम, आर्क्यालाजिकल सर्वे रिपोर्ट
गा० ओ० सी०	गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा
ज० अ० ओ० सो०	जर्नल ऑव अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी
ज० आ० हि० रि० सो०	जर्नल ऑव आन्ध्र हिस्टॉरिकल रिसर्च सोसाइटी
ज० इ० हि०	जर्नल ऑव इण्डियन हिस्ट्री
ज० उ० प्र० हि० सो०	जर्नल ऑव यू० पी० हिस्टॉरिकल सोसाइटी
ज० ए० सो०	जर्नल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता
ज० ए० सो० बं०	जर्नल ऑव एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल, कलकत्ता
ज० ओ० इ०	जर्नल ऑव ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा
ज० ओ० रि०	जर्नल ओरियण्टल रिसर्च
ज० गं० रि० इ०	जर्नल ऑव गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट, इलाहाबाद
ज० न्यू० सो० इ०	जर्नल ऑव न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी ऑव इण्डिया
ज० ब० हि० यू०	जर्नल ऑव बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी
ज० बं० ए० सो०	जर्नल ऑव बंगाल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता
ज० ब०ब्रा०रा०ए०सो०	जर्नल ऑव बॉम्बे ब्रान्च ऑव रायल एशियाटिक सोसाइटी
ज० बि० उ० रि० सो०	जर्नल बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, पटना

ज० बि० रि० सो०	जर्नल बिहार रिसर्च सोसाइटी, पटना
ज० रा० ए० सो०	जर्नल रायल एशियाटिक सोसाइटी, लन्दन
जू० ए०	जूर्नल एशियाटिके, पेरिस
कि० कि० म०	सिनहा (बी० पी०), डिक्लाइन ऑव द किंगडम ऑव मगध
न्यू० इ० ए०	न्यू इण्डियन ऐण्टीक्वैरी, पूना।
न्यू० क्रा०	न्यूमिस्मेटिक क्रानिकल, लन्दन
न्यू० स०	न्यूमिस्मेटिक सप्लीमेण्ट, कलकत्ता
प्रो० ए० सो० बं०	प्रोसीडिंग्स, एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल
प्रो० इ० हि० का०	प्रोसीडिंग्स, इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस
प्रो० ओ० का०	प्रोसीडिंग्स ऑल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेन्स
पा० टि०	पाद टिप्पणी
पू० नि०	पूर्व निर्देशित
पू० उ०	पूर्व उल्लिखित
पो० हि० ए० इ०	रायचौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियण्ट इण्डिया
पं० म्यू० मु० सू०	पंजाब म्यूजियम मुद्रा सूची।
ब्रि०म्यू०मु०सू०आ०क्ष०	ब्रिटिश म्यूजियम, मुद्रा सूची, आन्ध्र क्षत्रप
ब्रि० म्यू०मु०सू० ए०इ०	ब्रिटिश म्यूजियम मुद्रा सूची, एन्शियण्ट इण्डिया
ब्रि० म्यू० सू० ब्रि० म्यू०सू०, गु०वं० ब्रि० म्यू० कै०, गु०वं० ब्रि० म्यू० मु० सू० ब्रि० सं० सू०	ब्रिटिश म्यूजियम मुद्रा सूची, गुप्त वंश
ब्रि०म्यू०मु०सू०मु०का०	ब्रिटिश म्यूजियम मुद्रा सूची, मुगल काल
बु० स्कू० ओ० स्ट० बु० स्कू०ओ०अ०स्ट०	बुलेटिन ऑव ओरियण्टल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज, लन्दन
मे० आ० स० इ०	मेमायर्स आर्क्यालाजिकल सर्वे ऑव इण्डिया
वि० इ० ज०	विशुद्धानन्द इन्स्टीट्यूट जर्नल, होशियारपुर
से० इ०	दिनेशचन्द्र सरकार, सेलेक्ट इन्स्क्रप्शन्स
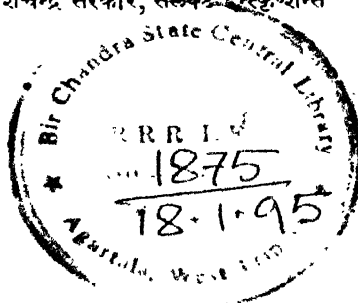
वार्तिक

(उक्तानुक्त दुरुक्तानां व्यक्तकारि तु वार्तिकम्)

कुछ अपने प्रमाद और कुछ मुद्राराक्षसो की कृपा से प्रथम संस्करण मे यत्र-तत्र कुछ भूले हो गयी थी। आफसेट से मुद्रण होने के कारण इस संस्करण मे भी उनका निराकरण नहीं किया जा सका इसका हमे खेद है। हम ऐसी भूलो को पुन यहाँ दे रहे है। पाठको से उन्हे सुधार लेने की उदारता दिखाने का अनुरोध है।

पृ०	स्थान	अशुद्ध	शुद्ध
११	पंक्ति १५	६२	८२
२२	पंक्ति १६	६०८	६० ८
२३	पंक्ति १७	कुलाईकुरा	फलाइकुरा
४५	पंक्ति १६	बुद्धगुप्त	बुधगुप्त
४५	पा० टि० ५	३६६	१५८
६२	पंक्ति ६	तीन	दो
		दो तो	दोनों
	पंक्ति ७	तीसरा राष्ट्रीय संग्रहालय (नई दिल्ली) मे	(सम्पूर्ण पंक्ति काट दे)
	,, १४	पकय	पर्यंक
७३	पंक्ति १२	क	कु
८५	,, २१	मयूरगज	मयूरभज
१०६	,, २६	श्रुत	शृत
११६	,, १८	१३२	१५२
१२३	,, २२	कारिणा	कारिणी
१२४	,, १४	स देवाए	से देवी
	पा० टि० १	ज० वि० हि० यू०	ज० ब० हि० यू०
१३१	पंक्ति ६	वाराह	वराह
१३२	,, १७	नरेशाराजसिंह	नरेश राजसिंह
१३५	,, १५	पुरु गुप्त, स्कन्द गुप्त	स्कन्द गुप्त को काट दे
१३८	,, ४	शकराव.र्य	शकराय
१३६	,, ३	राजा	खसराजा
१४०	,, १	कुवलवमाला	कुवलयमाला
१४१	,, ६	हे० रा०	हे० च०
१६३	,, १५	और पुरुगुप्त	और बुधगुप्त
१६४	पा० टि० ३	का० इ० इ० ३।	इ० ए०, १६, पृ० २२७।

पृ०	स्थान	अशुद्ध	शुद्ध
१७१	पंक्ति २२	एलेन	एलन
१७६	पा० टि० ७	ज० ह० हि०	ज०, इ० हि०
२३६	पा० टि० ८	लम्बर	लम्बक
२५०	पंक्ति २०	दक्षिण पंजाब	दक्षिण पंचाल
२५२	,, १३	राजपुर	रायपुर
२५५	,, १५	सथियानाथन	सथियानाथियर
२६४	,, १३	पग्घर	घग्घर
२६७	,, १२	हविष्क	हुविष्क
२७०	,, ४	श्याम	स्याम
२६४	पा० टि० २	—	इसे पा० टि० १ के रूप मे पृ० २६६ पर ले जाइये
२६६	पक्ति १८	—	गोविन्दगुप्त के ऊपर पा० टि० १ का सकेत दे।
	पक्ति २२	४१८-४१६	४१२-४१३
	अन्त मे		पा० टि० १ के रूप मे पृ० २६४ से पा० टि० २ ले आइये
३३३	पा० टि० ४	पृ०,	पृ० २२५,
३३४	पा० टि० ४	पृ०,	पृ० २२५,
३५३	,, ३	३४३	३४५
३५४	पंक्ति ८	पा० टि० का चिन्ह १	१ काट ले
	पंक्ति १२	पा० टि० चिन्ह २	पा० टि० का चिन्ह १ लगाये
	पक्ति १४	,, ३	पा० टि० का चिन्ह २ लगाये
	पक्ति १७	,, ४	पा० टि० का चिन्ह ३ लगाये
	,, १६	,, ५	पा० टि० का चिन्ह ४ लगाये
३५७	पा० टि० ६	३२७-२८	३२८-३०
३७८	,, ५	—	अन्त मे कामा दे कर १६ बढाइये
३७६	पा० टि० ७	—	वही के बाद जोड़िये पृ० ५६
३८२	पंक्ति १८	मीटा	भीटा
३८५	,, ३२	चन्द्रगुप्त	समुद्रगुप्त
३६४	पा० टि० ६	पृ० ३१, पंक्ति ६	पृ० ६७
४३२	पंक्ति १६	दत-उल्क	दत्त-शुल्क
४५३	,, ५	द्रविण	द्रविड़

पृ०	स्थान	अशुद्ध	शुद्ध
४७०	पंक्ति २६	गार्हस्पत्य	गार्हपत्य
४७४	,, २८	बक्सर	शाहाबाद
४८७	,, ६	—	अन्त मे बढाइये कोकमुखस्वामी १४अ
	पा० टि० १४ के बाद नयी टिप्पणी जोडिये—१४क, ए० ई० १५, पृ० १३८		
४६६	पंक्ति १	—	कोकमुखस्वामी को निकाल दे।
	पा० टि० ३	—	एकदम निकाल दे।
४६८	पंक्ति ६	हारिषेण	हरिषेण
	पंक्ति २४-२५	'इस अभिलेख मे' के बाद की समूची दोनो पंक्ति निकाल दे।	
४६६	पंक्ति १-२	पूरी प्रथम पक्ति और २री पक्ति में 'इस अभिलेख मे' तक निकाल दे।	
	पंक्ति ३	—	'सहज' शब्द निकाल दे।
५२२	,, २३	शूद्रक	सुबन्धु
५२८	,, ६	वागभट्ट	वाग्भट्ट
५६७	,, ११	नरसिंह	नृसिंह
५६८	,, २१	बायाँ	दाहिना
		दाहिना	बायॉ
६००	,, ६	विशाव	विशाख
६०५	,, २५	दो इंच	दो इंच ऊँचे
६१६	,, १६	अमृतगुहा	अमृत लयन
६२०	,, ४	बुद्ध गुप्त	बुधगुप्त
	,, १३	चन्द्रगुप्त	सनकानिक
	,, १७	नरसिंह	नृसिंह

पुनश्च

अभिलेख

पृष्ठ ११

(चन्द्रगुप्त-द्वितीय, के अभिलेख के पूर्व पढ़ें)

रामगुप्त के अभिलेख — १९६९ मे विदिशा (मध्य प्रदेश) नगर के निकट बेस नदी के तटवर्ती एक टीले की खुदाई करते समय जैन तीर्थकरो को तीन मूर्तियाँ प्राप्त हुई थी। इन तीनो मूर्तियो के आसन पर सामने की ओर समान आशय के लेख थे। इनमे से एक का लेख तो पूर्णतया नष्ट हो गया है। दूसरी मूर्ति पर केवल आधा ही लेख उपलब्ध है। केवल तीसरी मूर्ति पर पूरा लेख है। इन अभिलेखो के अनुसार एक मूर्ति आठवे तीर्थकर चन्द्रप्रभ की और दूसरी नवे तीर्थकर पुष्पदन्त की है। इनके प्रकाश मे लाने का दावा जी० एस० गाई[1] और रत्नचन्द अग्रवाल[2] ने किया है। दोनो ने इनके सम्बन्ध मे एक साथ लेख प्रकाशित किये है। इन मूर्तियों पर अंकित अभिलेख इस प्रकार है -

भगवतोर्हतः । चन्द्रप्रभस्य (दूसरी मूर्ति पर पुष्पदन्तस्य) प्रतिमेयं कारिता महाराजाधिराज श्री रामगुप्तेन उपदेशात् पाणिपात्रिक-चन्द्र क्षमाचार्य्य-श्रमण-श्रमण-प्रशिष्य आचार्य सर्प्पसेन श्रमण-शिष्यस्य गोलक्यान्त्या-सत्पुत्रस्य चेलू-श्रमणस्येति ।

इस अभिलेख का विशेष महत्त्व इस दृष्टि से है कि इसमें रामगुप्त को महाराजाधिराज कहा गया है। इस काल मे एकमात्र गुप्त नरेशो ने ही यह उपाधि धारण की थी। इससे रामगुप्त के गुप्त वंशीय नरेश होने के सम्बन्ध मे प्रकट किये जाने वाले सन्देह का सहज निराकरण हो जाता है।

पृ० ११

(चन्द्रगुप्त-द्वितीय), के अभिलेख के अन्तर्गत ६. के नीचे पढ़ें)

चन्द्रगुप्त के अभिलेख शीर्षक के अन्तर्गत ६. के बाद नयी पंक्ति जोड ले-

७. हुञ्जा-घाटी से प्राप्त अभिलेख।

पृ० १८

संख्या १२ के रूप में एक नयी पंक्ति जोड़ें

१३. श्रीराम गोयल ने हाल मे यह मत प्रतिपादित किया है कि यह अभिलेख समुद्रगुप्त से सम्बन्ध रखता है।

१ जर्नल आव ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, १८, पृ० २४७-५१।
२. वही, पृ० १५२-५३।

पृ० २०

दूसरी पंक्ति के बाद एक नया अनुच्छेद जोड़ें।

अभिलेख को समुद्रगुप्त का बताते हुए जिन तर्कों का आश्रय लिया गया है, वे अपने आप मे किसी रूप में बलवती नही हैं। उन्हें प्रस्तुत करते हुए प्रयाग प्रशस्ति का सहारा लेते हुए भी उनपर समुचित रूप से विचार नही किया गया है। इनका विस्तृत विवेचन हमने अन्यत्र किया है।[1] उन्हें दुहराना यहाँ अनपेक्षित है।

इसी पृष्ठ पर पंक्ति १२ के क्रम में जोड़िये-

यही हमारा भी मत है।

इसके आगे एक नये अनुच्छेद के रूप में जोड़िये-

७. हुञ्जा-कांठे से प्राप्त अभिलेख—पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर मे सिन्धु नद के काँठे के उत्तरी भाग मे काराकोरम पर्वत श्रृखला के दर्रे से होकर गिलगिट की ओर जाने वाले प्राचीन मार्ग को पाकिस्तान और चीन के सहयोग से एक नये बडे मार्ग का रूप दिया गया है। इस मार्ग पर स्थान-स्थान पर छोटे-छोटे लेख और रेखाचित्र चट्टानो पर उत्कीर्ण मिले है। १९७९ मे कतिपय जर्मन पुरातत्वविदो एव पाकिस्तान के अहमद हसन दानी ने इनका सर्वेक्षण किया था।

हुञ्जा-काठे मे स्थित अनेक चट्टानो पर खचित अभिलेखो मे से कई मे उन्होने श्रीचन्द्र, श्री विक्रमादित्य, चन्द्र श्रीदेव विक्रमादित्य आदि पढा है। इन नामो मे चद्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य के नाम की झलक देखी जा सकती है। इन्ही अभिलेखो के क्रम मे कई अभिलेखो मे हरिषेण नाम का भी उल्लेख पाया गया है। हरिषेण समुद्रगुप्त के प्रयाग-प्रशस्तिकार का भी नाम था और वह समुद्रगुप्त का सन्धिविग्रहिक भी था। इन दोनो नामो का इस क्षेत्र मे एक साथ मिलना मात्र आकस्मिक नही कही जा सकती। ये नि.सन्देह इस बात का सकेत प्रस्तुत करते हैं कि इस मार्ग से चद्रगुप्त (द्वितीय) ने कोई अभियान किया होगा। सम्भव है वह इसी मार्ग से वाह्लीक गया हो जिसका उल्लेख मेहरौली प्रशस्ति मे हुआ है। उसके साथ हरिषेण भी, जो उस समय जीवित रहा होगा, गया रहा होगा।[2]

पृ० २१

इसमें कुमारगुप्त-प्रथम, के अभिलेख के अन्तर्गत यथास्थान जोड़िये-

१६ क गुप्त सवत् १२५ का मथुरा बुद्धमूर्ति लेख

१३ क गुप्त संवत् १२८ का जगदीशपुर ताम्रलेख।

पृ० २७

अनुच्छेद ११ के बाद नया अनुच्छेद जोड़िये

११ क. मथुरा बुद्धमूर्ति पीठलेख— १९६४ ई० मे मथुरा की कलक्टरी कचहरी के नये भवन के निर्माण के समय एक मूर्ति के भग्न अवशेष के रूप मे उसका पाद-पीठ प्राप्त हुआ था जो अब मथुरा सग्रहालय मे है। इस पर गुप्त-कालीन लिपि मे तीन पंक्तियों का एक लेख है जिसका आरम्भिक अ श अनुपलब्ध है। इसे बी० एन० श्रीवास्तव ने प्रकाशित किया है।[3] इसमे किसी मथुरा निवासी द्वारा, जिसका नाम उपलब्ध अंश में नही है, इस मूर्ति को कुमार गुप्त के विजय राज्य १२५ (१०० २० ५) मे प्रतिष्ठित किया था। इस लेख मे तिथि के अतिरिक्त अन्य कोई महत्व की सूचना नही है।

---

१ प्राचीन भारत के अभिलेख, भाग दो मे मेहरौली लौह-स्तम्भ से सम्बन्धित विवेचन देखे।

२. हमारी इस धारणा के विरुद्ध कुछ विद्वान इन अभिलेखो को सातवी शती ई० का अनुमान करते है और उनका सम्बन्ध पटोल वश के शासको से जोडते है। हमने उनके इस मत का विवेचन अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख', (भाग २) मे किया है।

३. एपिग्रेफिया इण्डिका, ३६, पृ० १५२-५४।

इसी पृष्ठ पर अनुच्छेद १३. के बाद जोड़ें-

१३क. जगदीशपुर ताम्रलेख[1]— राजशाही (बंगलादेश) के वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी ने यह ताम्रपत्र जगदीशपुर ग्राम के किसी व्यक्ति से १९६१ ई० में क्रय किया था। बताया गया कि वह बरसों पूर्व उक्त ग्राम मे कुआँ खोदते समय १५ फुट की गहराई पर प्राप्त हुआ था। दिनेशचन्द्र सरकार ने इसे सम्पादन कर प्रकाशित किया है। धनैदह और कुलाईकुरी के ताम्रलेखों की तरह ही यह अभिलेख भी धार्मिक कार्य के लिए भू-क्रय कर दान करने की घोषणा है। इसमे दो दीनार मूल्य देकर क्षेमाक, भोयिल और महीदास नामक तीन व्यक्तियो द्वारा संयुक्त रूप से एक कुल्यवाप भूमि क्रय करने का उल्लेख है। इस क्रीति भूमि में से ६ द्रोणवाप (३/४ कुल्यवाप) भूमि तीनों व्यक्तियों ने संयुक्त रूप से मैचिकाग्राम स्थित बौद्ध विहार, गुलमागन्धिका स्थित विहारिका तथा सहस्त्ररश्मि (सूर्य) मन्दिर को दान दिया। शेष दो द्रोणवाप (१/४ कुल्यवाप) अकेले भोयिल ने साम्बपुर को पुष्पवाटिका बनाने तथा तलवाटक के निमित दिया। यह अभिलेख वर्ष १२८ के चैत्र दि० २० को लिखा गया था।

पृ० ३८

'बुधगुप्त के अभिलेख' शीर्षक के नीचे यथास्थान जोड़िये-

४क . गुप्त संवत् १६१ का मथुरा पादासन अभिलेख— १९८२ ई० मे मथुरा सग्रहालय ने इसे किसी पुरावस्तु विक्रेता से क्रय किया था। यह बौद्धमूर्ति का पादासन है। इस पर अकित आलेख के अनुसार जिन दिनों बुधगुप्त पृथ्वी पर शासन कर रहे थे, वर्ष १६१ के भाद्रपद मास के १६ वे दिन इस मूर्ति की प्रतिष्ठा की गयी थी। इस लेख का महत्त्व इस पर अंकित तिथि मे है। इससे यह प्रकट होता है कि बुधगुप्त के समय तक गंगा-यमना के कोंठे पर गुप्त शासकों का अधिकार बना हुआ था।[2]

पृ० ४०

अनुच्छेद के नीचे नयी अनुच्छेद जोड़िए-

७क. गुप्त संवत् १६६ का शंकरपुर ताम्रलेख— १९७७ ई० में यह ताम्रपट मध्य-प्रदेश के सिद्धी जिलान्तर्गत गोपादनासा तहसील के शंकरपुर ग्राम में किसी विद्यार्थी को मिला था। इसे बालचन्द्र जैन ने प्रकाशित किया है।[3] इस पत्र में बुधगुप्त के शासन काल वर्ष १६६, महामाघ संवत्सर मे श्रावण मास की पंचमी को सालन-कुलोद्भव महाराज हरिवर्मा द्वारा अग्रहार स्वरूप एक ग्राम ब्राह्मण को देने की घोषणा है। लेख का महत्व इस दृष्टि से है कि इस क्षेत्र से प्राप्त होने वाले लेखों मे, अबतक ज्ञात यही अभिलेख ऐसा है जिसमे बार्हस्पत्य संवत्सर और गुप्तवर्ष के साथ गुप्त-शासक का भी नामोल्लेख है। अब तक प्राप्त अभिलेखो मे किसी गुप्त-शासक का नामोल्लेख न होने के कारण समझा जाता रहा है कि इस भू-भाग में गुप्तो का शासनाधिकार क्षीण हो गया था। अब इस लेख से स्पष्ट जान पडता है कि यह धारणा निर्मूल थी। मध्य-प्रदेश के इस भू-भाग पर उनका शासन हूणों के आक्रमण तक बना रहा होगा।

पृ० ४४

गुप्तकालीन अन्य अभिलेख

इस शीर्षक के अन्तर्गत समग्र अनुच्छेद के स्थान पर निम्नलिखित को ग्रहण करें—

उपर्युक्त अभिलेखों के अतिरिक्त कुछ तिथियुक्त ऐसे अभिलेख हैं, जिनका समय तो गुप्त-काल में पड़ता है किन्तु उनमें सम-सामयिक शासकों का उल्लेख उपलब्ध नहीं है। ऐसे अभिलेखों का परिचय इस प्रकार है—

१. मन्दारगिरि लयण लेख— मन्दारगिरि (जिला भागलपुर, विहार) के शिखर के पश्चिमी ढलान पर स्थित एक लयण (गुहा) में एक अभिलेख है जिसमें संवत् ३० भाद्रपद दि० १२ (१० २)

---

१. एपीग्राफिक डिस्कवरीज इन ईस्ट पाकिस्तान, कलकत्ता, १९७३, पृ० ८-१४, ६६-६३।
२. परमेश्वरी लाल गुप्त, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, खण्ड २, पृ० २०५-२०८।
३. पुराभिलेख पत्रिका (अंग्रेजी), ४ (१९७७), पृ० ६२-६६।

को भगवत अव्यक्तमूर्ति विरजमूल—गुहास्वामी के पादमूल (सेवक) भारद्वाज गोत्रीय विष्णुशर्मा के पुत्र विष्णुदत्त द्वारा देवकुल स्थापित किये जाने का उल्लेख है। साथ ही यह भी कहा गया है कि वे ही उसके प्रायण (आय-चढ़ावा) के अधिकारी है।[1]

लिपि के आधार पर दिनेशचन्द्र सरकार का मत है कि यह अभिलेख चौथी-पाँचवी शती का है। इसमे अंकित सवत् को वे गुप्त सवत् अनुमान करते हैं और मुण्डेश्वरी मन्दिर (जिला भोजपुर, बिहार) के वर्ष ३० और बोधगया के वर्ष ६४ के अभिलेखों को भी वे इसी के क्रम मे मानते है। यदि उनका यह अनुमान ठीक है तो यह तथा मुण्डेश्वरी मन्दिर का अभिलेख, दोनो ही समुद्रगुप्त के काल का और बोधगया वाले अभिलेख को चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल का कहा जा सकता है।

२. साँची शिलालेख--- यह लेख साँची (भोपाल, मध्य-प्रदेश) स्थित महास्तूप के पूर्वी द्वार के दक्षिण बीच की वेदिका की चौथी पक्ति तथा कोने के भाग पर अंकित है। इसमे संवत् १३१ (१०० ३० १) अश्वायुज दि० ५ को सनसिद्ध की पत्नी उपासिका हरिस्वामिनी द्वारा काकनादबोट विहार को आश्रय नीवि के रूप मे १२ दीनार दिये जाने का उल्लेख है जिसके व्याज से प्रतिदिन एक भिक्षु को भोजन देने का विधान किया गया है। इसके अतिरिक्त उसने रत्नगृह और चतुर्बुद्ध-आसन के बुद्ध के सम्मुख नियमित रूप से दीप जलाये जाने के निमित्त भी क्रमश तीन और एक दीनार के व्याज की आय का भी प्राविधान किया था।[2]

इसमे किसी शासक का नामोल्लेख नही है, अकित तिथि १३१ को गुप्त संवत् अनुमान कर फ्लीट ने कुमार गुप्त (प्रथम) अथवा उसके उत्तराधिकारी स्कन्दगुप्त के काल का अनुमान किया है। लेख की लिपि भी इसी ओर सकेत करती है किन्तु यह लेख कुमारगुप्त (प्रथम) अथवा स्कन्दगुप्त मे से किसके काल का है निश्चित रूप से कहना सम्प्रति सम्भव नही है।

३. मथुरा मूर्तिलेख— बुद्धमूर्ति की खड़ी प्रतिमा के पादासन पर यह लेख अकित है जो मथुरा-जेल के निकट टीले से उपलब्ध हुआ था और कदाचित् अब लखनऊ संग्रहालय मे है। उपलब्ध अंश मात्र पादासन और उसके ऊपर चरण और बीच में बैठी एक छोटी सी आकृति मात्र है। इस बुद्ध मूर्ति को विहारस्वामिनी ने सवत् १३५ के पुष्य (पौष) मास दिन २० को दान दिया था। इस लेख मे भी शासक का नामोल्लेख नही है। फ्लीट ने लेख मे अकित तिथि को गुप्त-सवत् स्वीकार कर इसे स्कन्दगुप्त के प्रारम्भिक काल का अनुमान किया है।[3] सम्प्रति निश्चय रूप से कहना कठिन है कि यह स्कन्दगुप्त के काल का ही है। वैसे इस लेख का किसी ऐतिहासिक महत्व की सूचना नही है।

४. गढ़वा का चतुर्थ अभिलेख--- कनिंगहम को यह अभिलेख १८७४-७५ या १८७५-७६ मे गढ़वा (करछना, इलाहाबाद) मे दीवार का मलबा हटाते हुए खण्डित शिलाफलक के रूप मे मिला था।[4] यह लेख भी इस स्थान से मिले अन्य तीन अभिलेखों के[5] समान ही खण्डित है। इस समय जो अंश उपलब्ध है, वह दो लेखो का अंश प्रतीत होता है। ये लेख उपलब्ध अश के दो पटों पर है। उसमें पहले लेख का पूर्वांश और दूसरे लेख का उत्तराश मात्र उपलब्ध है। प्रथम लेख के प्रथम पक्ति में 'कु' के आधार पर इसे कुमार गुप्तकालीन समझा जाता है। इसके एक पंक्ति मे ६ की ए सख्या दिखाई पड़ती है। इसरे आधार पर सवत् के रूप मे ६६, १०६, ११६ अथवा १२६ कुछ भी अनुमान किया जा सकता है। दूसरे अभिलेख मे सवत् और शासक का कोई सकेत उपलब्ध नही है। दोनो ही आलेखों मे सत्र में भोजन के निमित्त दान देने का उल्लेख है। दानराशि के रूप मे 'सुवर्ण' नामक सिक्के का उल्लेख हुआ है। अन्यथा इसका कोई महत्व नही है।

५. गढ़वा पंचम अभिलेख--- उपर्युक्त अभिलेख के भाति ही यह भी कनिंगहम को वहाँ के

---

१. एपिग्रेफिया इण्डिका, ३६, पृ० ३०४-३०५।
२. कार्पस इन्स्क्रप्शनम् इण्डिकेरम, ३ लेख संख्या ६२।
३. वही, लेख संख्या ६३।
४. आर्कियोलाजिकल सर्वे रिपोर्ट, १० पृ० १०।
५. पीछे पृ० १३,२२।

दशावतार मन्दिर के फर्श मे जडे एक खंडित फलक के रूप मे मिला था।[१] यह लेख भी उपर्युक्त तथा इस स्थान से मिले अन्य तीन आलेखों के समान खण्डित है। इस अभिलेख मे सवत् १४८[२] माघ दिवस २१ का उल्लेख है। लुप्त अश मे शासक का नाम रहा होगा। तिथि के आधार पर इसे स्कन्दगुप्त अथवा उसके परवर्ती कुमारगुप्त (द्वितीय) के काल का अनुमान किया जा सकता है। इसमे अनन्तस्वामी के मन्दिर की स्थापना का उल्लेख है। साथ ही चित्रकूटस्वामी नामक एक अन्य देवता का उल्लेख है। धार्मिक इतिहास की दृष्टि से इसका महत्व आँका जा सकता है। इसका विवेचन हमने अन्यत्र किया है।[३]

१. आर्कियोलाजिकल सर्वे रिपोर्ट १० पृ० ११।
२. कनिंघम ने इसे १४० पढा था। उनकी इस भूल का सुधार ई० हुल्श ने किया है (इण्डियन एण्टिक्वेरी ११, पृ० ३११, प० टि० ३)।
३ प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, खण्ड २।

सिक्के

पृष्ठ ६२

अनुच्छेद ७ के स्थान पर ग्रहण करें—

७. अल्तेकर ने चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के एक भाँत के सिक्के को पर्यंकासीन राजदम्पती भाँति नाम दिया था। उनका अनुकरण करते हुए चित ओर के अंकन की चर्चा करते हुए हमने सातवे भाँति के रूप मे उल्लेख किया है। वस्तुत यह अकन पट भाग का है। अल्तेकर ने जिसे पट भाग माना है वह वस्तुत चित भाग है और उत्पताक भाँति का अकन है। चित ओर के किसी बहु प्रचलित अकन को पट भाग का अंकन मानना युक्तिसगत नही जान पडता। इस अंकन को पट भाग का अकन मानना उचित होगा, उसी रूप मे इस पर हमने आगे नये सिरे से विचारा है। अत समूचे अनुच्छेद को उपेक्षित कर देना उचित होगा। इस प्रकार चित भाग के प्रतीको मे एक की कमी हो जायेगी।

पृ० ६३

अनुच्छेद १२ के स्थान पर निम्नलिखित ग्रहण करे—

१२. सिंह-निहन्ता भाँति— यह भाँत व्याघ्र-निहन्ता भाँति के सदृश ही है, अन्तर का बोध केवल उनके लेख से ही होता है। सामान्य भाव से इस भाँत के सिक्को पर राजा सिह पर शर-सन्धान करते हुए दिखाये गये है। कुछ पर उन्हे और सिह एक दूसरे से अलग, कुछ पर दोनो गुथे हुए और कुछ पर सिंह राजा के पैर के नीचे दिखाया गया है। इन सिक्को पर राजा की भंगिमा भी विविध रूपो मे अंकित की गयी है। इन विभिन्नताओ के कारण इस भाँत के सिक्को को अनेक भेद और उपभेदो के रूप मे देखा जा सकता है। इस प्रकार स्मिथ ने इन्हे तीन वर्गों मे विभाजित किया था—(१) युगनद्ध अर्थात राजा और सिह एक दूसरे स्मिथ से भिडे हुए, (२) सिहमर्दन अर्थात् सिह को पैरो से कुचलते हुए, और (३) सिह-पलायन अर्थात् सिह राजा से दूर जाता हुआ। अल्तेकर ने इसी वर्गीकरण को स्वीकार किया है। जिन सिक्को पर सिह राजा की ओर पीठ किये हुए है उन्हे तो सहज भाव से एक स्वतत्र वर्ग मे रखा जा सकता है, किन्तु जिन सिक्को पर सिह और राजा आमने सामने है उनके सम्बन्ध मे यह नही कहा जा सकता कि राजा सिह से भिड रहा है या सिह को पैरो से रौंद रहा है। इन प्रतीको को इन रूपो मे पहचानने मे विद्वानों ने इस बात पर ध्यान नही दिया है कि सिह से भिडन्त करना अथवा सिह को कुचलना, यदि असम्भव नही तो नितान्त दुरूह है। यदि सिक्को पर सिह राजा के निकट अथवा पैरो से रौंदा जाता दिखाई देता है तो उसका एक मात्र कारण यह है कि सिक्के की परिधि इतनी कम है कि सिह को दूरस्थ दिखाया ही नही जा सकता। कलाकार ने सिंह और राजा को छोटी सी जगह मे प्रस्तुत करने मे अपनी कला-कुशलता का परिचय दिया है। कदाचित् इस कारण ही एलन ने स्मिथ और अल्तेकर के दो वर्गों के सिक्को को एक मे समेट कर उनका वर्गीकरण अभिलेखो के आधार पर किया है। उनका यह वर्गीकरण अधिक सगत है। किन्तु हमारी सम्मति मे इनका वर्गीकरण राजा के दाये या बाये मुख के अनुसार करना अधिक सगत होगा। इस भाँत के सिक्के चन्द्रगुप्त (द्वितीय) और कुमारगुप्त (प्रथम) के भी है। लखनऊ सग्रहालय मे चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का एक ऐसा दुर्लभ सिक्का है जिस पर राजा खड्ग से सिह का सामना कर रहा है।[१]

१२ क. हत-सिंह भाँत - यह अब तक अज्ञात भाँत रहा है। इसकी जानकारी लखनऊ

---

१ ब्रिटिश सग्रहालय, गुप्त मुद्रा-सूची, फलक ६, ८।

संग्रहालय में संगृहित एक सिक्के से होती है। यह कुमार गुप्त का सिक्का है। इस पर राजा मूढ़े पर बैठा सामने पड़े मृत सिंह को देख रहा है।

पृ० ६८

सिक्कों पर अंकित जल-जन्तु वाहिनी खड़ी देवी के सम्बन्ध में जो मत हमने प्रकट किया था, उसे अब संशोधित कर पंक्ति १२ के बाद इस रूप में ग्रहण करें—

किन्तु समुद्रगुप्त के समय तक कला मे गंगा-यमुना की कोई स्पष्ट कल्पना मुखरित हो गयी थी, इसका कोई स्पष्ट प्रमाण सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। उदयगिरि के महावराह के उच्चित्रण के साथ ही चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में ही यह कल्पना मूर्तित ज्ञात होती है। उससे पूर्व मकर वाहिनी वृक्षिकाएँ (यक्षिणी) ही अंकित पायी जाती हैं। इस प्रकार वे सामान्य नदी की ही प्रतीक अनुमान की जाती रही हैं और नदी को समुद्र की पत्नी कहा गया है। इस कारण समुद्रगुप्त नाम को ध्यान मे रखते हुए इस प्रतीक को वरुण-पत्नी ही मानना अधिक युक्तिसंगत होगा।

कुमारगुप्त (प्रथम) के खड्ग निहन्ता भाँत पर देवी का अं कन छत्रभाँत का (जिसमे कुब्जक राजा के उपर छत्र लगाये खड़ा है) स्मरण दिलाता है। इस कारण हमने पहले इसे देवी का अंकन न मान कर रानी का प्रतीक अनुमान किया था। किन्तु मंदिर के द्वार शाखाओं पर छत्रधारिणी मकर वाहिनी गंगा के अनेक उदाहरण देखे जाते है। उनके परिप्रेक्ष्य में सिक्कों के इस अंकन को भी गंगा का ही अंकन मानना उचित होगा।

कुमारगुप्त के सिंह-निहन्ता भाँत पर देवी को मयूर चुगाते हुए अंकित किया गया है जो कार्तिकेय भाँत का (जिसमें राजा को मयूर चुगाते हुए अंकित किया गया है) प्रतिरूप जान पडता है। इस कारण इसे देवी का अंकन न मान कर रानी का अंकन होने का अनुमान किया गया था। किन्तु सभी भाँत के सिक्कों पर देवी-देवता का ही अकन मिलता है। इस कारण इस अंकन को रानी का अनुमान करना एक अपवाद ही होगा। अत. प्रतिमालक्षण-ग्रन्थों मे मयूर चुगाते देवी का अकन का उल्लेख प्राप्त न होने पर भी इसे कौमारी का अकन अनुमान करना अधिक संगत जान पड़ता है।

इसी पृष्ठ पर अनुच्छेद ८ के बाद नया अनुच्छेद जोड़ें—

८ क. पर्यंकासीन दम्पती (वैकुण्ठ) भाँति— इस भाँत का उल्लेख हमने पहले अल्तेकर का अनुसरण कर चित भाँत मानकर पर्यंकासीन राज-दम्पती के रूप मे किया था (पृष्ठ ६२)। किन्तु उस भाँत के सिक्कों पर जिस प्रतीक को पट भाग अनुमान किया गया था वह वस्तुतः उत्पताक भाँत वाला ही चित प्रतीक है। उस कही चित भाग और कहीं पट भाग का प्रतीक मानना समीचीन नहीं है। अत. इस प्रतीकयुक्त सिक्कों को (जो अब तक दो ही ज्ञात हैं और दोनों ही भारत कलाभवन (काशी) मे है उत्पताक भाँत का ही एक भेद कहना और इस प्रतीक को पट भाग का प्रतीक मानना उचित होगा। इस रूप में पट भाग के प्रतीक में एक की वृद्धि होगी।

इस प्रतीक में मंच पर आमने-सामने एक दम्पती (स्त्री-पुरुष) बैठे है। नारी दाहिनी ओर, पुरुष बायीं ओर है। पुरुष नारी को कुछ (सम्भवतः पुष्प ?) भेट कर रहा है। हार्नले की दृष्टि में यह अंकन अन्तःपुर में सुरा-पान का दृश्य है।[1] अल्तेकर ने इसे सिंहासीन राज-दम्पती का अकन अनुमान किया है।[2] किन्तु गुप्तकालीन सिक्कों की परम्परा में किसी अन्य सिक्के पर इस प्रकार का कोई लौकिक अंकन नहीं है; सर्वत्र देव-मूर्तन ही हुआ है। अतः इसे देव-दम्पती का मूर्तन ही मानना उचित होगा। इस दृष्टि से मुनीश जोशी ने नसे शची-इन्द्र अथवा रति-कामदेव अथवा लक्ष्मी-नारायण के अंकन होने की कल्पना प्रस्तुत की है।[3] चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के परमभागवत विरुद को दृष्टिगत करते हुए सी० डी० चटर्जी ने

१. प्रो० ए० सो० बं०, १८८८, पृ० १२६-३०।
२. क्वायनेज आफ गुप्त इम्पायर, पृ० १४०।
३. ज० न्यू० सो० ई०, २४, पृ० ३६-४०।

भी इसे लक्ष्मी-नरायण का अंकन अनुमान किया है और इस भाँत को वैकुण्ठ नाम दिया है।[1] यही उचित भी है।

इसी पृष्ठ पर ७वें अनुच्छेद के स्थान पर नया अनुच्छेद इस प्रकार ग्रहण करें—

७ क. चामरधारिणी देवी — समुद्रगुप्त और कुमारगुप्त (प्रथम) के अश्वमेध भाँत के सिक्कों के पट भाग पर एक चामरधारणी नारी का अंकन है और उसके सामने कोई नुकीले स्तम्भ सरीखी वस्तु खड़ी दिखाई गयी है। एलन और अल्तेकर की धारणा रही है कि अश्वमेघ यज्ञ मे महिषी प्रमुख योग रहता था। इस कारण उनका अनुसरण कर अब तक इसे पट्टमहिषी होने का अनुमान किया जाता रहा है। अल्तेकर के कथनानुसार इस यज्ञ में रानी द्वारा घोड़ों को नहलाने और पंखा झलने का विधान था। उनका यह भी कहना है कि श्रौतसूत्रों में यह भी विधान था कि रानी सोने, चाँदी और ताँबे की सूची से यज्ञ के अश्व का वेधन करे। अतः नारी के सम्मुख सूची का अंकन किया गया है।[2] सी० डी० चटर्जी ने उनकी इस धारणा को चार कारणों से अस्वीकार किया है। उन्होनें इस तथ्य की ओर इंगित किया है कि श्रौतसूत्र में यज्ञ में भाग लेने वाली पट्टमहिषी अथवा किसी भी महिषी के दाहिने हाथ में चामर और बायें हाथ में पाश अथवा पट्ट धारण करने का उल्लेख नही है। (२) सिक्को पर नारी के सम्मुख अंकित वस्तु को किसी भी रूप में सूची होने की कल्पना नहीं की जा सकी। वह तो शक्ति सरीखा ही जान पड़ता है। रानी के सम्मुख किसी भी अस्त्र के खड़े किये जाने का उल्लेख कही नही हुआ है। (३) यज्ञ के अश्वमेध के वध करने का ही विधान है न कि उसे सूची से कोंच कर मारने का। अत रानी के सम्मुख सूची अथवा भाला खडा किये जाने के लिए कोई कारण नही जान पड़ता, (४) अश्वमेध यज्ञ मे पट्टमहिषी का जो कार्य बताया गया है वह तो अपमानजनक और घृणित ही है; अत किसी भी कारण यह कल्पना नही की जा सकती कि उसका उच्चित्रण उसके विजेता पति के सिक्को पर किया गया होगा।[3] उनके ये सभी तर्क काफी सबल हैं अत. उन्हे स्वीकारते हुए हमारी धारणा है कि सिक्को पर अंकित नारी देवी ही है और वह देवी विजय की प्रतीक ही होगी और वह वैदिक देवताओ के शक्ति की प्रतीक है। उसके इसी रूप को उसके सम्मुख खडे किये शक्ति द्वारा व्यक्त किया गया है।

८ पर्यंकासीन-देवी – पर्यंकासीन रानी शीर्षक अनुच्छेद के स्थान पर ग्रहण करे—चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के पर्यकासीन और कुमार गुप्त (प्रथम) के वीणावादक भाँत के सिक्को के पट भाग पर पर्यंकपर बैठी नारी अंकित की गयी है। उसके दाहिनें हाथ मे पुष्प है और उसका बाया हाथ पर्यंक पर टिका हुआ है। किसी देवी का इस प्रकार सहज भांगिमा में बैठना अनजाना है, अत. हमने पहले इस प्रतीक को रानी के अंकन की सम्भावना प्रकट की है। अल्तेकर ने भी कुमारगुप्त के वीणावादन पर अंकित प्रतीक के सम्बन्ध में यही सम्भावना प्रकट की है।[4] किन्तु परम्परा के प्रमाण का अभाव होते हुए भी अब हमारी यह धारणा हो रही है कि अन्य भाँत के सिक्कों के पट भाग पर अंकित प्रतीको के परिप्रेक्ष्य मे इसे भी देवी का अं कन ही अनुमान करना उचित होगा। सम्भव है इस अंकन का तात्पर्य ललित विद्या की देवी से हो; तदनुरूप उसे सहज मुद्रा मे बैठे अंकित किया गया हो।[5]

पृ० ७८-८५

सोने के सिक्कों की उपलब्धियाँ—

पिछले संस्करण के प्रकाशन के पश्चात सिक्कों के जिन निखातों की जानकारी हमें हो सकी

---

१. ज० न्यू० सो० ई०, ३७, पृ० ६१-६६।
२. क्वायनेज आफ गुप्त इम्पायर, पृ० ५०६६।
३. ज० न्यू० सो० ई०, ३७, पृ० ८६-८७।
४. क्वायनेज आफ गुप्त इम्पायर, पृ० ७०।
५. यह मत हम अपनी पुस्तक गुप्त गोल्ड क्वायन्स इन भारत कला भवन (पृ० १४) में पहले व्यक्त कर चुके है।

है वे इस प्रकार हैं—

बंगाल—

१. अग्रवती– १९६६ मे बर्दवान जिले में मल्लसरूल के निकट अग्रवती नामक ग्राम मे तालाब की खुदाई करते समय द्वितीय चन्द्रगुप्त के धनुर्धर भाँत का एक सिक्का प्राप्त हुआ था जो बर्दवान विश्वविद्यालय के संग्रहालय में है।[१]

२. पिछले सस्करण में हुगली के निकट १३ सिक्कों के मिलने का उल्लेख किया गया है, वह माधवपुरा से प्राप्त हुआ था।

३. हसनान– हुगली जिले मे दादपुर थाना स्थित हसनान ग्राम से १२ नवम्बर १९७४ को कुछ बच्चो को खेलते समय मिट्टी के एक पात्र मे ११ सोने के सिक्के मिले थे जो अब बगाल के राज्य पुरातत्व विभाग मे है। उनमे चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के धनुर्धर भाँत के ४, कुमारगुप्त का (अश्वारोही भाँत) १, नरसिहगुप्त (धनुर्धर भाँत) का २, कुमारगुप्त (तृतीय) (धनुर्धर भाँत) का १, विष्णुगुप्त (धनुर्धर भाँत) का २, और समाचारदेव का १, सिक्का था। इस निखात मे समाचारदेव का सिक्का मिलना विशेष महत्व रखता है।[२]

४. सिम्हेरहट्ट (चन्द्रकेतुगढ) से १९६४ मे नहर की खुदाई मे निकले बालू की ढेर मे चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का धनुर्धर भाँत का एक सिक्का मिला था।[३]

५. चन्द्रगुप्त (प्रथम) के राजदम्पती भाँत का एक सिक्का हादीपुर (चन्द्रकेतु गढ) मे तालाब की खुदाई करते समय मिला था और अब कलकत्ता विश्वविद्यालय के आशुतोष सग्रहालय मे है।[४]

६. मुर्शिदाबाद के लक्ष्मी हाटीर डोगा से १९७०-७१ मे नरसिंहगुप्त के दो सिक्के प्राप्त हुए।[५]

७. चौबीस परगना जिले मे गगा तट पर स्थित खरदह नामक ग्राम से कुमारगुप्त (तृतीय) का १४६ ५० ग्रेन का एक सिक्का १९५८-५९ मे मिला था जो अब कलकत्ता विश्वविद्यालय के आशुतोष म्युजियम मे है।[६]

८. मैनामती मे हुए पुरातात्विक उत्खनन मे चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के धनुर्धर भाँत (कमलासना लक्ष्मी) का एक सिक्का प्राप्त हुआ है।[७]

बिहार—

९. वैशाली– १९४५ मे वैशाली के निकट कम्मन छपरा मे चौमुखी महादेव के निकट चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का एक सिक्का मिला था। यह सिक्का कहाँ है, इसकी जानकारी उपलब्ध नही है।

१०. केसरिया– २५ जुलाई १९७० को चम्पारन जिले मे केसरिया से ढाई मील दक्षिण-पश्चिम गण्डक नदी योजना के अन्तर्गत एक छोटी नदी की खुदाई करते हुए चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के धनुर्धर भाँत का एक सिक्का मिला था जो अब पटना सग्रहालय मे है।

उत्तर प्रदेश—

११. काशी विश्वविद्यालय द्वारा काशी मे राजघाट के पुल के निकट गगा के किनारे किये गये पुरातात्विक उत्खनन मे मिट्टी की एक लुटिया मे ४ सिक्के मिले। उनमे दो चन्द्रगुप्त (द्वितीय), एक कुमार-गुप्त (प्रथम) और एक स्कन्दगुप्त का है। सभी सिक्के धनुर्धर भाँत के है।[८]

१२. बिजनौर जिले से १८८९ मे प्रथम कुमारगुप्त का एक सिक्का ५ उत्तरवर्ती कुषाण सिक्कों के

---

१. प्रो० इ० हि० का०, वाराणसी, १९६६, पृ० ५५।

२. वही, १९७७, पृ० ७५७-६३।

३. गौरीशकर दे, क्वायन्स फ्राम चन्द्रकेतुगढ़, पृ० २०-२१।

४ वही।

५. इ० आ० रि०, १९७१-७२, पृ० ७२।

६. बगलादेश ललित कला, १ (१९७५) पृ० ४८-४९।

७. वही।

८. ज० न्यू० सो० ई०, ३१ पृ० १२०।

साथ मिला था। कुषाण सिक्कों मे २ वासुदेव के , २ वसु का और एक शाक (भृ) का था।[1]

१३. १८६८ मे रायबरेली जिले से एक कुषाण सिक्के के साथ ५ गुप्त शासकों के सिक्के प्राप्त हुए थे। उनमें एक काचका, २ समुद्रगुप्त (अश्वमेध भाँत) का और एक कुमारगुप्त (प्रथम) का था।[2]

१४. एटा जिले के सकीट नामक स्थान से १६०४-५ मे एक उत्तरवर्ती कुषाण सिक्के के साथ समुद्रगुप्त का उत्पताक भाँत का एक सिक्का प्राप्त हुआ था।[3]

१५. मथुरा जिले से १६१०-११ मे कुषाण कनिष्क के अरदोक्षो भाँत के एक सिक्के के साथ चन्द्रगुप्त (प्रथम) का राजदम्पती भाँत का एक सिक्का मिला था।[4]

१६. बिजनौर जिले के महाले का नगला उर्फ रसूल नगला से १६७७-७८ मे शाक के एक सिक्के के साथ समुद्रगुप्त के चार सिक्के मिले थे जिनमे ३ उत्पताक भाँत का और एक कृतान्त परशु भाँत का था।[5]

राजस्थान —

१७. बेढ (जिला टौंक) मे १६६२ मे सोने की एक गुटिका के साथ ६ सिक्के मिले थे : उनमे एक समुद्रगुप्त का उत्पताक भाँत, चार चन्द्रगुप्त (द्वितीय), (३ धनुर्धर भाँत, १ छत्रभाँत) का और एक किदार कुशाण कुशान सिक्का था।[6]

१८. मोराली (जिला जयपुर) से ४० गुप्तकालीन सोने के सिक्को का एक निखात इस शती के आरम्भ कालमे किसी समय प्राप्त हुआ था जो अब सम्भवत वहाँ के महाराज के निजी सग्रह मे है . उसे वहाँ प्रयाग दयाल ने देखा था, किन्तु उन्होने केवल उल्लेखनीय सिक्को की चर्चा की है।[7] प्राप्त स्थान का उन्होने उल्लेख नही किया है।

मध्य प्रदेश —

१६. ३ अप्रैल १६८१ को धार जिले के मनावर तहसील के अन्तर्गत पगारा ग्राम मे एक खेत की खुदाई करते समय ६ सिक्के प्राप्त हुए थे। उनमे १ काचगुप्त, ७ चन्द्रगुप्त (द्वितीय), (५ धनुर्धर-मचासीन देवी, १ सिहनिहन्ता और १ छत्र भाँत) के और १ कुमारगुप्त (प्रथम) (धनुर्धर भाँत) के सिक्के थे।[8]

२०. रुनिजा (जिला उज्जैन) से १६७६-८० मे ६ सिक्के प्राप्त हुए थे जिनमे समुद्रगुप्त के उत्पताक भाँत के ३ और चन्द्रगुप्त के धनुर्धर और सिह निहन्ता भाँत के ६ सिक्के थे .[9]

२१. १६७६-८० मे पश्चिमी नीमाड जिले के नरवला ग्राम मे समुद्रगुप्त का उत्पताक भाँत का एक सिक्का मिला था।[10]

२२. शहडोल जिले मे अनूपपुर और व्योहरा नामक ग्रामो से चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के एक-एक सिक्के मिले है।[11]

---

१ अ० कु० श्रीवास्तव, क्वायन होर्ड्स आफ उत्तर प्रदेश, पृ० २।
२. वही, पृ० ६।
३ वही, पृ० ५७।
४. वही, पृ० ८३।
५ वही, पृ० २०८।
६. ज० न्यू० हि० सो०, ३२, पृ० २०३।
७. वही, ७, पृ० ४८।
८. ज० न्यू० सो० ई०, ४४, पृ० ५२-५५।
६. ई० अ० रि०, १६७६-८०, पृ० ६६।
१० वही, पृ० ६७।
११. वही, १६६८-६६, पृ० १०, ज० न्यू० सो० ई०, ४१ (१), पृ० १२३।

पृ० ८६-८७

सोने के उभारदार सिक्के के अन्तर्गत अन्तिम दो पंक्तियों के स्थान पर ये पंक्तियाँ जोड़ लें—

अनुमान किया जाता रहा है कि ये सिक्के इन्हीं गुप्त राजाओं के होंगे किन्तु अब उसी क्षेत्र से प्राप्त इसी भाँत के कतिपय निखातों के परिप्रेक्ष्य में यह स्पष्ट हो जाता है कि इन सिक्कों का सम्बन्ध गुप्त वंश से नहीं है। वे उसी क्षेत्र के सभापुरिया और नल वंश से सम्बन्ध रखते है।

इस बात का उल्लेख पहले किया जा चुका है कि १६२६-२७ में बहरामपुर (उड़ीसा) से विष्णुगुप्त के सिक्कों के साथ प्रसन्नमात्र नामक सभापुरिया वंश के ४७ उभारदार सिक्के मिले थे (पृ० ८५)। इधर इसी प्रसन्नमात्र के २ सिक्कों के साथ महेन्द्रादित्य के ५ और क्रमादित्य का १ सिक्का मलगुडा, कलहण्डी (उड़ीसा) से[1] और भण्डारा जिला चाँदा से प्रसन्नमात्र के ११ सिक्कों के साथ १ महेन्द्रादित्य का सिक्का मिला है।[2] इसी प्रकार कुलिया जिला दुर्ग मे महेन्द्रादित्य के २५ सिक्कों के साथ नलवंश के भवदत्त, अर्थपति, सम्भ और श्रीनन्दराज के एक-एक सिक्के पाये गये है।[3] समग्र रूप से ये निखात इस बात के प्रमाण हैं कि प्रसन्नमात्र गुप्तवंशी विष्णुगुप्त का परवर्ती और महेन्द्रादित्य और क्रमादित्य के सिक्के उसके बाद के और नलवंश के सिक्कों के पूर्व के हैं। इन निखातों के साक्ष्य से यह स्पष्ट है कि प्रसन्नमात्र विष्णुगुप्त के बाद छठी शती के मध्य मे किसी समय हुआ था। और तब उसके बाद ही किसी समय महेद्रादित्य हुआ होगा और वह नल वंश का पूर्ववर्ती था। इस प्रकार इन सिक्कों का सम्बन्ध किसी प्रकार भी गुप्तवंश से ज्ञात नहीं होता।

पृ० ८६

पाद टिप्पणी २ में यह नयी सूचना और जोड़ लें—

खेड़ा जिले के देवगाँम नामक स्थान से १६७३-७४ मे चाँदी के ५ सिक्को का निखात प्राप्त हुआ था, उसमे भी केवल कुमारगुप्त (प्रथम) और सर्व के ही सिक्के थे। (ई० ए० आर० १६७३- १६७४, पृ० ४७) यह भी इस बात का संकेत प्रस्तुत करता है कि **सर्व भट्टारक** शब्द युक्त अभिलेख वाले सिक्के कुमारगुप्त के निकटवर्ती शासक के ही है, वलभी शासकों के नहीं जो स्कन्द गुप्त के बाद हुए थे। अब तक ऐसा कोई निखात प्राप्त नहीं हुआ है जिसमे स्कन्दगुप्त के सिक्को के साथ ये सिक्के हो और उनके स्कन्दगुप्त के बाद के होने की सम्भावना प्रकट करे।

पृ० ८६

अन्तिम पंक्ति के बाद नयी सूचना यह जोड़ लें—

१०७ वाटसन म्यूजियम, जूनागढ।[4]

पृ० ६१ में बुधगुप्त से पहले यह जोड़ लें—

विदिशा से भी स्कन्द गुप्त का एक मध्यदेशीय भाँत का सिक्का प्राप्त हुआ है जिस पर १४१ की तिथि है।[5]

पृ० ६३

१. १६७३-७४ मे गुजरात के खेडा जिले के देवगाँव मे सर्व के सिक्कों के साथ कुमारगुप्त के सिक्के थे।[6]

---

१. ज० न्यू० सो० ई०, ४४, पृ० ४८।
२. वही, १६, पृ० २१५।
३. वही, ४०, पृ० १०८।
४. ज० न्यू० सो० ई०, ३२, पृ० २०३
५. वही, ३८, पृ० ७२-७३।
६. ई० ए० आर० १६७३-७४; पृ० ४७।

२. विदिशा से मध्यदेशीय भाँत का १४१ तिथि युक्त स्कन्दगुप्त का एक सिक्का।[1]

३. बैरुल (एलोरा) स्थित एक लयण में मलबा हटाते हुए कुमारगुप्त के ३ सिक्के १६५६-६० मे प्राप्त हुए थे।[2]

पृ० ६३

ताँबे के सिक्के– समुद्रगुप्त के सिक्कों कि विवरण से अन्तिम ४ पंक्तियों की उपेक्षा कर यह नयी जानकारी जोड़ ले कि फैजाबाद जिले से एक सिक्का ऐसा मिला है[3] जिससे समुद्रगुप्त द्वारा ताँबे के सिक्के चलाये जाने के सम्बन्ध मे अब कोई सन्देह नहीं किया जा सकता।

पृ० ६८

उपलब्धियाँ – शीर्षक के अन्तर्गत अन्त में यह नयी जानकारी जोड ले कि समुद्रगुप्त का एक सिक्का फैजाबाद जिले से ज्ञात हुआ है।[4] इसी प्रकार हरिगुप्त और चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के एक-एकसिक्के विदिशा से मिलने की भी सूचना प्राप्त हुई है।[5]

सीसे के सिक्के– अभी तक समझा जाता रहा है कि गुप्तो ने केवल सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्के प्रचलित किये थे, किन्तु अब उनके सीसे के सिक्के भी प्राप्त हुए हैं जो इस बात के द्योतक हैं कि उन्होंने पश्चिमी क्षत्रपों के अनुकरण पर न केवल चाँदी के वरन गुजरात–मालवा देश मे सीसे के सिक्के भी चलाये थे। इस धातु के बने सिक्कों का एक निखात कुछ दिनों पूर्व प्रकाश में आया है जिसमे इस धातु के बने पश्चिमी क्षत्रपों और गुप्तों–दोनों के सिक्के थे। ये सिक्के चन्द्रगुप्त (द्वितीय), कुमारगुप्त (प्रथम) और स्कन्दगुप्त के हैं। इनके एक ओर गरुड अंकन और दूसरी ओर शासक का नाम है। चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के सिक्कों पर मात्र उसका विरुद **श्री विक्रमः** है, अन्य दो शासकों के सिक्कों पर उनका पूरा नाम है।[6]

---

१ जo न्यूo सोo ईo, ३८, पृ० ७२-७३।
२. इ० ए० आर० १९५६-६०, पृ० ६६।
३. जo न्यूo सो o ईo, ३४, पृ० २२३।
४. वही।
५. इ० ए० आर०, १९७०-७१, पृ० ६१।
६. न्यूमिस्मेटिक डाइजेस्ट, ५(१), पृ० १९-२७।

वंशावली और राज्यानुक्रम

पृ० १७६ में रामगुप्त वाले अनुच्छेद से पहले काचगुप्त वाले अनुच्छेद के नीचे नया अनुच्छेद जोड़ें —

बयाना निखात के जो सिक्के राष्ट्रीय सग्रहालय (दिल्ली) मे हैं उनकी एक सूची हाल मे ही प्रकाशित हुई है जिसे बहादुर चन्द छाबडा ने प्रस्तुत किया है। इसमे उन्होने काचगुप्त के सम्बन्ध मे एक नया मत प्रतिपादित किया है। उन्होंने काच को घटोत्कच नाम का अश मानते हुए क**चस्य अयं काचः** के रूप मे व्याख्या की है और अर्थ किया है—काच का पुत्र अर्थात् घटोत्कच। इस प्रकार वे मानते हैं कि काच घटोत्कच का पुत्र, चन्द्रगुप्त (प्रथम) का भाई और समुद्रगुप्त का चचा था जो चन्द्रगुप्त (प्रथम) का उत्तराधिकारी और समुद्रगुप्त का पूर्ववर्ती शासक था। उन्होने रामायण से उदाहरण प्रस्तुत करते हुए अनुमान किया है कि जब चन्द्रगुप्त (प्रथम) वृद्ध हो गया था उसी समय चचा-भतीजे मे राज्याधिकार के निमित्त प्रतिस्पर्धा होने लगी। तब चन्द्रगुप्त (प्रथम) ने समुद्रगुप्त को युवराज घोषित कर इस गृह कलह का शमन किया था।[1] किन्तु उनकी कल्पना अपने आप मे अग्राह्य है। पहली बात तो यह है कि राज्य लिच्छवि-जन का था, गुप्त-वश का अपना नही। उस पर चन्द्रगुप्त का शासन स्वाधिकार से नही, वरन् पत्नी के माध्यम से हुआ था और वह लिच्छवि-दौहित्र के अभिभावक के रूप मे ही शासन कर रहा था (देखिये पृ० २३८-३६)। अत उसका कोई भी भाई उस राज्य पर अपने अधिकार की कल्पना कर ही नही सकता था। रामायण वाला उदाहरण चचा-भतीजे के प्रतिस्पर्धा का नही, भाई-भाई के बीच राज्याधिकार का प्रश्न था। तीसरी बात घटोत्कच का पुत्र घटोत्काच कहा जा सकता है किन्तु पिता के नाम पर पुत्र के नाम की कोई परिपाटी गुप्तवश मे दिखाई नही देती इस वंश मे एक नाम के दो शासक अवश्य हुए है पर किसी मे भी पिता-पुत्र का सम्बन्ध नही है। यदि हम इसकी सम्भावना की कल्पना कर भी ले तब भी 'काच' के सिक्को को घटोत्कच का सिक्का नही कह सकते। गुप्तकालीन सिक्को पर नाम के पूर्वाश का ही प्रयोग हुआ है, उत्तराश का नही, यदि यह सिक्का घटोत्कच का होता तो उस पर घटो नाम होना चाहिए था काच का नही, जैसा कि हम एक परवर्ती शासक के सिक्के पर देखते है।

इसी प्रसग मे एक उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि उसके जो सिक्के हैं उनके चित भाग पर उत्तरवर्ती कुषाण शासक मश्रु के सिक्को का अनुकरण स्पष्ट परिलक्षित होता है। दोनो मे अद्भुत समानता है। वे काचगुप्त और कुषाण शासक मश्रु के समवर्ती अथवा परवर्ती होने का संकेत प्रस्तुत करते है।

पृ० १७८ की चौथी पंक्ति के स्थान पर ग्रहण करें —

किन्तु अब उनके इस आग्रह का कोई कारण नही रहा। विदिशा से जो तीन जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं उनमे रामगुप्त का स्पष्ट उल्लेख महाराजाधिराज विरुद के साथ हुआ है। और यह विरुद सर्व प्रथम गुप्त-शासकों ने ही अपनाया था। और गुप्त-काल मे गुप्तवशीय शासको के अतिरिक्त किसी अन्य ने नही अपनाया था।

पृ० १९० की चौथी पंक्ति हटा कर उसके स्थान पर ग्रहण करें—

अभी हाल में क० स० शुक्ल ने हमारे इन अनुमानों के समर्थन मे एक सिक्के की चर्चा की है

१. कैटलाग आव द गुप्त गोल्ड क्वायन्स आफ बयाना होर्ड इन द नेशनल म्यूजियम, भूमिका, पृ० १७-१८।

जसे उन्होंने उन्नाव के शम्मीपुर तहसील के नवल नामक ग्राम के सुनार के पास देखा था। उनका कहना है कि उस पर उन्होंने ६ और १२ के बीच 'विजि (त्य) वसुधां दिवं जयति' और २ और ४ के बीच 'भानु [गुप्त]' पढ़ा था।[1] ठाकुरप्रसाद वर्मा ने अपनी एक टिप्पणी मे इसे बहुत बड़ी उपलब्धि की घोषणा की है।[2] किन्तु इस सिक्के को किसी प्रकार का महत्व देने से पूर्व उस पर ध्यानपूर्वक विचार करने की आवश्यकता है।

शुक्ल के स्वकथनानुसार यह सिक्का अब उपलब्ध नही है। उन्होंने जो कुछ भी कहा है उसका एक मात्र आधार वह चित्र है जिसे उन्होंने लेख के साथ प्रकाशित किया है और जो अस्पष्ट है। इस चित्र के आधार पर किसी प्रकार का कोई निष्कर्ष नही निकाला जा सकता। प्रकाशित चित्र मे कही भी २ और ४ के बीच 'भानु [गु]' शब्द के अंकित होने की बात ज्ञात नही होती। शुक्ल के कथन पर ऑख मूद कर विश्वास करने से पूर्व उचित होगा कि गुप्त-सिक्को के आलेखन की परिपाटी के परिप्रेक्ष्य मे २ और ४ के बीच 'भानु [गु]' आलेख होने की सम्भावना पर विचार किया जाय :

गुप्त-सिक्कों की सामान्य परिपाटी मे आलेख का आरम्भ सदैव (घडी क्रम से) १ बजे से होता है।[3] और लेख शासक की उपाधि से आरम्भ होता है, उसके बाद शासक का नाम और अन्त मे 'पृथिवी को जीत कर स्वर्ग को जीतने' की बात व्यक्त करने वाली शब्दावली होती है और लेख १२ के आसपास समाप्त हो जाता है। प्रकाशादित्य के सिक्को के सम्बन्ध मे ज्ञात तथ्य यह है कि प्राय सभी ज्ञात सिक्कोंपर६-७ के बाद और १२ के बीच वाला अश ही प्राप्त होता है जो शुक्ल के कथनानुसार ६ से १२ के बीच 'विजित्य वसुधा दिव जयति' है, उनकी यह बात सहज भाव से स्वीकर की जा सकती है, यही या इसका कुछ अंश सभी सिक्को पर देखा गया है। इस तथ्य को स्वीकार कर लेने पर यह सहज अनुमान किया कि विजित्य के ठीक पूर्व शासक का नाम होना चाहिये। अमरिकन न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी मे इस भॉत का जो सिक्का है, उसमे शासक के पैर के नीचे अर्थात ६ के आसपास अक्षरों के अवशेष चिन्ह हैं,[4] जो इस बात के द्योतक है कि आलेख मे कही टूट नही है और वहाँ उपर्युक्त वाक्याश के क्रम में शासक का ही नाम रहा होगा।स्पष्ट है कि यदि ये सिक्के भानुगुप्त के हो तो उसका नाम ५ और ६ के बीच ही मिलता न कि २ और ४ के बीच। १ और ५ के बीच राजा की उपाधि व्यक्त करने वाले ही शब्द रहे होगे। स्पष्ट है कि सिक्के पर भानुगुप्त के नाम की तनिक भी सम्भावना नही है। यह शुक्ल की अपनी कल्पनाप्रसूत है, तथ्य नही।

इसके साथ ही एक अन्य सिक्का भी द्रष्टव्य है जो लखनऊ सग्रहालय मे है।[5]यहसिक्काधनुर्धर भॉत का है और मान मे वह ६, ४३ ग्राम है जो इस बात का द्योतक है कि उसे बुधगुप्त के बाद के किसी शासक का सिक्का होना चाहिये। इसके चित भाग मे और हाथ के नीचे शासक का नाम नही है : पट भाग पर दाहिनी ओर 'श्री प्रकाश' आलेख है। यह आलेख इस बात का संकेत प्रस्तुत करता है कि वह उसी शासक का सिक्का होगा जिसका पूरा विरुद 'प्रकाशादित्य' के रूप में अश्वारोही-सिंह-निहन्ता भॉत पर मिलता है। इस तथ्य को स्वीकार कर लेने पर चित ओर के किनारे के आलेख पर ध्यान जाता है। वहाँ आलेख के रूप मे १ से 'परहितकारी' शब्द आरम्भ होता है। इस प्रकार दोनो भॉतो के सिक्कों के आलेख मिला कर उसकी पूर्ति 'परहितकारी राजा गुप्त. वसुधा विजित्य दिव जयति' के रूप में की जा सकती है और कहा जा सकता है कि अश्वारोही-सिह-निहन्ता भॉत के सिक्को का आरम्भिक अश 'परहितकारी राजा' होना और १ से ५ के आसपास तक जाना चाहिये। १ और ५ के बीच किसी शासन के नाम की सम्भावना नही रहती।

---

१. ज० न्यू० सो० ई०, ४२, पृ० १२०-१२२।

२ वही, पृ० १२२-१२६

३. अपवादस्वरूप समुद्रगुप्त के उत्पताक भॉत के कुछ सिक्के है जिन पर लेख का आरम्भ ७ या ८ से हुआ है

४. ज० न्यू० सो० ई०, १५, पृ० ८६, फलक ३, ११

५. उत्तर प्रदेशीय सग्रहालय, ३५-३६ (१९८५), पृ० ६३

अश्वारोही-सिंह-निहन्ता भाँत के सिक्कों पर पैरों के नीचे एक अक्षर देखने मे आता है, जो उसे वैन्यगुप्त, नरसिंहगुप्त, कुमारगुप्त (तृतीय) और विष्णुगुप्त के साथ सान्निध्य व्यक्त करता है। उपर्युक्त धनुर्धर भाँत के सिक्के पर पैरो के नीचे के इस अक्षर का सर्वथा अभाव है जो भारमान के परिप्रेक्ष्य मे इस बात को व्यक्त करता है कि वह बुधगुप्त से पूर्व का नही हो सकता। इस प्रकार इन दोनों प्रकार के सिक्कों को एक साथ देखने से प्रकट होता है कि उसके प्रचलनकर्ता का राज्यक्रम मे स्थान बुधगुप्त के बाद और वैन्यगुप्त से पहले अर्थात् वर्ष १७५ और १८१ के बीच ही होगा। एरण अभिलेख से भानुगुप्त का अस्तित्व वैन्यगुप्त के पश्चात वर्ष १६१ में होना सिद्ध है। यह तथ्य भी इस बात का द्योतक है कि यह सिक्का भानुगुप्त का नही हो सकता।

अत. हमारे सम्मुख अब तक कोई ऐसा साक्ष्य नही है जिससे 'श्री प्रकाश' और 'प्रकाशदित्य' विरुदधारी शासक का नाम जाना जा सके। किन्तु यदि युवागच्वांग कथित तथागतराज बुधगुप्त से भिन्न था तो उसकी पहचान प्रकाशादित्य से सम्भव हो सकती है। कालीघाट के दफीने मे, जिसमे वैन्यगुप्त, नरसिहगुप्त और उसके उत्तराधिकारियो के सिक्के मिले है, प्रकाशादित्य का एक भी सिक्का नही है। यदि इस दफीने मे उसका सिक्का रहा होता तो उनके एक दो नमूने ब्रिटिश संग्रहालय मे अवश्य सुरक्षित होते। इससे अनुमान होता है कि वह भानुगुप्त से पहले हुआ होगा। दूसरी बात यह भी है कि प्रकाशादित्य के सिक्कों मे वैन्यगुप्त के सिक्को से सोने की मात्रा अधिक और लगभग बुधगुप्त के सिक्को के समान है। इस बात से भी सकेत प्राप्त होता है कि इन सिक्को का प्रचलनकर्ता वैन्यगुप्त से पहले और बुधगुप्त के बाद हुआ होगा।

पृष्ठ १६२ की पंक्ति २ के नीचे निम्नलिखित सामग्री जोड़ लें —

चन्द्रगुप्त (तृतीय) इण्डियन म्यूजियम (कलकत्ता) की मुद्रा-सूची मे उल्लिखित जिन तीन सिक्कों[1] के आधार पर अनेक विद्वानों ने चन्द्रगुप्त (तृतीय) के अस्तित्व का अनुमान किया है। इन तीन सिक्कों मे से केवल एक को[2] स्मिथ ने चित्रित किया था और शेष दो[3] अभी हाल तक सग्रहालय मे ही सीमित थे और उनके चित्र अभी भी प्रकाशित नही हुए थे। स्मिथ के कहने के आधार पर ही यह मत व्यक्त किया जाता रहा और उन विद्वानो का अन्धानुकरण कर हमने भी उसके अस्तित्व को स्वीकारा है और साहित्य के साक्ष्य पर उसके ४६५ ई० के लगभग अर्थात् बुधगुप्त के बाद सिहासनारूढ होने के और ३-४ वर्ष तक राज्य करने का अनुमान किया है (पृष्ठ ३४४-४५)।

अभी हाल मे हमने इन तीनो सिक्को को देखा-परखा और प्रकाशित किया।[4] उन्हे देखने पर ज्ञात हुआ कि केवल एक सिक्के पर, जिसे स्मिथ ने चित्रित किया है, चित भाग पर 'चन्द्र' नाम और पट भाग पर 'श्री विक्रम' विरुद है, जो उसके चन्द्रगुप्त (द्वितीय अथवा तृतीय) के होने का सकेत प्रस्तुत करता है। शेष दो मे से एक के पट भाग पर भी 'श्री विक्रम' विरुद है, जो नि सन्देह चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का विरुद था किन्तु यह विरुद अकेले उसी का नही है। केवल इसके आधार पर उसे चन्द्रगुप्त का सिक्का नही कहा जा सकता। वस्तुत इसके चित भाग पर हाथ के नीचे 'बुध' आलेख है, जिसकी ओर स्मिथ ने ध्यान नही दिया था। तीसरे सिक्के का वह भाग अनुपलब्ध है जहाँ चित भाग पर शासक का नाम रहता है। इस कारण इस सिक्के का प्रचलनकर्ता अज्ञात रह जाता है। पट भाग पर अंकित विरुद ही उसका सकेत दे सकता था किन्तु वह भी अस्पष्ट है। इससे भी उसके पहचान मे सहायता नही मिलती। किन्तु उसके पहचान का सूत्र चित भाग पर राजा के सम्मुख अकित ध्वज मे उपलब्ध है। उस पर अंकित चक्रध्वज के आधार पर सहज भाव से कहा जा सकता है कि वह बंगाल के शासक जयनाग का सिक्का है।

इस प्रकार इण्डियन म्यूजियम मे केवल एक ही सिक्का है जिस पर चित ओर 'चन्द्र' नाम और

१ ई० म्यू० सी०, पृ० १०६, सिक्के ३०-३२।
२ वही, सिक्का ३०, फलक १५, १२।
३ वही, सिक्का, ३१-३२।
४ न्यूमिस्मेटिक डाइजेस्ट, ५ (२), पृ० ३८-३६।

पटभाग पर 'श्री विक्रम' विरुद है। और उसे चन्द्रगुप्त का सिक्का कहा जा सकता है और वजन (१४१.८ ग्रेन) के आधार पर उसे चन्द्रगुप्त (द्वितीय) से भिन्न शासक के सिक्के के रूप मे पहचाना और परवर्ती काल में रखा जा सकता है।

वजन के अतिरिक्त इस सिक्के मे एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि उसके चित भाग पर ऊपरी हिस्से पर ध्वज और राजा के सिर के बीच एक मंडपसदृश लांछन है। इस लाछन के कारण हमारा ध्यान एक अन्य सिक्के के की ओर गया जो भारत कलाभवन में है।[1] उस पर भी इस सिक्के के समान ही यही लांछन है किन्तु भार मे वह इससे कम अर्थात मात्र १३४ ग्रेन (८.६८ ग्राम) है। इन दो सिक्को के अतिरिक्त ब्रिटिश संग्रहालय मे सात ऐसे सिक्के हैं जिन पर इन्ही सिक्को की तरह ही 'चन्द्र' और 'श्री विक्रम' आलेख है और इन्ही की तरह चित ओर ऊपरी भाग मे ध्वज और राजमुण्ड के बीच एक लाछन है। इन पर यह लांछन उपर्युक्त सिक्को से भिन्न है। इस लाछन के अनुसार उन्हे दो वर्गों मे बॉटा जा सकता है। चार सिक्कों पर लाछन चक्र के रूप मे[2] और तीन पर अर्धचन्द्र[3] के रूप मे है। इन सिक्को का भार भारत कला भवन के सिक्कों के निकट इस प्रकार है — भार भारत कला भवन के सिक्कों के निकट इस प्रकार है —

चन्द्र लाछन युक्त—१३०.५ ग्रेन (८.४३ ग्राम), १३१.७ ग्रेन (६.५० ग्राम), १३२.५ ग्रेन (८.५५ ग्राम) और १२६.५ ग्रेन (८.३६ ग्राम)। चक्र लांछन युक्त—१२६.६ ग्रेन (८.१६ ग्राम), १२६.७ ग्रेन (८.१६ ग्राम) और १२.५ ग्रेन (७.८४ ग्राम)। इन्ही दो लाछन से युक्त दो सिक्के लखनऊ सग्रहालय मे भी है और दोनों का भार १२६.५ ग्रेन है।[4]

इन सभी सिक्कों के भार के परिप्रेक्ष्य मे इण्डियन म्यूजियम के सिक्के भार (१४०.८ ग्रेन) के सही अंकन के सम्बन्ध मे सन्देह उत्पन्न होता है और तब भार के आधार पर उसे बुधगुप्त के परवर्ती काल में रखना और उनके आधार पर चन्द्रगुप्त (तृतीय) का अस्तित्व सन्दिग्ध हो जाता है। किन्तु जब हम इन सिक्कों को बयाना निखात के परिप्रेक्ष्य मे देखते है तो भार के प्रमाण का कोई महत्व नही रह जाता। इस निखात मे जो अब तक ज्ञात सबसे बडा निखात है, स्कन्दगुप्त के (यदि अल्तेकर का मान्य मान्य हो तो) अथवा घटोत्कचगुप्त के (मेरे मतानुसार) सिक्के अन्यतम है। इस निखात मे २४०० सिक्को के होने का अनुमान किया जाता है जिसमे से १८२१ उपलब्ध हुए। इन उपलब्ध सिक्कों मे आधे से अधिक ६८३ अकेले चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के थे और उनमे भी ७५७ केवल धनुर्धर (पद्मासना लक्ष्मी) भाँत के थे। अल्तेकर ने इन सिक्कों को ६ वर्गों मे बॉटा है। उनमे ७०० सिक्को का विवेच्य सिक्को से नैकट्य है, किन्तु उनमें से किसी पर भी विवेच्य सिक्को की तरह ध्वज और राज-मुण्ड के बीच किसी प्रकार का कोई लाछन नहीं है। यदि प्रस्तुत भाँत के सिक्के चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के होते तो कम से कम एक-दो तो इस निखात मे अवश्य मिलते। उनका निखात मे न मिलना यह सकेत प्रस्तुत करता है कि वे कुमारगुप्त (प्रथम्) के बाद ही प्रचलित किये गये होंगे। अत इन सिक्को के प्रचलनकर्ता को चन्द्रगुप्त (तृतीय) की सज्ञा सहज भाव से दी जा सकती है। यहाँ हमे आभिलेखिक सूत्रो से स्कन्दगुप्त और बुधगुप्त के बीच एक अन्य शासक कुमारगुप्त (द्वितीय) का अस्तित्व ज्ञात होता है। अत इस चन्द्रगुप्त (तृतीय) का स्थान बुधगुप्त के बाद ही अनुमान किया जा सकता है। इस अनुमान को इस बात से भी बल प्राप्त होता है कि बुधगुप्त और उसके किसी पूर्ववर्ती के सिक्कों पर इन सिक्कों पर उपलब्ध लाछनो की तरह का कोई लाछन नही मिलता। अत. इस तथ्य के आधार पर भी इसे बुधगुप्त के बाद ही रखना होगा।

इन सिक्कों में, इण्डियन म्यूजियम और भारत कला भवन के सिक्को का प्राप्तिस्थान अज्ञात है। लखनऊ संग्रहालय के दो सिक्को में से केवल एक सिक्के के भागलपुर (बिहार) से प्राप्त होने की जानकारी

---

१. भारत कला भवन की गुप्त-मुद्रा सूची, पृ० ८२, सिक्का २१८।३५।
२. वही, सिक्के ६३-६५।
३. वही, सिक्के ६६-६६।
४. लखनऊ संग्रहालय, गुप्त मुद्रासूची, सिक्का ७१-७२।

है। ब्रिटिश संग्रहालय के सात सिक्कों मे से तीन के सम्बन्ध में निश्चित जानकारी है कि वे भरसड़ और कालीघाट के निखातों मे मिले थे। इतनी जानकारी के आधार पर यह तो अनुमान किया ही जा सकता है कि ये सिक्के गुप्त साम्राज्य के पूर्वी भाग मे ही प्रचलित किये गये अथवा प्रचलित थे। भरसड़ निखात १८५१ में मिला था और उसमें १६० के लगभग सिक्के थे जिनमे से केवल ६० मिल पाये थे। इन मिले हुए सिक्कों मे समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त (द्वितीय), कुमारगुप्त (प्रथम), स्कन्दगुप्त और प्रकाशादित्य के सिक्के थे। उस समय भरसड़ मे मिले विवेच्य सिक्के चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के सिक्कों के रूप मे पहचाने गये थे। इस निखात से उपलब्ध जानकारी के आधार पर चन्द्रगुप्त (तृतीय) का निश्चित स्थान तो निर्धारित नही किया जा सकता किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि वह प्रकाशादित्य का निकटवर्ती शासक ही रहा होगा।

कालीघाट निखात भरसड निखात से बहुत पूर्व १७८३ मे मिला था। उसमे मुख्यत. नरसिंह-गुप्त, कुमारगुप्त (तृतीय) (एलन कथित कुमारगुप्त द्वितीय) और विष्णुगुप्त के सिक्के थे।[1] एलन की मुद्रा-सूची को ध्यानपूर्वक देखने पर यह भी ज्ञात होता है कि उस निखात मे वैन्यगुप्त के भी सिक्के थे।[2] इन सभी सिक्कों के पैरों के नीचे एक अक्षर मिलता है और इसी प्रकार का अक्षर प्रकाशादित्य के सिक्कों पर भी घोड़े के नीचे है। विवेच्य सिक्कों पर इस प्रकार का कोई अक्षर नही है। उसके स्थान पर ध्वज और मुण्ड के बीच एक लांछन है जो बुधगुप्त और उसके पूर्व के सिक्को पर अनजाना है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि इन सिक्को का प्रणेता बुधगुप्त और प्रकाशादित्य के बीच ही कोई रहा होगा और परिप्रेक्ष्य मे उसे मंजुश्री मूलकल्प मे उल्लखित चन्द्र अनुमान किया जा सकता है जो द्वादश (वैन्यगुप्त द्वादशादित्य) से पहले हुआ था।

पृष्ठ १६४ में पंक्ति २ के रूप में अतिरिक्त सामग्री जोड़ लें —

यहाँ हमने यह मत प्रकट किया है कि वह स्कन्दगुप्त से पहले और प्रकाशादित्य और वैन्यगुप्त के बाद नही हुआ होगा। किन्तु वहाँ हमने उसका कोई स्थान निश्चित नही किया है। इस सिक्के को पुनर्प्रकाशित करते हुए अभी हाल मे कहा गया है कि उसका स्थान कुमारगुप्त (द्वितीय) से पहले होना चाहिये।[3] यह अनुमान इस आधार पर प्रकट किया गया है कि सग्रहालय की सूची मे उसका भार ८.७८ ग्राम बताया गया है। किन्तु इसके साथ इस तथ्य पर ध्यान नही दिया गया है कि सिक्के का एक कोना कटा हुआ है अर्थात् उसका एक अंश काट लिया गया है। यदि वह कटा न होता तो उसका वास्तविक भार ६ ग्राम से अधिक ही होता। यही नही, कसौटी की परख से यह सिक्का स्कन्दगुप्त के सिक्के से १० प्रतिशत घटिया जान पड़ता है। ऐसे घटिया सोने के सिक्के बुधगुप्त के काल के बाद ही जाने जाते हैं।

इस प्रकार मुद्राओं के साक्ष्य के विवेचन से यह निष्कर्ष सामने आता जान पड़ता है कि बुधगुप्त के बाद और वैन्यगुप्त से पूर्व अर्थात् वर्ष १७५ और १८१ के बीच चन्द्रगुप्त (तृतीय), समुद्रगुप्त (द्वितीय) और प्रकाशादित्य नामक तीन शासक हुए होगे। किन्तु केवल ६ वर्ष के अल्पसमय के भीतर (वर्ष १७५ बुधगुप्त का अन्तिम वर्ष और १८१ वैन्यगुप्त का आरम्भिक वर्ष) ही रहा होगा, ऐसा हम निश्चित नही कह सकते। इस कारण यह अवधि और भी कम हो सकती है। इतने कम समय में तीन शासकों के होने की सम्भावना कम ही है। अत. जब तक कोई नया अभिलेखिक साक्ष्य उपलब्ध न हो, इस सम्बन्ध में कुछ भी कहना कठिन है, साथ ही, इनमे से किसी को यहाँ से हटा भी नहीं सकते।

---

१. ब्रि० स० गु० मु० सू०, भूमिका, पृ० १२६-७।
२. वही, पृ० १४४, पा० टि० १।
३. यु० प० स० पु० पत्रिका, ३५-३६ (१९८५), पृ० ६२।

परिव्राजक अभिलेखों का संवत्सर

पृ० २१३

१६७७ में शंकरपुर (तहसील गोपादनासा, जिला सिद्धी) से एक ताम्रपत्र उपलब्ध हुआ है जिसमे परिव्राजक अभिलेखो की तरह ही गुप्त संवत् के साथ-साथ वार्हस्यत्यवर्ष का उल्लेख 'संवत्सर शते–षष्ट्युत्तरे (१६६६) महामाघ संवत्सरे' के रूप मे हुआ है। किन्तु रामेशने पाठ शतेष्टषष्ट युत्तरे (१६८) पाठ होने की बात कही है। पूर्व संस्करण मे संवत् सरों का जो विवेचन किया है उसके अनुसार मध्य-चिह्न वाली पद्धति से गुप्त वर्ष १६८ में महाफाल्गुन होना चाहिये, महामाघ नही। दूसरी ओर हस्तिन के जबलपुर अभिलेख के अनुसार संवत् १७० में बार्हस्पत्य सवत् महाज्येष्ठ था, जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि इस वर्ष से पूर्व किसी संवत्सर का क्षय हुआ था। यदि गुप्त वर्ष १६३ और १६५ के बीच एक संवत्सर का क्षय हुआ था तो संवत् १६६ मे महामाघ और १७० मे महाज्येष्ठ का अपने आप समाधान हो जायेगा। किन्तु रामेश के पाठ १६८ के सामंजस्य के लिए इस वर्ष से पूर्व के महासंवत्सर की वृद्धि करनी होगी, साथ ही जबलपुर लेख के वर्ष १७० के महाज्येष्ठ का सामंजस्य करने के लिए तत्काल दो संवत्सरों का ह्रास अनुमान करना होगा जो सम्भव नहीं है। इसका उल्लेख यहाँ केवल इस कारण किया जा रहा है कि पाठकों को संवत्सर के निर्धारण के लिए यह नयी जानकारी मिल सके।

समुद्रगुप्त

पृ० २४३-२७७

पृ० २६७ पर 'समुद्रगुप्त के साथ' वाक्य से आरम्भ होने वाले अनुच्छेद से लेकर पृ० २७० के 'सम्बन्ध में संकेत प्राप्त होता है' से अन्त होने वाले अनुच्छेद तक समूचे अंश की उपेक्षा कर उनके स्थान पर सर्वथा नये रूप में निम्नलिखित रूप में ग्रहण करें—

'समुद्रगुप्त के साथ मैत्री रखने वाले राज्यों का उल्लेख करते हुए हरिषेण ने प्रयाग प्रशस्ति में दैवपुत्र शाहि–शाहानुषाहि-शकमुरुण्ड का उल्लेख किया है। 'देवपुत्र' चीनी-सम्राट की उपाधि तेन-त्ज का शाब्दिक भारतीय रूपान्तर है। इसे कुषाणशासकों ने चीनियों से ग्रहण किया था।[1] 'शाहानुशाहि' ईरानी सम्राटों की प्रख्यात उपाधि है जो बाख्त्र और भारत के शक शासको के माध्यम से उनके कुषाण उत्तराधिकारियों तक पहुँची थी। बहुत दिनों तक वह यूनानी, ईराकी और प्राकृत रूपों मे उत्तर-पश्चिमी भारत में शासकों के बीच प्रचलित रही। यह 'महाराजराजाधिराज' का ईरानी रूप है। 'शाहि', 'शाहानुशाहि' में प्रयुक्त मूल शब्द है। 'मुरुण्ड' शब्द अनुस्वारविहीन 'मोरेड' के रूप मे कनिष्क (सम्भवत प्रथम कनिष्क) के ११वें राजवर्ष के जेद्दा अभिलेख मे उपाधि की भाँति प्रयुक्त हुआ है। अत समझा गया है कि यह भी कुषाणों की ही एक उपाधि है। इन तथ्यों के परिप्रेक्ष्य मे कनिंगहम ने अपना मत प्रतिपादित किया है कि समस्त पद–'देवपुत्र शाहिशाहानुशाहि शक-मुरुण्ड' से तात्पर्य अकेले कुषाणों से ही है।[2] उनके इस मत का समर्थन बीवर (ए० डी० एच०) ने भी किया है।[3] उन्होने अपना मत इस प्रकार प्रतिपादित किया है–समुद्रगुप्त के अभिलेख मे कुषाण सम्राटो द्वारा प्रयुक्त उपाधियों के माध्यम से कुषाण-साम्राज्य के शक-कुषाण राजाओं की चर्चा की गयी है। वे या तो पुराने कुषाण-वश के अवशेष थे (इस स्थिति मे सिक्कों के आधार पर उनकी पहचान वासुदेव और तृतीय कनिष्क से की जा सकती है) अथवा बे सासानी सामन्त थे जिनका उभरते हुए गुप्तों ने पूर्ववर्ती कुषाण सम्राटो द्वारा प्रयुक्त उपाधियों के माध्यम से उल्लेख किया है। बीवर का यह भी कहना है कि समुद्रगुप्त ने सम्भवत कुषाणों पर सासानियो के विजय का लाभ उठा कर ध्वस्त मुरुण्ड साम्राज्य पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा की। वे अपनी इस बात का समर्थन उन सिक्कों मे देखते हैं जिन पर 'समुद्र' नाम मिलता है और बनावट मे उन कुषाण सिक्कों के समान है और जिन्हे वे मुरुण्डो के सिक्के होने का अनुमान करते हैं। उनका यह भी कहना है कि गुप्त सिक्कों के सिक्के भाँत के पश्चिम के राजाओं ने भी चलाये थे। उनकी दृष्टि में वे इस बात के द्योतक हो सकते हैं कि समुद्रगुप्त और उनके उत्तराधिकारियो का इन विदेशी राजाओं पर किसी रूप में प्रभुत्व था।[4]

अन्य विद्वान इस समस्त पद को किसी एक राज्य या शासक का बोधक होने की अपेक्षा दो

१. पी० पेलिओट, त्वाग-पावो, १६२३, पृ० २३। सिल्वॉलेवी द्वारा 'देव पुत्र' शीर्षक लेख मे उद्धृत (जूर्नेल एशियाटिक, १६३३, पृ० २१)।

२. न्यू० का०, १८६३, पृ० १७६।

३. ज० न्यू० सो० ई०, १८, पृ० ३७-४१।

४. बीवर की इन धारणाओं से किसी भी मुद्रातत्वविद् का सहमत होना कठिन है। जिन सिक्कों पर उन्होंने समुद्र का नाम देखा है वे मात्रा मे अत्यल्प है और गदहर कबीले के शासकों के है। उन पर यह नाम उस स्थान पर है जहाँ अन्य सिक्कों पर कुछ अन्य नाम मिलते है जो निःसन्देह, उनके अपने शासको के है। अतः यह नाम भी उनके अपने किसी शासक का ही है। इन सिक्कों का विशेष अध्ययन विवेचन न होने के कारण इन सिक्कों के समुद्रगुप्त से सम्बन्धित होने का भ्रम फैला हुआ है।

वर्ग के शासकों के रूप में ग्रहण करते हैं। वे 'दैवपुत्र शाहि शाहानुशाहि' को और 'शक-मुरुण्ड' में विभेद करते हैं। इस वर्ग के कुछ विद्वान 'दैवपुत्र शाहि शाहानुशाहि' में कुषाण शासकों का संकेत तो देखते हैं किन्तु वे इन्हे तीन छोटे-छोटे राज्यों का बोधक मानते हैं जिसमें, उनके कथानानुसार कुषाण साम्राज्य बँट गया था। इस सम्बन्ध मे प्राय. इस बात की ओर संकेत किया जाता है कि चीनी इतिहासकारों ने बारम्बार भारत के 'दैव-पुत्र' (ति-पोनो-फो-तान-लो) का उल्लेख किया है और इसका तात्पर्य भारत के किसी अज्ञात शासक से न होकर 'दैव-पुत्र' उपाधिधारी राजा से है।[1] कैनेडी के कथनानुसार भारत के इस 'दैव-पुत्र' को पंजाब मे होना चाहिये क्योंकि चौथी शती ई० के चीनी इतिहासकारों ने इस देश को हाथियों के लिए प्रसिद्ध बताया है।[2]

'शाहि' के सम्बन्ध मे एलन का कहना है कि इसका प्रयोग किदार-कुषाण करते थे। इसे उन्होंने अपने पूर्वाधिकारियो से प्राप्त किया था। इस प्रकार इस बात के सकेत प्राप्त होते है कि 'शाहि' कुषाणों की एक शाखा विशेष की उपाधि थी जिसका सम्बन्ध गन्धार से था।[3] वे इस बात की सम्भावना मानते हैं कि 'शाहि-शाहानुशाहि' भारत के किसी ऐसे बड़े राजा की उपाधि थी जो ईरानी उपाधि धारण करता था। किन्तु साथ ही वे 'शाहानुशाहि' को 'शाहि' से भिन्न भी मानते है।[4] स्मिथ का कहना है कि शाहानुशाहि या तो सासानी सम्राट शापुर (द्वितीय) था जिसने नि.सन्देह यह उपाधि धारण की थी या फिर वक्षु तट स्थित कोई कुषाण राजा था। एलन उसे काबुल का कुषाण शासक अनुमान करते है। उनके अनुसार 'शाहानुशाहि' (अथवा सम्भवत. 'शाही-शाहानुशाहि') की पहचान उस कुषाण राजा से की जानी चाहिये जिसके राज्य का विस्तार भारतीय सीमा से वक्षुनद तक था।[5]

इस धारणा के विपरीत रमेशचन्द्र मजूमदार का मत है कि यह समस्त पद अकेले एक कुषाण शासक की अभिव्यक्ति करता है जिसका राज्य काबुल, पंजाब के कुछ अंश और आगे पश्चिम की ओर कुछ दूर तक था।[6] स्मिथ उसकी पहचान ग्रम्बेट के रूप मे करते है जिसने ३५० ई० के आसपास सासानी सम्राट शापुर (द्वितीय) की सहायता भारतीय हाथियों का एक यूथ प्रदान कर की थी।[7] हेमचन्द्र राय चौधुरी को इसमे कुषाणो के अतिरिक्त सासानियो की भी झलक दिखाई पडी है।[8] अल्तेकर के मत मे यह उपाधि किदारो की थी जो मूलत सासानियो के करद थे।[9] किन्तु बुद्धिप्रकाश को इस बात मे तनिक भी सन्देह नही है कि यह समग्र पद कुषाणों की ही उपाधि है, साथ ही उनकी यह भी धारणा है कि इसका प्रयोग ३५६ ई० से पूर्व ही किया गया होगा। वे इसे ३५० और ३५६ ई० से बीच रखते हैं जब कुषाणो पर सासानियो का दबाव जोरो पर था। उनका अनुमान है कि उस समय कुषाण शासक ने समुद्रगुप्त की उभरती हुई शक्ति के साथ मैत्री करके उनकी सहायता प्राप्त की होगी।[10] किन्तु इन विद्वानो के मत से हम इसी सीमा से सहमत है कि इस समस्त पद से तात्पर्य कुषाण शासकों से ही है। इसके आगे उन लोगो ने जो कुछ भी कहा है, वह उनकी अपनी निराधार कल्पना है। आभिलेखिकी साक्ष्यों की उन्होंने सर्वथा उपेक्षा की है। कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव (वर्ष तक) अपने लेखों मे निरन्तर 'देव-पुत्र शाहानुशाहि' कहे जाते रहे।[11] वासुदेव के अभिलेख मे इन विरुदों के साथ एक नये विरुद

१ ब्रि० म्यु० मु० सू०, भूमिका, पृ० २७।
२ ज० ए० ए० सो०, १६१२, पृ० ६८२, १६१३, पृ० १६२।
३ ब्रि० म्यू० मु० सू०, भूमिका, पृ० २७।
४. वही।
५. ब्रि० म्यू० मु० सूची, भूमिका, पृ० २८।
६. वाकाटक-गुप्त एज, पृ० १३५।
७. ज० रा० ए० सो० १८६७, पृ० ३२।
८. पो० हि० ए० ई०, ५ वाँ सस्करण, पृ० ५४५, पा० टि० २।
६. वाकाटक-गुंप्त एज, पृ० २२।
१०. स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन, पृ० २६८।
११. रोजेनफील्ड, डाइनोस्टक आर्ट्स आव द कुशान्स, पृ० २६४-२६६, अभिलेख १-८३

'शाहि' का प्रयोग हुआ है[1] और इसके अनंतर उसके उत्तरवर्ती कुषाण शासकों का उल्लेख मथुरा के अभिलेखों मे 'देवपुत्र शाहि शाहानुशाहि' के रूप मे हुआ है।[2] इन अभिलेखों के परिप्रेक्ष्य मे ही कुषाण शासकों का उल्लेख 'देवपुत्र शाहानुशाहि' के रूप में हुआ है जो मथुरा और उसके समवर्ती क्षेत्रों में समुद्रगुप्त के समय तक बने रहे।

'शक-मुरुण्ड' के सम्बन्ध मे अनेक विद्वानों का मत रहा है कि यह जाति (अथवा जातियों) का नाम जान पड़ता है और उसका तात्पर्य कुषाणों से भिन्न शक और मुरुण्ड नाम अथवा उपाधिधारी राजाओं से है। उनकी धारणा है कि शक का अभिप्राय यहाँ पश्चिमी भारत के शक राजाओं से है जो क्षत्रपों के नाम से ख्यात हैं और जिनकी राजधानी उज्जयिनी थी जो चष्टन और रुद्रदामन के वंशज थे। इस प्रसंग मे उनका यह भी कहना है कि 'मुरुण्ड' शक शब्द है जिसका अर्थ स्वामी होता है और इस उपाधि का प्रयोग शको के बाद कुषाणों ने किया। और उसके ही भारतीय रूप स्वामी का प्रयोग इन पश्चिमी क्षत्रप राजाओं ने किया था। इस प्रसग में इस ओर भी सकेत किया जाता है कि साँची के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि नन्दिसुत महादण्डनायक श्रीधरवर्मन के अधीन ३१६ ई० के आसपास उस क्षेत्र में एक शक राज्य था। साथ ही कुछ अन्य अनेक छोटे-छोटे शक राजाओ के विन्ध्य प्रदेश में होने का पता लगता है। किन्तु इस प्रकार का मत प्रकट करते हुए यह तथ्य भुला दिया गया है कि प्रयाग-प्रशस्ति मे जिस रूप मे यह उल्लेख हुआ है वह अथवा वे राज्य उत्तर की ओर पश्चिम मे थे न कि दक्षिण अथवा दक्षिण-पश्चिम मे।

इसी प्रकार 'मुरुण्ड' को 'शक' से भिन्न राज्य की कल्पना करते हुए टालमी का साक्ष्य प्रस्तुत किया जाता है। उसके कथनानुसार 'मुरुण्ड' गगा के किनारे गंगरिडाइ के उत्तर-पश्चिम मे थे। इस प्रकार की कल्पना करते समय यह भुला दिया गया है कि गगा के किनारे का भू-भाग समुद्रगुप्त के राज्य के अन्तर्गत था उसके सीमान्त पर नही।

वस्तुत. शक-मुरुण्ड का तात्पर्य यहाँ शाक कबीले के उन शासकों से है जो कुषाणो के समीपवर्ती थे और उनका राज्य मथुरा क्षेत्र से लगे हुए राजस्थान के भू-भाग मे था, जहाँ उनके सोने के सिक्के प्राप्त होते हैं। ये सिक्के कुषाण सिक्को के ढग पर बने हुए है और राजस्थान, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश मे बिखरे मिलते है। सम्भवत. इन्ही शको (शाको) से पीछे चन्द्रगुप्त (द्वितीय) की मुठभेड़ हुई थी जो 'देवी-चन्द्रगुप्तम्' मे ध्वनित हुई है।

१. वही, पृ० २६६, अभिलेख ८३।
२. वही, पृ० २७०, अभिलेख ८७,, पृ० २७१, अभिलेख ७, १७, २८।

चन्द्रगुप्त (द्वितीय)

शासन-कार्य – उपशीर्षक मे कही गयी अनेक बातें ऐसी हैं जिन पर नये सिरे से विचार किया जाना आवश्यक है। किन्तु यहाँ विस्तृत रूप से सम्भव नही है। सक्षेप मे ही कुछ की चर्चा की जा सकती है।

पृ० २८६

हमने यह कहा है कि चन्द्रगुप्त को पहले शकों का सामना करना पडा था। किन्तु यह कथन कि शक कौन थे, अभी तक जाना नही जा सका है। वस्तुत. यह तथ्य नही है। सहज भाव से अब कहा जा सकता है कि वे वही शक (शाक) होगे जिनके कुषाण सिक्कों के अनुकरण पर बने सिक्के राजस्थान, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश मे प्राय. मिलते रहते हैं। उनकी पहचान उन शक-मुरुण्डों से भी की जा सकती है जिनका उल्लेख समुद्रगुप्त के प्रयाग-प्रशस्ति मे हुआ है।

पृ० २८७

मेहरौली प्रशस्ति के सम्बन्ध मे कहा गया है कि उसका आलेखन निधनोपरान्त हुआ था। वस्तुत ऐसी बात नही है। प्रशस्ति के चौथे पद का जो अनुवाद फ्लीट ने किया है उससे ही ऐसा भ्रम उत्पन्न हुआ है। वस्तुत जैसा कि भण्डारकर ने कहा है वह चन्द्र के जीवनकाल का ही आलेख है।

पृ० २८६

मेहरौली प्रशस्ति मे वाह्लीक विजय का जो उल्लेख है उसके बल्ख (बाख्त्री) होने मे सन्देह करते हुए, हमने उसका तात्पर्य पजाब वाले प्रदेश से अनुमान किया था। किन्तु अभी हाल मे काराकोरम के पर्वतीय प्रदेश मे हुञ्जा कोंठे के क्षेत्र से कुछ छोटे-छोटे अभिलेख मिले हैं जिनमे चन्द्रगुप्त और हरिषेण का उल्लेख है। उनसे चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का तात्पर्य जान पडता है और वे इस बात के प्रतीक हैं कि वह किसी अभियान के प्रसग मे इस मार्ग से गया था। यह अभियान वाह्लीक की ओर ही रहा होगा। यह मार्ग अन्य मार्गों से सुगम और चालू था और पर्वत को पार कर उस सीधे मार्ग तक पहुँचता था जो मध्य एसिया से सीधे वाह्लीक तक जाता था और जिस मार्ग से पूर्व मे शक, कुषाण और हूण मध्य एशिया से इस भू-भाग तक पहुँचे थे।

पृ० २९१

हमने यहाँ इस बात की चर्चा करते हुए कि कुछ विद्वान गुजरात और सौराष्ट्र पर उनके प्रभुत्व अथवा प्रभाव का अनुमान करते है, इसके औचित्य से नकारा था और अपने समर्थन मे अभिलेखो और सिक्कों के अभाव का उल्लेख किया था। किन्तु उस क्षेत्र से पश्चिमी क्षत्रपों के सीसे के सिक्कों के अनुकरण पर बने चन्द्रगुप्त (द्वितीय), कुमारगुप्त (प्रथम) और स्कन्दगुप्त के सिक्के प्राप्त हुए हैं जो उस क्षेत्र की ओर चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के प्रभाव को प्रमाणित करते जान पडते है। इससे इस बात की सम्भावना बलवती होती हैं कि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के समय मे ही गुप्त-साम्राज्य का विस्तार गुजरात की ओर हो गया रहा होगा।

बुधगुप्त और विष्णुगुप्त

पृ० ३४१-३४३

स्कन्दगुप्त के राज्य सीमा की चर्चा करते हुए कहा गया है कि उसके उत्तरवर्ती काल का कोई भी अभिलेख उत्तर प्रदेश और पूर्वी मध्य प्रदेश से नहीं मिला है (पृ० ३२८)। किन्तु यह कथन सर्वांश में सत्य नही जान पड़ता। वर्ष १४६ के इन्दौर (बुलन्द शहर, से मिले ताम्रलेख से स्पष्ट है कि उस समय तक उत्तर प्रदेश का पश्चिमी भाग उसके अन्तर्गत बना हुआ था। किन्तु इस काल के बाद का गुप्त शासकों का कोई अभिलेख पश्चिमी उत्तर प्रदेश से प्राप्त न होने के कारण यह धारणा बनती थी कि वर्ष १४६ के पश्चात् स्कन्दगुप्त के बाद गुप्त साम्राज्य सिमट कर बिहार-बंगाल और मध्य प्रदेश के कुछ भू-भाग में ही सीमित हो गया था। किन्तु अब मथुरा क्षेत्र से प्राप्त एक बुद्ध मूर्ति के पादासन लेख से ज्ञात होता है कि कम से कम बुधगुप्त के समय (वर्ष १६१) तक इस भू-भाग पर गुप्त-शासन अक्षुण्ण बना हुआ था।

इसी प्रकार पूर्वी मध्य प्रदेश से भी गुप्तों की प्रभुसत्ता समाप्त हो जाने की धारणा भी सत्य नही जान पडती। इस धारणा का आधार यह रहा है कि परिव्राजक शासक अपने अभिलेखो मे प्रभुसत्ता के रूप में गुप्तों का कोई उल्लेख नही करते (पृ० ३४२)। अब शंकरपुर (तहसील गोपादनासा, जिला सिद्धी) से वर्ष १६६ के ताम्रलेख से प्रकट है कि उस क्षेत्र के शासक 'परमदेव राजा' के रूप मे बुध गुप्त की प्रभुसत्ता स्वीकार करते थे। इस शासन के प्रदाता हरिवर्मण और उसके पिता और पितामह भी अपने को महाराज कहते हुए भी उसकी अधीनता स्वीकार करते थे। गुप्त साम्राज्य का ह्रास बुध गुप्त के पश्चात् ही किसी समय हुआ होगा। आश्चर्य नही कि उनका राज्य हूणों के आक्रमण के फलस्वरूप ही ध्वस्त हुआ हो।

पृ० ३५६-६०

उत्तरी बंगाल मे गुप्तों का शासन कम से कम गुप्त संवत् २२४ (५४३ ई०) तक बना था। विष्णुगुप्त के पश्चात् उनका यह अधिकार कितने दिनों तक बना रहा कहा नही जा सकता था, साथ ही यह भी कहा गया था कि धर्मादित्य, गोपचन्द्र और समाचार देव के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि वे लोग बंगाल के दक्षिणी भाग मे छठी शती तक शासन करते रहे (पृ० ३४६)। कुछ दिनों पूर्व हुगली जिले के हसनान नामक स्थान से गुप्तों के सोने के सिक्कों का एक निखात मिला है जिसमे नरसिंहगुप्त, कुमारगुप्त (तृतीय) और विष्णुगुप्त के सिक्कों के साथ समाचार देव का भी एक सिक्का है जो गुप्तों के धनुर्धर भाँत का ही अनुकरण है। इस निखात के आधार पर अब अनुमान किया जा सकता है कि समाचार देव ने ही विष्णुगुप्त के समय में गुप्त-राज्य हस्तगत किया होगा।

१

सन्धान सूत्र

अभिलेख

गुप्तवंशीय सम्राटों, अथवा यों कहें कि समूचे प्राचीन भारतीय इतिहास से सम्बन्ध रखने वाला इतिवृत आज उपलब्ध नहीं है; किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि हमारे पूर्वज इतिहास की भावना से सर्वथा शून्य थे। वैदिक ग्रन्थों में ही नहीं, बौद्ध, जैन एवं अन्य सम्प्रदायों के ग्रन्थों में भी बड़े ही व्यवस्थित रूप में आचार्यों की सूचियाँ प्राप्त होती हैं। राजाओं और वीरों की नाराशंसी तो वैदिक साहित्य में उपलब्ध है ही। यज्ञ आदि विशेष अवसरों पर राजाओं और राजपरिवारों की प्रशस्तियों का गायन हुआ करता था। अच्छी-बुरी घटनाओं, सुकाल और दुष्काल आदि का विवरण रखने के लिए राज्य की ओर से अधिकारी रहा करते थे, ऐसी चर्चा सातवीं शताब्दी में आये चीनी यात्री युवांग-च्वांग ने की है। अतः हम केवल यही कह सकते हैं कि हमारे पूर्वज बिखरी हुई सामग्री को एकत्र कर सुनियोजित ऐतिहासिक साहित्य प्रस्तुत करने की ओर से उदासीन थे। यही हमारे ऐतिहासिक साहित्य के अभाव का कारण है।

ऐसी परिस्थिति में हमारा आज का अधिकांश ऐतिहासिक ज्ञान अभिलेखों, सिक्कों, ध्वंसावशेष आदि प्राचीन अवशेषों पर ही आधारित है। इनके सहारे अतीत के राजाओं और राजवंशों का इतिहास पुनर्निर्मित करने की चेष्टा की गयी है। किन्तु यह कहना कठिन है कि अतीत के वास्तविक इतिहास को हम जान सके हैं। आज इतिहास जिस रूप में उपलब्ध है, उसकी अनेक बातें केवल सम्भावनाओं पर आधारित हैं। अतः नयी सामग्री के प्रकाश में समय-समय पर इस स्वनिर्मित इतिहास में संशोधन-परिवर्तन होते रहना अनिवार्य है। इस क्रम का कदाचित ही कभी अन्त हो सके। हमें समय-समय पर अपने इतिहास का पर्यालोचन करते ही रहना होगा।

प्राचीन भारतीय इतिहास के निर्माण में अभिलेख सबसे अधिक महत्व के सिद्ध हुए हैं। ये अभिलेख प्रायः पत्थर अथवा धातुओं पर उत्कीर्ण पाये जाते हैं। वे पुस्तकों अथवा विनाश-शील वस्तुओं पर लिखित सामग्रियों की तरह सरलता से न तो नष्ट हो सकते हैं और न उन्हें सहज विकृत किया जा सकता है। फिर भी वे सदैव सद्-वस्था में मिलें, ऐसी बात नहीं है। कभी-कभी वे खण्डित भी मिलते हैं, कभी उनका कुछ अंश अनुपलब्ध होता है और कभी काल-चक्र के प्रभाव से घिसे अथवा मिट गये होते हैं। इस कारण इनका पूरा-पूरा लाभ उठा पाना प्रायः सम्भव नहीं होता। हमारे ये प्राचीन अभिलेख दो प्रकार के हैं—सरकारी और निजी। सरकारी अभिलेख या तो राजाओं के पूर्वा और प्रशस्ति है या राजा, राज-परिवार के लोगों अथवा राज्याधिकारियों द्वारा प्रचलित शासन।

पूर्वा और प्रशस्तियाँ राजकवियों अथवा राज्याधिकारियों द्वारा अपने स्वामी की प्रशंसा में रची गयी होती हैं; इस कारण उनमें कवि की अतिरंजना स्वाभाविक है तथापि उनमें वर्णित अभियान, युद्ध, विजय सदृश घटनाओं के मूल में सत्य आँका और उन्हें सतर्कता पूर्वक ऐतिहासिक तथ्य के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

राज-शासन अधिकांशतः ताम्रपत्र पर अंकित पाये जाते हैं और वे प्रायः भू-दान अथवा भू-विक्रय से सम्बन्ध रखते हैं। इन शासनों में मुख्यतः दान अथवा विक्रय की गयी भूमि की सीमा, दान का उद्देश्य तथा प्रतिबन्ध और मूल्य, माप आदि का ही विवरण होता है और उनमें भावी शासकों को उसके अपहरण का निषेध रहता है और इस प्रसंग में शासनोल्लंघन के दुष्परिणाम सम्बन्धी धर्म-वचन उद्धृत होते हैं। इस प्रकार सामान्यतः इन शासनों में ऐतिहासिक महत्व की बातें प्राप्त होने की आशा नहीं की जा सकती; किन्तु किसी अज्ञात परम्परा के फलस्वरूप अधिकांश शासनों में राज-प्रशस्ति सरीखी बातें भी लिखी रहती हैं। उसमें सामयिक शासक का जीवन और उपलब्धि तथा उसके पूर्वजों का विवरण रहता है। ये प्राक्कथन स्वरूप कही गयी होती हैं। इन पंक्तियों में ऐतिहासिक महत्व की सामग्री निहित रहती है।

निजी अभिलेख अधिकांशतः देवी-देवताओं की मूर्तियों और धार्मिक-स्थलों पर अंकित मिलते हैं और उनमें प्रायः दान की चर्चा होती है। ये अभिलेख दो-तीन शब्दों से लेकर बृहद् काव्यों के आकार के पाये जाते हैं। उनमें दान-दाता और उसके परिवार का कीर्ति-गान होता है। कभी-कभी उनमें सामयिक शासकों का भी उल्लेख होता है। उनसे ऐसे शासकों की जानकारी प्राप्त हो जाती है जिन्हें हम किसी अन्य सूत्र से जानते नहीं होते। इनमें तिथि का अंकन किसी राज-वर्ष अथवा किसी ज्ञात अथवा अज्ञात संवत्सर के रूप में रहता है। उनसे भी कभी-कभी महत्व की सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। इनसे यदि किसी प्रकार के राजनीतिक इतिहास पर प्रकाश नहीं पड़ता तो भी वे समाज के अन्य क्षेत्रों पर प्रकाश डालने में सहायक होते हैं; कला अथवा धर्म सम्बन्धी जानकारी देते हैं और भाषा एवं साहित्य सम्बन्धी बहुमूल्य सूचना प्रस्तुत करते हैं।

गुप्त अभिलेख

अब तक बयालिस (४२) ऐसे अभिलेख मिले हैं जिनका सम्बन्ध गुप्तवंशीय सम्राटों और उनके काल से है। इनमें से सत्ताइस (२७) पत्थर पर अंकित हैं। वे चट्टानों, शिला-फलकों, स्तम्भों अथवा मूर्ति-आसनों पर पाये गये हैं। इन सत्ताइस (२७) अभिलेखों में से बाईस (२२) निजी दान-पत्र है, एक सम्भवतः राज-शासन है और शेष चार प्रशस्तियाँ हैं—दो समुद्रगुप्त की और दो स्कन्दगुप्त की। अन्य पन्द्रह (१५) अभिलेखों में से एक लौह स्तम्भ है जिस पर चन्द्रगुप्त (द्वितीय) की प्रशस्ति है; शेष ताम्रपत्र हैं। इनमें से तीन भूमि सम्बन्धी राज-शासन हैं; दस राज्याधिकारियों

द्वारा ब्राह्मणों अथवा मन्दिरों के उपभोग के निमित्त भूमि-विक्रय का अनुमोदन-पत्र है। शेष एक वैयक्तिक दान-पत्र है।

इन अभिलेखों से गुप्त-काल के राजनीतिक इतिहास तथा धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक अवस्था सम्बन्धी सामग्री प्राप्त होती है।

१८८८ ई० तक जितने भी अभिलेख ज्ञात हुए थे, उन्हें सम्पादित कर जे० एफ़० फ्लीट ने पुस्तकाकार प्रकाशित किया है।[१] उसके पश्चात् जो अभिलेख ज्ञात हुए वे अभी तक विभिन्न शोध पत्रिकाओं में बिखरे हुए हैं। उनमें से कुछ चुने हुए अभिलेखों को दिनेशचन्द्र सरकार ने अपनी पुस्तक में संकलित किया है।[२] इन सभी अभिलेखों का परिचय उनके सारांश के साथ यहाँ दिया जा रहा है। जो अभिलेख विशेष महत्व के हैं, उन्हें या तो अविकल रूप में उद्धृत किया जा रहा है, अन्यथा उनके आवश्यक अवतरण दिये गये हैं।

समुद्रगुप्त के अभिलेख

गुप्त-काल के प्राचीनतम अभिलेख अब तक समुद्रगुप्त के ज्ञात हुए हैं। वे संख्या में कुल चार हैं—दो तो प्रशस्तियाँ हैं और दो ताम्रपत्रों पर अंकित शासन। वे इस प्रकार हैं :—

१—प्रयाग प्रशस्ति (स्तम्भ-लेख)
२—एरण प्रशस्ति (शिलालेख)
३—वर्ष ४ का नालन्द ताम्र-शासन
४—वर्ष ९ का गया ताम्र-शासन

१. प्रयाग प्रशस्ति—यह प्रशस्ति ३५ फुट ऊँचे पत्थर के एक गोल स्तम्भ पर अंकित है। इस स्तम्भ पर पहले से मौर्य सम्राट् अशोक का एक लेख अङ्कित था। समझा जाता है कि यह स्तम्भ मूलतः कौशाम्बी में स्थापित था। वहाँ से दिल्ली के किसी मुसलमान शासक के समय में वह उठा कर प्रयाग लाया गया और गंगा-यमुना तट स्थित दुर्ग में, जहाँ वह आज है, स्थापित किया गया। इस अनुमान की पुष्टि इस बात से होती है कि स्तम्भ पर जो अशोक का शासन है, वह कौशाम्बी स्थित महामात्यों को सम्बोधित किया गया है। चीनी यात्री युवान-च्वांग ने अपने प्रयाग (पो-लो-ये-किया) वर्णन में इस स्तम्भ का कोई उल्लेख नहीं किया है। इससे भी अनुमान होता है कि उसके समय तक स्तम्भ अपने वर्तमान स्थान पर न था।

---

१. कॉर्पस इन्सक्रप्शनम् इण्डिकेरम, खण्ड ३, लन्दन, १८८८.
२. सेलेक्ट इन्सक्रप्शन्स, बेयरिंग ऑन इण्डियन हिस्ट्री ऐण्ड सिविलाईजेशन, खण्ड १, कलकत्ता, प्रथम संस्करण १९५२, पृ० २५३-३४०; द्वितीय संस्करण १९६५, पृ० २५९-३८९.

इस अभिलेख को सर्वप्रथम कैप्टेन ए० ट्रायर ने १८३४ ई० में प्रकाशित किया।[1] कुछ दिनों पश्चात् उनके पाठ में पादरी डब्लू० एच० मिल ने कुछ सुधार प्रस्तुत किये।[2] सन् १८३७ ई० में जेम्स प्रिन्सेप ने अपने पाठ और अंग्रेजी अनुवाद के साथ इसका एक अपेक्षाकृत बढ़िया छाप प्रकाशित किया।[3] तदनन्तर १८७० ई० में भाऊ दाजी ने इसके सम्बन्ध में एक निबन्ध रायल एशियाटिक सोसाइटी की बम्बई शाखा के सम्मुख उपस्थित किया और पूर्व पाठों में कुछ सुधार उपस्थित किये। किन्तु उनका यह निबन्ध प्रकाशित नहीं हुआ। उसकी जानकारी मात्र हमें एक छोटी-सी टिप्पणी से होती है।[4] अन्ततः फ्लीट ने इसका सम्पादन किया।[5] उनके पाठ और व्याख्या के सम्बन्ध में समय-समय पर अनेक लोगों ने अपने विचार, संशोधन और टिप्पणियाँ प्रकाशित की हैं।[6]

यह अभिलेख एक चम्पू-काव्य (गद्य-पद्य मिश्रित रचना) है; इसमें समुद्र गुप्त की प्रशस्ति—उसके गुणों और उसके सैनिक सफलताओं का वर्णन है। इस रूप में यह उसके शासनकाल का प्रमुख विवरण है। इसकी रचना उसके सान्धि-विग्रहिक, कुमारामात्य, दण्डनायक हरिषेण ने, जो खाद्यटपाकिक, महादण्डनायक ध्रुवभूति का पुत्र था, की है।

जिस समय प्रिन्सेप ने इस अभिलेख को प्रकाशित किया, उन्होंने यह मत प्रकट किया था कि समुद्रगुप्त के मृत्योपरान्त चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल के आरम्भ में यह प्रशस्ति अंकित की गयी होगी। ऐसा ही मत फ्लीट का भी है।[7] जी० बुहलर ने जर्मन

१. ज० बं० ए० सो०, ३, पृ० ११८
२. वही, पृ० २५७
३. वही, ६, पृ० ९६९
४. ज० ब० ब्रा० रा० ए० सो०, ९, पृ० १२६
५. कॉ० इ० इ०, ३, पृ० १
६. अभिलेख में उल्लिखित शासकों और राज्यों से सम्बन्धित लेखों की संख्या काफी बड़ी है। उनका उल्लेख उन पर विचार करते समय किया गया है। अन्य प्रकार की टिप्पणियों आदि से सम्बन्धित कुछ लेख हैं :—गैनरास्की, फेट्सक्रीफ्ट फुर अर्स्ट विण्डिशे, लिपजिग, १९१४; छाबड़ा, इ० हि० क्वा०, २४, पृ० १०४; इ० क०, १४, पृ० १४१; जायसवाल, ज०वि० उ० रि० सो०, १७, पृ० २०७; दिवेकर, अ० भ० ओ० रि० इ०, ७, पृ० १६५; बुद्धप्रकाश, प्रो० इ० हि० का०, १२, पृ० १४४; बुहलर, इ० ए०, ४२, पृ० २९; मुखर्जी, प्रो० इ० हि० कॉं०, १८, पृ० ७६; ज० ए० सो० बं०, २१, पृ० ७९; भट्टाचार्य, प्रो० इ० हि० कॉं०, १९६१, पृ० ५०; राघवन, ज० ओ० रि०, १६, १५९; शर्मा, दशरथ, प्रो० इ० हि० कॉं०, १७, पृ० ८१; शर्मा, लोचनप्रसाद पाण्डेय, ज० आ० हि० रि० सो०, १३, पृ० १४१; सोहोनी, अ० भ० ओ० रि० इ०, ३९, पृ० ३४; बु० इ० प० ए०, ५(३), पृ० १४; ज० बि० रि० सो०, ५१, पृ० २९ आदि।
७. कॉ० इ० इ०, ३, पृ० ४

भाषा में एक लेख प्रकाशित कर इस मत का खण्डन किया है। उनका कहना है कि फ्लीट ने कतिपय अनुच्छेदों की जो व्याख्या की है वह ठीक नहीं है। अभिलेख में ऐसा कुछ नहीं है जिससे इसे समुद्रगुप्त के मरणोपरान्त प्रकाशित कहा जाये।[1] उनके इस लेख की ओर आरम्भ में विद्वानों ने ध्यान नहीं दिया तब उन्होंने विन्सेण्ट स्मिथ को एक पत्र लिखा और उनका ध्यान इसकी ओर आकृष्ट किया। स्मिथ ने उनके इस पत्र को प्रकाशित कर लोगों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया।[2] तब रमेशचन्द्र मजूमदार ने भी मत व्यक्त किया कि समुद्रगुप्त के जीवन काल में ही यह प्रशस्ति अंकित की गयी थी। इस स्वाभाविक मत के विरुद्ध कुछ भी कहने का पर्याप्त आधार नहीं है।[3] पीछे बहादुरचन्द छाबड़ा ने निर्विवाद रूप से सिद्ध किया कि फ्लीट के मत का कोई औचित्य नहीं है; अभिलेख निसंदिग्ध रूप से समुद्रगुप्त के जीवन-काल में ही तैयार किया गया था।[4]

यह अभिलेख इस प्रकार है :—

१ ...कुल्यैः (?)...स्वै......तस............

२ [यस्य ?]...............[॥*] [१*]

३ ...र्मुं (?) च... ....

४ [स्फु]रद्वं (?)... ...क्षः स्फुटोद्ध[ं]सित......प्रवितत...[॥*] [२*]

५ यस्य प्र[ज्ञानु]षङ्गोचित-सुख-मनसः शास्त्र-त[त्त्व]ार्थ-भर्तुः

— —स्तब्धो⏑— — ⏑नि⏑⏑⏑⏑नोच्छ्—⏑—[।*]

६ [स*]त्काव्य-श्री-विरोधान्बुध-गुणित-गुणाज्ञाहतानेव कृत्वा

[वि]द्वल्लोके(ऽ*)वि[ना][शि*] स्फुटबहु-कविता-कीर्ति-राज्यं

भुनक्ति [॥*] [३]

७ [आर्यो]हीत्युपगुह्य भाव-पिशुनैरुत्कर्णितै रोमभिः

सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुल्य-कुलज-म्लानाननोद्वीक्षि[त]ः [।*]

८ [स्ने]ह-व्यालुलितेन बाष्प-गुरुणा तत्त्वेक्षिणा चक्षुषा

यः पित्राभिहितो नि[रीक्ष्य] निखि[लां*][पाह्येव*][मुर्वी]मिति [॥*] [४]

९ [दृ*]ष्ट्वा कर्माण्यनेकान्यमनुज-सदृशान्य[द्भु]तोद्भिन्न-हर्षा

भ[ा*]वैरास्वादय[न्तः*]⏑⏑⏑⏑⏑⏑———⏑——

⏑[के*][चित् [।*]

१० वीर्योत्तप्ताश्च केचिच्छरणमुपगता यस्य वृत्ते (ऽ*) प्रणामे-

१. इस लेख का अंगरेजी अनुवाद इण्डियन एण्टीक्वैरी (खण्ड ४२, पृ० १७२-७५) में प्रकाशित हुआ है।

२. ज० रा० ए० सो०, १९१२, पृ० ३८६-८७

३. वाकाटक-गुप्त-एज, पृ० १४७

४. इ० हि० क्वा०, २४, पृ० १०४

(ऽ*)व्य[र्ति ?]-[प्रस्तेषु*?]— —⌣⌣⌣ ⌣⌣⌣ — — ⌣
— —⌣— —[॥*] [५*]

११ संग्रामेषु स्व-भुज-विजिता नित्यमुच्चापकाराः
श्वः-श्वो मान-प्र⌣⌣⌣⌣— —⌣— —⌣— —[।*]

१२ तोषोत्तुङ्गैः स्फुट-बहु-रस-स्नेह-फुल्लै-र्म्मनोभिः
पश्चात्तापं व⌣⌣⌣⌣— —⌣म [ं?] स्य[ा]द्वसन्त[म्?] [॥*] [६*]

१३ उद्वेलोदित-बाहु-वीर्य्य-रभसादेकेन येन क्षणा-
दुन्मूल्याच्युत नागसेन ग⌣— — —⌣— —⌣— [*]

१४ दण्डैर्ग्राहयतैव कोतकुलजं पुष्पाह्वये क्रीडता
सूर्य्ये(?)नित्य(?)—⌣—तट⌣— — —⌣— —⌣
— [॥*] [७*]

१५ धर्म्म-प्राचीर-बन्धः शशि-कर-शुचयः कीर्त्तयः स-प्रताना
वैदुष्यं तत्त्व-भेदि प्रशम⌣ ⌣⌣कु—य—⌣मु (सु?)—⌣
तार्थम् ? [।*]

१६ [अध्येयः] सूक्त-मार्गः कवि-मति-विभवोत्सारणं चापि काव्यं को नु
स्याद्यो(ऽ*)स्य न स्याद्गुण-मति[वि]दुषां ध्यानपात्रं य एकः [॥*] [८]

१७ तस्य विविध-समर-शतावतरण-दक्षस्य स्वभुज-बल-पराक्रमैकबन्धोः
पराक्रमाङ्कस्य परशु-शर-शंकु-शक्ति-प्रासासि-तोमर-

१८ भिन्दिपाल-न[ा]राच-वैतस्तिकाद्यनेक-प्रहरण-विरूढाकुल-व्रण-शताङ्क-शोभा-
समुदयोपचित-कान्ततर-वर्ष्मणः

१९ कौसलकमहेन्द्र-माह[ा*]कान्तारकव्याघ्रराज-कौराळकमण्टराज-पैष्टपुरक-
महेन्द्रगिरि-कोट्टूरकस्वामिदत्तैरण्डपल्लकदमन-काञ्चेयकविष्णुगोपाव-
मुक्तक-

२० नीलराज-वैङ्गेयकहस्तिवर्म्म-पालक्ककोग्रसेन-दैवराष्ट्रककुबेर-कौस्थलपुरक
धनञ्जय-प्रभृति-सर्व्वदक्षिणापथराज-ग्रहण-मोक्षानुग्रह-जनित-प्रतापोन्मिश्र-
माहाभाग्यस्य

२१ रुद्रदेव-मतिल-नागदत्त-चन्द्रवर्म्म-गणपतिनाग-नागसेनाच्युत-नन्दि-बल-
वर्म्माद्यनेकार्य्यावर्त्तराज-प्रसभोद्धरणोद्वृत्त-प्रभाव-महतः परिचारकीकृत-
सर्व्वाटविक-राजस्य

२२ समतट-डवाक-कामरूप-नेपाल-कर्तृपुरादि-प्रत्यन्त-नृपतिभिर्म्मालवार्जुनायन-
यौधेय-माद्रकाभीर-प्रार्जुन-सनकानीक-काक-खरपरिकादिभिश्च सर्व्व-कर-
दानाज्ञाकरण-प्रणामागमन-

२३ परितोषित-प्रचण्ड-शासनस्य अनेक-भ्रष्टराज्योत्सन्न-राजवंश-प्रतिष्ठापनो-
द्भूत-निखिल-भु[व]न-[विचरण-शा]न्त-यशसः दैवपुत्रषाहिषाहानुषाहि-
शकमुरुण्डैः सैंहळकादिभिश्च

२४ सर्व्व-द्वीप-वासिभिरात्मनिवेदन-कन्योपायनदान-गरुत्मदङ्कस्वविषयभुक्ति-
शासन-[या]चनाद्युपाय-सेवा-कृत-बाहु-वीर्य्य-प्रसर-धरणि-बन्धस्य पृथि-
व्यामप्रतिरथस्य

२५ सुचरित-शतालङ्कृतानेक-गुण-गणोत्सिक्तिभिश्चरण-तल-प्रमृष्टान्य-नरपति-
कीर्त्तेः साध्व-साधूदय-प्रलय-हेतु-पुरुषस्याचिन्त्यस्य भक्त्यवनति-मात्र-
ग्राह्य-मृदुहृदयस्यानुकम्पावतो-(ऽ)नेक-गो-शतसहस्र-प्रदायिन[ः]

२६ [कृप]ण-दीनानाथातुर-जनोद्धरण-मन्त्रदीक्षाभ्युपगत-मनसः समिद्धस्य
विग्रहवतो लोकानुग्रहस्य धनद-वरुणेन्द्रान्तक-समस्य स्वभुज-बल-विजिता-
नेक नरपति-विभव-प्रत्यर्प्पणा-नित्यव्यापृतायुक्तपुरुषस्य

२७ निशित-विदग्धमति-गान्धर्व्वललितैर्व्रीडित-त्रिदशपतिगुरु-तुम्बुरुनारदादेर्विद्व-
ज्जनोप-जीव्यानेक-काव्य-क्रियाभिः प्रतिष्ठित-कविराज-शब्दस्य सुचिर-
स्तोतव्यानेकाद्भुतोदार-चरितस्य

२८ लोकसमय-क्रियानुविधान-मात्र-मानुषस्य लोक-धाम्नो देवस्य महाराज
श्री-गुप्त-प्रपौत्रस्य महाराज-श्री-घटोत्कच-पौत्रस्य महाराजाधिराज-श्री-
चन्द्रगुप्त-पुत्रस्य

२९ लिच्छवि-दौहित्रस्य महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज-
श्रीसमुद्रगुप्तस्य सर्व्व-पृथिवी-विजय-जनितोदय-व्याप्त-निखिलावनितलां
कीर्तिमितस्त्रिदशपति-

३० भवन-गमनावाप्त-ललित-सुख-विचरणामाचक्षाण इव भुवो बाहुरयमुच्छ्रितः
स्तम्भः [।] यस्य
प्रदान-भुजविक्रम-प्रशम-शास्त्रवाक्योदयै-रुपर्युपरि-सञ्चयोच्छ्रितमनेक-
मार्गं यशः [।]

३१ पुनाति भुवनत्रयं पशुपतेर्ज्जटान्तर्गुहा-निरोध-परिमोक्ष-शीघ्रमिव पाण्डु
गाङ्ग [पयः] [॥] [९]
एतच्च काव्यमेषामेव भट्टारकपादानां दासस्य समीप-परिसर्प्पणानुग्र-
होन्मीलित-मतेः

३२ खाद्यटपाकिकस्य महादण्डनायक-ध्रुवभूति-पुत्रस्य सान्धिविग्रहिक-कुमारा-
मात्य-म[हादण्डनाय]क-हरिषेणस्य सर्व-भूत-हित-सुखायास्तु ।

३३ अनुष्ठितं च परमभट्टारक-पादानुध्यातेन महादण्डनायक-तिलभट्टकेन ।

२. एरण प्रशस्ति—यह प्रशस्ति लाल रंग के एक चौकोर पत्थर पर अंकित है, जो कनिंगहम को १८७० और १८७७ ई० के बीच किसी समय सागर (मध्य प्रदेश) जिला अन्तर्गत बीना नदी के बायें तट पर स्थित एरण (प्राचीन एरिकिण) नामक स्थान में वराह-मन्दिर के ध्वंसावशेषों के निकट मिला था। आजकल यह इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता में है। इसके सम्बन्ध में कनिंगहम ने सर्व प्रथम सूचना १८८० में

प्रकाशित की थी।[1] फ्लीट ने इसका सम्पादन किया है।[2] इसके पाठ तथा इसकी व्याख्या के सम्बन्ध में जगन्नाथ अग्रवाल,[3] दिनेशचन्द्र सरकार[4], दशरथ शर्मा[5] और श्रीधर वासुदेव सोहोनी[6] ने अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट किए हैं।

यह अभिलेख खण्डित है। आरम्भ की ६ पंक्तियाँ तथा पंक्ति २७ के बाद का अंश अनुपलब्ध है। शेष अंश भी क्षतिग्रस्त है। अधिकांश पंक्तियों के आरम्भ के कुछ अक्षर और पंक्ति २५-२७ के काफी अंश नहीं है। जो अंश उपलब्ध है, उससे इतना ही ज्ञात होता है कि वह समुद्रगुप्त की प्रशस्ति है। सोहोनी की धारणा है कि यह प्रशस्ति प्रयाग प्रशस्ति में उल्लिखित नाग राजाओं पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त अंकित की गयी होगी। जगन्नाथ अग्रवाल इसे समुद्रगुप्त के निधनोपरान्त प्रतिष्ठापित मानते हैं।

यह प्रशस्ति सामान्य रूप से समुद्रगुप्त के सम्बन्ध में कोई नवीन सूचना प्रस्तुत नहीं करती। किन्तु अधिकांश विद्वानों ने निम्नलिखित पंक्तियों पर बल दिया है और उनकी चर्चा की है।

१७. [दत्ता]स्य पौरुष पराक्रम-दत्त शुल्का
१८. [हस्त्य]श्व-रत्न-धन-धान्य-समृद्धि-युक्ता [।]
१९. [नित्यं]गृहेषु मुदिता बहु-पुत्र-पौत्र-
२०. [सं]क्रामिणी कुलवधुः व्रतिनी निविष्टा [॥]

पंक्ति १७ में दत्ता शब्द का अनुमान प्रस्तुत कर फ्लीट ने कहा है कि इन पंक्तियों का सम्बन्ध समुद्रगुप्त की पत्नी दत्तादेवी से है और इसमें समुद्रगुप्त के धन्य-धान्य पुत्र-पौत्र से भरे पुरे सत्पत्नीयुक्त परिवार की चर्चा है। किन्तु सोहोनी ने अभी हाल में इस ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि किसी भी गुप्त-शासकों के अभिलेख में रानी का नामोल्लेख "देवी" शब्द विहीन नहीं हुआ है; इस प्रकार का राज-प्रतिष्ठा-च्युत प्रयोग किसी भी प्रशस्ति में अक्षम्य होगा। अतः वे इस पंक्ति में समुद्रगुप्त की किसी पत्नी के उल्लेख की सम्भावना नहीं मानते। उनकी धारणा है कि इन पंक्तियों में मात्र पृथ्वी का वर्णन है। सम्राट् की पत्नी के रूप में पृथ्वी का उल्लेख परम्परागत पाया जाता है। उनका यह भी अनुमान है कि यह किसी नगरी का वर्णन प्रस्तुत करता है। सोहोनी का यह मत अधिक समीचीन और विचारणीय है।

---

१. क० आ० स० रि०, १०, पृ० ८९
२. कॉ० इ० इ०, ३, पृ० १८
३. प्रो० इ० हि० कॉ०, १४, पृ० ६२; ज० इ० हि०, १९, पृ० २७
४. प्रो० इ० हि० कॉ०, १७, पृ० ७२; ज० उ० प्र० हि० सो०, १, पृ० ९२
५. ज० इ० हि०, १४, पृ० ८७
६. ज० बि० रि० सो०, ५१, पृ० ५०

३. नालन्द ताम्र-शासन—यह लेख साढ़े ग्यारह इंच लम्बे और नौ इंच चौड़े ताम्र-फलक पर अंकित है। यह ताम्र-फलक १९२७-२८ ई० में उत्खनन के समय नालन्द के विहार संख्या २ के उत्तरी बरामदे में मिला था। हीरानन्द शास्त्री ने इसके सम्बन्ध में पहले एक छोटा सा नोट प्रकाशित किया।[1] पीछे अमलानन्द घोष ने इसका सम्पादन किया।[2]

इस शासन में समुद्रगुप्त द्वारा (अपने) पाँचवें (राज) वर्ष के २ माघ को आनन्दपुर स्थिति जयस्कन्धावार में रहते समय क्रमिल विषय अन्तर्गत भद्रपुष्करक ग्राम निवासी जयभट्ट स्वामी नामक ब्राह्मण को भूमि-दान देने का उल्लेख है। लेख के दूतक के रूप में कुमार श्री चन्द्रगुप्त का नाम है। इस लेख का महत्व इसकी तिथि तथा दूतक के रूप में कुमार चन्द्रगुप्त (जिनकी पहचान चन्द्रगुप्त द्वितीय से की जा सकती है) के उल्लेख के कारण है।

४. गया ताम्र-शासन—यह लेख आठ इंच लम्बे और सात इंच से कुछ अधिक चौड़े ताम्र-फलक के एक ओर अंकित है। कनिंगहम को वह गया में मिला था। वह कहाँ निकला था इसका किसी को कोई जानकारी नहीं है। इस समय यह ब्रिटिश संग्रहालय में है। इसके साथ अंडाकार मुद्रा लगी हुई है जिसमें ऊपर गरुड़ अंकित है और नीचे पाँच पंक्तियों का एक लेख है। यह मुद्रालेख अत्यन्त अस्पष्ट है; यत्र-तत्र केवल कुछ अक्षर और अन्त में समुद्रगुप्तः के अतिरिक्त कुछ नहीं पढ़ा जा सका है। सम्भवतः भितरी मुद्रा-लेख के समान ही इसमें वंशावली अंकित है। १८८३ ई० में कनिंगहम ने इसकी सूचना प्रकाशित की थी।[3] फ्लीट ने इसका सम्पादन किया है।[4]

इस शासन के द्वारा समुद्रगुप्त ने (अपने) नवें (राज) वर्ष के १० वैशाख को अपने अयोध्या स्थित जयस्कन्धावार में रहते समय गया विषय अन्तर्गत रेवतिक ग्राम निवासी ब्राह्मण गोपदेव स्वामी को भूमि-दान दिया है।

कुछ विद्वान नालन्द और गया से प्राप्त इन दोनों ही ताम्र-लेखों को कूट (जाली) मानते हैं। सर्व प्रथम फ्लीट[5] ने दो कारणों से गया ताम्र-लेख के मौल (असली) होने में सन्देह प्रकट किया था। (१) वंश-परिचय वाले अंश में सम्राट् के लिए प्रयुक्त विशेषण सम्बन्ध-कारक के हैं और सम्राट् का नाम कर्त्ता कारक में है (श्री चन्द्रगुप्त पुत्रस्य लिच्छवि-दौहित्रस्य महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तः)। इससे प्रकट होता है कि लेख के प्रारूपक ने इसे समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारियों में से किसी के शासन से नकल

१. अ० स० इ०, ए० रि०, १९२७-२८, पृ० १३९
२. ए० इ०, २५, पृ० ५०
३. बुक ऑव इण्डियन एराज, पृ० ५३
४. कॉ० इ० इ०, ३, पृ० २५४
५. वही, पृ० २५५-२५६

किया है; (२) लेख के कुछ अक्षरों के रूप में प्राचीनता झलकती है पर अन्य में अपेक्षाकृत नवीनता है। नालन्द ताम्र-लेख में भी वंशवृत में इसी प्रकार का व्याकरण-दोष है; इस कारण हीरानन्द शास्त्री[1] ने उसे भी गया-लेख के समान ही कूट कहा है। अमलानन्द घोष[2] भी इसकी मौलिकता को सन्देह से परे नहीं मानते। किन्तु वे नालन्द और गया के दोनों ताम्रलेखों के मौलिक शासनों से नकल किये जाने की सम्भावना को स्वीकार करते हैं। इन लेखों की प्रामाणिकता में सन्देह उन्हें इनमें दी गयी तिथियों को लेकर है। इनमें अंकित तिथि को वे गुप्त संवत् समझते हैं। इस कारण उनकी दृष्टि में, ये समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त (द्वितीय) और कुमारगुप्त (प्रथम) की तीन पीढ़ियों के लिए असामान्य रूप में शासन-काल की लम्बी अवधि का संकेत देते हैं। दिनेशचन्द्र सरकार ने इन्हें स्पष्ट शब्दों में कूट घोषित किया है।[3] उपर्युक्त तर्कों के अतिरिक्त उनका नवीन तर्क यह है कि (१) ब और व का प्रयोग इन लेखों में बिना किसी भेद के किया गया है; (२) समुद्रगुप्त के लिए **चिरोत्सन्न-अश्वमेधाहर्तुः** और **परमभागवत** विशेषणों का प्रयोग इस बात का द्योतक है कि ये लेख समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारियों के किन्हीं शासनों से नकल किये गये हैं।

दूसरी ओर ऐसे भी विद्वान हैं जो इन्हें कूट नहीं समझते। सर्व प्रथम राखालदास बनर्जी[4] ने फ्लीट के मत को चुनौती दी और कहा कि गया ताम्र-लेख मौल है। नालन्द ताम्र-लेख के प्रकाश में आने पर द० र० भण्डारकर[5] ने मत प्रकट किया कि केवल एक व्याकरण-विरुद्ध वाक्य, जो दोनों ही लेखों में समान रूप से मिलता है, उन्हें कूट घोषित करने के लिए पर्याप्त नहीं है। शकुन्तला राव[6] ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि इस प्रकार की भूलें मौल कहे जाने वाले अनेक लेखों में देखी जा सकती हैं। उदाहरण स्वरूप उन्होंने विन्ध्यशक्ति के बासिम ताम्रलेख की ओर संकेत किया है। उनका यह भी कहना है कि **परमभागवत** उल्लेख मात्र से उन्हें कूट नहीं कहा जा सकता। रमेशचन्द्र मजूमदार[7] ने इस सम्बन्ध में सविस्तार छान बीन की है। अन्य अभिलेखों का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए, उन्होंने इन लेखों की मौलिकता के सम्बन्ध में की जाने वाली समस्त आपत्तियों का खण्डन किया है। सर्वोपरि उन्होंने इन लेखों के कूट होने के सम्बन्ध में कही जाने वाली बातों में निहित ऐसी असंगतियों की ओर निर्देश किया है, जिनका समाधान किसी भी तरह सामान्य रूप में सम्भव नहीं है। उनका यह भी कहना है कि यदि मान भी लें कि नालन्द-लेख कूट है, तो गुप्त-लिपि

१. अ० स० इ०, ए० रि०, १९२७-२८, पृ० १३९
२. ए० इ०, २५, पृ० ५१-५२
३. वही, २६, पृ० १३६
४. दि एज ऑव इम्पीरियल गुप्ताज, पृ० ७९
५. लिस्ट ऑव इन्स्क्रप्शन्स ऑव नॉर्दर्न इण्डिया, पृ० २९०, सं० २०७५
६. इ० क०, १०, पृ० ७७-७८
७. वही, ११, पृ० २७७

के प्रयोग से इस बात में सन्देह करने की गुंजाइश नहीं रहती कि कूटकारक के सम्मुख कोई मौल लेख अवश्य था। मजूमदार का नवीनतम मत यह है कि दोनों लेखों की मौलिकता निस्सन्दिग्ध नहीं है; किन्तु साथ ही निश्चत रूप से यह भी नहीं कहा जा सकता कि नालन्द-लेख कूट है।[1]

इन लेखों की मौलिकता के पक्ष-विपक्ष में जो कुछ भी कहा गया है, उससे यही ध्वनित होता है कि यदि ये लेख मौल शासन न हों तो वे शासनों के सच्चे प्रतिलेख तो निस्सन्देह हैं ही। नालन्द-लेख समुद्रगुप्त के बहुत बाद तैयार किया गया नहीं जान पड़ता; पर गया-लेख बाद का हो सकता है। ये लेख वास्तविक अर्थ में कूट न होकर क्षतिग्रस्त मूल-लेखों की पूर्ति के निमित्त तैयार किये गये प्रतिलेख हैं। वे मौल-शासन हों या न हों, इससे उनके ऐतिहासिक महत्त्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के अभिलेख

चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के राजकाल के अब तक छः अभिलेख ज्ञात हैं। उनमें से एक तो राज-प्रशस्ति है, शेष निजी दानोल्लेख। वे इस प्रकार हैं —

१. गुप्त संवत् ६१ और राजवर्ष ५ का मथुरा स्तम्भ-लेख।
२. गुप्त संवत् ८२ का उदयगिरि का प्रथम गुहा-लेख।
३. बिना तिथि का उदयगिरि का द्वितीय गुहा-लेख।
४. गुप्त संवत् ८८ का गढ़वा का प्रथम शिलालेख।
५. गुप्त संवत् ९३ का साँची का शिलालेख।
६. मेहरौली प्रशस्ति (लौह-स्तम्भ-लेख)

१. मथुरा स्तम्भ-लेख—मथुरा संग्रहालय में संरक्षित एक प्रस्तर-स्तम्भ पर यह लेख अंकित है। वह पहले मथुरा में रंगेश्वर महादेव के मन्दिर के निकट चन्दुल-मन्दुल की बगीची में दीवाल में लगा हुआ था। लेख स्तम्भ के पाँच पहलों पर अंकित है जिसमें से तीसरे पहल वाला अंश क्षतिग्रस्त है। इसे सर्व प्रथम द० ब० दिस्कलकर ने प्रकाशित किया था।[2] उसके बाद द० र० भण्डारकर[3] ने उसका सम्पादन किया। दिनेशचन्द्र सरकार[4] ने उनके पाठ में हल्का-सा संशोधन किया है।

इस लेख में कहा गया है कि चन्द्रगुप्त के पाँचवें[5] वर्ष में (गुप्त) संवत् ६१ के प्रथम (आषाढ़) शुक्ल पंचमी को (श्री चन्द्रगुप्तस्य विजय-राज्य संवत्सरे पंचमे (५) कालानुवर्तमान संवत्सरे एकषष्ठे ६० १ [आषाढ़] प्रथमे शुक्ल

---

१. वाकाटक-गुप्त एज, पृ० १३२
२. अ० भ० ओ० रि० इ०, १७, पृ० १६६
३. ए० इ०, २१, पृ० १-९
४. इ० हि० क्वा०, १८, पृ० २७१
५. दिस्कलकर और दिनेशचन्द्र सरकार, दोनों ने इस स्थल पर राज-वर्ष सूचक अंक पढ़ा है। पहले का पाठ 'प्रथम' है, दूसरे ने उसे 'पंचमं' पढ़ा है। भण्डारकर राज-वर्ष सूचक संख्या का अनुमान नहीं कर सके हैं। उन्होंने इस स्थल पर कुछ और ही पढ़ा है।

दिवसे पंचम्यां) उदिताचार्य ने अपने गुरु कपिलविमल और उनके गुरु उपमित-विमल के निमित्त एक गुर्वायतन का निर्माण कराया और उसमें कपिलेश्वर और उपमि-तेश्वर नामक दो मूर्तियों की स्थापना की ।

२. **उदयगिरि का प्रथम गुहा-लेख**—उदयगिरि विदिशा (मध्य प्रदेश) के उत्तर-पश्चिम स्थित एक प्रसिद्ध पहाड़ी का नाम है। उसके निकट इसी नाम का एक छोटा-सा गाँव है। पहाड़ी के पूर्वी भाग में, गाँव से कुछ दक्षिण, धरातल पर ही एक गुहा-मन्दिर है। इस गुहा मन्दिर में दो मूर्ति-फलक हैं। एक में दो पत्नियों सहित विष्णु का और दूसरे में किसी द्वादश-भुजी देवी का अंकन है। इन मूर्ति फलकों के ऊपर लगभग २ फुट ४ इंच चौड़ा और डेढ़ फुट ऊँचा एक गहरा चिकना फलक है। उसी फलक पर यह लेख अंकित है। इसे सर्व प्रथम १८५४ ई० में कनिंगहम[१] ने प्रकाशित किया था। १८५८ में एडवर्ड थॉमस[२] ने इसका अपना स्वतन्त्र पाठ एच० एच० विलसन के अनुवाद के साथ प्रकाशित किया। १८८० ई० में कनिंगहम ने पुनः अपना संशोधित पाठ प्रस्तुत किया।[३] तदन्तर फ्लीट ने इसको सम्पादित कर अपने ग्रंथ में प्रकाशित किया।[४]

इस लेख में (गुप्त) संवत् ८२ के आषाढ़ शुक्ल ११ (**संवत्सरे ८० २ आषाढ़ मास शुक्लैकादश्याम्**) को उक्त दो मूर्ति-फलकों (जिनके ऊपर यह लेख अंकित है) अथवा गुफा (जिसमें यह लेख है) के दान अथवा निर्माण कराये जाने का उल्लेख है। इसके दाता अथवा निर्माता के रूप में चन्द्रगुप्त के सामन्त सनकानिक जाति के महाराज छगलग के पौत्र, महाराज विष्णुदास के पुत्र महाराज सोढ़ल (सोढ़ल का नाम स्पष्ट नहीं है, उपलब्ध संकेतों के आधार पर ही इस नाम की सम्भावना दिनेशचन्द्र सरकार ने प्रकट की है[५]) का उल्लेख है।

३. **उदयगिरि का द्वितीय गुहा-लेख**—यह लेख उपर्युक्त पहाड़ी पर स्थित एक अन्य गुफा की पिछली दीवाल पर प्रवेश द्वार से तनिक बायें अंकित है। चट्टान के चिप्पड़ उखड़ जाने के कारण लेख काफी क्षति-ग्रस्त अवस्था में है। इसे कनिंगहम ने ढूँढ़ निकाला था। उन्होंने इसे अपने पाठ सहित १८८० ई० में प्रकाशित किया।[६] १८८२ ई० में बुल्हर ने उनके पाठ के त्रुटियों की ओर ध्यान आकृष्ट किया।[७] अन्त में फ्लीट ने इसे सम्पादित कर प्रकाशित किया।[८]

---

१. भिलसा टोप, पृ० १५०
२. प्रिन्सेप्स एजेज, १, पृ० २४६, टि० ४
३. क० आ० ए० रि०, १०, पृ० ५०
४. कॉ० इ० इ०, ३, पृ० २१
५. सेलेक्ट इन्स्क्रप्शन्स, प्रथम संस्करण, पृ० २७१, टि० ७
६. क० आ० ए० रि०, १०, पृ० ५१
७. इ० ए०, ११, पृ० ३१२
८. कॉ० इ० इ०, ३, पृ० ३४

इस लेख में चन्द्रगुप्त के सचिव पाटलिपुत्र निवासी वीरसेन उर्फ शाब द्वारा शम्भु (शिव) मन्दिर के रूप में गुहा निर्माण कराने का उल्लेख है। वह वहाँ चन्द्रगुप्त के साथ किसी अभियान में गया था (**कृत्स्न पृथ्वीजयार्थेन राज्ञेह सहागतः**)। इसमें आलेखन अथवा निर्माण सम्बन्धी किसी तिथि का उल्लेख नहीं है।

४. गढ़वा का प्रथम शिलालेख—यह लेख दो अन्य लेखों (कुमारगुप्त (प्रथम) कालीन द्वितीय और तृतीय लेख) के साथ एक सादे नौ इंच लम्बे और सादे छः इंच चौड़े चौकोर खण्डित पत्थर पर अंकित है। यह पत्थर इलाहाबाद जिला अन्तर्गत करछना तहसील के बरगढ़ नामक गाँव से डेढ़ मील पर स्थित गढ़वा ग्राम के दुर्ग के भीतर एक आधुनिक मकान में लगा हुआ था। १८७१-७२ ई० में राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द को यह पत्थर दिखायी पड़ा और वे उसे निकाल कर ले आये। मूलतः यह एक बड़े पत्थर का आधा अंश मात्र है, जिसके तीन ओर लेख अंकित थे। फलतः उपलब्ध अंश में आमने-सामने के दो तरफों के लेखों का केवल आधा अंश ही उपलब्ध है। यदि तीसरे अभिलिखित पीठ को सामने रखकर देखें तो प्रस्तुत लेख बायीं ओर के अंश में ऊपर अंकित मिलेगा। इस लेख की प्रथम दो पंक्तियाँ तथा शेष पंक्तियों का उत्तरार्ध अनुपलब्ध भाग के साथ नष्ट हो गया है। सर्व प्रथम कनिंगहम ने इसे प्रकाशित किया।[१] तदनन्तर फ्लीट ने उसको सम्पादित किया।[२]

इस लेख में सत्र के निमित्त दस-दस दीनारों के दो दान दिये जाने का उल्लेख है। एक दान मातृदास तथा कुछ अन्य व्यक्तियों ने दिया था और दूसरा दान पाटलिपुत्र निवासिनी किसी महिला ने। पहले दान के प्रसंग में जिस अंश में शासक का नाम और लेखन तिथि था, वह अनुपलब्ध है। दूसरे दान सम्बन्धी उपलब्ध अंश में केवल शासक का नाम नहीं है; उसकी उपाधि **परमभागवत** तथा तिथि **संवत्सरे ८० ८** प्राप्त है। इस तिथि के आधार पर अनुमान किया जाता है कि ये दानपत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय के राजकाल में लिखे गये थे और अनुपलब्ध अंश में उनका नाम रहा होगा।

५. साँची शिलालेख—साँची स्थित बड़े स्तूप की वेदिका पर यह लेख अंकित है। इसकी ओर १८३४ ई० में वी० एच० हाग्सन ने ध्यान आकृष्ट किया था।[३] कैप्टेन ई० स्मिथ द्वारा प्रस्तुत छाप के आधार पर प्रिन्सेप ने १८३७ ई० में इसका पाठ प्रस्तुत किया।[४] पश्चात् फ्लीट ने इसका सम्पादन किया था।[५]

इस लेख में (गुप्त) संवत् ९३ के भाद्रपद की चतुर्थ तिथि को (**सं ८०३ भाद्रपद दि ४**) को पाँच भिक्षुओं के भोजन तथा दीप-प्रज्वलन के निमित्त काकनादबोट महा-

---

१. क० आ० स० रि०, ३, पृ० ५५
२. कॉ० इ० इ०, ३, पृ० ३६
३. ज० रा० ए० सो०, ३, पृ० ४८८
४. वही, ७, पृ० ४५१; प्रिन्सेप्स एसेज, १, पृ० २४६
५. का० इ० इ०, ३, पृ० २९; मानूमेण्ट्स ऑव साँची, १, पृ० ३६८

विहार के आर्य संघ को उन्दानपुत्र अम्रकारदेव नामक चन्द्रगुप्त द्वितीय के किसी अधिकारी द्वारा ईश्वरवासक नामक ग्राम (अथवा उस ग्राम में स्थित भूमि) और पच्चीस दीनार दान दिये जाने का उल्लेख है।

इस लेख की सातवीं पंक्ति ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व की है। यह पंक्ति इस प्रकार है : **महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त देवराज इति प्रियना(म्नः)**। और इसके आगे का अंश खण्डित है। फ्लीट ने उसकी पूर्ति **प्रियनामामात्यो भवत्ये तस्य** के रूप में की है। इस रूप में इसका अनुवाद उन्होंने प्रस्तुत किया है—'जो देवराज नाम से ख्यात होकर, महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त का आमात्य है'।[1] फ्लीट से पूर्व प्रिन्सेप ने इस पंक्ति का इस प्रकार अनुवाद किया था जिससे देवराज चन्द्रगुप्त का अपर नाम प्रकट होता था।[2] इस सम्बन्ध में फ्लीट का कहना था पंक्ति में जो अभाव है, उसके कारण यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि देवराज का तात्पर्य चन्द्रगुप्त द्वितीय से है। किन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री वाकाटक-राज्ञी प्रभावती गुप्ता के अभिलेखों से यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त की ख्याति देवगुप्त के रूप में भी थी।[3] इस प्रकार प्रिन्सेप का यह अनुमान ठीक ही था कि इस लेख में देवराज का तात्पर्य चन्द्रगुप्त से ही है। इनके प्रकाश में फ्लीट कृत लुप्तांश की पूर्ति का कोई औचित्य नहीं रहता।

६. मेहरौली प्रशस्ति—यह प्रशस्ति सलामीदार लोहे के एक स्तम्भ पर अंकित है, जिसके तल का व्यास सोलह इंच और सिरे का व्यास बारह इंच है और जो २३ फुट ८ इंच ऊँचा है। यह स्तम्भ दिल्ली से ९ मील दक्षिण मेहरौली नामक स्थान पर सुविख्यात कुतुबमीनार के निकट गड़ा हुआ है।

यह स्तम्भ अपने लेख के अनुसार विष्णुपद गिरि पर स्थापित किया गया था। फ्लीट की धारणा है कि विष्णुपद दिल्ली की उस पर्वत शृङ्खला का ही नाम है जहाँ स्तम्भ इस समय है।[4] किन्तु अधिकांश लोग इससे सहमत नहीं हैं। विन्सेण्ट स्मिथ का कहना था कि विष्णुपद मथुरा के आस पास रहा होगा।[5] च० ह० चक्रवर्ती का अनुमान है कि यह स्थान या तो हरिद्वार स्थित हरिकी पैड़ी है या फिर उसके आसपास का ही कोई स्थान है।[6] काशीप्रसाद जायसवाल का मत है कि हरिद्वार की ख्याति विष्णुपद के रूप में है; इसका कारण यह स्थान हिमालय में हरिद्वार के आस पास ही कहीं रहा

१. पू० नि०
२. पू० नि०
३. पूना और रिद्धपुर ताम्रलेखों में प्रभावती गुप्ता के पिता के रूप में चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का उल्लेख है। चम्मक ताम्रलेख में उसके पिता के रूप में देवगुप्त का नाम है।
४. कॉ० इ० इ०, ३, पृ० १४१
५. ज० रा० ए० सो०, १८९७, पृ० १३
६. अ० भ० ओ० रि० इ०, ८, पृ० १७२

होगा ।[१] जयचन्द्र विद्यालंकार ने विष्णुपद को व्यास नदी के निकट शिवालिक अथवा सोलासिंगी पर्वत शृङ्खला ये ढूँढ़ निकाला है ।[२] ज० च० घोष का मत है कि विष्णुपद गिरि विपाशा के किनारे स्थित था और वह कश्मीर मण्डल के सानिध्य में था ।[३] द० रा० भण्डारकर का भी यही मत है ।[४] पर दशरथ शर्मा विष्णुपद की अवस्थिति कश्मीर मण्डल के निकट नहीं मानते । वे उसे अम्बाला जिले के अन्तर्गत सधौरा नामक कस्बे के निकट स्थित बताते हैं ।[५]

लोक प्रचलित अनुश्रुतियों के अनुसार, भी यह स्तम्भ मूलतः इस स्थान पर नहीं था । उनके अनुसार इसे वर्तमान स्थान पर तोमर अनंगपाल ने स्थापित किया था ।[६] विन्सेण्ट स्मिथ इस अनुश्रुति को महत्व नहीं देते ।[७] उनकी धारणा है कि इसे दिल्ली का कोई उत्साही शासक व्यासनदी के निकटवर्ती किसी पहाड़ी से उठा कर लाया था ।[८] च० इ० चक्रवर्ती का अनुमान है कि इस वर्तमान स्थान पर उठा कर लाने वाला फीरोजशाह तुगलक रहा होगा ; वही अशोक के स्तम्भों को दिल्ली उठाकर लाया था ।[९]

इस स्तम्भ पर लेख पत्थर के बने चबूतरे से सात फुट दो इंच ऊपर अंकित है ; वह उसने २ फुट ९½ इंच चौड़े और १०¾ इंच ऊँचे घेरे के बीच अंकित है ।

१८३४ ई० में पहली बार प्रिन्सेप ने इस लेख की लेफ्टिनेण्ट डब्लू० इलियट द्वारा १८३१ ई० में तैयार की गयी नकल प्रकाशित की ।[१०] तदनन्तर १८३८ ई० में कैप्टेन टी० ए० बर्ट द्वारा प्रस्तुत छाप के आधार पर उन्होंने इसका अपना तैयार किया पाठ और अंग्रजी अनुवाद उपस्थित किया ।[११] १८७१ ई० में भाउ दाजी ने इसका एक संशोधित पाठ और अपना अनुवाद रायल एशियाटिक सोसाइटी की बम्बई शाखा के सम्मुख उपस्थित किया जो चार वर्ष पश्चात् १८७५ ई० में प्रकाशित हुआ ।[१२] तदनन्तर फ्लीट ने इसका सम्पादन किया ।[१३]

---

१. ज० बि० उ० रि० सो०, १८, पृ० ३१
२. वही, २०, पृ० ९७-१००
३. इ० क०, १, पृ० ५१८
४. वही, ३, पृ० ५१२
५. ज० इ० हि०, १६, पृ० १३
६. क० आ० स० रि०, १, पृ० १५१
७. ज० रा० ए० सो०, १८९७, पृ० १३
८. अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० ४०१
९. पू० नि०
१०. ज० बं० ए० सो०, ३, पृ० ४९४
११. वही, ७, पृ० ६२९; प्रिन्सेप्स एसेज, १, पृ० ३२०
१२. ज० ब० आ० रा० ए० सो०, १०, पृ० ६३
१३. कॉ० इ० इ०, ३, पृ० १३९

यह लेख केवल छः पंक्तियों का है और इस प्रकार है :

१. य [स्यो] द्वर्त्तयतः प्रतीपमु [र] सा शत्रून्समेत्यागतान्वंगेष्वाहव-वर्तिनो [ऽ]भिलिखिता खड्गेन कीर्ति[र्भु]जे [।]

२. तीर्त्वा सप्त मुखानि येन [स]म[रे] सिन्धोर्ज्जिता [व]ाह्लिका यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्व्वीर्य्यानिलैर्द्द क्षिणः [॥] १

३. [खि]न्नस्येव विसृज्य गां नरपतेर्ग्गामाश्रितस्येतरां मूर्त्या कर्म्मजितावनिं गतवतः कीर्त्या स्थितस्य क्षितौ [।]

४. शान्तस्येव महावने हुतभुजो यस्य प्रतापो महान्नाद्याप्युत्सृजति प्रणाशित-रिपोर्य्यत्नस्य शेषः क्षितम् [।] २

५. प्राप्तेन स्व-भुजार्जितंच सुचिरंचैकाधिराज्यं क्षितो चन्द्राह्वेन समग्रचन्द्र-[स]दृशीं वक्त्र-शियं बिभ्रता [॥]

६. तेनायं प्रणिधाय भूमि-पतिना भावेन[1] विष्णो मतिं प्रान्शुर्व्विष्णुपदे गिरौ भागवतो विष्णोर्ध्वजः स्थापितः [॥] ३

इस लेख में यशो-गीत शासक का उल्लेख केवल चन्द्र नाम से हुआ है। इस चन्द्र के पहचान के सम्बन्ध में विद्वानों ने अनेक प्रकार के मत प्रकट किये हैं :—

१. ओ० स्टेन का कहना है चन्द्र नामक शासक की पहचान असम्भव है।[2]

२. जेम्स प्रिन्सेप ने इस लेख को तीसरी-चौथी शताब्दी ई० में रखा है पर तत्कालीन किसी राजा के साथ चन्द्र के पहचानने की चेष्टा उन्होंने नहीं की।[3]

३. भाऊ दाजी ने इस लेख को गुप्तों के बाद के काल में रखा है।[4]

४. फर्गुसन ने दृढ़ता पूर्वक यह मत व्यक्त किया है कि लेख ३६२ और ४०० ई० के बीच का है और वह (गुप्त वंश के) दोनों चन्द्रगुप्तों में से किसी एक का है।[5]

१. फ्लीट का पाठ 'धावेन' है। दाण्डेकर ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि इस प्रसंग में इसका कोई अर्थ नहीं निकलता। अतः उन्होंने वाकाटक अभिलेखों में चन्द्रगुप्त के लिये प्रयुक्त देवगुप्त से प्रभावित होकर 'देवेन' पाठ का सुझाव दिया है (हिस्ट्री ऑव गुप्ताज, पृ० २८)। एलन ने लिपिक के प्रमाद से 'भावेन' का 'धावेन' लिखा जाना माना है। उनका कहना है यहाँ 'ध' का जो रूप है वह लेख में अन्यत्र प्रयुक्त 'ध' के रूपों से सर्वथा भिन्न है; किन्तु वह 'भ' से मिलता हुआ है। लिपिक की भूल से नीचे रेखा बायें से दायें खिच आयी है (ब्रि० म्यू० कै०, गु०वं०, भूमिका, पृ० ३७)। दिनेशचन्द्र सरकार ने 'भावेन' पाठ स्वीकार करते हुये कहा है कि प्रथम अक्षर 'भ' है, केवल उसकी बायें ओर की तिरछी रेखा दाहिनी सीधी रेखा में जुड़ गयी है। यह 'व' पढ़ा जा सकता है पर 'ध' कदापि नहीं (से० इ०, पृ० २७७, टि० ३)।

२. म्यू० इ० ऐ०, १, पृ० १९८

३. पू० नि०

४. पू० नि०

५. इण्डियन आर्किटेक्चर, पृ० ५०८

५. फ्लीट का विचार मूलतः इस लेख का सम्बन्ध चन्द्रगुप्त प्रथम से जोड़ने का था; किन्तु किन्हीं अज्ञात कारणों से उन्होंने चन्द्र के मिहिरकुल का छोटा भाई होने की सम्भावना प्रस्तुत की है।[१]

६. फ्लीट के चन्द्रगुप्त प्रथम के साथ चन्द्र का सम्बन्ध जोड़ने के सुझाव से राधा गोविन्द बसाक[२] और स० क० आयंगार[३] प्रभावित हुए हैं और उन्होंने इस मत का प्रतिपादन किया है।

७. ए० एफ० आर० हार्नले ने चन्द्र की पहचान चन्द्रगुप्त द्वितीय से की है।[४] उनकी इस पहचान का समर्थन विन्सेण्ट स्मिथ,[५] राधाकुमुद मुखर्जी,[६] र० न० दाण्डेकर,[७] दिनेशचन्द्र सरकार,[८] न० ना० घोष,[९] गंगाप्रसाद मेहता,[१०] गोवर्धन राय शर्मा,[११] रविशचन्द्र कर,[१२] आदि ने किया है। अनन्त सदाशिव अल्तेकर ने भी इसे सर्वाधिक संगत माना है।[१३] रमेशचन्द्र मजूमदार पहले चन्द्रगुप्त द्वितीय के साथ चन्द्र की पहचान करने में कठिनाई अनुभव करते थे।[१४] अब उनके मत में परिवर्तन हुआ है। किन्तु वे चन्द्र के चन्द्रगुप्त द्वितीय होने की बात केवल इस कारण स्वीकार करते हैं कि "हमें इस नाम का कोई दूसरा राजा, जो पूर्व में बङ्गाल तक और पश्चिम में सिन्धु तक सफल सैनिक अभियान कर सकने की क्षमता रखता हो, ज्ञात नहीं है।"[१५]

८. रमेशचन्द्र मजूमदार का मूल मत था कि कुशाण शासक कनिष्क ही चन्द्र है।[१६] तुंग-हांग से प्राप्त खोतनी लिपि में लिखे एक हस्तलिखित ग्रन्थ में, जो इन दिनों पेरिस के राष्ट्रीय पुस्तकालय में पेलिआट संग्रह के अन्तर्गत है, कनिष्क को चन्द्र कनिष्क नाम कहा गया है।[१७]

१. का० इ० इ०, ३, पृ० १४०, टि० १; भूमिका, पृ० १२-१३
२. हिस्ट्री ऑव नार्दर्न इण्डिया, पृ० १३-१९
३. स्टडीज इन गुप्त हिस्ट्री, पृ० २४
४. इ० ए०, २१, पृ० ४३-४४
५. अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० ३०३; ज० रा० ए० सो०, १९०७, पृ० १
६. द गुप्त इम्पायर, पृ० ६८-७०
७. अ हिस्ट्री ऑव द गुप्ताज, पृ० २७-२८
८. सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० २७५, टि० २
९. अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० २६०-२६२
१०. चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, पृ० ५८
११. इ० हि० क्वा०, २१, पृ० २०२
१२. वही, २६, पृ० ११२
१३. वाकाटक-गुप्त एज, पृ० २३, टि० २
१४. वही, पृ० ११८
१५. एन्शियन्ट इण्डिया, वाराणसी, १९५२, पृ० २४६
१६. ज० रा० ए० सो० बं०, ९, पृ० १७९-१८३
१७. इसकी ओर सर्वप्रथम एच० डब्ल्यू० बेली ने ध्यान आकृष्ट किया था (ज० रा० ए० सो०, १९४२), पृ० १४

९. हेमचन्द्र राय चौधुरी की धारणा है कि यह चन्द्र पुराणों की सूची में आन्ध्रोत्तर कालीन राजाओं में उल्लिखित नागवंशी चन्द्रांश हो सकता है;[१] किन्तु साथ ही वे दोनों के एक होने के स्पष्ट संकेत न मिलने की बात भी स्वीकार करते हैं।[२]

१०. ब० च० सेन का सुझाव है कि पुराणों में जिस 'ताम्रलिप्तान ससागरान्' शासन करने वाले देवरक्षित वंश का उल्लेख है, उसी वंश का यह चन्द्र था।[३]

११. हर प्रसाद शास्त्री,[४] राखालदास बनर्जी[५] और न० क० भट्टशाली[६] सुसुनिया अभिलेख में उल्लिखित पुष्करण-नरेश सिंहवर्मन पुत्र चन्द्रवर्मन को चन्द्र बताते हैं।

१२. हरिश्चन्द्र सेठ का कहना है कि स्तम्भ लेख में उल्लिखित चन्द्र, चन्द्रगुप्त मौर्य है; और अपने इस स्तम्भ को चन्द्रगुप्त द्वितीय ने इस आदर्श वीर के सम्मान में प्रतिष्ठित किया था।[७] कुछ इसी प्रकार का मत ब० प्रसाद[८] का भी है।

इन मतों में से कदाचित ही कोई ओ० स्टेन के इस मत से सहमत हो कि चन्द्र को पहचानना असम्भव है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि उसकी पहचान सुगम नहीं है। भाऊ दाजी का यह मत भी कि यह लेख गुप्तोत्तर काल का है, लेख की लिपि के परीक्षण मात्र से अमान्य ठहरता है। चन्द्र के मिहिरकुल के भाई होने के सुझाव में स्वतः कोई गम्भीरता नहीं जान पड़ती। मिहिरकुल का चन्द्र नाम का कोई भाई था, इस बात की जानकारी किसी भी सूत्र से नहीं होती। यही बात नाग चन्द्रांश के विषय में भी कही जा सकती है। उसका अस्तित्व इतना अस्पष्ट है कि उसे कोई महत्व दिया ही नहीं जा सकता। कनिष्क के रूप में चन्द्र की पहचान की बात तो अब मूल प्रस्तावक ने ही त्याग दिया है; तथापि इस मत का विस्तृत परीक्षण गोवर्धन राय शर्मा[९] और दशरथ शर्मा[१०] ने किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने जो संगत तर्क उपस्थित किये हैं, उन पर विचार न भी करें तो स्वयं लेख की लिपि ही इस बात का प्रमाण है कि इस अभिलेख का सम्बन्ध कुषाणकाल से नहीं है। चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने इस स्तम्भ को चन्द्रगुप्त मौर्य के सम्मान में स्थापित किया होगा, यह सुझाव अपने आप में हास्यास्पद है। उसके सम्बन्ध में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं जान

---

१. पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव ऐन्शियण्ट इण्डिया, ५ वाँ सं०, पृ० ५३५ टि० १
२. वही, पृ० ४८१
३. हिस्टारिकल आस्पेक्ट्स ऑव द इन्सक्रप्शन्स ऑव बंगाल, पृ० २०५-२०७
४. इ० ए० ४२, पृ० २१७; ए० इ० १२, पृ० ३१५-२१; १३, पृ० १३३
५. वही, १४, पृ० २६७-७१
६. ढाका रिव्यू, १०, १९२०-२१, संख्या २-५
७. प्रो० इ० हि० कॉ०, १९४३, पृ० १२७-१२९; ज० इ० हि०, १६, पृ० ११७
८. प्रो० इ० हि कॉ०, ६, १२४
९. इ० हि० क्वा०, २१, पृ० २०२
१०. ज० गं० रि० इ०, १, पृ० १६५

पड़ती; फिर भी इसका विस्तृत विवेचन ओ० स्टेन[1] और दशरथ शर्मा[2] ने किया है और उन्होंने उसे अमान्य सिद्ध किया है।

पुष्करण-नरेश सिंहवर्मन-पुत्र चन्द्रवर्मन का सम्बन्ध चन्द्र के साथ केवल इस कारण जोड़ा जाता है कि दोनों ही वैष्णव हैं। पुष्करण (जहाँ का नरेश चन्द्रवर्मन था), की पहचान पोखरन नामक स्थान से किया जाता है, जो सुसुनिया पर्वत से २५ मील की दूरी पर स्थित है। यह बंगाल का एक नगण्य स्थान है और इसकी अन्यत्र कहीं कोई चर्चा नहीं पायी जाती। स्वयं सुसुनिया अभिलेख में चन्द्रवर्मन के किसी विजय का कोई उल्लेख नहीं है। वह स्वतः केवल महाराज की उपाधि धारण करता है और अपने को 'चन्द्रस्वामिनः दासाग्र' कहता है।

कुछ लोग पुष्करण को मेवाड़ स्थित पोकरन या पुकुर्ण अनुमान करते हैं। ये लोग चन्द्रवर्मन की पहचान, उस सिंहवर्मन के पुत्र के रूप में करते हैं जिसका उल्लेख मन्दसोर (मध्य-प्रदेश) से प्राप्त नरवर्मन के अभिलेख में है। उसमें उसका उल्लेख सिंहवर्मन के पुत्र और चन्द्रवर्मन के भाई के रूप में हुआ है। इस स्थिति में भी चन्द्रवर्मन की पहचान मेहरौली स्तम्भ के चन्द्र से करने में स्पष्ट कठिनाई है। मन्दसोर के एक दूसरे लेख में विश्ववर्मन के पौत्र बन्धुवर्मन का उल्लेख कुमारगुप्त (प्रथम) के गोप्ता के रूप में हुआ है। स्वतः चन्द्रवर्मन को समुद्रगुप्त ने परास्त किया था ऐसा प्रयाग प्रशस्ति से ज्ञात होता है। अतः ऐसी कोई सम्भावना नहीं जान पड़ती जिससे अनुमान किया जा सके कि चन्द्रवर्मन ने चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन काल में स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली होगी और वह स्वतन्त्रता ऐसी रही होगी कि वह स्वाधिकार से अपनी राज्य सीमा मन्दसोर से दूर सुदूर पूर्व बंगाल जा सके। अतः अधिक सम्भावना इस बात की ही है। कि चन्द्रवर्मन चन्द्रगुप्त द्वितीय के अधीन सामन्त रहा होगा। और उसी रूप में वह अपने स्वामी की ओर से किसी अभियान में सुसुनिया (बंगाल) गया और वहाँ अपना वैष्णव स्मारक स्थापित किया होगा। बयाना दफीने में मिले चक्रविक्रम भाँति के अद्वितीय सिक्के पर अंकित **चक्रविक्रमः** को देखते हुए ऐसा भी कहा जा सकता है कि सुसुनिया अभिलेख में **चक्रस्वामिन्** शब्द का प्रयोग चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के लिए ही किया गया है।

मेहरौली अभिलेख का सम्बन्ध चन्द्रगुप्त (प्रथम) से भी जोड़ना सम्भव नहीं जान पड़ता। चन्द्र को चन्द्रगुप्त (प्रथम) मानने पर उसके वाह्लीक-विजय का अर्थ यह होगा कि चन्द्रगुप्त (प्रथम) सिन्धु नदी तक जा पहुँचा था; जब कि समुद्रगुप्त के प्रयाग प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उसके पिता (चन्द्रगुप्त प्रथम) का राज्य गंगा घाटी तक ही सीमित था और समुद्रगुप्त ने स्वयं प्रयाग के उत्तर-पश्चिम का भाग, जिसके अन्तर्गत आधुनिक दोआब और सम्भवतः पंजाब का भी कुछ अंश सम्मिलित था, जीता था।

---

१. न्यू० इ० ए०, १, पृ० १८८ और आगे

२. ज० इ० हि, १७, पृ० १४

इसके अतिरिक्त एकाधिराज का प्रयोग चन्द्रगुप्त (प्रथम) पर किसी भी अवस्था में लागू नहीं होता ।

इस प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय ही एक ऐसा बच रहता है जिसके साथ मेहरौली स्तम्भ लेख के चन्द्र का सामञ्जस्य स्थापित किया जा सके । चन्द्र के सम्बन्ध में अभिलेख में जो कुछ भी कहा गया है वह एकमात्र उसी पर घटित होता है ।

प्रशस्ति के स्वरूप से ऐसा प्रतीत होता है कि उसका आलेखन चन्द्रगुप्त के मृत्योपरान्त हुआ था । पर कतिपय विद्वान् इस बात को स्वीकार करने में सकुचाते हैं । द० रा० भण्डारकर की धारणा है कि जिस समय प्रशस्ति का आलेखन हुआ, उस समय राजा मरा नहीं था केवल सत्तारूढ़ नहीं था ।[१] दिनेशचन्द सरकार का कहना है कि स्तम्भ को तो चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ही खड़ा किया था पर लेख को उसकी मृत्यु के बाद कुमारगुप्त (प्रथम) ने अंकित कराया ।[२] दशरथ शर्मा उसके मृत्योत्तर आलेखन की बात को ही स्वीकार नहीं करते ।[३]

इन लेखों के अतिरिक्त एक अन्य लेख को भी फ्लीट ने चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का बताया है । वह साढ़े सोलह इंच लम्बे और साढ़े ग्यारह इंच चौड़े लाल पत्थर के फलक पर अंकित है । उसे १८५३ ई० में कनिंगहम ने मथुरा नगर में कटरा के द्वार के बाहर पटरी पर जड़ा हुआ पाया था । यह लेख अब लाहौर संग्रहालय में है । यह लेख खण्डित है और उसका केवल आरम्भिक अंश उपलब्ध है । इसमें गुप्त वंश की जो वंशावली दी हुई है, वह चन्द्रगुप्त (द्वितीय) की माँ दत्तदेवी के नाम पर आकर समाप्त हो जाती है । फ्लीट ने इसी कारण उसे चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का माना है; किन्तु यह किसी प्रकार भी निश्चित नहीं है कि उसके नाम के साथ वंश-वृत्त समाप्त हो गया रहा होगा और उसमें उसके उत्तराधिकारी कुमारगुप्त (प्रथम) अथवा उसके परवर्ती उत्तराधिकारियों का नाम न रहा होगा । इस लेख का आलेखन चाहे जिसने भी कराया हो और चाहे जिसके काल में हुआ हो, तिथि और आलेखन का उद्देश्य ज्ञात न होने के कारण उसका कोई ऐतिहासिक महत्व नहीं है । कनिंगहम[४] ने इसे फ्लीट[५] द्वारा सम्पादित होने के पहले तीन बार प्रकाशित किया था ।

गोविन्दगुप्त का अभिलेख

गोविन्दगुप्त का उल्लेख करने वाला एक मात्र अभिलेख १९२३ ई० में म० व० गर्दे को मन्दसोर में मिला था । वह वहाँ के दुर्ग के पूर्वी दीवार के भीतरी भाग में लगा

१. ज० आ० हि० रि० सो०, १०, पृ० ८८; १३७
२. सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० २७७, टि० १
३. ज० इ० हि०, १६, पृ० १७; इ० क०, ५, पृ० २०६
४. ज० बं० ए० सो०, ३२, पृ० ३; क० आ० स० रि०, १, पृ० २३७; ३, पृ० ३७
५. कॉ० इ० इ०, ३, २५

हुआ था। अब वह ग्वालियर संग्रहालय में है। उसका सम्पादन स्वयं अन्वेषी ने किया है।[1]

इस अभिलेख में प्रभाकर के सेनापति दत्तभट्ट द्वारा एक स्तूप, एक कूप, एक प्रपा (प्याऊ—पौशाला) और एक आराम (बगीचा अथवा विहार) निर्माण कराये जाने का उल्लेख है। लेख में दत्तभट्ट को चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के पुत्र गोविन्दगुप्त की सेना के प्रधान वायुरक्षित का पुत्र कहा गया है।

अभिलेख में गोविन्दगुप्त का उल्लेख निम्नलिखित शब्दों में हुआ है—

गोविन्दवत्ख्यातगुणप्रभावोगोविन्दगुप्तोर्जित-नामधेयम्,
वसुन्धरेशस्तनयं प्रजज्ञे स दित्यदित्योस्तनयैस्य रूपम् ॥
यस्मिन्नृपैरस्तमित-प्रतापैश्शिरोभिरार्ङ्गित-पादपद्मे।
विचार दोला विबुधाधिपोपि शंकापरीतः समुपारुरोह ॥

कुमारगुप्त (प्रथम) के अभिलेख

कुमारगुप्त (प्रथम) के काल के जो १४ अभिलेख अब तक ज्ञात हैं; वे इस प्रकार हैं:—

१. गुप्त संवत् ९६ का बिलसड़ स्तम्भ-लेख
२. गुप्त संवत् ९८ का गढ़वा का द्वितीय शिलालेख
३. तिथिविहीन गढ़वा का तृतीय शिलालेख
४. गुप्त संवत् १०६ का उदयगिरि का तृतीय गुहा-लेख
५. गुप्त संवत् ११३ का धनैदह ताम्र-लेख
६. गुप्त संवत् ११३ का मथुरा का जैन-मूर्ति लेख
७. गुप्त संवत् ११६ का तुमैन का शिलालेख
८. मालव संवत् ४९३ और ५२९ का मन्दसोर का शिलालेख
९. गुप्त संवत् ११७ का कर्मदण्डा का लिंग-लेख
१०. गुप्त संवत् १२० का कुलाईकुरी का ताम्रलेख
११. गुप्त संवत् १२४ का दामोदरपुर का प्रथम ताम्रलेख
१२. गुप्त संवत् १२८ का दामोदरपुर का द्वितीय ताम्रलेख
१३. गुप्त संवत् १२८ का बैग्राम का ताम्रलेख
१४. गुप्त संवत् १२९ का मानकुँवर बुद्ध-मूर्ति-लेख।

१. बिलसड़ का स्तम्भ-लेख—एटा जिला अन्तर्गत अलीगंज तहसील से चार मील उत्तर-पूर्व बिलसड़ पुवायाँ नामक ग्राम के उत्तर-पश्चिम कोने पर लाल पत्थर के चार टूटे स्तम्भ (दो गोल और दो चौकोर) खड़े हैं। इनमें से दो गोल स्तम्भों पर एक ही लेख, एक पर लेख १३ पंक्तियों में और दूसरे में १६ छोटी पंक्तियों में

---

१. ए० इ०, २७, पृ० १२

अंकित है। इन्हें १८७७-७८ ई०में कनिंगहम ने ढूँढ निकाला था। उन्होंने उसका पाठ और अनुवाद १८८० ई०में प्रकाशित किया।[1] तदनन्तर फ्लीट ने उसका सम्पादन किया।[2]

इस अभिलेख में ध्रुवशर्मण द्वारा गुप्त संवत् ९६ (**विजय राज्य संवत्सरे षण्णवते**) में एक प्रतोली के निर्माण, एक सत्र की स्थापना और महासेन के मन्दिर में इन स्तम्भों के लगाये जाने का उल्लेख है। इस लेख के सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें कुमार गुप्त (प्रथम) का न केवल नाम ही है वरन् उनका पूरा वंश-वृत्त भी है।

२. द्वितीय गढ़वा शिलालेख—जिस शिलाखण्ड पर चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल (गुप्त संवत् ८८) का पूर्वोल्लिखित प्रथम लेख अंकित है, उसी पर यह लेख भी अंकित है, किन्तु यह लेख उसकी विपरीत दिशा वाली पीठ पर है। इसकी पहली पंक्ति और शेष पंक्तियों का पूर्वांश लुप्त-खण्ड के साथ नष्ट हो गया है। फ्लीट ने इसका सम्पादन किया है।[3]

इस लेख में सम्भवतः सत्र के स्थायी प्रबन्ध के निमित्त १२ दीनारों के दान का उल्लेख है। इसकी दूसरी पंक्ति के पूर्वांश में समकालिक शासक का नाम रहा होगा जो लुप्त हो गया है; पर (गुप्त) संवत् ९८ (**संवत्सरे ९०८**) का उल्लेख है इससे कहा जा सकता है कि यह कुमार गुप्त (प्रथम) के शासन काल में अंकित किया गया था।

३. तृतीय गढ़वा शिलालेख—यह लेख भी उपर्युक्त लेख वाले शिलाखण्ड पर अंकित है और चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के काल वाले प्रथम लेख के ठीक नीचे है। दोनों लेखों के बीच में एक लाइन द्वारा अन्तर व्यक्त किया गया है।

लुप्त अंश में प्रत्येक पंक्ति का उत्तरार्ध नष्ट हो गया है। इसमें कुमार गुप्त (प्रथम) का उल्लेख तो है पर वर्ष के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं हो पाती। केवल तिथि (**दिवसे १०**) बच रहा है। उपलब्ध अंश से ज्ञात होता है कि इसमें सत्र के स्थायी प्रबन्ध के निमित्त दिये गये दस दीनार और तीन (?) (केवल त्रय उपलब्ध है, वह त्रयः, त्रयोदश आदि कुछ भी हो सकता है) दीनार के दो दानों का उल्लेख किया गया था।[4]

४. तृतीय उदयगिरि गुहा-लेख—यह अभिलेख कनिंगहम को १८७४-७५ अथवा १८७६-७७ ई० में उदयगिरि पर्वत (भिलसा, मध्यप्रदेश) स्थित उस गुहा में मिला था जिसे उन्होंने "दसवीं जैन गुहा" का नाम दिया है। इस लेख का पाठ

---

१. क० आ० स० रि०, ११, पृ० १९

२. कॉ० इ० इ०, ३, पृ० ४२

३. वही, पृ० ४०

४. वही, पृ० ३९

और उसका अंग्रेजी अनुवाद उन्होंने १८८० ई० में प्रकाशित किया था।[1] १८८२ ई० में हुल्श ने उसका एक संशोधित पाठ प्रकाशित किया।[2] पश्चात् फ्लीट ने उसका सम्पादन किया।[3]

इस लेख में संघिल के पद्मावती से जन्मे पुत्र शंकर द्वारा संवत् १०६ में गुफा-द्वार पर तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मूर्ति-स्थापित किये जाने का उल्लेख है। इसमें किसी समकालिक गुप्त शासक का कोई उल्लेख नहीं है। केवल लेख की लिपि के आधार पर इसे गुप्तकालीन और इसमें उल्लिखित संवत् को गुप्त-संवत् समझा जाता है।

५. धनैदह ताम्र-लेख—यह अत्यन्त खंडित अवस्था में प्राप्त एक पतले ताम्र-फलक पर अंकित है। इसके बायीं ओर का लगभग आधा और अवशिष्ट भाग का ऊपरी बाँया और निचला दाहिना कोना नष्ट हो गया है। यह १९०८ ई० में राजशाही (पूर्वी पाकिस्तान) जिला अन्तर्गत नाटोर तहसील के धनैदह ग्राम में मिला था और अब राजशाही के बारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी के संग्रह में है। इसे पहले राखालदास बनर्जी ने[4] और फिर राधागोविन्द बसाक[5] ने प्रकाशित किया।

धार्मिक कार्य के निमित्त भू-विक्रय की घोषणा के रूप में प्रचलित किये जाने वाले गुप्तकालीन शासनों की परम्परा का यह पहला ताम्रलेख है और अपने इस रूप में यह सामान्य ताम्रलेखों से सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार की घोषणाओं का विस्तृत प्रारूप कुलाईकुरा ताम्रलेख में (जिसका उल्लेख आगे किया गया है) उपलब्ध होता है। प्रस्तुत शासन में वराहस्वामिन् नामक ब्राह्मण को दान देने के निमित्त किसी व्यक्ति के हाथ (जिसके नाम के अन्त में सम्भवतः विष्णु था) खादपार विषयान्तर्गत भूमि बेचे जाने की घोषणा है। इसमें (गुप्त) संवत् ११३ की तिथि है; विलुप्त अंश में कुमारगुप्त प्रथम का नाम रहा होगा, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

६. मथुरा जैन-मूर्ति लेख—मथुरा स्थित कंकाली टीला से १८९०-९१ ई० में फ़हरर को कुछ मूर्तियाँ मिली थीं। उनमें से एक जैन मूर्ति पर यह लेख अंकित है। बुह्लर ने इसे प्रकाशित किया है।[6] लेख में कहा गया है कि (गुप्त) संवत ११३ की २० कार्तिक को, कुमारगुप्त (प्रथम) के राज्यकाल में कोट्टिय गण और विद्याधरी शाखा के दत्तिलाचार्य के कहने से भट्टिभव की पुत्री और ग्रहमित्रपति की पत्नी सामाध्या ने उस मूर्ति को (जिस पर कि लेख अंकित है) प्रतिष्ठित किया।

७. तुमैन शिला लेख—यह अभिलेख खण्डित है। इसके बायीं ओर का

---

१. क० आ० स० रि०, १०, पृ० ५३
२. इ० ए०, ११, पृ० ३०९
३. का० इ० इ०, ३, पृ० २५८
४. ज० ए० सो० बं०, ५, पृ० ४५९-४६१
५. ए० इ०, १७, पृ० ३४७; साहित्य (बंगला) कलकत्ता, पौष १३२२ बं० सं०
६. ए० इ०, २, पृ० २१०

आधे से अधिक भाग अनुपलब्ध है। १९१९ ई० में यह म० ब० गर्दे को गुना (मध्य प्रदेश) जिला अन्तर्गत तुमैन नामक ग्राम में किसी मसजिद में लगा हुआ मिला था। उन्होंने इसे प्रकाशित किया है।[1] बहादुरचन्द छाबड़ा[2] ने अपने एक लेख में उनके पाठ के कुछ दोषों की ओर निर्देश किया है।

इसमें (गुप्त) संवत् ११६ में तुम्बवन (आधुनिक तुमैन) निवासी हरिदेव, श्रीदेव, धन्यदेव, भद्रदेव और संघदेव नामक पाँच भाइयों द्वारा एक मन्दिर निर्माण किये जाने का उल्लेख है। इसमें जो प्रशस्ति वाला भाग है वह महत्व का है। उसमें चन्द्रगुप्त (द्वितीय) और उसके बेटे कुमारगुप्त के उल्लेख के अनन्तर घटोत्कचगुप्त का नाम है। कुमारगुप्त के साथ उसका सम्बन्ध व्यक्त करने वाली पंक्ति अनुपलब्ध खण्ड में रही होगी। उसके अभाव में अनुमान किया जाता है कि वह कुमारगुप्त का पुत्र होगा। कुमारगुप्त (प्रथम) के शासन काल के बीच का लेख होने और उसमें घटोत्कच गुप्त के उल्लेख से गर्दे का अनुमान है कि वह उस समय एरिकिण (एरण) प्रान्त का उपरिक (गवर्नर) रहा होगा।

८. मन्दसोर शिला लेख—जिस शिला फलक पर यह अभिलेख अंकित है, वह मन्दसोर (मध्य प्रदेश) नगर में नदी के बायें किनारे पर स्थित महादेव घाट की सीढ़ियों में लगा हुआ मिला था। इसे ढूँढ़ निकालने का श्रेय फ्लीट के उस प्रतिलिपिक को है जिसे उन्होंने किन्हीं अन्य अभिलेख की प्रतिलिपि करने के निमित्त भेजा था। इस लेख को ने १८८६ ई० फ्लीट में प्रकाशित किया।[3]

यह कवि वत्सभट्टि-कृत एक प्रशस्ति काव्य है। इसमें कहा गया है कि कुछ रेशम-बुनने वाले लोग अपने बन्धु-बान्धवों सहित लाट विषय (आधुनिक नवसारी भड़ौच का भूभाग) से दशपुर (आधुनिक मन्दसोर) आये। उनमें से कुछ ने तो अपना व्यवसाय बदल दिया। अन्य लोग अपना पैतृक पेशा करते रहे। इन लोगों ने अपनी एक सुदृढ़ श्रेणी संघटित की। तन्तुवायों की इस श्रेणी ने जिन दिनों कुमारगुप्त पृथ्वी पर शासन कर रहे थे (**कुमारगुप्त पृथ्वीं प्रशासति**) और विश्ववर्मन के पुत्र बन्धुवर्मन वहाँ के गोप्ता (प्रशासक) थे, सूर्य का एक मन्दिर निर्माण कराया। मालवगण की तिथि गणना के अनुसार ४९३ वर्ष बीत जाने पर सहस्र मास की शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी (१३) को मंगलाचार पूर्वक मन्दिर का उद्घाटन अथवा स्थापन हुआ (**मालवानां गण-स्थित्या याते शत-चतुष्टये त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृतौ सेव्यघनस्तने। सहस्य मास शुक्लस्य प्रशस्तेऽह्नि त्रयोदशे। मंगलाचार विधिना प्रसादोऽयं निवेशितः**)।

तदनन्तर कहा गया है कि बहुत दिनों बाद अन्य राजाओं के शासन काल में, इस मन्दिर का कुछ अंश गिर गया। अतः अब स्व-यश वृद्धि के निमित्त इस श्रेणी ने सूर्य मन्दिर का संस्कार कराया :

---

१. वही, २६, पृ० ११५

२. ज० ओ० रि०, १७, पृ० २०५

३. इ० ए० १५, पृ० १९४; का० इ० इ०, ३, पृ० ७९

बहुना समतीतेन कालेनान्येश्च पार्थिवः
व्यशीर्य्यतैकदेशोस्य भवनस्य ततोधुना । ३६
स्वयशो-भिवृद्धये सर्व्वमत्युदारमुदारया
संस्कारितमिदं भूयः श्रेण्या भानुमतो गृहं । ३७

यह कार्य ५२९ (मालव) वर्ष बीत जाने पर तपस्य (फाल्गुन) मास शुक्ल २ को पूर्ण हुआ (**वत्सर शतेषु पंचसु विंशत्यधिकेषु नवसु चाब्देषु । यातेष्वभिरम्यतपस्यमास शुक्ल द्वितीयायां**) ।

इस प्रकार अभिलेख की रचना तथा आलेखन इस अन्तिम तिथि को ही हुई होगी । मालव संवत् ५२९ कुमार गुप्त (द्वितीय) के शासन काल में पड़ता है । इस कारण इसका उल्लेख वस्तुतः उनके लेख के रूप में किया जाना चाहिए । पर जिस समय यह लेख ज्ञात हुआ था उस समय किसी को कुमारगुप्त (द्वितीय) का पता न था । केवल एक कुमारगुप्त—कुमारगुप्त (प्रथम) की जानकारी थी और लेख की प्रथम तिथि उसके शासन काल में पड़ती थी इस कारण उन्हीं के नाम से इस लेख की ख्याति हो गयी । उसी परिपाटी में हमने भी इसे यहाँ रखा गया है । इस प्रसंग में इस बात का भी उल्लेख कर देना उचित होगा कि कुछ विद्वान पहली तिथि को भी कुमार गुप्त (प्रथम) से सम्बन्धित नहीं मानते । वे उसे कुमारगुप्त (द्वितीय) की तिथि बताते हैं ।[1]

९. करमदण्डा लिंग-लेख—फैजाबाद (उत्तर प्रदेश) से शाहगंज जाने वाली सड़क पर फैजाबाद से १२ मील पर करमदण्डा नामक एक ग्राम है । उसके निकट भराहीडिह नामक एक प्राचीन टीले से एक लिंग मिला था । उसीके अठपहल आधार पर यह लेख अंकित है । यह लिंग अब लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित है । स्टेन कोनो ने इसका सम्पादन किया है ।[2]

इस अभिलेख में कुमारव्यभट्ट के प्रपौत्र, विष्णुपालित भट्ट के पौत्र, चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के कुमारामात्य शिखरस्वामिन के पुत्र, कुमार गुप्त (प्रथम) के कुमारामात्य महाबलाधिकृत पृथ्वीषेण द्वारा अयोध्या के कतिपय ब्राह्मणों को दान दिये जाने का उल्लेख है । इस पर गुप्त संवत् ११७ के १० कार्तिक की तिथि है (**विजयराज्य संवत्सरे शते सप्तदशोत्तरे कार्तिक मास दशम दिवसे**) ।

१०. कुलाईकुरी ताम्र-लेख—यह लेख साढ़े नौ इंच लम्बे और साढ़े पाँच इंच चौड़े ताम्र फलक के दोनों ओर अंकित है । इस ताम्र फलक को बोगरा (पूर्वी बंगाल) अन्तर्गत नवगाँव से ८ मील पर स्थित कुलाईकुरी ग्राम निवासी किसी मुसलमान से नवगाँव निवासी रजनीमोहन सान्याल ने क्रय किया था । लोगों का अनुमान है यह वही ताम्रपत्र है जो इसी जिले में स्थित वैग्राम नामक ग्राम में १९३० ई० में तालाब की खुदाई के

---

१. रा० शामशास्त्री, एन्युअल रिपोर्ट, माइसोर आर्कालाजिकल डिपार्टमेण्ट, १९२३, पृ० २४; जी० पाई, ज० इ० हि० ११, १८९; १२, पृ० २१५ : आर० पी० सुन्दरराजन, ज० इ० हि०, १६, पृ० १३०

२. ए० इ०, १०, पृ० ७१

समय एक अन्य ताम्र फलक (कुमारगुप्त का १२वाँ लेख, जिसका विवरण नीचे है) के साथ मिला था और जिसे मजदूर लोग उठा ले गये थे। दिनेशचन्द्र सरकार ने इसे प्रकाशित किया है।[1]

गुप्तकालीन दानादि के निमित्त राज्य की ओर से भूविक्रय सम्बन्धी घोषणा वाले शासनों का यह एक विस्तृत प्रारूप है। इस कारण यह सबसे लम्बा भी है। इससे तत्कालीन भूविक्रय व्यवस्था तथा भू–प्रशासन पर विस्तृत प्रकाश पड़ता है। इसे हम यहाँ पूर्णतः उद्धृत कर रहे हैं—

स्वस्ति ॥शृङ्गनेरवैथेय-पूर्ण्णकौशिकायाः आयुक्ताच्युतदास सोधिकरणं च हस्ति-शीर्षे विभीतक्यां गुल्मगन्धिकायां धान्यपाटलिकायां संगोहलिषु ब्राह्मणादीन्ग्राम-कुटुम्बिनः कुशलमनुवर्ण्य बोधयन्ति ॥ विदितम्वो भविष्यति यथा—इह वीथी-कुलिक भीमकायस्थ प्रभुचन्द्र······[2] कृष्णदास पुस्तपाल सिंहनन्दि यशोदामभिः। वीथी-महत्तर कुमारदेव······[2]कुटुम्बिय यशोविष्णु कुमार······[2]गोपाल पुरोगाः वयं च विज्ञापिताः। इह वीथ्यांम प्रतिकर खिलक्षेत्रस्य शश्वत्कालोपभोगायाक्षयनीव्या द्विर्दीनारिक्य खिलक्षेत्रु कुल्यवाप विक्रयमर्यादया इच्छेमहि प्रति प्रति माता-पित्रोः पुण्याभिवृद्धये पौण्ड्रवर्द्धनकचातुर्विद्य-वाजिसनेय-चरणभ्यन्तर ब्राह्मण देवभट्ट अमरदत्त महासेनदत्तानां पञ्चमहायज्ञ प्रवर्तनाय नवकुल्यवापान्क्रीत्वा दातुं एभिरेवोपरि निर्दिष्टक गामेषु खिलक्षेत्राणि विद्यन्ते तदर्हथाहमतः अष्टादश दीनारान्गृहीत्वा एतान्नव कुल्यवा-पान्यनुपादयितुं। यतः एषां कुलिक भीमादीनां विज्ञाप्यमुलभ्य पुस्तपाल सिंहनन्दि यशो-दाम्नोश्च अवधारणयावधृत्वास्त्ययमिह वीथ्याम प्रतिकर खिलक्षेत्रस्य शश्वतकालोपभो-गायाक्षयनीव्या द्विदीनारिक्यकुल्यवाप विक्कयोंनुवृतस्तदीयतां नास्ति विरोधः कश्चि-दित्यवस्थाप्य कुलिक भीमादिभ्यो अष्टादश दीनारानुपसंहरित कानार्यीकृत्य हस्तिशीर्षे विभीतक्यां धान्यपटलिकायां [संगोहालिक ?] ग्रामेषु······द्यो दक्षिणोद्देशेषु अष्टौ कुल्यवापाः धान्यपटलिक ग्रामस्य पश्चिमोरोद्देशे सद्यः खात परिखावेष्टितमुत्तरेण वाटा नदी पश्चिमेन गुल्मागन्धिकाग्रामसीमानमिति कुल्यवाप एको गुल्मागन्धिकायां पूर्व्वेणोद्य-पथः पश्चिमप्रदेशे द्रोणवापद्वयं हस्तिशीर्षे प्रावेश्य तापसपोत्तके दायिता पोत्तके च विभीतक प्रवेश्य चित्रवातंगरे च कुल्यवापाः सप्त द्रोणवापाः षट्। एषु यथोपरि-निर्दिष्टक ग्रामप्रदेशेष्वेषां कुलिक भीमकायस्थ प्रभुचन्द्र रुद्रदासादीनां माता-पित्रोः पुण्याभिवृद्धये ब्राह्मण देवभट्टस्य कुल्यवापाः पञ्च [कु ५] अमरदत्तस्य कुल्यवाप द्वयं महासेनदत्तस्य कुल्यवाप द्वयं कु २। एषांत्रयाणां पंचमहायज्ञप्रवर्तनाय नव कुल्य-वापानि प्रदत्तानि ॥ तद्युष्माकं······ति। लिख्यते च समुपस्थित कालयेऽप्यन्ये विषयपतयः आयुक्तकाः कुटुम्बिनोऽधिकरणिका वा संव्यवहारिणो भविष्यति तैरपि भूमिदानफलमवेक्ष्य अक्षयनीव्यानुपालन या······ सम्वत् १०० २० वैशाख दि ?।

१. इ० हि० क्वा०, १९, पृ० १२
२. इन स्थलों पर नामों की एक लम्बी सूची है, जिसे हमने छोड़ दिया है
३. इस स्थल पर धर्म-वाक्य हैं, जिन्हें हमने छोड़ दिया है

११. प्रथम दामोदरपुर ताम्र-लेख—चार अन्य ताम्र लेखों (कुमारगुप्त प्रथम का १२वाँ लेख, बुधगुप्त का पाँचवाँ और छठाँ लेख और विष्णुगुप्त का पहला लेख) के साथ यह ताम्रलेख दीनाजपुर (पूर्वी बंगाल) जिले में फूलबाड़ी से आठ मील पश्चिम स्थित दामोदरपुर नामक ग्राम में १९१५ ई० में सड़क बनाते समय मिला था। आजकल ये सभी ताम्रलेख वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही (पूर्वी बंगाल) में हैं। इन्हें राधागोविन्द बसाक ने प्रकाशित किया है।[1] ये पाँचों ही लेख कुलाईकुरी ताम्रलेख के समान भू-विक्रय सम्बन्धी विज्ञप्ति हैं।

इस अभिलेख में कहा गया है कि ब्राह्मण कर्प्पटिक ने तीन दीनार मूल्य पर एक द्रोणवाप खिल भूमि क्रय करने का आवेदन और सुविधापूर्वक अग्निहोत्र करने के निमित्त नीवी-धर्म के अनुसार स्थायी व्यवस्था करने का अनुरोध किया था। अतः पुस्तपाल से भूमि सम्बन्धी अधिकार आदि बातों की जाँच कर करने के पश्चात् कोटिवर्ष विषय के आयुक्तक वेत्रवर्मन ने, जो पुण्ड्रर्धन-भुक्तिके उपरिक चित्रदत्त के अधीन थे, उनके इस आवेदन को ७ फाल्गुन (गुप्त) संवत् १२४ को स्वीकार किया। शासक के रूप में कुमारगुप्त का उल्लेख है।

१२. द्वितीय दामोदरपुर ताम्रलेख—उपर्युक्त ताम्रलेख के साथ ही यह लेख भी मिला था और यह भी उसी प्रकार की विज्ञप्ति है, जिसे उपर्युक्त अधिकारी ने ही १३ वैशाख (गुप्त) संवत् १२८[2] को प्रसारित किया है। पंचमहायज्ञकी नियमित व्यवस्था के निमित्त किसी व्यक्ति को (जिसका नाम ताम्रपत्र के खुदर जाने के कारण मिट गया है) तीन दीनार प्रति कुल्यवाप की दर से दो दीनार मूल्य पर ऐरावत-गोराज्य नामक स्थान में पाँच द्रोण खिल भूमि दिये जाने की घोषणा इस लेख में है। इसमें भी शासक के रूप में कुमारगुप्त का उल्लेख है।

१३. वैग्राम ताम्र-लेख—यह ताम्र-लेख १९३० ई० में बोगरा (पूर्वी बंगाल) जिले में वैग्राम नामक स्थान में एक अन्य ताम्र लेख (सम्भवतः कुलाईकुरी ताम्रलेख) के साथ तालाब खोदते समय मिला था। राधा गोविन्द बसाक ने इसका सम्पादन किया है।[3]

इस अभिलेख में छ दीनार और आठ रूपक मूल्य पर वैयिग्राम से सम्बद्ध त्रिवृत और श्रीगोहली नामक स्थान में स्थित तीन कुल्यवाप खिल भूमि और दो द्रोण स्थल-वास्तु भोयिल और भास्कर नामक व्यक्तियों को गोविन्दस्वामिन की पूजा के निमित्त फूल, सुगन्धि आदि के व्यय और उनके पिता द्वारा निर्मित मन्दिर की निरन्तर मरम्मत के

---

१. ए० इ०, १५, पृ० १२९

२. राधागोविन्द बसाक ने इसे १२९ पढ़ा था (ए० इ०, १५, पृ० १३२); पीछे काशीनाथ नारायण दीक्षित ने इसे शुद्ध रूप में १२८ पढ़ा (ए० इ०, १७, पृ० १९३)

३. ए० इ०, २१, पृ० ७८

हेतु दिए जाने का उल्लेख है। इसे कुमारामात्य कुलवृद्धि ने १७ माघ (गुप्त संवत्) १२८ को पंचनगर से प्रसारित किया था। इसमें शासक का उल्लेख नहीं है।

१४. मानकुँवर बुद्ध-मूर्ति लेख—यह अभिलेख बैठी हुई एक बुद्ध-मूर्ति के आसन के नीचे सामने की ओर अंकित है। भगवानलाल इन्द्रजी को यह मूर्ति १८७० ई० में इलाहाबाद जिला अन्तर्गत करछना तहसील स्थित मानकुँवर नामक ग्राम में, जो अरैल से ९ मील पर यमुना के दाहिने किनारे स्थित है, मिला था। १८८० ई० में कनिंगहम ने इसका पाठ प्रकाशित किया;[1] पीछे १८८५ ई० में भगवानलाल इन्द्रजी ने अपने पाठ और अँगरेजी अनुवाद सहित प्रकाशित किया।[2] तदनन्तर फ्लीट ने इसका सम्पादन किया।[3] जिस बुद्ध-मूर्ति पर यह लेख अंकित है, उसके भिक्षु बुद्धमित्र द्वारा कुमारगुप्त के शासनकाल में १८ ज्येष्ठ (गुप्त) संवत् १२९ को (**सम्वत् १०० २० ९ महाराज श्री कुमारगुप्तस्य राज्ये ज्येष्ठ मास दि १० ८**) प्रतिष्ठित किये जाने का उल्लेख इस लेख में है। इसमें कुमारगुप्त के लिए **महाराजाधिराज** के स्थान पर केवल **महाराज** का प्रयोग हुआ है, जो द्रष्टव्य है।

स्कन्दगुप्त के अभिलेख

स्कन्दगुप्त के राज्यकाल के निम्नलिखित पाँच अभिलेख अब तक ज्ञात हैं:-

१. गुप्त संवत् १३६–१३८ की जूनागढ़ प्रशस्ति (चट्टान लेख)
२. गुप्त संवत् १४१ का कहाँव स्तम्भ-लेख
३. गुप्त संवत् १४१ का सुपिया स्तम्भ-लेख।
४. गुप्त संवत् १४६ का इन्दोर ताम्र-लेख
५. भितरी प्रशस्ति (तिथि विहीन) स्तम्भ-लेख

१. जूनागढ़ प्रशस्ति—सौराष्ट्र में जूनागढ़ से एक मील पूरब स्थित गिरनार पर्वत के उस प्रस्तर-खण्ड पर, जिस पर महाक्षत्रप रुद्रदामन का अभिलेख है, यह लेख अंकित है। इसके ज्ञात होने की सूचना १८३८ ई० में जेम्स प्रिंसेप ने प्रकाशित की थी।[4] इस लेख की जनरल सर जार्ज ली ग्रैण्ड जेकब और एन० एल० वेस्टरगार्ड द्वारा प्रस्तुत प्रतिलिपि १८४२ ई० में रायल एशियाटिक सोसाइटी की बम्बई शाखा के सम्मुख प्रस्तुत की गयी थी। वह प्रतिलिपि १८४४ ई० में प्रकाशित हुई।[5] १८६२ ई० में भाउ दाजी ने इस लेख का पाठ और अँगरेजी अनुवाद प्रस्तुत किया।[6] पीछे एगलिंग ने उनके

१. क० आ० स० रि०, १०, पृ० ७:
२. ज० ब० ब्रा० रा० ए० सो०, १६, पृ० ३५४
३, कॉ० इ० इ०, ३, पृ० ४५
४. ज० बं० ए० सो०, ७, पृ० ३४७
५. ज० ब० ब्रा० रा० ए० सो०, १, पृ० १४८
६. वही, ७, पृ० १२१

पाठ में संशोधन किया।[1] तदनन्तर फ्लीट ने इसका सम्पादन किया।[2] यह अभिलेख इस प्रकार है:—

१ सिद्धम्। श्रियमभिमतभोग्यां नैककालापनीतां त्रिदशपति-सुखार्त्थं यो बलेराजहार। कमल-निलयनायाः शाश्वतं धाम लक्ष्म्याः स जयति विजितार्त्तिर्विष्णुरत्यन्त-जिष्णुः॥ [१*]

२ तदनु जयति शश्वत् श्री-परिक्षिप्त-वक्षाः स्वभुज-जनितवीर्यो राजराजाधिराजः। नरपति-भुजगानां मानदर्प्पोत्फणानां प्रतिकृति-गरुडा[ज्ञां] निर्व्विषी[ं] चावकर्त्ता॥ [२*]

३ नृपति-गुण-निकेतः स्कन्दगुप्तः पृथु-श्रीः चतुर[दधि-जल]ान्तां-स्फीत पर्यन्त-देशाम्। अवनिमवनतारिर्यः चकारात्म-संस्थां पितरि सुरसखित्वं प्राप्तवत्यात्म-शक्त्या॥ [३*]

४ अपि च जित[म]व तेन प्रथयन्ति यशांसि यस्य रिपवो(ऽ*)पि [।*] आमूल-भग्न-दर्प्पा नि[र्वचना] [म्लेच्छ-देशेषु]॥[४*]

५ क्रमेण बुद्ध्या निपुणं प्रधार्य ध्यात्वा च कृत्स्नान्गुण-दोष-हेतून्। व्यपेत्य सर्व्वान्मनुजेन्द्र-पुत्रां-ल्लक्ष्मीः स्वयं यं वरयांचकार॥[५*]

६ तस्मिन्नृपे शासति नैव कश्चिद्धर्म्मादपेतो मनुजः प्रजासु। आर्त्तो दरिद्रो व्यसनी कदर्यो दण्डेन वा यो भृश-पीडितः स्यात्॥[६*]

७ एवं स जित्वा पृथिवीं समग्रां भग्नाग्र-दर्पां[न्] द्विषतश्च कृत्वा। सर्व्वेषु देशेषु विधाय गोप्तॄन् संचिन्तया[मा]स बहु-प्रकारम्॥[७*]

८ स्यात्को(ऽ*)नुरूपो मतिमान्विनितो मेधा-स्मृतिभ्यामनपेत-भावः। सत्यार्जवौदार्य-नयोपपन्नो माधुर्य-दाक्षिण्य-यशोन्वितश्च॥[८*]

९ भक्तो(ऽ*)नुरक्तो नृ-[विशे]ष-युक्तः सर्व्वोपधाभिश्च विशुद्ध-बुद्धिः। आनृण्य-भावोपगतान्तरात्मा: सर्व्वस्य लोकस्य हिते प्रवृत्तः॥[९*]

१० न्यायार्जने(ऽ*)र्थस्य च कः समर्थः स्यादर्जितस्याप्यथ रक्षणे च। गोपायितस्यापि [च] वृद्धि-हेतौ वृद्धस्य पात्र-प्रतिपादनाय॥[१०*]

११ सर्व्वेषु भृत्येष्वपि संहतेषु यो मे प्रशिष्यान्निखिलान्सुराष्ट्रान्। आं ज्ञातमेकः खलु पर्णदत्तो भारस्य तस्योद्वहने समर्थः॥[११*]

१२ एवं विनिश्चित्य नृपाधिपेन नैकानहो-रात्र-गणान्स्व-मत्या। यः संनियुक्तो(ऽ*)र्थनया कथंचित् सम्यक्सुराष्ट्रावनि-पालनाय॥[१२*]

१३ नियुज्य देवा वरुणं प्रतीच्यां स्वस्था यथा नोन्मनसो बभूवु[ः] [।*] पूर्व्वेतरस्यां दिशि पर्णदत्तं नियुज्य राजा धृतिमांस्तथाभूत्॥[१३*]

१. आ० स० रि०, वे० स०, २, पृ० १३४

२. का० इ० इ०, ३, पृ० ५७

१४ तस्यात्मजो ह्यात्मज-भाव-युक्तो द्विधेव चात्मात्म-वशेन गोतः। सर्व्वात्मनात्मेव च रक्षणीयो नित्यात्मवानात्मज-कान्त-रूपः ॥[*]

१५ रूपानुरूपैर्ललितैर्विचित्रैः नित्य-प्रमोदान्वित-सर्वभावः। प्रबुद्ध-पद्माकर-पद्मवक्त्रो नृणां शरण्यः शरणागतानाम् ॥ [*]

१६ अभवद्भुवि चक्रपालितो(ऽ*)साविति नाम्ना प्रथितः प्रियो जनस्य। स्वगुणैर-नुपस्कृतैरुदा[रैः] पितरं यश्च विशेषयांचकार। [*]

१७ क्षमा प्रभुत्वं विनियो नयश्च शौर्यं विना शौर्य-मह[ा] र्च्चनं च। दाक्ष्यं दमो दानमदीनता च दाक्षिण्यमानृण्यम[शू]न्यता च ॥ [*]

१८ सौन्दर्यमार्येतर-निग्रहश्च अविस्मयो धैर्य्यमुदीर्णता च। इत्येवमेते(ऽ*)तिशयेन यस्मिन्नविप्रवासेन गुणा वसन्ति ॥ [*]

१९ न विद्यते(ऽ*)सौ सकले(ऽ*)पि लोके यत्रोपमा तस्य गुणैः क्रियेत। स एव कार्त्स्न्येन गुणान्वितानां बभूव नृणामुपमान-भूतः ॥ [*]

२० इत्येवमेतानधिकानतो(ऽ*)न्यान्गुणान्प[री]क्ष्य स्वयमेव पित्रा। यः सन्नियुक्तो नगरस्य रक्षां विशिष्य पूर्वान्प्रचकार सम्यक् ॥ [*]

२१ आश्रित्य वीर्यं [स्वभु]ज-द्वयस्य स्वस्यैव नान्यस्य नरस्य दर्पम्। नोद्वेजयामास च कंचिदेवमस्मिन्पुरे चैव शशास दुष्टाः ॥ [*]

२२ विस्रंभमल्पे न शशाम यो(ऽ*)स्मिन् काले न लोकेषु स-नागरेषु। यो लालयामास च पौरवर्गान् [स्वस्येव] पुत्रान्सुपरीक्ष्य दोषान् ॥ [*]

२३ संरंजयां च प्रकृतीर्बभूव पूर्व्व-स्मिताभाषण-मान-दानैः। निर्यन्त्रणान्योन्यगृह-प्रवेशैः संवर्द्धित-प्रीति-गृहोपचारैः ॥ [*]

२४ ब्रह्मण्य-भावेन परेण युक्तः [शु]क्लः शुचिर्दानपरो यथावत्। प्राप्यान्स काले-विषयान्सिषेवे धर्मार्थयोश्चा(प्य*) विरोधनेन ॥ [*]

२५ [यो—⏑———⏑⏑पर्णदृशा]त्स न्यायवानत्र किमस्ति चित्रं। मुक्ताकला-पाम्बुज-पद्म-शीतार्च्चन्द्रात्किमुष्णं भविता कदाचित् ॥ [*]

२६ अथ क्रमेणाम्बुद-काल आग[ते] [नि]दाघ-कालं प्रविदार्य तोयदैः। ववर्ष तोयं बहु सन्ततं चिरं सुदर्शनं येन बिभेद चात्वरात् ॥ [*]

२७ संवत्सराणामधिके शते तु त्रिंशद्भिरन्यैरपि षड्भिरेव। रात्रौ दिने प्रौष्ठपदस्य षष्ठे गुप्त-प्रकाले गणनां विधाय ॥[*]

२८ इमाश्च या रैवतकाद्विनिर्गता[ः*] पलाशिनीयं सिकता-विलासिनी। समुद्रकान्ताः चिर-बन्धनोषिताः पुनः पतिं शास्त्र-यथोचितं ययुः ॥[*]

२९ अवेक्ष्य वर्षागमजं महोद्भ्रमं महोदधेरूर्जयता प्रियेप्सुना। अनेक-तीरान्तज-पुष्प-शोभितो नदीमयो हस्त इव प्रसारितः ॥[*]

३० विषाद[मानाः] [खलु] [सर्वतो] [ज]नाः कथं-कथं कार्यमिति प्रवादिनः। मिथो हि पूर्वापर-रात्रमुत्थिता विचिन्तयां चापि बभूवुरुत्सुकाः ॥[*]

३१ अपीह लोके सकले सुदर्शनं पुमां हि दुर्दर्शनतां गतं क्षणात् । भवेन्नु सो(ऽ*)म्भोनिधि-तुल्य-दर्शनं सुदर्शनं —⏑⏑—⏑—⏑— ॥[*]

३२ ⏑—⏑———⏑वणे स भूत्वा पितुः परां भक्तिमपि प्रदर्श्य । धर्मं पुरोधाय शुभानुबन्धं राज्ञो हितार्थं नगरस्य चैव ॥[*]

३३ संवत्सराणामधिके शते तु त्रिंशद्भिरन्यैरपि सप्तभिश्च । [गुप्त]-[प्रकाले*] [नय*]-शास्त्र-वेत्ता विश्वे(ऽ*)प्यनुज्ञात-महाप्रभावः ॥ [*]

३४ आज्य-प्रणामैः विबुधानथेष्ट्वा धनैर्द्विजातीनपि तर्पयित्वा । पौरांस्तथाभ्यर्च्य यथार्हमानैः भृत्यांश्च पूज्यान्सुहृदश्च दानैः ॥ [*]

३५ ग्रैष्मस्य मासस्य तु पूर्व-पक्षे ⏑—⏑——[प्र]थमे(ऽ*)ह्नि सम्यक् । मास-द्वयेनादरवान्स भूत्वा धनस्य कृत्वा व्ययमप्रमेयम् ॥ [*]

३६ आयामतो हस्त-शतं समग्रं विस्तारतः षष्टिरथापि चाष्टौ । उत्सेधतो(ऽ*)न्यत् पुरुषाणि [सप्त ?]⏑—⏑—[ह]स्त-शत-द्वयस्य ॥ [*]

३७ बबन्ध यत्नान्महता नृदेवा-न[भ्यर्च्य?]सम्यग्घटितोपलेन । अ-जाति-दुष्टप्रथितं तटाकं सुदर्शनं शाश्वत-कल्प-कालम् ॥ [*]

३८ अपि च सुदृढ-सेतु-प्रान्त(?)-विन्यस्त-शोभरथचरणसमाह्व-क्रौंचहंसासधूतम् । विमल-सलिल———⏑——⏑——भुवि,त ⏑⏑⏑———द[ने] (ऽ*)र्कः शशी च ॥[*]

३९ नगरमपि च भूयाद्वृद्धिमत्पौर-जुष्टं द्विजबहुशतगीत-ब्रह्म-निर्नष्ट-पापं । शतमपि च समानामीति-दुर्भिक्ष-[मुक्तं*]⏑⏑⏑⏑⏑———⏑——⏑— —॥[*]

[इति] [सुद]र्शन-तटाक-संस्कार-ग्रन्थ रचना [स]माप्ता ॥

Part II

४० दृप्तारि-दर्प-प्रणुदः पृथु-श्रियः स्व-वंश-केतोः सकलावनी-पतेः । राजाधिराज्याद्-भुत-पुण्य-[कर्मणः]⏑———⏑⏑—⏑——⏑—॥[*]

४१ ——⏑——⏑⏑—⏑———⏑⏑—⏑——।

द्वीपस्य गोप्ता महतां च नेता दण्ड-स्थि[ता*]नां द्विषतां दमाय ॥ [*]

४२ तस्यात्मजेनात्मगुणान्वितेन गोविन्द-पादार्पित-जीवितेन ।——⏑——⏑⏑ —⏑————⏑—⏑⏑⏑—⏑⏑⏑⏑॥[*]

४३ ——⏑—⏑⏑⏑—⏑⏑—⏑—⏑स्य

विष्णोश्च पादकमले समवाप्य तत्र । अर्थव्ययेन महता महता च कालेनात्म-प्रभाव-नत-पौरजनेन तेन ॥ [*]

४४ चक्रं बिभर्त्ति रिपु—⏑⏑—⏑———⏑⏑—⏑⏑—⏑— —।*)——⏑—⏑⏑⏑—⏑⏑——⏑——तस्य स्व-तन्त्र-विधि-कारण-मानुषस्य ॥[*]

४५ कारितमबक-मतिना चक्रभृतः चक्रपालितेन गृहं । वर्षशते[ऽष्ट]ात्रिंशे गुप्तानां काल-[क्रम-गणिते॰] ॥ [॰]

४६ — — ◡ — ◡ ◡ ◡ — ◡ ◡ — ◡ — — — ◡ — ◡ ◡ ◡ — ◡ ◡ — ◡ — — — । [स॰]र्थमुत्थितमिवोर्जयतो(ऽ॰)चलस्य कुर्वत्प्रभुत्वमिव भाति पुरस्य मूर्ध्नि ॥ [॰]

४७ अन्यच्च मूर्द्धनि सु — ◡ ◡ — ◡ — — — ◡ — ◡ ◡ ◡ — ◡ ◡ — ◡ — — । — — ◡ — ◡ ◡ ◡ रुद्ध-विहंग-मार्गं विभ्राजते ◡ ◡ ◡ — ◡ ◡ — ◡ — — ॥]॰]

२. कहाँव स्तम्भ-लेख—देवरिया जिला (उत्तर प्रदेश) अन्तर्गत सलेमपुर मझौली से पाँच मील पर स्थित कहाँव ग्राम में स्थापित एक स्तम्भ पर, जिस पर पाँच तीर्थंकरों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, यह लेख अंकित है। इस प्रदेश का सर्वेक्षण करते हुए १८०६ और १८१६ ई० के बीच किसी समय बुकानन ने इसे देखा था। उन्होंने इसका उल्लेख अपने रिपोर्ट में किया है। १८३८ ई० में उनके रिपोर्ट से माण्टगोमरी मार्टीन ने अपनी पुस्तक में इसे उद्धृत किया।[1] उसी वर्ष जेम्स प्रिन्सेप ने भी इसका पाठ और अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया।[2] १८६० ई० में फिट्ज़ एडवर्ड हाल ने इस लेख के कुछ अंश प्रकाशित किये।[3] १८७१ ई० में कनिंगहम[4] और १८८१ ई० में भगवानलाल इन्द्रजी ने अपने-अपने पाठ प्रकाशित किये।[5] अन्ततः फ्लीट ने इसका सम्पादन किया।[6]

इस लेख में ककुभ ग्राम (वर्तमान कहाँव) में भट्टिसोम के पौत्र, रुद्रसोम के पुत्र मद्र द्वारा स्कन्दगुप्त के शान्तिमय राज्य में (गुप्त) संवत् १४१ के ज्येष्ठ मास में (स्कन्दगुप्तस्य शान्ते वर्षे त्रिंसद्दशैकोत्तरकशततमे ज्येष्ठ मासि प्रपन्ने) पंच-तीर्थंकरों से युक्त स्तम्भ प्रतिष्ठित किये जाने का उल्लेख है।

३. सुपिया स्तम्भ-लेख—रीवाँ (मध्य प्रदेश) जिले में सुपिया ग्राम के निकट प्राप्त एक स्तम्भ पर, जो इन दिनों धुबेला संग्रहालय में है, यह लेख अंकित है। इसका सर्व प्रथम उल्लेख बहादुरचन्द छावड़ा ने किया था।[7] पश्चात् दिनेशचन्द्र सरकार ने इसे सम्पादित कर प्रकाशित किया[8]।

१. ईस्टर्न इण्डिया, २, पृ० ३६६
२. ज० बं० ए० सो०, ७, पृ० ३७
३ ज० अ० ओ० सो० ६, पृ० ५३० ; ज० बं० ए० सो०, ३०, पृ० ३
४. क० आ० स० रि०, १, पृ० ९३
५. इ० ए०, १०, पृ० १२५
६. कॉ० इ० इ०, ३, पृ० ६५
७. प्रो० ओ० का०, १२ (३), पृ० ५८७
८. ज० ए० सो० बं०, १५, १९४९, पृ० ६; ए० इ०, ३३, पृ० ३०६

इस लेख में अवडर निवासी वर्ग ग्रामिक द्वारा अपने मातामह कैवर्त श्रेष्ठि, अपने पिता हरि श्रेष्ठि, अपने अग्रज श्री दत्त कुटुम्बिक और अपने कनिष्ट भ्राता छन्दक की यशकीर्ति के निमित्त स्कन्दगुप्त के राज्यकाल में (गुप्त) वर्ष १४१ के ज्येष्ठ शुक्ल २ को बल-यष्टि अथवा गोत्र-शैलिक स्थापित करने का उल्लेख है। इस लेख में स्कन्दगुप्त के वंश-वृत्त का आरम्भ घटोत्कच से किया गया है और चन्द्रगुप्त (द्वितीय) और कुमारगुप्त (प्रथम) का उल्लेख क्रमशः श्री विक्रमादित्य और महाराज श्री महेन्द्रादित्य के रूप में किया गया है।

४. इन्दौर ताम्र-लेख—यह अभिलेख लगभग आठ इंच लम्बे और साढ़े पाँच इंच चौड़े ताम्र-फलक पर अंकित है, और बुलन्दशहर (उत्तर प्रदेश) अन्तर्गत अनूप-शहर तहसील के इन्दौर ग्राम के एक नाले में मिला था। उसे १८७४ ई० में ए० सी० एल० कार्लाइल ने प्राप्त किया था और कनिंगहम ने उसे तत्काल ही प्रकाशित किया।[1] पश्चात् फ्लीट ने उसका सम्पादन किया।[2]

इस ताम्रलेख में (गुप्त) वर्ष १४६ के फाल्गुन मास में (**विजय राज्य सवत्सर शतेषु-चत्वारिंशदुत्तरतमे फाल्गुन मासे**) इन्द्रपुर (आधुनिक इन्दौर) स्थित सूर्य मन्दिर में निरन्तर दीप जलते रहने के निमित्त ब्राह्मण देवविष्णु द्वारा दिये गए दान का उल्लेख है। परमभट्टारक महाराजाधिराज स्कन्दगुप्त और उनके अन्तर्वेदी स्थित विषयपति शर्व-नाग की इसमें चर्चा है।

५. भितरी प्रशस्ति—यह अभिलेख गाजीपुर (उत्तर प्रदेश) अन्तर्गत सैदपुर से पाँच मील उत्तर-पूर्व स्थित भितरी ग्राम में खड़े लाल पत्थर के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। १८३४ ई० में ट्रेगियर ने इस स्तम्भ को खोज निकाला था; पर अभिलेख का पता बाद में उस समय लगा जब कनिंगहम ने उसके चारों ओर की मिट्टी हटवायी। प्रिंसेप ने १८३६ ई० में इस लेख के प्राप्त होने की सूचना प्रकाशित की;[3] १८६७ ई० में रेवरेण्ड डब्लू० एच० मिल ने इसका अँगरेजी अनुवादसहित पाठ प्रकाशित किया।[4] फिर कनिंगहम ने १८३१ ई० में,[5] भाऊदाजी ने १८७५ ई० में[6] और भगवानलाल इन्द्रजी ने १८८५ ई०[7] में अपने-अपने पाठ और अनुवाद प्रकाशित किये। अन्ततः फ्लीट ने उसका सम्पादन किया।[8]

१. ज० बं० ए० सो०, ४३, पृ० ३६३
२. कॉ० इ० इ०, ३, पृ० ६८
३. ज० ब० ए० सो०, ५, पृ० ६६१
४. वही, ६, पृ० १
५. क० आ० स० रि०, १, पृ० ५२
६. ज० बं० ब्रा० रा० ए० सो०, १०, पृ० ५९
७. वही, १६, पृ० ३४९
८. का० इ० इ०, ३, पृ० ५२

प्रशस्ति इस प्रकार है :—

सिद्धम् ॥ [सर्व्व]-रा[जो]च्छेत्तुः पृथिव्यामप्रतिरथस्य चतुरुदधिसलिल[ा]-स्वादित-यशसो धनदवरुणेन्द्र[ा]न्तक-स[मस्य]कृतान्त-परशोः न्यायागत[ा]-नेक-गो-हिरण्य-[को]टि-प्रदस्य चिरो[त्स]न्नाश्वमेधाहर्त्तु र्महाराज-श्रीगुप्त-प्रपौत्र-[स्य]महाराज-श्रीघटोत्कच-पौत्रस्य महाराजाधिराज-श्रीचन्द्रगुप्त-पुत्रस्य लिच्छिवि-दौहित्रस्य महादेव्यां कुम[ा]र[दे]व्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज-श्रीसमुद्रगुप्तस्य पुत्रस्तत्परिगृहीतो महादेव्यान्दत्तदेव्यामुत्पन्नः स्वयं चाप्रतिरथः परम-भागवतो महा-राजाधिराज-श्रीचन्द्रगुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुद्ध्यातो महादेव्यां ध्रुवदेव्यामुत्पन्नः परम-भागवतो महाराजाधिर[ा]ज-श्रीकुमारगुप्तस्तस्य

१ प्रथित-पृथुमति-स्वभाव-शक्तेः पृथु-यशसः पृथिवी-पतेः पृथु-श्रीः [।*]
[पि]तृ[-]प[रि]गत-पादपद्म-वर्त्ती प्रथित-यशाः पृथिवी-पतिः सुतो(ऽ*)यम् [॥*]

२ जगति भु[ज]-बलाढ्यो गुप्तवंशैक-वीरः प्रथित-विपुल-धामा नामतः स्कन्दगुप्तः [।*] सुचरित-चरितानां येन वृत्तेन वृत्तं न विहतममलात्मा तान-[धीदा?]-विनीतः [॥*]

३ विनय-बल-सुनीतैर्व्विक्रमेण क्रमेण प्रतिदिनमभियोगादीप्सितं येन ल[ब्ध्व]ा [।*] स्वभिमत-विजिगीषा-प्रोद्यतानां परेषां प्रणिहित इव ले[भे] [सं]-विधानोपदेशः [॥*]

४ विचलित-कुल-लक्ष्मी-स्तम्भनायोद्यतेन क्षितितल-शयनीये येन नीता त्रियामा [।*] समुदित-ब[ल]-कोशा[न्पुष्यमित्रांश्च][1] [जि]त्वा क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वाम-पादः [॥*]

५ प्रसभमनुप[मै]र्व्विन्यस्त-शस्त्र-प्रतापैर्विन[य-स]मु[चितैश्च*] क्षान्ति-शौ[र्यै]-र्विरूढम्[।*] चरितममलकीर्त्तेर्गीयते यस्य शुभ्रं दिशि दिशि परितुष्टैराकुमारं मनुष्यैः [॥*]

६ पितरि दिवमुपे[ते] विप्लुतां वंश-लक्ष्मीं भुज-बल-विजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः [।*] जितमिति परितोषान्मातरं सास्र-नेत्रां हतरिपुरिव कृष्णो देवकी-मभ्युपे[त]ः [॥*]

७ [स्वै]र्द[ण्डैः]⌣⌣—⌣—श्चलितं वंशं प्रतिष्ठाप्य यो बाहुभ्यामवनिं विजित्य हि जितेष्वार्तेषु कृत्वा दयाम् [।*] नोत्सिक्तो [न] च विस्मितः प्रतिदिनं संवर्द्धमान-द्युतिःर्गीतैश्च स्तुतिभिश्च वन्दक-जनो(?) यं [प्रा]-पयत्यार्य्यताम् [॥*]

८ हूणैर्य्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता भीमावर्त्त-करस्य शत्रुषु शरा——⌣——⌣—[।*]———⌣⌣—⌣—विरचितं(?)

१. दिवेकर ने इसे 'न्पुष्यमित्रांश्च' पढ़ा है (अ० भ० ओ० रि० इं०, १, पृ०९९)

प्रख्यापितो [कीर्तिदा?] न यो(?)ति⏑नभी(?)पुलक्ष्यत इव श्रोत्रेषु शार्ङ्ग-ध्वनिः [॥*]

९ [स]-पितुः कीर्ति—* * * *⏑—⏑* [।*] * * * * ⏑— * * * * * * ⏑—⏑ * [॥*]

१० [कर्तव्या?] प्रतिमा काचित्प्रतिमां तस्य शार्ङ्गिणः [।*] [सु]-प्रतीतश्चकारेमां य[वदाचन्द्र-तारकम्] [॥*]

११ इह चैनं प्रतिष्ठाप्य सुप्रतिष्ठित-शासनः [।*] ग्राममेनं स विद[धे] पितुः पुण्याभिवृद्धये [॥*]

१२ अतो भगवतो मूर्त्तिरियं यश्चात्र संस्थितः (?) [।*] उभयं निर्द्दिदेशासौ पितुः पुण्याय पुण्य-धीरिति [॥*]

कुमारगुप्त (द्वितीय) का अभिलेख—कुमारगुप्त (द्वितीय) के काल का केवल एक ही अभिलेख ज्ञात है और वह १९१४–१५ ई० में सारनाथ से प्राप्त एक बुद्ध-मूर्ति के आसन पर अंकित है। यह मूर्ति इन दिनों सारनाथ संग्रहालय में है। इस अभिलेख को एच० हारग्रीव्ज ने प्रकाशित किया है।[१]

तीन पंक्तियों के इस छोटे से लेख में कुमारगुप्त (द्वितीय) के शासन काल में २ ज्येष्ठ गुप्तवर्ष १५४ (**वर्ष शते गुप्तानां सचतुःपंचाशदुत्तरे भूमिम् रक्षति कुमारगुप्ते मासि ज्येष्ठे द्वितियायम्**) को भिक्षु अभयमित्र द्वारा लेखांकित बुद्ध-मूर्ति प्रतिष्ठित किये जाने का उल्लेख है।

पुरुगुप्त के पुत्र का अभिलेख—पटना संग्रहालय में एक स्तम्भ है, जो बिहार (जिला पटना) के प्राचीन दुर्ग के उत्तरी द्वार पर पड़ा मिला था। मूलतः यह स्तम्भ कहीं और रहा होगा। इस स्तम्भ पर एक लेख अंकित है, जो बिहार स्तम्भ लेख के नाम से प्रख्यात् है। इसे लोग अब तक स्कन्दगुप्त का मानते चले आ रहे थे। अभी हाल में दिनेशचन्द्र सरकार ने संदिग्ध-भाव से इसे पुरुगुप्त का कहा है।[२] वस्तुतः यह लेख न तो स्कन्दगुप्त का है और न पुरुगुप्त का, वरन् पुरुगुप्त के किसी लड़के का है, जिसका नाम अभिलेख के क्षतिग्रस्त होने का कारण अनुपलब्ध है। इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करने का श्रेय रमेशचन्द्र मजूमदार को है।

इस स्तम्भ को १८३९ ई० में रैवन शॉ प्रकाश में लाये।[३] १८६६ ई० में राजेन्द्र लाल मित्र ने इस लेख की छाप मिट्टी में तैयार करा कर पकवाया और उस पकी हुई मिट्टी की छाप से इस लेख की प्रतिलिपि तैयार कर इसका पाठ प्रकाशित किया था।[४] पश्चात् कनिंगहम ने अपना पाठ स्वतः तैयार किए हुए छाप के आधार

---

१. आ० स० इ०, ए० रि०, १९१४-१५, पृ० १२४
२. सेलेक्ट इन्स्क्रप्शन्स, द्वितीय संस्करण, पृ० ३२५।
३. ज० बं० ए० सो०, ८, पृ० ३४७
४. वही, ३५, पृ० २६९

पर प्रकाशित किया ।[१] तदनन्तर फ्लीट ने इसका सम्पादन किया ।[२] कुछ दिनों पूर्व रमेशचन्द्र मजूमदार ने फ्लीट की कतिपय भूलों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया;[३] और अभी हाल में श्रीधर वासुदेव सोहनी ने इस लेख पर पुनर्विचार किया है ।[४]

यह लेख अत्यन्त क्षतिग्रस्त अवस्था में है, इस कारण लेख का पूर्ण आशय समझ पाना सम्भव न हो सका है । केवल इतना ही ज्ञात हो सका है कि स्तम्भ पर दो स्वतन्त्र लेख हैं । एक से ऐसा अनुमान होता है कि किसी व्यक्ति ने यूप अथवा स्तम्भ (सम्भवतः जिस पर लेख अंकित है) प्रतिष्ठित किया और सम्भवतः स्कन्द और मातृकाओं के कुछ मन्दिर बनवाये थे और उनके प्रबन्ध के निमित्त चन्द्रगुप्तवाट (अथवा इन्द्रगुप्तवाट)[५] नामक ग्राम में कुछ भूमि दान में दिया था ।

दूसरा लेख सम्भवतः राजशासन के रूप में है । इसके द्वारा किसी व्यक्ति के आवेदन पर कुछ भूमि दान की गयी है । इसमें आरम्भ में गुप्तवंशीय शासक का वंश-वृत है जो अत्यन्त क्षतिग्रस्त है । इस अंश में जो कुछ उपलब्ध है उससे कुमारगुप्त (प्रथम) तक का वंश-वृत्त ज्ञात होता है । आगे का अंश नष्ट होने के कारण अनुमान के आधार पर फ्लीट ने बिना माता का नाम उल्लेख किये ही स्कन्दगुप्त का नाम जोड़ने की चेष्टा की थी और अपने इस अनुमान के आधार पर उन्होंने इसे स्कन्दगुप्त का बताया था । रमेशचन्द्र मजूमदार[६] ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि फ्लीट ने स्कन्द नाम स्थिर करने के लिए जिस अक्षर को न्द्द पढ़ा है, वह वस्तुतः रु है ।[७] वह रु ही है यह राजेन्द्रलाल मित्र के फलक से स्पष्ट प्रकट होता है । उनके फलक में न केवल रु ही स्पष्ट है,[८] वरन् उसके पूर्व का अक्षर भी उपलब्ध है । और राजेन्द्रलाल मित्र ने नाम को प्तरुगुप्त के रूप में पढ़ा था । जिसे उन्होंने प्त पढ़ा है वह सरलता से पु पढ़ा जा सकता है । फ्लीट के छाप में भी इस अक्षर की उ मात्रा स्पष्ट दिखाई पड़ती है किन्तु इसकी ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया है । इस प्रकार यह निसंदिग्ध है कि अभिलेख में कुमारगुप्त के पुत्र पुरु का उल्लेख है स्कन्द का नहीं ।

---

१. क० आ० स० रि०, १, पृ० ३७

२. कॉ० इ० इ०, ३, पृ० ४७

३. इ० क०, १०, पृ० १७०

४. ज० बि० रि० सो०, ४९, पृ० १७०

५. अभिलेख में केवल 'न्द्रगुप्तवाट' उपलब्ध है । फ्लीट ने 'न्द्र' को 'न्द' पढ़ा है और नाम की पूर्ति 'स्कन्द' के रूप में की है । इस भूल की ओर रमेशचन्द्र मजूमदार ने ध्यान आकृष्ट किया है और उपर्युक्त नामों की सम्भावना व्यक्त की है (इ० क०, १०, पृ० १७०)

६. इ० क०, १०, पृ० १७०

७. इस अक्षर का पंक्ति ११ में उपलब्ध 'न्द' के साथ, जिसका पाठ निःसंदिग्ध है, तुलना करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि पंक्ति ११ में 'न' की घुण्डी स्पष्ट है जब कि इस पंक्ति में उसका सर्वथा अभाव है । इस कारण इसे किसी प्रकार भी 'न्द' नहीं पढ़ा जा सकता ।

८. ज० ए० सो० बं०, ३५, पृ० २७०

वंश-वृत्त पुरु के साथ समाप्त नहीं होता। पंक्ति २४ के अन्त में परमभागवत शब्द स्पष्ट है, जो इस बात का द्योतक है कि पंक्ति २५ का भी सम्बन्ध वंश-वृत्त से ही है। और उस पंक्ति में जिस शासक का नाम रहा होगा वह पुरुगुप्त का पुत्र और उसका उत्तराधिकारी होगा। इस लेख में पुरुगुप्त के किस बेटे का उल्लेख था यह निश्चित रूप से कहना सम्भव नहीं है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के अंग्रेजी संस्करण में हमने अनुमान प्रकट किया है कि वह या तो कुमारगुप्त (द्वितीय) होगा या बुधगुप्त।[1] हमारा यह अनुमान इस आधार पर है कि दोनों लेखों में भद्रार्य नाम समान रूप से उल्लिखित है। इसका अर्थ यह हुआ कि दोनों ही लेख उस व्यक्ति के जीवन काल में अंकित किये गये थे। इस प्रकार दोनों ही लेख कमोबेश सम-सामयिक हैं। दोनों या तो किसी एक शासक के शासन-काल में अंकित किये गये होंगे अथवा अधिक से अधिक क्रमागत दो शासकों के शासन में। पहले लेख में पंक्ति ३ में कुमारगुप्त का उल्लेख प्राप्त है। इससे हमने अनुमान किया है कि वह उसके ही शासन काल में लिखा गया होगा। यदि दूसरा लेख भी उसके ही शासन काल में अंकित हुआ तो इस दूसरे लेख के आधार पर पुरुगुप्त के पुत्र के रूप में प्रथम लेख में अंकित कुमारगुप्त को पहचाना जा सकता है। ऐसी अवस्था में वह कुमारगुप्त (द्वितीय) होगा। यदि दोनों लेख दो क्रमागत शासकों के शासन में अंकित हुआ हो तो पुरुगुप्त के पुत्र बुधगुप्त के पूर्वाधिकारी के रूप में हम सारनाथ के बुद्ध-मूर्ति लेखों से कुमारगुप्त (द्वितीय) को जानते हैं। इस प्रकार पहला लेख उसके काल का होगा और दूसरा बुधगुप्त के। निष्कर्ष, हमारा अभिमत है कि पहला लेख तो निश्चित रूपेण सारनाथ बुद्ध-मूर्ति से ज्ञात कुमारगुप्त के शासन काल का है और वह १५४ गुप्त संवत् के आस पास अंकित किया गया होगा और दूसरा लेख यदि उसका नहीं है तो वह बुधगुप्त के आरम्भिक शासन काल में १५४–१५७ गुप्त संवत् के बीच अथवा तत्काल बाद अंकित किसी समय किया गया होगा।

अभी हाल में श्रीधर वासुदेव सोहोनी[2] ने इस अभिलेख पर पुनर्विचार करते हुए इस ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि इन लेखों में भद्रार्य नामक किसी व्यक्ति का उल्लेख नहीं है; वरन् भद्रार्या नाम्नी देवी की चर्चा है। और इन लेखों का सम्बन्ध उनके मन्दिर बनवाने अथवा उनके किसी पुराने मन्दिर में सुव्यवस्थित पूजा के निमित्त आर्थिक व्यवस्था करने से है। उन्होंने इस ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है कि प्रथम लेख की पंक्ति ३ में उल्लिखित कुमारगुप्त से तात्पर्य कुमारगुप्त (प्रथम) से है। उनकी धारणा है कि लेख के प्रथम छन्द में समुद्रगुप्त की, द्वितीय में चन्द्रगुप्त (द्वितीय) की और तृतीय में कुमारगुप्त (प्रथम) की प्रशस्ति रही होगी। इसके आगे के छन्दों में

१. दि इम्पीरियल गुप्ताज, पृ० ४३–४४
२. ज० बि० रि० सो०, ४९, पृ० १७१–७२ : पृ० १७५, टि० १

कुमारगुप्त (प्रथम) के उत्तराधिकारियों में से किसी की प्रशस्ति रही होगी। यदि उनके ये दोनों अनुमान ठीक हों तो इन लेखों का सम्बन्ध कुमारगुप्त (द्वितीय) से जोड़ना किसी प्रकार भी सम्भव न होगा। उस अवस्था में वे बुधगुप्त, नरसिंहगुप्त अथवा पुरुगुप्तके किसी अन्य पुत्रके होंगे। सोहोनी उनके नरसिंहगुप्त कालीन होने का अनुमान करते हैं।

बुधगुप्त के अभिलेख

अब तक बुधगुप्त के राज-काल के निम्नलिखित आठ अभिलेख प्राप्त हुए हैं—

१-२. गुप्त संवत् १५७ के सारनाथ बुद्ध-मूर्ति लेख
३. गुप्त संवत् १५९ का पहाड़पुर ताम्र-लेख
४. गुप्त संवत् १५९ का राजघाट (वाराणसी) स्तम्भ-लेख
५. गुप्त संवत् १६३ का तृतीय दामोदरपुर ताम्र-लेख
६. चतुर्थ दामोदरपुर ताम्रलेख (तिथि अनुपलब्ध)
७. गुप्त संवत् १६५ का एरण स्तम्भ-लेख
८. गुप्त संवत् १६९ का नन्दपुर ताम्र-लेख।

१-२. सारनाथ बुद्ध-मूर्ति लेख—१९१४–१५ ई० में उत्खनन के समय सारनाथ से कुमारगुप्त (द्वितीय) के लेख वाली बुद्ध-मूर्ति के साथ दो अन्य बुद्ध मूर्तियाँ प्राप्त हुई थीं। आजकल ये मूर्तियाँ सारनाथ संग्रहालय में हैं। इन दोनों ही मूर्तियों पर समान रूप से एक ही लेख है; पर दोनों ही मूर्तियों के लेख खण्डित हैं। दोनों के लेखों को साथ जोड़ने पर ही लेख का पूरा रूप प्रकट होता है। इन्हें एच० हारग्रीव्ज ने प्रकाशित किया है।[1]

इन अभिलेखों में बुधगुप्त के शासनकाल में गुप्त संवत् १५७ के वैशाख कृष्ण ७ को (**गुप्तानांसमतिक्रान्ते सप्तपंचाशदुत्तरे शते समानां पृथ्वीं बुधगुप्तो प्रशासति, वैशाख मास सप्तम्यां**) लेखांकित बुद्ध-मूर्तियों के भिक्षु अभयमित्र द्वारा प्रतिष्ठित किये जाने का उल्लेख है।

३. पहाड़पुर ताम्र-लेख—जिस ताम्रफलक पर यह लेख अंकित है, वह १९२७ ई० में राजशाही (पूर्वी बंगाल) जिला अन्तर्गत बादलगाछी थाना के पहाड़पुर नामक स्थान पर उत्खनन करते समय काशीनाथ नारायण दीक्षित को महाविहार के आँगन में मिला था। उन्होंने इसे प्रकाशित किया है।[2]

इस लेख में कहा गया है कि वटगोहाली स्थित जैनाचार्य गुहनन्दि के विहार में अतिथि-शाला निर्माण करने तथा अर्हत की पूजा के आवश्यक उपादान, यथा—चन्दन, सुगन्धि, पुष्प, दीप आदि की स्थायी व्यवस्था के निमित्त तीन दीनार मूल्य पर

१. आ० स० इ०, ए० रि०, १९१४-१५, पृ० १२५
२. ए० इ०, २०, पृ० ६१

नागरट्ट मण्डल, दक्षिणांशक वीथी अन्तर्गत चार ग्रामों में स्थित एक कुल्यवाप चार द्रोण भूमि क्रय के निमित्त पुण्ड्रवर्धन के प्रशासकों के सम्मुख ब्राह्मण नाथशर्मा और उनकी पत्नी रामी की ओर से निवेदन प्रस्तुत किया गया था। उस निवेदन को ७ माघ (गुप्त) संवत् १५९ को अधिकारियों ने स्वीकार किया। इसमें शासक का उल्लेख नहीं है।

४. राजघाट (वाराणसी) स्तम्भ-लेख—यह अभिलेख पत्थर के चार फुट चार इंच ऊँचे एक ऐसे स्तम्भ पर अंकित है जिसके चारों ओर विष्णु के चार अवतारों की मूर्तियाँ उकेरी हुई हैं। यह स्तम्भ वाराणसी नगर के बाहरी ओर काशी रेलवे स्टेशन के निकट ग्रैण्ड ट्रंक रोड के मार्ग परिवर्तन व्यवस्था के समय राजघाट में १९४१ ई० में प्राप्त हुआ था और अब भारत कला भवन (काशी विश्वविद्यालय) में है। इसे दिनेशचन्द्र सरकार ने प्रकाशित किया है।[१]

इस अभिलेख में उस स्तम्भ के, जिस पर वह उत्तीर्ण है, महाराजाधिराज बुधगुप्त के शासन काल में २८ मार्गशीर्ष (गुप्त) संवत् १५९ को पार्वरिक निवासिनी साभाटि और मारविष्र (?) की पुत्री दामस्वामिनी द्वारा स्थापित किये जाने का उल्लेख है।

५. तृतीय दामोदरपुर ताम्र-लेख—दामोदरपुर (जिला दीनाजपुर, पूर्वी बंगाल) से १९१५ ई० में जो पाँच ताम्र-लेख प्राप्त हुए थे उनमें से यह एक है और इसका विषय भी वही है जो अन्य चार लेखों का है। इसको राधा गोविन्द बसाक ने प्रकाशित किया है।[२]

इस अभिलेख में कहा गया है कि १३ आषाढ़ (गुप्त) संवत् १६३ को, जब बुधगुप्त का शासन था और महाराज ब्रह्मदत्त पुण्ड्रवर्धन भुक्ति के उपरिक थे, चण्डग्राम के कतिपय ब्राह्मणों के निवास-व्यवस्था के निमित्त ग्रामिक नाभाक ने एक कुल्यवाप खिल भूमि क्रय करने का जो निवेदन प्रस्तुत किया था, वह प्रचलित दर से मूल्य लेकर स्वीकार किया गया।

६. एरण स्तम्भ-लेख—यह अभिलेख लाल पत्थर के बने एक लम्बे स्तम्भ के, जो सागर (मध्य प्रदेश) जिला अन्तर्गत एरण ग्राम से आधा मील पर स्थित प्राचीन मन्दिर समूहों के निकट खड़ा है, निचले चौकोर भाग पर अंकित है। इसे १८३८ ई० में कैप्टेन टी० एस० बर्ट ने ढूँढ़ निकाला था। उसी वर्ष प्रिंसेप ने इसका पाठ और अँगरेजी अनुवाद प्रकाशित किया।[३] १८६१ ई० फिट्ज एडवर्ड हाल ने अपना नया

---

१. ज० ए० सो० बं०, १५, पृ० ५

२. ए० इ०, १५, पृ० १३४

३. ज० बं० ए० सो०, ७, पृ० ६३३ : प्रिन्सेप्स एसेज, १, पृ० २४९

पाठ और अनुवाद प्रकाशित किया।[1] १८८० ई० में कनिंगहम ने इसे दुबारा प्रकाशित किया।[2] तदनन्तर फ्लीट ने इसका सम्पादन किया।[3]

इस अभिलेख में कहा गया है कि बुधगुप्त के राज्यकाल में, जिन दिनों सुरश्मिचन्द्र कालिन्दी (यमुना) और नर्मदा के बीच के प्रदेश के शासक थे, गुरुवार, आषाढ़ शुक्ल द्वादशी, (गुप्त) संवत् १६५ को महाराज मातृविष्णु और उनके छोटे भाई धन्यविष्णु ने जनार्दन (विष्णु) का ध्वज-स्तम्भ स्थापित किया। भारतीय इतिहास में ज्ञात यही प्राचीनतम अभिलेख है जिसमें तिथि के साथ वार का उल्लेख हुआ है।

७. चतुर्थ दामोदरपुर ताम्र-लेख—यह अभिलेख पूर्वोल्लिखित ताम्रलेख तथा तीन अन्य ताम्रलेखों के साथ १९१५ ई० में दामोदरपुर में प्राप्त हुआ था। राधागोविन्द बसाक ने इसका सम्पादन किया है।[4] दिनेशचन्द्र सरकार ने इसमें प्रयुक्त कतिपय शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत की है।[5]

इस अभिलेख में नगरश्रेष्ठि ऋभुपाल द्वारा कोकमुखस्वामी और श्वेतवराहस्वामी नामक देवताओं के लिए (जिन्हें उन्होंने पहले हिमवच्छिखर स्थित डोंगग्राम में ग्यारह कुल्यवाप भूमि भेंट किया था) एक नामलिंग, दो देवकुल और दो कोष्ठक बनवाने के निमित्त भूमि-क्रय करने के लिए किये गये निवेदन की स्वीकृति है। इसे पुण्ड्रवर्धन भुक्ति के उपरिकमहाराज जयदत्त, कोटिवर्ष विषय के आयुक्तक शण्डक (अथवा षण्डक) ने बुधगुप्त के शासन काल में अज्ञात गुप्त वर्ष के (ताम्रलेख का यह अंश नष्ट हो गया है) १५ फाल्गुन को विज्ञप्त किया था।

८. नन्दपुर ताम्रलेख—इस ताम्रलेख के सम्बन्ध में कहा जाता है कि यह मुँगेर (बिहार) जिला अन्तर्गत सूरजगढ़ा से दो मील उत्तर-पूर्व स्थित नन्दपुर नामक ग्राम में एक जीर्ण मंदिर की ताक में जड़ा हुआ था। वहाँ वह १९२९ ई० में कलकत्ता के गणपति सरकार को प्राप्त हुआ और न० ज० मजूमदार ने इसका सम्पादन किया।[6] अभी हाल में श्रीधर वासुदेव सोहनी ने मजूमदार द्वारा व्यक्त विचार की आलोचना की है।[7]

इस विज्ञप्ति को अखिल अग्रहार से संव्यवहारियों और कुटुम्बियों ने प्रकाशित करते हुए कहा है कि विषयपति छत्रमह ने पटपूरण अग्रहार अन्तर्गत नन्द वीथी निवासी किसी ब्राह्मण को (जिसका नाम लेख में स्पष्ट नहीं है पर उसके अन्त में स्वामिन् है) पंचयज्ञप्रवर्तन के लिए दान देने के निमित्त जंगोयिक नामक ग्राम में दो दीनार प्रति

---

१. ज० इं० ए० सो०, ३०, पृ० १७ : ३१, पृ० १२७।
२. क० आ० स० रि०, १०, पृ० ८२
३. का० इ० इ०, ३, पृ ८९
४. ए० इ०, १५, पृ० १३८
५. इ० क०, ५, पृ० ४३७
६. ए० इ०, २३, पृ० ५२
७. ज० बि० रि० सो०, ५०, पृ० १२६-१२९

कुल्यवाप की दर से ४ कुल्यवाप खिल भूमि क्रय करने की इच्छा प्रकट की है; और उसकी इस इच्छा को उन लोगों ने स्वीकार कर लिया है। इसमें (गुप्त) संवत् १६९ के वैशाख शुक्ल ८ की तिथि है किन्तु शासक का उल्लेख नहीं है।

यह लेख इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि विषयपतिको, स्वयं प्रार्थी होने पर भी भूमिक्रय के निमित्त सभी नियमों का विधिवत पालन करना पड़ा था।

वैन्यगुप्त का अभिलेख—वैन्यगुप्त के शासनकाल का केवल एक अभिलेख ज्ञात है और वह ताम्रलेख है। वह १९२५ ई० में टिपरा (पूर्वी बंगाल) जिला अन्तर्गत कुमिल्ला से १८ मील पर स्थित गुनइघर नामक स्थान में तालाब की भराई करते समय मिला था। इस ताम्रलेख में मुद्रा लगी हुई है जिस पर बायीं ओर को बैठा वृष अंकित है और उसके नीचे **महाराज श्री वैन्यगुप्त**; लिखा है। इसे दि० च० भट्टाचार्य ने प्रकाशित किया है।[1]

अभिलेख में कहा गया है कि अपने अनुचर (**अस्मत्पादद्दास**) महाराज रुद्रदत्त के अनुराध पर भगवान् महादेव-पादानुध्यात महाराज वैन्यगुप्त ने अपने जयस्कन्धावार क्रीपुर से जारी किये गये इस शासन द्वारा आचार्य शान्तिदेव द्वारा निर्माण कराये जाने वाले बौद्ध महायान वैवर्तिक सम्प्रदाय के अवलोकितेश्वराश्रम विहार को ११ पाटक (एक पाटक ५ कुल्यवाप अथवा ४० द्रोणवाप के समान होता था) भूमि उत्तर-मण्डान्तर्गत कान्तेडदक ग्राम में प्रदान किया। दान का उद्देश्य पूजा के निमित्त सुगन्ध, पुष्प, दीप आदि का स्थायी प्रबन्ध और रोगियों को वस्त्र, भोजन, शैय्या, औषधि आदि की सहायता तथा विहार की मरम्मत के निमित्त समुचित साधन प्रस्तुत करना था। इस शासन के दूतक थे—**महाप्रतिहार, महापीलुपति, पंचाधिकरणोपरिक, पाठ्युपरिक (––) पुरपालोपरिक महाराज श्री महासामन्त विजयसेन** और वह (गुप्त) वर्ष १८८ के २४ पौष को विज्ञप्त किया गया था।

इस अभिलेख के सम्बन्ध में द्रष्टव्य यह है कि शासक वैन्यगुप्त, उनका अनुचर रुद्रदत्त और शासन का दूतक विजयसेन, तीनों ही का उल्लेख समान उपाधि महाराज के साथ हुआ है। यह भी उल्लेखनीय है कि वैन्यगुप्त को **भगवान महादेव पादानुध्यात** कहा गया है और उसकी मुद्रा पर गुप्त शासकों के चिह्न गरुड़ के स्थान पर वृषभ है। यही नहीं, उसकी मुद्रा पर अन्य गुप्त-मुद्राओं की तरह पूरा वंश वृत्त न होकर केवल उसका नाम है।

भानुगुप्त का अभिलेख—सागर (मध्य प्रदेश) जिला अन्तर्गत एरण से आध मील दक्षिण-पूर्व वीणा नदी के बायें किनारे पर स्थित एक छोटा सा स्तम्भ है जिसे लोगों ने शिवलिंग का रूप दे दिया है। इस स्तंभ का निचला भाग अठपहल है। इस अठपहल अंश के ऊपरी भाग के तीन पहलों में यह अभिलेख उत्कीर्ण है। मात्र इसी अभिलेख से भानुगुप्त का नाम ज्ञात होता है। इसे कनिंगहम ने १८७४-७५ अथवा

---

१. इ० हि० क्वा०, ६, पृ० ४५

१८७६–७७ ई० में खोज निकाला और १८८० ई० में प्रकाशित किया गया था।[1] पश्चात् फ्लीट ने इसका सम्पादन किया।[2]

इस लेख में कहा गया है कि उस स्थान पर, जहाँ स्तंभ लगा है, शरभराज के दौहित्र प्रशुल्क (अथवा दिनेशचन्द्र सरकार के सुझाव के अनुसार अशुल्क[3]) वंश के राजा माधव के पुत्र गोपराज की पत्नी सती हुई। यह भी बताया गया है कि गोपराज वहाँ जगत्प्रवीर राजा महान् पार्थसमोतिशूर श्री भानुगुप्त के साथ आया था और युद्ध करते हुए मारा गया। इस पर श्रावण कृष्ण ७ (गुप्त) संवत् १९१ की तिथि है।

विष्णुगुप्त का अभिलेख—अभी तक ऐसा कोई अभिलेख प्राप्त नहीं हुआ है जिसे निश्चित रूप से विष्णुगुप्त अथवा उसके काल का कहा जा सके। किन्तु अनुमान किया जा सकता है कि पंचम दामोदरपुर ताम्र लेख इसी के काल का होगा।

१९१५ ई० में दामोदरपुर में जो पाँच ताम्र-लेख मिले थे, उन्हीं में से यह अंतिम है। इसका विषय भी उन्हीं चारों के समान भू-विक्रय की विज्ञप्ति है। यह ५ भाद्र (गुप्त) संवत् २२४[4] को पुण्ड्रवर्धन भुक्ति के उपरिक महाराज राजपुत्र देवभट्टारक और कोटिवर्ष विषय के विषयपति स्वयंभुदेव के समय में विज्ञप्त किया गया था। इस लेख में तत्कालीन शासक का भी नामोल्लेख है किन्तु दुर्भाग्यवश उनके नाम का पूर्वांश अभिलेख में स्पष्ट नहीं है। इसके द्वारा श्वेतवराहस्वामिन् के मंदिर की मरम्मत और बलि, चरु, सत्र आदि दैनिक पूजा व्यवस्था के स्थायी प्रबन्ध के निमित्त अयोध्या निवासी कुलपुत्र अमृतदेव को ५ कुल्यवाप भूमि क्रय करने का स्वीकृति दी गयी है।

लेख में शासक के नाम का पूर्वांश न होने और तिथि के २२४ के स्थान पर २१४ पढ़ने के कारण राधा गोविन्द बसाक ने इस अभिलेख को (गुप्त) वर्ष १९१ वाले एरण स्तंभ-लेख से ज्ञात भानुगुप्त का बताया था।[5] किन्तु जब तिथि अपने शुद्ध रूप में २२४ पढ़ी गयी तब हीरानन्द शास्त्री ने यह अभिमत प्रकट किया कि पंक्ति के अंत में, जहाँ शासक के नाम के पूर्वांश होने की सम्भावना है, कुमार पढ़ा जा

१. क० आ० स० रि०, १०, पृ० ८९
२. का० इ० इ०, ३, पृ० ९१
३. सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ३६६, इस नाम के तीन अक्षरों में से तीसरे को फ्लीट ने क्ष पढ़ा है और दूसरे अक्षर को संदेह भाव से 'ल' (का० इ० इ० ३, पृ० ९२)।
४. बसाक ने, जिन्होंने इस अभिलेख का सम्पादन किया है, इसको २१४ पढ़ा था (ए० इ०, १५, पृ० १४२), पीछे काशीनाथ नारायण दीक्षित ने इसका सुधार २२४ के रूप में किया (ए० इ०, पृ० १७, पृ० १९३)।
५. ए० इ०, १५, पृ० ११५ आगे

सकता है।[1] य० र० गुर्ते, न० क० भट्टशाली[2] और राधाकुमुद मुकर्जी[3] ने उनके इस मत को स्वीकार कर, शासक को नरसिंहगुप्त-पुत्र कुमारगुप्त के रूप में पहचाना। र० न० दाण्डेकर[4] और दिनेशचन्द्र सरकार[5] ने इस कुमारगुप्त को परवर्ती गुप्तवंश का अनुमान किया। यद्यपि सरकार ने इस मत का प्रतिपादन किया है तथापि वे इसकी सम्भावना कम ही मानते हैं। उन्होंने उपगुप्त नाम होने की भी कल्पना प्रस्तुत की है। ब० स० सेन ने इस अभिलेख को उत्तरवर्ती गुप्तवंश के दामोदरगुप्त का बताया है।[7] हेमचन्द्र रायचौधुरी का सुझाव रहा है कि यह कृष्णगुप्त, हर्षगुप्त अथवा जीवितगुप्त में से किसी का भी हो सकता है; पर किसका, इसके सम्बन्ध में वे स्वयं कुछ कह सकने में असमर्थ रहे।[8] वे अपने इस मत में स्थिर भी न थे। उनका यह भी कहना था कि अनुपलब्ध नाम वाला शासक विद्वानों को ज्ञात दोनों गुप्त वंशों में से किसी का अथवा किसी नये वंश का हो सकता है।[9] रमेशचन्द्र मजूमदार ने इसे परवर्ती गुप्त वंश का, जो छठीं शताब्दी के अन्त तक उत्तरी बंगाल पर अपना अधिकार जताता रहा, बताया है।[10]

इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य यह है कि यह अभिलेख इसके साथ मिले अन्य ताम्र-लेखों से किसी प्रकार भिन्न नहीं है। यह तथ्य ही स्वतः सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि वह किसी भी प्रकार परवर्ती गुप्तवंश के किसी शासक का नहीं हो सकता। परवर्ती गुप्तवंश के किसी भी शासक ने अपने अभिलेखों में महत्ता घोषित करने वाली ऐसी कोई भी उपाधि धारण नहीं की है, जैसा कि इस लेख में उपलब्ध है। इस कारण इस बात में तो सन्देह किया ही नहीं जा सकता कि यह लेख सम्राट् गुप्त वंश के ही किसी शासक का है।

अतः यह सुझाव कि यह अभिलेख नरसिंहगुप्त-पुत्र कुमारगुप्त (तृतीय) के राज्यकाल का है, माननीय हो सकता है; किन्तु इसके स्वीकार करने में कठिनाई यह है कि शासक के नाम के पूर्वांश के लिए ताम्र-पत्र में इतनी कम जगह है कि उसमें दो से अधिक अक्षरों के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। अब तक दो अक्षरवाले नाम के दो ही परवर्ती शासक गुप्त वंश में ज्ञात होते हैं—भानुगुप्त और विष्णुगुप्त।

---

१. वही, १७, पृ० १९३, टि० १
२. ज० इ० हि०, ४, पृ० ११८
३. ए० इ०, १७, पृ० ८४
४. दि गुप्त इम्पायर, पृ० १२८
५. ए हिस्ट्री ऑव द गुप्ताज, पृ० १७१
६. सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ३३७, टि० ४
७. सम हिस्टॉरिकल आस्पेक्ट्स ऑव द इन्सक्रिप्शन्स ऑव बंगाल, पृ० १९७
८. पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव ऐन्शियण्ट इण्डिया, ५ वाँ सं०, पृ० ६००-०१
९. वही, पृ० ६०१, टि० १
१०. हिस्ट्री ऑव बंगाल, १, पृ० ४९

किन्तु भानुगुप्त के सम्बन्ध में अब तक कोई ऐसे प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं जिनसे उसके सम्राट् रूप में शासनारूढ़ होने की बात प्रकट होती हो। यदि वह शासनारूढ रहा भी हो तो भी यह किसी प्रकार भी सम्भव नहीं जान पड़ता कि वह गुप्त संवत् २२४ तक शासन करता रहा। अतः अधिक सम्भावना इसी बात की है कि यह ताम्र-शासन विष्णुगुप्त के राज्य-काल का ही होगा।[1]

हरिराज का अभिलेख—बाँदा जिला (उत्तर प्रदेश) अन्तर्गत इच्छावर ग्राम के धनेश्वर खेड़ा में एक कास्य-मूर्ति गत शताब्दी में मिली थी। उस पर जो दाना-ल्लेख अंकित है, उससे गुप्त-वंशोद्भित श्री हरिराज नामक एक शासक का पता मिलता है। उसकी रानी महादेवी ने इस मूर्ति को प्रतिष्ठित किया था। किन्तु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उसका सम्बन्ध सम्राट् गुप्त वंश से था।

इस लेख को १८९५ ई० में विन्सेण्ट स्मिथ और होये ने प्रकाशित किया था।[2] अभी हाल में दिनेशचन्द्र सरकार ने इसे पुनः प्रकाशित किया है।[3] इस लेख में कोई तिथि नहीं है।

गुप्त-कालीन अन्य अभिलेख

उपर्युक्त अभिलेखों के अतिरिक्त कुछ अन्य तिथियुक्त ऐसे अभिलेख हैं, जिनका समय गुप्त-काल में पड़ता है; किन्तु इन अभिलेखों में सम-सामयिक शासकों का उल्लेख नहीं है। साथ ही उनकी अन्य बातें भी विशेष महत्व की नहीं हैं; अतः हमने उनकी चर्चा नहीं की है। इस प्रकार के कुछ अभिलेख निम्नलिखित हैं:—

१—संवत् १३१ का साँची शिला-लेख[4]
२—संवत् १३५ का मथुरा मूर्ति-लेख[5]
३—संवत् ३३० का मथुरा मूर्ति-लेख[6]

समसामयिक वंशों के अभिलेख—समसामयिक वंशों के कतिपय अभिलेखों से गुप्त-वंश के इतिहास पर पार्श्व-प्रकाश पड़ता है। ऐसे अभिलेखों में निम्नलिखित महत्व के हैं:—

१. वाकाटक वंशीय अभिलेख—वाकाटक रानी प्रभावतीगुप्ता ने अपने कतिपय अभिलेखों में अपना परिचय पितृकुल के माध्यम से दिया है। इन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि वह चन्द्रगुप्त द्वितीय की कुबेरनागा नाम्नी नाग-कुलीन महिषी की

---

१. यही मत वि० प्र० सिनहा (डिक्लाइन ऑव द किंगडम ऑव मगध, पृ० १०६) और ए० एल० बैशम० का भी है।
२. ज० ए० सो० बं०, ४४, पृ० १५९
३. ए० इ०, ३३, पृ० ९७
४. मानुमेण्ट्स ऑव साँची, १, पृ० ३९०
५. कॉ० इ० इ०, ३, पृ० २६२
६. वही, पृ० २७३

पुत्री थीं। उनसे यह भी ज्ञात होता है गुप्त शासक धारण-गोत्रीय थे।[1] कुछ अभिलेखों में उन्होंने अपने को **महाराजाधिराज श्री देवगुप्त सुता** बताया है।[2] इन से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय का अपर नाम देवगुप्त भी था।

२. कदम्ब-कुलीन अभिलेख—कदम्ब-कुलीन ककुस्थवर्मन के तालगुण्डा अभिलेख से ज्ञात होता है कि उन्होंने अपनी बेटियाँ गुप्त-वंश में तथा अन्य राजाओं के साथ बिवाही थीं।[3]

३. औलिकर (वर्मन) वंश के अभिलेख—इन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) और कुमार गुप्त (प्रथम) के राज्य-काल में मन्दसोर के आस-पास के मालवा के अधिकांश भू-भाग पर औलिकर (वर्मन) वंश के लोग शासन कर रहे थे। इन अभिलेखों में इन शासकों का यशोगान स्वतन्त्र शासक के रूप में किया गया है।[4] कुमार गुप्त (प्रथम) के मालव संवत् ४९३ वाले अभिलेख के प्रकाश में इन लेखों के देखने से मालव-क्षेत्र में गुप्तों की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है।

४. तोरमाण और मिहिरकुल के अभिलेख—एरण से प्राप्त एक वराह-मूर्ति के अभिलेख में हूण शासक तोरमाण और उसके प्रथम वर्ष का उल्लेख है। इसमें दिवंगत महाराज मातृविष्णु के छोटे भाई धन्यविष्णु द्वारा वराह-विष्णु के निमित्त मन्दिर निर्माण कराये जाने का उल्लेख है।[5] बुद्धगुप्त के शासन काल के वर्ष १६५ वाले एरण स्तम्भ लेख में धन्यविष्णु और मातृविष्णु दोनों के जीवित होने का उल्लेख है। उस लेख के प्रकाश में इस लेख को देखने से गुप्तों के मालवा से हटने की बात पर प्रकाश पड़ता है। ग्वालियर से मिहिरकुल के शासनकाल का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है जो उसके शासन काल के पन्द्रहवें वर्ष का है।[6] वह भी द्रष्टव्य है।

५. यशोधर्मन के अभिलेख—मन्दसोर से प्राप्त ५८९ मालव संवत् के एक अभिलेख में **जनेन्द्र यशोधर्मन** का उल्लेख है।[7] उसी स्थान से यशोधर्मन का एक दूसरा अभिलेख प्राप्त हुआ है,[8] जिसमें उसका यशो-गान करते हुए कहा गया है:—

---

१. वर्ष १३ का पूना ताम्र लेख (ए० इ०, १५, पृ० ४१); वर्ष १९ का रिद्धपुर ताम्र-लेख (ज० प्रो० ए० सो० बं०, २०, न० सी०, पृ० ५८)

२. वर्ष १८ का चम्मक ताम्र-लेख (का० इ० इ०, ३, पृ० २३६)

३. ए० इ०, ८, पृ० ३१

४. ४६१ वि० स० का नरवर्मन का मन्दसोर लेख (ए० इ०, १२, पृ० ३१५; १४, पृ० ३७१); ४७४ वि० स० का नरवर्मन का बिहार कोटरा लेख (ए० इ०, २६, पृ० १३१ : ज० बि० उ० रि० सो० २९, पृ० १२७); ४८० वि सं० का विश्ववर्मन का गंगधर लेख (का० इ० इ०, ३, पृ० ७२,

५. का० इ० इ०, ३, पृ० ३९६

६. वही, पृ० १६२

७. वही, पृ० १५२

८. वही, पृ० ३९६

ये भुक्ता गुप्त-नाथैर्न्न सकल-वसुधाक्रान्ति-दृष्ट-प्रतापै-
र्नाज्ञा हूणाधिपानां क्षितिपति-मुकुटाध्यासिनि यान्प्रविष्टा।
देशांस्तान्धन्व-शैल-द्रुम-गहन-सरिद्वीरबाहूपगूढा-
न्वीर्यावस्कन्न-राज्ञः स्व-गृह-परिसरावज्ञया यो भुनक्ति ॥
आ लौहित्योपकण्ठात्तलवन-गहनोपत्यकादा महेन्द्रा-
दागंगाश्लिष्ट-सानोस्तुहिनशिखरिणः पश्चिमादा पयोधेः ।
सामन्तैर्यस्य बाहु-द्रविण-हृत-मदैः पादयोरानमद्भि-
श्चूडा-रत्नांशु-राजि-व्यतिकर-शबला भूमि-भागाः क्रियन्ते ॥
स्थाणोरन्यत्र येन प्रणति-कृपणतां प्रापितं नोत्तमांगं-
यस्याश्लिष्टो भुजाभ्यां वहति हिमगिरिर्दुर्ग-शब्दाभिमानम् ।
नीचैस्तेनापि यस्य प्रणति-भुजबलावर्ज्जन-क्लिष्ट-मूर्द्धा-
चूडा-पुष्पोपहारैर्म्मिहिरकुल-नृपेणार्च्चितं पाद-युग्मं ॥

इन पंक्तियों से ज्ञात होता है कि यशोधर्मन ने गुप्त और हूण शासकों से कहीं अधिक भू-भाग पर विजय प्राप्त किया था। इससे ऐसा भी प्रकट होता है कि गुप्तों और हूणों के बाद यशोधर्मन ने मध्य भारत पर अधिकार किया और लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) से लेकर पश्चिमी सागर तक और हिमालय से लेकर महेन्द्र पर्वत तक सारा उत्तर भारत उसके राज्य के अन्तर्गत था। इसमें यह भी कहा गया है कि स्थाणु (शिव) भक्त मिहिरकुल भी, जिसकी राजधानी हिमालय के क्षेत्र में थी, उसका पाँव पूजता था।

गुप्त संवत् के उल्लेख से युक्त अभिलेख

अनेक ऐसे लेख हैं, जिनमें गुप्त शासकों का तो उल्लेख नहीं है, पर उनमें गुप्तों से सम्बन्ध रखने वाले संवत् की स्पष्ट चर्चा है। इनसे ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तों का सम्बन्ध उन क्षेत्रों से था, जिनसे इन लेखों का सम्बन्ध है; और तद्देशीय शासक अथवा उनके पूर्वज गुप्तों की अधीनता स्वीकार करते थे।

१. परिव्राजकों के अभिलेख—आधुनिक बघेलखण्ड कहे जाने वाले भूभाग पर १५६ और २१४ गुप्त संवत् के बीच परिव्राजक वंशीय शासकों का अधिकार था। उन्होंने जो शासन प्रसारित किये हैं, उनमें तिथियों के लिए उन्होंने गुप्त-नृप-राज भुक्तौ का प्रयोग किया है।[1]

२. भीमसेन का आरंग अभिलेख—शूर-वंशी भीमसेन का एक ताम्रशासन छत्तीसगढ़ में बिलासपुर और रायपुर के बीच स्थित आरंग नामक स्थान में मिला था। इसमें **गुप्तानां संवत्सरे शते २०० ८० २ भाद्र दि १०८** का उल्लेख है।[2]

---

१. कॉ० इ० इ०, पृ० ९३—१०५; ए० इ०, ८, पृ० २८४; २१, पृ० १२४; २८, पृ० २६४
२. ए० इ०, ९, पृ० ३४२

३. उड़ीसा से प्राप्त ताम्र-लेख—उड़ीसा में तीन भिन्न स्थानों से तीन ताम्र-लेख प्राप्त हुए हैं, जिनमें तिथि की चर्चा करते हुए गुप्तों का उल्लेख इस प्रकार है:

(क) **चतुरुदधिमेखलायां सप्तद्वीपपर्वतसरित्पत्तनभूषणायां वसुन्धरायां वर्तमाने गुप्तराज्ये वर्षे शतद्वये पंचाशदुत्तरे कलिंगराष्ट्रमनुशासति श्री पृथिवी-विग्रह भट्टारके।**[1]

(ख) **चतुरुदधिसलिलवीचिमेखलानीलिमायां सद्वीपनगरगिरिपत्तनवत्या वसुन्धरायां गौप्तकाले २८० शतमशीत्युत्तरायां तोमलयायामष्टादशाधिराज्य या परमदैवताधिदैवत श्री लोकविग्रहभट्टारक महासामन्तो......**[2]

(ग) **चतुरुदधिसलिलवीचिमेखलानीलिमायां सद्वीपनगरपत्तनवत्या वसुन्धरायां गौप्ताब्दे वर्षशतत्रये वर्तमाने महाराजाधिराज श्री शशांकराज्ये।**[3]

उपर्युक्त पंक्तियों का कुमार गुप्त प्रथम के मन्दसोर अभिलेख की निम्नलिखित पंक्तियों के साथ अद्भुत समानता है।

चतुःसमुद्रान्तविलोलमेखलां सुमेरुकैलासबृहत्पयोधराम्।
वनान्तवान्तस्फुटपुष्पहासिनीं कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति॥[4]

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त शासन गुप्त शासन-व्यवस्था से प्रभावित थे। इस प्रकार वे इस बात का संकेत प्रस्तुत करते हैं कि उड़ीसा गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत था। प्रथम शासन से यह भी इंगित होता है कि संवत् २५० में गुप्त सम्राट् शासन कर रहे थे और कलिंग राष्ट्र उनके अन्तर्गत था। इसमें **वसुन्धरायां वर्तमान गुप्त राज्य** का प्रयोग है; किन्तु संवत् २८० तक गुप्त राज्य लुप्त हो गया था, यह दूसरे शासन से प्रकट होता है। उसकी शब्दावली है—**वसुन्धरायां गौप्त काले।**

४. तेजपुर चट्टान लेख—आसाम में तेजपुर नगर के निकट ब्रह्मपुत्र के किनारे एक चट्टान पर एक लेख अंकित है जिसमें स्थानीय अधिकारियों और नाविकों के बीच कर-सम्बन्धी विवाद का निर्णय है। इस अभिलेख के अन्त में तिथि के रूप में **गुप्त ५१०** लिखा है और तत्कालीन शासक के रूप में हर्ज्जरवर्मन का उल्लेख है।[5] समझा जाता है कि इस लेख में **गुप्त ५१०** का तात्पर्य **गुप्त संवत् ५१०** है।

अनुमानित गुप्त संवत् युक्त अभिलेख

कुछ ऐसे भी अभिलेख हैं जिनमें इस बात का कोई संकेत नहीं है कि उनमें किस संवत् का प्रयोग हुआ है; किन्तु विद्वानों का अनुमान है कि उनमें दी गयी तिथियाँ गुप्त संवत् की द्योतक हैं:—

---

१. सुमण्डल ताम्र-लेख (उ० हि० रि० ज०, १, पृ० ६६; ए० इ०, २८, पृ० ७९)
२. कनास ताम्रलेख (उ० हि० रि० ज०, ३, पृ० २१६ : ए० इ०, २८, पृ० ३३१)
३. गंजाम ताम्रलेख (ए० इ०, ६, पृ० १४३)
४. कॉ० इ० इ०, ३, पृ० १४६
५. ज० बि० उ० रि० सो, ३, पृ० ५११

१ **नन्दन का अमौना ताम्र-लेख**—गया (बिहार) जिला अन्तर्गत दाऊदनगर से दो मील उत्तर अमौना ग्राम के निकट भेड़ियाबीघा के एक खेत में १९०७ ई० में यह ताम्र-लेख मिला था। इस लेख में देवगुरु-पादानुध्यात् महाराज नन्दन द्वारा ब्राह्मण रविशर्मन को मल्लयष्टिक नामक ग्राम दान करने का उल्लेख है। यह शासन पुद्गल नामक स्थान से २० माघ संवत् २३२ को विज्ञप्त किया गया था।[1] मगध की सीमा के भीतर प्राप्त होने पर भी गुप्तशासक का नामोल्लेख न होने से यह अनुमान किया जाता है कि इस समय तक बिहार से गुप्तों का अधिकार उठ गया था।

२. **मध्यभारत से प्राप्त लेख**—उच्छकल्प-वंश[2] और सुबन्धु[3], लक्ष्मण,[4] उदयन[5] नामक शासकों के अभिलेख मध्य-भारत के पूर्वी भाग के विभिन्न स्थानों में मिले हैं। यह भूभाग मूलतः गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत था। किन्तु इन अभिलेखों में न तो गुप्त शासकों का कोई उल्लेख है और न उनके संवत् का ही कोई संकेत। विद्वानों की धारणा है कि इस अभिलेखों में गुप्त संवत् का स्पष्ट उल्लेख न होने पर भी उनकी तिथियाँ गुप्त संवत् की ही हैं और ये अभिलेख गुप्त साम्राज्य के विघटन के द्योतक हैं।

३. **वलभी के मैत्रकों के अभिलेख**—वलभी अभिलेखों में मैत्रक-वंश के संस्थापक भटार्क और उसके पुत्र को मात्र सेनापति कहा गया है। सम्भवतः वे किसी सम्राट् के अन्तर्गत सौराष्ट्र के उपरिक अथवा गोप्ता (शासक) थे। भटार्क के कनिष्ट पुत्र द्रोणसिंह का उल्लेख उन्हीं अभिलेखों में महाराज के रूप में हुआ है और कहा गया है कि सम्राट् ने उन्हें स्वयं विधिवत् राजपद प्रदान किया था। वलभी लेख की तिथियों का संवत् अव्यक्त है; किन्तु अल-बरूनी ने भारतीय संवतों के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उससे ज्ञात होता है कि इन अभिलेखों की तिथियाँ गुप्त-संवत् के ही क्रम में हैं। इस प्रकार समझा जाता है कि इन लोगों ने गुप्त-संवत् का ही प्रयोग किया है और वे आरम्भ में गुप्तों के अधीन थे। गुप्त-सम्राटों के स्पष्ट उल्लेख का अभाव इस बात का द्योतक है कि उन्होंने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया था।

४. **गोपचन्द्र के अभिलेख**—जयरामपुर (जिला बालासोर, उड़ीसा),[6] मल्लसरूल (जिला बर्दवान, बंगाल)[7] और फरीदपुर (पूर्वी पाकिस्तान) जिले[8] से

---

१. ए० इ०, १०, पृ० ४९
२. कॉ० इ० इ०, ३, पृ० ११७ : ए० इ०, १९, पृ० १२९
३. ए० इ०, १९, पृ० २६२ : इ० हि० क्वा०, २१, पृ० ८१
४. आ० स० इ०, ए० रि०, १९३६-३७, पृ० ८८; ए० १०, २, पृ० ३६४।
५. ए० इ०, ४, पृ० २५७
६. उ० हि० रि० ज०, ११, पृ० २०६
७. ए० इ०, २३, पृ० १५९
८. इ० ए०, ३९, पृ० २०४

प्राप्त महाराजाधिराज गोपचन्द्र के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि छठीं शताब्दी ई० में गुप्तों का अधिकार दक्षिणी बंगाल से उठ गया था। मल्लसरूल अभिलेख, उसके तीसरे राजवर्ष का है। इसमें महाराजाधिराज गोपचन्द्र के राजकाल में महाराज विजयसेन द्वारा भूमि-दान का उल्लेख है। यही महाराज-महासामन्त विजयसेन वैन्यगुप्त के गुनइघर अभिलेख के दूतक थे। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि वैन्यगुप्त के समय अथवा उसके तत्काल बाद गोपचन्द्र ने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर ली थी। गोपचन्द्र के बाद धर्मादित्य,[1] समाचारदेव[2] आदि कुछ अन्य राजे हुए। उनका अस्तित्व इस बात का द्योतक है कि गुप्त सम्राट् इस भू-भाग पर फिर कभी अधिकार प्राप्त न कर सके।

गुप्त-सम्बन्धी अनुश्रुति-चर्चित परवर्ती अभिलेख

इन अभिलेख सामग्री के अतिरिक्त परवर्ती कुछ ऐसे भी अभिलेख हैं जिनमें गुप्त शासकों से सम्बन्धित अनुश्रुतियाँ अथवा स्वयं उनका उल्लेख है। इस प्रकार वे भी गुप्त-इतिहास के साधन प्रस्तुत करते हैं।

१. राष्ट्रकूट ताम्र-लेख—कतिपय राष्ट्रकूट ताम्रलेखों में अपने शासक का यशोगान करते हुए, बिना नामोल्लेख के चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के चरित्र पर छींटाकशी की गयी है।

शक वर्ष ७९५ के संजान अभिलेख[3] में अमोघवर्ष की प्रशंसा में कहा गया है—

हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद्देवीञ्च दीनस्तथा
लक्षं कोटिमलेखयन् किल कलौ दाता स गुप्तान्वयः।
येनात्याजितनुस्वराज्यमसकृद्बाह्यार्थकैः का कथा
ह्रीस्तस्योन्नति राष्ट्रकूटतिलको दातेति कीर्त्यामपि॥

इन पंक्तियों में स्पष्टतः रामगुप्त वाली घटना का संकेत है। इसी प्रकार गोविन्द चतुर्थ की प्रशंसा में शक संवत् ८५२ के खम्भात ताम्रलेख[4] और शक संवत् ८५५ के सांगली ताम्रलेख[5] में निम्नलिखित पंक्तियाँ हैं—

सामर्थ्ये सति निन्दिता प्रविहिता नैवाग्रजे क्रूरता।
बन्धुस्त्रीगमनादिभिः कुचरितैरावर्जितं ना यशः॥
शौचाशौचपराङ्मुखं न च भिया पैशाचमंगीकृते।
त्यागेनासम साहसंचभुवने यः साहसांकोऽभवत्॥

---

१. इ० ए०, ३९, पृ० १९३-२१६; ज० रा० ए० सो०, १९१२, पृ० ७१०
२. मे० आ० स० इ०, नं० ६६, पृ० ११
३. ए० इ०, १७, पृ० २४८
४. वही, ७, पृ० २६
५. इ० ए०, १२, पृ० २४९

यहाँ भी रामगुप्त वाली घटना से सम्बद्ध चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के चरित्र की ओर संकेत है। इसमें उल्लिखित साहसांक से चन्द्रगुप्त की पहचान भली प्रकार की जा सकती है।[१]

२. प्रकटादित्य का सारनाथ अभिलेख—सारनाथ के एक अभिलेख[२] में दो बालादित्यों का उल्लेख जान पड़ता है। उनमें से एक तो प्रकटादित्य का, जिसकी राजधानी काशी में थी, पिता था और दूसरा उसका कोई पूर्वज। लिपि की दृष्टि से लेख सातवीं शताब्दी का जान पड़ता है। कुछ विद्वान ज्येष्ठ बालादित्य को गुप्त-वंश का अनुमान करते हैं।

३. यशोवर्मन का नालन्दा अभिलेख—इस लेख में, जो छठीं शताब्दी ई० के पूर्वार्ध के बाद का नहीं माना जाता, अतुलित बलशील बालादित्य नामक राजा द्वारा नालन्दा में एक विशाल बौद्ध-मन्दिर बनवाने का उल्लेख है।[३] कुछ विद्वान इस बालादित्य को गुप्तवंश का राजा अनुमान करते हैं।

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, ४८, पृ० १०८

२. कॉ० इ० इ०, ३, पृ० २८४

३. नालन्द एण्ड इट्स एपीग्रैफिक मेटीरियल, पृ० ७३; ए० इ०, २०, पृ० ३७

मुहरें

आजकल हम अपने महत्वपूर्ण पत्रों को डाक मे भेजने के पहले लाख पर मुहर द्वारा छाप लगा कर सुरक्षित बना देते हैं ताकि रास्ते में दूसरा कोई खोल न ले। ठीक इसी प्रकार प्राचीन काल में भी सरकारी एवं निजी डाक को लोग मुहरबन्द किया करते थे। अन्तर केवल इतना था कि उस समय लाख की जगह गीली मिट्टी का प्रयोग होता था। डाक को रस्सी से चारों ओर बाँध कर गाँठ लगा देते थे और गाँठ के ऊपर गीली मिट्टी रख कर उसे पकी मिट्टी, हाथी दाँत अथवा किसी धातु की बनी मुहर से छाप देते थे। मिट्टी पर छापी गयी मुहरें, प्रायः सभी प्रमुख प्राचीन स्थानों में मिलती हैं और वे राजाओं, रानियों, राजकुमारों, राज-कर्मचारियों, व्यक्तियों, धार्मिक अथवा व्यापारिक संस्थाओं आदि सभी के हैं। उनका महत्व अभिलेखों के समान ही है पर उनसे बहुत अधिक सूचनाएँ नहीं मिलतीं। गुप्त शासकों की मुहरों का महत्व इस कारण है कि उनसे इन राजाओं के वंश-क्रम का ज्ञान होता है।

मुहरों का उपयोग न केवल सुरक्षा के लिए वरन् प्रामाणिकता प्रदान करने के निमित्त भी होता है। आजकल इस कार्य के लिए जिन मुहरों का प्रयोग होता है, वे उपर्युक्त मुहरों से सर्वथा भिन्न धातु अथवा रबड़ की बनी होती हैं और उनका प्रयोग कागजी दस्तावेजों पर होता है। प्राचीन काल में दस्तावेज ताम्र-पत्रों पर अंकित किये जाते थे। प्रामाणिकता के निमित्त ऐसे ताम्र-पत्रों को छल्ले में पिरोकर छल्ले पर पिघली हुई धातु रख दी जाती थी और उस पर प्रमाण बोधक मुहर छाप दी जाती थी। इस प्रकार की मुहरें अधिकांशतः ताम्रपत्रों के साथ ही जुड़ी मिलती है; पर कभी-कभी ऐसी मुहरें अपने ताम्रपत्रों से विलग भी पायी जाती हैं। इस प्रकार की मुहरों के आलेख प्रायः मिट्टी की मुहरों के समान होते हैं। जो मुहरें ताम्रपत्रों के साथ लगी मिली हैं, उनका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। यहाँ अन्य मुहरों का ही उल्लेख किया जा रहा है।

गुप्त-इतिहास की दृष्टि से निम्नलिखित मुहरें महत्त्व रखती हैं :—

१. भितरी से प्राप्त धातु की मुहर—यह मुहर चाँदी और ताँबे के मिश्र धातु की बनी है, जिसमें ६२.९७ प्रतिशत ताँबा, ३६.२२५ प्रतिशत चाँदी तथा सोने की हलकी सी झलक है। आकार में यह अण्डाकार, ऊपर नीचे नुकीली पौने-छ इञ्च लम्बी और साढ़े-चार इञ्च चौड़ी है। यह १८८६ ई० के आसपास गाजीपुर (उत्तर प्रदेश) जिले में सैदपुर के निकट भितरी ग्राम में मकान की नींव खोदते

समय प्राप्त हुई थी और आजकल लखनऊ संग्रहालय में है। यह मुहर किसी ताम्र-पत्र के साथ जुड़ी रही होगी किन्तु उस ताम्रपत्र के सम्बन्ध में अब तक कोई जानकारी प्राप्त नहीं है।[१]

मुहर दो भागों में विभक्त है। ऊपरी भाग में पंख फैलाये सम्मुख गरुड़ का उभरा हुआ अंकन है। उनका मानव रूपी मुख भरा हुआ और चौड़ा है, ओठ मोटे हैं; गले में एक साँप लिपटा हुआ है जिसका फण बायें कन्धे पर उठा हुआ है। गरुड़ के एक ओर चक्र और दूसरी ओर शंख है। अधोभाग में कुमारगुप्त (तृतीय) का उल्लेख उनकी पूरी वंश-परम्परा के साथ इस प्रकार है—

१. सर्व्वराजोच्छेत्तु पृथिव्यामप्रतिरथस्य महाराज श्री गुप्त प्रपौत्रस्य महाराज श्री घटोत्कच पौत्रस्य महा[-]
२. राजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त पुत्रस्य लिच्छवि दौहित्रस्य महादेव्यां कुमार-देव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज
३. श्री समुद्रगुप्तस्य पुत्रस्तत्परिगृहीतो महादेव्यां दत्तदेव्यामुत्पन्नस्स्वयंचा-प्रतिरथ परमभाग[-]
४. वतो महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुद्धयातो महादेव्यां ध्रुवदेव्यामुत्पन्नो महारा[-]
५. जाधिराज श्री कुमारगुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुद्धयातो महादेव्यामनन्त देव्यामुत्पन्नो महारा[-]
६. जाधिराज श्री पुरु[२]गुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुद्धयातो महादेव्यां श्री [चन्द्र[३]] देव्यामुत्पन्नो महा[-]
७. राजाधिराज श्री नरसिंहगुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुद्धयातो महादेव्यां श्री म[म्मित्र][४] दे[-]
८. व्यामुत्पन्न परमभगवतो महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्तः

---

१. ज० ए० सो० बं०, ५८, पृ० ८४

२. इस नाम को पहले लोगों ने 'पुर' पढ़ा था।

३. हार्नले ने, जिन्होंने इस मुहर को पहले पहल प्रकाशित किया था, इस नाम को वत्सदेवी पढ़ा था (ज० ए० सो० बं०, ५८, पृ० ८९)। फ्लीट का भी यही पाठ था (इ० ऐ०, १९, पृ० २२५)। किन्तु नालन्द से मुहरों की जो छापें मिली है, उन पर हीरानन्द शास्त्री ने इस नाम को वैन्यदेवी (नालन्द एण्ड इट्स एपीग्रफिक मेटीरियल, पृ० ६५) और न० प्र० चक्रवर्ती ने चन्द्रदेवी (अ० स० इ०, वा० रि०, १९३४–३५, पृ० ६३) पढ़ा है। चक्रवर्ती का ही पाठ ठीक जान पड़ता है।

४. हार्नले ने इस नाम को श्रीमती देवी (पू० उ०, पृ० ८९) और फ्लीट ने महालक्ष्मी ? देवी अथवा महादेवी पढ़ा है (पू० उ०, २२५), किन्तु नालन्द से प्राप्त मुहरों की दो छापों पर मित्र देवी स्पष्ट है।

इस मुहर का उल्लेख सर्वप्रथम विन्सेंट स्मिथ ने किया था।[1] तदनन्तर ए० एफ० आर० हार्नले ने उसे प्रकाशित किया।[2] पश्चात् फ्लीट ने उसके सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये और सम्पादित कर प्रकाशित किया।[3] इन सब लोगों ने इस मुहर को कुमारगुप्त (द्वितीय) की मुहर बताया है। कारण, उस समय तक कुमारगुप्त (तृतीय) के अस्तित्व की कल्पना न हो पायी थी।

२. **बसाढ़ से प्राप्त मिट्टी की मुहरें**—१९०३-०४ ई० के उत्खनन में बसाढ़ (प्राचीन वैशाली) जिला मुजफ्फरपुर (बिहार) से बड़ी मात्रा में मिट्टी की मुहरों की छाप प्राप्त हुई थी। इनमें से गुप्तों से सम्बन्धित निम्नलिखित मुहरें महत्व की हैं —

ध्रुवस्वामिनी की मुहर—यह मुहर ढाई इंच लम्बी और पौने-दो इंच चौड़ी अण्डाकार है। इसकी तीन छापें प्राप्त हुई हैं, जिनमें दो खण्डित हैं। इस मुहर में बैठा हुआ वामाभिमुख सिंह है; उसके नीचे एक पड़ी लकीर है। लकीर के नीचे चार पंक्तियों का निम्नलिखित लेख है[4]—

१. महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त[-]
२. पत्नी महाराज श्री गोविन्दगुप्त[-]
३. माता महादेवी श्री ध्रु[-]
४. वस्वामिनी

घटोत्कचगुप्त की मुहर—यह मुहर एक इंच से कुछ अधिक लम्बी और पौन-इंच चौड़ी अण्डाकार है। इसमें अण्डाकार परिधि के भीतर एक पंक्ति का लेख है[5]—

श्री घटोत्कचगुप्तस्य

३. **नालन्द से प्राप्त मिट्टी की मुहरें**—नालन्द से उत्खनन में कई सौ की संख्या में मिट्टी पर मुहरों की छाप प्राप्त हुई हैं। उनमें से कुछ परवर्ती गुप्त शासकों की मुहरों की छापें हैं। ये छापें कुमारगुप्त (तृतीय) के भितरी वाले धातु-मुद्रा से बहुत ही मिलती हुई हैं। वे आकार में अण्डाकार हैं; उनके ऊपरी भाग में गरुड़ और अधोभाग में अभिलेख हैं। इस प्रकार की मुहरें निम्नलिखित हैं :—

बुधगुप्त की मुहर—इस मुहर की छाप का केवल एक अंश प्राप्त हुआ है। आधे से अधिक भाग टूट कर नष्ट हो गया है, केवल बायीं ओर का हिस्सा बच रहा

---

१. ज० ए० सो० बं०, ५८, पृ० ८४
२. वही, पृ० ८८
३. इ० ऐ०, १९, पृ० २२५,
४. ए० स० इ०, वा० रि०, १९०३—०४, पृ० १०७
५. वही

है।[1] उस पर अंकित अभिलेख अन्य साधनों के आधार पर निम्नलिखित रूप में संरक्षित किया जा सकता है :[2]—

१. [सर्वराजोच्छेतुः पृथिव्यामप्रतिरथस्य महाराज] श्री गुप्त प्रपौत्रस्य महाराज श्री घटोत्क[-]

२. [च पौत्रस्य महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तपुत्रस्य लिच्छ] विदौहित्रस्य महादेव्यां कुमारदेव्यां उत्पन्न[-]

[स्य महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तस्य पुत्रस्तत्परि] गृहीतो महादेव्यां दत्त-देव्यामुत्पन्नः स्वयं

३. [चाप्रतिरथः परमभागवतो महाराजाधिराज श्री] चन्द्रगुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादा [नुद्धातो]

५. [महादेव्यां ध्रुवदेव्यामुत्पन्नो महाराजाधिराज] श्री कुमारगुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादा[-]

६. [नुध्यातो महादेव्यामनन्त देव्यामुत्पन्नो म]हाराजाधिराज श्री पुरुगुप्तस्तस्य पुत्र[-]

७. [स्तत्पादानुध्यातो महादेव्यां श्री] [.........][3] देव्यामुत्पन्न [परमभागवतो महाराजाधिराज] श्री बुधगुप्तः ।

वैन्यगुप्त की मुहर—इस मुहर की छाप का केवल एक अंश प्राप्त हुआ है जो त्रिभुजाकार है और निम्नतम एक तिहाई भाग का बिचला अंश है। उसमें अंत की केवल चार पंक्तियों के अंश उपलब्ध हैं[4]। उन्हें निम्नलिखित रूप में संरक्षित किया जा सकता है[5]।

४. वतो महाराजाधिराज श्री चन्द्र] गप्तस्तस्य पुत्र [स्तत्पादानुद्धातो महादेव्यां ध्रुवदेव्यामुत्पन्नो महारा[-]

५. [जाधिराज श्री कुमारगप्त]स्तस्य पुत्रस्तत्पादानुद्धयातः श्री [महादेव्यामनन्त-देव्यामुत्पन्नो महा[-]

१. हीरानन्द शास्त्री, नालन्द एण्ड इट्स एपीग्रैफिक मेटीरियल; पृ० ६४। इस में केवल उपलब्ध अंश दिया गया है।

२. अमलानन्द घोष (इ० हि० क्वा०, १९, पृ० ११९) और दिनेशचन्द्र सरकार (इ० हि० क्वा०, १९, पृ० २७३) द्वारा संरक्षित पाठ।

३. हीरानन्द शास्त्री ने बिना किसी शिझक के महादेवी नाम दिया है (पू० उ०, पृ० ६४) किन्तु अमलानन्द घोष ने चन्द्रदेवी नाम दिया है (पू० उ०, पृ० ११९)। कुमारगुप्त (तृतीय) के भितरी मुहर में पुरुगुप्त की रानी के नाम के रूप में चन्द्रदेवी नाम मिलता है। किन्तु दिनेशचन्द्र सरकार ने अपना दृढ़ मत व्यक्त किया है कि यह नाम चन्द्रदेवी से सर्वथा भिन्न है; साथ ही उन्हें महादेवी पाठ में भी सन्देह है (पू० उ०, पृ० २७३)।

४. नालन्द एण्ड इट्स एपीग्रैफिक मेटीरियल, पृ० ६७.

५. कुमारगुप्त (तृतीय) के मुहर तथा मुहरों की छापों के आधार पर संरक्षित।

६. [राजाधिराज श्री पु]रु[1] गुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुद्ध्यातो महादेव्यां श्री [······ देव्या[2]मुत्पन्नः]
७. परमभागवतो महाराजाधिराजः श्री वैन्य[3]गुप्तः

नरसिंहगुप्त की मुहर---इस मुहर की दो खण्डित छापें मिली हैं। एक में लगभग पूरा अभिलेख उपलब्ध है, केवल बायीं ओर के कुछ अक्षर नहीं हैं; दूसरे छापे का केवल दाहिना आधा भाग है।[4] इन छापों के अभिलेखों को निम्नलिखित रूप में संरक्षित किया जा सकता है।[5]

१ [सर्व्वराजोच्छेतुपृथिव्या] मप्रतिरथस्य महाराज श्री गुप्त प्रपौत्रस्य महाराज श्री घटोत्कच [पौ-]
२. [त्रस्य महाराजाधिरा]ज श्री चन्द्रगुप्त पुत्रस्य [लि]च्छवि दौहि[त्र]स्य महा-देव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्न[-]
३. [स्य महाराजाधिरा]ज श्री समुद्रगुप्तस्य पुत्रस्तत्प[रि]गृहीतो महादेव्या-न्दत्तदेव्यामुत्पन्न[-]
४. [स्स्वयञ्चाप्रतिरथः परम]भागवतो महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादानु[-]
५. [द्ध्यातो महादेव्यां] ध्रुवदेव्यामुत्पन्नो महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पा[-]
६. [दानुद्ध्यातो म]हादेव्यामनन्तदेव्यामुत्पन्नः महाराजाधिराज पुरुगुप्तस्तस्य पु[-]

---

१ इस स्थान पर मुहर की छाप में गुप्त से पहले बायीं ओर को खुला एक टेढ़ा सा मात्रा-चिह्न स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। जिससे यह निश्चित है कि गुप्त के पूर्व का अक्षर उकारान्त होगा। इस आधार पर रमेशचन्द्र मजूमदार ने कहा है कि पुरुगुप्त के रूप में नाम का संरक्षण निस्संदिग्ध रूप से किया जा सकता है (इ० हि० क्वा, २४, पृ० ६७)।

२. नाम का निर्णय करना कठिन है क्योंकि यह जानने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है कि वह बुधगुप्त और नरसिंहगुप्त में से किसका सगा भाई था।

३. हीरानन्द शास्त्री ने इस छाप का जो चित्र प्रकाशित किया है (पृ० ३०, फलक ८ फ) उसमें जिस अक्षर को 'वै' पढ़ा जाता है, उस पर मात्रा नहीं जान पड़ती और अक्षर का रूप भी 'व' के समान नहीं है। इसकी ओर हमारा ध्यान निसार अहमद ने आकृष्ट किया है। उनका कहना है नाम वैन्य न होकर चन्द्र है। उनका यह सुझाव विचारणीय है। किन्तु निश्चित मत प्रकट करने से पूर्व मुहर की छाप का परीक्षण आवश्यक है, जो मेरे लिए सम्प्रति सम्भव नहीं है।

४. नालन्दा एण्ड इट्स एपिग्रैफिक मेटीरियल, पृ० ६६-६७.

५. दिनेशचन्द्र सरकार (इ० हि० क्वा०, १९, पृ० २७२) के संरक्षण के अनुसार।

७. [त्रस्तत्पादानुद्ध्यातो] महादेव्यां श्री चन्द्रदेव्या[1] मुत्पन्नः परमभाग[-]

८. [वतो महाराजाधिरा]ज श्री नरसिंहगुप्तः

कुमारगुप्त (तृतीय) की मुहर—कुमारगुप्त (तृतीय) की साढ़े चार इंच लम्बी और साढ़े तीन इंच चौड़ी मुहर की मिट्टी की दो छाप प्राप्त हुए हैं। इनमें से एक तो काफी सुरक्षित है, केवल उसका दाहिना किनारा और पीठ कुछ क्षतिग्रस्त है; दूसरा छाप खण्डित है; उसका केवल दाहिना आधा भाग उपलब्ध है।[2] इन दोनों छापों का अभिलेख भितरी से प्राप्त मुहर के समान ही है।

विष्णुगुप्त की मुहर—विष्णुगुप्त के मुहर के छाप का केवल खण्डित अंश उपलब्ध हुआ है जो निचले भाग का दाहिना आधा भाग मात्र है। उपलब्ध अंश आकार में तिकोना ३″ × २½″ × २¾″ है और उसमें अन्तिम चार पंक्तियों के अंश हैं।[3] उपलब्ध अंश की मूल पंक्तियाँ इस प्रकार रही होंगी[4]—

१. [महादेव्याममन्त देव्यामुत्पन्नो म] हाराजा[ि]धर[ा]ज श्री [पुरुगुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादा-]

२. [नुद्ध्यातो महादेव्यां श्री चन्द्रदेव्यामुत्पन्नो म] हाराजाधिराज श्री नरसिंह-गुप्तस्य पुत्रस्तत्पादानु] द्ध्यातो

३. [महादेव्यां श्री मित्रदेव्यांमुत्पन्नो महा] राजाधिराज श्री कुमारगुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुद्ध्यातो [महा-]

४. देव्यां श्री······देव्यांमुत्प]न्नः परमभागवतोमहाराजाधिराज श्री विष्णुगुप्तः।

इन राज-मुहरों और उनकी छापों के अतिरिक्त अन्य बहुत-सी मुहरों की मिट्टी-छाप अनेक स्थानों से प्राप्त हुई है। उनसे राजकीय अधिकारियों और कार्यालयों के बहुत से नाम ज्ञात होते हैं और उनसे गुप्त शासन व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है। ऐसी मुहरों की चर्चा अन्यत्र शासनव्यवस्था पर विचार करते समय किया गया है।

---

१. हीरानन्द शास्त्री ने वैन्यदेवी नाम पढ़ा है (पू० उ०, पृ० ६५)। न० प्र० चक्रवर्ती ने उसे शुद्ध रूप में चन्द्रदेवी पढ़ा है (अ० स० इ०, वा० रि० १९३४–३५, पृ० ६३)।

२. नालन्दा एण्ड इट्स एपीग्रैफिक मेटीरियल, पृ० ६६–६७

३. ए० इ०, २६, पृ० २३५

४. कुमारगुप्त तृतीय की मुहर के आधार पर संरक्षित।

सिक्के

गुप्त सम्राटों के सिक्के तीनों धातुओं—सोना, चाँदी और ताँबा के मिलते हैं। सबसे अधिक सिक्के सोने के प्राप्त होते हैं और चन्द्रगुप्त (प्रथम) से आरम्भ होकर अन्तिम सम्राट् विष्णुगुप्त तक प्रायः सभी शासकों के मिलते हैं। चाँदी के सिक्कों का प्रारम्भ चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के समय में हुआ और वह उनके अतिरिक्त कुमारगुप्त (प्रथम), स्कन्दगुप्त और बुधगुप्त तक ही सीमित हैं। ताँबे के सिक्के अत्यल्प मात्रा में पाये गये हैं और वे कुछ ही शासकों के हैं।

सोने के सिक्के

जैसा कि कहा गया है चन्द्रगुप्त (प्रथम) से आरम्भ होकर विष्णुगुप्त तक प्रायः सभी शासकों ने सोने के सिक्के प्रचलित किये थे और वे काफी मात्रा में उपलब्ध हुए हैं। ये सिक्के दीनार नाम से प्रख्यात थे। दीनार शब्द मूलतः रोमन है। ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में व्यापार के माध्यम से रोम के बहुत से सिक्के इस देश में आते रहे और लोगों में उनका प्रचार था। फलस्वरूप रोमन सिक्कों का यह नाम इस देश के लोक-व्यवहार में भी आने लगा।

सिक्कों का भार

लोगों की सामान्य धारणा है कि आरम्भिक गुप्त शासकों के सोने के सिक्के कुषाणों के सोने के सिक्कों के भार-मान पर आधारित हैं; और कुषाणों के सोने के सिक्कों का भार-मान रोम के सोने के सिक्कों (औराइ) के भार-मान के अनुसार है। स्कन्दगुप्त के समय में इस भार-मान के स्थान पर ८० रत्ती (१४४ ग्रेन) के सुवर्ण का देशी भार-मान अपनाया गया।

कुषाण सिक्कों का भार ७.९–८.० ग्राम (१२२–१२३ ग्रेन) है और इस भार-मान के रोमन सिक्के केवल वे ही हैं जिन्हें अगस्तस (१९-१२ ई० पू०) के सराफों ने प्रचलित किया था। उसके बाद तो सिक्कों का भार घटता ही गया। नीरो (६४ ई०) के औराइ का भार-स्तर केवल ७.३ ग्राम (११२-११३ ग्रेन) है। नीरो के परवर्ती सम्राटों के सिक्के भी इसी घटे भार-मान पर बने थे। इससे स्पष्ट है कि रोमन औराइ और कुषाण दीनारों के भार में किसी प्रकार की कोई समानता नहीं है।[1] गुप्त सम्राटों ने कुषाण सिक्कों का भार-मान नहीं अपनाया यह उनके सिक्कों के तौल को देखने से प्रकट होता है। आरम्भकालिक सम्राटों, यथा—चन्द्रगुप्त (प्रथम), काचगुप्त और

---

१. ज० न्यू० सो० इ०, २२, पृ० ६३–६८

समुद्रगुप्त के दीनारों का भार केवल ७.६५-७.७७ ग्राम (११८-१२० ग्रेन) है।[1] और ये कुषाण दीनारों से हल्के हैं। केवल चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के सिक्कों का भार ७.८४ ग्राम (१२१ ग्रेन) है; उनकी तुलना कुषाण दीनारों से हो सकती है। किन्तु साथ ही उनके कुछ अन्य सिक्के ऐसे भी हैं जिनका भार ८.०० और ८.३० ग्राम (१२४ और १२८ ग्रेन) है।[2] कुमारगुप्त (प्रथम) के शासन-काल के सिक्कों में ७.८४ ग्राम (१२१ ग्रेन) के सिक्के बहुत कम हैं। उनके अधिकांश सिक्कों का भार ८.०० और ८.३० ग्राम (१२४ और १२८ ग्रेन) है; किन्तु कुछ ऐसे भी सिक्के हैं जिनका वजन ८.३० ग्राम (१२८ ग्रेन) से भी अधिक है और ८.४३ ग्राम (१३० ग्रेन) तक जाता है। स्कन्दगुप्त के सिक्के स्पष्टतः दो भार-मान के हैं। उनके आरम्भकालिक सिक्के ८.४३–८.५५ ग्राम (१३०–१३२ ग्रेन) के हैं और परवर्ती सिक्कों का भार ९.२०–९.३३ ग्राम (१४२–१४४ ग्रेन) है। स्कन्दगुप्त के पश्चात् गुप्त सिक्कों का भार क्रमशः इस प्रकार बढ़ता गया—

कुमारगुप्त (द्वितीय)	९.००–९.२७ ग्राम	(१३९–१४३ ग्रेन)
बुधगुप्त	९.१४–९.३८ ,,	(१४१.४–१४४.५ ग्रेन)
वैन्यगुप्त	९.३८–९.६० ,,	(१४४.५–१४८.० ,,)
नरसिंहगुप्त	९.३८–९.६० ,,	(१४४.५–१४८.० ,,)
कुमारगुप्त (तृतीय)	९.५०–९.६० ,,	(१४७–१४८ ग्रेन)
विष्णुगुप्त	९.६६–९.७९ ,,	(१४९–१५१ ग्रेन)

इस प्रकार स्पष्ट है कि गुप्त सम्राटों के सोने के सिक्कों का कोई स्थिर भार-मान नहीं था। आरम्भ से ही वह क्रमशः बढ़ता रहा था। फलतः यह कहने का कोई आधार नहीं है कि आरम्भिक गुप्त सम्राटों ने कुषाणों अथवा रोमनों के भार-मान को अपनाया था और पीछे चलकर उन्होंने सुवर्ण के देशी भार-मान को ग्रहण किया। ऐसा जान पड़ता है कि गुप्तों ने समयानुसार आवश्यक अपना स्वतंत्र भार-नाम अपनाया था।

धातु रूप

इन सिक्कों के परीक्षण से ज्ञात होता है कि भार-मान के क्रमशः बढ़ोतरी के साथ

---

१. समुद्रगुप्त का एक सिक्का १३६ ग्रेन वजन का है। उसका एक कोना कटा हुआ है। मूलतः उसका भार १४४ ग्रेन के लगभग रहा होगा। भारके अतिरिक्त भी इस सिक्के में कुछ ऐसी बातें हैं जो समुद्रगुप्त के सिक्कों में देखने में नहीं आतीं (ज० न्यू० सो० इ०, १६, ५० १०२–१०३); उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि यह सिक्का समुद्रगुप्त नामक किसी दूसरे राजा का होगा।

२. इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता तथा अन्यत्र भी चन्द्रगुप्त के कुछ ऐसे भी सिक्के हैं जिनका वजन १४० ग्रेन से अधिक है। इन सिक्कों की अपनी कुछ निजी विशेषताएँ भी हैं, जिनसे अनुमान होता है कि वे चन्द्रगुप्त नाम के किसी अन्य राजा के सिक्के होंगे (द डिक्लाइन ऑव द किंगडम ऑव मगध, पृ० ३८–४०)

साथ उनके सोने की मात्रा में कमी होती गयी और उन्हें अधिकाधिक मिश्र बनाया जाने लगा। विभिन्न शासकों के सिक्कों में सोने की मात्रा इस प्रकार पायी जाती है—

चन्द्रगुप्त (द्वितीय) और उनके पूर्ववर्ती शासक	८० प्रतिशत से अधिक
कुमारगुप्त (प्रथम)	७० से ७८ प्रतिशत
स्कन्दगुप्त	६७ से ७९ ,,
कुमारगुप्त (द्वितीय)	७९ ,,
बुधगुप्त	७० से ७८ प्रतिशत
प्रकाशादित्य	७७ प्रतिशत
वैन्यगुप्त	७३ ,,
नरसिंहगुप्त (प्रथम भाँति)	७१ ,,
,, (द्वितीय भाँति)	५४ ,,
कुमारगुप्त (तृतीय)	५४ ,,
विष्णुगुप्त	४३ ,,

ऐसा जान पड़ता है कि सोने का मिश्रण और भार की बढ़ोतरी दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं। इसका आरम्भ सर्वप्रथम कुमारगुप्त (प्रथम) के समय में हुआ। स्कन्दगुप्त के सिक्के दो भार-मान के होते हुए भी समान धातु के हैं, जो सम्भवतः इस बात के द्योतक हैं कि कुमारगुप्त (प्रथम) के समय में जो आर्थिक स्थिति खराब हो गयी थी, वह स्कन्दगुप्त के उत्तरवर्ती काल में सुधर गयी। और यह सुधरी हुई अवस्था दो-तीन शासकों के काल तक बनी रही। तदनन्तर वैन्यगुप्त के समय में पुनः धातु में खोट मिलाना आरम्भ हुआ। तीसरी बार नरसिंहगुप्त के समय में धातु के रूप में गिरावट हुई। अन्ततः विष्णुगुप्त के समय में वह एकदम गिर गया।

चित ओर का अंकन

गुप्त सम्राटों के अधिकांश सिक्कों के चित ओर विभिन्न भंगिमाओं और मुद्राओं में शासक की आकृतियों का अंकन है। किन्तु कुछ ऐसे भी सिक्के हैं जिन पर शासक की आकृति न होकर अन्य प्रकार के चित्रण हैं। चित ओर के अंकनों के भेद से गुप्तसम्राटों के सिक्के निम्नलिखित २१ भाँतों[1] के पाये जाते हैं—

---

१. ब्रिटिश संग्रहालय के सिक्कों की सूची में गुप्त सिक्कों के भाँतों के जो नामकरण एलन ने किये हैं, लोग इनकी चर्चा के समय उनका ही प्रयोग करते हैं। अल्तेकर ने बयाना दफीने से ज्ञात नये भाँतों का नामकरण किया है साथ ही एक-दो भाँतों के नये नाम भी सुझाये हैं। इन दोनों ही विद्वानों द्वारा अपनाये गये नामों को यहाँ ग्रहण किया गया है। किन्तु अल्तेकर ने अपनी हिन्दी पुस्तक 'गुप्तकालीन मुद्रायें' में उनका जो अनुवाद दिया है, उनमें से अधिकांश हमें स्वीकार नहीं हैं। हमने इन नामों के लिए अपना स्वतन्त्र रूप अपनाया है।

१. धनुर्धर भाँति—इस भाँति के सिक्कों पर शासक बायें हाथ में धनुष और दाहिने हाथ में बाण लिये दिखाये गये हैं। उनके बायीं ओर राज-लांछन—गरुड़ध्वज अंकित पाया जाता है। इस भाँति का आरम्भ समुद्रगुप्त के समय में हुआ था और उनका अनुकरण उनके सभी उत्तरवर्ती शासकों—चन्द्रगुप्त (द्वितीय), कुमारगुप्त (प्रथम), स्कन्दगुप्त, घटोत्कचगुप्त, कुमारगुप्त (द्वितीय), बुधगुप्त, वैन्यगुप्त, नरसिंहगुप्त, कुमारगुप्त (तृतीय) और विष्णुगुप्त ने किया है। हो सकता है समुद्रगुप्त से भी पहले इस भाँति का आरम्भ चन्द्रगुप्त (प्रथम) के समय में हुआ हो और कुछ सिक्के, जिन्हें चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का समझा जाता है, चन्द्रगुप्त (प्रथम) के हों। किन्तु अभी तक इसका कोई स्पष्ट संकेत उपलब्ध नहीं हो पाया है। चन्द्रगुप्त (द्वितीय) और कुमारगुप्त (प्रथम) के इस भाँति के सिक्कों की अनेक उप-भाँतियाँ हैं। उनमें वे विभिन्न मुद्राओं में दक्षिणाभिमुख अथवा वामाभिमुख अंकित किये गये हैं और उनके धनुष-धारण करने के ढंग में भी अनेक प्रकार की विविधताएँ हैं तथा उनपर उनके नाम का अंकन भी किसी एक निश्चित स्थान पर नहीं हुआ है।

२. दण्डधर अथवा उत्पताक भाँति[१]—यह भाँति धनुर्धर भाँति से बहुत कुछ मिलता हुआ है। इस भाँति के सिक्कों पर शासक वामाभिमुख खड़े और बायें हाथ में पताकायुक्त लम्बा दण्ड (जिसे लोगों ने बल्लम या भाला[२], दण्ड[३] अथवा राजदण्ड[४] कहा है) लिये और दाहिने हाथ से हवनकुण्ड में आहुति डालते दिखाये गये हैं। बायीं ओर गरुड़ध्वज अंकित है। यह भाँति उत्तरवर्ती कुषाणों के सिक्कों का अनुकरण सा प्रतीत होता है और समुद्रगुप्त के शासनकाल का प्रमुख सिक्का है। चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने भी इस भाँति के सिक्के चलाये थे; पर उनके नाम से अंकित इस भाँति का अब तक केवल एक ही सिक्का ज्ञात हो सका है जो भारत कला भवन, काशी में है। बहादुरचन्द छाबड़ा की धारणा है कि वह चन्द्रगुप्त (प्रथम) का सिक्का है।[५] 'पर्यंकासीन राजदम्पति भाँति' के चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के कहे जाने वाले सिक्कों पर भी (जिनका परिचय नीचे दिया गया है) यह अंकन (अल्तेकर के अनुसार) चित ओर पाया जाता है।[६]

३. चक्रध्वज भाँति—यह उत्पताक भाँति के समान ही है; अन्तर केवल इतना

१. 'स्टैण्डर्ड टाइप' को सामान्य दृष्टि से दण्डधर भाँति कहा जा सकता है; पर रायकृष्णदास ने इसके लिए उत्पताक भाँति नाम सुझाया है जो अधिक आकर्षक होने के साथ-साथ उस विवाद से मुक्त है जो 'स्टैण्डर्ड' नाम के पीछे है।

२. स्मिथ, ज० रा० ए० सो०, १८८९, पृ० ८६.

३. एलन, ब्रि० म्यू० सू०, गु० वं०, भूमिका, पृ० ६८—६९

४. ए० लॉ० गुप्त, ज० न्यू० सो० इ०, ९, पृ० १४६ ; बहादुरचन्द्र छाबड़ा, ज० न्यू० सो० इ०, ११, पृ० २५

५. ज० न्यू० सो० इ०, ११, पृ० २५—३१

[६] क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, पृ० १४०, १४७

ही है कि इस भाँति में शासक के हाथ में दण्ड के स्थान पर चक्रध्वज है। अर्थात् दण्ड के ऊपर चक्र है। इस भाँति के सिक्के केवल काचगुप्त के उपलब्ध होते हैं।

४. खड्गहस्त भाँति—यह भी उत्पताक भाँति का एक अन्य परिवर्तित रूप है। इसमें शासक दण्ड के स्थान पर खड्ग धारण किये हुए है; अर्थात् कमर से लटकी हुई तलवार की मूँठ शासक के हाथ में है। इस भाँति के सिक्के केवल कुमारगुप्त (प्रथम) ने प्रचलित किये थे।

५. कृतान्त-परशु भाँति—इस भाँति में शासक बायें हाथ में दण्ड के स्थान पर परशु धारण किये दिखाये गये हैं और उनके सामने एक कुब्जक खड़ा है; दोनों के बीच में चन्द्र-ध्वज अंकित है। इस भाँति के सिक्के केवल समुद्रगुप्त के हैं।

६. राज-दम्पति भाँति—इस भाँति के सिक्कों पर राजा और रानी आमने-सामने खड़े दिखाये गये हैं। रानी बायें और राजा दाहिने हैं। राजा के दाहिने हाथ में कोई वस्तु है, जिसकी पहचान नहीं हो पायी है; उसे वह रानी को दिखा रहा है और रानी उसे ध्यान से देख रही हैं।[१] राजा के बायें हाथ में चन्द्रध्वज है। इस भाँति के सिक्के चन्द्रगुप्त (प्रथम) के हैं; किन्तु अनेक विद्वानों का मत है कि इसे समुद्रगुप्त ने अपने माता-पिता की स्मृति में स्मारिका स्वरूप प्रचलित किया था।[२]

इसी भाँति के सिक्के कुमारगुप्त (प्रथम) और स्कन्दगुप्त ने भी प्रचलित किये थे। कुमारगुप्त का इस भाँति का केवल एक सिक्का बयाना दफीने से प्रकाश में आया है; स्कन्दगुप्त वाले सिक्के काफी मिलते हैं। कुमारगुप्त वाले सिक्के पर खड्गहस्त भाँति की तरह ही कुमारगुप्त कटि-स्थित खड्ग की मूँठ पर हाथ रखे हुए हैं। स्कन्दगुप्त के के सिक्कों पर राजा धनुष धारण किये बायीं ओर खड़े हैं और रानी उनके सामने हाथ में सम्भवतः शुक लिये खड़ी हैं। एलन[३] और अल्तेकर[४] की धारणा है कि नारी आकृति रानी की न होकर लक्ष्मी की है; किन्तु उनमें देवत्व के कोई चिन्ह नहीं हैं, जिसके कारण उनका मत ग्राह्य नहीं है।

---

१. कनिंगहम की धारणा रही है कि राजा रानी को फूल दे रहे हैं (९ जून १८९१ का रैप्सन के नाम पत्र जो ब्रिटिश संग्रहालय में सुरक्षित है); एलन उसे अंगूठी या कंकण बताते हैं और अल्तेकर के मत में वह सिन्दूरदानी है। किन्तु सोहोनी ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि रानी की कटिविनयस्त भंगिमा से ऐसा नहीं प्रतीत होता कि वह कोई वस्तु ले रही है। वस्तुतः वे किसी वस्तु को ध्यान से देख रही हैं।

२. एलन, ब्रि० म्यू० सू०, गु० वं०, भूमिका, पृ० ८३ : राधाकुमुद मुखर्जी, गुप्त एम्पायर, पृ० ३३ : वासुदेवशरण अग्रवाल, ज० न्यू० सो० इ०, १७, पृ० ११७; वि० शा० पाठक, ज० न्यू० सो० इ०, १९, पृ० १३५ ; श्रीधर वासुदेव सोहोनी, ज० न्यू० सो० इ०, १९, पृ० १५३.

३. ब्रि० म्यू० सू०, गु० वं०, भूमिका, पृ० ९०—१००

४. क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, पृ० २४५

७. पर्यंकासीन राज-दम्पति भाँति—इस भाँति में राज-दम्पति पर्यंक पर आमने-सामने बैठे हैं। अल्तेकर के मतानुसार राजा रानी को सिन्दूरदानी भेंट कर रहे हैं।[1] इस भाँति के सिक्के के दूसरी ओर उत्पताक भाँति का अंकन है। राज-दम्पति (खड़े) और दण्डधर राजा दोनों ही प्रतीक सिक्कों के चित ओर के प्रतीक हैं। दोनों प्रतीकों का इस प्रकार एक साथ एक ही सिक्के पर मिलना असाधारण है। इस भाँति के अब तक केवल तीन सिक्के ज्ञात हैं। दो तो भारत कला भवन (वाराणसी) में और तीसरा राष्ट्रीय संग्रहालय (नई दिल्ली) में है।[2] समझा जाता है कि ये सिक्के चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के हैं; किन्तु आश्चर्य नहीं, ये चन्द्रगुप्त (प्रथम) के हों।

८. ललितगन्धर्व[3] अथवा वीणावादक भाँति—इस भाँति के सिक्कों पर राजा गद्दीदार पर्यंक पर बैठे वीणा बजा रहे हैं। इन्हें समुद्रगुप्त और उसके पौत्र कुमारगुप्त (प्रथम) ने प्रचलित किया था। सम्भवतः ये उनके गन्धर्वविद्या में निष्णात होने के प्रतीक हैं।

९. पर्यंक भाँति—इस भाँति के सिक्कों पर राजा नग्न-शरीर पर्यंक पर बैठे हैं और उनके हाथ में पुष्प सदृश कोई वस्तु है। इस भाँति के सिक्के एकमात्र चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के हैं।

१०. अश्वमेध भाँति—इस भाँति के सिक्कों पर चबूतरे के ऊपर सुसज्जित यूप के सामने अश्व खड़ा है और यूप के सिरे से पताका लहरा रही है। इस भाँति के सिक्के समुद्रगुप्त और कुमारगुप्त (प्रथम) के हैं। अभिलेखों से समुद्रगुप्त के अश्वमेध यज्ञ करने की बात ज्ञात रही है; किन्तु कुमारगुप्त के अश्वमेधयज्ञकर्ता होने की बात इन सिक्कों से ही ज्ञात होती है।

११. व्याघ्र-निहन्ता भाँति—इस भाँति के सिक्कों पर राजा बायीं ओर खड़े व्याघ्र को पद-दलित करते और तीर का निशाना बनाते हुए अङ्कित किये गये हैं। ये सिक्के समुद्रगुप्त और कुमारगुप्त (प्रथम) के हैं।

---

१. हार्नले ने इसके सुरा-पात्र होने की कल्पना की है (प्रो० ए० सो० बं०, १८८८, पृ० १२९-३०) किन्तु अल्तेकर और हार्नले दोनों की धारणाएँ गलत हैं। जिसे इन लोगों ने सुरापात्र अथवा सिन्दूरदानी समझा है वह वस्तुतः चन्द्र-ध्वज का ऊपरी हिस्सा है, जिसका दण्ड भाग राजा के हाथ के पीछे छिप गया है। राजा खाली हाथों हैं और लगता है कि वह रानी को कोई बात समझा रहे हैं अर्थात् वार्ता-रत हैं।

२. यह सिक्का पहले लखनऊ के एक निजी संग्रह में था और इसका उल्लेख ज० न्यू० सो० इ०, १८, पृ० २२२ पर हुआ है।

३. यह नाम रायकृष्णदास ने सुझाया है। वीणावादक नाम इस प्रतीक के भौतिक रूप का बोधक है और ललित-गन्धर्व नाम से उसके सौन्दर्यका बोध होता है।

१२. सिंह-निहन्ता भाँति—यह भाँति व्याघ्र-निहन्ता भाँति के सदृश ही है; अन्तर का बोध केवल उनपर अंकित लेख से ही होता है। सामान्यतः इन सिक्कों पर राजा तीर से निशाना लगाते हुए दिखाये गये हैं। कुछ पर सिंह और राजा एक दूसरे से अलग और कुछ पर सटे अङ्कित किये गये हैं; कुछ पर राजा सिंह को पद-दलित करते हुए दिखाये गये हैं; कुछ में सिंह पलायन करता हुआ दिखाया गया है। इन सिक्कों पर राजा की भंगिमा भी विभिन्न रूपों में अङ्कित की गयी हैं। इस प्रकार इस भाँति के सिक्कों की अनेक उपभाँतियाँ हैं। इन्हें चन्द्रगुप्त (द्वितीय) और कुमारगुप्त (प्रथम) ने प्रचलित किये थे। एक दुर्लभ सिक्के पर चन्द्रगुप्त को तलवार से सिंह का सामना करते हुए दिखाया गया है।

१३. अश्वारोही भाँति—इस भाँति के सिक्कों पर राजा सजे हुए वामाभिमुख अथवा दक्षिणाभिमुख अश्व पर सवार अङ्कित हैं। सामान्यतः वे निरस्त्र ही दिखाये गये हैं पर कुछ उपभाँति के सिक्कों पर वे तलवार अथवा धनुष धारण किए हुए भी पाये जाते हैं। इस भाँति के सिक्के चन्द्रगुप्त (द्वितीय) और कुमारगुप्त (प्रथम) के हैं ; संदिग्ध भाव से एक सिक्का स्कन्दगुप्त का भी बताया जाता है।[1]

१४. गजारूढ़ भाँति—अश्वारोही भाँति का ही यह एक रूप है जिसमें अश्व का स्थान गज ने ले लिया है। इसमें राजा अंकुश द्वारा हाथी नियंत्रित करते दिखाये गये हैं; हाथी तेजी से बायीं ओर भाग रहा है। राजा के पीछे छत्र लिये कुब्जक बैठा है। इसे कुमारगुप्त (प्रथम) ने प्रचलित किया था।

१५. गजारूढ़ सिंह-निहन्ता भाँति—गजारूढ़ और सिंहनिहन्ता भाँतियों को संयुक्त करके इस भाँतिको रूप दिया गया है। राजा दाहिनी ओर बढ़ते हुए हाथी पर सवार खड्ग द्वारा आक्रमण के लिए तत्पर अंकित किये गए हैं। सामने की ओर से सिंह हाथी पर आक्रमण करने का प्रयास कर रहा है और हाथी उसे कुचलने की चेष्टा में है। राजा के पीछे छत्र लिए कुब्जक बैठा है। यह भाँति भी कुमारगुप्त (प्रथम) का ही है।

१६. खड्गी-निहन्ता भाँति—इस भाँति के सिक्कों पर राजा घोड़े पर सवार गैंडे पर तलवार से आक्रमण करते अंकित किये गये हैं। यह भाँति भी दो भाँतों—अश्वारोही और सिंह-निहन्ता—का संयोग है। अन्तर इतना ही है कि सिंह के स्थान पर गैंडा है। यह भी कुमारगुप्त (प्रथम) का सिक्का है।

१७. अश्वारोही सिंह-निहन्ता भाँति—यह उपर्युक्त भाँति का ही एक दूसरा रूप है। इसमें घोड़े पर सवार राजा दाहिने हाथ में तलवार लिए आक्रमणकारी सिंह का सामना करने के निमित्त झुके हुए दिखाये गये हैं। इसे गुप्त वंश के किसी परवर्ती राजा ने प्रचलित किया था, जिसका नाम अब तक ज्ञात नहीं हो सका है। सिक्कों पर केवल उसका विरुद प्रकाशादित्य उपलब्ध है।

---

१. ब्रि० म्यू० सू०, गु० वं०, भूमिका, पृ० १००; क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, पृ० २४९

१८. छत्र भाँति—उत्पताक (दण्डधर) भाँति की तरह ही इसमें वामाभिमुख राजा हवनकुण्ड में आहुति डालते हुए खड़े हैं और उनका बाँया हाथ कमर में लटकती हुई तलवार की मूँठ पर है। राजा के पीछे कुब्जक छत्र लिए हुए खड़ा है। इस भाँति के सिक्के चन्द्रगुप्त (द्वितीय) और कुमारगुप्त (प्रथम) के हैं। एडवर्ड थॉमस की धारणा है कि 'चन्द्र' नाम वाले इन सिक्कों को चन्द्रगुप्त का प्रथम मानना चाहिए।[१] इस भाँति के एक सिक्के की पीठ पर, जो बयाना दफीने में मिला है, **क्रमादित्य** विरुद अंकित है। अल्तेकर की धारणा है कि यह सिक्का स्कन्दगुप्त का है[२] किन्तु इन पंक्तियों के लेखक का अभिमत है कि वह घटोत्कचगुप्त का है।[३]

१९. चक्रविक्रम भाँति—बयाना के दफीने में इस भाँति का अकेला सिक्का प्राप्त हुआ है।[४] उस पर चक्रपुरुष (विष्णु के आयुध चक्र का मानव रूप) अथवा स्वयं विष्णु अण्डाकार प्रभामण्डल के बीच दक्षिणाभिमुख खड़े हैं। उनके बायें हाथ में गदा और ऊपर उठे दाहिने हाथ में तीन गोल वस्तुएँ हैं[५], जिन्हें वे सामने खड़े दाहिना हाथ आगे बढ़ाए हुए राजा को दे रहे हैं। राजा का बायाँ हाथ कमर में लटकती हुई तलवार की मूँठ पर है। यह सिक्का चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का समझा जाता है।

२०. कार्तिकेय अथवा मयूर भाँति[६]—इस पर राजा वामाभिमुख खड़े मयूर को कुछ खिलाते हुए अंकित हैं; इस भाँति के सिक्कों की पीठ पर कार्तिकेय हैं। कुमारगुप्त (प्रथम) ने इन सिक्कों को प्रचलित किया था।

२१. अप्रतिघ भाँति—यह कुमारगुप्त (प्रथम) का सिक्का है। इस पर मध्य में हाथ जोड़े हुए एक व्यक्ति खड़ा है। उसके दायें-बायें दो और व्यक्ति हैं! कुछ विद्वानों के मत में वे नारी आकृतियाँ हैं; अन्य उनमें से एक को पुरुष मानते हैं। यह व्यक्ति-समूह किस

---

१. ज० रा० ए० सो०, १८९३, पृ० ९२

२. क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, पृ० २४७–२४८

३. ज० न्यू० सो० इ०, १४, पृ० ९९–१२२

४. अभी हाल में इस भाँति का एक दूसरा सिक्का प्रकाश में आया है (ज० न्यू० सो० इ०, २१, पृ० २०२) पर हमें उसके मौल होने में सन्देह है।

५. अल्तेकर ने पहले इन्हें मोदक बताया था (ज० न्यू० सो० ई०, १०, पृ० १०३)। सी० शिवराममूर्ति ने इन्हें राजशक्ति के तत्व—प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्ति बताया है (ज० न्यू० सो० ई०, १३, पृ० १८२)। अल्तेकर ने उनके इस सुझाव को मान लिया है (क्वायनेज आव द गुप्त इम्पायर, पृ० १४९)। हरिहर त्रिवेदी का कहना है कि वे त्रैलोक्य के द्योतक हैं (ज० न्यू० सो० ई०, १७, पृ० १०८)। राय गोविन्दचन्द्र का कहना है कि वे देवलोक, मृत्युलोक और नागलोग के प्रतीक हैं (ज० न्यू० सो० इ०, २२, पृ० २६३)।

६. चित ओर के प्रतीक के आधार पर एलन ने इसे मयूर भाँति और अल्तेकर ने पट ओर के आधार पर कार्तिकेय नाम दिया है। दोनों ही नाम समान रूप से उपयुक्त हैं।

बात का प्रतीक है अभी तक निश्चित नहीं किया जा सका है। हार्नले की धारणा थी कि मध्य में बुद्ध की आकृति है और दो उपासिकाएँ उनकी उपासना कर रही हैं।[१] स्मिथ ने उन्हें राजा और उनकी पत्नियाँ माना है।[२] वि० प्र० सिनहा का भी यही मत है।[३] एलन का कहना है कि मध्य का व्यक्ति राजा जैसा नहीं लगता। अन्य आकृतियों को भी रानी मानने का कोई कारण उन्हें जान नहीं पड़ता। उनकी दृष्टि में उनमें से एक मिनर्वा सरीखी जान पड़ती है। वे समूचे प्रतीक को किसी अभारतीय प्रतीक की नकल अनुमान करते हैं।[४] व० वि० मीराशी की दृष्टि में मध्य का व्यक्ति कोई साधु है और अगल-बगल राजा-रानी हैं।[५] रमेशचन्द्र मजूमदार का मत है कि बीच में शिव और अगल-बगल नन्दि और पार्वती हैं।[६] अल्तेकर का कहना है कि बीच में कुमारगुप्त हैं और अगल बगल के व्यक्तियों में एक तो रानी और दूसरा युवराज अथवा सेनापति है।[७] अजित घोष का कहना है कि इस दृश्य में कुमारगुप्त अपने माता-पिता से परामर्श कर रहे हैं।[८] श्रीधर वासुदेव सोहनी ने आरम्भ में इनमें कार्तिकेय और उनकी दो पत्नियों की कल्पना की थी।[९] फिर उन्होंने कहा कि यह तारक से युद्ध करने जाने से पहले कुमार (कार्तिकेय) के कश्यप और अदिति के पास जाने का दृश्य है।[१०] अब उनका कहना है कि इसमें कुमारगुप्त श्री (लक्ष्मी) और प्रताप (शक्ति) के मूर्त रूप के साथ अंकित किये गये हैं।[११] जब तक कि इस प्रतीक के चारों ओर अंकित अभिलेख का सन्तोषजनक पाठ उपलब्ध नहीं होता, इन मतों में से किसी के पक्ष-विपक्ष में कुछ भी कहना कठिन है।

इस प्रकार सिक्कों के चित ओर जो अंकन हैं वे उनके प्रचलनकर्ताओं के जीवन के विविध गति-विधियों को व्यक्त करते हैं। किन्तु उनका वास्तविक अभिप्राय क्या था यह केवल अनुमान किया जा सकता है। इधर कुछ दिनों से कुछ लोगों का ध्यान इस ओर गया है और उन्होंने सिक्कों पर अंकित इन दृश्यों की व्याख्या करने की चेष्टा की है; किन्तु उनके विवेचन के लिए यह स्थान उपयुक्त नहीं है।

---

१. प्रो० ए० सो० बं०, १८८३, पृ० १४४
२. ज० रा० ए० सो०, १८८९, पृ० १०९
३. ज० न्यू० सो० इ०, १७, पृ० २१३–२१४
४. ब्रि० म्यू० के०, गु० वं०, भूमिका, पृ० ९२
५. ज० न्यू० सो० इ०, १२, पृ० ७०
६. वही, पृ० ७३
७. वही, १०, पृ० ११५; क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, पृ० २०८
८. ज० न्यू० सो० इ०, २२, पृ० १८०
९. सच्चिदानन्द सिनहा कमेमोरेशन वाल्यूम, १९४३, पृ० १७७
१०. ज० न्यू० सो० इ० १८, पृ० ६१
११. वही, २३, पृ० ६१

पट ओर का अंकन

गुप्त शासकों के सोने सिक्कों के पट ओर अंकित प्रतीकों को अभी तक देवी या लक्ष्मी कहा जाता रहा है; किसी ने उनके वर्गीकरण की कोई चेष्टा नहीं की थी। किन्तु उन्हें निम्नलिखित रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है—

१. **सिंहासनासीन देवी**—उत्तरवर्ती कुषाण सिक्कों के पीठ की ओर देवी अरदोक्षो, ऊँचे सिंहासन पर बैठी बायें हाथ में विषाण (कार्नुकोपिया) और दाहिने हाथ में पाश लिये, अंकित पायी जाती हैं। वही आकृति बिना किसी परिवर्तन के समुद्रगुप्त के उत्पताक, धनुर्धर, कृतान्त-परशु भाँति के और चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के धनुर्धर (वर्ग १) और उत्पताक भाँति के सिक्कों पर मिलती है। साथ ही, इन राजाओं के कुछ अन्य सिक्कों पर इस आकृति में कुछ थोड़ा-सा हेर-फेर इस प्रकार मिलता है —

(१) समुद्रगुप्त के कृतान्त-परशु भाँति और चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के धनुर्धर भाँति के सिक्कों पर देवी के बायें हाथ में विषाण (कार्नुकोपिया) के स्थान पर कमल पाया जाता है। इस प्रकार इन सिक्कों पर देवी का भारतीयीकरण किया गया है।

(२) कुछ सिक्कों पर देवी के बायें हाथ में विषाण तो ज्यों का त्यों है; दाहिने हाथ में पाश का अभाव है, अर्थात् वह खाली है।

(३) चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के पर्यंक भाँति के सिक्कों पर देवी के बायें हाथ में विषाण (कार्नुकोपिया) के स्थान पर कमल है और दाहिने हाथ में पाश का अभाव है, अर्थात् वह खाली है।

सम्भवतः इन परिवर्तनों का उद्देश्य कम से कम परिवर्तन के साथ अरदोक्षो को लक्ष्मी के रूप में व्यक्त करना रहा है।

२. **कमलासना देवी**—चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के समय में अरदोक्षो के प्रतीक ने क्रमशः लक्ष्मी का पूर्ण भारतीय रूप धारण कर लिया; अर्थात् सिक्कों पर देवी कमल पर आसीन बायें हाथ में कमल लिये दिखाई जाने लगीं; किन्तु वे अपने दाहिने हाथ में पूर्ववत् पाश धारण करती रहीं। देवी का यह रूप चन्द्रगुप्त (द्वितीय) और कुमारगुप्त (प्रथम) के धनुर्धर भाँति के अधिकांश सिक्कों तथा अन्य परवर्ती शासकों के सभी सिक्कों पर मिलता है। किन्तु कुछ अवस्थाओं में इन सिक्कों पर दाहिने हाथ के पाश के स्थान पर निम्नलिखित रूप दिखाई पड़ता है :—

(१) खाली हाथ—कुमारगुप्त (प्रथम), अप्रतिघ भाँति

(२) हाथ में फूल—कुमार गुप्त (प्रथम), धनुर्धर भाँति के कुछ सिक्के

(३) सिक्के बिखेरती हुई—चन्द्रगुप्त (द्वितीय) और कुमारगुप्त (प्रथम), धनुर्धर भाँति के कुछ सिक्के

देवी के इस रूप के अंकन में हाथ-पैर की भंगिमा में भी कुछ विविधता पायी जाती है। उनका हाथ या तो ऊपर को उठा या कटिविनयस्थ या जंघविनयस्थ मिलता है। इसी प्रकार, सामान्यतया तो वे पद्मासन मुद्रा में बैठी मिलती हैं पर कुछ सिक्कों पर

वे अर्ध पर्यंक मुद्रा में एक पैर नीचे लटकाये दिखाई देती हैं। इस प्रकार हाथ-पैर की भंगिमाओं और हाथ के आयुधों की विविधता के आधार पर इस भाँति के सिक्कों के उपभाँतियों की बहुत बड़ी संख्या है। इन भाँतियों और उपभाँतियों का कोई सार्थक महत्व है अथवा वे ठप्पा बनाने वालों की कौतुकपूर्ण मनोवृत्ति के द्योतक हैं, कहना कठिन है।

३. **खड़ी देवी**—कुछ सिक्कों पर देवी अपने दोनों रूपों—अरदोक्षो (अर्थात् विषाण लिये हुए) और लक्ष्मी (अर्थात् कमल लिये हुए)—में खड़ी दिखाई पड़ती हैं। खड़ी अरदोक्षो के रूप में वे काचगुप्त के सिक्कों पर देखी जाती हैं। वहाँ वे बायें हाथ में विषाण और दाहिने हाथ में पाश अथवा फूल लिये हैं। खड़ी लक्ष्मी के रूप में वे चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के छत्र, अश्वारोही[1] और चक्रविक्रम भाँति और कुमारगुप्त (प्रथम) के छत्र, गजारूढ़ और गजारूढ़ सिंह-निहन्ता भाँति पर पायी जाती हैं। इन सिक्कों पर वे विभिन्न भंगिमाओं में—सम्मुखाभिमुख, बायीं ओर तिरछे अथवा वामाभिमुख पायी जाती हैं।

४. **मंचासीन देवी**—अरदोक्षो और लक्ष्मी दोनों ही सरकण्डे की बनी मचिया पर बैठी पायी जाती हैं। अरदोक्षो के इस रूप में वे समुद्रगुप्त के वीणा-वादक भाँति पर, और लक्ष्मी रूप में चन्द्रगुप्त (द्वितीय) और कुमारगुप्त (प्रथम) के अश्वारोही भाँति पर देखी जाती हैं। सामान्यतः उनके दाहिने हाथ में पाश रहता है पर कुछ सिक्कों पर वे या तो खाली हाथ हैं या फिर मयूर को चुगाती हुई हैं।

५. **सिंहवाहिनी देवी**—चन्द्रगुप्त (प्रथम) के राज दम्पति भाँति और चन्द्रगुप्त (द्वितीय) तथा कुमारगुप्त (प्रथम) के सिंहनिहन्ता भाँति पर सिंहवाहिनी देवी का अंकन मिलता है। चन्द्रगुप्त (प्रथम) के सिक्कों पर वे बायें हाथ में विषाण और दाहिने हाथ में पाश लिये हैं। इस प्रकार इन पर वे सिंहवाहिनी अरदोक्षो हैं। सिंहवाहिनी अरदोक्षो एक उत्तरवर्ती कुशाण शासक—सम्भवतः कनिष्क (तृतीय) के सिक्के पर मिलती है।[2] हो सकता है इसी सिक्के की अनुकृति गुप्त सिक्कों पर की गयी हो।

चन्द्रगुप्त (द्वितीय) और कुमारगुप्त (प्रथम) के सिक्कों पर उनके बायें हाथ में कमल और दाहिने हाथ में या तो पाश या मुण्ड-माला होता है या फिर वह खाली रहता है। कुछ सिक्कों पर वे सिक्के बिखेरती हुई भी अंकित पायी जाती हैं। अपने इन रूपों में उन्हें दुर्गा या अम्बिका कहा जा सकता है।

६. **जल-जन्तु वाहिनी देवी**—समुद्रगुप्त के व्याघ्र-निहन्ता भाँति के सिक्कों पर बायें हाथ में खिला हुआ कमल और दाहिना खाली हाथ आगे बढ़ाये मीन-मुख

---

१. अब तक इस भाँति के केवल एक सिक्के पर देवी खड़ी पायी गयी है (ज० न्यू० सो० इ० १५, पृ० ८०; क्वायनेज आव द गुप्त इम्पायर, पृ० १४४)

२. क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, फलक १.७

मकर पर खड़ी देवी का अंकन है। कुमारगुप्त (प्रथम) के व्याघ्र-निहन्ता भाँति पर वे मयूर को चुगाती हुई मकर पर खड़ी हैं। उनके खड्गी-निहन्ता भाँति पर वे हस्ति-मुख मकर पर, जिसके सूँड़ में कमलनाल है, खड़ी हैं। इस स्थिति में वे खाली हाथ हैं और उनका बाँया हाथ नीचे को गिरा है और दाहिने हाथ से वे किसी वस्तु की ओर इंगित कर रही हैं। उनके पीछे छत्र-धारिणी दासी खड़ी है।

स्मिथ का कहना है कि समुद्रगुप्त के सिक्कों पर देवी का जल-जन्तु वाहन इस बात का द्योतक है कि वे समुद्र-देवता वरुण की पत्नी हैं। देवता का संकेत राजा के समुद्र नाम से प्राप्त होता है। उनका यह भी कहना था कि वे रति भी हो सकती हैं क्योंकि उनका वाहन भी एक प्रकार का मीन अथवा मकर है।[१] गुप्त-कालीन कला में गंगा-यमुना की प्रधानता के आधार पर अल्तेकर का अनुमान है कि इन सिक्कों पर मकरवाहिनी गङ्गा का अंकन है।[२] ये सभी अनुमान समुद्रगुप्त के सिक्कों पर अंकित प्रतीक पर समान रूप से घटित किए जा सकते हैं। पर वे कुमारगुप्त (प्रथम) के सिक्कों के अंकन पर घटित हो सकते हैं, इसमें सन्देह है। मूर्तिशास्त्रों में किसी भी देवी के मयूर-चुगाते हुए रूप का अंकन नहीं है; यह उनके देवी रूप मानने में सबसे बड़ी बाधा है। व्याघ्र-निहन्ता भाँति का अंकन, कार्तिकेय भाँति का (जिसमें राजा मयूर चुगाते अंकित हैं) और खड्गी निहन्ता भाँति छत्र भाँति का (जिसमें कुब्जक राजा के ऊपर छत्र लगाये है) स्मरण दिलाता है। इनको दृष्टि में रखते हुए अधिक सम्भावना इस बात की जान पड़ती है कि यह प्रतीक देवी का न होकर रानी का है।

७. खड़ी हुई रानी--समुद्रगुप्त और कुमारगुप्त (प्रथम) के अश्वमेध भाँति के सिक्कों पर दाहिने कन्धे पर चामर रक्खे खड़ी नारी का अंकन है। अश्वमेध यज्ञ में रानी द्वारा अश्वमेध के घोड़ों को नहलाने और पंखा करने का विधान है; इस कारण समझा जाता है कि इन सिक्कों पर रानी का अंकन हुआ है।

८. पर्यंकासीन रानी—चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के पर्यंकासीन भाँति और कुमार-गुप्त (प्रथम) के वीणा-वादक भाँति पर एक नारी पर्यंक पर बैठी दिखाई गयी है। उसके दाहिने हाथ में पुष्प है और बायें हाथ को वह पर्यंक पर टेके हुए है। भारतीय कला में देवी का अंकन इस रूप में अज्ञात है, इस कारण सम्भवतः यह रानी का अंकन है। वीणा-वादक भाँति पर इस अंकन की सम्भावना अल्तेकर स्वीकार करते हैं।[३]

९. कार्तिकेय--कुमारगुप्त के उन सिक्कों पर जिन्हें अल्तेकर ने कार्तिकेय भाँति का और एलन ने मयूर भाँति का नाम दिया है, कार्तिकेय बायें हाथ में शक्ति धारण किए मयूर पर सवार अंकित किए गये हैं।

---

१. ज० ए० सो० बं०, १८८४,१, पृ० १७७

२. क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, पृ० ७०

३. वही, पृ० २११

अभिलेख

सोने के गुप्त सिक्कों पर प्राप्य अभिलेख पाँच प्रकार के हैं। चार प्रकार के अभिलेख चित ओर और पाँचवें प्रकार का पट ओर मिलता है। चित ओर के अभिलेख इस प्रकार हैं :—

(१) प्रायः सभी सिक्कों पर चित ओर प्रतीक के चारों ओर एक लम्बा अभिलेख पाया जाता है। इस अभिलेख में प्रचलितकर्ता शासक का नाम, उसकी उपाधि अथवा प्रशस्ति पायी जाती है। सिक्कों पर अंकित यह प्रशस्तियाँ काव्य-छन्दों में हैं। संसार के मुद्रातत्व के इतिहास में सम्भवतः यह प्राचीनतम उदाहरण है, जहाँ काव्य-छन्दों का इस प्रकार उपयोग हुआ है।

(२) उत्पताक, धनुर्धर, कृतान्त-परशु, राज-दम्पति आदि भाँति के सिक्कों पर जिन पर राजा खड़े अंकित किये गये हैं, राजा का पूरा अथवा आधा नाम अथवा उनके नाम का प्रथम अक्षर चीनी ढंग पर खड़ी पंक्ति में, प्रत्येक अक्षर अलग-अलग, राजा की बायीं काँख के नीचे अंकित पाया जाता है। अन्य भाँति के सिक्कों पर राजा के नाम का यह अंकन नहीं मिलता।

(३) समुद्रगुप्त के अश्वमेध भाँति के सिक्कों पर अश्व के नीचे और ललित गन्धर्व (वीणावादक) भाँति के सिक्कों पर पादासन के ऊपर **सि** अक्षर अंकित पाया जाता है। पता नहीं इसका क्या तात्पर्य है। कुछ लोगों का अनुमान है कि वह **सिद्धम्** का द्योतक है; पर यहाँ **सिद्धम्** का कोई प्रयोजन जान नहीं पड़ता।

चन्द्रगुप्त द्वितीय के पर्यंक भाँति के कुछ सिक्कों पर पर्यंक के नीचे **रूपाकृति** शब्द अंकित मिलता है। अब तक उसकी कोई सार्थक व्याख्या सम्भव न हो सकी है। **प** के ऊपर **आ** की मात्रा स्पष्ट है। यद्यपि वह तनिक विलग है। यदि इस मात्रा को ठप्पा उकेरने वाले की भूल मानें तभी उसकी कोई समुचित व्याख्या की जा सकती है। **रूप** एक प्रकार के नाटक विशेष को कहते हैं। अतः **रूपकृती** का अर्थ होगा :— रूप-रचना अथवा रूप-प्रदर्शन में निष्णात। इस दृष्टि से यह इस बात का बोधक हो सकता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय एक कुशल अभिनेता था। बहुत सम्भव है इसमें **देवी-चन्द्रगुप्तम्** की उस घटना का संकेत हो, जिसमें चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ध्रुवस्वामिनी का रूप धारण किया था।

(४) वैन्यगुप्त, नरसिंहगुप्त, कुमारगुप्त (तृतीय) और विष्णुगुप्त के सिक्कों पर राजा के दोनों पैरों के बीच और प्रकाशादित्य के सिक्कों पर घोड़े के नीचे एक-एक अक्षर अंकित मिलता है। इसका तात्पर्य अज्ञात है। पर वे पूर्ववर्ती और परवर्ती शासकों के सिक्कों के विभेदन में सहायक सिद्ध हुए हैं।

(५) पाँचवा लेख सिक्का प्रचलित करने वाले शासक के विरुद के रूप में पट ओर मिलता है, और यह विरुद सिक्के की 'भाँति' से सामंजस्य रखता हुआ होता है। एक आध सिक्कों पर इस विरुद के स्थान पर शासक का मूल नाम भी मिलता है। यह लेख

प्रायः देवी की आकृति के दाहिनी ओर अंकित है; कुछ सिक्कों पर वह दो भागों में विभक्त देवी के दोनों ओर लिखा हुआ भी मिलता है।

ये अभिलेख विभिन्न शासकों के सिक्कों पर इस भाँति मिलते हैं—

चन्द्रगुप्त (प्रथम)—चित ओर की आकृति के चारों ओर मिलने वाला अभिलेख चन्द्रगुप्त (प्रथम) के सिक्कों पर नहीं है। उन पर राजा के बायीं काँख के नीचे चीनी ढंग पर दो आड़ी पंक्तियों में **चन्द्रगुप्त** नाम है। नाम की दोनों पंक्तियों के बीच ध्वज का दण्ड विभाजन रेखा के रूप में है। रानी के सिर के ऊपर ७ और ९[1] के बीच उनका नाम **श्री कुमार देवी** अथवा **कुमार देवी श्री** अंकित है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि **श्री** का प्रयोग केवल रानी के लिए हुआ है, राजा के लिए नहीं।

इन सिक्कों पर पट ओर दाहिनी तरफ **लिच्छवयः** अंकित है। समुद्रगुप्त और उनके उत्तराधिकारियों के जितने भी सिक्के मिलते हैं उन पर पट ओर सदैव उनका विरुद अथवा नाम व्याकरण की दृष्टि से कर्ताकारक और एकवचन में ही मिलता है; और उसका यही तात्पर्य होता है कि सिक्के को राजा ने जिसका नाम अथवा विरुद सिक्के पर अंकित है, उसे प्रचलित किया। इन सिक्कों पर भी लेख कर्ताकारक में ही है किन्तु वह बहुवचन में है। यह एक असाधारण सी बात है। इसका सीधा-सादा अर्थ तो यह हुआ कि इन सिक्कों को किसी एक अथवा दो व्यक्तियों ने नहीं, वरन् लिच्छवि नामक एक जन-समूह ने किया।

सर्वविदित है कि गुप्त-काल के आरम्भिक दिनों में गंगा के उत्तर लिच्छवि नामक एक शक्तिशाली जन था; उसका गुप्तों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था यह गुप्त-अभिलेखों में समुद्रगुप्त के लिए प्रयुक्त **लिच्छवि-दौहित्र** शब्द से प्रकट होता है। पर उन्होंने गुप्तवंशी राजा के इन सिक्कों को राजनीतिक सत्ता के रूप में प्रचलित किया होगा, यह विश्वसनीय नहीं है और समाधान अपेक्षित है। इसका समाधान लोगों ने नाना-प्रकार से करने की चेष्टा की है[2], पर अब तक उनमें कोई भी सन्तोषजनक नहीं है।

समुद्रगुप्त—समुद्रगुप्त के उत्तताक, धनुर्धर और कृतान्त-परशु भाँति के सिक्कों पर राजा का नाम बायीं काँख के नीचे **समुद्र** अथवा **समुद्रगुप्त** रूप में लिखा है। इन दोनों रूपों में नाम उत्तताक और कृतान्त-परशु भाँति के सिक्कों पर मिलता है; धनुर्धर भाँति पर केवल **समुद्र** पाया जाता है। जहाँ पूरा नाम है, वहाँ वह दो पंक्तियों में **समुद्र** और **गुप्त** के रूप में विभक्त है।

कृतान्त-परशु भाँति के कुछ सिक्कों पर **समुद्र** और **समुद्र गुप्त** के स्थान पर **कृ** अंकित है। इसे लोगों ने **कृतान्त-परशु** का, जिसका प्रयोग पट ओर विरुद के रूप में हुआ है, संकेत माना है। अन्यत्र न तो समुद्रगुप्त का और न इस वंश के किसी

---

१. सिक्कों के चारों ओर के लेखों के आरम्भ होने का संकेत इस ग्रन्थ में सर्वत्र घड़ी के घण्टों के स्थान के अनुसार किया गया है।

२. ज० न्यू० सो० इ०, १७, पृ० १७-१८; १९, पृ० १३९

अन्य राजा का कोई विरुद इस प्रकार संक्षिप्त रूप में चित ओर पाया जाता और न समुद्रगुप्त के किसी अन्य भाँति के सिक्कों पर ही कृ का प्रयोग हुआ है, इस प्रकार यह एक असाधारण-सी बात है और समुचित समाधान की अपेक्षा रखता है।

समुद्रगुप्त के प्रत्येक भाँति के दोनों सिक्कों पर चित ओर के किनारे का अभिलेख और पट ओर का विरुद अलग-अलग ढंग के, इस प्रकार हैं :—

१. **उत्पताक भाँति**—चित ओर **समर-शत-वितत-विजयो-जित-रिपुरजितो दिवं जयति**। पट ओर **पराक्रमः**

२. **धनुर्धर भाँति**—चित ओर **अप्रतिरथो विजित्य क्षितिं सुचरितैर्** (अथवा **अवनीशो**) **दिवं जयति**। पट ओर **अप्रतिरथः**

३. **कृतान्त परशु भाँति**—चित ओर **कृतान्तपरशुर्जयत्यजितराजजेताऽजितः**। पट ओर **कृतान्तपरशुः**

४. **अश्वमेध भाँति**—चित ओर **राजाधिराजः पृथ्वीमवित्वा** (अथवा **विजित्य**) **दिवं जयत्याहृत-वाजिमेधः**। पट ओर **अश्वमेध-पराक्रमः**

५. **व्याघ्र-निहन्ता भाँति**—इस भाँति के सिक्कों पर आकृति को घेरता हुआ न तो कोई लम्बा अभिलेख है और न शासक का नाम। दाहिनी ओर केवल **व्याघ्र-पराक्रमः** विरुद अंकित है। यही विरुद इस भाँति के कुछ सिक्कों पर पट ओर भी पाया जाता है। अन्य पर पट ओर राजा का नाम **राजा समुद्रगुप्तः** है।

६. **गन्धर्व-ललित** (वीणावादक) **भाँति**—चित ओर **महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तः**। पट ओर **समुद्रगुप्तः**

काचगुप्त—काचगुप्त का सिक्का केवल एक भाँति—चक्रध्वज भाँति का है, उस पर चित ओर **काचोगामवजित्य दिवं कर्मभिरुत्तमैर्जयति** और पट ओर **सर्वराजोच्छेत्ता** विरुद है। **सर्व राजोच्छेत्ता** विरुद महाशक्तिशाली शासक का द्योतक है, इस कारण अनेक विद्वान यह मानने में असमर्थ हैं कि समुद्रगुप्त के अतिरिक्त किसी अन्य शासक ने इस सिक्के को प्रचलित किया होगा। उनका कहना है कि समुद्रगुप्त को उसके उत्तराधिकारियों ने **सर्वराजोच्छेत्ता** कहा है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय—धनुर्धर, उत्पताक और पर्यंकासीन राजदम्पती भाँति के सिक्कों पर राजा नाम इस प्रकार अंकित मिलता है।

(१) उत्पताक भाँति के एकमात्र सिक्के पर आड़ा एक पंक्ति में—**चन्द्रगुप्त**

(२) धनुर्धर भाँति के एक अति दुर्लभ सिक्के पर दो पंक्तियों में विभक्त—**चन्द्र** और **गुप्त**।[1]

---

१. जिस सिक्के पर इस प्रकार नाम के लिखे होने की बात कही जाती है, उनका न तो पूरा परिचय प्राप्त है और न वह चित्रित ही किया गया है (ज० रा० ए० सो०, १८९३, पृ० १०५)

(३) उपर्युक्त दो सिक्कों के अतिरिक्त सभी धनुर्धर भाँति और पर्यंकासीन राजदम्पती भाँति के सिक्कों पर—**चन्द्र**

चित ओर अंकित लम्बा अभिलेख गद्य और पद्य दोनों रूपों में पाया जाता है, गद्यात्मक अभिलेख निम्नलिखित हैं :—

१. **देव श्री महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त**—धनुर्धर और सिंह निहन्ता (उपभाँति ३ ब) भाँति

२. **देव श्री महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तस्य**—पर्यंक भाँति (ब और द उपभाँति)

३. **देव श्री महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तस्य विक्रमादित्यस्य**—पर्यंक भाँति (अ उपभाँति)

४. **परमभागवत महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तः**—पर्यंक (इ उपभाँति) और अश्वारोही भाँति।

५. **महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त**—छत्र (एक उप भाँति), सिंहनिहन्ता (उपभाँति ३अ), पर्यंक (उपभाँति स) भाँति।

छन्दोबद्ध लेख निम्नलिखित हैं:—

१. **नरेन्द्रचन्द्रः प्रथित रणो रणे जयत्यजेयो भुवि सिंह विक्रमः**—सिंहनिहन्ता भाँति (उपभाँति ३ अ और ब छोड़कर)

२. **क्षितिमवजित्य सुचरितैर्दिवं जयति विक्रमादित्य**—छत्र भाँति (उपभाँति २)

३. **रथिमथोऽ [तिर*] थ प्रवरः क्षितौ**—पर्यंकासीन राजदम्पती भाँति के एक सिक्के पर यह अल्तेकर का अनुमानित पाठ हैं। उनका कहना है कि यह लेख द्रुतविलम्बित छन्द में है और यह उसका केवल एक पद है।[२]

४. **प्रथमथा [धिरुह्य *] क्षितिमभिपाता [दिवं जयति*]**—इसे अल्तेकर ने मंचासीन राजदम्पती भाँति के एक दूसरे सिक्के पर पढ़ा है।[३] यह पाठ भी अभी अनिश्चित ही है।

५. **वसुधां विजित्य जयति त्रिदिवं पृथ्वीश्वरः [पुण्यैः*]**—उत्पताक भाँति।

चक्रविक्रम भाँति पर कोई अभिलेख चित ओर नहीं है।

चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के सिक्कों के पट ओर के विरुद निम्नलिखित है:—

श्री विक्रमः—धनुर्धर, पर्यंक, पर्यंकासीन राजदम्पती भाँति।

सिंह-विक्रमः—सिंह-निहन्ता भाँति।

---

१. यहाँ तथा इस ग्रन्थ में सर्वत्र अल्तेकर के 'क्वायनेज आव गुप्त इम्पायर' में दिये गये वर्गीकरण का उल्लेख हुआ है।

२. ज० न्यू० सो० इ०, १८, पृ० ५४–५५

३. वही, पृ० ५४

अजित-विक्रमः —अश्वारोही भाँति ।

चक्र-विक्रमः —चक्र-विक्रम भाँति ।

विक्रमादित्य—छत्र और पर्यंक भाँति ।

परमभागवत—उत्पताक भाँति ।

अन्तिम विरुद को छोड़ कर सभी राजा के शौर्य के द्योतक हैं । अन्तिम विरुद उनकी धार्मिक-प्रवृत्ति का प्रतीक है; इस प्रकार यह सिक्कों पर पायी जाने वाली विरुदों की परम्परा से यह सर्वथा भिन्न है । धनुर्धर भाँति (उपभाँति फ) पर विरुद के स्थान पर राजा का नाम **चन्द्रगुप्त** है ।

कुमारगुप्त (प्रथम)—कुमारगुप्त (प्रथम) के धनुर्धर भाँति के केवल एक उपभाँति पर बायें काँख के नीचे **कुमार** लिखा मिलता है । अन्यथा, उसने धनुर्धर भाँति के एक दूसरे उपभाँति, खड्गहस्त और व्याघ्र-निहन्ता भाँति के सिक्कों पर अपने नाम का केवल **प्रथम अक्षर क** का प्रयोग किया है । अन्तिम दो भाँतियों पर पट ओर उनका पूरा नाम मिलता है—खड्ग-हस्त भाँति पर **श्री कुमारगुप्त** और व्याघ्र-निहन्ता भाँति पर **कुमारगुप्तोधिराजा** । धनुर्धर भाँति के तीसरे उपभाँति पर उन्होंने अपना नाम कहीं भी नहीं दिया है । अप्रतिघ भाँति के सिक्कों पर बीचवाली आकृति के दोनों ओर पूरा नाम **कुमारगुप्त** दो आड़ी पंक्तियों में अंकित है । पहली पंक्ति **कुमार** दाहिनी ओर ऊपर से नीचे की ओर आती है और दूसरी पंक्ति—**गुप्त** उसी क्रम में बायीं ओर नीचे से ऊपर की ओर जाती है । अन्य भाँति के सिक्कों पर नाम है ही नहीं ।

चित ओर गद्यात्मक और पद्यात्मक दोनों प्रकार के लेख मिलते हैं । गद्यात्मक लेखों की संख्या केवल तीन है: छन्दोबद्ध लेख इक्कीस हैं । गद्यात्मक लेख निम्न लिखित हैं:—

१. महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्तः —धनुर्धर (उपभाँति १ और २ अ) और ललित-गन्धर्व भाँति ।

२. परम राजाधिराज श्री कुमारगुप्तः —धनुर्धर भाँति (उपभाँति ४ अ) ।

३. श्रीमां व्याघ्रबल पराक्रमः —व्याघ्रनिहन्ता भाँति ।

छन्दोबद्ध लेख इस प्रकार हैं—

१. गुणेशो महीतलम् जयति कुमार [गुप्तः*]—धनुर्धर भाँति (उपभाँति २ ब) । यह लेख अधूरा है और नये सिक्के प्राप्त होने पर ही उसका पूरा पाठ सम्भव है ।

२. जयति महीतलम् श्री कुमार गुप्तः —धनुर्धर भाँति (उपभाँति ३ ब और ४ ब)[१] ।

---

१. सम्भवतः यही लेख छत्र भाँति के सिक्कों पर भी होगा । उसके केवल ३ सिक्के (२ बयाना दफीने में और १ अमेरिकन न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी के संग्रह में) अब तक ज्ञात हैं और उन तीनों पर केवल आरम्भिक अंश 'जयति महीतलं' प्राप्त है ।

३. **जयति महीतलम् श्री कुमारगुप्तः सुधन्वी**—धनुर्धर भाँति (उपभाँति ३ स)।

४. **पृथ्वीतलाम्बरशशि कुमारगुप्तो जयत्यजितः**—अश्वारोही भाँति (उपभाँति १ अ)।

५. **विजितावनिरवनिपतिः कुमारगुप्तो दिवं जयति**—धनुर्धर भाँति (उपभाँति ३ अ)।

६. **जयति नृपोरिभिरजितः**—अश्वारोही भाँति (उपभाँति १ ब)।

७. **क्षितिपतिरजितो विजयी कुमारगुप्तो जयत्यजितः**—अश्वारोही भाँति (उपभाँति २ स)।

८. **क्षितिपतिरजितो विजयी कुमारगुप्तो दिवं जयति**—अश्वारोही भाँति (उपभाँति १ स)।

९. **क्षितिपतिरजितमहेन्द्रः कुमारगुप्तो दिवं जयति**—यह सिंहनिहन्ता भाँति (उपभाँति १ अ) के लेख का अनुमानित पाठ है।

१०. **गुप्तकुलव्योमशशि जयत्यजेयोजितमहेन्द्र**:—अश्वारोही भाँति (उपभाँति २ अ)।

११. **गुप्तकुलामलचन्द्रो महेन्द्रकर्माजितो जयति**—अश्वरोही भाँति (उपभाँति २ ब)।

१२. **पृथ्वीतलेश्वरेन्द्रः कुमारगुप्तो जयत्यजितः**—अश्वारोही भाँति (उपभाँति २ द)।

१३. **गामवजित्य सुचरितैः कुमारगुप्तो दिवं जयति**—खड्गहस्त भाँति।

१४. **कुमारगुप्तो विजयी सिंहमहेन्द्रो दिवं जयति**—सिंहनिहन्ता भाँति (उपभाँति १ ब)। यह पाठ अनुमानित है।

१५. **कुमारगुप्तो युधि सिंहविक्रमः**—सिंहनिहन्ता भाँति (उपभाँति १ स)।

१६. **साक्षादिव नरसिंहः सिंहमहेन्द्रो जयत्यनिशम्**—सिंहनिहन्ता भाँति (उपभाँति २ अ)।

१७. **क्षतरिपु कुमारगुप्तो राजत्राताजयति रिपून**—गजारूढ़ और गजारूढ़-सिंहनिहन्ता भाँति। पाठ अनुमानित है।

१८. **भर्ता (?) खड्गत्राताकुमारगुप्तो जयत्यनिशं**—खड्गी-निहन्ता भाँति। पाठ अनुमानित है।

१९. **देवोजितशत्रु : कुमारगुप्तोधिराजा**—अश्वमेध भाँति।

२०. **जयति स्वगुणैर्गुणराशि महेन्द्रकुमारः**[1]—कार्तिकेय भाँति।

---

१. जिन दिनों एलन ने अपनी ब्रिटिश संग्रहालय के गुप्त सिक्कों की सूची प्रकाशित की थी, उन दिनों यह लेख केवल आंशिक रूप में पढ़ा गया था। उस समय उन्होंने लेख के दूसरे शब्द

२१. [— — —*] **प्रताप परमेश्वरः श्री प्रथितकुल रूपदप्तः निरूपम-गुण-महार्ण्णवः अप्रतिवार्यवीर्यः**—अप्रतिघ भाँति। यह सोहोनी का पाठ है;[1] और पूर्व पाठों[2] से निखरा हुआ है; फिर भी इसका कोई स्पष्ट अर्थ नहीं जान पड़ता।

कुमार गुप्त के सिक्कों के पट ओर निम्नलिखित विरुद पाये जाते हैं—

श्री महेन्द्रः	धनुर्धर भाँति
अजित महेन्द्रः	अश्वारोही भाँति
सिंह महेन्द्रः	सिंहनिहन्ता भाँति
श्री महेन्द्रगजः	गजारूढ़ भाँति
सिंहनिहन्ता महेन्द्रगजः	गजारूढ़ सिंहनिहन्ता भाँति
श्री महेन्द्र खड्गः	खड्गीनिहन्ता भाँति
श्री अश्वमेध महेन्द्र	अश्वमेध भाँति
श्री महेन्द्रादित्य अथवा **महेन्द्रादित्य**	छत्र भाँति
अप्रतिघ[3]	अप्रतिघ भाँति

अन्य भाँति के सिक्कों पर पट और राजा का नाम **कुमारगुप्त** लिखा हुआ मिलता है।

स्कन्दगुप्त—स्कन्दगुप्त के धनुर्धर भाँति के सिक्कों पर बायीं काँख के नीचे **स्कन्द** लिखा है। राजदम्पती भाँति और छत्र भाँति (जिसे अल्तेकर स्कन्दगुप्त का कहते हैं और इन पंक्तियों के लेखक की धारणा है कि वह घटोत्कचगुप्त का है) के सिक्कों पर नाम नहीं मिलता। इन सिक्कों पर चित ओर के अभिलेख इस प्रकार हैं—

१. **जयति महीतलम् (स्कन्दगुप्तः*)**[4] **सुधन्वी**—धनुर्धर भाँति (हलके वजनवाले) और राजदम्पती भाँति। यह कुमारगुप्त के चौथे लेख का अनुकरण है।

के "स्वभूमौ" होने का अनुमान किया था (पृ० ८४)। हीरानन्द शास्त्री ने "स्वभूमौ" के आगे "व्याघ्रनिहन्ता" होने का अनुमान प्रकट किया (ज० ए० सो० बं०, १९१७, पृ० १५) तदनन्तर एलन को इस भाँति का एक अच्छा सिक्का मिल गया और तब उन्होंने यह पाठ उपस्थित किया (न्यू० क्रा०, १५, पंचम सीरीज, पृ० २३५)। पर अल्तेकर की धारणा बनी हुई है कि इस लेख को अब तक पूर्णतः पढ़ना सम्भव नहीं हो सका है। वे "गुण" के आगे खाली स्थान छोड़ देते हैं (क्वायनेज आफ द गुप्त इम्पायर, पृ० २०४)। सम्भवतः उनका ध्यान एलन के उक्त लेख की ओर नहीं गया है।

१. ज० न्यू० सो० इ०, २२, पृ० ३४७।

२. वही, १०, पृ० ११५; १२, पृ० ५८

३. इसे एलन ने "श्री-प्रताप" पढ़ा था; पर अपने पाठ के सम्बन्ध में वे सन्दिग्ध रहे। उनके इस पाठ को सोहोनी ने अभी हाल में मान्य कहा है (ज० न्यू० सो० इ०, २२, पृ० ३४७)।

४. किसी सिक्के पर "स्कन्दगुप्तः" स्पष्ट उपलब्ध नहीं हुआ है। किन्तु एलन ने इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि कुछ सिक्कों पर अक्षरों के जो अवशेष दिखाई पड़ते हैं, उनसे इस पाठ की सम्भावना प्रकट होता है (ब्रि० सं० मु०, भूमिका, पृ० १२०-१२१)।

२. **परहितकारी राजा जयति दिवं क्रमादित्य** :—धनुर्धर भाँति (भारी वजन) ।

छत्र भाँति के सिक्के पर अभिलेख का मात्र विजितवनि उपलब्ध है। सम्भवतः पूरा लेख कुमारगुप्त के दूसरे लेख के समान रहा होगा।

धनुर्धर भाँति (हलका वजन) और राजदम्पती भाँति के सिक्कों के पट ओर स्कन्दगुप्त नाम और धनुर्धर भाँति (भारी वजन) पर विरुद क्रमादित्य है। छत्र भाँति के सिक्के पर भी विरुद क्रमादित्य है।

परवर्ती शासक—प्रकाशादित्य के अतिरिक्त, परवर्ती सभी राजाओं ने एक मात्र धनुर्धर भाँति के सिक्के प्रचलित किये थे; और उन सब पर बायीं काँख के नीचे नाम और पट ओर विरुद मिलता है जो इस प्रकार है—

	चित ओर नाम	पट ओर विरुद
घटोत्कचगुप्त	घटो	क्रमादित्यः
कुमारगुप्त (द्वितीय)	कु	क्रमादित्यः
बुधगुप्त	बुध[1]	श्री विक्रमः
वैन्यगुप्त	वैन्य[2]	श्री द्वादशादित्यः
नरसिंहगुप्त	नर	बालादित्यः
कुमार (तृतीय)	कु	श्री क्रमादित्यः
विष्णुगुप्त	विष्णु	श्री चन्द्रादित्यः

अश्वारोही सिंहनिहन्ता भाँति पर पट ओर प्रकाशादित्य विरुद है। उस पर शासक का नाम नहीं है। उसे एलन[3] और अल्तेकर[4] ने पुरुगुप्त का और इन पंक्तियों के लेखक[5] तथा जे० डब्लू० कर्टिस[6] ने भानुगुप्त का बताया है। अब स्वयं

---

१. एलन ने इसे उस समय तक ज्ञात एक मात्र सिक्के पर "पुर" पढ़ा था और उसे पुरुगुप्त का सिक्का बताया था। पीछे सरसीकुमार सरस्वती ने उसके 'बुध' पाठ होने की ओर ध्यान आकृष्ट किया (इ० क०, १, पृष्ठ ६९२)। उनके इस पाठ का समर्थन हाल में मिले दो अन्य सिक्कों से भी होता है (ज० न्यू० सो० इ०, १२, पृष्ठ ११२)। किन्तु अब भी कुछ लोग हैं जो एलन के ही पाठ को स्वीकार करते हैं (न० न० दास गुप्त, बी० सी० लॉ वाल्यूम, १, पृ० ६१७; बी० पी० सिनहा, दि डिक्लाइन आव दि किंगडम आव मगध, पृ० २८३–२८४)।

२. इसे पहले रैप्सन ने "चन्द्र" पढ़ा था (न्यू० क्रा०, १८९१, पृ० ५७) और उसे एलन ने ग्रहण किया था (ब्रि० सं० सू०, पृ० १४४)। पश्चात दिनेशचन्द्र गांगुली ने उसका शुद्ध पाठ "वैन्य" उपस्थित किया (इ० हि० क्वा०, १९३४, पृ० १९५)।

३. ब्रि० म्यू० सू०, पृ० १३४—भूमिका, पृ० १०३।

४. क्वायनेज आव द गुप्त इम्पायर, पृ० २८३–८४।

५. ज० न्यू० सो० इ०, १२, पृ० ७३–७६।

६. वही, २०, पृ० ३४–३५।

इन पंक्तियों के लेखक को अन्यत्र चर्चित कारणों से उसके भानुगुप्त का सिक्का होने में सन्देह होने लगा है।

धनुर्धर भाँति के कुछ सिक्कों पर पट ओर **श्री विक्रम** विरुद है और चित ओर बायीं काँख के नीचे किसी शासक का नाम नहीं है। आरम्भ में उन्हें लोग चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का ही मानते थे; किन्तु भारी वजन (१४२ ग्रेन) के होने के कारण वे निसन्दिग्ध रूप से चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के सिक्के नहीं हो सकते। अतः एलन ने उन्हें पुरुगुप्त का सिक्का कहा है;[१] अल्तेकर ने उनके बुधगुप्त के सिक्के होने का अनुमान किया है।[२] साथ ही उन्होंने इस बात की भी सम्भावना प्रकट की है कि वे सिक्के पाँचवीं अथवा आरम्भिक छठीं शती के किसी अब तक अज्ञात शासक के भी हो सकते हैं।[३] वि० प्र० सिनहा ने, कुछ अन्य भारी वजन के सिक्कों के आधार पर, जिन पर चित ओर **चन्द्र** नाम और पट ओर **श्री विक्रमः** विरुद मिलता है, चन्द्रगुप्त (तृतीय) के अस्तित्व का अनुमान किया है।[४]

घटोत्कचगुप्त के सिक्कों पर चित ओर का लम्बा लेख अनुपलब्ध है। लेनिनग्राद वाले सिक्के पर अन्त की ओर केवल **गुप्त** पढ़ा जाता है।[५] यही बात कुमार गुप्त (द्वितीय) के सिक्कों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है; उनके कुछ सिक्कों पर केवल **प्त** पढ़ा जाता है। बुद्धगुप्त के सिक्कों पर लेख का आरम्भ **परहितकारी** से होता है किन्तु बाद का अंश किसी सिक्के पर नहीं मिलता। स्कन्दगुप्त के कुछ सिक्कों पर लेख **परहितकारी** शब्द से आरम्भ होता है, उसे देखते हुए अनुमान किया जा सकता है कि बुधगुप्त के सिक्कों पर पूरा लेख होगा—**परहितकारी राजा जयति दिवं श्री बुधगुप्तः।** वैन्यगुप्त के सिक्कों पर लेख के जो अवशेष मिलते हैं, उनसे लेख का रूप-निर्धारण सम्भव नहीं है। नरसिंहगुप्त के एक सिक्के पर एलन ने लेख के अवशिष्ट अन्तिम भाग को **नरसिंहगुप्त** पढ़ा है;[६] किन्तु अल्तेकर को उनके इस पाठ पर सन्देह है।[७] कुमारगुप्त (तृतीय) के सिक्कों पर, जिन्हें एलन ने कुमारगुप्त (द्वितीय) के सिक्कों के रूप में प्रकाशित किया है, **महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त क्रमादित्य** के अवशेष जान पड़ते हैं। विष्णुगुप्त के सिक्कों पर

---

१. ब्रि० सं० सू०, पृ० १०२
२. क्वायनेज आव दि गुप्त इम्पायर, पृ० २७६।
३. वही।
४. डिक्लाइन ऑव दि किंगडम ऑव मगध, पृ० ३९
५. अभी हाल में घटोत्कचगुप्त का एक दूसरा सिक्का प्रकाशित हुआ है (ज० न्यू० सो० इ०, २२, पृ० २६०)। इस पर अजित घोष ने लम्बे लेख के अंश के रूप में "श्री क्रमादित्य" पढ़ा है।
६. ब्रि० सं० सू०, पृ० १३७।
७. क्वायनेज आफ द गुप्त इम्पायर, पृ० २७०, पाद टिप्पणी ३।

कुछ भी उपलब्ध नहीं है। प्रकाशादित्य के सिक्कों पर लेख का अन्तिम भाग विजित्य वसुधांदिवं जयति पढ़ा जाता है।

निम्नलिखित शासकों के सिक्कों पर राजा की टाँगों के बीच, अत्यन्त स्पष्ट रूप में अंकित कुछ पाये जाते हैं, जो इस प्रकार हैं—

वैन्यगुप्त	रे (?)
नरसिंहगुप्त	ग्रे, गु
कुमारगुप्त (तृतीय)	गो, जो, ज
विष्णुगुप्त	रु
प्रकाशादित्य	रु अथवा उ, म

इन अक्षरों का अभिप्राय अब तक अज्ञात है।[1] किन्तु वे राज्यक्रम-निर्धारण में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुए हैं।

सोने के सिक्कों की उपलब्धियाँ—गुप्त शासकों के सोने के सिक्के स्फुट एवं दफीनों के रूप में देश के विभिन्न भागों से मिले हैं। किन्तु उनमें से अनेक के सम्बन्ध में ऐसी जानकारी जो इतिहास-निर्माण की दृष्टि से महत्व की होती, हमें उपलब्ध नहीं है; जो कुछ भी जानकारी आज प्राप्त है उनसे केवल उन सिक्कों के उपलब्धियों का सामान्य परिचय ही मिलता है। यह जानकारी इस प्रकार है

बंगाल

१. कालीघाट—गुप्त सिक्कों का सबसे पहला ज्ञात दफीना १८७३ ई० में कलकत्ता के निकट हुगली के किनारे कालीघाट में मिला था। इस दफीने में कितने सिक्के थे, इसका तो कुछ पता नहीं है; केवल इतना मालूम है कि वह नवकृष्ण नामक किसी सज्जन को मिला था। उन्होंने इस दफीने के सिक्कों में से दो सौ सिक्के ईस्ट इण्डिया कम्पनी के तत्काल गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स को भेंट किये थे। वारेन हेस्टिंग्स ने उनमें से १७२ सिक्के कम्पनी के लन्दन स्थित डाइरेक्टरों के पास भेजे थे[2] और उन लोगों ने उन सिक्कों को पहले तो कुछ संग्रहालयों को बाँटा। २४ सिक्के ब्रिटिश म्यूजियम को और उतने ही हण्टर के संग्रहालय को और कुछ सिक्के आक्सफोर्ड स्थित अशमोलियन म्यूजियम को और कुछ कैम्ब्रिज के पब्लिक लाइब्रेरी को मिले। जो

---

१. द० र० भण्डारकर की धारणा रही है कि कुमारगुप्त के सिक्के पर "गो" गोविन्दगुप्त का द्योतक है (इ० क०, १२, पृ० २३१) किन्तु ये सिक्के इतने पहले के नहीं हो सकते। काशीप्रसाद जायसवाल ने प्रकाशादित्य के सिक्कों पर अंकित "उ" के आधार पर उन्हें बुधगुप्त का बताया है। उनका कहना है कि मंजुश्रीमूलकल्प में "उ" का उल्लेख बुधगुप्त के लिए हुआ है (इम्पीरियल हिस्ट्री आव इण्डिया, पृ० ३९)। किन्तु उक्त ग्रन्थ में ऐसा कुछ भी नहीं है जिससे यह स्पष्ट ज्ञात हो कि "उ" का तात्पर्य बुधगुप्त से है

२. ब्रि० सं० सू०, भूमिका, पृ० १२४–१२५।

बचे उनमें से कुछ प्रतिष्ठित लोगों को भेंट किये गये थे। उसके बाद भी जो बच रहे उन्हें गला दिया गया।

इस प्रकार जिन्हें ये सिक्के मिले थे उनमें से एक ने अभी १५-२० बरस पहले लन्दन के सुप्रसिद्ध प्राचीन मुद्रा विक्रेता बाल्डविन्स के मार्फत अपने सिक्के बाजार मे बेचे। उस समय डी० हेमिल्टन नामक सज्जन ने उसके १३ सिक्के खरीदे थे। १९५६ में, जब भारत कला-भवन ने उनका गुप्त और कुषाण सिक्कों का संग्रह खरीदा तो वे सिक्के उनके साथ भारत वापस आये। और अब वे ही इस दफीने के एकमात्र सिक्के हैं जो इस देश में उपलब्ध हैं। किन्तु वे किसी एक संग्रहालय में न होकर अनेक संग्रहालयों में बिखर गये हैं।

इस दफीने में वैन्यगुप्त, नरसिंहगुप्त, कुमारगुप्त (तृतीय) और विष्णुगुप्त के सिक्के थे।[१]

२. **हुगली**—१८८३ ई० में हुगली के निकट १३ सिक्कों का दफीना मिला था। उसमें समुद्रगुप्त का १ (उत्पताक भाँति), चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का ५ (धनुर्धर भाँति) और कुमारगुप्त (प्रथम) का ७ (धनुर्धर भाँति ३, सिंहनिहन्ता भाँति १ और अश्वारोही भाँति ३) सिक्का था।[२]

३. **चकडीघी**—चकडीघी (जिला बर्दवान) से समुद्रगुप्त का उत्पताक भाँति का एक सिक्का मिला था जिसे बंगाल के गवर्नर लार्ड कारमाइकेल को भेंट कर दिया गया।[३]

४. **सोनकाँदुरी**—फरीदपुर जिले के कोटली पाड़ा के निकट स्थित सोनकाँदुरी ग्राम से चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का १ (धनुर्धर भाँति) और स्कन्दगुप्त के ३, कुल चार सिक्के मिले थे। वे अब ढाका-संग्रहालय में है।[४]

५. **महास्थान**—महास्थान से अनेक सोने के सिक्के मिले थे जिनमें एक चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का और एक कुमारगुप्त (प्रथम) का था।[५]

६. **महमद**—महमद के निकट सोने के तीन सिक्के मिले थे जिनमें से दो कुमारगुप्त (प्रथम) और एक स्कन्दगुप्त का था।[६]

---

१. १३२ ग्रेन भार के धनुर्धर भाँति के एक सिक्के को, जिस पर राजा के सिर के सामने चक्र, हाथ के नीचे "चन्द्र" और पीछे "श्री विक्रम" अंकित है, इस दफीने का बताया जाता है; पर प्रामाणिक रूप से ऐसा कहना कठिन है।

२. ज० ए० सो० बं०, १८८४, पृ० १५२

३. ज० बि० उ० रि० सो०, ५, पृ० ८२-८७

४. न्यू० स०, ३७, पृ० ५७

५. क० आ० स० रि०, १५, पृ० ११६

६. प्रो० ए० सो० बं०, १८८२, पृ० ९१

७. बोगरा—बोगरा जिले के किसी प्राचीन स्थान के निकट खेत में स्कन्दगुप्त का एक सिक्का मिला था जो अब आशुतोष संग्रहालय, कलकत्ता में है।[१]

८. तामलुक—तामलुक (प्राचीन ताम्रलिप्ति) से कुमारगुप्त (प्रथम) का एक सिक्का मिला था।[२]

बिहार

९. हाजीपुर—१८९३ ई० में हाजीपुर कस्बे के पास कुनहरा घाट में २२ सिक्कों का दफीना मिला था। जिनमें से केवल १४ सिक्के प्राप्त हो सके थे जो इस प्रकार हैं—चन्द्रगुप्त (प्रथम) १; समुद्रगुप्त ४ (उत्पताक २, धनुर्धर १, कृतान्तपरशु १); चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ९ (धनुर्धर ३, छत्र ३, सिंहनिहन्ता ३)।[३]

१०. बाँका—बाँका (जिला भागलपुर) से १९१२ ई० में ४ सिक्के मिले थे। उनमें दो चन्द्रगुप्त (द्वितीय) और दो कुमारगुप्त (प्रथम) के थे।[४] ये इण्डियन म्यूजियम कलकत्ता में हैं।

११. नालन्द—नालन्द के उत्खनन के समय विहार नं० ४ के ऊपरी छत से कुमारगुप्त (प्रथम) का एक सिक्का और खण्डहरों के बीच से नरसिंहगुप्त का एक सिक्का मिला था। चैत्य नं० १२ से नरसिंहगुप्त के सिक्के ढालने के दो साँचे मिले थे।[५]

१२. गया—कनिंगहम ने गया से निम्नलिखित सिक्कों के मिलने का उल्लेख किया है—चन्द्रगुप्त प्रथम १, समुद्रगुप्त १ (उत्पताक भाँति), चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ४ (धनुर्धर भाँति ? ३, सिंहनिहन्ता १), कुमार गुप्त (प्रथम) १ (अश्वारोही) और स्कन्दगुप्त १ (भारी वजन, क्रमादित्य विरुद)।[६]

१३. फतुहा—१९२५-२६ ई० में पटना जिले में फतुहा के निकट शाहजहाँपुर नामक गाँव में १८ सिक्कों का दफीना मिला था; जिसके केवल पाँच सिक्के प्राप्त हो सके थे और वे सभी चन्द्रगुप्त के (धनुर्धर ४ और छत्र १) थे। उन्हें पटना संग्रहालय ने प्राप्त कर लिया था पर बाद में वे चोरी चले गये।

१४. गोमिया—१९३३ ई० के आसपास हजारीबाग जिले में गोमिया के निकट कुछ सोने के सिक्के मिले थे। उनमें एक समुद्रगुप्त का था। और शेष अत्यन्त घिसे बताये जाते हैं।

१५. सुल्तानगंज—१९५८ ई० में सुल्तानगंज (भागलपुर) के पुरानी दुर्गा-स्थान से सोने के कुछ आभूषणों के साथ कुण्डे लगे सोने के दो सिक्के मिले थे। उनमें

---

१. ज० न्यू० सो० इ०, ७, पृ० १३
२. प्रो० ए० सो० बं०, १८८२, पृ० ११२
३. वही, १८९४, पृ० ५७
४. क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, पृ० ३१०
५. आ० स० इ०, अ० रि०, १९३५-३६, पृ० ३२
६. ज० ए० सो बं०, १८८९, पृ० ४८

से एक समुद्रगुप्त का और दूसरा किसी उत्तरवर्ती कुषाण-शासक का था। वे अब पटना-संग्रहालय में हैं।

उत्तर प्रदेश

१६. कसेरवा—१९१२-१३ ई० में कसेरवा (जिला बलिया) से १७ सिक्कों का दफीना मिला था। उसमें १६ सिक्के समुद्रगुप्त के (उत्पताक १२, अश्वमेध ३, कृतान्त परशु १) और १ काचगुप्त का था।[१]

१७. देवइथा—१९४० ई० के आसपास देवइथा (थाना दिलदारनगर, जिला गाजीपुर) में लगभग ४०० सिक्कों का (हो सकता है उसमें हजार से भी अधिक सिक्के रहे हों) दफीना निकला था। पर वे सब के सब या तो गला दिये गये या चुपके-चुपके बाजार में बिक गये;[२] जिसके कारण उनके सम्बन्ध में कोई जानकारी प्राप्त नहीं है।

१८. भरसड़—१८५१ ई० में वाराणसी के निकट भरसड़ से लगभग १६० सिक्कों का दफीना मिला था। उनमें से केवल ९० प्राप्त हो सके थे।[३] कहा जाता है कि उन ९० में ७१ सिक्के चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के थे और उनमें भी ६९ सिक्के एक ही भाँति (सम्भवतः धनुर्धर) के थे। एलन ने इस दफीने के ३२ सिक्कों का उल्लेख इस प्रकार किया है—समुद्रगुप्त ५ (उत्पताक २, धनुर्धर ३, ललित-गन्धर्व १); चन्द्रगुप्त (द्वितीय) १० (धनुर्धर ८, अश्वारोही २); कुमारगुप्त (प्रथम) ८ (धनुर्धर २, अश्वारोही ४, व्याघ्रनिहन्ता १, कार्तिकेय १); स्कन्दगुप्त ६ (धनुर्धर) और प्रकाशादित्य २।[४]

१९. गोपालपुर—गोपालपुर (जिला गोरखपुर) से २० सिक्के मिले थे जिनमें कहा जाता है कि ७ सिक्के चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के थे।[५] शेष के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं है।

२०. कोटवा—१८८६ में कोटवा (तहसील बाँसगाँव, जिला गोरखपुर) के एक खण्डहर में १६ सिक्कों का दफीना मिला था उसमें चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के ६ (धनुर्धर भाँति—पद्मासना लक्ष्मी ५, सिंहनिहन्ता १), और कुमारगुप्त (प्रथम) के १० (धनुर्धर—नाम कु १, कार्तिकेय २, वामाभिमुख अश्वारोही १, दक्षिणाभिमुख अश्वारोही ५, सिंहनिहन्ता १) सिक्के थे।[६]

२१. बस्ती—१८८७ ई० में बस्ती जिला जेल के निकट मौजा सराय में ११

---

१. वही, वही, १९१४, पृ० १७४

२. ज० न्यू० सो० इ०, २०, पृ० २२० : क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, पृ० ३१०

३. ज० ए० सो० बं०, १८५२, पृ० ३९०

४. ब्रि० सं० सू०, भूमिका, पृ० १२७

५. ज० रा० ए० सो०, १८८९, पृ० ४९

६. प्रो० ए० सो० बं०, १८८६, पृ० ६८ ; ज० रा० ए० सो०, १८८९, पृ० ४६

सिक्कों का दफीना मिला था। उनमें से जो १० सिक्के प्राप्त हो सके वे सभी चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के (धनुर्धर ९ और छत्र १) थे।[1]

२२. राप्ती नदी—बस्ती जिले में राप्ती नदी के किनारे किसी स्थान से एक दफीना मिला था, जिसका कोई विवरण प्राप्त नहीं है। उसके कुछ सिक्के होये संग्रह में थे।[2] वहाँ से वे पहले हेमिल्टन संग्रह में आये और अब भारत कला-भवन, वाराणसी में हैं।

२३. टाँडा—१८८५ ई० टाँडा (जिला रायबरेली) से २५ सिक्कों का दफीना मिला था। उसमें दो सिक्का चन्द्रगुप्त (प्रथम) का, कुछ सिक्के समुद्रगुप्त (अश्वमेध और कृतान्त परशु) के और कुछ काचगुप्त के थे।[3]

२४. जौनपुर—जौनपुर स्थित जयचन्द महल नाम से प्रसिद्ध एक पुराने भवन में कुछ सोने के सिक्के मिले थे। उनका कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। पर कहा जाता है कि उनमें गुप्तों के सिक्के थे।[4]

२५. मदनकोला—कहा जाता है कि १९५८ ई० के लगभग जौनपुर जिले में शाहगंज के निकट मदनकोला ग्राम में लगभग १०० सिक्कों का दफीना मिला था। उसका विवरण प्राप्त नहीं है। उसमें चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के चक्रविक्रम भाँति के एक सिक्के के होने की बात कही जाती है।[5]

२६. टेकरी डेबरा—१९१२ (?) ई० में टेकरी डेबरा (जिला मिर्जापुर) में ४० सिक्कों का दफीना मिला था, जिसमें समुद्रगुप्त ३ (उत्पताक भाँति २, कृतान्त परशु १), चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के ३३ (धनुर्धर १५, सिंहनिहन्ता १०, अश्वारोही ८) और कुमारगुप्त (प्रथम) के ४ (धनुर्धर १, सिंहनिहन्ता १, अश्वारोही २) सिक्के थे।[6]

२७. झूसी—झूसी (इलाहाबाद) से २० या ३० सिक्के, जिनमें अधिकांशतः कुमारगुप्त (प्रथम) के थे, मिलने की बात कही जाती है। कनिंगहम द्वारा स्मिथ को दिये गये सूचना के अनुसार वहाँ १८६४ ई० में २०० सिक्के मिले थे पर कनिंगहम को केवल ४ देखने को मिले थे। स्मिथ के कथनानुसार वे अधिकांशतः कुमारगुप्त (प्रथम) के मयूर भाँति के थे।[7]

२८. कुसुम्भी—१९४७ ई० में कुसुम्भी (थाना अजगैन, जिला उन्नाव) में २९ सिक्कों का दफीना मिला था। इसमें समुद्रगुप्त के ३ (सभी उत्पताक), चन्द्रगुप्त

---

१. वही १८८७, पृ० २२१—वही, १८८९, पृ० ४७
२. क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, पृ० ३१०
३. प्रो० ए० सो० बं०, १८८६, पृ० ६८ : ज० रा० ए० सो०, १८८९, पृ० ४६
४. ज० ए० सो० बं०, १८८४, पृ० १५०
५. ज० न्यू० सो० इ०, २२, पृ० २६१
६. न्यू० क्रा०, १९१०, पृ० ३९८
७. ज० ए० सो० बं०, १८८४ पृ० १५२ : ज० रा० ए० सो०, १८८९, पृ० ४९

(द्वितीय) के १९ (धनुर्धर १७, सिंहनिहन्ता १, छत्र १) और कुमारगुप्त (प्रथम) के ७ (धनुर्धर ५ और अश्वारोही २) सिक्के थे। सम्भवतः ये सभी सिक्के लखनऊ संग्रहालय में हैं।[1]

२९. कन्नौज—कन्नौज के खण्डहरों से चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के सोने के एक और कुमारगुप्त (प्रथम) के चाँदी के एक सिक्के मिलने का उल्लेख प्राप्त है।[2] स्मिथ ने कन्नौज से ५-६ और कन्नौज नगर के पश्चिम अथवा उत्तर-पश्चिम स्थित किसी जगह से १० सोने के सिक्के मिलने की जानकारी होने की बात लिखी है।[3]

कनिंगहम ने कौशाम्बी (इलाहाबाद) से कुमारगुप्त (प्रथम) के एक (अश्वारोही) सोरों (जिला एटा) से चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के एक (धनुर्धर भाँति ?), लखनऊ से समुद्रगुप्त के एक (अश्वमेध) और दिल्ली से कुमारगुप्त (प्रथम) के एक (अश्वारोही) सिक्के मिलने की बात कही है।[4]

राजस्थान

३०. बयाना—१९४६ ई० में बयाना (भरतपुर) नगर के समीप स्थित हुल्लनपुर ग्राम के एक खेत की मेड़ से लगभग २१०० सोने के सिक्कों से भरा ताँबे का एक कलश मिला था। उनमें से केवल १८२१ सिक्के प्राप्त हो सके। अल्तेकर ने उनकी एक विस्तृत सूची प्रकाशित की है।[5] वे सिक्के इस प्रकार हैं :—

१० सिक्के चन्द्रगुप्त (प्रथम) (राजदम्पती)।

१८३ सिक्के समुद्रगुप्त (उत्पताक १४३, अश्वमेध २०, धनुर्धर ३, ललित-गन्धर्व ६, व्याघ्र-निहन्ता २, कृतान्तपरशु ९)।

१६ सिक्के काचगुप्त (चक्रध्वज)। इनमें एक नयी उपभाँति का है। उसमें बायीं ओर गरुड़ध्वज है।

९८३ सिक्के चन्द्रगुप्त (द्वितीय) (धनुर्धर ७९८, अश्वारोही ८२, छत्र ५७, सिंहनिहन्ता ४२, पर्यंक ३; चक्रविक्रम १)।

६२८ सिक्के कुमारगुप्त (प्रथम) (धनुर्धर १८३, खड्गहस्त १०, अश्वारोही ३०५, कार्तिकेय १३, छत्र २, व्याघ्रनिहन्ता ८६, सिंहनिहन्ता ५३, गजारूढ़ ३, गजारूढ़ सिंहनिहन्ता ४, खड्गी निहन्ता ४, अश्वमेध ४, ललित-गन्धर्व २, अप्रतिघ ८, राजदम्पती १)।

१ सिक्का क्रमादित्य विरुदयुक्त छत्र भाँति (इसे अल्तेकर स्कन्दगुप्त का बताते हैं और इन पंक्तियों का लेखक घटोत्कचगुप्त का मानता है)।

---

१. ज० न्यू० सो० इ०, १५, पृ० ८२

२. ज० ए० सो० बं०, ३, पृ० २२९

३. ज० रा० ए० सो०, १८८९, पृ० ५०

४. वही, पृ० ४८

५. अल्तेकर, कैटलाग ऑव द गुप्त कायन्स ऑव द बयाना होर्ड, बम्बई, १९५४

पंजाब

३१. मीठाथल—१९१५ ई० में मीठाथल (जिला हिसार) में ८६ सिक्कों का दफीना मिला था। उनमें से २६ सिक्के तो गल गये। शेष में ३३ समुद्रगुप्त के और २७ उत्तरवर्ती कुषाणों के थे।[1] इन सिक्कों का कोई विवरण प्राप्त नहीं है किन्तु उनमें कृतान्तपरशु के एक दुर्लभ उपभाँति का सिक्का था। उस पर राजा बायीं ओर और कुब्जक दाहिनी ओर अंकित था।[2]

३२. रूपड़—१९५३ ई० के उत्खनन में रूपड़ से चन्द्रगुप्त प्रथम का एक सिक्का मिला है।[3]

गुजरात

३३. कुमरखान—१९५२ ई० में कुमरखान (तालुका वीरमगाँव, जिला अहमदाबाद) से एक जोड़ा कान के आभूषण के साथ ९ सिक्कों का दफीना मिला था। उसमें समुद्रगुप्त का १ (कृतान्तपरशु), काचगुप्त का २, चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का ५ (धनुर्धर) और कुमारगुप्त का १ (धनुर्धर) सिक्का था।[4] ये सिक्के प्रिंस आव वेल्स म्यूजियम, बम्बई में हैं।

मध्यप्रदेश

३४. थमनाला—थमनाला (परगना भीखनगाँव, जिला नीमाड़) से १९४० ई० में २१ सिक्कों और सोने के एक पासे का दफीना मिला था। इसमें समुद्रगुप्त के ८ (उत्पताक ७, ललित-गन्धर्व १), चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के ९ (सभी धनुर्धर—पद्मासना लक्ष्मी) और कुमारगुप्त प्रथम के ४ (धनुर्धर २, अश्वारोही १, व्याघ्रनिहन्ता १) सिक्के थे।[5] इनमें समुद्रगुप्त का उत्पताक भाँति का एक सिक्का संकर है। उसके चित ओर का ठप्पा तो समुद्रगुप्त के उत्पताक का है और पट ओर का ठप्पा चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के धनुर्धर (पद्मासना लक्ष्मी) का है। इसके संकर रूप को न समझ सकने के कारण अनेक विद्वान इसे समुद्रगुप्त के विक्रम विरुद का प्रमाण मान बैठे हैं।

३५. सकौर (प्राप्ति १)—१९०९ ई० में सकौर (तहसील हाटा, जिला दमोह) में हाटा-घासियाबाद सड़क के किनारे मिट्टी निकालते समय चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के तीन सिक्के (धनुर्धर २, छत्र १) मिले थे।[6]

---

१. आ० स० इ०, अ० रि०, १९१५–१६ ? पृ० १५
२. वही, १९२६–२७, पृ० २३३–३४
३. इण्डियन आर्क्यालॉजी—अ रिव्यू, १९५३–५४, पृ० ६–७
४. ज० न्यू० सो० इ०, १५, पृ० १९५। पहले कुमारगुप्त (प्रथम) के सिक्के की ओर ध्यान नहीं गया था और उसे चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का सिक्का समझ लिया गया था (ज० न्यू० सो० इ०, २२, पृ० २६९)
५. ज० न्यू० सो० इ०, ५, पृ० १३५
६. वही, १७ (१), पृ० ११०

३६. सकौर—(प्राप्ति २) १९२४ ई० में सकौर (तहसील हाटा, जिला दमोह) से २४ सिक्कों का दफीना मिला था। इसमें समुद्रगुप्त के ७ (सभी उत्पताक), काचगुप्त के १, चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के १५ (धनुर्धर ११, अश्वारोही १, छत्र १, सिंहनिहन्ता २) और स्कन्दगुप्त का १ सिक्का (धनुर्धर—हलका वजन) सिक्के थे।[१] कुमारगुप्त प्रथम का कोई सिक्का नहीं था।

३७. सागर—सागर जिले के किसी स्थान से १९१५–१६ ई० में सोने के सिक्कों के दफीने की सूचना उपलब्ध है पर दफीने का कोई विवरण नहीं है। उस दफीने के ६ सिक्के नागपुर संग्रहालय में हैं और वे सभी समुद्रगुप्त (उत्पताक भाँति) के हैं।[२]

इनके अतिरिक्त निम्नलिखित स्थानों से चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के एक-एक सिक्के प्राप्त होने की जानकारी प्राप्त है—[३]

हरदा, जिला होशंगाबाद (धनुर्धर-पद्मासना लक्ष्मी)।

गणेशपुर, तहसील मुरवारा, जिला जबलपुर (धनुर्धर—पद्मासना लक्ष्मी)।

पटन, तहसील मुल्ताई, जिला बिलासपुर (धनुर्धर—पद्मासना लक्ष्मी)।

सिवनी (जिला) (विवरण अज्ञात)।

उड़ीसा

३८. बहरामपुर—१९२६–२७ ई० में बहरामपुर (किला बाँकी, जिला कटक) से एक दफीना प्राप्त हुआ था जिसमें महाकोसल के प्रसन्नमात्र के ४७ उभारदार (रिपूसे) बनावट के सिक्कों के साथ विष्णुगुप्त का एक सिक्का था।[४] यह सिक्का पटना-संग्रहालय से चोरी चला गया।

३९. भानुपुर—१९३९ ई० में सोन नदी के बायें तट पर स्थित भानुपुर (जिला मयूरगंज) से चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के धनुर्धर भाँति के तीन सिक्के मिले थे।[५]

४०. अंगुल—कुमारगुप्त (प्रथम) का धनुर्धर भाँति का एक सिक्का सोनपुर जिले के अंगुल तहसील में मिला था।[६]

मध्य जावा

४१. १९२२ ई० में चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का एक सिक्का मध्य जावा स्थित वाट् बाका के पास मिला था।[७] यही एकमात्र गुप्त सिक्का है जिसके भारत के बाहर प्राप्त होने की जानकारी प्राप्त है।

---

१. वही

२. वही

३. वही

४. आ० स० इ०, अ० रि०, १९२६, पृ० २३०

५. ज० न्यू० सो० इ०, २, पृ० १२४

६. वही, ११, पृ० ९३

७. विड्रजेन टाट द ताकी—लेडेन बाक्केनकुन बान नीदरलैण्डस इण्डे, ८९, पृ० १२१

उपलब्धियों का विश्लेषण

इन सोने के सिक्कों की उपलब्धियों के विश्लेषण से प्रकट होता है कि अब तक पंजाब में चन्द्रगुप्त (प्रथम) का केवल एक सिक्का (लुधियाना जिले से) और समुद्रगुप्त के कुछ सिक्के (हिसार जिले से) मिले हैं। चन्द्रगुप्त (द्वितीय) और उसके उत्तरवर्ती शासकों के सिक्के इस क्षेत्र में सर्वथा अज्ञात हैं।

कुमारगुप्त और उसके पूर्ववर्ती शासकों के सिक्कों के प्रसार की सीमा इस प्रकार है—उत्तर-पश्चिम में दिल्ली और भरतपुर ; पूरब में गंगा (पद्मा) के मुहाने पर स्थित फरीदपुर; दक्षिण-पूर्व में महानदी के मुहाने पर कटक; दक्षिण में मध्यभारत स्थित नीमाड़ और पश्चिम में अहमदाबाद। दक्षिण-पश्चिम में चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के सिक्कों की सीमा बैतूल तक है।

स्कन्दगुप्त के सिक्के पूर्वी मालवा (जिला दमोह), पूर्वी उत्तर प्रदेश (अर्थात् वाराणसी जिला), बिहार और बंगाल तक ही सीमित हैं। इन उपलब्धियों में उसके उत्तराधिकारियों के सिक्के इक्के-दुक्के ही हैं। प्रकाशादित्य के सिक्के केवल भरसड़ दफीने में मिले थे। नरसिंहगुप्त के सिक्के नालन्द में मिले हैं। कलकत्ता के निकट मिले एक दफीने में वैन्यगुप्त और उसके उत्तराधिकारियों के सिक्के थे। विष्णुगुप्त का एक सिक्का कटक में मिला था।

इस प्रकार सिक्कों के प्राप्ति-क्षेत्र के विवेचन से गुप्त-राज्य और गुप्त-वंश के राजाओं के प्रभुत्व के विस्तार की कुछ कल्पना की जा सकती है।

दफीनों के विश्लेषण से गुप्तों के राज्य-क्रम में काचगुप्त का स्थान निर्धारित करने में भी सहायता मिलती है। उनका सिक्का मुख्य रूप से उन्हीं दफीनों में मिला है जिनमें चन्द्रगुप्त (प्रथम) का सिक्का है। उन दफीनों में, यथा—भरसड़, हुगली, टेकरी डेबरा, बमनाला और कुसुम्भी, जिनमें चन्द्रगुप्त (प्रथम) के सिक्के नहीं हैं उनमें काचगुप्त के सिक्कों का भी अभाव है। टाँडा दफीने में चन्द्रगुप्त (प्रथम), काचगुप्त और समुद्रगुप्त के सिक्के हैं; इसी प्रकार कसेरवा दफीने में केवल काचगुप्त और समुद्रगुप्त के सिक्के थे। इन्हें देखने से ज्ञात होता है कि काचगुप्त का स्थान चन्द्रगुप्त (प्रथम) और समुद्रगुप्त के बीच था।

सोने के उभारदार सिक्के

उड़ीसा और मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ क्षेत्र से कुछ १९-२० ग्रेन वजन के अत्यन्त पतले सिक्के मिले हैं जो उभरे हुए ठप्पे द्वारा पीछे की ओर से ठोक कर बनाये गये हैं। इन पर सामने की ओर आकृतियाँ और अक्षर उभरे हुए और पीछे की ओर दबे हुए हैं। ऐसे सिक्कों पर महेन्द्रादित्य और क्रमादित्य दो नाम मिलते हैं। ये दोनों ही नाम क्रमशः कुमारगुप्त (प्रथम) और स्कन्दगुप्त के विरुद के रूप में ज्ञात हैं; इससे अनुमान किया जाता है कि ये सिक्के इन्हीं गुप्तवंशी राजाओं के होंगे। किन्तु विद्वानों की धारणाएँ अभी इस सम्बन्ध में अनिश्चित हैं।

महेन्द्रादित्य के सिक्कों पर विन्दुओं से बने परिधि के भीतर रेखा द्वारा व्यक्त आसन पर पंख फैलाये गरुड़ खड़े हैं। उनके दाहिनी ओर विन्दुयुक्त अर्धचन्द्र और विन्दुओं से घिरा चक्र और बायीं ओर तथाकथित सूर्य और दक्षिणावर्त शंख है। आसन के नीचे दाक्षिणात्य ब्राह्मी लिपि के चौखूँटे-शीर्ष (बाक्स-हेडेड) शैली में **श्री महेन्द्रादित्य** लेख और लेख के नीचे एक अक्षर और एक चिह्न है। इन अक्षरों और चिह्नों के अनुसार सिक्कों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१. अक्षर **स** और सात विन्दुओं का पुंज
२. सात विन्दुओं का पुंज और अक्षर **ड**
३. एक विन्दु और अक्षर **द**
४. अक्षर **द** और एक विन्दु
५. अक्षर **भ** और एक विन्दु (?)
६. अक्षर **भ**

इसी ढंग के सिक्के क्रमादित्य के भी हैं। उन पर लेख **श्री क्रमादित्यस्य** है और नीचे **ड** अक्षर है।

उपलब्धियाँ

ये सिक्के निम्नलिखित सूत्रों से ज्ञात हुए हैं—

१. लखनऊ-संग्रहालय में महेन्द्रादित्य का एक सिक्का। उपलब्धि-साधन अज्ञात।[1]
२. खैरतल (जिला रायपुर, मध्यप्रदेश) से महेन्द्रादित्य के पचास सिक्कों का एक दफीना।[2]
३. मदनपुर-रामपुर (जिला कलहण्डी, उड़ीसा) के प्राचीन दुर्ग से उपलब्ध महेन्द्रादित्य का एक सिक्का।[3]
४. भण्डारा (जिला चाँदा, मध्यप्रदेश) से प्राप्त दफीना; प्रसन्नमात्र के ग्यारह सिक्कों के साथ महेन्द्रादित्य का एक सिक्का।[4]
५. पिताईबाँध (जिला रायपुर, मध्यप्रदेश) से प्राप्त महेन्द्रादित्य के ४६ और क्रमादित्य के ३ सिक्कों का दफीना।[5]

चाँदी के सिक्के

गुप्तवंशीय शासकों में सर्वप्रथम चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने चाँदी के सिक्के प्रचलित किए। उनके बाद कुमारगुप्त (प्रथम), स्कन्दगुप्त और बुधगुप्त के सिक्के चाँदी के मिलते हैं। अन्य शासकों के चाँदी के सिक्के अज्ञात हैं।

---

१. न्यू० स०, ४३, पृ० ११
२. ज० न्यू० सो० इ०, १०, पृ० १३७
३. उ० हि० रि० ज०, १, पृ० १३७
४. ज० न्यू० सो० इ०, १६, पृ० २१५
५. वही, २२, पृ० १८४

ये सिक्के भार, बनावट और चित्रण में पश्चिमी क्षत्रपों के, जो लगभग दो सौ बरसों तक काठियावाड़, गुजरात और मालवा के स्वामी थे, चाँदी के सिक्कों के प्रतिरूप हैं। ये आकार में आधा इंच व्यास और वजन में २४ से ३६ ग्रेन के हैं। अधिकांश सिक्कों का वजन २९ ग्रेन के लगभग मिलता है।

इन सिक्कों के चित ओर राजा का गर्दनयुक्त सिर तथा कुछ सिक्कों पर क्षत्रप सिक्कों के समान ही यवनाक्षरों के अवशेष हैं; और राजाकृति के सामने अथवा पीछे की ओर वर्ष का आलेख है। पर यह लेख कुछ ही सिक्कों पर दिखाई पड़ता है; अधिकांश सिक्कों पर वह परिधि से बाहर ही रह जाता है। पट ओर बीच में प्रतीक और उसके चारों ओर अभिलेख हैं। पट ओर के ये प्रतीक कई प्रकार के हैं।

चन्द्रगुप्त (द्वितीय)—चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के सिक्कों पर पट ओर के प्रतीक में विन्दुपुंज और चन्द्र पश्चिमी क्षत्रपों के अनुकरण पर ही है; केवल मेरु को बदल कर उसके स्थान पर गुप्त-वंश का लांछन गरुड़ रख दिया गया है। इन सिक्कों पर दो प्रकार के लेख हैं :

(१) परम भागवत महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यः।

(२) श्री गुप्तकुलस्य महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त विक्रमांकस्य।

ब्रिटिश संग्रहालय के सिक्का संख्या १३३, १३४ और १३६ पर राजा के सिर के पीछे तिथि (वर्ष) ९० अंकित मिलता है।[1] उन पर मूलतः इकाई की भी कोई संख्या रही होगी, ऐसा अनुमान किया जाता है। ई० सी० बेली ने अपने सिक्के पर राजा के सिर के पीछे ९० पढ़ा था। फ्लीट का अनुमान है कि उस सिक्के की संख्या ९४ या ९५ है।[2] कनिंगहम संग्रह के दो सिक्कों पर फ्लीट ने राजा के मुँह के सामने ८४ या ९४ देखा था; पर उनके सम्बन्ध में वे कुछ भी निश्चयपूर्वक कह सकने में असमर्थ रहे।[3]

कुमारगुप्त (प्रथम)—कुमारगुप्त (प्रथम) ने अपने राज के पश्चिमी प्रदेश के लिए अपने पिता के अनुकरण पर ही सिक्के चलाये थे। उन पर भी यवनाक्षरों के अवशेष मिलते हैं।

न्यूटन ने कुमारगुप्त का एक ऐसा सिक्का प्रकाशित किया है जिस पर गरुड़ के स्थान पर अलंकृत त्रिशूल है।[4] किन्तु इस प्रकार का कोई अन्य गुप्त-सिक्का ज्ञात न होने के कारण ऐलन को इस सिक्के के अस्तित्व में सन्देह है। उनकी धारणा है कि इस सिक्के पर भी अन्य सिक्कों की भाँति गरुड़ होगा; कुछ सिक्कों पर वह त्रिशूल

१. ब्रि० म्यू० सू०, पृ० ४९–५०

२. इ० ए०, १४, पृ० ६६

३. वही

४ ज० ब० ब्रा० रा० ए० सो०, ७ (ओ० सी०), पृ० ३ के सामने का फलक, सिक्का ११।

सरीखा जान पड़ता है।[1] एलन के इस मत से भी अल्तेकर सहमत नहीं। जिस ढंग का त्रिशूल इस सिक्के पर है उस ढंगका त्रिशूल तथाकथित वलभी[2] सिक्कों पर पाया जाता है; अतः वे कुमारगुप्त द्वारा उस ढंग के सिक्के चलाये जाने की सम्भावना मानते हैं।[3] सानांद दफीने के सिक्कों के विश्लेषण से प्रकट होता है कि तथा कथित वलभी सिक्के, कुमारगुप्त के सिक्कों से पहले के हैं।[4] अतः इस बात की पूर्ण सम्भावना है कि कुमारगुप्त ने गुजरात प्रदेश पर अधिकार करने के पश्चात् आरम्भ में इन सिक्कों के अनुकरण पर सिक्के चलाये हों। भले ही आज वे अत्यन्त दुर्लभ हों।

राज्य के पूर्वी प्रदेश के लिए कुमारगुप्त (प्रथम) ने पहली बार चाँदी के सिक्के प्रचलित किये। इन सिक्कों पर गरुड़ के स्थान पर नाचते हुए (पंख फैलाए) मयूर है।

गुजरात-काठियावाड़ प्रदेश में मिलने वाले कुछ सिक्के दरब (चाँदी-ताँबा मिश्रित धातु) के बने हैं। उनमें इतनी अधिक मिलावट है कि कुछ सिक्के ताँबे के से जान पड़ते हैं। पर उनका ताँबे सरीखा स्वरूप प्राकृतिक प्रभाव के कारण है।

कुमारगुप्त (प्रथम) के पश्चिमी प्रदेश के सिक्कों पर पिता के सिक्कों के अनुकरण पर **परमभागवत महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य** लेख है। किन्तु कुछ सिक्कों पर आरम्भ का **परम** शब्द नहीं मिलता; कुछ पर **महाराजाधिराज** के स्थान पर केवल **राजाधिराज** लिखा मिलता है। मध्यप्रदेश अर्थात् पूर्वी प्रदेश के सिक्कों पर सोने के धनुर्धर भाँति (उपभाँति ३अ) वाला पद्यात्मक लेख **विजितावनिरवनिपतिः कुमारगुप्त दिवं जयति** है।

इन सिक्कों पर अब तक निम्नलिखित तिथि मिले हैं :

९० जस्टिस न्यूटन[5]
१०० प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम, बम्बई[6]

---

१. ब्रि० म्यू० सू०, भूमिका, पृ० ९६

२. अब तक जिन सिक्कों को वलभी के शासकों का समझा जाता था, वे वस्तुतः उनके नहीं है। वे सर्व नामक किसी शासक अथवा वंश के सिक्के हैं, जो पश्चिमी क्षत्रपों के बाद और गुप्तों से पहले गुजरात और काठियावाड़ के शासक रहे (भारतीय विद्या, १८, पृ० ८६-८८)

३. क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, पृ० २२५-२२८

४. ज० ब० ब्रा० रा० ए० सो०, ६ (ओ० सं०), प्रो० पृ० ७७ (७२) भारतीय विद्या, १८, पृ० ८९

५. ज० ब० ब्रा० रा० ए० सो०, १८६२, पृ० ११. इस सिक्के के ठप्पे पर इकाई की कोई संख्या अवश्य रही होगी। चन्द्रगुप्त द्वितीय के साँची-अभिलेख को दृष्टि में रखते हुए कुमारगुप्त द्वारा प्रचलित किसी सिक्के की कल्पना गुप्त संवत् ९३ से पूर्व नहीं की जा सकती। यदि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के सिक्कों पर ९४ अथवा ९५ पाठ ठीक हो (इ० ए०. १४, पृ० ६६) तो यह सिक्का गुप्त संवत् ९५ के बाद का ही होगा।

६. आ० स० रि० इ० ए० रि०, १९२३-२४, पृ० १२४

११८ इण्डियन म्यूजियम (सिक्का संख्या ४६)
११९ ब्रिटिश म्यूजियम (सिक्का संख्या ३८५–८७;३९४)
१२१ स्मिथ द्वारा उल्लेख[1]
१२२ ब्रिटिश संग्रहालय (सिक्का संख्या ३८८)
१२४ ब्रिटिश संग्रहालय (सिक्का संख्या ३९८)
१२८ स्मिथ द्वारा उल्लेख[2]
१२९ स्मिथ द्वारा उल्लेख[3]
१३० कनिंगहम[4]
१३४ इण्डियन म्यूजियम (सिक्का संख्या ५३)[5]
१३५ प्रिंसेप[6]
१३६ वोस्ट[7]

स्कन्दगुप्त—स्कन्दगुप्त ने अपने पिता के अनुकरण पर पश्चिमी और पूर्वी प्रदेशों वाले चाँदी के सिक्के तो जारी रखे ही, साथ ही पश्चिमी भारत के लिए उसने दो अन्य भाँति के सिक्के और प्रचलित किये :

(१) **वृष भाँति**—इन पर दक्षिणाभिमुख वृष बैठा अंकित किया गया है।[8]

(२) **हवनकुण्ड भाँति**—हवनकुण्ड मे अग्नि की तीन शिखाएँ निकलती हुई दिखाई गयी हैं।

स्कन्दगुप्त के सिक्कों का वजन पूर्ववर्ती सिक्कों के समान ही है। साथ ही उल्लेखनीय बात यह भी है कि उनके सिक्के मिश्र-धातु के नहीं हैं।

पश्चिमी भाँति के सिक्कों के लेख हैं—

---

१. ज० रा० ए० सो०, १८८९, पृ० १२८
२. वही
३. वही
४. क० आ० स० रि०, ९, पृ० २५, फलक ५, सं० ७
५. इस तिथि का पाठ संदिग्ध है।
६. ज० रा० ए० सो० १२ (ओ० सी०), फलक २, आकृति ५६। इस पर यह तिथि पढ़ी गयी है; पर उसका पाठ निश्चित नहीं है। स्मिथ ने इस तिथि से युक्त एक सिक्के के ब्रिटिश संग्रहालय (मेस संग्रह) में होने की बात लिखी है (ज० रा० ए० सो०, १८८९, पृ० १२८); पर एलन की सूची में इस संग्रह के किसी सिक्के का कोई उल्लेख नहीं है।
७. ज० ए० सो० बं०, १८९४, पृ० १७५। हमें अपनी १९६२ ई० की इंगलैण्ड यात्रा में यह सिक्का श्रीमती वोस्ट के पास देखने को मिला था। हमने उसका ध्यानपूर्वक परीक्षण किया। हमारी दृष्टि में इकाई की संख्या अत्यन्त अस्पष्ट है। जो भी चिह्न उस पर है उसे ६ कदापि नहीं पढ़ा जा सकता। इस सम्बन्ध में यह भी द्रष्टव्य है कि अल्तेकर ने अपनी सूची में इस तिथि का कोई उल्लेख नहीं किया है (क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर पृ० २३०)।
८. एस० एम० शुक्ल ने दो सिक्के प्रकाशित किये हैं जिनमें बैठा हुआ वृष वामाभिमुख है। (ज० न्यू० सो० इ०, २२, पृ० १९३)

गरुड़ भाँति—**परमभागवत महाराजाधिराज श्री स्कन्दगुप्त क्रमादित्यः।**

वृष भाँति—उपर्युक्त ही, किन्तु अनेक सिक्कों पर **महाराजाधिराज** के स्थान पर केवल **राजाधिरा** अथवा **महार** अथवा केवल **म** मिलता है।

हवनकुण्ड भाँति—(१) **परमभागवत श्री विक्रमादित्य स्कन्दगुप्तः**

(२) **परमभागवत श्री स्कन्दगुप्त क्रमादित्यः**

(३) **परमभागवत श्री स्कन्दगुप्तः**

द्रष्टव्य है कि हवनकुण्ड भाँति के किसी भी लेख में सम्राट की उपाधि **महाराजाधिराज** नहीं है। साथ ही इन सिक्कों के लेख, विशेषतः तीसरा, अत्यन्त त्रुटिपूर्ण और अशुद्ध अंकित मिलता है।

मध्यप्रदेश भाँति के सिक्कों के लेख हैं—

(१) **विजितावनिर्वनिपतिर्जयति दिवं स्कन्दगुप्तोयं।**

(२) **विजितावनिर्वनिपति श्री स्कन्दगुप्तो दिवं जयति।**

स्कन्दगुप्त के सिक्कों पर तिथि मुँह के सामने है और उन पर अब तक ज्ञात तिथि निम्नलिखित है :

१४१ ब्रिटिश संग्रहालय (सिक्का संख्या ५२३–२६)

१४४ कनिंगहम[1]

१४५ (१८) ब्रिटिश म्यूजियम (सिक्का संख्या ५२०)

१४६ ब्रिटिश संग्रहालय (सिक्का संख्या ५२८–३०;५४८)

१४८ कनिंगहम[2]

१४७ या १४९ कनिंगहम[3]

बुधगुप्त—बुधगुप्त के चाँदी के सिक्के दुर्लभ हैं और मध्यप्रदेश में ही सीमित हैं। ये कुमारगुप्त (प्रथम) और स्कन्दगुप्त के सिक्कों के सदृश ही हैं; उन पर नाचता मयूर और **विजितावनिर्वनिपतिः श्री बुधगुप्त दिवं जयति** लेख है। अब तक केवल ६ सिक्कों का उल्लेख प्राप्त है। इनमें से पाँच तो कनिंगहम को १८३५ ई० में वाराणसी में मिला था और सभी पर १७५ की तिथि थी।[4] छठाँ सिक्का उन्हें बाद में सारनाथ में मिला था। उस पर फ्लीट ने तिथि १७५ पढ़ा है।[5] सम्भवतः यह सिक्का ब्रिटिश संग्रहालय में है।[6] एक अन्य सिक्के पर उन्होंने १८× [7] पढ़ा है पर उस सिक्के का कुछ पता नहीं कि वह कहाँ है।

---

१. इ० ए०, १४, ०० ६७; ज० रा० ए० सो०, १८८९, पृ० १३४

२. क० आ० स० रि०, ९, पृ० २५ पादटिप्पणी; ज० रा० ए० सो०, १८८९, पृ० १३४

३. वही

४. वही

५. इ० ए०, १४, पृ० ६८

६. सिक्का संख्या १७

७. इ० ए०, १४, पृ० ६८

उपलब्धियाँ

चाँदी के सिक्कों की उपलब्धियों का कोई समुचित आलेखन नहीं हुआ है। जो कुछ थोड़े से ज्ञात हैं, वे इस प्रकार हैं :

मुहम्मदपुर—जैसोर (बंगाल) के निकट मुहम्मदपुर में समाचारदेव, शशांक और एक अन्य गुप्त-अनुकृति के सोने के सिक्कों के साथ चन्द्रगुप्त (द्वितीय), कुमारगुप्त (प्रथम) और स्कन्दगुप्त के चाँदी के सिक्कों के मिलने की बात कही जाती है।[१] किन्तु अल्तेकर का मत है कि दफीने का यह रूप असम्भव है।[२]

सुल्तानगंज—कनिंगहम को सुल्तानपुर (जिला भागलपुर, बिहार) में एक स्तूप के भीतर पश्चिमी क्षत्रप रुद्रसिंह (तृतीय) के चाँदी के एक सिक्के के साथ चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का एक चाँदी का सिक्का मिला था।[३]

कन्नौज—कन्नौज के खण्डहरों में चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के सोने के एक सिक्के के साथ कुमारगुप्त (प्रथम) का चाँदी का एक सिक्का मिला था।[४]

कनिंगहम को चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के दो और कुमारगुप्त (प्रथम) के छः सिक्के मथुरा में और स्कन्दगुप्त का एक सिक्का संकीसा (जिला फर्रुखाबाद) में मिला था।[५]

नलियासर साँभर—नलियासर साँभर (जिला जयपुर) के टीले पर १९४९ ई० में कुमारगुप्त (प्रथम) का मध्यप्रदेश भाँति का एक सिक्का मिला था।[६]

कच्छ—१९६१ ई० के लगभग भूतपूर्व कच्छ रियासत के किसी स्थान से चाँदी के २३६ (अथवा ३४०) गुप्त सिक्कों का दफीना मिला था।[७]

अहमदाबाद—१८६१ ई० में अहमदाबाद जिले में धुन्धुका-अहमदाबाद सड़क के निर्माण के समय कुमारगुप्त (प्रथम) के २५ सिक्कों का दफीना मिला था।[८]

सानौद—१८६१ ई० में सानौद (जिला अहमदाबाद) में १३९५ चाँदी के सिक्कों का दफीना मिला था। इस दफीने में कुमारगुप्त (प्रथम) के गरुड़ भाँति के ११०० सिक्के, उत्तरवर्ती पश्चिमी क्षत्रपों के ३ और शेष सर्व (तथाकथित वलभी) के सिक्के थे।[९]

---

१. ज० ए० सो० बं०, १८५२, पृ० ४०१–४०२
२. क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, पृ० ३५६
३. क० आ० स० रि०, १०, पृ० १२७
४. ज० ए० सो० बं०, ३, पृ० ४८
५. ज० रा० ए० सो०, १८८९, पृ० ४८
६. ज० न्यू० सो० इ०, १२, पृ० ५४
७. ज० ब० ब्रा० रा० ए० सो०, १८६१, प्रो०, पृ० ७८
८. वही, पृ० ४५
९. वही, १८९१, प्रो०, पृ० ५१–७१। इस दफीने को स्मिथ ने भूल से सतारा जिले का बता दिया है (ज० रा० ए० सो०, १८८९, पृ० १२४)। यह भूल एलन (ब्रि० म्यू० सू०, भूमिका, पृ० १३०) और अल्तेकर (क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, पृ० २१७) ने भी की है। इन लोगों ने मूल सूत्र न देख कर स्मिथ का अन्धानुकरण किया है।

नासिक—१८७० ई० में नासिक में स्कन्दगुप्त के वृष भाँति के ८३ सिक्कों का दफीना मिला था।[1]

ब्रह्मपुरी—१९४६ ई० में कोल्हापुर के निकट ब्रह्मपुरी के उत्खनन में कुमारगुप्त (प्रथम) का एक सिक्का मिला था।[2]

एलिचपुर—१८९१ ई० में एलिचपुर में कुमारगुप्त (प्रथम) के १३ सिक्कों का दफीना मिला था।[3]

चाँदी के सिक्कों की इन ज्ञात उपलब्धियों की संख्या इतनी कम है कि इनके आधार पर गुप्त शासकों के प्रभाव के सम्बन्ध में कुछ भी अनुमान करना कठिन है। तथापि कुमारगुप्त (प्रथम) और स्कन्दगुप्त के सिक्कों का महाराष्ट्र (अर्थात् नासिक, कोल्हापुर, एलिचपुर) में मिलना महत्व रखता है।

ताँबे के सिक्के

गुप्त शासकों के ताँबे के सिक्के अत्यल्प हैं। इस अभाव का कारण कुषाणों के ताँबे के सिक्कों पर दृष्टि डालने से आप समझ में आ जाता है। उत्तर भारत में सर्वत्र कुषाण सिक्के इतने अधिक संख्या में प्रचलित थे कि किसी भी गुप्त शासक के लिए इस धातु के सिक्के ढालने की तनिक भी आवश्यकता न थी। फिर, नित्य प्रति के सामान्य लेन-देन कौड़ियों के माध्यम से होते थे। चीनी यात्री फाह्यान ने कौड़ियों का प्रचलन पाटलिपुत्र के हाट में आते-जाते देखा था।

समुद्रगुप्त—राखालदास बनर्जी ने कटवा (जिला बर्दवान, बंगाल) से ताँबे के दो ऐसे सिक्कों के प्राप्त होने का उल्लेख किया है जिनका एक ओर तो एकदम घिसा था और दूसरी ओर गरुड़ और उसके नीचे समुद्र अंकित था।[4] उन्होंने इन्हें समुद्रगुप्त का कहा है। इन सिक्कों का प्रकाशन समुचित रूप में न होने के कारण अल्तेकर का कहना है कि इनके आधार पर यह मानना उचित न होगा कि समुद्रगुप्त ने ताँबे के सिक्के चलाये थे।[5] वस्तुतः यह खेदजनक बात है कि ये सिक्के अप्रकाशित हैं और हम यह भी नहीं जानते कि वे कहाँ हैं। फिर भी बनर्जी के कथन पर एकदम अविश्वास करने का कोई कारण नहीं जान पड़ता। हो सकता है कि समुद्रगुप्त ने ताँबे के सिक्के चलाये हों।

सी० जे० राजर्स ने सुनेत (जिला लुधियाना, पंजाब) से मिले ताँबे के कुछ ऐसे सिक्के प्रकाशित किये हैं जिनके एक ओर चक्र अथवा सूर्य और दूसरी ओर दो पंक्तियों में

---

१. ज० न० सो० इ० ए० सो०, १८, १२, पृ० २१३
२. इसका पता हमें उत्खनन से प्राप्त मुद्रा-सामग्री का पुनर्परीक्षण करते समय लगा था (बुलेटिन ऑव द डकन कालेज रिसर्च इन्स्टीट्यूट, २१, पृ० ५१)
३. ज. रा. ए. सो०, १८८९, पृ० १२४
४. द एज ऑव इम्पीरियल गुप्ताज, पृ० २१४
५. क्वायनेज आव द गुप्त इम्पायर, पृ० ४०

सम्रगुप्त अंकित है।[1] इस ढंग के सिक्कों पर अन्य कई नाम मिलते हैं, पर उनमें कोई अन्य गुप्त नामान्त नहीं है। इन सिक्कों के समुद्रगुप्त के सिक्के होने की कल्पना हो सकती है। पर वे सिक्के न तो कहीं चित्रित हुए हैं और न अध्ययनार्थ उपलब्ध हैं। अतः उनके सम्बन्ध में कोई निश्चित धारणा निर्धारित नहीं की जा सकती।

चन्द्रगुप्त (द्वितीय)—चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के ताँबे के सिक्के आठ प्रकार के पाये जाते हैं। उनमें प्रायः सभी अपने प्रतीकों की दृष्टि से मौलिक हैं। वे न तो कुषाण सिक्कों की अनुकृति जान पड़ते और न उन पर गंगा-घाटी में प्रचलित ढले और ठप्पे वाले सिक्कों का ही कोई प्रभाव है। और न कौशाम्बी, अयोध्या और पंचाल के स्थानीय नरेशों के सिक्कों की ही कोई छाया उन पर दिखाई पड़ती है।

१. **छत्र भाँति**--सोने के छत्र भाँति के सिक्कों के समान ही यह सिक्का है। राजा वामाभिमुख खड़े और उनके पीछे छत्र लिए कुब्जक है।

२. **खड़े राजा भाँति**—इन सिक्कों पर राजा दाहिना हाथ ऊपर उठाये खड़ा है; कुछ सिक्कों पर वह फूल लिये और कुछ पर हवनकुण्ड में आहुति देते जान पड़ते हैं

३. **अर्धशरीर भाँति**—इन पर हार, कुण्डल और कंकण से युक्त हाथ में पुष्प लिए राजा का वामाभिमुख अर्धशरीर अंकित है। इसके हुविष्क के अर्धशरीर अंकित सोने के सिक्कों की अनुकृति होने का भ्रम हो सकता है। इस भाँति के कुछ सिक्कों पर राजा का चित्र ऊपर और नीचे **श्री विक्रमादित्य** लिखा मिलता है और कुछ पर चित ओर कोई लेख नहीं है।

४. **चक्र भाँति**—इसमें ऊपरी भाग में चक्र और नीचे चन्द्र लिखा है। इस भाँति के सिक्कों की तुलना सम्रगुप्त अंकित उन सिक्कों से की जा सकती है जिनकी चर्चा ऊपर की गयी है।

इन सभी भाँति के सिक्कों के पट ओर एक ही प्रकार का प्रतीक है। ऊपर आधे हिस्से में गुप्त शासकों की मुहरों पर अंकित गरुड़ के समान मानव-मुख और हाथयुक्त पंख फैलाये गरुड़ का है और नीचे निम्नलिखित कोई अभिलेख हैं :

१. **महाराज श्री चन्द्रगुप्तः** (छत्र भाँति)

२. **महाराज चन्द्रगुप्तः** (अर्धशरीर भाँति, क उपभाँति)

३. **श्री चन्द्रगुप्त** (अर्धशरीर भाँति, उपभाँति ख और ट तथा खड़े राजा भाँति)

४. **चन्द्रगुप्त** (अर्धशरीर भाँति, उपभाँति स और इ)

५. **गुप्त** (चक्र भाँति)। चित ओर के चन्द्र लेख को मिला कर सिक्के पर राजा का पूरा नाम चन्द्रगुप्त हो जाता है।

---

१. कैटलाग ऑव कायन्स कलेक्टेड बाई० सी० जे० रॉजर्स, ३, पृ० १३२–३३

६. मस्तक भाँति—कुछ सिक्कों पर बड़ा-सा कुण्डल धारण किये हुए राजा का मस्तक अंकित है। ऐसे एक सिक्के पर राजा खुले सिर हैं और एक अन्य सिक्के पर मुकुट धारण किये हुए हैं। इस प्रकार इसके दो भाँति हैं। पहली भाँति पर पट ओर बिना किसी प्रतीक के केवल श्री **चन्द्र** लिखा है। दूसरे में बिना किसी लेख के गरुड़ अंकन है। लेख के अभाव में निश्चयपूर्वक कहना कठिन है कि वह चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का ही सिक्का है। वह किसी भी गुप्त शासक का सिक्का हो सकता है।

७. कलश भाँति—इस भाँति में कलश है; जिसके दोनों किनारे लताएँ लटकती हैं। इसके पट ओर ऊपर अर्ध-चन्द्र और नीचे **चन्द्र** लेख मिलता है।

८. धनुर्धर भाँति—यह चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के धनुर्धर भाँति (उपभाँति २) की अनुकृति है। इस भाँति के दो सिक्के ज्ञात हैं। एक राजगृह से और दूसरा अहिच्छत्रा से मिला है। अहिच्छत्रा से मिले सिक्के पर सोने के मुलम्मे के चिह्न मिलते हैं। सोने के इस मुलम्मे के कारण, अनुमान होता है कि इन सिक्कों का प्रयोग ताँबे के सिक्कों के रूप में न था; साथ ही इस बात की भी सम्भावना नहीं जान पड़ती कि इनका व्यवहार सोने के सिक्कों के रूप में होता रहा होगा। जिस सिक्के पर सोने के मुलम्मे का चिह्न है, उसका तो नहीं, पर दूसरे सिक्के का वजन ज्ञात है। वह केवल ८४·४ ग्रेन है। इसको देखते हुए अधिक सम्भावना इस बात की है कि ये सिक्के न होकर सिक्कों के नमूने मात्र हैं। राजगृह और अहिच्छत्रा दोनों ही प्राचीन काल में महत्व के नगर थे। हो सकता है गुप्त-काल में वहाँ टकसालें रही हों।

ताँबे के इन सिक्कों के लिए कोई मानक-भार बता सकना कठिन है। प्रत्येक भाँति के सिक्के की अपनी-अपनी भार-सीमा है और उनके अन्तर्गत प्रत्येक सिक्के का अलग-अलग वजन है। फिर भी उनके भार का केन्द्र इस प्रकार अनुमान किया जा सकता है :

१. छत्र भाँति	५७.५–६४.४ ग्रेन।
२. खड़े राजा भाँति	५३.७ ग्रेन
३. अर्धशरीर भाँति	८७, ४४, ४०.५, २७ और २८ ग्रेन। (सम्भवतः ये तीन मूल्यों के सिक्कों के द्योतक हैं)।
४. चक्र भाँति	८.४ ग्रेन
५. कलश भाँति	१२.१ ग्रेन
६. धनुर्धर भाँति	८४.३ ग्रेन

रामगुप्त—रामगुप्त के सिक्के केवल ताँबे के ज्ञात हैं और चित ओर के प्रतीकों के अनुसार उनके पाँच भाँतियों की जानकारी अब तक हो पायी है।

१. वामाभिमुख पूँछ उठाए बैठा सिंह

२. दक्षिणाभिमुख पूँछ उठाए खड़ा सिंह

३. पंख फैलाये गरुड़

४. लटकते हुए लता से युक्त कलश

५. लता विहीन कलश

इन सभी भाँतों के सिक्कों पर समान रूप से पट ओर अर्धचन्द्र और उसके नीचे रामगुप्त लिखा है। अधिकांश सिक्कों पर लेख रामगु, मगु अथवा मगुप्त के रूप में खण्डित मिलता है।

इन सिक्कों के भार के निम्नलिखित केन्द्र-बिन्दु हैं—

(१) ३१.३, (२) १८.७, (३) ६.५ से ८.५, (४) ३ से ४.६ और (५) २.५ ग्रेन। घिसन आदि को ध्यान में रखते हुए ऐसा जान पड़ता है कि ये पाँच मूल्य के सिक्कों के परिचायक हैं।

विद्वानों के एक वर्ग की ऐसी धारणा है कि ये सिक्के गुप्त वंश के न होकर मालवा के किसी स्थानिक शासक के हैं।[1] अपने समर्थन में ये लोग प्रायः रूप, बनावट, आकार और वजन में इन सिक्कों के ताँबे के नन्हें मालव-सिक्कों के साथ सादृश्य की ओर इंगित किया करते हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में सबसे खेदजनक बात तो यह है कि ऐसा कहते समय ये लोग ऐतिहासिक भूगोल को एकदम भूल जाते हैं और 'मालव-गण' को 'मालवा प्रदेश' (जहाँ कि रामगुप्त के सिक्के मिलते हैं) मानने की भूल कर बैठते हैं। मालव लोग, जिन्होंने वे सिक्के जारी किये थे जिनकी ओर ये विद्वान संकेत किया करते हैं, कभी मालवा प्रदेश में नहीं रहे। वे सदैव मालवा से कई सौ मील दूर उत्तर-पश्चिम जयपुर (राजस्थान) जिले के नगर अथवा कर्कोटनगर और उसके आसपास के क्षेत्र में ही सीमित रहे। यदि रामगुप्त के सिक्कों के मालव लोगों के सिक्कों से प्रभावित होने का अवसर मिल सकता था तो उनके इसी क्षेत्र में, मालवा में नहीं। आज तक मालव लोगों का एक भी सिक्का मालवा प्रदेश में नहीं मिला है। मालव लोगों के सिक्कों से रामगुप्त के सिक्के प्रभावित नहीं हैं, यह इस बात से भी प्रकट है ~~कि वे~~ मालव लोगों के क्षेत्र में सर्वथा अज्ञात है।

गुप्तों के प्रारम्भकालिक समवर्ती नागों की पहुँच मालव लोगों के प्रदेश तक थी। उनके कुछ सिक्के वहाँ मिले हैं। अतः इस बात की सम्भावना हो सकती है कि नागों ने मालव लोगों के सिक्कों को प्रभावित किया हो अथवा मालव लोगों के सिक्कों से स्वयं प्रभावित हुए हों। इस प्रकार यदि रामगुप्त के सिक्कों में मालव लोगों के सिक्कों का कोई प्रभाव परिलक्षित होता है तो वह उसे अप्रत्यक्ष रूप से प्राप्त हुआ है और मालव-सिक्कों के साथ उसका सम्बन्ध दूर का है। वस्तुतः तथ्य यह है कि रामगुप्त के सिक्के नाग सिक्कों के अनुकरण हैं और जैसा कि अल्तेकर ने बताया है।[2] आकार और वजन में वे नाग-सिक्कों के अधिक निकट हैं। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं होता कि ये सिक्के मालवा के किसी स्थानिक शासक के ही हैं। इस

१. रमेशचन्द्र मजूमदार, द क्लासिकल एज, पृ० १७, पादटिप्पणी १

२. क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, पृ० १६१–६४

सम्बन्ध में यह तथ्य भुला नहीं दिया जाना चाहिये कि हमारे देश में सिक्के सदैव स्थानिक रहे हैं। सिक्कों के प्रचलित करते समय उनके प्रचलित करने वाले अधिकारी प्रचलित स्थानीय परम्परा का निर्वाह करने का सदैव यत्न करते रहे हैं। गुप्त शासकों के चाँदी के सिक्के बनावट, आकार और वजन पर पश्चिमी क्षत्रपों के सिक्कों की अनुकृति हैं। अतः आश्चर्य और सन्देह का कोई कारण नहीं है यदि मालवा में, उस प्रदेश के प्रचलित सिक्कों के अनुकरण पर किसी गुप्त शासक के ताँबे के सिक्के मिलते हैं।

अपना मत प्रतिपादित करते समय इन विद्वानों ने इस तथ्य की सदा ही उपेक्षा की है कि रामगुप्त के सिक्कों की गुप्त सिक्कों और मुहरों के साथ भी समानता है। (१) इन सिक्कों पर बैठे हुए सिंह का ठीक वही स्वरूप है, जो ध्रुवस्वामिनी की बसाढ़ से मिली मिट्टी के मुहर पर पायी जाती है। (२) कलश भाँति के सिक्के चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के कलश भाँति के सिक्कों के समान ही हैं। (३) इन सिक्कों पर मिलने वाला गरुड़ भी चन्द्रगुप्त (द्वितीय) और कुमारगुप्त (प्रथम) के ताँबे के सिक्कों पर मिलने वाले गरुड़ की भाँति ही है। (४) रामगुप्त के सिक्कों का पट भाग भी चन्द्रगुप्त के कलश भाँति के पट के समान ही है। यही नहीं, इन सिक्कों का वजन भी चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के सिक्कों के वजन से मिलता हुआ है। और ये सब इस बात के निःसन्दिग्ध प्रमाण हैं कि ये सिक्के गुप्तवंश के ही हैं।

सर्वोपरि, इस बात का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि इस काल में मालवा में कोई ऐसा शक्तिशाली राजा हुआ, जो सिक्के प्रचलित करने की क्षमता रखता हो।

कुमारगुप्त (प्रथम)—कुमारगुप्त के तीन भाँति के सिक्के मिलते हैं—

१. **छत्र भाँति**—चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के ताँबे के इस भाँति के सिक्के के अनुरूप ही ये सिक्के हैं; अन्तर केवल इतना ही है कि नाम एक पंक्ति में न होकर दो पंक्तियों में (१) **महाराज श्री कुमा** (२) **र गुप्त** है।

२. **खड़ा राजा भाँति**—इसमें राजा कच्छ धारण किये, आभूषण पहने, बायाँ हाथ कटिविनयस्थ और दहिना नीचे लटकाये खड़े हैं। अल्तेकर की धारणा है राजा हवनकुण्ड में आहुति दे रहे हैं।[1] एक अन्य सिक्के पर उनकी धारणा है कि वे बायें हाथ में धनुष और दाहिने हाथ में बाण लिये हैं। वे इसे धनुर्धर भाँति कहते हैं।[2] पर उनके इस कल्पना का समर्थन सिक्कों से नहीं होता। इनके पट ओर आधे भाग में गरुड़ और आधे भाग में **श्री कुमारगुप्त** लेख है।

३. **लक्ष्मी-हवनकुण्ड भाँति**—यह कुमारगुप्त का नये भाँति का सिक्का है। इसके एक ओर लक्ष्मी किसी अस्पष्ट वस्तु पर (एलन के अनुसार दक्षिणाभिमुख बैठे सिंह पर[3] और स्मिथ के अनुसार पद्मासना आसन पर[4]) बैठी हैं और दूसरी ओर

१. वही, पृ० २१७, फलक १८, १
२. वही, फलक १८, २
३. ब्रि० म्यू० सू०, १५२, पृ० ११३, भाँति २
४. ज० रा० ए० सो०, १९०७, पृ० ९६

हवनकुण्ड सदृश कोई वस्तु है। वह गरुड़ का विकृत रूप भी हो सकता है। उसके नीचे श्री कु लेख है।

कुमारगुप्त के सिक्कों के वजन का कहीं उल्लेख नहीं है। पर उपर्युक्त भाँति के कुछ सिक्कों का भार ८४ अथवा ५८ ग्रेन है।

हरिगुप्त – हरिगुप्त के सिक्के दो भाँति के हैं—

१. **छत्र भाँति**—इस भाँति का सिक्का चन्द्रगुप्त (द्वितीय) और कुमारगुप्त (प्रथम) के ताँबे के छत्र भाँति के सिक्कों के समान ही है। इससे यह प्रकट होता है कि हरिगुप्त का काल इनके निकट ही होगा। पट भाग कुमारगुप्त के समान है और दो पंक्तियों में (१) महाराज श्री (२) हरिगुप्त लेख है।[१]

२. **कलश भाँति**—इस भाँति के सिक्कों में कलश आसन पर रखा है। कनिंगहम की धारणा थी कि वह आसन पर रखा भगवान् बुद्ध का भिक्षा-पात्र है। पट ओर दो पंक्तियों में (१) श्री महाराज (२) हरिगुप्तस्य लेख है।[२] इस भाँति के सिक्कों की चन्द्रगुप्त (द्वितीय) और रामगुप्त के कलश भाँति के सिक्कों से तुलना की जा सकती है; अन्तर केवल इतना ही है कि कलश आसन पर है और लेख में राजा की उपाधि का प्रयोग हुआ है।

उपलब्धियाँ

तथाकथित समुद्रगुप्त के सिक्के बंगाल में बर्दवान जिले में मिले थे। कुम्हरार (प्राचीन पाटलिपुत्र) की खुदाई में चन्द्रगुप्त के ११ सिक्के मिले थे।[३] स्मिथ ने चन्द्रगुप्त के सिक्के उत्तरप्रदेश में अयोध्या, कौशाम्बी और अहिच्छत्रा से और पंजाब में सुनेत और पानीपत से मिलने की बात लिखी है।[४] जे० पी० रालिंस के संग्रह का एक सिक्का झेलम जिले में मिला था।[५] रामगुप्त के अधिकांश सिक्के भिलसा (विदिशा)[६] और एरण[७] में मिले हैं। एक सिक्का झाँसी से ३५ मील दूर ताल्कभट में मिला था।[८] कुमारगुप्त का एक सिक्का अहिच्छत्रा में[९] और दूसरा सम्भवतः अयोध्या[१०] में मिला था। स्मिथ ने कुमारगुप्त का पंजाब से मिला एक सिक्का हूण सिक्के के रूप में प्रकाशित किया है।[११] हरिगुप्त के सभी सिक्के अहिच्छत्रा से मिले हैं।[१२] वे चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के सिक्कों के साथ मिले हैं।

---

१. ए० इ०, ३३, पृ० ९५
२. ब्रि० म्यू० सू०, पृ० १५२, सिक्का ६१६
३. क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, पृ० १५५
४. ज० रा० ए० सो०, १८८९, पृ० ४८–५१
५. वही, १८९४, पृ० १७३
६. ज० न्यू० सो० इ०, १२, पृ० १०३; १३, पृ० १२८; २३, पृ० ३४१
७ वही, २३, पृ० ३४१
८. वही, १७, पृ० १०८
९. ज० रा० ए० सो०, १८८९, पृ० १४२
१०. वही, पृ० १४३
११. वही, १९०७, पृ० ९६
१२. ब्रि० म्यू० सू०, पृ० १५२; ए० इ०, ३३, पृ० ९५

साहित्य

गुप्त-वंशीय शासकों के इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली साहित्यिक सामग्री अनेक देशी-विदेशी ग्रन्थों में पायी जाती है, किन्तु उनसे किसी प्रकार की विस्तृत जानकारी नहीं प्राप्त होती, उनमें जो बातें कही गयी हैं उनमें अधिकांशतः ऐसी हैं जिनका अर्थ अनेक प्रकार से लगाया जा सकता है। इस कारण इस सामग्री का उपयोग केवल सतर्कतापूर्वक ही किया जा सकता है।

देशी सामग्री—निम्नलिखित भारतीय साहित्य में गुप्त राजाओं की चर्चा पायी जाती है—

(क) **आख्यान और वृत्त**—गुप्त सम्राटों का उल्लेख निम्नलिखित हिन्दू, बौद्ध और जैन आख्यानों और वृत्तों में मिलता है—

१. पुराण
२. कलियुग-राज-वृत्तान्त
३. मंजुश्री-मूल-कल्प
४. जिनसेन सूरि कृत हरिवंश पुराण
५. यति वृषभ कृत तिलोय-पण्णति

(ख) **ऐतिहासिक नाटक**—गुप्तों के इतिहास के प्रसंग में प्रायः निम्नलिखित दो नाटकों की चर्चा की जाती है—

१. वज्जिका रचित कौमुदी-महोत्सव
२. विशाखदत्त रचित देवी-चन्द्रगुप्तम्

(ग) अनेक संस्कृत नाटकों, काव्यों एवं अन्य साहित्यिक रचनाओं की प्रस्तावनाओं, भरत-वाक्यों आदि में गुप्त-शासकों के उल्लेख होने की बात कही जाती है। इस प्रकार के ग्रन्थों की संख्या काफ़ी बड़ी है, उन सबका उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं है।

(घ) कालिदास की रचनाएँ

(च) कथासरित्सागर और चन्द्रगर्भपरिपृच्छा में वर्णित कहानियों और अनुश्रुतियों में गुप्तों के प्रच्छन्न उल्लेख होने का अनुमान किया जाता है।

(छ) कामन्दकीय नीतिसार।

विदेशी सामग्री—गुप्त-कालीन इतिहास के प्रसंग में प्रायः निम्नलिखित विदेशी साहित्यिक सूत्रों का उल्लेख किया जाता है—

(क) अबुल हसन अली कृत मजमलुत-तवारीख

(ख) अल-बरूनी का वृत्तान्त

(ग) वांग-सून-त्से, फाह्यान, युवान-च्वांग[1] और ई-त्सिंग नामक चीनियोंका वृत्तांत

---

१. इसे लोग हुवेन-सांग के नाम से भी पुकारते हैं।

पुराण—हिन्दुओं के धार्मिक और लौकिक दोनों ही प्रकार के जीवन में पुराणों का महत्वपूर्ण स्थान है। वेद के पश्चात् उन्हीं की मान्यता है। धर्म और दर्शन के इतिहास के लिए तो वे असीम महत्त्व के हैं। हिन्दुत्व के विविध रूपों और स्तरों के समझने के लिए भी वे एक प्रकार की कुंजी हैं। परम्परा के अनुसार उनकी संख्या अठारह है और उनकी सूची सभी पुराणों में प्रायः एक-सी है और उनका क्रम भी एक-सा ही है। उनकी नामावली इस प्रकार है—ब्रह्म, पद्म, विष्णु, वायु, भागवत, नारदीय, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, वराह, लिंग, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ और ब्रह्माण्ड। कुछ पुराणों में वायु के स्थान पर शिव और (वैष्णव) भागवत के स्थान पर देवी भागवत का नाम मिलता है।

पुराणों में विश्व के विकास, उसके विभिन्न तत्वों के निर्माण, देवताओं और ऋषियों की वंशावली, कल्प सहित विभिन्न युगों का परिचय और राजवंशों का इतिहास समन्वित है। पुराणों में राज-वृत्तान्त का आरम्भ मनु से होता है, जिन्होंने महाप्रलयंकारी बाढ़ से जीवों की रक्षा की थी। वे वैवस्वत मनु (प्रथम राजा) कहे जाते है। उनके पश्चात् महाभारत युद्ध तक ९५ पीढ़ियों का उल्लेख है। महाभारत के बाद के भारतीय राजनीतिक इतिहास को पुराणों ने भविष्यवाणी के रूप में कहा है और इस काल के राजवंशों को कलियुग के राजवंश के नाम से अभिहित किया है। इन राजवंशों का वृत्त अत्यन्त संक्षिप्त और अधिकांशतः गूढ़ रूप में है। प्रायः राजवंशों का नाम और उनके राज-सीमा मात्र का उल्लेख है।

ये इति-वृत्त अठारह पुराणों में से केवल सात में पाये जाते हैं; उनमें भी केवल वायु, ब्रह्माण्ड, मत्स्य, विष्णु और भागवत ही इतिहासकारों के काम के हैं। वायु और ब्रह्माण्ड का विवरण प्रायः समान है; इसी प्रकार की समानता विष्णु और भागवत में भी है। मत्स्य का विवरण सामान्य रूप में वायु और ब्रह्माण्ड के प्राचीन विवरण से मिलता हुआ है। एफ० ई० पार्जिटर ने इन सभी पुराणों की ऐतिहासिक सामग्री को एकत्र और सुव्यवस्थित ढंग से सम्पादित करके अंगरेजी में **डाइनेस्टीज ऑव कलिएज** के नाम से प्रकाशित किया है।

सामान्य धारणा है कि पुराणों में गुप्त-शासकों के सम्बन्ध में केवल एक-दो पंक्तियाँ ही उपलब्ध हैं और उनमें उनकी राज-सीमा की चर्चा अस्पष्ट है। वस्तुतः लोगों के ध्यान में अब तक जो पंक्तियाँ हैं उनके अतिरिक्त भी पुराणों में कुछ ऐसी पंक्तियाँ हैं जिनमें गुप्तों की चर्चा है। किन्तु उन्हें ठीक से समझने की चेष्टा नहीं की गयी है। इन उपेक्षित पंक्तियों में आरम्भिक गुप्त शासकों के राज्य-विस्तार की संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट चर्चा है।

वायुपुराण में गुप्तों के सम्बन्ध की सुपरिचित पंक्ति है:—

अनुगंगा प्रयागं च साकेतम् मगधांस्तथा।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः॥

पार्जिटर ने इन पंक्तियों का जिस रूप में अनुवाद किया है उसका भाव है—"गुप्त वंशज राजा इन समस्त भू-भागों का भोग करेंगे यथा—गंगा तटवर्ती, प्रयाग, साकेत और मगध[1]।" किन्तु अनुगंगा शब्द स्वतः किसी भूभाग का स्पष्ट बोध नहीं कराता। सम्भवतः इसका सम्बन्ध प्रयाग से है। हो सकता है उसका तात्पर्य गंगा के मुहाने से लेकर प्रयाग तक के सारे भूभाग से हो।

पुराणों की कतिपय प्रतियों में उक्त पंक्ति में **गुप्तवंशजाः** के स्थान पर **गुह्य, सप्त** अथवा **मणिधान्यजाः** पाया जाता है; किन्तु निःसंदिग्ध रूप से **गुप्तवंशजाः** पाठ ही शुद्ध है।

विष्णुपुराण में समान धर्मापंक्ति है—**अनुगंगम् प्रयागश्च मागधा गुप्ताश्च मागधान् भोक्ष्यन्ति**। यह पाठ पार्जिटर[2] तथा दिनेशचन्द्र गांगुली[3] द्वारा देखे गये प्राचीनतम प्रति का पाठ है; किन्तु रमेशचन्द्र मजूमदार ने इसका पाठ इस प्रकार दिया है—**अनुगंगा प्रयागं मागधा गुप्ताश्च भोक्ष्यन्ति**। उनके इस पाठ में कर्म का अभाव है। स्पष्ट है किसी ने अनजाने **मागधान्** शब्द छोड़ दिया है। अतः उनके इस अनुवाद से कि 'मागधों और गुप्तों द्वारा प्रयाग तक गंगा का विस्तृत भू-भागका भोग किया जायगा"[4] पंक्ति का पूरा भाव स्पष्ट नहीं होता। यदि उनके पाठ को शुद्ध मान भी लें तो भी उससे उनके अनुवाद का मेल नहीं बैठता। गुप्त के साथ मागध का प्रयोग केवल इस बात का बोधक है कि वे लोग मगध के थे। अतः इस पंक्ति का अर्थ होगा—गंगा-तटवर्ती प्रयाग तक विस्तृत भूभाग का भोग गुप्त लोग, जो मागध थे, करेंगे। इस पुराण के सम्बन्ध में उल्लेखनीय यह है कि इसमें साकेत का कोई उल्लेख नहीं है।

इस सम्बन्ध में भागवत पुराण, जो वंश-वृत्त की दृष्टि से प्रायः विष्णुपुराण का ही अनुगामी है, अधिक स्पष्ट है। पार्जिटर द्वारा अनुसूचित हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर उसकी निर्णीत पंक्ति इस प्रकार है—**अनुगंगामाप्रयागम् गुप्तां भोक्ष्यन्ति मेदिनी** अर्थात् "गुप्त लोग गंगा-स्थित प्रयाग तक पृथिवी का भोग करेंगे"।[5]

इस प्रकार पुराणों में जो भेद दिखाई देता है, उसके कारण लोगों में भ्रम उत्पन्न हो गया है और उनकी धारणा-सी हो रही है कि पुराणों की इन पंक्तियों को कोई महत्व नहीं देना चाहिये। इस भ्रम के मूल में तथ्य यह है कि अब तक इस पंक्ति के

---

१. किंग्स बार्न ऑव द गुप्त रेस (फेमिली) विल इंज्वाय आल दीज टेरिटरीज, नेमली अलांग द गैंजेज, प्रयाग, साकेत एण्ड दि मगधाज। (डाइनेस्टीज आफ कलि एज, पृ० ७३)

२. डाइनेस्टीज ऑव द कलि एज, पृ० ५४, पाठान्तर।

३. इ० हि० क्वा०, २१, पृ० १४१।

४. दि टेरिटरी एलांग द गैंजेज (अप टु) प्रयाग विल बी इंज्वायड बाइ दि पीपुल ऑव मगध एण्ड दि गुप्ताज। (गुप्त वाकाटक एज, पृ० १२५)

५. डाइनेस्टीज ऑव कलि एज, पृ० ५४, पाठान्तर।

बाद की पंक्तियों को गुप्तों के प्रसंग से अलग करके देखने की चेष्टा होती रही है। वायु-पुराण में पार्जिटर के उद्धरण के अनुसार परवर्ती पंक्तियाँ इस प्रकार हैं[1]—

कोशलंश्च आन्ध्र पौण्ड्रांश्च ताम्रलिप्तान् ससागरान् ।
चम्पां चैव पुरीं रम्यां भोक्ष्यन्ते देवरक्षिताः ॥
कलिंगा महिषाश्चैव महेन्द्रनिलयाश्च ये ।
एतान जनपदान् सर्वान् पालयिश्यति वै गुहः ॥

अब तक इसका अनुवाद इस प्रकार किया जाता रहा है—'देवरक्षित लोग कोशल, आन्ध्र, पौण्ड्र, ताम्रलिप्ति, सागरतट और रम्य नगर चम्पा का भोग करेंगे। गुह इन सारे भूभाग अर्थात् कलिंग, महिष और महेन्द्र पर्वत निवासियों का पालन करेगा।'

इस प्रकार इन पंक्तियों से ऐसा प्रतीत होता है कि देवरक्षित लोग तथा गुह नामक एक अन्य शासक, उस भूभाग पर राज्य करते थे, जो समुद्रगुप्त के दक्षिणी अभियान के अन्तर्गत आता है। उनके प्रयाग-प्रशस्ति में इन राज्यों में से कई के शासकों का उल्लेख है। फलतः इन दो सूत्रों में सामंजस्य का अभाव पाकर दिनेशचन्द्र गांगुली ने पौराणिक साहित्य को अविश्वसनीय घोषित किया है।[2] किन्तु पौराणिक साक्ष्य के विरुद्ध उनके इस प्रकार की उड़ती हुई बात कहने का कोई औचित्य नहीं है। विष्णु-पुराण की ओर ध्यान न देकर अकेले वायुपुराण पर निर्भर रहकर उन्होंने उक्त अवतरण के मूल तत्व की सर्वथा उपेक्षा की है। विष्णुपुराण का कथन वायुपुराण के कथन से तनिक भिन्न इस प्रकार है—

कोशल ओड्र ताम्रलिप्तान् समुद्रतट पुरीं च देवरक्षितो रक्ष्यति ।
कलिंगं माहिषकम् महेन्द्रः भूमौ गुहम् भोक्ष्यन्ति ॥

अर्थात् 'देवरक्षित अपने संरक्षण का विस्तार कोशल, ओड्र, ताम्रलिप्ति और समुद्रतट-वर्ती पुरी तक करेंगे। कलिंग और महिषक महेन्द्र के अधीन होंगे। दूसरी पंक्ति का उत्तरार्ध अत्यन्त विकृत है; किन्तु उसका आशय वायुपुराण के समानधर्मी पंक्ति "एतान् जनपदान् सर्वान् पालयिष्यन्ति गुहः (इन सब जनपदों का पालन गुह करेगा) के आधार पर सुगमता से अनुमान किया जा सकता है।

स्पष्टतः ये पंक्तियाँ उन पूर्व पंक्तियों के ही क्रम में हैं, जिनमें गुप्तों का उल्लेख है। इस प्रकार पुराणों से यह सूचना प्राप्त होती है कि प्रयाग तक के भूभाग का उपभोग प्रारम्भिक गुप्त शासक करेंगे; तदनन्तर राज्य का विस्तार देवरक्षित सटे हुए प्रदेश कोशल, ओड्र, पुण्ड्र, ताम्रलिप्ति और समुद्रतटवर्ती पुरी तक करेंगे। अगला विस्तार महेन्द्र के राज्यकाल में होगा। वह कलिंग और महिषक को अपने राज्य में सम्मिलित करेंगे। अन्ततः गुह इन सारे प्रदेशों, अर्थात् मगध और प्रयाग तक का गंगातटवर्ती मूल प्रदेश, तथा देवरक्षित और महेन्द्र द्वारा विजित प्रदेशों पर शासन करेंगे।

---

१. वही, पृ० ५४
२. इ० हि० क्वा०, २१, पृ० १४१-४२।

इन पंक्तियों में गुप्त साम्राज्य के विस्तार की समस्त प्रक्रिया का ही उल्लेख है, यह बात यह अनुभव करते ही कि हमारे प्राचीन इति-वृत्तों की प्रवृत्ति प्रायः राजाओं की चर्चा गूढ़ ढंग से करने की रही है,[१] अपने आप स्पष्ट हो जाती है। वस्तुतः इन पंक्तियों में गुप्त-शासकों का उल्लेख उत्प्रेक्ष्य रूप में किया गया है। प्रभावती गुप्ता के अभिलेखों से यह तो हमें ज्ञात है ही कि चन्द्रगुप्त का अपर नाम देवगुप्त था। यहाँ देवरक्षित इसी देवगुप्त का प्रत्यर्थी है (रक्षित और गुप्त दोनों ही समानार्थी शब्द हैं)।[२] महेन्द्र के सम्बन्ध में तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं है। वह कुमारगुप्त (प्रथम) का सुविख्यात विरुद है। रही बात गुह की; सो वह स्कंद के नामों में से एक है।[३] इस प्रकार गुह के पीछे स्कन्दगुप्त को सुगमता से देख सकते हैं। इस व्याख्या के बाद यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि पुरातात्विक आधार पर ज्ञात गुप्त साम्राज्य का विस्तार ही पुराण की इन पंक्तियों में प्रतिध्वनित हो रहा है।

कलियुग-राज-वृत्तान्त—ऊपर इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि कलियुग-राज-वृत्तान्त अर्थात् कलियुग के राजवंशों का इतिहास पुराणों का एक महत्वपूर्ण अंश है। अतः यह स्वाभाविक कल्पना की जा सकती है कि इसी ढंग के अध्याय उप-पुराणों में भी होंगे। फलतः भविष्योत्तर-पुराण के कलियुग-राज-वृत्तान्त का अंश बताकर १९१६ ई० में टी० एस० नारायण शास्त्री ने अपनी पुस्तक "द एज आफ शंकर" में कुछ ऐसी पंक्तियाँ उद्धृत की थीं जिनमें गुप्त राजाओं की विस्तृत चर्चा है। उन्हीं पंक्तियों को इस पूर्व प्रकाशन अथवा मूल सूत्र का उल्लेख किये बिना ही एम० कृष्णमृचारियर ने अपनी "क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर" की भूमिका में दिया है। जब इस ग्रन्थ के मूल पाण्डु-प्रति के सम्बन्ध में कुछ लोगों ने जानने की चेष्टा की तो कृष्णमृचारियर ने उसके अपने पास होने की बात कही; पर साथ ही यह भी कहा कि जिन तीन पृष्ठों में यह पंक्तियाँ थीं वे खो गयीं।[४]

इन पंक्तियों के आधार पर कुछ लोगों ने गुप्त और आन्ध्र वंश के इतिहास के सम्बन्ध में कहने की चेष्टा की है; पर उन्हे विशेष रूप में प्रकाश में लाने का श्रेय भवतोष भट्टाचार्य को है। उन्होंने इन्हें अपनी एक लम्बी भूमिका के साथ प्रकाशित किया और गुप्त इतिहास के महत्वपूर्ण साधन के रूप में उसके महत्व पर बल दिया है।[५] ये पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

> **अथ श्री चन्द्रगुप्ताख्य पार्वतीय कुलोद्भवः।**
> **श्री पर्वतेन्द्राधिपतेः पौत्रः श्री-गुप्तभूपतेः ॥१॥**

---

१. मंजुश्री–मूलकल्प में नामों को जिस गूढ़ ढंग से व्यक्त किया गया है, वह तो सर्व-विदित ही है।

२. अभिधान चिन्तामणि, सामान्य काण्ड, श्लोक १४९७

३. वही, देवकाण्ड, श्लोक २०८-२०९; अमरकोष, प्रथम काण्ड, स्वर्ग वर्ग, श्लोक ४५

४. ज० न्यू० सो० इ०, ६, पृ० ३६

५. ज० ग० रि० इ०, १, पृ० २८७ : ज० बि० उ० रि० सो०, ३०, पृ० १–४६

श्री-घटोत्कचगुप्तस्य तनयोऽमित विक्रमः ।
कुमारदेवीं उद्वाह्य नेपालाधीशितुः सुतां ॥२॥
लब्धोप्रवेशो राज्ये स्मिंलिच्छवीयाम् सहायतः ।
सेनाध्यक्षपदं प्राप्य नाना सैन्य समन्वितः ॥३॥
लिच्छवीयां समुद्वाह्य देव्याश्चन्द्रश्रियोऽनुजां ।
राष्ट्रीय स्यालको भूत्वा राजा-पत्न्यां च चोदितः ॥४॥
चन्द्रश्रियं घातयित्वा मिषेणैव हि केनचित् ।
तत्पुत्र-प्रतिभूत्वे च राज्ञा चैव नियोजितः ॥५॥
वर्षैस्तु सप्तभिः प्राप्तराज्यो वीरागुणीरसो ।
तत्पुत्रं च पुलोमानं विनिहत्य नृपार्भकम् ॥६॥
आन्ध्रेभ्यो मागधं राज्यं प्रसह्यपहरिष्यति ।
कचेन स्वेन पुत्रेण लिच्छवीयेन संयुक्तः ॥७॥
विजयादित्यनाम्ना तु सप्त पालयिताः समाः ।
स्वनाम्ना च शकं त्वेकं स्थापयिष्यति भूतले ॥८॥
एकच्छत्रश्चक्रवर्ती पुत्रस्तस्य महायशाः ।
नेपालाधीशा-दौहित्रो म्लेच्छसैन्यः समावृताः ॥९॥
वंचकम् पितरं हत्वा सहपुत्रं सबान्धवम् ।
अशोकादित्यनाम्ना तु प्रख्यातो जगतीतले ॥१०॥
स्वयं विगताशोकश्च मातरम् चाभिनन्दयान् ।
समुद्रगुप्तो भविता सार्वभौमस्ततः परम् ॥११॥
विजित्या सरलांमूर्वीम् धर्मपुत्रेवापरः ।
समाहरश्वमेधं यथासाङ्गं द्विजोत्तमैः ॥१२॥
स्वदेशीयैर्विदेशीयैर्नृपैः समभिपूजितः ।
शास्त्र-साहित्य-संगीत रसिकैः कविभिः स्तुतः ॥१३॥
समुद्रगुप्तः पृथिवीं चतुःसागरवेष्टितां ।
पंचाशतं तथा चैकं भोक्ष्यत्येवैकराट् समाः ॥१४॥
तस्य पुत्रोऽपरश्चन्द्रगुप्ताख्यो वीरकेसरी ।
यवनांश्च तथा हूणान् देशाद्विद्रावयन् बलात् ॥१५॥
विक्रमाख्यवन्नित्यं पण्डितैः परिसेवितः ।
श्रुति-स्मृति-पुराणेतिहास-काव्य-विचक्षणः ॥१६॥
विक्रमादित्य इत्येव भुवनेषु प्रथां गतः ।
सप्तसिन्धून् समुत्तीर्य वाह्लीकादीन् विजित्य च ॥१७॥
सुराष्ट्रदेशपर्यन्तः कीर्तिस्तिंभ समुच्चरन् ।
षट्त्रिंशद्-भोक्ष्यति समास्त्वेकच्छत्राम् वसुन्धरां ॥१८॥

कुमारगुप्तस्तत्पुत्रो ध्रुवदेवी-समुद्भवः ।
कुमार इव देवारिन् विजेष्यन्निवविद्विषः ॥१९॥
समहार्त-स्वमेधस्य महेन्द्रादित्यनामतः ।
चत्वरिंशत सम द्वे च पृथिविं पालयिष्यति ॥२०॥
स्कन्दगुप्तोपितत्पुत्रः साक्षात् स्कन्द इवापरः ।
हूणदर्प-हरश्चण्डः पुष्यसेन-निषूदनः ॥२१॥
पराक्रमादित्य नाम्ना विख्यातो धरणीतले ।
शासिष्यति महीं कृत्स्नां पंचविंशति वत्सरान् ॥२२॥
ततो नृसिंहगुप्तश्च बालादित्य इति श्रुतः ।
पुत्रः प्रकाशादित्यस्य स्थिरगुप्तस्य भूपतेः ॥२३॥
नियुक्तः स्वपित्रव्येन स्कन्दगुप्तेन जीवता ।
पित्रैव साकम् भविता चत्वारिंशत्समा नृपः ॥२४॥
अन्यः कुमारगुप्तोऽपि पुत्रस्तस्य महायशाः ।
क्रमादित्य इति ख्यातो हूणैर्युद्धम् समाचरन् ॥२५॥
विजित्येशानवर्मादिन भट्टारकेणानुसेवितः ।
चतुश्चत्वारिंशद् इव सम भोक्ष्यति मेदनीम् ॥२६॥
ऐते प्रणतसामन्ताः श्रीमद्गुप्त-कुलोद्भवः ।
श्रीपर्वतीयांध्रभृत्य-नामानश्चक्रवर्तिनः ॥२७॥
महाराजाधिराजादि विरुदावाल्यलंकृतः ।
भोक्ष्यन्ति द्वेशते पंचाचत्वारिंश्च वै समाः ॥२८॥
मागधानां महाराज्यं छिन्नं-भिन्नं च सर्वशः ।
शाकमेतेर्महागुप्त-वंशैर्यास्यति समस्थितिं ॥२९॥

पार्वतीय कुल में श्री चन्द्रगुप्त नामक श्रीपर्वत-नरेश श्रीगुप्त का पौत्र होगा। श्री घटोत्कच का वह पुत्र, अमित विक्रम वाला होगा। वह नैपालाधीश की कन्या कुमारदेवी से विवाह करेगा। लिच्छवियों की सहायता से वह राज्य (मगध) में प्रभाव स्थापित करेगा और बहुत बड़ी सेना का अध्यक्षपद प्राप्त करेगा। फिर वह एक लिच्छवि-कन्या से विवाह करेगा, जो चन्द्रश्री की रानी की छोटी बहन होगी। इस प्रकार वह राजा का स्यालक (साढू ?) बन जायेगा। रानी द्वारा उभारे जाने पर किसी उपाय से चन्द्रश्री को मारकर वह रानी द्वारा अपने बेटे का संरक्षक नियुक्त किया जायेगा। वह वीराग्रणी सात वर्ष में नवशासक पुलोमान को मार कर राज्य प्राप्त करेगा। वह आन्ध्रों से बलात् मगध का राज्य प्राप्त करेगा और अपनी लिच्छवि पत्नी से जन्मे पुत्र काच के साथ शासन करेगा। वह (चन्द्रगुप्त) विजयादित्य के नाम से सात वर्ष तक शासन करेगा और अपने नाम से पृथ्वी पर शक (संवत्) स्थापित करेगा।

उसका पुत्र, नैपालाधीश दौहित्र म्लेच्छ सैन्य से समावृत चक्रवर्ती और महा-यश वाला होगा। वह पुत्र तथा बन्धु-बान्धवों सहित अपने वंचक पिता की हत्या कर डालेगा और अशोकादित्य के नाम से पृथ्वीतल पर प्रख्यात होगा। अपने को दुःखी और माता को प्रसन्न कर समुद्रगुप्त सार्वभौम बन जायेगा। समस्त पृथ्वी पर विजय प्राप्त करने और उत्तम द्विजों द्वारा शास्त्र विहित ढंग पर अश्वमेध करने के पश्चात् वह धर्म का दूसरा पुत्र बन जायेगा। वह स्वदेशी और विदेशी राजाओं द्वारा समान रूप से पूजित होगा। वह शास्त्र, साहित्य, संगीत में निष्णात होगा और रसिक तथा कवियों द्वारा प्रशंसित होगा। ५१ वर्ष तक समुद्र से चारों ओर घिरी पृथ्वी पर एकराट् के समान शासन करेगा।

उसका पुत्र वीर-केसरी चन्द्रगुप्त यवनों और हूणों को अपनी शक्ति से निकाल बाहर करेगा। वह विक्रमादित्य के समान पण्डितों द्वारा परिसेवित होगा और वह श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास, काव्य का ज्ञाता होगा। वह भुवन में विक्रमादित्य के नाम से ख्यात होगा। सप्तसिन्धु को पार कर वाह्लीक आदि को विजित कर सुराष्ट्र तक अपना कीर्ति स्तम्भ स्थापित करेगा। वह छत्तीस वर्ष तक वसुन्धरा को अपनी छत्रछाया में रखेगा।

उसका ध्रुवदेवी से जन्मा पुत्र कुमारगुप्त होगा। जिस प्रकार कुमार (कार्तिकेय) ने देवताओं के शत्रुओं पर विजय प्राप्त किया, उसी प्रकार वह अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करेगा। वह अश्वमेध यज्ञ करेगा और महेन्द्रादित्य नाम धारण करेगा। वह चालीस वर्ष तक पृथ्वी का पालन करेगा।

उस पिता का पुत्र स्कन्दगुप्त साक्षात् स्कन्द के समान होगा। वह चण्ड हूणों का दर्प हरण करेगा और पुष्यसेनों को नष्ट करेगा। वह धरणीतल पर पराक्रमादित्य के नाम से विख्यात होगा और पच्चीस वर्ष तक पृथ्वी पर शासन करेगा।

तत्पश्चात् नृसिंहगुप्त बालादित्य राज्य करेगा। वह स्थिरगुप्त प्रकाशादित्य का पुत्र होगा। वह अपने चचा स्कन्दगुप्त द्वारा अपने जीवन काल में ही राजा घोषित किया जायेगा। वह अपने पिता के साथ मिलकर चालीस वर्ष तक राज्य करेगा।

उसका पुत्र द्वितीय कुमारगुप्त महायशस्वी होगा। हूणों को युद्ध में पराजित कर वह क्रमादित्य नाम धारण करेगा। ईशानवर्मन आदि को पराजित कर और भट्टारकों द्वारा अनुसेवित होकर चौवालिस (४४) वर्ष तक पृथ्वी का भोग करेगा।

ये सब श्रीगुप्तकुलोद्भव राजा, श्रीपर्वतीय आन्ध्रभृत्य के नाम से विख्यात चक्रवर्ती होंगे और महाराजाधिराज आदि उपाधियों से विभूषित होंगे। ये लोग कुल १४० वर्ष तक राज्य करेंगे। सर्वशः छिन्न-भिन्न हो गया मगध का महाराज्य गुप्तवंश के अन्तर्गत स्थायित्व प्राप्त करेगा।

भट्टाचार्य का मत है कि इन पंक्तियों में गुप्तों का वास्तविक इतिहास वर्णित है। कुछ अन्य लोग भी इसे वास्तविक इतिहास समझते रहे हैं, किन्तु अनन्त सदाशिव अल्तेकर ने इसके मौल होने में सन्देह प्रकट किया है।[१] दिनेशचन्द्र सरकार,[२] जगन्नाथ[३] और रमेशचन्द्र मजूमदार ने[४] तो इसे नितान्त जाल घोषित किया है।

वस्तुतः उपर्युक्त पंक्तियों को पढ़कर सरलता से यह अनुमान किया जा सकता है कि उनकी रचना सौ वर्ष के भीतर ही सम्भवतः कुमारगुप्त (तृतीय) के, जो उन दिनों कुमारगुप्त (द्वितीय) समझा जाता था, भितरी मुहर की जानकारी होने के बाद ही की गयी होगी। इन पंक्तियों में उन्हीं राजाओं की चर्चा है, जो उन दिनों तक अभिलेखों और सिक्कों से ज्ञात थे और गुप्त-सम्राट् माने जाते थे। इसमें पुरुगुप्त, बुधगुप्त, वैन्य-गुप्त, विष्णुगुप्त की, जो इसी वंश के ख्यात राजा हैं, कहीं भी कोई चर्चा नहीं है। इसमें नरसिंहगुप्त के पिता का नाम स्थिरगुप्त कहा गया है। इस नाम का सुझाव उन्हीं दिनों विकल्प के रूप में बुहर ने रखा था।[५] आज न केवल यही बात गलत प्रमाणित है, वरन् यह भी ज्ञात है कि स्कन्दगुप्त के बाद नरसिंहगुप्त राजा नहीं हुआ था। जो तथ्य आज प्राप्त हैं, उनकी दृष्टि से इनमें प्रत्येक राजा के लिए कहा राज-काल भी गलत है।

इस प्रकार इन पंक्तियों के कूट होने में तनिक भी सन्देह नहीं है और इतिहास-कारों के लिए बेकार हैं। हमने इन्हें यहाँ पाठकों को केवल यह बताने के लिए उद्धृत किया है कि ज्ञान के क्षेत्र में किस प्रकार की जालसाजी की जा सकती है और इस प्रकार की सामग्री के उपयोग में कितना खतरा है।

मंजुश्री मूलकल्प—मंजुश्री-मूलकल्प बौद्ध-महायान सम्प्रदाय का एक संस्कृत ग्रन्थ है। इसका सम्बन्ध मुख्य रूप से धर्म से है, तथापि इसमें १००५ श्लोकों के एक लम्बे अध्याय में ईसा की आरम्भिक शताब्दी से लेकर पाल-काल तक का, भारतवर्ष के इतिहास की सामान्य और गौड़ की (जिसमें मगध भी सम्मिलित है) विशेष रूप में चर्चा है। काशीप्रसाद जायसवाल के मतानुसार यह ७७० अथवा मोटे तौर पर ८०० ई० की रचना है, क्योंकि इसमें पाल शासकों में केवल गोपाल की चर्चा है।[६] तिब्बती दुभाषिया साक्य-ब्लो-ग्रास की सहायता से कुमारकलश ने इस ग्रन्थ का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया था। इनका समय दीपंकर श्रीज्ञान (अतीस) के सहयोगी सुभूति-श्री-शान्ति के आधार पर निर्धारित किया जाता है। सुभूति-श्री-शान्ति और

---

१. ज० न्यू० सो० इ०, ५, पृ० ५६, पा० टि० १

२. वही, ६, पृ० ३६

३. ज० बि० रि० सो०, ३१, पृ० २८ : प्रो० इ० हि० का०, ७, पृ० ११९

४. इ० हि० क्वा०, २०, पृ० ३४५

५. ज० रा० ए० सो०, १८९३, पृ० ८३, पा० टि० २

६. इम्पीरियल हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० ३

शाक्य-ब्लो-ग्रास ने मिलकर प्रमाण-वार्तिक का अनुवाद प्रस्तुत किया था। राहुल सांकृत्यायन के मतानुसार दीपंकर १०४२ ई० में तिब्बत गये थे और १०५४ ई० में मरे।[१] इस प्रकार यह निस्सन्देह इस काल के पूर्व की रचना है।

इस ग्रन्थ के इतिहास भाग में भगवान बुद्ध की निर्वाण होने तक की जीवन चर्चा है। तदनन्तर बुद्ध के समवर्ती राजाओं का वर्णन है; अन्त में बौद्ध भिक्षुओं और उनकी अवस्था, ब्राह्मण, शूद्र, चार दैवी महाराजाओं और देवताओं का वर्णन है। इस प्रकार राजनीतिक इतिहास की सीमा केवल ६०० श्लोकों तक ही है। उसमें भी यत्र-तत्र उन मन्त्रों और तन्त्रों की व्याख्या है, जिनका उपयोग ग्रन्थकार के मतानुसार महत्ता प्राप्त करने के लिए विभिन्न राजाओं ने किया था। इसमें इन राजाओं के नरक अथवा स्वर्ग का इतिहास भी सम्मिलित है। इस प्रकार ऐतिहासिक महत्त्व के केवल ३०० श्लोक ही रह जाते हैं।

इस ऐतिहासिक सामग्री का सम्पादन काशीप्रसाद जायसवाल ने[२] मूल संस्कृत (जिसका सम्पादन टी० गणपति शास्त्री ने किया है)[३] और एक ऐसे तिब्बती ग्रन्थ के सहारे किया है, जो इस ग्रन्थ का शब्द प्रति शब्द अनुवाद है, और उनके पाठान्तर दिये हैं। किन्तु इन दोनों ही ग्रन्थों में अनेक स्थल अनुपलब्ध हैं। उन्होंने दोनों ग्रन्थों की सहायता से एक दूसरे के अभाव की पूर्ति करने की चेष्टा की है, फिर भी अनेक पंक्तियाँ अनुपलब्ध अथवा स्थानान्तरित रह गयी हैं। इस कारण इस ग्रन्थ में वर्णित सभी ऐतिहासिक तथ्यों की, अन्य सूत्रों की सहायता से छानबीन कर सकना कठिन है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थकार ने प्रायः सभी ऐतिहासिक व्यक्तियों के नामों को गूढ़ रूप में व्यक्त किया है। अपनी कल्पना के सहारे उनके नामों को बदल दिया है। कहीं तो उसने राजाओं के नाम पर्यायवाची शब्दों द्वारा व्यक्त किये हैं और कहीं उनके नाम के एक या दो आद्याक्षरों का प्रयोग किया है। ये अक्षर भी नामों के आद्याक्षर हैं या नहीं, इसका निर्णय कर सकना भी कहीं-कहीं सम्भव नहीं है। इस कारण इसके सहारे ऐतिहासिक शोध का कार्य सुगम नहीं है; कहीं-कहीं तो असम्भव-सा है।

काशीप्रसाद जायसवाल ने अपने पाठ के साथ एक लम्बी व्याख्या भी प्रस्तुत की है और ग्रन्थ में उल्लिखित राजाओं की पहचान और इतिहास (विशेषतः परवर्ती गुप्तों के इतिहास) के पुनस्संधान करने की चेष्टा की है; किन्तु अधिक प्रामाणिक साधनों से ज्ञात तथ्यों के प्रकाश में उनके अधिकांश पहचानों और पुनस्संधानों से सहमत होना कठिन है।

इस ग्रन्थ में गुप्त सम्राटों से सम्बन्धित पंक्तियाँ किसी एक स्थान पर न होकर अन्य

---

१. तिब्बत में बौद्ध-धर्म।

२. इम्पीरियल हिस्ट्री ऑव इण्डिया, लाहौर, १९३४

३. त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज, ८४, १९२५, पृ० ५७९–६५६

राजाओं और राजवंशों की चर्चा के बीच बिखरी और उलझी हुई हैं। अतः निश्चित रूप से कहना कठिन है कि उन पंक्तियों का तात्पर्य वस्तुतः गुप्त वंश के राजाओं से ही है। ऐसी स्थिति में हमें जो अंश गुप्त राजाओं से सम्बन्धित जान पड़े हैं, उन्हें ही हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं।

(१) मध्यकाले समस्वासा मध्यमा मध्यधर्मिणः ।
अन्ते कलौ युगे (अनन्ते च युगे) नृपेन्द्राश्रृणु तत्वतः ॥ ६४५
समुद्राख्यो नृपश्चैव विक्रमश्चैव कीर्तितः ।
महेन्द्र नृपवरो मुख्य सकाराख्यो मतः परम् ॥ ६४६

मध्यकाल की बात और उन मध्य-धर्मा नृपेन्द्रों का हाल सुनिये जो कलियुग के अन्त में (अथवा बहुत काल में) होंगे : (१) समुद्र नामक नृप, (२) विक्रम नामक कीर्तिवान, (३) महेन्द्र नामक नृपवर मुख्य और (४) स कार नामक परम मत।

(२) देवराजाख्या नामासौ (भविष्यन्ति) युगाधमे ।
विविधाख्यो नृपः श्रेष्ठः बुद्धिमान् धर्मवत्सलः ॥ ६४७

उसका नाम देवराज (होगा) और उसके अनेक नाम होंगे, वह इस अधम युग में श्रेष्ठ, बुद्धिमान और धर्मवत्सल होगा।

(३) तस्याप्यनुजो बालाख्यः शासने च हिते रतः ।
प्राचीं समुद्र पर्यन्तां चैत्यालंकृतशोभनाम् ॥ ६४८
करिष्यन्ति न सन्देहः कृत्स्नां वसुमतीं तदा ।
बिहाराराम वापीश्च उद्याना मण्डपां सदा ॥ ६४९
करिष्यन्ति तदा भीमां सक्रमां सेतुकारकः ।
शास्तुर्बिम्बान् तदा पूजेत् तत्मसघांश्च पूजयेत ॥ ६५०
कृत्वा राज्यं महीपालो निःसपत्नम कण्टकम् ।
जीवेद्‌वर्षा षट्‌त्रंशत्‌त्रंशाहं प्रव्रजे नृपः ॥ ६५१
ततोऽमानं घातयेद् राजा ध्यायन्तः सम्प्रमूर्छितः ।
पुत्रशोकाभिसन्तप्तः यतिकृतिसमाश्रतः ॥ ६५२

उसका वंशज (अनुज) बाल शासन एवं लोकहित में रत रहेगा। वह पूर्व में समुद्र पर्यन्त चैत्य निर्माण करायेगा। सारी भूमि पर वह बिहार, आराम, वापी, उद्यान और मण्डप बनवायेगा। वह सड़क और पुल भी बनवायेगा। वह बुद्ध-मूर्ति की पूजा करेगा। वह निष्कण्टक राज्य करेगा और ३६ वर्ष जीवित रह कर भिक्षु बन जायेगा; फिर ध्यान द्वारा अपना घात कर लेगा। वह अपने मृत पुत्र के शोक में भिक्षु होगा। (इस अन्तिम तथ्य का उल्लेख तिब्बती संस्करण में नहीं है)। अनन्तर श्लोक ६५३ से ६७३ तक 'बाल' के पूर्व जन्म आदि का वर्णन है।

(४) तस्यापरेण नृपतिः गौडानां प्रभविष्णवः ।
कुमाराख्यो नामतः प्रोक्तः सोऽपिरत्यन्त धर्मवान् ॥ ६७४
तस्यापरेण श्रीमो उकाराख्येति विश्रुतः ।
ततः परेण विश्लेष तेषामन्योन्यतेष्यते ॥ ६७५

उसके बाद (तस्यापरेण) गौड़ का कुमार नामक प्रभविष्णु राजा होगा, जो अत्यन्त धर्मवान होगा । उसके बाद श्रीमां उकाराख्य होगा । उसके बाद वहाँ परस्पर विश्लेष होगा ।

(५) महाविश्लेषणा ह्येते गौडा रौद्रचेतसः ।
ततो देव इति ख्यातो राजा मागधकः स्मृतः ॥ ६७६
सोऽप्यतद्वत विध्वस्त रिपुभिः समता वृतः ।
तस्यापरेण चन्द्राख्यः नृपतिस्तं कारयेत् तदा ॥ ६७७
सोऽपि शस्त्र विभिन्नस्तु पूर्वचोदित कर्मणा ।
तस्यापि सुतो द्वादश गणवां
जीवेद् वर्षाष्टकम् (जीवेन्मास परम्परम्) ॥ ६७८
सोऽपि विभिन्न शस्त्रेण बाल एवं मृतस्तदा ।

गौड़ का यह महाविश्लेष अत्यंन्त भीषण होगा । तदनन्तर मगध के राजा के रूप में देव प्रसिद्ध होगा । वह शत्रुओं द्वारा चारों ओर से घिरा रहेगा और मारा जायेगा । उसके बाद चन्द्र नामक राजा का कार्य करेगा । वह भी अपने पूर्व जन्म के फलस्वरूप शस्त्र द्वारा टुकड़े-टुकड़े कर दिया जायगा ।

उसका पुत्र (सुत) द्वादश आठ वर्ष (अथवा कुछ मास) जीवित रहेगा । वह भी विभिन्न शस्त्रों द्वारा मारा जायेगा ।

पहले अवतरण में स्पष्ट रूप से गुप्तवंशीय शासक समुद्र(गुप्त), विक्रम (चन्द्रगुप्त द्वितीय, विक्रमादित्य), महेन्द्र (कुमार गुप्त प्रथम, महेन्द्रादित्य और स (स्कन्दगुप्त) का उल्लेख है । दूसरा अवतरण, पहले अवतरण के क्रम में ही है; अतः प्रत्यक्षतः उसका सम्बन्ध स्कन्दगुप्त से जान पड़ता है । तदनुसार यह बात सामने आती है कि उसका अपर नाम देवराज था और वह अनेक अन्य नामों से भी ख्यात था । किन्तु यह भी सम्भव है कि इस स्थल पर स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों की चर्चा रही हो और उनमें से किसी का नाम देवराज रहा हो । यदि हमारा यह अनुमान ठीक है तो कहा जा सकता है कि यहाँ देवराज से ग्रन्थकार का तात्पर्य बुधगुप्त (देव अर्थात् बुद्ध) से हो सकता है ।

तीसरे अवतरण से बाल (बालादित्य, नरसिंहगुप्त) और उनके लोकहित के कार्यों का और चौथे अवतरण से नरसिंहगुप्त के उत्तराधिकारी कुमार (गुप्त तृतीय), और उनके उत्तराधिकारी श्रीमान् उ (सम्भवतः विष्णुगुप्त) का परिचय मिलता है । यहाँ तक तो विवरण स्पष्ट और अन्य सूत्रों से ज्ञात तथ्यों के अनुरूप ही है । विष्णुगुप्त के

पश्चात् अन्य किसी भी सूत्र से हमें कोई जानकारी प्राप्त नहीं है। अतः यदि पाँचवाँ अवतरण भी उसी क्रम में है तो हमें यह ज्ञात होता है कि उ (विष्णुगुप्त) के पश्चात् गौड़ देश में महाविक्षोभ हुआ था और इस काल में देव, चन्द्र और द्वादश नामक राजे गद्दी पर बैठे थे; किन्तु उनका शासनकाल अत्यल्प था। पर यह भी सम्भावना है कि इस अवतरण का सम्बन्ध दूसरे अवतरण से हो जिसमें देवराज का उल्लेख है, और यह उस क्रम में अतिरिक्त सूचनाएँ प्रस्तुत करता है। यदि इस अवतरण का देव और दूसरे अवतरण का देवराज (अर्थात् बुधगुप्त) एक ही है तो चन्द्र और द्वादश की पहचान सुगमता के साथ सिक्कों के ज्ञात चन्द्रगुप्त (तृतीय) और द्वादशादित्य (वैन्यगुप्त) के साथ की जा सकती है।

(६) तस्यापरेण नृपतिस्तु समुद्राख्यो नाम कीर्तितः ॥ ७००
त्रीणि वर्षाणि (दिवसानि) दुर्मेधः राज्यं प्राप्स्यति दुर्मतिः।
तस्याप्यनुजो विख्यातः भस्माख्यो नाम नामतः ॥ ७०१
प्रभुः प्राणातिपात संयुक्तः महासावद्यकारिणः।
निर्घृणी अप्रमत्तश्च स्वशरीरे तु यत्नतः ॥ ७०२
परलोकार्थिने नासौ बलिसत्वदिहैव तु।
अकल्याणमित्रमागम्य पापं कर्म कृतं बहु ॥ ७०४
द्विजैराक्रान्तद्राज्यं तार्किकैः कृपणैस्तथा।
विविधाकारभोगांश्च मानुषा पितरास्तथा ॥ ७०७
विविधां सम्पदां सोऽपि प्राप्तवान् पतिस्तथा।
सोऽनुपूर्वेण गत्वासो पश्चिमां दिशि भूपतिः ॥ ७०५
कश्मीरद्वारपर्यन्तं उत्तरां दिशिसाश्रुतः।
तत्रापि जितसंग्रामौ राज्यं कृत्वा तु वै तदा ॥ ७०६
द्वादशाब्दानि सर्वत्र मासां पंचदशास्तथा।
पृथिव्यामार्तरोगोऽसो मूर्छितश्च पुनः पुनः ॥ ७०७

तदनन्तर कीर्तिवान समुद्र नामक नृप होगा। उसका अनुज भस्म (अथवा भस्मम्-संस्कृत पाठ), अल्पमति और दुर्बुद्धि वाला तीन वर्ष (अथवा तीन दिन) तक राज्य करेगा। वह प्रभु, अत्यन्त रक्तपातकारी, बहुसत्ताधारी, हृदयहीन, अपने प्रति सजग, परलोक के प्रति उदासीन, पशुबलि करने वाला होगा; बुरे सलाहकारी की संगति के कारण वह बहुत पाप करेगा। उसका राज्य दुः ब्राह्मण, तार्किकों और कृपणों से भरा रहेगा। लोग नाना प्रकार के भोगों में रत रहेंगे। राजा नाना प्रकार की सम्पदा प्राप्त करेगा। व्यवस्थित ढंग से चल क वह पश्चिम तक पहुँचेगा और उत्तर में काश्मीर के द्वार तक जायेगा। संग्राम ं विजयी होगा और चौदह वर्ष दस मास तक राज्य करेगा। आर्तरोग के कारण वः बार-बार मूर्छित होता रहेगा।

इस अवतरण में उल्लिखित समुद्र का तात्पर्य समुद्रगुप्त से है, ऐसा प्रतीत होता है। इस प्रकार इससे यह जानकारी प्राप्त होती है कि उसके भस्म नाम का एक भाई था, जिसकी पहचान सुगमता के साथ सिक्कों के काच गुप्त से की जा सकती है (कोष-कारों के अनुसार काच और भस्म परस्पर पर्याय हैं)। किन्तु जिस रूप में यह अव-तरण उपलब्ध है, उसमें एक स्थान पर उसका शासन काल केवल तीन वर्ष (अथवा तीन दिन) बताया गया है और दूसरी जगह उसके शासनकाल को लगभग पन्द्रह वर्ष कहा गया है। उसे एक ओर दुष्ट और पापी, दूसरी ओर शक्तिशाली और विशाल साम्राज्यवाला कहा गया है और उसके कश्मीर विजय की बात कही गयी है। ये सब ऐसी असंगतियाँ हैं जिससे ऐसा जान पड़ता है कि यहाँ का वर्णन कुछ अव्यव-स्थित है। सम्भवतः श्लोक ७०३ के बाद के कुछ श्लोक छूट गये हैं। उनमें चन्द्रगुप्त (द्वितीय) की चर्चा रही होगी। परवर्ती श्लोकों में कही गयी बातें चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के सम्बन्ध में अधिक लागू हो सकती हैं यद्यपि राज्यकाल सम्बन्धी सूचना गलत है।

(७) भविष्यन्ति न सन्देहः तस्मिं देशे नराधिपाः।
मथुरायां जात वंशाख्यः (मथुराजातो वैशाल्याः)
वणिक पूर्वी नृपो वरः॥ ७५९
सोऽपि पूजित मूर्तिस्तु मागधानो नृपो भवेत्।
तस्याप्यनुजो भकाराख्यः प्राचीं दिशि समाश्रितः॥ ७६०
तस्यापि सुतः प(प्र)काराख्यः प्राग्देशेषु स जायते।
क्षत्रियः अग्रणी प्रोक्तः बालबन्धानुचारिणः॥
दश वर्षाणि सप्तं च बन्धनस्थमधिष्ठितः।
गोपाख्येन नृपतिना बद्धो मुक्तोऽसौ भगवाह्वये॥ ७६२

निःसन्देह उस देश में वणिक जाति का वैशाल्या से उत्पन्न एक राजा होगा, जो प्राची दिशि में शासन करेगा। वह मूर्ति पूजने के कारण मगध का राजा होगा। उसका 'भ' नामक वंशज (अनुज) प्राची दिशि में बसेगा। उसका पुत्र (अथवा वंशज) प (अथवा प्र) पूर्व देश में जन्म लेगा और क्षत्रियों में अग्रणी होगा। बचपन में ही वह कैद कर लिया जायगा और सत्रह वर्ष की आयु तक कैद में रहेगा। वह गोप द्वारा कैद किया जायगा और उसकी रिहाई भगवा (?) में होगी।

(८) पश्चाद्देशसमायातः अ(ह)काराख्यो महानृपः।
प्राचिं दिशिपर्यन्तं गंगा तीरमतिष्ठत॥ ७६३
धूम्रवर्णो महाराजा महासैन्यो महाबलः।
सो तं तीरं समाश्रित्य तिष्ठते च समन्ततः॥ ७६४
पुरीं गौडजने ख्यातं तीर्थाह्वयति विश्रुतः।
समाक्रम्य राजासौ तिष्ठते च महाबलः॥ ७६५

पाश्चात्य देश से अ (अथवा ह) नामक महानृप आकर पूर्व में गंगा तीर तक की सारी भूमि पर अधिकार कर लेगा। वह शूद्र, महाराज, महासैन्य और महाबली होगा। गंगातट पर स्थित होकर वह गौड़ के तीर्थ (?) नामक नगर पर आक्रमण करेगा और वहाँ महाबली शासक के रूप में रहेगा।

(९) तत्रौ च क्षत्रियो बालः वणिजा च सहागतः।
रात्रौ प्रविष्टवांस्तत्र रात्र्यन्ते च प्रपूजितः॥ ७६६
शूद्रवर्णो नृपः ख्यातः पुनरेव विवर्तयम्।
गंगातीर पर्यन्तं नगरे नन्दसमाह्वये॥ ७६७
मागधानां तदा राज्ये स्थापयामास तं शिशुम्।
काशिनं पद प्राप्य वारणस्यमतः पुरे॥ ७६८

वहाँ क्षत्रिय-पुत्र रात्रि में एक वणिक के साथ आयेगा और प्रातःकाल उसे शूद्र राजा स्वीकार करेंगे और गंगातट स्थित नन्दपुर जाकर उस बालक को मगध के राज्य पर स्थापित करेंगे और फिर स्वयं काशी नाम से विख्यात वाराणसी चले जायेंगे।

(१०) प्रविशेच्छूद्रवर्णस्तु महीपालो महाबलः।
महारोगेण दुःखार्तः अभिषेचे सुतं तदा॥ ७६९
अभिषिच्य तदा राज्यं ग्रहाख्यं बालदारकम्।
महारोगाभिभूतस्तु भूमावावर्त वै तदा॥ ७७०

वह महाबली महिपाल (वाराणसी) प्रवेश करने के बाद बीमार पड़ेगा और अपने पुत्र का अभिषेक करेगा। बालक ग्रह का अभिषेक कर वह मर जायेगा।

(११) समन्तादूद्धतविध्वस्तविलुप्तराज्यो भविष्यति।
द्विजक्रान्तमभूयिष्ठं तद्राज्यं रिपुभिस्तदा॥ ७७८
प्रमादी कामचारी च स राजा ग्रहचिह्नितः।
अपश्चिमे तु काले वै पश्चाच्छत्रुहतो मृतः॥ ७७९

पड़ोसी राजा के आक्रमण से उसका राज्य नष्ट हो जायेगा। ब्राह्मणों और शत्रुओं के आक्रमण के फलस्वरूप प्रमादी और कामचारी ग्रह नामधारी राजा शत्रु द्वारा आहत होकर तत्काल मर जायेगा।

(१२) मागधो नृपतिस्तेषां अन्योन्यावरोधिनः।
सोमाख्ये नृपते मृते प्राग्देशे समन्ततः॥ ७८०
गंगातीर पर्यन्तं वाराणस्यामतः परम्।
भविष्यति तदा राजा प(प्र)काराख्य क्षत्रियस्तदा॥ ७८१
योऽसौ शूद्रवर्णेन अ(ह)काराख्येन पूजितः।
नगरे नन्द समाख्याते गंगातीरे तु समाश्रिते॥ ७८२

मगध राज्य में घोर विरोध उत्पन्न होगा। प्राग्देश के सोम नामक राजा के मरने पर "प" नामक क्षत्रिय राजा वाराणसी तक गंगातटवर्ती भूभाग पर राज्य करेगा। वह शूद्र राजा ह (अ) द्वारा गंगातट पर नन्दनगर में पूजित होगा।

इसी क्रम में आगे श्लोक ७८३-८२० में प्र के पूर्व जन्म, उसके बौद्ध-धर्म के प्रति आस्था, दान आदि का वर्णन और उसके बन्दी होने के धार्मिक कारणों का उल्लेख है। तदनन्तर कहा गया है—

(१३) पंचपंचाशवर्षस्तु सप्तसप्तति कोऽपि वा। ८२१
प्राचीं समुद्रपर्यन्तां राजासो भविता भुवि।
विन्ध्यकुक्षिनिविष्टास्तु प्रत्यन्तम्लेच्छतस्कराः॥ ८२२
सर्वे ते वशवर्ति स्यात् प(प्र)काराख्ये नृपतौ भुवि।
हिमाद्रिकुक्षिसन्निविष्टा तु उत्तरादिशिमाश्रुताम्॥ ८२३
सर्वान् जनपदां भुंक्ते राजा सो क्षत्रियस्तदा।
पांसुना कृत्वा स्तूपं अज्ञानाद् बालभावतः॥ ८२४
मागधेषु भवेद् राजा निःसपत्नमकंटकः।
सैमामटवी पर्यन्तां प्राची समुद्रमाश्रतः॥ ८२५
लौहित्यापरतो धीमां उत्तरे हिमवांस्तथा।
पश्चात् काशीपुरी रम्यां श्रृंगाराख्येपुर एववा॥ ८२६
अत्रान्तरे महिपालः शास्तुशासनदायकः।
पंच केसरीनामानौ जित्वा नृपतिनौ सौ॥ ८२७
स्वं राज्यमकारयत्।
सर्वास्तां सिंहजास्तेऽपि ध्वस्तोन्मूलिता तदा॥ ८२८
हिमाद्रिकुक्षिप्राच्यां भो वशानूपः तीरमाश्रयेत्।
सर्वान् जनपदान् भुंक्ते राजासौ क्षत्रियास्तदा॥ ८२९
अभिवर्धमान जन्मस्तु भोगास्तस्य च वर्द्धताम्।
वार्धक्ये च तदा प्राप्ते भोगां निश्चलतां व्रजेत्॥ ८३०
अशीतिवर्षाणि जीवेयुः सप्त सप्त तथा पराम्।
ततो जीर्णाभिभूतस्तु कालं कृत्वा दिविं गतः॥ ८३१

उसने ५५ अथवा ७७ वर्ष राज्य किया। वह पूर्व में समुद्र तक राज्य करेगा। विन्ध्य कुक्षि (घाटी) में निवास करने वाले म्लेच्छ और तस्कर "प" नामक राजा के वशवर्ती होंगे। यह क्षत्रिय राजा उत्तर में हिमाद्रिकुक्षि (हिमालय की घाटी) के प्रदेशों पर शासन करेगा। बचपन में अनजाने खेल-खेल में स्तूप निर्माण करने के कारण वह मगध का निष्कण्टक राजा होगा और उसकी सीमा अटवी, पूर्व समुद्र, लौहित्य और उत्तर में हिमालय तक फैली होगी।

यह बौद्ध-मतावलम्बी शासक काशीपुरी और श्रृंगवेरपुर में निवास करेगा। पंचकेसरी को जीत कर वह अपना शासन स्थापित करेगा। वह सिंह वंश का

उन्मूलन करेगा। तदनन्तर यह राजा हिमालय की घाटी के सभी प्रदेशों पर दशानूप तक शासन करेगा। वह पूर्ण आयु तक भोग करेगा और ९४ वर्ष तक जीवित रहेगा और उसकी मृत्यु वृद्धावस्था के कारण होगी।

(१४) पकाराख्ये च नृपतौ मृते तदा काले युगाधमे ॥ ८४०
मिथः परस्परं तत्र महाविग्रहमाश्रिताः ।
भृत्यस्तस्य तु सप्ताहं राज्यैश्वर्यमकारयेत् ॥ ८४१
ततोऽनुपूर्वेण सप्ताहाद् वकाराख्यो नृपतिस्तथा ।
सोऽप्यहतावध्वस्तः प्रक्रमेत् दिशास्ततः ॥ ८४२
पकाराख्ये नृपतौ तत्र भकाराख्यो मतः परः ।
सोऽपि त्रीणि वर्षाणि राज्यैश्वर्यमकारयेत् ॥ ८४३
तस्याप्यनुजो वकाराख्यो व्रतिना समधिष्ठितः ।

उस युगाधम में 'प' की मृत्यु के पश्चात् परस्पर महाविग्रह होगा। इस काल में उसका एक भृत्य एक सप्ताह तक राज्य-ऐश्वर्य भोगेगा। उसके पूर्व एक सप्ताह तक 'व' नामक राजा राज्य करेगा और वह मारा जायेगा। 'प' के बाद 'भ' राजा होगा और वह तीन वर्ष तक राज्य करेगा। तदनन्तर उसका अनुज (अथवा वंशज) 'व' विधिवत् राजा होगा।

जायसवाल के मतानुसार सातवें अवतरण के श्लोक ७५९ में गुप्तों के विकास की चर्चा है। उनकी आरम्भ से ही धारणा रही है कि गुप्त लोग जाट थे। अतः अपनी कल्पना को उसी दिशा में दौड़ाते हुए उन्होंने इस श्लोक का अर्थ किया है कि गुप्त लोग वैशाल्या (वैशाली कन्या) से जन्मे मथुरा निवासी जाट थे। इस प्रकार इन पंक्तियों से अपने समर्थन में प्रमाण प्राप्त करने की चेष्टा उन्होंने की है। वस्तुतः इस श्लोक में प्रयुक्त जात शब्द का तात्पर्य जाट जाति से कदापि नहीं है।

इस अवतरण में स्पष्टतः ऐसा कुछ नहीं है, जिससे इसका सम्बन्ध गुप्तों से लगाया जा सके। केवल वैशाल्या शब्द ही ऐसा है, जिससे इसका सम्बन्ध गुप्तों से होने की कल्पना इस तथ्य के प्रकाश में की जा सकती है कि समुद्रगुप्त लिच्छवि-दौहित्र कहे जाते हैं और लिच्छवियों का सम्बन्ध वैशाली से था। यदि इन पंक्तियों में समुद्रगुप्त का संकेत माना जाय, तभी अवतरण की आगामी पंक्तियों तथा आगामी अन्य अवतरणों में उत्तरवर्ती गुप्तों की चर्चा का अनुमान किया जा सकता है। इन पंक्तियों का सम्बन्ध उत्तरवर्ती गुप्तों से ही होगा, ऐसा अनुमान आठवें, दसवें और ग्यारहवें अवतरण से होता है। आठवें अवतरण में 'ह' नामक शक्तिशाली शूद्र शासक का उल्लेख है और दसवें तथा ग्यारहवें अवतरण में उसके पुत्र का उल्लेख ग्रह नाम से हुआ है। जैसा कि जायसवाल ने कहा है 'ह' से यहाँ तात्पर्य हूण से है। इस प्रकार हूण राजा की पहचान तोरमाण से और उसके पुत्र ग्रह की पहचान मिहिरकुल से सुगम है।[1] इस प्रकार ये अवतरण इस बात का संकेत देते हैं कि उत्तरवर्ती गुप्तों के समय में हूणों ने मगध पर आक्रमण किया था।

---

१. मिहिर (सूर्य) एक ग्रह माना जाता है।

यदि यह व्याख्या समुचित है तो अवतरण ८ में उल्लिखित 'भ', 'गोप' और 'प्र' की पहचान क्रमशः भा(नुगुप्त), गोप(राज) और प्र(काशादित्य) से हो सकती है। और तब हमें यह जानकारी प्राप्त होती है कि भानुगुप्त के शासन काल में प्रकाशादित्य बन्दी कर लिया गया था और वह १७ वर्ष की आयु तक बन्दीगृह में रहा। तदनन्तर वह बन्दीगृह से भाग कर हूण शासक तोरमाण की शरण में गया। और तोरमाण ने उसे नन्दपुर (पाटलिपुत्र) में मगध के शासन पर आरूढ़ किया। किन्तु बारहवें अवतरण में इस बात को दुहराते हुए प्र(काशादित्य) के शासन को सोम नामक राजा के बाद बताया गया है। यदि इस सोम की पहचान चौथे अवतरण में उल्लिखित चन्द्र से की जाय तो कहना होगा कि प्रकाशादित्य चन्द्र के बाद सत्तारूढ़ हुआ। यह बात सातवें अवतरण में कही गयी बातों के प्रतिकूल पड़ती है। चौदहवें अवतरण में 'व', 'प' और 'भ' नामक शासकों का उल्लेख है। उन्हें क्रमशः वैन्यगुप्त, प्रकाशादित्य और भानुगुप्त अनुमान किया जा सकता है; किन्तु यह बात सातवें और बारहवें अवतरण में कही गयी बातों के प्रतिकूल है। ऐसा लगता है कि मंजुश्री-मूल-कल्प का लेखक उत्तरवर्ती गुप्त राजाओं के नामों से परिचित था, पर उनके राज्य-क्रम के सम्बन्ध में उसे या तो समुचित जानकारी न थी या फिर उपलब्ध अवतरण अव्यवस्थित हैं। ऐसी अवस्था में इनके आधार पर किसी प्रकार का राज्य-क्रम निर्धारित करना और इतिहास प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है।

तेरहवें अवतरण में 'प' के राज्य-विस्तार का उल्लेख है, जो सम्भवतः परवर्ती गुप्त-साम्राज्य (अथवा राज्य)-सीमा का परिचायक है, पर उसमें प्रकाशादित्य के ५५ अथवा ७७ वर्ष राज्य करने और ९४ वर्ष की आयु में मरने की जो बात कही गयी है, वह अत्युक्तिपूर्ण जान पड़ती है। हो सकता है इन पंक्तियों का सम्बन्ध किन्हीं अन्य शासक से हो और वे अपने उचित स्थान पर उपलब्ध न हों।

मंजुश्री-मूल-कल्प में उत्तरवर्ती गुप्तों के सम्बन्ध में उपर्युक्त जो सूचनाएँ प्राप्त होती हैं, वे अन्यत्र प्राप्त नहीं हैं, पर उनका किसी इतिहास में पूर्णतः प्रामाणिक रूप में उपयोग करना सम्प्रति सम्भव नहीं है।

हरिवंश पुराण—कीर्तिसेण के शिष्य पुन्नग-गण के दिगम्बर जैन लेखक जिनसेन ने शक संवत् ७०५ में, जिन दिनों उत्तर में इन्द्रायुध, दक्षिण में श्री-वल्लभ, अवन्ती में वत्सराज और सुरमण्डल में वीर-वराह शासन कर रहे थे, 'हरिवंश' नामक जैन पुराण की रचना की। इन समसामयिक राजाओं के उल्लेख से उनके समय के सम्बन्ध में किसी प्रकार का कोई सन्देह करने की गुंजाइश नहीं रह जाती। फलतः यह ७८३–८४ ई० की रचना है। इसमें महावीर के निर्वाण और कल्कि के बीच के एक हजार वर्ष में पश्चिम भारत में अवन्ति के आसपास जो शासक और राजवंश हुए, उनकी एक स्थल पर चर्चा है। उससे गुप्तों के समय पर प्रकाश पड़ता है। प्रासंगिक अंश इस प्रकार है—

वीर निर्वाणकाले च पालकोऽत्राभिषेक्ष्यते ।
लोकेऽवन्ति सुतो राजा प्रजानां प्रतिपालकः ॥
षष्टिर्वर्षाणि तद्राज्यं ततो विजय (विषय) भूभुजां ।
शतं च पंचपंचाशद् वर्षाणि तदुदीरतः ॥ ८४

चत्वारिंशन्मुरुण्डानां (पुरुढानां) भूमंडलमखंडितं ।
त्रिंशत्तु पुष्यमित्राणां षष्टिर्वस्वग्निमित्रयोः ॥ ८५

शतम् रासभराजानां नरवाहनमप्यतः ।
चत्वारिंशत्ततो द्वाभ्यां चत्वारिंशच्छतद्वयं ॥ ८६

भद्रुव(ट्ट)वाणस्य तद्राज्यं गुप्तानां च शतद्वयम् ।
एकत्रिंशश्च वर्षाणि कालविद्भिरुदाहृतम् ॥ ८७

द्विचत्वारिंशदेवातः कल्कि राजस्य राजता ।
ततोऽजितंजयो राजा स्यादिन्द्रपुरसंस्थितः ॥ ८८[1]

महावीर के निर्वाण के समय पृथिवीपालक (अवन्ति नरेश) के पुत्र राजा पालक का पृथिवी पर राज्याभिषेक होगा । वह साठ वर्ष तक (राज्य करेगा) । तदनन्तर कहा जाता है कि देश के राजाओं (अथवा विजयी राजाओं) का (शासन) १५५ वर्ष तक रहेगा । पृथिवी अखण्डित रूप में ४० वर्ष तक मुरुण्ड (अथवा पुरुढ़) के, ३० वर्ष तक पुष्यमित्रों के और ६० वर्ष तक वसुमित्र तथा अग्निमित्र के अधीन रहेगी । उसके बाद रासभ (अर्थात् गर्दभिल्ल) राजाओं का १०० वर्ष तक राज्य होगा । फिर ४२ वर्ष तक नरवाहन का; उसके बाद भट्टवाण अथवा भड्डवाण लोग २४० वर्ष तक रहेंगे; उसके बाद २३१ वर्ष तक गुप्तों का शासन रहेगा । ऐसा कालविद् लोगों का कहना है । उनके बाद ४२ वर्ष तक कल्किराज का राज्य होगा । फिर राजा अजितंजय अपने को इन्द्र-पुर में प्रतिष्ठित करेगा ।

इस सूत्र से यह सूचना प्राप्त होती है कि गुप्तों का उत्थान भट्टवाण अथवा भड्ड-वाण लोगों के २४० वर्ष शासन करने के पश्चात् आरम्भ हुआ और उन्होंने २३१ वर्ष तक राज्य किया । गुप्तों ने २३१ वर्ष तक राज्य किया, इस बात का पुरातत्व से समर्थन होता है । दामोदरपुर के एक ताम्र-शासन से गुप्त-वंश के अन्तिम शासक विष्णुगुप्त की तिथि गुप्त संवत् २२४ ज्ञात होती है ।[2] यह जिनसेन के कथित तिथि के अति निकट है । अतः उनके इस कथन को भी विश्वसनीय कहा जा सकता है कि गुप्त लोग भट्टवाणों के २४० वर्ष बाद आये । यदि हमें ज्ञात हो सके कि ये भट्टवाण कौन थे और उनका उत्थान कब हुआ, तो इस सूत्र से हमें गुप्तों के आरम्भ के सम्बन्ध में

---

१. इ० ए०, १५, पृ० १४१
२. ए० इ०, १५, पृ० १४२

ऐसी जानकारी प्राप्त होती है, जिससे गुप्त-संवत् के आरम्भ का निश्चय किया जा सकता है। अतः इस सम्बन्ध में उहापोह कर लेना उचित होगा।

जैन-पट्टावलियों में महावीर के निर्वाण के ४७० वर्ष बाद विक्रम संवत् आरम्भ होने की बात कही गयी है। उनमें इस अवधि का विवरण इस प्रकार उपलब्ध होता है[1]—

अवन्ति-नरेश पालक	६० वर्ष
नन्द	१५५ वर्ष
मौर्य	१०८ वर्ष
पुष्यमित्र	३० वर्ष
बलमित्र और भानुमित्र	६० वर्ष
नरवाहन	४० वर्ष
गर्दभिल्ल	१३ वर्ष
शक	४ वर्ष
	४७० वर्ष

इस प्रकार उनके अनुसार ४७० वर्ष बाद विक्रम संवत् आरम्भ हुआ। मेरुतुंग ने यह स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है कि गर्दभिल्ल वंश १५२ वर्ष तक शक्तिशाली रहा। राजा गर्दभिल्ल ने १३ वर्ष तक राज्य किया। उसके बाद शक-नरेश ने उसे पदच्युत कर ४ वर्ष तक शासन किया। उसके बाद गर्दभिल्ल के बेटे विक्रमादित्य ने उज्जयिनी पर अधिकार कर विक्रम संवत् का प्रचलन किया। विक्रम का राज्य ६० वर्ष तक रहा। उसके बेटे विक्रमचरित धर्मादित्य ने ४० वर्ष शासन किया। तदनन्तर भैल्ल ने ११ वर्ष, नैल्ल ने १४ वर्ष और नाहड़ ने १० वर्ष तक क्रम से राज्य किया। इसके बाद तब शक संवत् आरम्भ हुआ।[1]

यही बात बृहद्गच्छ के गुर्व्वावली में भी कही गयी है, किन्तु वहाँ इसे तनिक भिन्न ढंग से प्रस्तुत किया गया है—शून्य, सात, चार (४७०) जिन का समय होता है। उसके बाद विक्रम का समय ६० वर्ष, धर्मादित्य का ४० वर्ष, गयिल का २४ वर्ष, नाभाट का आठ और दो (अर्थात् १०) होता है। इस प्रकार जब १३५ वर्ष व्यतीत हो गये, तब शक का समय आरम्भ हुआ।[2]

नेमिचन्द्र ने, जिन्हें गंग-वंश के राजा रचमल्लदेव चतुर्थ (९७७ ई०) के मन्त्री चामुण्डराज का संरक्षण प्राप्त था, अपने 'त्रिलोकसार' में यह सूचना प्रस्तुत की है कि महावीर के निर्वाण के ६०५ वर्ष ५ मास बीत जाने पर शक राजा का उदय हुआ

१. ज० ब० ब्रा० रा० ए० सो०, ९ (पु० सी०), पृ० १४७; इ० ए०, २, पृ० २४७
२. ज० ब० ब्रा० रा० ए० सो०, ९ (पु० सी०), पृ० १४८-४९।
३. इ० ए०, ११, पृ० २५२।

और शकों के उदय से ३९४ वर्ष ७ मास बीतने पर राजा कल्किराज का जन्म हुआ।[1]

'उप-पुराण' के लेखक गुणचन्द्र का कहना है कि महावीर के निर्वाण से १००० वर्ष बीतने पर कल्कि का जन्म हुआ और उसी समय दुस्सम काल का आरम्भ हुआ। उस समय माघ सम्वत्सर था। उसने ४० वर्ष तक राज्य किया और ७० वर्ष की आयु में मरा।[2]

इन जैन अनुश्रुतियों के प्रकाश में जिनसेन के कथन को इस रूप में देखा जा सकता है—

जैन अनुश्रुति		जिनसेन का कथन	
(१) पालक	६० वर्ष	पालक	६० वर्ष
नन्द	१५५ वर्ष	विजयी अथवा स्थानीय राजा	१५५ वर्ष
मौर्य	१०८ वर्ष	पुरुढ़ अथवा मुरुढ़	४० वर्ष
पुष्यमित्र	३० वर्ष	पुष्यमित्र	३० वर्ष
बलमित्र और भानुमित्र	६० वर्ष	वसुमित्र और अग्निमित्र	६० वर्ष
नरवाहन	४० वर्ष	रासभ	१०० वर्ष
गर्दभिल्ल	१३२ वर्ष	नरवाहन	४२ वर्ष
(२) शक संवत् का आरम्भ	६०५ वर्ष	भट्टवाणों का उदय	४८७ वर्ष
शकों के पश्चात्	३९५ वर्ष	भट्टवाणों का शासन	२४० वर्ष
	१००० वर्ष	गुप्तों का शासन	२३१ वर्ष
कल्कि की आयु	७० वर्ष	कल्कि का राज्य	४२ वर्ष
कल्कि का अन्त	१०७० वर्ष	कल्कि का अन्त	१००० वर्ष

उपर्युक्त तालिका के प्रथम खण्ड में जिनसेन ने रासभों और नरवाहन का स्थान अदल-बदल दिया है और रासभों को पहले रखा है। बहुत सम्भव है, यह लिपिकों के प्रमाद का परिणाम हो। अन्य नामों में पट्टावली के मौर्यों के स्थान पर जिनसेन ने पुरुढ़ अथवा मुरुढ़ का नाम लिया है। सम्भव है, मुरुढ़ मौर्य का ही विकृत रूप हो। आगे जिनसेन ने बलमित्र और भानुमित्र के स्थान पर वसुमित्र और अग्निमित्र का उल्लेख किया है। इस स्थल पर जिनसेन की बात ठीक है। अन्य सूत्रों से पुष्यमित्र के उत्तरा-

१. वही, ४७, पृ० २०-२१
२. वही, पृ० २२

धिकारी के रूप में वसुमित्र और अग्निमित्र का ही नाम ज्ञात होता है। इस प्रकार जहाँ तक राज्यक्रम का सम्बन्ध है, दोनों ही सूचियाँ प्रायः एक सी हैं। राज्यकाल के सम्बन्ध में भी जिनसेन की बात अधिकांशतः पट्टावली के समान ही है; अन्तर केवल तीन स्थलों पर है। नरवाहन के लिए पट्टावली में ४० वर्ष है, जिनसेन ने ४२ वर्ष बताया है। यह कोई बड़ा अन्तर नहीं है, किन्तु मौर्यों और रासभों (गर्दभिल्लों) के लिए जिनसेन ने पट्टावली की अपेक्षा बहुत कम समय बताया है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि उन्होंने महावीर के निर्वाण और कल्कि के बीच के १००० वर्ष के अन्तर के परम्परागत अनुश्रुति की रक्षा करते हुए भट्टवाणों और गुप्तों के सम्बन्ध में नई सूचना प्रस्तुत करने की चेष्टा की है, जिनके सम्बन्ध में अन्यत्र कुछ नहीं है। सम्भवतः जिनसेन को इस सम्बन्ध की कोई विश्वनीय जानकारी थी और उसे वे प्रस्तुत करने को उत्सुक थे। फलतः उन्होंने मौर्यों और रासभों के राज्यकाल को कम कर दिया है।

यदि जिनसेन द्वारा बरती गयी इस स्वच्छन्दता के कारण उनकी तालिका के प्रथम खण्ड में उल्लिखित राज्यकाल को स्वीकार न करें तो पट्टावली के अनुसार कहा जा सकता है कि शकों का उदय महावीर निर्वाण के ६०५ वर्ष बाद हुआ। इसी प्रकार यदि हम यह भी मान लें कि जिनसेन की सूची में रासभ और नरवाहनों के क्रम उलट गये हैं तो कहा जा सकता है कि रासभों के बाद भट्टवाणों का उदय हुआ। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि जिनसेन ने पट्टावली में उल्लिखित शकों का उल्लेख भट्टवाण नाम से किया है। भट्टवाण और शक एक ही थे, इसका समर्थन तालिका के दूसरे खण्ड से होता है। यह दूसरा खण्ड पट्टावली में नहीं है और अन्य जैन अनुश्रुतियों पर आश्रित है। इन अनुश्रुतियों में कल्कि का अन्त शकों के उदय के ४६५ वर्ष बाद बताया गया है, जिनसेन ने कल्कि का अन्त भट्टवाणों के उदय के ४७० वर्ष बाद बताया है। दोनों के कथन में केवल ५ वर्ष का नगण्य अन्तर है। अस्तु, 'हरिवंश' से निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि गुप्तों का उदय शक संवत् आरम्भ होने के २४० वर्ष बाद अर्थात् ३१८ (७८ + २४०) ई० में हुआ।

तिलोय-पण्णत्ति--यह भी एक जैन ग्रन्थ है, जिसकी रचना यति वृषभ ने की है। इसमें दो स्थलों पर गुप्तों के शासन के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा गया है[1]—

(१) आदो य सगणिरिंदो रज्जं वसस्स दुसयवादला।
दोण्णि सदा पणवण्णा गुत्ताणं ॥ १५०३–०४

(२) भत्थट्ठाणं कालोदोण्णि सयाइं हवन्ति वादला।
ततो गुत्ताणं रज्जे दोण्णि सयाणि इगितीसा ॥ १६०८

पहले अवतरण में कहा गया है कि शकों ने २४२ वर्ष और गुप्तों ने २५५ वर्ष शासन किया। दूसरे में कहा गया है कि भत्थट्ठाणों ने २४२ वर्ष और गुप्तों ने २३१ वर्ष राज्य किया। सम्भवतः ये कथन दो भिन्न-कालिक अनुश्रुतियों पर आश्रित हैं।

---

१. डा० हीरालाल तथा आ० ने० उपाध्ये द्वारा सम्पादित।

एक के अनुसार गुप्तों ने २३१ वर्ष और दूसरे के अनुसार २५० वर्ष शासन किया, पर दोनों ही अनुश्रुतियाँ समान रूप से एक अन्य वंश के २४२ वर्ष तक शासन करने की बात कहती हैं। एक में उसे शक और दूसरे में मत्थहाण कहा गया है। इसका अर्थ यही हुआ कि शक और भत्थहाण एक ही थे और उनके पश्चात् गुप्तों का शासन आरम्भ हुआ। इस प्रकार 'हरिवंश' के आधार पर हमने परोक्ष रूप से भद्र-वाण और शकों के एक होने का जो अनुमान प्रस्तुत किया है, उसका स्पष्ट समर्थन इससे होता है। हरिवंश के भद्रवाण और इसके भत्थहाण निस्सन्देह एक ही हैं। नाम-भेद सम्भवतः लेखन विकृति का परिणाम है। 'हरिवंश' में उनका काल २४१ और इसमें २४२ बताया गया है। यह अन्तर भी सम्भवतः गणना पद्धति के भेद के कारण ही है।

कौमुदी-महोत्सव—कौमुदी-महोत्सव वज्जिका (जायसवाल के कथनानुसार किशोरिका) नाम्नी लेखिका रचित पाँच अंकों का नाटक है। इसका कथानक इस प्रकार है—पाटलिपुत्र में सुन्दरवर्मन नामक एक क्षत्रिय राजा राज करता था। उसने चण्डसेन नामक व्यक्ति को कृतिक के रूप में गोद लिया था। लिच्छवि सुन्दरवर्मन के कुल के (जिसका नाटक में "मगधकुल" के नाम से उल्लेख हुआ है) घोर शत्रु थे। इस शत्रुता के बावजूद चण्डसेन ने उनकी राजकुमारी से विवाह किया था। बुढ़ापे में सुन्दरवर्मन के एक पुत्र उत्पन्न हुआ और चण्डसेन के मगध की राजगद्दी प्राप्त करने में बाधा उपस्थित हुई। फलतः उसने लिच्छवियों की सहायता से कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) को घेर लिया। दत्तक पिता के साथ उसका घोर संग्राम हुआ और पिता को परास्त कर वह मगध का शासक बन बैठा। इसी बीच लोगों ने सुन्दरवर्मन के बाल-पुत्र कल्याण-वर्मन को व्याध-किष्किन्धा स्थित पम्पासर नामक स्थान में भेज दिया। अब प्रधानमन्त्री मन्त्रगुप्त और सेनापति कुंजरक इस बात का यत्न करने लगे कि किसी प्रकार कल्याण-वर्मन को मगध की गद्दी पर बैठाया जाय। फलतः इन दोनों कुशल अधिकारियों ने मगध की सीमा पर स्थित शबर और पुलिंद नामक जातियों में विद्रोह करा दिया। इस विद्रोह के दमन के लिए चण्डसेन को ससैन्य राजधानी छोड़कर बाहर जाना पड़ा। उसके पाटलिपुत्र से अनुपस्थित होने का लाभ उठा कर मन्त्रगुप्त ने नगरसभा के साथ गुप्त मन्त्रणा की; उन लोगों ने मगध की गद्दी पर कल्याणवर्मन के आने की बात का अनुमोदन किया। फलतः कल्याणवर्मन को तत्काल राजधानी वापस लाया गया और झटपट उसका राज्याभिषेक कर दिया गया। कल्याणवर्मन की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए मन्त्रगुप्त ने मथुरा (शूरसेन जनपद) के यादव-नरेश कीर्ति से मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लिया और उसकी पुत्री से कल्याणवर्मन का विवाह करा दिया।

१९२९ ई० में सर्व प्रथम रामकृष्ण कवि और स० क० रामनाथ शास्त्री ने इस नाटक को प्रकाशित किया।[१] उसी समय काशीप्रसाद जायसवाल का ध्यान इसकी

---

१. ज० आ० हि० रि० सो०, २ तथा ३; दक्षिण भारतीय संस्कृत सीरीज, न० ४, मद्रास, १९२९।

ओर आकृष्ट हुआ। उन्होंने नाटक में उस राजा के, जिसके राजकाल में इसकी रचना हुई, पूर्व चरित होने का अनुमान किया। इस प्रकार उन्होंने इसे समसामयिक घटना पर आधारित ऐतिहासिक नाटक बताया और उसे ऐतिहासिक घटनाओं के प्रमाण रूप में ग्रहण किया। उनके मतानुसार इस नाटक की रचना ३५० ई० में हुई था और इसमें चन्द्रगुप्त (प्रथम) के शासन-काल की घटनाओं का वर्णन है।[1] दशरथ शर्मा[2] और व० र० र० दीक्षितार[3] ने जायसवाल के इस मत का समर्थन किया है और उसे गुप्त इतिहास के लिए मूल्यवान बताया है।

किन्तु नाटक के निकट परीक्षण से ऐसी कोई बात ज्ञात नहीं होती जिससे कहा जा सके कि नाटक में वर्णित घटनाओं और नाटक की रचयित्री वज्जिका (किशोरिका) दोनों समसामयिक हैं। जायसवाल का सुझाव इस भरत वाक्य—**अस्य राज्ञः समतितम् चरितमधिकृत्य निबन्धम् नाटकम्**—पर आधारित है, किन्तु द्रष्टव्य है कि हमारे प्राचीन नाटककार प्रायः सूत्रधार और उसके सहायकों के मुख से इस प्रकार की समयेतर बातें कहलाते रहे हैं।[4] अतः कौमुदी-महोत्सव के आरम्भ में सूत्रधार के इस कथन मात्र से लेखिका को सुन्दरवर्मन का समसामयिक नहीं माना जा सकता।

वस्तुस्थिति जो भी हो, यह तो स्पष्ट है कि लेखिका अनेक लेखकों की रचनाओं से प्रभावित रही है। दशरथ शर्मा[5] और द० र० माकड़[6] ने इस नाटक पर कालिदास का प्रभाव परिलक्षित किया है। क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय के अनुसार इस पर न केवल कालिदास का वरन् विशाखदत्त कृत मुद्राराक्षस, हर्ष के नागानन्द, बाणभट्ट के हर्षचरित और दण्डिन के उत्तर-रामचरित का भी प्रभाव है।[7] यही नहीं यह नाटक शंकराचार्य के अद्वैतवाद पर आधारित भी प्रतीत होता है।[8] इन सारी बातों को देखते हुए उनके मतानुसार यह नाटक ७०० ई० पूर्व का कदापि नहीं कहा जा सकता।[9] शकुन्तला राव के मत में यह सातवीं शताब्दी के मध्य की रचना है और उसमें तत्कालीन राजनीतिक घटनाओं का चित्रण है।[10] उन्होंने वज्जिका को हर्षवर्धन के समकालिक पुल-

१. अ० भ० ओ० रि० इ०, १२, पृ० ५०; ज० वि० उ० रि० सो०, १९, पृ० ११३-११४; माडर्न रिव्यू, ४५, पृ० ४९९।
२. ज० वि० उ० रि० सो०, २१, पृ० ७७; २२, पृ० २७५।
३. गुप्ता पालिटी, पृ० ४०-४४।
४. इस प्रकार के वर्णन उत्तररामचरित, वेणी-संहार, मृच्छकटिक, विक्रमोर्वशीय, मुद्राराक्षस, रत्नावली आदि में भी मिलते हैं।
५. इ० हि० क्वा०, १०, पृ० ७६३, ११, १४७।
६. अ० भ० ओ० रि० इ०, १६, पृ० १५५-१५६।
७. इ० हि० क्वा०, १४, पृ० ५९३-६०२।
८. वही, पृ० ५९९-९३।
९. वही., पृ० ६०३।
१०. कौमुदी-महोत्सव, बम्बई, १९५२, पृ० १२

केशिन (द्वितीय) के ज्येष्ठपुत्र चन्द्रादित्य की रानी विजयभट्टारिका बताया है।[1] इस प्रकार समसामयिक प्रमाण के रूप में इस नाटक का प्रयोग किसी भी प्रकार गुप्त इतिहास के लिए नहीं किया जा सकता। समसामयिकता की बात निकाल देने पर नाटक की कथा में ऐसी कोई बात रह नहीं जाती जो गुप्त इतिहास से सम्बन्ध रखती हो।

देवी-चन्द्रगुप्तम्—यह मुद्राराक्षस के सुप्रसिद्ध लेखक विशाखदत्त रचित एक प्रकरण (दस अंकों का नाटक विशेष) है; जो सम्प्रति अनुपलब्ध है। उसके कुछ अवतरण मात्र उदाहरण स्वरूप सिद्धान्त-ग्रन्थों में प्राप्त हुए हैं। सर्वप्रथम रामकृष्ण कवि को इसके तीन अवतरण भोजकृत *शृंगार-प्रकाश* में दिखाई पड़े थे। उन्होंने उन्हें अ० रंगास्वामी सरस्वती को बताया और सरस्वती ने उन्हें १९२३ में प्रकाशित किया।[2] उसी वर्ष सिल्वाँ लेवी को भी इस नाटक के छः अवतरण रामचन्द्र और गुणचन्द्र कृत नाट्य-दर्पण में मिले।[3] १९२६ ई० में व० राघवन ने सगरनन्दिन कृत 'नाटक-लक्षण कोश' से दो अवतरण प्रकाशित किये।[4] उन्हें 'शृंगार-प्रकाश' और 'नाट्य-दर्पण' से ज्ञात एक अवतरण अभिनवगुप्त कृत नाट्य-शास्त्र की टीका अभिनव-भारती में भी दिखाई पड़ा।[5] इस प्रकार इतने ही अवतरण अब तक इस नाटक के उपलब्ध हैं।[6] इन सभी अवतरणों को एकत्र कर अनुमान के सहारे मूल नाटक का सम्भावित क्रम देने का प्रयास इन पंक्तियों के लेखक ने अपने समीक्षाग्रन्थ 'प्रसाद के नाटक' में किया है। वहाँ वे परिशिष्ट रूप में संकलित हैं। उसी से यहाँ उद्धृत किया जाता है—

प्रथम अंक

(१) चन्द्रगुप्तः (ध्रुवदेवीं दृष्ट्वा स्वगतमाह)—इयमपि (सा) देवी तिष्ठति। यैषा—

> रम्यां चारतिकारिणीं च करुणां शोकेन नीता दशाम्।
> तत्कालोपगतेन राहुशिरसा गुप्तेव चान्द्रीकला॥
> पत्युः क्लीवजनोचितेन चरितेनानेन पुंसः सतो।
> लज्जाकोप विषादभीत्यरतिभिः क्षेत्रीकृता ताम्यति॥[7]

---

१. वही, पृ० ??

२. इ० ए०, ५२, पृ० १८२

३. जू० ए०, २०३, पृ० २०१

४. ज० ब० हि० यू०, २, पृ० ३०७

५. वहीं, २, पृ० २३

६. इस नाटक के एक खण्डित प्रति के प्राप्त होने की बात ज० बि० उ० रि० सो०, १८, पृ० १९ में कही गयी है; किन्तु जहाँ तक हमारी जानकारी है, यह कहीं प्रकाशित नहीं है।

७. क्रम के उदाहरण के रूप में नाट्यदर्पण (४१२) (गा० ओ० सी०, पृ० ८४-८६) में प्राप्त। इसकी ओर सिल्वाँ लेवी ने ध्यान आकृष्ट किया था। (जू० ए०, २०३, पृ० २०६)।

चन्द्रगुप्त (ध्रुवदेवी को देख कर, स्वगत)—यही वह देवी बैठी हुई है जो रम्या थी पर अब शोक से उसकी कैसी अरम्या दशा हो रही है। ऐसा लगता है मानो ग्रसा हुआ चन्द्र राहु के मुख से अभी बाहर निकला हो। क्लीवों के उपयुक्त अपने पति के चरित्र को देख कर वह लज्जा, कोप, विषाद और भय से युक्त हो रही है।

(२) विदूषकः (शकपतिना परं कृच्छ्रं आपतितं रामगुप्त स्कन्धावारं अनुजिघृक्षुः उपायान्तरागोचरे प्रतीकारे निशिवेताल-साधनमध्यवस्यन कुमार चन्द्रगुप्तः)—भो सक्कं दाणि भवदा इमाए वेळाए भाण्डागारिआणं स आसादो पदादो पदं विगतुं।

नायक—(स्वगतम्)—अत्र उपायः चिन्तनीयः।

(प्रविश्य पटलकहस्ता चेटी)

चेटी—जअदु जअदु कुमार! कुमार कहिं अज्जुआ(आ)...अज्जु खु अज्जुआ केणापि कारणेण अहं विमना कुमारं पेक्खामिति भणन्ती राअउलादो णिक्कान्ता। इमं च स देवाए ध्रुवदेवीए ससरीर परिमुत्तं वत्थाहणअं पसादीकहं गाहिअ कुमारस्स समीपे अज्जुअ ...... मण्णा आगदत्थि अवत्तं अस्थोमि,इमं जाव अज्जुअं अण्णेसामि।

(निष्क्रान्ता)

विदूषक—आ दासिए वीटे कितव अहं भांडागरिओ गच्छ वेच्छि······।[१]

विदूषक (शकपति के कारण परम कष्ट में पड़े हुए रामगुप्त के स्कन्धावार में, प्रतिकार का अन्य उपाय न देखकर चन्द्रगुप्त के वैताल-साधना का निश्चय कर चुकने पर)—क्या इस समय इस प्रकार आप भाण्डागारिक के निकट से एक कदम भी आगे जा सकेंगे?

नायक (स्वगत)—उपाय सोचना होगा।

(हाथ में पटलक लिए हुए दासी का प्रवेश)

दासी—कुमार की जय हो, जय हो। कुमार आर्या कहाँ है? अभी-अभी आर्या किसी कारण "मैं घबरा रही हूँ, कुमार से मिलूँगी", कहती हुई राजकुल से बाहर आई हैं। आर्या के कुमार के समीप होने का अनुमान कर उनके लिए ध्रुवदेवी प्रदत्त अपने शरीर का वस्त्राभूषण लेकर आई हूँ।······(अच्छा) आर्या को खोजने जाती हूँ।

(दासी का, विदूषक के पास पटलक रखकर प्रस्थान)

विदूषक—अरे दासी पुत्री, क्या मैं तेरा भण्डारी हूँ। जा भाग···।

(३) विदूषक (शकपतेः शिविरमभिप्रस्थितं नायकमाह)—भोः कहदाणिं तुमं सुबहुआणं अमच्चाणं मज्झे एआई संचरिस्ससि?

---

१. पताका स्थान के उदाहरण के रूप में शृंगार-प्रकाश में उद्धृत (म० मे०, २, पृ० ४८७)। इसकी ओर वी० राघवन ने ध्यान आकृष्ट किया था। (ज० बि० हि० यू०, २, ४०२५)

नायकः—अहं मूर्ख, सत्त्वगुरुत्वस्य संख्यायां बहुमतो भवतः ।
पश्य सद्वंशान् पृथुवर्ष्मविक्रमबलान् दृष्ट्वाद्भुतान् दन्तिनः ॥
हासस्येव गुहामुखादभिमुखं निष्क्रामतः पर्वतान्
एकस्यापि विधूतकेसरजटा भारस्यभीताः मृगाः ।
गन्धादेव हरेर्द्रवन्ति बहवो वीरस्य किं संख्यया ।[1]

विदूषक (शकपति के शिविर में जाने को उद्यत नायक से)—क्या आप इसी प्रकार अकेले शत्रुओं के बीच जायेंगे ?

नायक—मूर्ख, स्वत्व की अपेक्षा क्या संख्या का महत्त्व अधिक है ? अद्भुत दाँतों वाले हाथियों को देखकर अकेले उच्च कुलीन, भारी शरीर वाला सिंह, जिसकी गन्ध से मृग भयभीत हो जाते हैं, अपने विक्रम और शक्ति के कारण अपने अयाल को फैलाये हुए पर्वत की गुफा से बाहर निकल आता है । वीरों के लिये संख्या क्या है ?

द्वितीय अंक

(प्रकृतिनामाश्वासनाय शकस्य ध्रुवदेवी सम्प्रदाने अभ्युपगते राजा रामगुप्तेन अरिवधार्थयियासु-प्रतिपन्न ध्रुवदेवी नेपथ्याः कुमार चन्द्रगुप्तो विज्ञापयन्नुच्यते)

राजा—प्रतिष्ठोतिष्ठ खल्वहं त्वां परित्यक्तुमुत्सहे—

प्रत्यग्रयौवन विभूषण मंगमेतद्
रूपश्रियं च तव यौवन योग्य रूपम्
भक्तिं च मय्यनुपमामनुरूध्यमानो
देवी त्यजामि बलवांस्त्वयि मेऽनुरागः ।

ध्रुवदेवी (अन्य स्त्री शंकया)—यदि भत्तिं अवेक्खसि तदो मम मन्दभाइणि परिच्चयसि ।

राजा—अपि च, त्यजामि देवीं तृणवत्त्वदन्तरे ।

ध्रुवदेवी—अहंपि जीविदं परिच्चयन्ती अज्जउत्तपरमपरंज्जेव परिच्चयिस्सम् ।

राजा—त्वया विना राज्यमिदं हि निष्फलम् ।

ध्रुवदेवी—ममापि रूपपदम् निष्फलो जीवलोओ सुहपरिच्चयणीओ भविस्सदि ।

राजा—ऊढेति देवीं प्रति मे दयालुता ।

ध्रुवदेवी—इयं अज्जउत्तस्स ईदिसी दयालुदा जं अणवरद्धो जणो अणुगदो एवं परिच्चईयदि ।

राजा—त्वयि स्थितं स्नेहनिबन्धनं मनः ।

ध्रुवदेवी—अदोज्जेव मन्दभागा परिच्चइस्सामि ।

---

१. यह भोज के शृंगार-प्रकाश (अध्याय १८) में उद्धृत (म० मे० २, पृ० ४८७)

* राजा—त्वय्युपारोपित प्रेम्णा त्वदर्थे यशसा सह परित्यक्ता मयादेवी जयोऽयं जने एव मे।

* ध्रुवदेवी—हंजे ! इयं सा अज्जउत्तस्स करुण पराहीणदा।

* सूत्रधारी—देवि ! पण्डति चन्द्रमण्डलाउ विज्जुलिओ किमेत्थ करिस्सदि।

राजा—देवि वियोगदुःखार्त्तास्त्वमस्मान् रमयिष्यसि।

ध्रुवदेवी—वियोगदुक्खं पि दे अकरुणस्स अत्थिच्चेअ।

राजा—त्वद्दुःखस्यापनेतुं सा शतांशेनापि न क्षमा।[१]

(प्रकृतियों को आश्वासन देने के निमित्त शक को ध्रुवदेवी देने को प्रस्तुत राजा रामगुप्त ने शत्रुवध के लिए उत्सुक ध्रुवदेवी के छद्मवेश में तैयार चन्द्रगुप्त से कहा)

राजा—उठो-उठो। हम तुम्हारा त्याग करने में असमर्थ हैं। तुम्हारा नव-यौवन खिला हुआ है और उस यौवन के अनुरूप ही तुम्हारा रूप भी है। तुम्हारी भक्ति देखकर तुम्हारे प्रति मेरा अनुराग है। भले ही देवी को निकाल दूँ पर तुम्हें नहीं छोड़ सकता।

ध्रुवदेवी (अन्य स्त्री की शंका से)—यदि आप भक्ति ही चाहते हैं तो मुझ मन्दभागिनी को मत त्यागिये !

राजा—यही नहीं। तुम्हारे लिए देवी को तृण के समान त्यागता हूँ।

ध्रुवदेवी—इससे पूर्व कि आर्यपुत्र मुझ को जीवित त्यागें, मैं प्राण त्याग दूँगी।

राजा—तुम्हारे बिना राज्य निष्फल है।

ध्रुवदेवी—मेरे लिए तो संसार ही निष्फल है, इसलिए त्याज्य है।

राजा—देवी के प्रति आज भी मेरे मन में वैसा ही दया-भाव है।

ध्रुवदेवी—आर्यपुत्र ! क्या आपकी यही दयालुता है ! निरपराध अनुगत को इस प्रकार त्याग रहे हैं !

राजा—तुम्हारे स्नेह में मन बँधा हुआ है।

ध्रुवदेवी—तभी तो इस मन्दभागिनी का त्याग कर रहे हैं।

राजा—तुम्हारे प्रेम के कारण ही देवी को त्याग रहा हूँ। मेरे लिए यही उचित है।

ध्रुवदेवी (सूत्रधारिणी से)—अरी, क्या यही आर्यपुत्र की दयालुता है !

सूत्रधारिणी—देवि, यदि आकाश से बिजली गिरे तो कोई क्या करे !

---

१. त्रिगर्त के उदाहरण के रूप में नाट्य-दर्पण (२।३२) में उद्धृत (गा० ओ० सी०, पृ० १४१-४२)। ताराङ्कित चार पंक्तियाँ किंचित् परिवर्तन के साथ [illegible] के उदाहरण में भी उद्धृत हैं (१।४८. पृ० ७१)। दोनों ही अवतरणों का उल्लेख सिल्वाँ लेवी ने किया है (जू० ए०, २०३, पृ० २०१-२०३)।

राजा—देवी के वियोग में दुखी हूँगा। उस समय तुम मुझको प्रसन्न करना।

ध्रुवदेवी—तुम जैसे कठोर हृदय को कभी वियोग का दुःख होगा भी!

राजा—उसके वियोग का दुःख तुम्हारे वियोग के दुःख का शतांश भी नहीं है।

तृतीय अंक

तृतीय अंक का कोई अंश प्राप्त नहीं है। किन्तु भोज कृत शृंगारप्रकाश के निम्नलिखित उल्लेख से आगे की घटना का आभास मिलता है—

स्त्रीवेशनिह्नुतः चन्द्रगुप्तः शत्रोः स्कन्धावारं अलिपुर शकपति वधाय अगमत्।[1]

स्त्री के वेश में छिप कर चन्द्रगुप्त शत्रु के स्कन्धावार अलिपुर में शकपति के वध के लिए गया।

चतुर्थ अंक

(गणिका माधवसेना कुमार चन्द्रगुप्त को देखकर मोहित हो जाती है और उसके शरीर पर आनन्दाश्रु, पुलक आदि दिखाई देते हैं। उसे देखकर चन्द्रगुप्त कहता है—

आनन्दाश्रु सितेतरोत्पलरुचोराबध्नता नेत्रयोः
प्रत्यंगेषु वरानने पुलकिषु स्वेदं समातन्वता।
कुर्वाणेन नितम्बयोरुपचयं सम्पूर्णयोरप्यसौ,
केनाप्यस्पृशताऽप्यधो निवसन ग्रन्थिस्तवोच्छ्वासितः॥[2]

किसने तेरे, इन नील कमल की कान्ति से युक्त नयनों में आनन्दाश्रु भर दिये? प्रत्येक अंग में पुलक, स्वेद क्यों आये हैं? तुम्हारे ये भरे हुए नितम्ब क्योंकर प्रफुल्लित हैं? हे वरानने! बताओ तो क्यों इस प्रकार उच्छ्वसित हो रही हो और बिना किसी के स्पर्श किये ही तुम्हारे वस्त्र के कटिग्रन्थ क्यों ढीले हो रहे हैं?

कदाचित् यह सुन कर माधवसेना ने कोई उत्तर नहीं दिया। तब चन्द्रगुप्त ने कहा—

---

१. साहस के उदाहरण के रूप में शृंगार-प्रकाश में उद्धृत (पृ० ४८२)। इसे कवि रामकृष्ण ने ढूँढा था और इ० ए० (५२, पृ० १४२) में प्रकाशित किया था।

२. प्रकरण के उदाहरण के रूप में नाट्यदर्पण (२।२; पृ० ८४), शृंगार-प्रकाश (पृ० ४६६) और अभिनव भारती में उद्धृत। यह सिल्वाँ लेवी को पहले (जू० ए०, २०३, पृ० २०५), कवि रामकृष्ण को दूसरे (इ० ए०, ५२, पृ० १८२) और वी० राघवन को तीसरे (ज० ब० हि० यू०, ३, पृ० २३) में प्राप्त हुआ था। किन्तु शृंगार-प्रकाश और अभिनव-भारती में माधवसेना और चन्द्रगुप्त के स्थान पर वसन्तसेना और माधव का नाम है। वसन्तसेना मृच्छकटिक की नायिका और माधव मालती-माधव का नायक है। जान पड़ता है किसी प्रमाद से उनका नाम देवी चन्द्रगुप्तम् के इस अवतरण से जुड़ गया है।

प्रिये ! माधवसेने ! त्वमिदानीं मे बन्धमाज्ञापय ।
कण्ठे किन्नरकण्ठि ! बाहुलतिकापाशः समासज्यताम् ।
हारस्ते स्तनबान्धवो मम बलाद् बध्नातु पाणिद्वयम् ॥
पादौ त्वंजघनस्थलप्रणयिनी सन्दानयेन्मेखला ।
पूर्वं त्वद्गुणबद्धमेव हृदयं बन्धं पुनर्नार्हति ॥[1]

किन्नरकण्ठी ! कण्ठ में बाहु-लतिका का पाश डालो, मेरे दोनों हाथों को तेरा कुच-बन्द हार बलात् बाँधे; पैरों को तेरी जघनस्थली-प्रणयिनी मेखला बाँधे ! मेरा मन तो पहले ही तेरे गुणों में बँध चुका है ।

पंचम अंक

इस अंक में चन्द्रगुप्त बनावटी पागल के रूप में उपस्थित किया गया है, ऐसा 'देवी चन्द्रगुप्ते चन्द्रगुप्तस्य कृतकोन्मादः'[2] वाक्य से ज्ञात होता है । अन्यत्र प्रवेशिकी ध्रुवा के रूप में निम्नलिखित उद्धरण दिया गया है—

ऐसो सियकरवित्थरपणासियासेसवेरितिमिरोहे ।
नियविह वरेण चन्दो गयणं गहलंघिउं विसइ ॥

श्वेत किरणों के समूह से जिस चन्द्र ने शत्रु रूपी अन्धकार समूह को नष्ट किया और जिसने ग्रहों को बाँधा, वह अपने प्रभाव से आकाश में शोभित है । इसकी व्याख्या में कहा गया है कि इसमें उदित होते हुए चन्द्रमा का वर्णन है, किन्तु उसके व्याज से चन्द्रगुप्त को, जिसने अपने जीवन-भय से उन्मत्त का रूप धारण किया था, रंगमंच पर उपस्थित किया गया है ।

अन्यत्र कहा गया है—अत्र कृतकोन्मादं चन्द्रगुप्तः परित्यज्य कर्तव्यमाह ।
"भवत्वमेन जय शब्देन राजकुलगमनम् साधयामि ॥"[4]

अपने बनावटी उन्माद को छोड़ कर चन्द्रगुप्त अपना कर्तव्य बतलाता है—
"अपने जय शब्द के साथ राजकुल में जाने का कार्य पूरा करूँगा ।"
और अन्त में चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध मे कहा गया है कि—

कंचुविहकज्ज विसेसं अइगूढं निण्हवइ मयणाढो
निक्खलइ सुद्धचित्तऊ रत्ताहुत्तं मणोरिउणो ॥

शत्रुओं के भय से त्रस्त, मन में अनेक प्रकार की योजनाएँ छिपाकर, उन्मत्त वेश में बाहर जाता है ।

---

१. प्रार्थना के उदाहरण के रूप में नाट्यदर्पण (२।५७; पृ० ११८) में उद्धृत । सिल्वाँ लेवी द्वारा उल्लेख ।

२. मानुषी माया के उदाहरण के रूप में शृंगार-प्रकाश (पृ० ४८१) में उद्धृत ।

३. नाट्यदर्पण (२।२) में उद्धृत । सिल्वाँ लेवी द्वारा उल्लेख ।

४. नाटक लक्षण कोष (सम्पा० माइल्स डिल्लन) में उद्धृत । राघवन द्वारा प्रकाशित ।

यह पंचम अंक के अन्त का अंश जान पड़ता है। नैष्क्रमिका ध्रुवा के रूप में इसकी व्याख्या में बताया गया है कि इसमें शत्रु भय से उन्मत्त बने चन्द्रगुप्त के आने की बात कही गयी है।[१]

यद्यपि ये सभी अवतरण अत्यन्त अपूर्ण हैं और नाटक के किसी निखरे रूप को उपस्थित नहीं करते; तथापि इनसे नाटक के कथानक का बहुत कुछ अनुमान किया जा सकता है। सम्भवतः नाटक का आरम्भ किसी युद्ध के समाप्त होने से आरम्भ होता है। किसी शक-नरेश द्वारा परास्त होकर रामगुप्त ऐसी स्थिति में पहुँच गया है जब उसका और उसके अन्य लोगों की मुक्ति शत्रु की शर्त मान लेने पर ही सम्भव है। सम्भवतः शत्रु का प्रस्ताव है कि रामगुप्त यदि अपनी पत्नी ध्रुवस्वामिनी को (और सम्भवतः सरदारों की पत्नियों को भी शत्रु के सरदारों के निमित्त) दे दे तब वह घेरा उठा कर चला जायगा। रामगुप्त ने अपने मन्त्रियों की सलाह पर यह बात मान ली है और ध्रुवदेवी (तथा अन्य स्त्रियों को) शत्रु को सौंप देने का निश्चय किया है। इस लज्जाजनक स्थिति से मुक्त होने का उपाय कुमार चन्द्रगुप्त सोचता है और बैताल-साधना करने का विचार करता है। पर विदूषक के यह याद दिलाने पर कि उसका रात्रि के समय निकल कर बाहर जा सकना असम्भव है, उसका विचार ढीला पड़ जाता है और वह कोई दूसरा उपाय सोचता है। इसी समय माधवसेना की दासी माधवसेना को खोजती हुई वहाँ आती है और उसके न मिलने पर ध्रुवदेवी द्वारा दिये गये वस्त्राभूषणों को वहीं छोड़ कर चली जाती है। उन वस्त्राभूषणों को देख कर चन्द्रगुप्त के मन में एक नया उपाय सूझता है और वह ध्रुवदेवी का छद्मवेश धारण कर शत्रु को मारने का निश्चय करता है। दूसरे अंक में चन्द्रगुप्त ध्रुवदेवी का छद्म रूप धारण कर रामगुप्त के पास आता है और अपना मन्तव्य कहता है। रामगुप्त अपना भ्रातृस्नेह प्रकट कर उसको रोकने की चेष्टा करता है। ध्रुवदेवी नेपथ्य से उसकी बात सुनती है और रामगुप्त के किसी अन्य स्त्री से अनुरक्त होने की आशंका करती है। इसके अनन्तर सम्भवतः चन्द्रगुप्त शक-शिविर में जाता है। तृतीय अंक का एक भी अवतरण प्राप्त न होने से घटनाक्रम का समुचित अनुमान नहीं हो पाता। इस अंक के आरम्भ में सम्भवतः शकपति के नाश होने की सूचना रही होगी। शकपति की हत्या का कदाचित् कोई दृश्य न रहा होगा क्योंकि प्राचीन नाट्य-शास्त्रों के अनुसार युद्ध, रक्तपात आदि का दृश्य वर्जित था। इस अंक में अपने सफल अभियान के फलस्वरूप ध्रुवदेवी तथा जनता के बीच प्रिय होने और रामगुप्त के उससे प्रतिद्वन्द्वी रूप में शंकित होने तथा उसे अपने मार्ग से निकाल फेंकने की योजना का भी वर्णन रहा होगा। उपलब्ध संकेतों से ऐसा जान पड़ता है कि चन्द्रगुप्त ने रामगुप्त द्वारा अपनी हत्या के प्रयत्नों से बचे रहने और रामगुप्त की हत्या करने के विचार को छिपाये रखने के विचार से उसने मदनविकार से उन्मत्त होने का ढोंग किया था। फलतः चतुर्थ अंक के अवतरणों से ऐसा जान पड़ता है कि उसने इसका आरम्भ माधवसेना नाम्नी वेश्या से अपना प्रेम प्रकट करके किया।

१. नाट्यदर्पण (४।२) सिल्वाँ लेवी द्वारा उल्लेख।

वह राजकुल में आती-जाती है और ध्रुवदेवी की सखी है, यह पहले के संकेतों से स्पष्ट है। अतः उसे इस कार्य में कठिनाई नहीं थी। सम्भवतः उसी के सहयोग से चन्द्रगुप्त के ध्रुवदेवी से सम्बन्ध स्थापित करने अथवा सहयोग प्राप्त करने की बात भी इस अंक में रही होगी। पाँचवें अंक के सम्बन्ध में उपलब्ध संकेतों से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त का उद्देश्य रामगुप्त को नष्ट करने का था। अतः मदनविकार-युक्त उन्मत्त बनकर वह राजकुल के भीतर जाता है। आगे की घटनाओं की जानकारी देने वाला कोई संकेत उपलब्ध नहीं है; पर कथा की गति से अनुमान किया जा सकता है कि रामगुप्त मारा गया होगा और चन्द्रगुप्त शासनारूढ़ हुआ होगा और इस बीच या पश्चात् उसका ध्रुवदेवी से विवाह हो गया होगा और वह पट्टमहिषी स्वीकार कर ली गयी होगी।

इस प्रकार इस नाटक के तीन मुख्य पात्र हैं—रामगुप्त, चन्द्रगुप्त और ध्रुवदेवी। इनमें से चन्द्रगुप्त और ध्रुवदेवी तो इतिहास के विश्वस्त सूत्रों से पति-पत्नी के रूप में ज्ञात हैं। इस प्रकार इन दोनों पात्रों के ऐतिहासिक होने में कोई शंका नहीं की जा सकती। अतः उनके आधार पर ही यह अनुमान किया जाता है कि तीसरा पात्र रामगुप्त भी, जिसका नाटक में चन्द्रगुप्त के भाई के रूप में अंकन हुआ है, ऐतिहासिक व्यक्ति होगा। नाटक में ध्रुवदेवी को रामगुप्त की पत्नी बतलाया गया है, जो ज्ञात तथ्य से सर्वथा भिन्न है। ऐतिहासिक सूत्रों के अनुसार तो वह चन्द्रगुप्त की ही पत्नी है। यह एक बहुत बड़ा अन्तर है। कुछ अन्य सूत्रों से चन्द्रगुप्त के अपने भाई की पत्नी से विवाह करने का संकेत मिलता है। बहुत सम्भव है कि वह पत्नी ध्रुवदेवी ही हो। इस प्रकार इस नाटक से गुप्त इतिहास के कतिपय अज्ञात तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है। पर रायचौधुरी सदृश अनेक विद्वान् 'देवीचन्द्रगुप्तम्' तथा तद्प्रभृत अन्य साहित्य को चन्द्रगुप्त द्वितीय के इतिहास की सामग्री के रूप में स्वीकार नहीं करते।[1]

मुद्राराक्षस—'देवी चन्द्रगुप्तम्' के लेखक विशाखदत्त का ही यह दूसरा नाटक है। इसमें चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा मौर्य वंश की स्थापना की चर्चा है। कहा जाता है कि इस नाटक में मौर्य-राजनीति की कहानी के आड़ में गुप्त-वंश के पुनर्स्थापन की सम-सामयिक कहानी है, जो रामगुप्त के निर्बल शासन और शकों के आक्रमण से विचलित हो गया था।[2]

इस अनुमान में तथ्य हो या न हो, उसके भरत-वाक्य में लोग निःसन्दिग्ध रूप से समसामयिक शासक चन्द्रगुप्त द्वितीय का उल्लेख होने का अनुमान करते हैं। वह अंश इस प्रकार है—

> **वाराहीमात्मयोनेस्तनुमवनविधावास्थितस्यानुरूपां**
> **यस्य प्राग्दन्तकोटिं प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री।**

---

१. पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पूना संस्करण, पृ० ५५३-५४, पा० टि० २।

२. दीक्षितार, गुप्ता पालिटि., पृ० ५०।

म्लेच्छैरुद्विज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः ।
स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः ॥[1]

वह पार्थिव (राजा) चन्द्रगुप्त चिरकाल तक पृथ्वी पर शासन करता रहे जो श्रीमद्बन्धु-भृत्य है; जिसकी भुजाओं पर म्लेच्छों से मानसिक क्लेश प्राप्त राजमूर्ति (अर्थात् ध्रुवस्वामिनी) विराजमान हैं; जिसने स्वयं रक्षा का कर्तव्य पालन के निमित्त आवश्यक वाराही का रूप धारण किया और जिसने प्रलय-परिगता भूत-धात्री (अर्थात् राज्ञी ध्रुवस्वामिनी) की अपने दन्तकोटि (कटार) से रक्षा की।

कवि ने इस अवतरण में ध्रुवस्वामिनी के परित्याग की तुलना जलप्लावन से और चन्द्रगुप्त की तुलना विष्णु (वाराह) करते हुए दोनों के रक्षा की चर्चा की है। यहाँ चन्द्रगुप्त के ऐसे कार्य की प्रशंसा की गयी है जो उन्होंने कुमारावस्था में किया था।[2]

कृष्ण-चरित—कृष्ण-चरित नामक काव्य के मात्र तीन पत्र आज उपलब्ध हैं और उनमें भी एक अत्यन्त जीर्ण है। उपलब्ध अंश में दो खण्डों के अंश हैं। दोनों खण्डों के अन्त में अंकित है—**इति श्री विक्रमांक महाराजाधिराज परमभागवत श्री समुद्रगुप्त कृतौ कृष्ण चरिते प्रस्तावनायां।** दोनों खण्डों की पुष्पिकाओं में केवल इतना ही अन्तर है कि एक में **विक्रमांक** के स्थान पर **पराक्रमांक** है। इनसे अनुमान किया जाता है कि समुद्रगुप्त ने 'कृष्णचरित' नामक काव्य की रचना की थी।

इन उपलब्ध पत्रों को सर्वप्रथम राज्यवैद्य जीवाराम कालीदास शास्त्री ने प्रकाशित किया था। तदनन्तर पुसालकर (अ० द०) ने उस हस्तलेख की परीक्षा की। उनकी धारणा है कि उसका कागज डेढ़-दो सौ वर्ष पुराना अवश्य है और लेख भी प्राचीन है; किन्तु उसमें कही गयी कतिपय बातें ऐसी हैं जो उसके मौलिक रचना होने में सन्देह उत्पन्न करती हैं। अतः उनका कहना है कि यह एक आधुनिक कूट-ग्रन्थ है।[3]

सेतुबन्ध—सेतुबन्ध महाराष्ट्री प्राकृत में लिखित एक महाकाव्य है। उसमें राम के लंका जाने और रावण के वध करने की कथा का वर्णन है। इस ग्रन्थ की ओर इतिहासकारों का ध्यान उसके रचयिता प्रवरसेन के कारण गया है। इसकी निर्णयसागर संस्करण की पुष्पिका इस प्रकार है : **महाकवि श्री प्रवरसेने महीपति विरचितम् शतमुखवधाय नामकम् सेतुबन्धम्।** इससे ज्ञात होता है कि इसका रचयिता प्रवरसेन महीपति था। किन्तु काव्यमाला सीरीज संस्करण की पुष्पिका इससे तनिक भिन्न है : **श्री प्रवरसेन**

---

१. ७।१९।

२. काशीप्रसाद जायसवाल, ज० बि० उ० रि० सो०, १८, पृ० ३४। उनका तो यह भी कहना है कि उदयगिरि की वराह मूर्ति की प्रेरणा इसी कल्पना से प्राप्त हुई थी। दीक्षितार की गुप्त पालिटी (पृ० ५०) भी देखिए।

३. ज० यू० ब०, २२ (२), पृ० ३६-४४।

विरचिते कालिदास कृते शतमुखवधे महाकाव्ये। इससे इतनी बात और ज्ञात होती है कि इस ग्रन्थ की रचना में कालिदास का भी हाथ था।

सेतुबन्ध महाकाव्य की एक टीका सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मुगल सम्राट् की छत्रछाया में रामदास नामक कवि ने प्रस्तुत की थी। इस टीका का नाम है—रामसेतु-प्रदीप। उसने एक स्थान पर लिखा है—**इह तावन्महाराज प्रवरसेन निर्मितं महाराजाधिराज विक्रमादित्येन ज्ञाप्तो निखिल कविचूडामणिः कालिदास महाशयः सेतुबन्ध प्रबन्धम् चिकीर्षुं** (कविचूडामणि कालिदास ने महाराजाधिराज विक्रमादित्य के आदेश से महाराज प्रवरसेन के निमित्त सेतु-प्रबन्ध काव्य की रचना की)। दूसरी जगह इसी बात को रामदास ने इन शब्दों में दुहराया है : **धीराणां काव्यचर्चा चतुरिमविधये विक्रमादित्य वाचा यं चक्रे कालिदासः कविकुमुद विधुः सेतुनाम प्रबन्धम्** (कविकुमुद विधु कालिदास ने विक्रमादित्य के कहने पर धीरों की चर्चा और चतुरिम लाभ के लिए सेतु नामक प्रबन्ध की रचना की)। तीसरी जगह उन्होंने अपनी इन बातों को कुछ अन्य प्रकार से संशोधित रूप में कहा है—**अभिनवेन राज्ञा प्रवरसेनेनारब्धा कालिदास द्वारा तस्यैव कृतिरियमित्याशयः। प्रवरसेनो भोजदेव इति केचित्।** (इसकी रचना अभिनव राजा प्रवरसेन ने की थी और उसका संशोधन कालिदास ने किया। कुछ लोगों के कथनानुसार प्रवरसेन भोजदेव कहे जाते हैं)।

कृष्ण कवि ने जो पाण्ड्य-नरेश राजसिंह (७४०-७६५ ई०) के दरबारी कवि थे, अपने 'भरत-चरित' में लिखा है :

> **अकारयस्यान्तरगाढमार्गमलब्धबन्धे गिरि चौर्य कृत्वा।**
> **लोकेष्वलं कान्तनूपूर्वं सेतुं बबन्ध कीर्त्या सह कुन्तलेशः॥**

इसके अनुसार सेतुबन्ध के रचयिता कुन्तल-नरेश थे।

इन सभी सूत्रों के सामूहिक आधार पर कहा जाता है कि इस महाकाव्य के रचयिता प्रवरसेन, महाराजाधिराज विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त द्वितीय) के समकालिक वाकाटक-नरेश प्रवरसेन (द्वितीय) थे और महाकवि कालिदास प्रवरसेन से सम्बद्ध थे। प्रवरसेन भोजदेव के नाम से भी ख्यात थे और वे कुन्तल-नरेश थे। प्रवरसेन यदि भोजदेव कहे जाते रहे हों तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि भोज देश वाकाटकों के अधीन था; किन्तु उनका अधिकार कुन्तल पर भी था, इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। बहुत सम्भव है कि कृष्णकवि ने अपनी किसी गलत धारणा अथवा गलत सूचना के आधार पर ऐसा कहा हो।

कुन्तलेश्वर दौत्यम्—'कुन्तलेश्वर-दौत्यम्' सम्भवतः कोई नाटक था जो अब अनुपलब्ध है। क्षेमेन्द्र ने अपने औचित्य-विचार में उसे कालिदास कृत बताया है और उसका एक उद्धरण दिया है जिससे ज्ञात होता है कि किसी राजा ने किसी अन्य राजा के पास अपना दूत भेजा था। उसे वहाँ अपने नरेश की मर्यादा के अनुसार सभासदों के बीच स्थान नहीं दिया गया। तब वह भूमि पर ही बैठ गया और अत्यन्त गर्व और शान के साथ बोला—

इह निवसति मेरुः शेखरः क्ष्माधराणां,
इह विनिहित भाराः सागरा सप्तचान्ये ।
इदमहिपति भोगस्तम्भ विभ्राजमानं,
धरणि तलमिहैव स्थानमस्य द्विधानाम् ॥

(इस पृथिवी पर पर्वतों में सर्वश्रेष्ठ मेरु पर्वत स्थित है, उस पर सप्तसागर आधारित है और यह पृथिवी नागराज के सिर पर स्थित है इस प्रकार यह भूमि ही मुझ सदृश व्यक्ति के सर्वथा उपयुक्त है।)

इस प्रकार दूत अपने उद्देश्य साधन के निमित्त बड़े ही शान्त भाव से अपमान को पी गया।

भोज ने अपने 'शृंगार प्रकाश' और 'सरस्वती कण्ठाभरण' में, राजशेखर ने अपने 'काव्य-मीमांसा' में और मंखुक ने अपने 'साहित्य दर्पण' में एक उद्धरण दिया है जो 'कुन्तलेश्वर-दौत्यम्' का ही अनुमान किया जाता है। उससे ज्ञात होता है कि वह दूती कालिदास स्वयं, और भेजनेवाले राजा विक्रमादित्य थे; तथा वे कुन्तल-नरेश की राज-सभा में गये थे। उपर्युक्त ग्रन्थों में उद्धृत अवतरण इस प्रकार है

विक्रमादित्य—किं कुन्तलेश्वरः करोति ? (कुन्तलेश्वर क्या कर रहे हैं ?)

कालिदास—असकल हसित्वात् क्षालितानीव कान्त्या,
मुकुलित नयनत्वाद् व्यक्त कर्णोत्पलानि ।
पिबति मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणां,
त्वयि विनिहित भारः कुन्तलानामधीशः ॥

शासन-भार एक ओर रख कर, कुन्तल-नरेश अपनी मधुर, सुगन्धित, मुकुलित तथा लम्बे कमल-नयनों वाली प्रियाओं का आस्वादन कर रहे हैं।

विक्रमादित्य—पिबति मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणां,
मयि विनहित भारः कुन्तलानामधीशः ॥

(कुन्तलाधीश को शासन से विरत रह कर अपनी प्रिया के मधुर और सुगन्धित मुख का आस्वादन करने दो)।

इन अवतरणों से ज्ञात होता है कि कुन्तल-नरेश के पास चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य ने दूत भेजा था और दूत ने लौटकर उसके शासन-विरत और विलासरत होने की सूचना दी। कुन्तलेश के राज-कार्य के प्रति उदासीन जान कर विक्रमादित्य आश्वस्त हुए। पर दौत्य-कार्य क्या था, इसका कुछ आभास नहीं मिलता।

कुछ लोग कुन्तलेश को पूर्व कथित कृष्ण-कवि के प्रमाण से वाकाटक-नरेश प्रवरसेन अनुमान करते हैं। किन्तु चन्द्रगुप्त (द्वितीय) और प्रवरसेन के जो सम्बन्ध थे, पुरातात्विक साधनों और सेतु-बन्ध के सम्बन्ध में ऊपर कही बातों से ज्ञात होते हैं उनके प्रकाश में कुन्तलेश्वर-दौत्यम् के कुन्तलेश कदापि सेतुबन्ध के रचयिता वाकाटक नरेश प्रवरसेन नहीं हो सकते।

वासवदत्ता—वासवदत्ता सुबन्धु रचित नाटक है जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा बाण, वाक्पतिराज, मंख और कविराज ने की है। नाटक के आमुख में कहा गया है —

> **विषधरतोप्यति विषमः खल इति न मृषा वदन्ति विद्वांसः।**
> **यदयम् नकुलद्वेषी सकुलद्वेषी पुनः पिशुनः ॥**
> **अतिमलिने कर्तव्ये भवति खलानामतीव निपुणा धीः।**
> **तिमिरे हि कौशिकानां रूपं प्रतिपद्यते चक्षुः ॥**
> **विध्वस्त परगुणानां भवति खलानामतीव मलिनत्वम्।**
> **अन्तरित शशिरुचामपि सलिलमुचां मलिननिमाभ्यधिकः ॥**
> **सा रसवत्ता विहता नवका विलसन्ति चरति नो कं कः।**
> **सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये ॥**[1]

विद्वज्जनों ने ठीक ही कहा है कि खल साँपों से भी अधिक दुष्ट हैं। साँप, जो नकुल (नेवला) द्वेषी है, अपने कुल का द्वेषी (न-कुल-द्वेषी) नहीं होता; किन्तु खल तो अपने कुल के प्रति भी दुष्टता करते रहते हैं। उलूकों की तरह खलों की आँखें अँधेरे में भी देखती हैं। वे दूसरों के गुणों को विध्वस्त करके स्वयं अधिक मलिन बन जाते हैं, जिस प्रकार चन्द्र को ढक कर मेघ और अधिक काला हो जाता है। विक्रमादित्य के निधन के पश्चात् कला और कविता प्रेम लुप्त हो गया, नये-नये लोग विलसित हो रहे हैं और प्रत्येक व्यक्ति का हाथ अपने पड़ोसी के गले पर है।

इसमें सम्भवतः सुबन्धु ने अपने समय की बदलती हुई स्थिति की ओर इंगित किया है। इस कारण अनेक लोग इन पंक्तियों में विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त द्वितीय) के निधनोपरान्त देश में व्याप्त आन्तरिक अशान्ति की झलक देखते हैं।

सुबन्धु ने अपने ग्रन्थ में उद्योतकर (लगभग ५०० ई०) का उल्लेख किया है, इसलिए उनका समय छठी शती से पूर्व नहीं कहा जा सकता और साथ ही इस बात की भी कल्पना नहीं की जा सकती कि उन्होंने सौ वर्ष पूर्व हुए चन्द्रगुप्त (द्वितीय) की चर्चा की होगी। अतः उनका तात्पर्य किसी उत्तरवर्ती विक्रमादित्य विरुद-धारी गुप्त शासक से ही होगा; किन्तु उनका तात्पर्य किससे है कहना कठिन है क्योंकि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समान कविता और कला का प्रेमी दूसरा कोई शासक जान नहीं पड़ता।

वसुबन्धु-चरित—प्रख्यात बौद्ध लेखक परमार्थ ने सुविख्यात दार्शनिक वसुबन्धु का चरित लिखा है। उसमें जो कुछ कहा गया है, उसके अनुसार वसुबन्धु का जन्म पुरुषपुर (पेशावर) में एक कौशिक गोत्रीय ब्राह्मण के घर हुआ था। सांख्य के संरक्षक अयोध्या-नरेश विक्रमादित्य को वसुबन्धु ने बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। राजा विक्रमादित्य ने अपने उत्तराधिकारी राजकुमार बालादित्य को वसुबन्धु के पास बौद्ध-मत की शिक्षा

---

१. वासवदत्ता, सम्पा० फिटजएडवर्ड हाल, (बिबलियोथिका इण्डिका), पृ० ५-७।

प्राप्त करने के लिए भेजा। रानी ने भी उनसे दीक्षा ली। गद्दी पर बैठने के बाद बालादित्य और उनकी माँ ने वसुबन्धु को अयोध्या बुलाया और उन्हें विशेष संरक्षण प्रदान किया। साठ वर्ष की अवस्था में वसुबन्धु की मृत्यु हुई।

ताकाकुसु ने वसुबन्धु का समय ४२०–५०० ई० निर्धारित किया है।[1] नोयल पेरी ने उन्हें चौथी शती ई० में रखा है।[2] इस कारण उनका संरक्षक नरेश कौन था, इसका निर्धारण करना सुगम नहीं है। नोयल पेरी की बात से सहमत होते हुए विन्सेण्ट स्मिथ का कहना है कि वसुबन्धु के संरक्षक विक्रमादित्य और बालादित्य क्रमशः चन्द्रगुप्त (प्रथम) और समुद्रगुप्त हैं।[3] किन्तु न तो प्रथम चन्द्रगुप्त को कहीं विक्रमादित्य कहा गया है और न समुद्रगुप्त को बालादित्य। हरप्रसाद शास्त्री का मत है कि वसुबन्धु के संरक्षक द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और उनके लड़के प्रथम कुमारगुप्त थे।[4] उन्होंने बालादित्य का तात्पर्य "युवा पुत्र" माना है। भण्डारकर (द० र०) ने भी विक्रमादित्य को चन्द्रगुप्त (द्वितीय माना है किन्तु उनके मतानुसार बालादित्य गोविन्दगुप्त हैं।[5] पाठक (के० बी०)[6], और हार्नले (ए० एफ० आर०)[7] के मतानुसार वसुबन्धु प्रथम कुमारगुप्त, स्कन्दगुप्त और नरसिंहगुप्त के समकालिक थे। सिनहा (वि० प्र०) उन्हें प्रथम कुमारगुप्त, स्कन्दगुप्त, पुरुगुप्त, स्कन्दगुप्त, द्वितीय कुमारगुप्त, बुधगुप्त, और नरसिंहगुप्त सब का समकालिक मानते हैं।[8] वामन के एक विवादग्रस्त अवतरण के आधार पर, जिसका उल्लेख आगे किया गया है, इन सभी विद्वानों ने प्रथम कुमारगुप्त और वसुबन्धु की समसामयिकता की बात कही है। स्कन्दगुप्त और नरसिंहगुप्त के साथ वसुबन्धु की समसामयिकता के लिए पाठक और हार्नले ने परमार्थ का आश्रय लिया है। अपने मत के समाधान में हार्नले ने स्कन्दगुप्त की, जिन्हें कतिपय चाँदी के सिक्कों पर 'विक्रमादित्य' कहा गया है, नरसिंहगुप्त बालादित्य के पिता पुरुगुप्त से करने की चेष्टा की है। जान एलन की दृष्टि में स्कन्दगुप्त को पुरुगुप्त मानने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि उन्होंने बुधगुप्त के सोने के सिक्कों पर, जिनके पट ओर श्री 'विक्रम' अंकित है 'पुर' पढ़ा है। अतः उन्होंने वसुबन्धु के संरक्षक विक्रमादित्य की पहचान पुरुगुप्त से और उनके बेटे बालादित्य की नरसिंहगुप्त से की है।[9] सिनहा ने इन्हीं मतों का अनुसरण मात्र किया है और नरसिंहगुप्त बुधगुप्त के बाद सिंहासनारूढ़ हुआ, पीछे से ज्ञात इस तथ्य

---

१. ज० रा० ए० सो०, १९०५, पृ० ४४।
२. बु० इ० फ० इ० ओ०, १९११, पृ० ३३९-४०।
३. अ० हि० इ०, पृ० १२।
४. ज० ए० सो० बं०, १ (न० सी०), पृ० २५३।
५. इ० ए०, ४१, पृ० १ और आगे।
६. वही, ४०, पृ० १७०-७१।
७. वही, पृ० २६४।
८. डि० कि० म०, पृ० ८३।
९. ब्रि० म्यु० मु० सू०, गु० वं०, भूमिका, पृ० ५०-५१।

के साथ सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा की है। किन्तु प्रथम कुमारगुप्त के पश्चात शासकों के उत्तराधिकार क्रम के सम्बन्ध में ज्ञात तथ्यों का गम्भीरता के साथ मनन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सारे अनुमान अमान्य हैं। पुरुगुप्त के पश्चात्, यदि वह वस्तुतः सत्तारूढ़ हुआ था, नरसिंहगुप्त के राज्यारोहण से पहले कम से कम तीन और राजे हुए। इस प्रकार अपने पिता के समय में नरसिंहगुप्त के उत्तराधिकारी राजकुमार होने की बात ही नहीं उठती। फिर नरसिंहगुप्त का स्थान वैन्यगुप्त के बाद ही आता है; और गुनइघर ताम्रशासन के अनुसार वैन्यगुप्त का समय १८८ गुप्त संवत् (५०६–५०७ ई०) है।[1] इसका अर्थ यह हुआ कि नरसिंहगुप्त ५०६–५०७ ई० के बाद ही किसी समय शासक हुआ। और इस समय तक निःसन्देह वसुबन्धु जीवित नहीं थे। अतः इस तथ्य के होते हुए भी कि नरसिंहगुप्त बालादित्य और स्कन्दगुप्त तथा बुधगुप्त विक्रमादित्य कहे जाते थे, वे लोग वसुबन्धु के संरक्षक नहीं हो सकते। वसुबन्धु का संरक्षक यदि कोई विक्रमादित्य हो सकता है तो वह चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ही हो सकता है, जैसा कि हरप्रसाद शास्त्री और भण्डारकर का अनुमान है। और इस अवस्था में उत्तराधिकारी राजकुमार बालादित्य के रूप में गोविन्दगुप्त की ही कल्पना की जा सकती है जैसा कि भण्डारकर ने किया है।

काव्यालंकार-सूत्र-वृत्ति—वामन (लगभग ८०० ई०) ने काव्यालंकार-सूत्र वृत्ति नामक एक अलंकार ग्रन्थ लिखा है जिसमें साभिप्रायत्व के उदाहरण स्वरूप उन्होंने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है —

> सो यं सम्प्रति चन्द्रगुप्त तनयः चन्द्रप्रकाशो युवा।
> जातो भूपति राश्रयः कृतिधियं दिष्टिना कृतार्थश्रय॥[2]

> चन्द्रगुप्त का वही बेटा युवक चन्द्रप्रकाश (अथवा चन्द्र के समान प्रकाशित युवक बेटा) जो विद्वानों का आश्रयदाता है, अब राजा बन गया है और बधाई का पात्र है।

इसकी टीका करते हुए वामन का कहना है : **आश्रयः कृतिधियाम् इत्यस्य च (व)सुबन्धु सचिव्योपक्षेपु परत्वात् साभिप्रायत्वम्** (कृतधियाम् शब्द यहाँ साभिप्राय का उदाहरण है, उसमें सुबन्धु (अथवा वसुबन्धु) के सचिव (अथवा) साथी होने का संकेत है।

इस अवतरण की ओर सर्वप्रथम हरप्रसाद शास्त्री ने ध्यान आकृष्ट किया था।[3] इस अवतरण के आश्रय कृतिधिय सुबन्धु हैं या वसुबन्धु यह विवादग्रस्त है। शास्त्री ने

---

१. देखिये पीछे, पृ० ४१।

२. अध्याय ३।२, (वाणी विलास प्रेस संस्करण), पृ० ८६।

३. ज० ए० सो० बं०, १९०५, पृ० २५३ और आगे।

सुबन्धु पाठ ग्रहण किया है और नरसिंहाचारी[1] तथा सरस्वती (आर०)[2] ने उनका पक्ष लिया है। इसके विपरीत पाठक (के० बी०)[3] और हार्नले (ए० एफ० आर०)[4] वसुबन्धु पाठ मानते हैं। जो लोग सुबन्धु पाठ को ठीक समझते हैं, वे उन्हें वासवदत्ता के रचयिता सुबन्धु मानते हैं और जो वसुबन्धु पाठ स्वीकार करते हैं वे उन्हें सुप्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक आँकते हैं। वस्तु-स्थिति जो भी हो, जैसा कि जान एलन का कहना है वामन की टीका का उतना महत्त्व नहीं है जितना कि मूल श्लोक का। उनकी टीका का विश्वास नहीं किया जा सकता।[5]

मूल श्लोक में प्रयुक्त चन्द्रप्रकाश को शास्त्री और हार्नले व्यक्तिवाचक संज्ञा मानते हैं। हार्नले की यह धारणा है कि वह प्रथम कुमारगुप्त का राज्यारोहण से पूर्व का नाम है। पाठक उसे 'तनय' के विशेषण के रूप में ग्रहण करते हैं (चन्द्र का प्रकाश-रा तनय)। प्रथम कुमारगुप्त के सुवर्ण मुद्राओं पर अंकित 'गुप्त-कुल-व्योम-शशि' और 'गुप्त-कुलामल-चन्द्र' से इसकी तुलना सुगमता से की जा सकती है। अतः वे भी इसका तात्पर्य प्रथम कुमारगुप्त से ही ग्रहण करते हैं। दशरथ शर्मा की दृष्टि में इस श्लोक और मेहरौली प्रशस्ति के तृतीय खण्ड में अद्भुत् साम्य है। अतः उनकी धारणा है कि दोनों का रचयिता एक ही व्यक्ति है और श्लोक के चन्द्रगुप्त और प्रशस्ति के चन्द्र एक ही हैं।[6] इस प्रकार श्लोक का तात्पर्य द्वितीय चन्द्रगुप्त और प्रथम कुमारगुप्त से जान पड़ता है। इस पहचान की सार्थकता तभी है जब हम यह स्वीकार करें कि वामन का संकेत अपनी टीका में वसुबन्धु की ओर ही था।

यदि उनका तात्पर्य वासवदत्ता के रचयिता सुबन्धु से था, उस अवस्था में चन्द्रगुप्त और उनके तनय को छठी शताब्दी के परवर्ती गुप्तवंशीय शासकों में ढूँढ़ना होगा। उस अवस्था में इसकी सम्भावना अनुमान की जा सकती है कि चन्द्रप्रकाश सिक्कों से ज्ञात प्रकाशादित्य हो और उसका पिता चन्द्रगुप्त भारी वजन वाले सिक्कों का प्रचलक श्री विक्रम विरुदधारी चन्द्र हो।

हर्ष-चरित—हर्षवर्धन के राजाश्रित कवि बाण ने अपनी सुविख्यात कृति हर्ष-चरित में हर्ष के पीलुपति स्कन्दगुप्त द्वारा कही गयी ऐसे राजाओं की कहानियों का उल्लेख किया है जो अपनी लापरवाही से अपने शत्रुओं के शिकार हुए। ऐसी कहानियों के प्रसंग में एक उल्लेख इस प्रकार है—

---

१. इ० ए०, ४०, पृ० ३१२।
२. वही, ४३, पृ० ८।
३. इ० ए०, ४०, पृ० १७०; ४१, पृ० २४४; ज० ब० ब्रा० रा० ए० सो०, २२ (पु० सी०) पृ० १८५।
४. इ० ए, ४०, पृ० २६४।
५. ब्रि० म्यु० मु० सू०, गु० वं०, भूमिका ४४, पाद टिप्पणी।
६. इ० हि० क्वा०, १०, पृ० ७६१।

अरिपुर च परकलत्र कामुकं कामिनीवेशगुप्तः चन्द्रगुप्तः शकपतिमशातयत् ।[१]

शत्रुनगर (अरिपुर) में परकलत्र-कामुक शकपति कामिनीवेशधारी चन्द्रगुप्त द्वारा मारा गया ।

शंकराचार्य (१७१३ ई०) ने अपनी टीका में इसका इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है

शकानाम आचार्यः शकपतिः चन्द्रगुप्त भ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमान चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीं वेषधारिणी स्त्रीवेषजनपरिवृत्तेन रहसि व्यापादितः ।

शकपति ने चन्द्रगुप्त की भावज (भाभी) की आकांक्षा की अतः उसने ध्रुवदेवी के वेश में, अन्य नारी वेशधारी व्यक्तियों की सहायता से मार डाला ।

इस अवतरण की ओर सर्वप्रथम भाऊ दाजी ने ध्यान आकृष्ट किया था ।[२] उस समय उन्होंने यह मत व्यक्त किया था कि इसमें चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा अन्तिम पश्चिमी शक क्षत्रप रुद्रसिंह की हत्या का संकेत है । तब इतिहासकारों ने इसका ऐतिहासिक महत्त्व अस्वीकार किया और पंक्तियों को "बदनाम करने वाली जनश्रुति (स्कैण्डलस ट्रेडिशन)" की संज्ञा दी ।[३] जब कवि रामकृष्ण ने शृंगार प्रकाश में उपलब्ध देवीचन्द्रगुप्तम् के अवतरणों की ओर सरस्वती (ए० आर०) का ध्यान आकृष्ट किया तो उन्होंने उक्त अवतरणों के साथ इसे भी पुनः प्रकाशित किया ।[४] और अब तो इसका ऐतिहासिक महत्त्व प्रत्यक्ष ही है । इससे प्रकट है कि बाण के समय में रामगुप्त-ध्रुवस्वामिनी-चन्द्रगुप्त वाली घटना की लोगों को पूरी जानकारी थी और उस कथा से संस्कृत के विद्वान् अठारहवीं शती में भी परिचित थे ।

काव्यमीमांसा—काव्यमीमांसा राजशेखर कृत काव्यशास्त्र है । उसका समय दसवीं शती ई० आँका जाता है । इसमें उन्होंने मुक्तक वास्तुस्वरूप के कथांश (ऐतिहासिक घटना) का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए निम्नलिखित चटु उद्धृत किया है—

दत्वा रुद्धगतिः खसाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीम् ।
यस्मात् खण्डित साहसो निवर्तते श्री शर्मगुप्तो नृपः ॥
तस्मिन्नेव हिमालये गुरु गुहा कोणाक्वणित् किन्नरे ।
गीयन्ते तव कार्तिकेयनगर स्त्रीणां गणैः कीर्तयः ॥[५]

---

१. निर्णयसागर प्रेस संस्करण, पृ० २०० ।

२. लिटरेरी रिमेन्स ऑव डॉ० भाऊदाजी, पृ० १०३-०४ ।

३. अ० हि० इ०, चतुर्थ संस्करण, पृ० २०२ ।

४. इ० ए०, ५२, पृ० १८१ ।

५. गा० ओ० सी०, पृ० ४७ । इस अवतरण के ऐतिहासिक महत्त्व की ओर सर्वप्रथम चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने ध्यान आकृष्ट किया था (नागरी प्रचारिणी पत्रिका, १, पृ० २३४-३५) । उसके बाद इसकी चर्चा अल्तेकर ने की (ज० बि० उ० रि० सो०, १४, पृ० २४९) ।

कार्तिकेय नगर की नारियाँ, किन्नरों की ध्वनियों पर उस हिमालय के गुरु गुहाओं में तुम्हारा यशोगान कर रही हैं, जहाँ नृप श्री शर्मगुप्त अपने को घिरा और बाहर निकलने में असमर्थ पाकर हताश हुआ और राजा को देवी ध्रुव-स्वामिनी को देकर लौटा।

राजशेखर ने इसे कथोत्थ (ऐतिहासिक घटना) के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है, इसका अर्थ यह होता है कि उन्हें इस बात का पता था कि शर्मगुप्त (सम्भवतः रामगुप्त से विकृत) नामक कोई राजा था जो किसी खस (शक) राजा द्वारा घेरे जाने पर अपनी रानी ध्रुवदेवी को देने पर विवश हुआ था। इस प्रकार यह अवतरण 'देवीचन्द्रगुप्तम्' की कथा का समर्थन करता है, साथ ही इस बात पर भी प्रकाश डालता है कि घटना कार्तिकेयनगर में घटी थी। यद्यपि 'कार्तिकेयनगर स्त्रीणां' का स्वाभाविक समास बनता है, तथापि कुछ विद्वानों की धारणा है कि यह चटु कार्तिकेय नामक व्यक्ति को सम्बोधित किया गया है। अल्तेकर (अ० स०) इस कार्तिकेय को गुप्तवंशीय प्रथम कुमारगुप्त अनुमान करते हैं।[1] किन्तु कोई कवि इतना धृष्ट और मर्यादारहित नहीं होगा कि वह किसी राजा की चाटुकारिता करते हुए उसके सामने ऐसी बात कहे जो उसके पूर्वजों को हेय रूप में उपस्थित करती हो, वंश के कलंक को उद्भासित करती हो। ऐसी अवस्था में जब कि घटना का सम्बन्ध उस राजा की माता से ही हो, जिसकी कि कवि चाटुकारी कर रहा है, इस प्रकार की बात कभी कहेगा, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। मीराशी (वी० वी०) का अनुमान है कि यह चटु कन्नौज-नरेश महिपाल को सम्बोधित की गयी है, जो राजशेखर के संरक्षकों में था।[2] पर इसकी भी सम्भावना नहीं जान पड़ती।

आयुर्वेद-दीपिका-टीका—बारहवीं शती ई० मध्य में चक्रपाणिदत्त ने 'आयुर्वेद दीपिका-टीका' नाम से सुप्रसिद्ध आयुर्वेद ग्रन्थ 'चरक-संहिता' प्रस्तुत की थी। उसमें अप्रत्याशित रूप से द्वितीय चन्द्रगुप्त और भ्रातृ-हत्या के निमित्त छद्म-उन्माद का उल्लेख किया गया है जिससे देवी-चन्द्रगुप्तम् और कुछ अन्य सूत्रों में कही बातों का समर्थन होता है।

उन्होंने विमान-स्थान के चतुर्थ अध्याय के आठवें सूत्र **उपधिमनुबन्धेन** की व्याख्या करते हुए कहा है—**उपेत्य धीयते इति उपाधिः छद्म इत्यर्थः। तमनुबन्धेनोत्तर कालीन फलेन। उत्तरकालं भ्रातादि वधेन फलेन ज्ञायते यदयमुन्मत्त छद्मप्रचारी चन्द्रगुप्त इति।**[3] छल की कल्पना उपधि है, उसका अर्थ है छद्म। उत्तरकालीन फल उसका अनुबन्ध है। यथा—आगे चल कर अपने भाई तथा अन्य लोगों की हत्या करने के निमित्त चन्द्रगुप्त ने छल करके अपने को उन्मत्त घोषित कर दिया था।

---

१. ज० बि० उ० रि० सो०, १४, पृ० २४९।

२. इ० ए०, ५२, पृ० २०१।

३. निर्णयसागर प्रेस संस्करण, तीसरा सं०, पृ० २४८-४९।

कुवलयमाला—उद्योतन सूरि (उपनाम दाक्षिण्यचिह्न) ने शकद ९९ (७७७ ई०) में प्राकृत में 'कुवलयमाला' नामक जैन-कथा प्रस्तुत की थी। उसकी पुष्पिका में उन्होंने अपने परिवार, अपने गुरु, समय, स्थान आदि की विस्तृत चर्चा की है। उसकी निम्नलिखित पंक्तियों को लोग गुप्त इतिहास की दृष्टि से महत्व का मानते हैं—

> अत्थि पुहईपसिद्धा दोण्णि चेय देसत्ति।
> तत्थत्थि पहं णामेण उत्तरावहं बुहजणाइण्णं॥
> सुइदिअचारुसोहा विअसिअकमलाणणा विमलदेहा।
> तत्थत्थि जलहिदइआ सरिआ अह चन्दभायऽत्ति॥
> तीरम्मि तीय पयडा पव्वइया णाम रयणसोहिला।
> जत्थित्थि ठिए भुत्ता पुहई सिरितोररायेण॥
> तस्स गुरु हरिउत्तो आयरिओ आसि गुत्तवंसओ।
> तीय णयरीय दिण्णो जेण णिवेसो तहिं काले॥
> तस्स विसिस्सो पयडो महाकई देवउत्तणामोत्ति।[१]

पृथ्वी पर दो ही देश प्रसिद्ध हैं। उनमें उत्तरापथ विद्वानों का देश कहा गया है। उसके मध्य से चन्दभाय (चन्द्रभागा) नदी बहती है। उसके किनारे पव्वइया नामक सुन्दर नगर है, जहाँ श्री तोरराय (पूना प्रति के अनुसार तोरमाण) रहता और पृथिवी पर शासन करता था। उसके गुरु हरिगुप्त थे जो स्वयं गुप्त वंश के थे और वहीं रहते थे। इस गुरु के देवगुप्त नामक शिष्य थे जो स्वयं महाकवि थे। पूना प्रति में देवगुप्त को कला-कुशली सिद्धान्त-विदाननो (विद्वान्) कइदक्खो (कविदक्ष) कहा गया है।

कुवलयमाला के प्राक्कथन में गुप्त वंश के राजर्षि देवगुप्त (वंसे गुत्ताण रायरिसी) का उल्लेख है जो त्रिपुरुषचरित के लेखक थे। सम्भवतः महाकवि देवगुप्त और राजर्षि देवगुप्त एक ही व्यक्ति हैं। राजर्षि के विरुद से ऐसा प्रकट होता है कि वे गुप्त राजवंश के थे।

इस प्रकार इससे गुप्तवंश के दो व्यक्तियों—हरिगुप्त और देवगुप्त का नाम ज्ञात होता है। हरिगुप्त हूण तोरमाण के समकालिक थे और देवगुप्त उनके कनिष्ठ समकालिक। पर गुप्त राजवंश के इतिहास में इनका स्थान क्या था यह अभी किसी भी सूत्र से निर्धारित करना सम्भव नहीं हो सका है।

कालिदास की कृतियाँ—संस्कृत साहित्य में कवि और नाटककार के रूप में कालिदास की सर्वाधिक ख्याति है। उनकी महत्ता इतनी जगतप्रसिद्ध है कि उसकी किसी प्रकार की चर्चा अनावश्यक है; किन्तु उनका समय भारतीय तिथि-क्रम की सबसे उलझी हुई पहेली है। भारतीय ज्ञान के शोधकाल के आरम्भ में ही यह समस्या सामने आयी थी और आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है।

---

१. ज० बि० उ० रि० सो०, १४, पृ० २८।

फुशे (एम०) ने उन्हें ईसा पूर्व आठवीं शती में रखा था और वेबर (ए०) उन्हें ग्यारहवीं शती ई० में उतार लाये थे। किन्तु यह विस्तृत काल सीमा अब घट कर दूसरी शती ई० पू० और छठी शती ई० के बीच सिमट गयी है। राय (एस०आर०),[1] कुन्हनराजा (सी०)[2] तथा कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि वह अग्निमित्र शुंग के राजसभा के कवि थे। करन्दीकर (एम० ए०),[3] चट्टोपाध्याय (क्षे० च०),[4] दीक्षितार (वी० आर० आर०),[5] शेम्बवनेक (के० एम०)[6] तथा कुछ अन्य लोग उनका समय पहली शती ई० पू० मानते हैं और कहते हैं कि वे उज्जयिनी-नरेश विक्रमादित्य के राज-कवि थे। कीथ (ए० बी०),[7] मेकडानेल (ए० ए०),[8] विन्सेण्ट स्मिथ,[9] रायचौधुरी (हे० रा०),[10] मुखर्जी (रा० कु०)[11] तथा अन्य अनेक विद्वान् उन्हें गुप्त-काल में रखते हैं और द्वितीय चन्द्रगुप्त को उनका संरक्षक मानते हैं। सथैनाथियार (एस०)[12] प्रभृत कुछ लोग कुमारगुप्त (प्रथम) अथवा स्कन्दगुप्त को उनका संरक्षक बताते हैं। रूबें (डब्लू०)[13] ने किसी गुप्त-सम्राट् का नामोल्लेख न कर, मत व्यक्त किया है कि कालिदास चौथी अथवा पाँचवीं शताब्दी ई० में हुए थे। फर्गुसन (जे०), मैक्समूलर, भण्डारकर (र० द०) और श्रीनिवास आयंगर (पी० टी०) छठी शती ई० की बात कहते हैं।

इनमें से प्रत्येक मत के पक्ष में कुछ न कुछ प्रबल तर्क हैं; अतः जो लोग इस विवाद में नहीं पड़ना चाहते वे निरापद रूप से कालिदास का समय ई० पू० १०० और ४५० ई० के बीच मान कर चुप रह जाते हैं।[14] यों सचेत मत कालिदास का समय ४०० ई० के आसपास मानता है।[15] सभी मतामत पर विचार करने के बाद

---

१. अभिज्ञान शाकुन्तल की भूमिका।

२. अनाल्स ऑव ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास विश्वविद्यालय, ६ (१); इ० हि० का०, १८, पृ० १२८; ज० यू० पी० हि० सो०, १५।

३. कुमारसम्भव की भूमिका।

४. इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज, २, पृ० ७९-१७०।

५. गुप्ता पालिटी, पृ० ३५।

६. ग्लैमर एबाउट द गुप्ताज, बम्बई, १९५२, पृ० ४८।

७. हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर, आक्सफोर्ड, १९२८, पृ० ७४-१०१।

८. हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर।

९. अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० २१२, पा० टि० २।

१०. पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एंशियण्ट इण्डिया, ५वाँ संस्करण, पृ० ५६४।

११. गुप्त इम्पायर, पृ० ४७।

१२. पोलिटिकल एण्ड कल्चरल हिस्ट्री ऑव इण्डिया, १।

१३. कालिदास, द ह्यूमन मीनिंग ऑव हिज वर्क्स, बर्लिन १९५७।

१४. देवस्थली (जी० वी०), क्लासिकल एज, साहित्य सम्बन्धी अध्याय, पृ० ३०२।

१५. अल्तेकर, ए० एस०, वाकाटक-गुप्त एज, पृ० ४०५; मैहेण्डेल (एम० ए०), द एज ऑव इम्पीरियल यूनिटी, पृ० २६९; बागजी (पी० सी०) और राघवन (वी०), कम्प्रिहेंसिव हिस्ट्री ऑव इण्डिया, २, पृ० ६४०।

हमारी यही धारणा बनती है कि कालिदास द्वितीय चन्द्रगुप्त (विक्रमादित्य) के ही आश्रित रहे होंगे।

वस्तुस्थिति जो भी हो, यदि विद्वानों की बहुमत धारणा के अनुसार कालिदास गुप्त काल में हुए थे (उनका संरक्षक द्वितीय चन्द्रगुप्त, प्रथम कुमारगुप्त अथवा स्कन्दगुप्त कोई भी रहा हो) तो निःसन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि उनकी रचनाओं— अभिज्ञान शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र, रघुवंश, मेघदूत और ऋतु-संहार में उस युग के लोक-जीवन का प्रतिबिम्ब सुगमता से देखा जा सकता है। कुछ विद्वान् तो उनमें तत्कालीन राजनीतिक इतिहास की झलक भी देखते हैं। रघुवंश में वर्णित रघु के दिग्विजय में लोग समुद्रगुप्त के दिग्विजय की छाया पाते हैं।

कथा-सरित्सागर—कथासरित्सागर कश्मीरी पण्डित सोमदेव द्वारा ग्यारहवीं शती के अन्त में कश्मीर-नरेश हर्ष के राजकाल में प्रस्तुत कथा-संग्रह है। संग्रहेता का तो कहना है कि उसका ग्रन्थ गुणाढ्य कृत बृहत्कथा का ही, जो पैशाची भाषा में किसी सातवाहन राजा के समय में लिखी गयी थी, सारांश है; किन्तु उनमें परवर्ती कहानियों का भी समावेश जान पड़ता है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि उसमें विषमशील नामक जो अठारहवाँ लम्बक है उसका सम्बन्ध कुछ न कुछ गुप्त-वंशीय इतिहास से है। उसमें दी गयी कथा इस प्रकार है[1]—

> अवन्ति में उज्जयिनी नामक नगर है जहाँ शिव का निवास है। जिस प्रकार अमरावती में इन्द्र निवास करते हैं, उसी प्रकार वहाँ महेन्द्रादित्य नामक शत्रु-निहन्ता राजा रहता था। वह अनेक शस्त्रास्त्रों को धारण करता था तथा अत्यन्त शक्तिशाली था। दान के लिए उसके हाथ सदा खुले रहते थे; साथ ही हर समय वे तलवार की मूठ पर भी बने रहते थे। उसके एक पत्नी थी जिसका नाम सौम्य-दर्शना था।
>
> उन्हीं दिनों की बात है, शिव पार्वती के साथ कैलास पर विराज रहे थे। म्लेच्छों की यातनाओं से त्रस्त होकर देवता लोग इन्द्र के नेतृत्व में उनके पास गये। जब उन्होंने उनसे उनके आने का कारण पूछा तो उन्होंने उनसे निवेदन किया—"किसी ऐसे को पृथ्वी पर जन्म लेने के लिए भेजिये जो इतना शक्तिशाली हो कि वह म्लेच्छों का सर्वनाश कर सके।"
>
> जब देवता लोग लौट गये तब शिवजी ने अपने गण मलयवत को बुलाया और उससे कहा—"वत्स, मनुष्य का रूप धारण कर उज्जयिनी नगरी में राजा महेन्द्रादित्य के वीर पुत्र के रूप में जन्म लो। उन सब म्लेच्छों को मार डालो जो त्रयी में वर्णित मर्यादा के पालन करने में बाधा डालते हैं। मेरे प्रसाद से तुम पृथिवी के सप्त-खण्डों पर शासन करने वाले राजा होगे और राक्षस, यक्ष और बैताल तुम्हारी महत्ता स्वीकार करेंगे।

---

१. टॉनी और पेंजर संस्करण, लन्दन, १९२८, भाग ९, पृ० २-११; ३४।

और तब महेन्द्रादित्य की पत्नी गर्भवती हुई। और यथा समय उन्होंने एक प्रतिभाशाली पुत्र को जन्म दिया। राजा महेन्द्रादित्य ने उसके विक्रमादित्य तथा विषमशील दो नाम रखे। राजकुमार विक्रमादित्य जब बड़ा हुआ, तब उसका उपनयन संस्कार हुआ और वह पढ़ने के लिए बैठाया गया। अध्यापक लोग तो निमित्त मात्र रहे; उसका ज्ञान निरायास अपने आप बढ़ता गया।

और तब उसके पिता महेन्द्रादित्य ने, यह देख कर कि उसका बेटा जवानी की उमंगों में भरा हुआ है, बहुत वीर है और प्रजा उसको प्यार करती है, विधिवत् उसे अपने राज्य का उत्तराधिकारी बना दिया और स्वयं बूढ़े होने के कारण अपनी पत्नी और मन्त्रियों के साथ शिव की शरण में वाराणसी चला गया।

पिता का राज्य प्राप्त कर राजा विक्रमादित्य सूर्य के प्रखर तेज के समान चमकने लगा। गर्वीले राजाओं ने जब उसके झुके हुए धनुष पर चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा देखी तो उससे सीख ली और स्वयं उसी की तरह झुक गये। बैतालों, राक्षसों और अन्य दैत्यों को अपने अधीन करने के पश्चात् उसने दैवी मर्यादा के साथ उन लोगों का न्यायपूर्वक दमन किया जो कुपथ पर थे। विक्रमादित्य की सेना सूर्य की किरणों के समान प्रत्येक कोने में व्यवस्था का प्रकाश फैलाती घूमती रही।

विक्रमादित्य ने दक्षिण जीता, पश्चिमी सीमा जीती, मध्यदेश और सौराष्ट्र जीता, गंगा का समस्त पूर्वी भूभाग जीता और उत्तरी भूभाग और कश्मीर उसके करद बने। उसने दुर्ग और द्वीप जीते; असंख्य म्लेच्छ मारे गये, जो बचे उन्होंने अधीनता स्वीकार कर ली। अनेक राजा विक्रमशक्ति (विक्रमादित्य का सेनापति, जो दक्षिण तथा अन्य भूभागों पर अधिकार करने के लिए भेजा गया था) के शिविर में आये।

तब राजा विक्रमादित्य विक्रमशक्ति के विजयस्कन्धावार में पधारे और सेनापति अपनी सेना और करद राजाओं के साथ उनकी अगवानी करने आया।

उस समय सभा के प्रतिहारों ने इस प्रकार परिचय कराया—ये हैं गौड़-नरेश शक्तिकुमार, जो आपकी अभ्यर्थना के लिए पधारे हैं। ये हैं कर्नाट नरेश जयध्वज, ये हैं लाट के विजयवर्मन, ये हैं कश्मीर के सुनन्दन, ये हैं सिन्धु-नरेश गोपाल, ये हैं भिल्ल के विन्ध्यबल और ये हैं पारसीक-नरेश निर्मुक। इस प्रकार जब सबका परिचय दिया जा चुका तब सम्राट् ने उन सामन्तों और सैनिकों का समादर और सिंहल की राजकुमारी का स्वागत किया। सिंहल नरेश ने अपनी पुत्री को स्वेच्छया सम्राट् के निमित्त विक्रमादित्य के दूत को भेंट किया था।"

महेन्द्रादित्य, प्रथम कुमारगुप्त की लोक-विश्रुत विरुद है और 'विक्रमादित्य' का उल्लेख विरुद के रूप में स्कन्दगुप्त के कुछ सिक्कों पर मिलता है; इस कारण एलन की धारणा है कि इस कथा का सम्बन्ध इन दोनों पिता-पुत्र से है। इस कथा में कहे गये

म्लेच्छ मिसरी अभिलेख के हूण और जूनागढ़ अभिलेख के म्लेच्छ हैं। उन्होंने इस ओर भी इंगित किया है कि स्कन्दगुप्त वस्तुतः उन्हीं दिनों अपने पिता का उत्तराधिकारी बना जिन दिनों म्लेच्छ देश के विनाश की आशंका उत्पन्न कर रहे थे। अतः एलन के मतानुसार इस कथा में स्कन्दगुप्त और उनके हूण-विजय की स्मृतियाँ सुरक्षित हैं।[१] एलन के इस निष्कर्ष को स्वीकार करते हुए सिनहा (वि० प्र०) का यह भी कहना है कि इस कथा में इस बात का भी संकेत है कि प्रथम कुमारगुप्त ने अपने बेटे स्कन्दगुप्त के पक्ष में राज्य का त्याग किया था। उनकी धारणा है कि यह घटना इतने महत्त्व की थी कि वह लोकश्रुति का अंग बन गयी।[२]

किन्तु इस प्रकार के किसी साहित्य को इतिहास का विश्वस्त सूत्र कहना कठिन है। हो सकता है गुप्त-वंशीय नरेश महेन्द्रादित्य और विक्रमादित्य इस कथा के पीछे हों; पर उन्हें यहाँ प्रथम कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। विक्रमादित्य के विजय की जिस रूप में स्पष्ट चर्चा है वह स्कन्दगुप्त पर तनिक भी घटित नहीं होता। किसी भी गुप्त-सम्राट् के दक्षिण और पश्चिम पर विजय प्राप्त करने की बात तब तक ऐतिहासिक नहीं मानी जा सकती, जब तक हम यह स्वीकार न करें कि इसका प्रच्छन्न संकेत समुद्रगुप्त के दक्षिण अभियान की ओर है। मध्यदेश और सौराष्ट्र प्रथम कुमारगुप्त के शासन काल में ही गुप्त-साम्राज्य में समाविष्ट हो गये थे; गंगा का पूर्वी प्रदेश और उत्तरी भाग द्वितीय चन्द्रगुप्त ने विजय किये थे। कथा में सम्राट के सम्मुख गौड़, कर्णाट, लाट, कश्मीर, सिन्धु और पारसीक-नरेश उपस्थित किये गये हैं। किसी भी ऐतिहासिक सूत्र से फारस के साथ गुप्तों के किसी प्रकार के सम्बन्ध की सूचना प्राप्त नहीं होती। सिन्धु पर गुप्तों का कभी प्रभाव पड़ा ही नहीं; यही बात कर्णाट के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। कश्मीर तक गुप्तों का विस्तार संदिग्ध है। गौड़ ही एक ऐसा प्रदेश है जो यदि पहले नहीं तो विक्रमादित्य के शासन-काल में गुप्त-साम्राज्य का अंग बना था। कथा में सिंहल नरेश द्वारा अपनी पुत्री के भेंट किये जाने की बात कही गयी है। इसका संकेत समुद्रगुप्त के काल में सिंहल से आये दूत की ओर अनुमान किया जा सकता है। इस प्रकार कदाचित् ही कोई ऐसी विजय हो जिसे स्कन्दगुप्त की कही जा सके। शिव ने अपने गण को म्लेच्छ वध के लिए भेजा था और उसने विक्रमादित्य के रूपमें जन्म लिया था इस बात और इस कथन मात्र से कि 'असंख्य म्लेच्छ मारे गये और अन्यों ने अधीनता स्वीकार की" यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि कथा में कथित म्लेच्छ हूण ही हैं।

जान यह पड़ता है कि कथा के रचयिता के मस्तिष्क में गुप्त-सम्राटों की विजय और उनके साम्राज्य की धुँधली-सी कल्पना थी और उसने कुछ राजाओं के नाम सुन रखे थे, उन सबको उसने अपनी कल्पना के सहारे एक सूत्र में पिरो दिया है।

---

१. ब्रि० म्यू० मु० सू०, गु० वं०, भूमिका, पृ० ४९, पा० टि० १।

२. ज० न्यू० सो० इ०, १६, २१२।

चन्द्रगर्भ-परिपृच्छा—चन्द्रगर्भ-परिपृच्छा, एक बौद्ध-महायान ग्रन्थ है जो कंग्यूर में सुरक्षित है और सम्भवतः अभी तक अप्रकाशित है। उसमें से ब्रूस्टन ने अपने "हिस्ट्री आव बुद्धिज्म (बौद्ध-धर्म का इतिहास) में निम्नलिखित कहानी उद्धृत की है[1]—

> राजा महेन्द्रसेन के, जिसका जन्म कौशाम्बी में हुआ था, एक अतुल बलशाली पुत्र था। जब वह १२ वर्ष का था तभी महेन्द्र के राज्य पर तीन विदेशी राजाओं—यवन, पाह्लीक और शकुन ने संयुक्त रूप से आक्रमण किया। ये लोग पहले आपस में लड़ चुके थे। उन्होंने गन्धार और गंगा के उत्तर के भूभाग पर अधिकार कर लिया। महेन्द्रसेन के लड़के ने, जिसका नाम (अथवा जो) दुःप्रसरहस्त था और जिसके शरीर पर अनेक सैनिक-लक्षण थे, अपने पिता से सेना का नेतृत्व करने की अनुमति माँगी। विदेशी राजाओं के अधीन, जिनका नेता यवन (अथवा यौन) था, ३००,००० सेना थी। महेन्द्र के पुत्र ने अपनी २००,००० सेना को ५०० सेनापतियों की अधीनता में जो मन्त्रियों तथा अन्य कट्टर हिन्दुओं के पुत्र थे, विभाजित किया। फिर असाधारण फुर्ती और भयंकर तेजी के साथ उसने शत्रु पर आक्रमण कर दिया। क्रोध में उसके ललाट की नसें तिलक की तरह लगती थीं और शरीर फौलाद बन गया था। राजकुमार ने शत्रु-सेना का तहस नहस कर विजय प्राप्त की। युद्ध से वापस आने पर राजा ने उसे राजगद्दी प्रदान की और कहा "अब तुम राज करो"; और स्वयं धार्मिक जीवन व्यतीत करने लगा। इसके पश्चात् नया राजा विदेशी शत्रुओं से बारह वर्ष तक लड़ता रहा और अन्ततोगत्वा उसने तीनों राजाओं को पकड़ कर मार डाला। तदनन्तर वह जम्बु-द्वीप पर सम्राट् के रूप में शांतिपूर्वक शासन करने लगा।

इस कथा की ओर काशी प्रसाद जायसवाल ने ध्यान आकृष्ट किया है। उनकी धारणा है कि इससे गुप्त वंश के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। वे कथा के राजा महेन्द्रसेन और उसके बेटे की पहचान क्रमशः कुमारगुप्त से और आक्रामक शक्तियों में यवन की हूण (यौन, हुन) से, पाह्लीक की पह्लव (अर्थात् सासानी) से और सकुनों की कुशाणों से करते हैं।[2] कथा में ऐसा कुछ नहीं है जिससे उसकी ऐतिहासिकता या अनैतिहासिकता के सम्बन्ध में कुछ कहा जा सके। जायसवाल के पहचानों के आधार पर कहानी में ऐतिहासिकता के तत्त्व देखे जा सकते हैं पर उससे किसी प्रकार के निष्कर्ष निकालने में अत्यधिक सावधानी की आवश्यकता होगी।

नीतिसार—नीतिसार[3] की रचना कमन्दक ने कब की इस सम्बन्ध में काफी मतभेद है। लोग उनका समय पहली और छठी शती के बीच आँकते हैं। अधिक

---

१. हिस्ट्री ऑव बुद्धिज्म (अंग्रेजी अनुवाद), २, पृ० १७१।

२. इम्पीरियल हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० ३६।

३. राजेन्द्र मित्र संस्करण, कलकत्ता, १८८४; गणपति शास्त्री संस्करण, त्रिवेन्द्रम्, १९१२।

सम्भावना इस बात की प्रकट की गयी है कि यह ग्रन्थ गुप्त काल में, चौथी शती ई० के अन्त में, रचा गया होगा। कतिपय अन्तर्साक्ष्य इस बात का संकेत देते हैं कि यह द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय की रचना होगी। काशी प्रसाद जायसवाल की धारणा है कि चन्द्रगुप्त के अमात्य शिखरस्वामिन् ने इसे छद्मनाम से लिखा है। अस्तु,

जिस प्रकार कौटिल्य के अर्थशास्त्र की रचना ऐसे समय हुई थी जब मौर्य सदृश एक साम्राज्य का देश के अधिकतम भाग पर अधिकार था। उसी प्रकार गुप्त-काल के लिए भी एक ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता थी; और उसी काम को कमन्दक ने इस ग्रन्थ में पूरा किया है। यह ग्रन्थ बहुत कुछ तो कौटिल्य के अर्थशास्त्र पर ही आधारित है। कमन्दक ने इस बात को अत्यन्त स्पष्टता के साथ स्वीकार किया है। फिर भी यह उससे बहुत कुछ भिन्न है। कमन्दक ने समय की आवश्यकता के अनुसार अथवा तत्कालीन प्रचलित व्यवहार के आधार पर अनेक नयी बातें भी कही हैं। अतः इस ग्रन्थ का सहज उपयोग गुप्तकालीन राजशास्त्र और शासन-व्यवस्था के अध्ययन के निमित्त किया जा सकता है।

मजमल-उत्-तवारीख—मजमल-उत्-तवारीख को तेरहवीं शती ई० में अबुल हसन अली ने फारसी में लिखा था। यह किसी अरबी ग्रन्थ का अनुवाद है, जो मूलतः किसी भारतीय ग्रन्थ का अनुवाद था। इसमें एक कहानी है[1] जिसकी ओर रामगुप्त के प्रसंग में अल्तेकर (अ० स०) ने ध्यान आकृष्ट किया है। कहानी इस प्रकार है—

> रव्वाल (रामगुप्त) और बर्कमारीस (विक्रमादित्य—द्वितीय चन्द्रगुप्त) परस्पर भाई-भाई थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् ज्येष्ठ भाई रव्वाल राजगद्दी पर बैठा। आगे कथा इस प्रकार है—एक राजा के अत्यन्त बुद्धमती पुत्री थी। सभी हिन्दू राजाओं और राजकुमारों ने उससे विवाह करने की इच्छा प्रकट की पर बर्कमारीस के अतिरिक्त अन्य कोई उसे पसन्द नहीं आया। क्योंकि वह अत्यन्त सुन्दर था। जब बर्कमारीस उसे घर ले आया तो उसके भाई ने उससे कहा, जिस प्रकार वह तुम्हें पसन्द है, उसी प्रकार वह मुझे भी पसन्द है। और उसने राजकुमारी को उसकी दासियों सहित ले लिया। बर्कमारीस ने सोचा—"सुन्दरी ने मुझे मेरी बुद्धिमत्ता के कारण वरा था, इस कारण बुद्धि से बढ़ कर कुछ नहीं है"। और वह अध्ययन में जुट गया। वह विद्वानों और ब्राह्मणों के सम्पर्क में रहने लगा और यथासमय ज्ञान में पारंगत होकर अद्वितीय बन बैठा।
>
> उसके पिता के समय के एक विद्रोही ने जब उस राजकुमारी की कहानी सुनी तो बोला—"जो व्यक्ति ऐसा करता है वह राजपद के सर्वथा अयोग्य है।" और वह सेना लेकर रव्वाल के विरुद्ध चल पड़ा। रव्वाल अपने भाइयों और सामन्तों को लेकर एक ऊँची पहाड़ी पर चला गया जहाँ एक सुदृढ़ दुर्ग था। वहाँ

---

१. इलियट और डाउसन, हिस्ट्री ऑव इण्डिया ऐज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स, १, पृ० ११०-१११।

चारों ओर पहरा बैठा कर वह अपने को सुरक्षित समझने लगा। किन्तु शत्रु ने अपने कौशल से पर्वत पर अधिकार कर दुर्ग को घेर लिया और वह उस पर अधिकार करने ही वाला था।

रुखाल ने जब यह देखा तो उसने सन्धि प्रस्ताव भेजा। शत्रु ने कहलाया—उस युवती को मेरे पास भेजिये और अपने सामन्तों से भी कहिये कि वे भी अपनी एक-एक लड़की भेजें। मैं उन लड़कियों को अपने अधिकारियों को दूँगा। तभी मैं लौट कर जाऊँगा। रुखाल यह सुनकर बहुत हताश हुआ। उसके सफर नामक एक मन्त्री था जो आँख का अन्धा था। उसने उससे सलाह ली कि क्या किया जाय। उसने सलाह दी कि अभी तो औरतें देकर जीवन रक्षा की जाय। उसके बाद शत्रु के विरुद्ध किसी कारवाई की बात सोची जायेगी। यदि जान ही चली गयी तो औरत, बच्चे, धन इन सब की उपयोगिता ही क्या रही। और रुखाल ने इसी सलाह के अनुसार करने का निश्चय किया।

तभी बर्कमारीस आ गया और अभिवादन करके बोला—"महाराज, आप और मैं, दोनों ही एक ही पिता के पुत्र हैं। यदि आप अपना मन्तव्य प्रकट करें तो कदाचित् मैं कोई सुझाव दे सकूँ। यह मत सोचिये कि मैं नादान हूँ।" जब लोगों ने उसे वस्तुस्थिति बतायी, तो उसने कहा—"मेरे लिये यही उचित है कि महाराज के लिए मैं स्वयं अपना जीवन संकट में डालूँ। आप मुझे नारी-वेश धारण करने की अनुमति दें और अपने सभी अधिकारियों को भी इसी तरह अपने पुत्रों को नारी-वेश में उपस्थित करने को कहें। प्रत्येक व्यक्ति अपने जूड़े में एक कटार छिपा ले और अपने साथ छिपा कर एक दुन्दुभी भी ले ले। इस प्रकार इस रूप में हम सब को शत्रु राजा के पास भेज दीजिये। जब हम सब राजा के सम्मुख उपस्थित किये जायेंगे तो मेरे साथी उससे कहेंगे कि मैं ही वह सुन्दरी हूँ। वह मुझे अपने पास रख लेगा और अन्यों को अपने अधिकारियों में बाँट देगा। जब राजा मुझे लेकर अन्तःपुर में जायेगा और हम दोनों एकान्त में होंगे, मैं उसके पेट में कटार भोंक दूँगा और दुन्दुभिनाद करूँगा। जब अन्य युवक उसे सुनेंगे तो उन्हें ज्ञात हो जायगा कि मैंने अपना काम कर लिया, वे भी अपना काम करें। इस प्रकार हम लोग सेना के सारे अधिकारियों को मार डालेंगे। आप भी तैयार रहें, जब आप दुन्दुभी की आवाज सुनें अपनी सेना लेकर धावा बोल दें। इस तरह हम शत्रु को मार भगायेंगे"। रुखाल यह सुन कर प्रसन्न हुआ और उसके कहे अनुसार किया। योजना सफल हुई और शत्रु का एक आदमी भी भाग न सका। सब कत्ल कर पहाड़ से नीचे फेंक दिये गये।

इस घटना से जनता में बर्कमारीस की प्रतिष्ठा बढ़ गयी और उसी अनुपात में रुखाल की प्रतिष्ठा का ह्रास हुआ। अतः मन्त्री ने बर्कमारीस के विरुद्ध राजा के सन्देह को उभारा। अपनी भाई की बुरी नियत जान कर बर्कमारीस बहुत डरा और पागल बन गया। गर्मी के दिनों में एक दिन बर्कमारीस नंगे पैरों सड़क

पर घूमता हुआ राजद्वार पर आया। कोई बाधा न देख कर अन्दर घुसा और राजा तथा उस सुन्दरी को सिंहासन पर बैठ कर गन्ना चूसते देखा। जब ग्वाल ने उसे देखा तो उसे उस पर दया आ गयी। उसे भी उसने गन्ने का एक टुकड़ा दे दिया। पागल ने उसे ले लिया और शंख का एक टुकड़ा उठा कर उससे गन्ने को छीलने का प्रयत्न करने लगा। राजा ने जब देखा कि वह गन्ना छीलना चाहता है तो उसने सुन्दरी से उसे एक चाकू दे देने को कहा। उसने उठ कर बर्कमारीस को एक चाकू दे दिया। वह चाकू लेकर गन्ना छीलता रहा। जब उसने देखा कि राजा असावधान हो गया है तो वह उस पर टूट पड़ा और उसके पेट में छुरी भोंक दी। फिर टाँग पकड़ कर सिंहासन से नीचे ढकेल दिया। और मन्त्री तथा जनता को बुलाकर स्वयं सिंहासन पर बैठ गया। उसने राजा का दाह-संस्कार कराकर सुन्दरी से विवाह कर लिया।

यह कथा देवीचन्द्रगुप्तम् से ज्ञात तथ्यों का समर्थन करती है।

तहकीक-उल-हिन्द—ग्यारहवीं शती के आरम्भ में अल-बेरूनी नामक एक गजनीनिवासी भारत आया था। अपनी उस यात्रा में उसने जो कुछ भी देखा-सुना, उसका उसने अपनी पुस्तक तहकीक-उल-हिन्द में वर्णन किया है। सचाऊ ने इस ग्रन्थ का अलबेरूनी कालीन भारत (अलबेरूनीज इण्डिया) नाम से अंग्रेजी में अनुवाद प्रस्तुत किया है। अलबेरूनी ने इस ग्रन्थ में एक स्थान पर भारत में प्रचलित संवत्सरों का उल्लेख किया है। उसमें गुप्त सम्वत् और उसके आरम्भ के सम्बन्ध में कुछ सूचनाएँ दी हैं। इस अंश का जो अनुवाद सचाऊ ने प्रस्तुत किया है वह अधिक विश्वसनीय नहीं है। अतः फ्लीट ने इस अंश का अनुवाद विलियम राइट से कराया है और अधिक प्रामाणिक है। राइटकृत अनुवाद[१] का अनुवाद इस प्रकार है—

"और इस कारण उन लोगों ने उन्हें त्याग कर श्रीहर्ष, विक्रमादित्य, शक, वलभी और गुप्तों के संवत् अपनाये......और जहाँ तक वलभी सम्वत् की बात है, उसका आरम्भ शक संवत् से २४१ वर्ष पीछे का है। जो लोग उसका प्रयोग करते हैं वे शक संवत् (वर्ष) लिख कर उसमें ६ का घन (६ × ६ × ६) और ५ का वर्ग (५ × ५) घटा देते हैं और वही वलभी सवत् होता है......और गुप्त संवत् के सम्बन्ध में कहा जाता है कि (इस वंश के) लोग अत्यन्त दुष्ट जाति के और बलवान थे; अतः जब वे समाप्त हो गये, तो लोग उनसे गणना करने लगे। और ऐसा जान पड़ता है इनमें वलभी अन्तिम थे। इस कारण इस संवत् का आरम्भ भी शक संवत् से २४१ (वर्ष) पीछे है। ज्योतिषियों का सम्वत् शक संवत् से ४८७ वर्ष बाद का है और उस पर ब्रह्मगुप्त का ज्योतिष ग्रन्थ खण्डकटक आधारित है। उसे हम लोग अल-अरकन्द के नाम से जानते हैं। इस प्रकार श्रीहर्ष संवत् का १४८८ वर्ष उस यजूदगर्ज वर्ष के बराबर है जिसे हमने मिसाल के लिए चुना है। इसी प्रकार वह विक्रम सवत्

---

१. का० इ० इ०, ३, पृ० २९।

के १०८८ वर्ष और शक संवत् के ९५३ वर्ष और वलभी के, जो गुप्त संवत् भी है, ७१२ वर्ष के समान है।"

चीनी वृत—भगवान बुद्ध का देश होने के कारण प्राचीन काल में भारत चीनी बौद्धों के लिए पवित्र भूमि थी और वे आरम्भ काल से ही यहाँ तीर्थ-यात्रा के निमित्त आते रहे हैं। इन चीनी-यात्रियों में से अनेक ने भारत और उसकी सामाजिक-धार्मिक अवस्था के सम्बन्ध में अपने-अपने संस्मरण लिखे हैं। इतिहास के सम्बन्ध में भी जो कुछ जानकारी उन्हें इस देश में रहते हो पायी, उसे भी उन्होंने उसमें दे दिया है। इस प्रकार ये वृत इतिहास निर्माण के निमित्त बड़े काम के हैं। इनमें से फा-ह्यान, वांग ह्वेन-त्से, युवांग-च्वांग (हुयेन-सांग) और ईत्सिग के वृत गुप्त-कालीन इतिहास के निमित्त अपना महत्त्व रखते हैं।

फा-ह्यान—फा-ह्यान शान-सी प्रदेश के वु-युंग नामक स्थान का निवासी था। कहा जाता है कि वह तीन वर्ष की ही अवस्था में श्रमण हो गया था। वह ३९९ ई० में चांग-अन से चला और द्वितीय चन्द्रगुप्त के राज्य-काल में भारत में दस वर्ष से अधिक काल तक (४००-४११ ई०) घूमता रहा। उसने इस देश के शासन और सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में जो विवरण दिया है वह मनोरंजक और मूल्यवान है। किन्तु वह अपनी धार्मिक टोह में इतना लीन था कि देश की राजनीतिक अवस्था की ओर उसने तनिक भी ध्यान नहीं दिया; यहाँ तक कि उसने उस शासक के नामोल्लेख की भी आवश्यकता नहीं समझी, जिसके विस्तृत राज्य में वह पाँच वर्ष से अधिक रहा होगा। इसके बावजूद उसने लोक-जीवन के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह महत्त्वपूर्ण है और यथास्थान उसकी चर्चा की गयी है।

फा-ह्यान के संस्मरण का नाम 'फो-क्यो-की' है। उसका अंगरेजी अनुवाद लेग (जे० एच०) ने १८८६ में किया था जिसे आक्सफोर्ड ने 'रेकर्ड आव द बुद्धिस्टिक किंगडम्स' नाम से प्रकाशित किया है। १९२३ ई० में एक दूसरा अनुवाद 'ट्रेवेल आव फा-ह्यान ऑर रेकर्ड आव बुद्धिस्टिक किंगडम' नाम से कैम्ब्रिज से प्रकाशित हुआ। तदनन्तर 'रेकर्ड आव दि बुद्धिस्टिक कण्ट्री' नाम से तीसरा अनुवाद १९५७ ई० में पेकिंग से निकला।

वांग-ह्वेन-त्से—वांग-ह्वेन-त्से सातवीं शती ई० में भारत आया था। उसके संस्मरण 'फा-युयान-चु-लिन' में उपलब्ध हैं। उसका केवल एक अनुच्छेद हमारे उपयोग का है जो इस प्रकार है—

> चान त्जेन (सिंहल) के राजा चि-पुइया-किया-पो-मो ने दो भिक्षुओं को बोधि-वृक्ष के निकट स्थित अशोक विहार भेजा। वे थे मो-हो-नाम (महानाम) और और आयो-पू। उन लोगों ने बोधि वृक्ष के नीचे वज्रासन की अभ्यर्थना की पर लोगों ने उन्हें वहाँ विहार में ठहरने न दिया। इस प्रकार भारत में उनकी जो दुर्दशा हुई, उसे उन्होंने लौट कर चेन-त्जेन (सिंहल) नरेश को सुनाया। उनकी

बातें सुन कर राजा ने उन्हें सम्राट् सन-म्योन-तो-लो-क्यु-तो के पास भेंट स्वरूप बहुमूल्य रत्न देकर भेजा।[१]

कहा जाता है कि इस अनुच्छेद में उल्लिखित सम्राट् सन-म्योन-तो-लो-क्यु-तो समुद्रगुप्त हैं।

युवान-च्वांग—युवान च्वांग (इसे लोग ह्वेनसांग भी कहते हैं) हर्षवर्धन के राजकाल (६०६-६४८ ई०) में भारत आया था और पन्द्रह वर्ष तक यहाँ रहा और लगभग सारे देश में घूमा। उसके संस्मरण 'सि-यु-की' में सुरक्षित हैं। कहा जाता है कि इसे युवान-च्वांग ने स्वयं लिखा था; किन्तु अधिक सम्भावना इस बात की है कि उसे उसके नोटों के आधार पर उसके किसी शिष्य ने तैयार किया है। उसके दो अन्य शिष्यों—ह्वी-ली और ताओ-सी-यन ने भी अपने गुरु के मुख से सुने विवरण को लिपिबद्ध किया था। ह्वी-ली का विवरण 'युवान-च्वांग चरित' नाम से और ताओ-सी-यन का 'शे-किया-फंग-चे' के नाम से प्रसिद्ध है। इन ग्रन्थों के आधार पर युवान-च्वांग के संस्मरण बील (एस०) ने 'सि-यु-की, बुद्धिस्ट रेकर्ड्स ऑव द वेस्टर्न वर्ल्ड' तथा 'लाइफ आफ ह्वेन-सांग' नाम से और वाटर्स (टी०) ने 'ऑन युवान-च्वांग्स ट्रैवेल्स इन इण्डिया' नाम से अंगरेजी में और जूलिया (एस०) ने 'मेमायर्स सुर ले कांत्रीस आक्सीदेन्तेल' नाम से फ्रेंच में प्रकाशित किया है।

युवान-च्वांग के संस्मरण में गुप्तकालीन राजनीतिक इतिहास की काफी सामग्री है। उसके कुछ विशेष महत्त्व के अवतरण यहाँ दिये जा रहे हैं।

(१) बोधि-वृक्ष के उत्तर सांग-किया-लो नामक एक पूर्ववर्ती राजा ने एक विहार बनवाया था। उस राजा का भाई तीर्थ-यात्रा पर भारत आया था। उस समय उसके साथ अत्यन्त उपेक्षा का व्यवहार किया गया। स्वदेश लौट कर उसने राजा से भारत में कुछ विहार बनवा देने को कहे ताकि उस देश में सिंहली भिक्षुओं को अच्छी सुविधा उपलब्ध हो सके। तब उस राजा ने भारत के राजा के पास अपने देश के सभी रत्न भेंटस्वरूप भेजे; फिर सिंहली भिक्षुओं के लिए भारत में एक विहार बनाने को आज्ञा माँगी। भारतीय नरेश ने संग-किया-लो (सिंहल) नरेश को उन स्थानों में से जहाँ तथागत ने अपने प्रवचनों के चिह्न छोड़े थे, किसी एक जगह अपना विहार बनाने की अनुमति दी, तदनुसार विहार के लिए बोधिवृक्ष के निकट वाले भूभाग में उपयुक्त स्थान चुना गया और बनाया गया।[२]

इस अवतरण का उल्लेख वांग-ह्वेन-त्से के अवतरण के साथ किया जाता है और समझा जाता है कि इसका सम्बन्ध समुद्रगुप्त के समय से है।

---

१. फ-यउन-चु-लिन, अध्याय २९, पृ० ९७४, स्तम्भ २; ले मिशन द वांग ह्वेन-त्से 'दान ल' इन्द, (जू० ए०, १९००, मार्च-जून)।

२. सि-यू-की, अध्याय ८, बीलकृत अनुवाद पृ० १३३-३५।

(२) कुछ शताब्दी हुए, मो-हि-लो-कियु-लो (मिहिरकुल) नामक एक राजा था जिसने इस नगर पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था और भारत पर शासन करता था। वह मेधावी और वीर था। उसने बिना किसी भेदभाव के सभी पड़ोसी राज्यों को अपने अधीन कर लिया था। अवकाश के क्षणों में उसे फू-फा (बुद्ध) के धर्म को जानने की इच्छा हुई। उसने आदेश दिया कि उच्चकोटि के विद्वान धर्माचार्यों में से एक मेरे पास लाया जाय। किसी भी धर्माचार्य को उसके सामने जाने का साहस नहीं होता था। जिनको साहस था उनकी आवश्यकताएँ कुछ न थीं और वे सन्तुष्ट थे; उन्हें सम्मान की परवाह न थी। जो लोग उच्चकोटि के विद्वान और ख्याति प्राप्त थे, वे राजा के दान को हेय समझते थे। उन्हीं दिनों राजा के यहाँ एक पुराना भृत्य था जो बहुत दिनों तक धार्मिक वस्त्र धारण कर चुका था। वह अच्छी योग्यता रखता था, शास्त्रार्थ कर सकता था और वाक्पटु भी था। राजा के आदेश पालन में धर्माचार्यों ने उसे ही सामने कर दिया। यह देख कर राजा बोला—फू-फा (बुद्ध) के धर्म के प्रति मेरे मन में आदर रहा है। मैंने किसी ख्यातमना धर्माचार्य को (शिक्षा देने के निमित्त) बुलाया था। संघ ने मुझसे शास्त्रार्थ करने के लिए इस सेवक को भेजा है। मैं तो समझता था कि धर्माचार्यों में ऊँची योग्यता के लोग होंगे; लेकिन आज जो देख रहा हूँ, उसको देख कर धर्माचार्यों के प्रति अब मेरी क्या श्रद्धा हो सकती है? और उसने तत्काल आदेश दिया कि पाँचो भारत के सभी धर्माचार्य नष्ट कर दिये जायँ; फू-फा (बुद्ध) के धर्म को मिटा दिया जाय। उनका कोई भी चिह्न शेष न रहे।

मा-को-त (मगध) नरेश पो-लो-नाति-ता वाग (बालादित्य राज) फू-फा (बुद्ध) धर्म का बड़ा समादर करता और अपनी प्रजा का कोमलता के साथ पालन करता था। उसने जब ता-त्सु (मिहिरकुल की एक उपाधि) के इस क्रूर संहार और अत्याचार का समाचार सुना तो उसने अपने राज्य की सीमाओं के सतर्क देख-भाल की व्यवस्था की और कर देना बन्द कर दिया। तब ता-त्सु (मिहिरकुल) ने उसके इस विद्रोह का दमन करने के लिए सेना तैयार की। पो-लो-ना-ति-ता-वांग (बालादित्य राज) ने अपनी शक्ति को जानकर मन्त्रियों से कहा—"सुनता हूँ कि ये डाकू आ रहे हैं और मैं उनसे लड़ नहीं सकता। यदि मन्त्रियों की राय हो तो मैं झाड़ियां वाले दलदल में छिप जाऊँ।"

यह कह कर वह महल छोड़ कर पहाड़ों, रेगिस्तानों में घूमता फिरा। राज्य के लोग उसे बहुत चाहते थे। उसके अनुयायियों की संख्या कई हजार थी जो उसके साथ भाग आये थे। वे लोग समुद्र के बीच एक द्वीप में छिप गये।

ता-त्सु (मिहिरकुल) सेना अपने अनुज को सौंप कर स्वयं पो-लो-ना-ति-ता (बालादित्य) पर आक्रमण करने समुद्र में घुसा। राजा ने संकीर्ण प्रवेश द्वार की सुरक्षा की व्यवस्था कर शत्रु को लड़ने के लिए उत्तेजित करने के निमित्त

थोड़ी-सी सेना भेज दी। फिर उसने अपना सुनहला नगाड़ा बजाया और उसके सैनिक चारों ओर से उमड़ पड़े और ता-त्सु (मिहिरकुल) को जीवित पकड़ कर उसके सामने ले आये।

राजा ता-त्सु (मिहिरकुल) ने अपनी पराजय से भयभीत होकर कपड़े से अपना मुँह ढक लिया। पो-लो-ना-ति-ता (बालादित्य) अपने मन्त्रियों से घिरा हुआ सिंहासन पर बैठा और एक को राजा से मुँह खोलने को कहने का आदेश दिया और कहा कि मैं उससे बात करना चाहता हूँ।

ता-त्सु (मिहिरकुल) ने उत्तर दिया—प्रजा और स्वामी का स्थान बदल गया। शत्रु एक दूसरे को देखें, यह व्यर्थ-सी बात है। बातचीत के बीच मेरा मुख देखने में लाभ भी क्या है?

तीन बार आदेश देने पर भी जब मुख खुलवाने में उसे सफलता न मिली तब उसने उसको उसके अपराधों के लिए दण्ड देने की घोषणा की। कहा—'समादर की तीन बहुमूल्य वस्तुओं से संश्लिष्ट धर्म-लाभ का क्षेत्र लोक वरदान है। इसकी तुम ने उपेक्षा की है और उसे वन-पशु की भाँति तहस-नहस कर डाला। तुम्हारा धर्म का घड़ा अब रीत गया, भाग्य ने तुम्हारा साथ छोड़ दिया। तुम अब मेरे कैदी हो। तुम्हारे अपराध ऐसे हैं कि वे किसी प्रकार भी क्षमा नहीं किये जा सकते। अतः तुम्हें मृत्यु-दण्ड दिया जाता है।'

पो-लो-ना-ति-ता (बालादित्य) की माँ ज्योतिष में निष्णात और बुद्धिमत्ता के लिए चतुर्दिक विख्यात थीं। जब उन्होंने सुना कि लोग ता-त्सु (मिहिरकुल) की हत्या करने जा रहे हैं तो उन्होंने पो-लो-ना-ति-ता-वाँग (बालादित्य राज) से कहा—'सुना है कि ता-त्सु (मिहिरकुल) अत्यन्त सुन्दर और बुद्धिमान है। मैं उसे एक बार देखना चाहती हूँ।'

याउ-जिह (बालादित्य) ने तत्काल राजमहल में माँ के सामने ता-त्सु (मिहिरकुल) को उपस्थित करने का आदेश दिया। माँ ने कहा—'ता-त्सु! (मिहिरकुल), लज्जित न हो। सांसारिक वस्तुएँ नश्वर हैं। जय और पराजय परिस्थितियों के अनुसार आती-जाती रहती है। मैं तुम्हारी माँ हूँ, तुम मेरे बेटे। मुँह पर से कपड़ा हटा कर मुझसे बोलो।

ता-त्सु (मिहिरकुल) बोला—थोड़ी देर पहले मैं एक शत्रु देश का राजा था। अब मृत्यु-दण्ड प्राप्त बन्दी हूँ। मैंने अपनी राज-सम्पत्ति खो दी अब मैं अपने धार्मिक कृत्य भी करने में असमर्थ हूँ। मैं अपने पूर्वजों और अपनी जनता दोनों के सम्मुख लज्जित हूँ। वस्तुतः मैं स्वर्ग और पृथ्वी दोनों पर रहने वाले सभी लोगों के सम्मुख लज्जित हूँ। मेरी मुक्ति का कोई मार्ग शेष नहीं है। इसीलिए मैंने अपना मुख अपने वस्त्रों से ढक रखा है।

राजमाता बोलीं—समृद्धि और दारिद्र्य समय की बात है; हानि-लाभ की बारी आती-जाती है। यदि तुम अवसर चूके तो हारे; यदि तुम परिस्थिति से ऊपर

उठते हो तो भले ही गिरो पर फिर उठ सकते हो। विश्वास करो, कर्म का फल अवसर के अनुसार होता है। मुख खोलो और मुझ से बात करो। कदाचित् मैं तुम्हारी जीवन रक्षा कर सकूँ।

ता-त्सु (मिहिरकुल) ने क्षमायाचना करते हुए कहा—शासन की समुचित क्षमता न रखते हुए मैंने राज्य प्राप्त किया। इसी कारण दण्ड देने में मैंने राज्याधिकार का दुरुपयोग किया; और इसी कारण मैंने राज्य भी खोया। यद्यपि मैं बन्दी हूँ, तथापि जीना चाहता हूँ; भले ही वह एक ही दिन के लिए हो। आपने सुरक्षा की जो बात कही है, उसकी कृतज्ञता मुँह खोल कर व्यक्त करूँगा। और उसने वस्त्र हटा कर अपना मुँह दिखाया।

राजमाता ने कहा—मेरा लाल भाग्यशाली है। वह अपना समय पूरा करके ही मृत्यु को प्राप्त होगा। और तब उन्होंने याउ-जिह-वांग (राजा बालादित्य)से कहा—तुम्हारे पुराने विधान के अनुसार अपराध क्षमा करना पुण्य है और जीवन दान करना प्रेम। यद्यपि ता-त्सु वांग (राजा मिहिरकुल) के पाप चिरसंचित हैं, तथापि उसके पुण्य के फल समाप्त नहीं हुए हैं। यदि तुम इसकी हत्या करते हो तो बारह वर्ष तक तुम इसके पीत मुख को अपने सामने देखते रहोगे। उसका भाग्य बताता है कि वह एक छोटे से प्रदेश का राजा होगा। उत्तर में कोई छोटी सी जगह उसे राज्य करने के लिए दे दो।

अपनी माँ की आज्ञा मान कर याउ-जिह-वांग (राजा बालादित्य) ने राज्य से वंचित राजा पर दया दिखाई; एक कुमारी से उसका विवाह कर दिया और उसके साथ अत्यधिक सद्भावना का व्यवहार किया। फिर उसकी बची खुची सेना को एकत्र कर एक संरक्षण दल के साथ द्वीप से उसे विदा किया।

ता-त्सु-वांग (मिहिरकुल) का भाई लौट कर स्वयं राजगद्दी पर बैठ गया था। इस प्रकार अपना राज्य खोकर ता-त्सु-वांग (राजा मिहिरकुल) द्वीपों और रेगिस्तानों में छिपता हुआ उत्तर की ओर जाकर चिया-चे-मि-लो (कश्मीर) में शरण ली। चिया-चे-मि-लो (कश्मीर) नरेश ने उसका समादर किया और उसकी स्थिति से द्रवित होकर उसे एक छोटा राज्य और एक नगर शासन करने के निमित्त दे दिया। कुछ दिनों के बाद ता-त्सु (मिहिरकुल) ने नगर के लोगों को विद्रोह करने के लिए उभारा और चिया-चे-मि-लो (कश्मीर) के राजा को मार डाला और स्वयं गद्दी पर बैठ गया। इस विजय से लाभ उठाकर, वह पश्चिम की ओर गया और चियेन-ता-लो के राज्य के विरुद्ध षड्यन्त्र किया। उसने कुछ सिपाहियों को उपद्रव करने में लगा दिया और फिर वहाँ राजा को पकड़ कर मार डाला। राजपरिवार और प्रधान मन्त्री को निष्कासित कर दिया, स्तूपों को गिरा दिया, विहारों को नष्ट कर डाला। इस प्रकार उसने १६०० धर्मस्थानों का विनाश किया। जिन लोगों को उसके सैनिकों ने मार डाला था, उनके अतिरिक्त नौ लाख ऐसे लोग थे जिनको वह मार डालने की बात कर रहा था। तब मन्त्रियों ने

उससे विनय किया—महाराज, आपकी शक्ति ने महान् विजय प्राप्त की और हमारे सैनिक अब युद्ध रत नहीं हैं। आपने राजा को दण्डित कर ही दिया। अब बेचारी प्रजा को किस अपराध के लिए दण्डित कर रहे हैं। उनके स्थान पर हम नगण्य को मार डालिये।

राजा बोला—तुम लोग फू-फा (बुद्ध) के धर्म में विश्वास करते हो और तुम्हारे मन में पुण्य के अदृश्य नियम के प्रति श्रद्धा है तुम्हारा लक्ष्य बुद्धत्व प्राप्त करना है। उस समय तुम लोग भावी पीढ़ी की भलाई के लिए जातक के रूप में मेरे कुकृत्यों का बखान करोगे। अपने-अपने घर जाओ। इस पर कुछ मत कहो।

तदनन्तर उसने सिन-तु (सिन्धु) तट पर प्रथम श्रेणी के तीस हजार व्यक्तियों को कत्ल कर डाला, उतने ही द्वितीय श्रेणी के लोगों को नदी में डुबा दिया और तृतीय श्रेणी के उतने ही लोगों को सैनिकों में बाँट दिया। तब विनष्ट देश की सम्पत्ति को लेकर अपनी सेना के साथ लौटा। पर वर्ष भी बीत न पाया कि वह मर गया। उसकी मृत्यु के समय बिजली कड़की, ओले गिरे, अन्धकार छा गया; पृथ्वी हिल उठी, भयंकर तूफान आया। तब धर्मात्माओं ने दयार्द्र होकर कहा—असंख्य लोगों की हत्या करने और फू-फा (बुद्ध) के धर्म के विनाश करने के कारण वह रसातल नरक में गया, जहाँ असंख्य कल्प तक पड़ा रहेगा।[१]

इस कथा का सम्बन्ध इतिहासकार गुप्त नरेश नरसिंहगुप्त बालादित्य और हूण राजा मिहिरकुल से जोड़ते हैं।

(३) युवांग-च्वांग ने नालन्द के सम्बन्ध में एक अनुश्रुति दी है कि ५०० वणिकों ने एक लाख सुवर्ण मूल्य पर नालन्द की भूमि क्रय की और उसे बुद्ध को भेंट किया। उन्होंने वहाँ तीन मास तक धर्म प्रवर्तन किया और वणिक लोगों ने अर्हतपद प्राप्त किया। तदनन्तर युवांग-च्वांग ने नालन्द स्थित विभिन्न भवनों का उल्लेख करते हुए बताया है कि—

"बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् इस देश के एक पूर्ववर्ती राजा शक्रादित्य ने बुद्ध के प्रति श्रद्धाभाव रखने के कारण इस संघाराम को बनवाया। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके लड़के बुधगुप्तराज ने राजगद्दी पर अधिकार किया और विशाल राज्य का शासन करते रहे। उन्होंने दक्षिण की ओर दूसरा संघाराम बनवाया। तदनन्तर उनके लड़के (उत्तराधिकारी) तथागतराज ने एक संघाराम पूर्व की ओर बनवाया। तदनन्तर उनके लड़के (अथवा प्रत्यक्ष उत्तराधिकारी) बालादित्य ने उत्तर-पूर्व की ओर एक संघाराम बनवाया। उसके बाद का राजा चीन देश से आये हुए कुछ भिक्षुओं को अपने पास दान प्राप्त करने के निमित्त आया देख कर प्रसन्न हुआ और राजपाट त्याग कर भिक्षु बन गया। उसका बेटा वज्र गद्दी पर बैठा और उसने उत्तर की ओर एक दूसरा संघाराम बनवाया। इसके बाद

१. वही। ताइशो त्रिपिटक, नं० २०८७, पृ० ८८८-८८९।

मध्यदेश के एक राजा ने इसके बगल में एक दूसरा संघाराम बनवाया। इस प्रकार छः राजाओं ने संलग्न परम्परा में इन भवनों का विस्तार किया।[१]

'कि-यू-की' के इस अवतरण के आधार पर, कुछ लोगों ने स्कन्दगुप्तोत्तर गुप्त-वंशीय उत्तराधिकार का निश्चय करने की चेष्टा की है। किन्तु 'शे-किया-फांग-चे' में इस सम्बन्ध का युवान-च्वांग कथित जो विवरण उपलब्ध है, उसमें नालन्द स्थित संघारामों के दाताओं मात्र का उल्लेख है। उसमें उनके उत्तराधिकार जैसी कोई चर्चा नहीं है। इसका सम्बद्ध अवतरण इस प्रकार है :

> पूर्ववर्ती और परवर्ती काल में पाँच राजाओं ने इस (नालन्द स्थित संघाराम) बनाने में योग दिया। पहला शक्रादित्य था······उसने इस संघाराम को बनवाना आरम्भ किया। दूसरा राजा बुधगुप्त था······तीसरा तथागत गुप्त था······चौथा बालादित्य था······और पाँचवाँ वज्र।

इस सूची से दाताओं की केवल क्रमागत अवस्था ज्ञात होती है कि वे एक के बाद एक आये। उनमें परस्पर क्या सम्बन्ध था इसके सम्बन्ध में इससे कोई धारणा नहीं बनाई जा सकती। हो सकता है कि इनके बीच कुछ ऐसे भी राजा हुए हों जिन्होंने संघाराम के निर्माण में कोई रुचि न ली हो और इस कारण उनका नाम नहीं है।

ईत्सिंग—बौद्ध धर्म के अवशेषों की अभ्यर्थना करने के लिए सैंतीस बौद्धों के साथ ईत्सिंग ६७१ या ६७२ ई० में भारत आया था। ७०० और ७१२ ई० के बीच किसी समय उसने २५० अध्यायों में ५६ ग्रन्थों को प्रस्तुत किया। इन ग्रन्थों में एक का नाम है—काउ-फा-काओ-सांग-चुन। इसमें ५६ बौद्धों के विवरण हैं जो ६२७ और ६७२ ई० के बीच भारत आये थे। इन यात्रियों में एक ह्वेन-लुन था। उसका भारत आगमन ६५०-६७० ई० के बीच अनुमान किया जाता है। उसके विवरणों का निम्नलिखित अंश महत्त्वपूर्ण और हमारे लिए उपयोगी है—

> वह अमरावत देश के शिन-चा नामक विहार में दस बरस रहा। वहाँ से वह पूरब की ओर चला और ताउ-हो-लोत्से विहार में गया जो उत्तर भारत में था। इस मन्दिर को मूलतः ताउ-लो-लो (तुखारी) लोगों ने अपने देशवासियों के रहने के लिए बनवाया था। यह विहार बहुत ही समृद्धिशाली है और खाने-पीने की सभी चीजें मिलती हैं और रहने का सभी तरह का आराम है। इसका मुकाबला कोई दूसरा विहार नहीं कर सकता। इस मन्दिर को गन्धारछन्द कहते हैं। इस मन्दिर के पश्चिम एक दूसरा मन्दिर है, जो कपिशा देश में है। यह हीनयान के अनुयायियों की शिक्षा के लिए प्रख्यात है। उत्तर के बौद्ध भिक्षु भी यहाँ रहते हैं। इस मन्दिर का नाम गुणचरित है। महाबोधि (उपर्युक्त मन्दिर) के उत्तर पूर्व लगभग दो पड़ाव आगे चालुक्य नामक दूसरा मन्दिर है। अभी कुछ ही समय पहले इस पुराने मन्दिर के बगल में जिह-क्वान (आदित्यसेन)

---

१. वही।

नामक राजा ने एक नया मन्दिर बनवाया है जो अब पूरा हो रहा है । इसमें उत्तर के बहुत-से भिक्षु रहते हैं । संक्षेप में, (भारत और पड़ोस के) विभिन्न जिलों में भी मन्दिर हैं जो चीन को छोड़ कर अन्य देशों के अपने-अपने वासियों के रहने के लिए बने हैं । इस कारण हम लोगों को आते-जाते समय बहुत कठिनाई होती है । इसके लगभग चालीस पड़ाव आगे पूरब की ओर चल कर हम नालन्द पहुँचे । पहले गंगा के मार्ग से चले और उतर कर हम मृगशिखा-वन मन्दिर पहुँचे । इससे अनतिदूर एक पुराना मन्दिर है, जिसके अब केवल आधार मात्र बच रहे हैं । यह चीनी मन्दिर के नाम से पुकारा जाता है । पुरानी कथा है कि इस मन्दिर को चीनी भिक्षुओं के निमित्त श्रीगुप्त (चे-लि-कि-तो) महाराज ने बनवाया था । उनके समय में लगभग बीस चीनी भिक्षु स्ज-चुयेन से चल कर को-यांग (?) की सड़क से महाबोधि आये और वहाँ अपनी पूजा अर्पित की । उनकी अवस्था देख कर राजा को दया आयी और उन्हें काफी विस्तृत गाँव दिया जहाँ वे रहें और बसें—कुल चौबीस जगहें दीं । जब वे तांग भिक्षु मर गये, तो गाँव और उसकी भूमि विजातियों के हाथ में चली गयी । उस पर अब मृगवन मन्दिर के तीन व्यक्तियों का अधिकार है । यह बात लगभग पाँच सौ वर्ष पहले की है । यह भूभाग अब पूर्व भारत के राजा देववर्मा के राज्य में है । उन्होंने मन्दिर और भूमि को गाँव वालों को दे दिया है ताकि उस पर कुछ व्यय न करना पड़े । अन्यथा यदि चीन से अधिक भिक्षु आयेंगे तो उन्हें इसके लिए व्यय करना पड़ेगा ।

वज्रासन महाबोधि मन्दिर तो वही है जिसे किसी सिंहल नरेश ने बनवाया था और उसमें उस देश के भिक्षु पहले रहते थे । यहाँ से लगभग सात पड़ाव उत्तरपूर्व जाने पर हम लोग नालन्द मन्दिर पहुँचे जिसे पूर्ववर्ती राजा श्री शक्रादित्य ने उत्तरवासी भिक्षु राजभाग के निमित्त बनवाया था । इसे परम्परागत कई राजाओं ने मिल कर बनवाया है और भारत में यह सब से अधिक भव्य है ।[1]

उपर्युक्त अवतरण बील (एस०) के अनुवाद का रूपान्तर है । ईत्सिंग के कृतियों का एक अन्य अनुवाद फ्रेंच में शेवाने (ई०) ने किया है । वह बील के अनुवाद से कुछ थोड़ा भिन्न है ।

---

१. ज० रा० ए० सो०, १८८२, पृ० ७१; इ० ए०, १०, पृ० ११०-१११; लाइफ ऑव ह्वेनसांग, लन्दन, १९११, भूमिका, पृ० ३६ ।

२

वृत्त-सन्धान

वंशावली और राज्यानुक्रम

गुप्त शासकों की चर्चा करने वाले अभिलेख दो प्रकार के हैं : (१) वे जिनमें वंशोद्भवक शासक से लेकर उस राजा तक का वंशक्रम दिया है जिसके काल में वह लिखा गया ; (२) वे, जो किसी गुप्त शासक मात्र का तिथि सहित अथवा बिना तिथि के उल्लेख करते हैं। प्रथम वर्ग के अभिलेख वंशावली सम्बन्धी सूचनाओं के लिए और दूसरे वर्ग के लेख राज्यक्रम सम्बन्धी सूचनाओं के लिए उपयोगी हैं।

भारतीय इतिहास-संधान के आरम्भिक दिनों में, वंशावली देने वाले केवल निम्नलिखित अभिलेख ज्ञात थे :—

१. समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति[1],
२. कुमारगुप्त का बिलसड़ स्तम्भ लेख[2],
३. स्कन्दगुप्त का भितरी स्तम्भ लेख[3],
४. पुरुगुप्त के बेटे का बिहार स्तम्भ लेख[4] (जो उन दिनों स्कन्दगुप्त का समझा जाता था)।

इनमें भितरी स्तम्भ लेख में सबसे लम्बी वंशावली प्राप्त थी और प्रयाग तथा बिलसड़ अभिलेखों में जो कुछ भी वंश के सम्बन्ध में कहा गया था वह सब उसमें उपलब्ध था। बिहार स्तम्भ लेख अत्यधिक विकृत होने के कारण तत्कालीन विद्वानों ने उस पर गम्भीरता के साथ ध्यान नहीं दिया। उनकी दृष्टि में उसमें ऐसा कुछ न था जो भितरी स्तम्भ-लेख में न हो।

भितरी स्तम्भ लेख में वंश-क्रम से निम्नलिखित सात शासकों के नाम हैं—

१. गुप्त ;
२. घटोत्कच (प्रथम का पुत्र) ;
३. चन्द्रगुप्त (द्वितीय का पुत्र);
४. समुद्रगुप्त (रानी कुमारदेवी से उत्पन्न तृतीय का पुत्र) ;
५. चन्द्रगुप्त (द्वितीय) (रानी दत्तदेवी से उत्पन्न चतुर्थ का पुत्र) ;
६. कुमारगुप्त (रानी ध्रुवदेवी से उत्पन्न पंचम का पुत्र) ;
७. स्कन्दगुप्त (षष्ठम का पुत्र)।

---

१. का० इ० इ०, ३, पृ० १; से० इ०, पृ० २५४; पीछे पृ० ५।
२. वही, पृ० ४२; से० इ० २७८; पीछे, पृ० २१।
३. वही, पृ० ५२; से० इ० ३१२; पीछे, पृ० ३३।
४. वही, पृ० ४७; से० इ० ३१६; पीछे, पृ० ३५।

उन दिनों अभिलेखों के माध्यम से इनमें से अन्तिम चार की केवल निम्नलिखित तिथियाँ ज्ञात थीं:—

समुद्रगुप्त—वर्ष ९ (गया ताम्रशासन[1], जिसे उन दिनों कूट समझा जाता था)।

चन्द्रगुप्त (द्वितीय)—वर्ष ६२ (उदयगिरि गुहा-लेख)[2]; वर्ष ८८ (गढ़वा शिलालेख)[3]; वर्ष ९३ (साँची शिलालेख)[4]।

कुमारगुप्त(प्रथम)—वर्ष ९६ (बिलसड़ स्तम्भलेख)[5]; वर्ष ९८ (गढ़वा शिला-लेख)[6]; वर्ष १०६ (उदयगिरि गुहालेख)[7]; वर्ष १२९ (मानकुँवर बुद्धमूर्ति-लेख)[8]।

स्कन्दगुप्त—वर्ष १३६-१३८ (जूनागढ़ गिरि-लेख)[9]; वर्ष १४१ (कहाँव स्तम्भ-लेख)[10]; वर्ष १४६ (इन्दोर ताम्र-शासन)[11]।

इन तिथियों से इतनी बात सामने आयी कि इन शासकों ने भितरी स्तम्भ-लेख में वर्णित क्रम के अनुसार ही राज्य किया। इस प्रकार वंश-क्रम और राज्य-क्रम को लोगों ने एक ठहराया और उनका शासन-काल इस प्रकार निर्धारित किया :—

समुद्रगुप्त	वर्ष ६२ (३८१ ई०) से पूर्व
चन्द्रगुप्त (द्वितीय)	आरम्भ वर्ष ६२ (३८१ ई०)
	अन्त वर्ष ९३ (४१२ ई०)
कुमारगुप्त (प्रथम)	आरम्भ वर्ष ९६ (४१५ ई०)
	अन्त वर्ष १२९ (४४८ ई०)
स्कन्दगुप्त	आरम्भ वर्ष १३६ (४५५ ई०)
	अन्त वर्ष १४६ (४६६ ई०)

तबसे कुछ और तिथियुक्त अभिलेख प्रकाश में आये हैं और उनसे कुछ नयी तिथियाँ ज्ञात होती हैं, जो इस प्रकार हैं :—

समुद्रगुप्त वर्ष ५ (नालन्द ताम्र-शासन)।[12]

---

१. वही, पृ० २५४; से० इ० २६४; पीछे, पृ० ९।
२. वही, पृ० २१; से० इ० २७१; पीछे, पृ० १२।
३. वही, पृ० २६; पीछे पृ० १३।
४. वही पृ० २९; मानुमेण्ट्स ऑव साँची, १, पृ० ३८८; से० इ०, पृ० २७३; पीछे, पृ० १३।
५. वही पृ० ४२; से० इ० २७८; पीछे पृ० २३।
६. वही पृ० ४०; पीछे पृ० २४।
७. वही पृ० २५८; पीछे पृ० २४।
८. वही पृ० ४५; से० इ०, २८७; पीछे पृ० ३०।
९. वही पृ० ५७; से० इ०, पृ० २९९; पीछे पृ० ३१।
१०. वही पृ० ६५; से० इ०, पृ० ३८; पीछे पृ० ३२।
११. वही, पृ० ६८; से० इ०, पृ० ३०९; पीछे, पृ० ३३।
१२. आ० स० ए० रि०, १९२७-२८, पृ० १३८; ए० इ०, २५, पृ० ५२; से० इ०, पृ० २६२; पीछे, पृ० ९।

चन्द्रगुप्त (द्वितीय)—वर्ष ६१ (मथुरा स्तम्भ-लेख[1])।

कुमारगुप्त (प्रथम)—वर्ष ११३ (धनैदह ताम्र-शासन[2] और मथुरा जैन मूर्ति-लेख[3]); वर्ष ११६ (तुमैन शिला-लेख[4]); वर्ष १२० (करमदण्डा लिंग-लेख[5]); और कुलाईकुरी ताम्र-शासन[6]); वर्ष १२४ (दामोदरपुर ताम्र-शासन[7]); वर्ष १२५ मथुरा मूर्ति-पीठलेख[8]); वर्ष १२८ (दामोदरपुर[9] तथा बैग्राम ताम्र-शासन[10])।

स्कन्दगुप्त—वर्ष १४१ (सुपिया स्तम्भ-लेख[11])।

इन अभिलेखों से पूर्व निर्धारित वंशक्रम और राज्य-क्रम में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन तो नहीं हुआ पर मथुरा से प्राप्त स्तम्भ-लेख से इतनी बात अवश्य हुई है कि निश्चित रूप से यह जाना जा सका कि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के शासन का आरम्भ वर्ष ५७ (३७६ ई०) में हुआ था। इस लेख में गुप्त-वर्ष के साथ-साथ राजवर्ष भी अंकित है। उसके अनुसार गुप्त-वर्ष ६१ चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का पाँचवाँ राजवर्ष था।

१८९४ ई० में स्मिथ ने यह सूचना प्रकाशित की कि उन्हें एक निजी संग्रह में कुमारगुप्त का चाँदी का एक ऐसा सिक्का देखने को मिला जिस पर वर्ष १३६ अंकित है। इस प्रकार उन्होंने कुमारगुप्त के शासन का अन्तिम वर्ष १३६ (४५५ ई०) निर्धारित किया। यही वर्ष जूनागढ़ के गिरि-लेख से स्कन्दगुप्त का आरम्भ वर्ष के रूप में ज्ञात था।

उपर्युक्त नामों के अतिरिक्त आरम्भकालिक इतिहासकारों के सामने एरण से प्राप्त अभिलेखों में बुधगुप्त और भानुगुप्त दो अन्य गुप्त नामान्त राजाओं के नाम आये थे।[12] उनसे उन्हें इन राजाओं के समय भी क्रमशः १६५ और १८१ ज्ञात हुए थे। किन्तु उन लोगों ने इन राजाओं को उपर्युक्त गुप्त राजाओं से सम्बन्धित न मानकर उनके मालवा के परवर्ती शासक होने का अनुमान किया।[13] इस प्रकार बहुत दिनों तक

---

१. ए० स० ओ० रि० इ०, १८, पृ० १६६; ए० इ०, २१, पृ० ८; से० इ०, पृ० २६९; पीछे पृ० ११।
२. ज० ए० सो० बं०, ५, पृ० ४५९; ए० इ०, १७, पृ० ३४७; से० इ०, २८०; पीछे, पृ० २३।
३. ए० इ०, २, पृ० २१०; पीछे, पृ० २३।
४. ए० इ०, २६, पृ० ११५; से० इ०, पृ० २९८; पीछे, पृ० २३-२४।
५. ए० इ०, १०, पृ० ७१; से० इ०, पृ० २८२; पीछे, पृ० २५।
६. इ० हि० क्वा०, १९, पृ० १२; पीछे, पृ० २५-२६।
७. ए० इ०, १५, पृ० १२९; पीछे, पृ० २७।
८. अप्रकाशित। अभी हाल में उपलब्ध, मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित।
९. ए० इ०, १५, १३२; पीछे, पृ० २७।
१०. वही, २१, पृ० ७८; पीछे, पृ० २७।
११. वही, ३३, पृ० ३०५; पीछे, पृ० ३२।
१२. का० इ० इ०, ३, पृ० ८९ आदि।
१३. वही, पृ० ७।

इतिहासकारों की मान्यता थी कि गुप्तवंश का अन्त स्कन्दगुप्त के समय में वर्ष १४६ के आसपास हो गया। तदनन्तर एक अन्य गुप्त वंश का उद्भव हुआ, जिसका प्रथम नरेश कृष्णगुप्त था।[१]

१८८९ ई० तक लोगों के सम्मुख गुप्तवंश का यह सीधा-सादा इतिहास था। उस वर्ष विन्सेण्ट स्मिथ ने भितरी (जिला गाजीपुर) से प्राप्त एक धातुमुद्रा प्रकाशित की और हार्नले ने उसका अध्ययन प्रस्तुत किया।[२] उसने गुप्तवंश के इतिहास को एक उलझन का विषय बना दिया। इस शासन-मुद्रा में भितरी स्तम्भ-लेख में उल्लिखित सात राजाओं में से केवल प्रथम छः के नाम थे और सातवें नाम स्कन्दगुप्त के स्थान पर तीन नये नाम दिये गये थे—

७—पुरुगुप्त (रानी अनन्त देवी से उत्पन्न कुमारगुप्त का पुत्र)
८—नरसिंहगुप्त (रानी चन्द्रदेवी से उत्पन्न पुरुगुप्त का पुत्र[३])
९—कुमारगुप्त (रानी मित्र देवी से उत्पन्न नरसिंहगुप्त का पुत्र[४])

इस मुद्रालेख से यह बात प्रकाश में आयी कि (१) स्कन्दगुप्त के समय गुप्तवंश के अन्त होने का अनुमान गलत था। (२) यह वंश कम से कम दो पीढ़ी तक और जीवित रहा। (३) इस वंश में एक नहीं, दो कुमारगुप्त हुए और (४) प्रथम कुमारगुप्त (भितरी अभिलेख के छठे शासक) के स्कन्दगुप्त (भितरी अभिलेख से ज्ञात और पुरुगुप्त (भितरी मुद्रा लेख से ज्ञात) नामक दो पुत्र थे अथवा उनके एक ही बेटे के स्कन्दगुप्त और पुरुगुप्त दो नाम थे।

इन तथ्यों के प्रकाश में आने पर आवश्यक हो गया कि राज्य-क्रम तथा उन अन्य सभी धारणाओं पर पुनर्विचार किया जाय जो केवल एक कुमारगुप्त के अस्तित्व की धारणा पर आधारित थीं। किन्तु उन दिनों मुख्य कठिनाई स्कन्दगुप्त (जिसका नवोपलब्ध मुद्रा में उल्लेख न था) और पुरुगुप्त के सम्बन्ध स्थापन की ही जान पड़ी। हार्नले ने यह जताने का यत्न किया कि स्कन्दगुप्त और पुरुगुप्त न केवल एक ही पिता के पुत्र थे वरन् उनकी माता भी एक ही अर्थात् अनन्त देवी थीं। उनका कहना था कि यद्यपि स्कन्दगुप्त की माँ का नाम भितरी स्तम्भ लेख में नहीं है तथापि बिहार स्तम्भ-लेख में (जो उन दिनों स्कन्दगुप्त का ही समझा जाता था) कहा गया है कि कुमारगुप्त ने एक ऐसे व्यक्ति की बहन से विवाह किया था जिसका नाम अनन्तसेन रहा होगा; और उस अवस्था में उसकी बहन अनन्तदेवी रही होंगी। और इस बात का उक्त मुद्रा लेख से मेल है।[५] किन्तु अब निःसंदिग्ध रूप से यह सिद्ध हो गया है कि बिहार स्तम्भ-

१. वही, पृ० १४।
२. ज० ए० सो० बं०, ५८, पृ० ८४; पीछे, पृ० ५२।
३. पीछे, पृ० ५२, पा० टि० ३।
४. पीछे, पृ० ५२, पा० टि० ४।
५. ज० ए० सो० बं०, ५८, पृ० ८४-९३।

लेख स्कन्दगुप्त का नहीं है[1], अतः यह कल्पना करने का कोई कारण नहीं रह जाता कि स्कन्दगुप्त की माँ अनन्तदेवी थीं। अस्तु,

हार्नले के सम्मुख मुख्य समस्या यह थी कि स्कन्दगुप्त और पुरुगुप्त एक ही व्यक्ति थे अथवा वे भाई-भाई थे। उन्होंने यह विचार किया कि इस प्रकार की वंशावलियों में एक ही व्यक्ति को दो भिन्न नामों से व्यक्त किया जाना सम्भव नहीं है; अतः उन्होंने कहा कि पुरुगुप्त स्कन्दगुप्त का छोटा भाई था, जो उनके मतानुसार स्कन्दगुप्त के बाद गद्दी पर बैठा। उनकी यह भी धारणा हुई कि स्कन्दगुप्त निस्सन्तान मरा। किन्तु भितरी मुद्रा में स्कन्दगुप्त के उल्लेख न होने के कारण वे अपनी इन धारणाओं के स्वीकार किये जाने में कठिनाई का भी अनुभव करते रहे। उनका यह भी कहना था कि पादानुध्यात शब्द इस बात का द्योतक है कि पुरुगुप्त अपने पिता का स्कन्दगुप्त के बाद का दूरवर्ती उत्तराधिकारी न होकर तात्कालिक उत्तराधिकारी है। और इस कारण वे यह मानने को बाध्य समझते थे कि स्कन्दगुप्त और पुरुगुप्त एक ही व्यक्ति थे।[2]

किन्तु अब यह बात स्पष्ट हो गयी है कि गुप्तकालीन अभिलेखों में राजाओं के नाम राज्यक्रम के अनुसार न होकर वंशक्रम में हैं। नालन्द से प्राप्त मुद्राओं से प्रकट होता है कि नरसिंहगुप्त और पुरुगुप्त भाई-भाई थे। वे दोनों एक ही पिता—पुरुगुप्त के पुत्र थे पर दोनों में से किसी ने भी अपनी-अपनी मुद्राओं में एक-दूसरे का उल्लेख नहीं किया है।[3] इसी प्रकार पादानुध्यात शब्द का तात्पर्य तात्कालिक उत्तराधिकारी नहीं होता यह बात भी अब स्पष्ट हो गयी है।[4] अतः स्कन्दगुप्त और पुरुगुप्त को एक मानने का न तो कोई प्रमाण है और न कोई कारण।

भितरी मुद्रा प्राप्त होने के फलस्वरूप हार्नले ने नर नाम और बालादित्य विरुद युक्त सोने के सिक्कों को नरसिंहगुप्त का और कुमारगुप्त के क्रमादित्य विरुद युक्त भारी वज़न के सिक्कों को द्वितीय कुमारगुप्त का बताया[5] और प्रकाशादित्य विरुद युक्त बिना नाम

---

१ पीछे, पृ० ३५-३६।

२. ज० ए० सो० बं०, ५८, पृ० ९३।

३. नालन्द एण्ड इट्स एपीग्रेफिक मैटीरियल, पृ० ६४; ६६-६७।

४. उदयगिरि गुहालेख में समकालिक महाराज ने अपने को श्री चन्द्रगुप्त-पादानुध्यात कहा है; किन्तु वह न तो सम्राट् का सम्बन्धी था और न उत्तराधिकारी। इसी प्रकार कुमारामात्य कुलवृद्ध ने अपने को भट्टारक पादानुध्यात कहा है। महाराज वैन्यगुप्त ने अपने को भगवान् महादेव पादानुध्यात कहा है। इस प्रकार 'पादानुध्यात' शब्द का तात्पर्य केवल 'अनुरक्त' अथवा 'अनुराग प्राप्त' है और वह केवल 'निष्ठा' का द्योतक है।

५. कनिंगहम ने इण्डिया आफिस, लन्दन के सिक्कों की सूची बनाते समय १८७० ई० में ही सिक्कों के आधारपर दो कुमारगुप्तों की पहचान की थी (रैप्सन के नाम ९ जून १८९१ ई० का कनिंगहम का पत्र)। उन्होंने क्रमादित्य विरुदवाले सिक्कों को द्वितीय कुमारगुप्त का सिक्का बताया था (आ० स० रि०, १४, पृ० ८७)। किन्तु उनकी इस बात की ओर तब किसी ने ध्यान नहीं दिया।

वाले सिक्कों को पुरुगुप्त का अनुमान किया।[1] साथ ही युवान-च्वांग उल्लिखित हूण आक्रामक मिहिरकुल-उच्छेदक बालादित्य की पहचान नरसिंहगुप्त से की।[2] और इस आधार पर नरसिंहगुप्त की तिथि निर्धारित की और अन्य राजाओं की तिथियों का अनुमान किया।

हार्नले की इन धारणाओं को लोगों ने उस समय स्वीकार कर लिया। फ्लीट (जे० एफ०) ने उनके कथन में इतनी बात और जोड़ी कि स्कन्दगुप्त और पुरुगुप्त की पीढ़ी में गुप्त-राज्य का बँटवारा हो गया था।[3] उन्होंने यह विकल्प भी रखा कि दोनों में कलह रहा होगा।[4] कनिंगहम ने फ्लीट के इस मत का समर्थन किया। उन्होंने इस तथ्य की ओर इंगित किया कि भितरी स्तम्भ-लेख में प्रथम कुमारगुप्त के शासन के अन्तिम दिनों में जिस संकट का उल्लेख है वह सम्भवतः इन दोनों बेटों के उत्तराधिकार सम्बन्धी कलह के कारण उत्पन्न हुआ था। उन्होंने इस आधार पर कि पुरुगुप्त का सोने अथवा चाँदी का एक भी सिक्का नहीं मिलता, यह मत प्रकट किया कि स्कन्दगुप्त ने प्रथम कुमारगुप्त की मृत्यु के पश्चात् जल्द ही स्थिति पर काबू कर लिया। उन्होंने यह भी कहा कि "हार्नले का कहना है कि पुरुगुप्त के लिए प्रयुक्त पादानुध्यात इस बात का द्योतक है कि वह अपने पिता का तात्कालिक उत्तराधिकारी है; किन्तु यही विशेषण बिहार स्तम्भ-लेख में स्कन्दगुप्त के लिए भी प्रयुक्त हुआ है, इसलिए मेरी तो धारणा है कि दोनों ही राजकुमार अपने का प्रथम कुमारगुप्त का तात्कालिक उत्तराधिकारी मानते थे। स्कन्दगुप्त ज्येष्ठ भाई और आधिकारिक उत्तराधिकारी था। कुमारगुप्त (प्रथम) के शासन के अन्तिम दिनों में जो कलह हुआ था इन दोनों भाइयों के बीच था। कनिष्ठ राजकुमार होने के कारण पुरुगुप्त अपने पिता के पास राजदरबार में और स्कन्दगुप्त मालवा के प्रशासक के रूप में बाहर रहा होगा। स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ अभिलेख गुप्त संवत् १३६ का है जो कुमारगुप्त के सिक्कों से ज्ञात अन्यतम तिथि के कुछ ही दिन बाद का है, इसलिए निश्चित है कि स्कन्दगुप्त ने शीघ्र ही स्थिति पर अधिकार कर लिया था। मैं उसके निर्द्वन्द शक्ति के रूप में उत्तराधिकार की तिथि गुप्त संवत् १३४ निर्धारित करता हूँ।"[5]

स्कन्द और पुरु के बीच भ्रातृ-कलह की कल्पना प्रस्तुत करने और इस प्रकार स्कन्दगुप्त के पश्चात् पुरु के उत्तराधिकार का खण्डन करने के साथ ही कनिंगहम ने राज्य-क्रम में भी संशोधन प्रस्तुत किया। उन्हें स्कन्दगुप्त के पश्चात् नरसिंहगुप्त और द्वितीय कुमारगुप्त का उत्तराधिकार स्वीकार न था। उनका कहना था कि बुधगुप्त,

---

१. ज० ए० सो० बं०, ५८, पृ० ९३-९४।
२. वही, पृ० ९४-९७।
३. का० इ० इ०, ३।
४. वही।
५. क्वायन्स ऑव मिडीवल इण्डिया, पृ० ११।

जिसकी तिथि एरण अभिलेख से १६५ ज्ञात है और जिसे लोगों ने गुप्तवंशावली और राज्यक्रम से अलग कर दिया है, स्कन्दगुप्त का बेटा और उत्तराधिकारी है। बुधगुप्त की आरम्भिक तिथि एरण अभिलेख से १६५ ज्ञात होती है और अन्तिम तिथि के रूप में कनिंगहम को चाँदी के सिक्कों से १७४ ज्ञात हुआ था। इस प्रकार उन्होंने उसका समय गुप्त संवत् १६२ और १८० के बीच स्थिर किया। उन्होंने यह भी कहा कि बुधगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उत्तरी भाग पर पुरुगुप्त के बेटे नरसिंहगुप्त का अधिकार हुआ। उसका समय उन्होंने गुप्त संवत् १८२-२१२ माना।[१]

स्कन्दगुप्त के पश्चात् का राज्यक्रम अभी स्थिर नहीं हो पाया था कि १९१४-१५ ई० में तीन नये अभिलेख प्रकाश में आये। वे हैं—

(१) वर्ष १५४ का सारनाथ बुद्ध-मूर्त्ति लेख जिसमें कुमारगुप्त का उल्लेख है।[२]

(२) वर्ष १५७ का सारनाथ का बुद्ध-मूर्ति लेख जिसमें शासक के रूप में बुधगुप्त का उल्लेख है।[३]

(३) वर्ष १६३ का दामोदरपुर का ताम्रशासन, जिसमें शासक के रूप में बुधगुप्त का उल्लेख है।[४]

दामोदरपुर ताम्रशासन से यह स्पष्ट तथ्य सामने आया कि बुधगुप्त पूर्वी मालवा का शासक मात्र न था। वह महाराजाधिराज था और उसके साम्राज्य का विस्तार पुण्ड्रवर्धन भुक्ति (उत्तरी बंगाल) तक था। इस प्रकार इससे कनिंगहम की इस धारणा की पुष्टि हुई कि वह गुप्त-वंश का ही था। सारनाथ के दोनों मूर्ति-लेखों से यह बात भी ज्ञात हुई कि स्कन्दगुप्तोत्तर राज्यक्रम के सम्बन्ध में अब तक जो कुछ कहा और समझा गया था वह सब गलत था।

सारनाथ के दोनों मूर्ति-लेखों से यह भी तथ्य सामने आया कि वर्ष १५४ में कुमार-गुप्त नामक शासक शासन करता था और तीन वर्ष पश्चात् उसके स्थान पर वर्ष १५७ में बुधगुप्त नामक शासक हुआ। इसका स्पष्ट अर्थ यह निकला कि बुधगुप्त कुमारगुप्त का उत्तराधिकारी था, स्कन्दगुप्त का नहीं। अब एक नया प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि यह कुमारगुप्त कौन है?

इस प्रश्न की ओर सर्वप्रथम मजूमदार (रमेशचन्द्र) ने १९१७ ई० में ध्यान दिया। उन्होंने भितरी-मुद्रा के कुमारगुप्त की पहचान सारनाथ-लेख के कुमारगुप्त से की[५] और इस प्रकार पुरुगुप्त के पौत्र कुमारगुप्त का समय वर्ष १५४ निर्धारित किया। इसका अर्थ यह हुआ कि पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त और कुमारगुप्त के शासन की अवधि वर्ष १४६ (स्कन्दगुप्त की अन्तिम ज्ञात तिथि) और वर्ष १५७ (सारनाथ लेख से ज्ञात बुधगुप्त की

---

१. वही, पृ० ११।

२. आ० स० इ०, ए० रि०, १९१४-१५, पृ० १२४।

३. वही, पृ० १२६।

४. ए० इ०, १५, पृ० १३४।

५. इ० ए०, ४७, पृ० १६१ आदि।

अद्यतम तिथि) के बीच ही सीमित थी ; अर्थात् इन तीनों शासकों ने मिल कर कुल ११-१२ वर्ष राज्य किया।

किन्तु मजूमदार की दृष्टि में यह अवधि तीन राजाओं के लिए पर्याप्त न थी, अतः उन्होंने हार्नले के इस मत को पुनर्प्रतिष्ठित किया कि पुरुगुप्त और स्कन्दगुप्त दोनों एक ही व्यक्ति के दो नाम थे। उनका कहना था कि द्वितीय चन्द्रगुप्त का एक अन्य नाम 'देवगुप्त' भी था और ये दोनों ही नाम वाकाटकों की वंश-सूची में प्राप्त होते हैं। उन्होंने बंगाल के पाल-वंश का भी एक उदाहरण प्रस्तुत किया, वहाँ उस वंश के चौथे राजा विग्रहपाल को उनके एक अभिलेख में शूरपाल कहा गया है। उन्होंने साथ ही स्कन्दगुप्त और पुरुगुप्त की पीढ़ी में गुप्त-राज्य के विभाजन अथवा उन दोनों के बीच कलह की बातों का भी खण्डन किया। उन्होंने इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया कि भितरी और जूनागढ़ अभिलेखों से यह प्रकट होता है कि प्रथम कुमारगुप्त के निधन के पश्चात् स्कन्दगुप्त ने अक्षुण्ण साम्राज्य प्राप्त किया था। उन्होंने मुद्राओं के साक्ष्य से इस धारणा को भी अग्राह्य ठहराया कि पुरुगुप्त ने अपने भाई के विरुद्ध विद्रोह किया था और अपने तथा अपने उत्तराधिकारियों के लिए स्वतन्त्र साम्राज्य का निर्माण किया था। उन्होंने इस बात की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया कि प्रथम कुमारगुप्त ने गुप्त साम्राज्य के गृह-प्रदेश के लिए एक नये प्रकार के चाँदी के सिक्के प्रचलित किये थे। उसका अनुकरण स्कन्दगुप्त ने भी किया था। उसके इन सिक्कों पर १४१, १४६ और १४८ की तिथि मिलती है। ये इस बात के द्योतक हैं कि स्कन्दगुप्त का इस भूभाग पर शासन के अन्तिम काल तक अधिकार था। अतः उन्होंने राज्य-क्रम इस प्रकार निर्धारित किया—(१) स्कन्दगुप्त उर्फ पुरुगुप्त, (२) नरसिंह-गुप्त, (३) कुमारगुप्त, (४) बुधगुप्त। इस प्रकार उन्होंने नरसिंहगुप्त और मिहिरकुल-उच्छेदक बालादित्य के एक होने की बात को एकदम उड़ा दिया।

मजूमदार के इस मत से सर्वथा भिन्न मत उन्हीं दिनों पाठक (के० बी०) ने प्रतिपादित किया। उनका कहना था कि सारनाथ लेख का कुमारगुप्त, स्कन्दगुप्त का पुत्र और उत्तराधिकारी था और वह भितरी मुद्रालेख के कुमारगुप्त से सर्वथा भिन्न था। उन्होंने यह भी विश्वास प्रकट किया कि बुधगुप्त सारनाथ लेख के कुमारगुप्त का पुत्र और उत्तराधिकारी था।[1] उनके इस मत का राधागोविन्द बसाक ने समर्थन किया। बसाक ने उनके मत को स्वीकारते हुए प्रथम कुमारगुप्त के पश्चात् राज्य के विभाजन की फ्लीट वाली बात को दुहराया। उनका कहना था कि स्कन्दगुप्त, कुमारगुप्त (सारनाथ वाले) और बुधगुप्त एक शाखा में थे और पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त और कुमारगुप्त (भितरी मुद्रा वाले) दूसरी शाखा में। और ये दोनों ही शाखाएँ समानान्तर राज्य करती रहीं।[2]

---

१. भण्डारकर कमेमोरेशन वाल्यूम, पृ० १९५ आदि।

२. हिस्ट्री ऑव नार्थ-ईस्टर्न इण्डिया, पृ०७८।

पाठक और बसाक के इन मतों की अपेक्षा मजूमदार का मत, जिसे पन्नालाल का समर्थन प्राप्त हुआ था[१] अधिकांश विद्वानों को अधिक संगत जान पड़ा था और काफी दिनों तक स्कन्दगुप्त और पुरुगुप्त दोनों, एक माने जाते रहे।

१९२५ ई० के आसपास गुप्त संवत् १८८ का राजा वैन्यगुप्त के राज्यकाल का एक ताम्र-शासन बंगाल में गुनइघर नामक स्थान से प्राप्त हुआ।[२] इस शासन के प्रकाश में आने के साथ यह बात भी ज्ञात हुई कि गुप्त सिक्कों की बनावट के जिन सिक्कों को अब तक तृतीय चन्द्रगुप्त द्वादशादित्य का समझा जाता था वह वस्तुतः इसी शासक – वैन्यगुप्त का है।[३] इस प्रकार गुप्त-वंश के राज्य-क्रम में बुधगुप्त के बाद एक और राजा – वैन्यगुप्त का नाम जोड़ा जाने लगा।

तदनन्तर, नालन्द का उत्खनन होने पर अनेक मृण्मुद्राएँ प्रकाश में आयीं जो नरसिंहगुप्त, बुधगुप्त, वैन्यगुप्त, कुमारगुप्त और विष्णुगुप्त की हैं और अपने वस्तु-विषय में भितरी की धातु-मुद्रा के समान ही हैं। इनमें कुछ तो अक्षुण्ण हैं और कुछ खण्डित। इन सभी मुद्राओं पर आदिराज गुप्त से आरम्भ होकर मुद्राधिकारी शासक तक की वंशावली अंकित है।[४]

कुमारगुप्त की मुद्राएँ तो भितरी मुद्रा की ही प्रतिकृति हैं। नरसिंहगुप्त की मुद्राएँ भी उसी के समान हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि उनका लेख नरसिंहगुप्त के नाम के साथ समाप्त हो जाता है; उसमें कुमारगुप्त सम्बन्धित अंश नहीं है। इसी प्रकार बुधगुप्त की मुद्रा नरसिंहगुप्त की मुद्रा के अनुरूप है; केवल नाम का अन्तर है अर्थात् उसमें नरसिंहगुप्त के स्थान पर बुधगुप्त का नाम है। इस प्रकार अब यह बात प्रकाश में आई कि लोगों का जो यह अनुमान था कि बुधगुप्त, स्कन्दगुप्त अथवा कुमारगुप्त का पुत्र था, गलत है। वह वस्तुतः पुरुगुप्त का बेटा और नरसिंहगुप्त का भाई है। इन मुद्राओं से यह नयी बात भी ज्ञात हुई कि नरसिंहगुप्त और बुधगुप्त सहोदर भाई न होकर सौतेले भाई थे।[५]

वैन्यगुप्त की केवल एक खण्डित मुद्रा मिली है। इसमें वंश परिचय वाला समूचा अंश अनुपलब्ध है। उपलब्ध अंश के ध्यानपूर्वक परीक्षण के उपरान्त मजूमदार ने यह ढूँढ़ निकाला कि पिता के नाम के स्थान पर ड की मात्रा के कुछ अवशेष बच रहे हैं। इससे यह सुराग मिला कि उसके पिता का नाम उकारान्त था।[६] इस प्रकार सहज

१. हिन्दुस्तान रिव्यू, जनवरी १९१८।
२. इ० हि० क्वा० ६, पृ० ५२।
३. इ० हि० क्वा०, ९, पृ० ७८४; १०, पृ० १५४।
४. नालन्द एण्ड इट्स एपीग्रेफिक मैटीरियल, पृ० ६५-६७।
५. मुहरों से नरसिंहगुप्त की माता का नाम चन्द्रदेवी ज्ञात है। किन्तु बुधगुप्त की मुहर पर अभी तक नाम ठीक से नहीं पढ़ा जा सका है; पर यह प्रायः निश्चित है कि उसका पाठ चन्द्रदेवी नहीं है।
६. इ० हि० क्वा०, २४, पृ० ६७ आदि।

अनुमान किया जा सकता है कि उसका पिता भी पुरुगुप्त था ।[1] और गुप्त-वंशावली में अब वैन्यगुप्त को पुरुगुप्त के तीसरे बेटे के रूप में सम्मिलित किया जा सकता है ।

विष्णुगुप्त की मुद्रा १९४१ ई० में प्रकाश में आई और वह खण्डित है ।[2] उससे भितरी मुद्रा-लेख की वंश सूची में एक नया और दसवाँ नाम "कुमारगुप्त (भितरी मुद्रा-लेख का नवाँ व्यक्ति) के पुत्र विष्णुगुप्त"[1] का जुड़ा । विष्णुगुप्त की माँ का नाम अनुपलब्ध अंश में खो गया है । इस विष्णुगुप्त की पहचान गुप्त ढंग के सिक्कों पर अंकित विष्णु से की गयी है ।

इन मुद्राओं के प्रकाश में आने पर यह आवश्यक हो गया कि स्कन्दगुप्तोत्तर राजवंश की समस्या का नये सिरे से विवेचन किया जाय । उपर्युक्त सभी जानकारी के प्रकाश में गुप्तवंश के उत्तरवर्ती राजाओं का वंश-क्रम निम्नलिखित रूप में अनुमान किया जा सकता है—
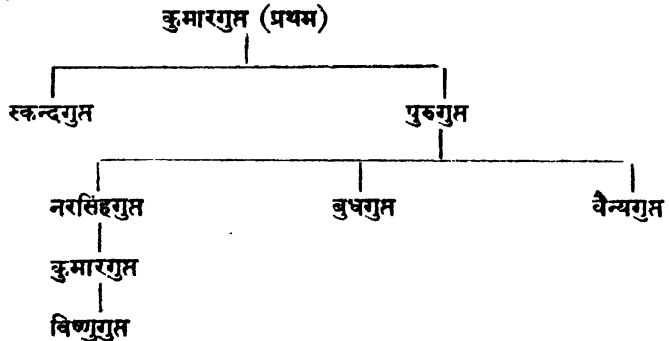
इन राजाओं से सम्बन्धित तिथियाँ की अब तक जो जानकारी विभिन्न सूत्रों से हो सकी है, वह इस प्रकार है :—

स्कन्दगुप्त	१४८	गुप्त संवत्	पूर्वी प्रदेश के चाँदी के सिक्के[3]
कुमागुप्त (द्वितीय)	१५४	,,	सारनाथ मूर्ति-लेख[4]

१. गुप्त शासकों में पुरु के अतिरिक्त भानु और विष्णु दो अन्य उकारान्त नाम पाये जाते हैं । वैन्यगुप्त का पिता विष्णुगुप्त हो सकता है या नहीं, इस प्रश्न पर रमेशचन्द्र मजूमदार ने विस्तार के साथ ऊहापोह किया है । यह अनेक दृष्टियों से सम्भव नहीं है । भानुगुप्त और वैन्यगुप्त की तिथियाँ एक दूसरे के इतने निकट हैं कि भानुगुप्त के वैन्यगुप्त के पिता होने की सम्भावना कही जा सकती है । किन्तु भानुगुप्त की तिथि वैन्यगुप्त से पहले है । पुत्र का उत्तराधिकारी पिता हो यह सम्भावना नहीं मानी जा सकती । पिता-पुत्र साथ-साथ, एक पूर्व में दूसरा पश्चिम में राज्य कर सकता है पर यह भी कल्पना विशेष रूप से वर्तमान स्थिति में दूरवर्ती है । फिर गुप्त-राजवली में भानुगुप्त का स्थान संदिग्ध है । इस प्रकार यह प्रायः निश्चित माना जाना चाहिये कि पुरुगुप्त वैन्यगुप्त का पिता था ।

२. ए० इ०, २६, पृ० २३५ ।

३. ज० रा० ए० सो०, १८८९, पृ० १३४ ।

४. पीछे, पृ० १५ ।

बुधगुप्त	१५७	,,	सारनाथ मूर्ति लेख[1]
	१५९	,,	पहाड़पुर ताम्रशासन[2]
			राजघाट स्तम्भ-लेख[3]
	१६३	,,	दामोदरपुर ताम्र-शासन[4]
	१६५	,,	एरण स्तम्भ-लेख[5]
	१७५	,,	चाँदी के सिक्के[6]
वैन्यगुप्त	१८८	,,	गुनइघर ताम्र-शासन ।[7]

जिस रूप में वंश-वृक्ष ऊपर दिया गया है और जो तिथियाँ ऊपर बताई गयी हैं, उन्हें यदि यथावत् स्वीकार किया जाय तो हमें यह विश्वास करना होगा कि गुप्त संवत् १४८ (स्कन्दगुप्त की ज्ञात अन्तिम तिथि) और १५७ (बुधगुप्त की आरम्भिक तिथि) के बीच चार पीढ़ियों (अर्थात् पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त, कुमारगुप्त और विष्णुगुप्त) का सिंहासन पर अधिकार रहा और यह इतिहास की एक असाधारण घटना कही जायगी। साथ ही यह भी अनुमान करना होगा कि विष्णुगुप्त के पश्चात्, जिन भी कारणों से हो, सिंहासन उसके पितृव्य-पितामह बुधगुप्त के पास लौट गया और उसने उसे अपने भाई वैन्यगुप्त को दिया।

किन्तु नौ-दस वर्ष की अल्प अवधि में चार शासकों—पुरु, नरसिंह, कुमार और विष्णु का शासन एक दुरूह सम्भावना है। यदि हम यह मान लें कि पुरुगुप्त ने शासन नहीं किया अथवा पुरुगुप्त और स्कन्दगुप्त एक थे, जिसके लिए कोई प्रमाण नहीं है, तब गुप्त संवत् १५४ के पूर्व नरसिंहगुप्त को चार-पाँच बरस का अवसर अवश्य मिल जाता है। किन्तु तब उसके बाद का गुप्त संवत् १५७ तक का समय दो शासकों—कुमारगुप्त और विष्णुगुप्त के लिए अत्यन्त अपर्याप्त होगा। किन्तु रायचौधुरी (हे० च०) का विश्वास है कि इन नौ-दस बरसों में चार शासकों का शासन सम्भव है। इस प्रकार की सम्भावना के समर्थन में उदाहरणस्वरूप उन्होंने इस ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि पूर्वी चालुक्य वंश में केवल ८ वर्ष में तीन और कश्मीर में ६ वर्ष के भीतर ६ शासक हुए थे।[8] इस सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात्

---

१. पीछे, पृ० ३८।
२. पीछे, पृ० ३८।
३. पीछे, पृ० ३९।
४. पीछे, पृ० ३९।
५. पीछे, पृ० ३९-४०।
६. ब्रि० सं० मु० सू०, सिक्का ६१७; ज० रा० ए० सो०, १८८९, पृ० १३९। कनिंघम ने बुधगुप्त के गुप्त संवत् १८० के एक सिक्के का उल्लेख किया है (आ० स० रि०, पृ० २५, फा० टि० १); किन्तु ब्रिटिश संग्रहालय में, जहाँ कनिंघम के सिक्के हैं, इस तिथि का कोई सिक्का नहीं है। बुधगुप्त की यह तिथि अत्यन्त संदिग्ध है।
७. पीछे, पृ० ४१।
८. पौ० हि० ए० इ०, ५ वाँ संस्करण, पृ० ५९१।

जो स्थिति मुगल वंश की थी, उसी प्रकार की स्थिति कुछ इस काल में गुप्त वंश की भी रही होगी। किन्तु यह सम्भावना तथ्य की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। इन शासकों की जन्म-संभावनाओं पर विचार करने पर यह बात स्पष्ट रूप से सामने आती है कि गुप्त वंश में इस काल में किसी ऐसी स्थिति का होना, जिसमें ये चार शासक मिल कर केवल १० वर्ष राज्य करें, असम्भव है।

रामगुप्त-काण्ड के प्रकाश में यह बात प्रायः निश्चित सी है कि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने गुप्त संवत् ५६ में सत्तारूढ़ होने के बाद ही किसी समय ध्रुवदेवी से विवाह किया होगा। कुमारगुप्त उसका कनिष्ठ पुत्र था (हम आगे देखेंगे कि गोविन्दगुप्त उसका ज्येष्ठ पुत्र था); अतः उसका जन्म विवाह के तीन-चार वर्ष बाद, गुप्त संवत् ५९ के आसपास ही सम्भव है। यदि कुमारगुप्त (प्रथम) का विवाह २५ वर्ष की अवस्था में हुआ हो तो उसके बेटे पुरुगुप्त का जन्म (यदि वह ज्येष्ठ पुत्र हो) कम से कम एक वर्ष बाद गुप्त संवत् ८४-८५ के आसपास हुआ होगा। यदि पुरुगुप्त कुमारगुप्त (प्रथम) का ज्येष्ठ पुत्र था (जिसकी सम्भावना कम ही है) तो नरसिंहगुप्त (यदि वह ज्येष्ठ पुत्र हो) का जन्म जल्द से जल्द गुप्त संवत् १११-१२ में हुआ होगा। इसी प्रकार की कल्पना के अनुसार नरसिंहगुप्त के बेटे का जन्म गुप्त संवत् १३८ के आसपास हुआ होगा। और वह स्कन्दगुप्त की मृत्यु के समय कठिनता से दस वर्ष का होगा और यह नितान्त हास्यास्पद कल्पना होगी कि गुप्त संवत् १८९-९० से पूर्व उसके ऐसी कोई सन्तान हुई होगी जो सत्तारूढ़ हो सके।

अमलानन्द घोष ने इन राजाओं की जन्म-सम्भावना को दूसरे ढंग से प्रस्तुत किया है।[1] उनका अनुमान है कि स्कन्दगुप्त गुप्त संवत् १३६ में ५५ वर्ष की अवस्था में सत्तारूढ़ हुआ होगा। इसके अनुसार उसका जन्म गुप्त संवत् ८१ में और उसके भाई पुरुगुप्त का जन्म गुप्त संवत् ८४ में हुआ होगा। आगे वे प्रत्येक पीढ़ी के लिए २२ से २५ वर्ष की कल्पना करते हैं। इसके अनुसार विष्णुगुप्त का जन्म गुप्त संवत् १४७ और १५७ के बीच ठहरता है। घोष की यह कल्पना अत्यन्त संकुचित है। सत्तारूढ़ होने के समय स्कन्दगुप्त की आयु ५५ वर्ष से कम भी हो सकती है अथवा प्रत्येक पीढ़ी का समय घोष की कल्पना से अधिक भी हो सकता है। तथ्य जो भी रहा हो, उनकी कल्पना के अनुसार गुप्त संवत् १५२-५३ के बाद ही किसी समय विष्णुगुप्त का जन्म हुआ होगा। अतः अपने पिता के बाद महाराजाधिराज के रूप में बालक विष्णुगुप्त के सत्तारूढ़ होने और अपने शासन के एक-दो वर्ष के भीतर ही मुद्रा जारी करने की सम्भावना को घोष भी स्वीकार नहीं करते। उनकी अपनी दृष्टि में अधिक सम्भावना यह है कि कुमारगुप्त के पश्चात् उसका चाचा बुधगुप्त गुप्त संवत् १५७ में सत्तारूढ़ हुआ और विष्णुगुप्त ने गुप्त संवत् १७५ (बुधगुप्त की अन्तिम तिथि) के

---

१. इ० हि० क्वा०, १९, पृ० १२१।

बाद बुधगुप्त से राज्याधिकार प्राप्त किया।[1] किन्तु उसकी यह कल्पना कि राज्य पहले भतीजे से चाचा के पास जाय और फिर चचेरे दादा से वह चचेरे पौत्र को मिले, बेतुकी जान पड़ती है।

काशीनाथ नारायण दीक्षित ने एक ऐसी सम्भावना की ओर ध्यान आकृष्ट किया है जो अमलानन्द घोष के मत के दोषों से मुक्त थी; साथ ही वह जन्म-सम्भावनाओं की गणना की दृष्टि से असम्भव इस कल्पना का भी निराकरण कर देती है जिसमें स्कन्दगुप्त और बुधगुप्त के बीच उत्तराधिकार की ठूस-ठास की जाती रही है। इसके साथ युवान-च्वांग कथित बालादित्य के हाथों मिहिरकुल के पराजय की कहानी का भी समाहार हो जाता है।[2] उन्होंने अमलानन्द घोष का ध्यान इस सम्भावना की ओर आकृष्ट किया कि सारनाथ मूर्तिलेख के कुमारगुप्त और भितरी मुद्रा के कुमारगुप्त एक न होकर दो भिन्न व्यक्ति हो सकते हैं। उनका यह सुझाव कोई नया न था। यही बात पाठक (के० बी०)[3] और बसाक (रा० गो०)[4] पहले कह चुके थे; किन्तु दीक्षित ने जो नयी बात कही थी वह यह थी कि नरसिंहगुप्त और उसके उत्तराधिकारी, (जो इस अवस्था में भितरी मुद्रा के कुमारगुप्त और विष्णुगुप्त होंगे) बुधगुप्त के बाद आये होंगे। किन्तु घोष ने, यह कह कर कि दो कुमारगुप्तों (एक भितरी मुद्रा वाले और दूसरे सारनाथ मूर्ति-लेख वाले) के मानने का कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है, उनके इस सुझाव को तिरस्कृत कर दिया।[5]

इस प्रकार राज्य-क्रम की अवस्था अभी अस्थिर ही थी, तभी १९५० ई० में इस ग्रन्थ के लेखक ने इस प्रसंग में पहली बार मुद्रातात्विक प्रमाणों की ओर ध्यान आकृष्ट किया जो बहुलांशों में निर्णयात्मक थे।[6] उसने उस समय इन तथ्यों की ओर इंगित किया कि—

(१) सोने के जो सिक्के द्वितीय कुमारगुप्त के कहे जाते हैं, वे वस्तुतः दो वर्ग के हैं। एलेन ने उन सिक्कों को, जो वैन्यगुप्त, नरसिंहगुप्त और विष्णुगुप्त के सिक्कों के साथ कालीघाट दफीने में मिले थे, एक वर्ग में (वर्ग २) में और जो ब्रिटिश संग्रहालय में अन्य सूत्रों से आये थे, उन्हें दूसरे (वर्ग १) में बांटा है। वे अपनी बनावट और बाने (फेब्रिक) में एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं।[7]

(२) कुमारगुप्त के प्रथम वर्ग के सिक्कों पर पट ओर क्रमादित्य और द्वितीय वर्ग के सिक्कों पर श्रीक्रमादित्य लेख है। प्रथम वर्ग के सिक्कों में केवल क्रमादित्य लिखने

१. वही।
२. वही, पृ० १२३-१२४।
३. भण्डारकर कमोमोरेशन वाल्यूम, पृ० १९५ आदि।
४. हिस्ट्री ऑव नार्थ-ईस्टर्न इण्डिया, पृ० ७८।
५. इ० हि० क्वा०, १९, पृ० १२५।
६. ज० न्यू० सो० इ०, १२, पृ० ३१-३३।
७. ब्रि० सं० मु० सू०, गु० वं०, पृ० १४०-१४१।

में घटोत्कच और स्कन्द का अनुकरण किया गया है। ऐसा करने में किसी प्रकार के घोटाले की आशंका न थी। तीनों क्रमादित्य अपने चित ओर दिये नामों से सरलता के साथ पहचाने और विलग किये जा सकते थे। किन्तु जब द्वितीय वर्ग के सिक्कों पर श्री-क्रमादित्य लेख मिलता है तो वह इस परम्परा से विलग होता जान पड़ता है, और यह अलगाव निरर्थक नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये सिक्के कुमारगुप्त नामक ऐसे राजा के हैं जो प्रथम वर्ग के समान-नामा प्रचलक से अपनी भिन्नता स्पष्ट करने के साथ ही क्रमादित्य विरुद को भी अपनाए रखना चाहता था। इसी की सहज पूर्ति के लिए क्रमादित्य विरुद में उसने श्री परिसर्ग लगाया।

(३) द्वितीय वर्ग के सिक्कों में राजा की टाँगों के बीच के खाली स्थान में ग अथवा ज अक्षर अंकित है। यह विशेषता वैन्यगुप्त, नरसिंहगुप्त और विष्णुगुप्त के सिक्कों में भी देखने में आती है। इस प्रकार के अक्षर समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त (द्वितीय), कुमारगुप्त (प्रथम), स्कन्दगुप्त और बुधगुप्त के सिक्कों पर नहीं मिलते। इससे यह झलकता है कि इन शासकों के समय में टाँगों के बीच अक्षर लिखने की परम्परा नहीं थी। अतः स्वाभाविक निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रथम वर्ग के सिक्के बुधगुप्त के काल से पहले प्रचलित किये गये थे और द्वितीय वर्ग के उसके बाद।

इस प्रकार जिन सिक्कों को एलन ने द्वितीय कुमारगुप्त के कहे हैं, एक व्यक्ति के नहीं हैं; उन्हें एक ही नाम वाले दो राजाओं ने प्रचलित किया था। उनमें से एक बुधगुप्त से पहले हुआ था और दूसरा उनके बाद के काल में। इस प्रकार प्रथम वर्ग के सिक्के उस कुमारगुप्त के हैं जो सारनाथ मूर्ति लेख के अनुसार बुधगुप्त से पहले हुआ था; उसे द्वितीय कुमारगुप्त कहा जा सकता है। द्वितीय वर्ग के सिक्के तीसरे कुमार गुप्त के हैं जो बुधगुप्त के बाद हुआ था और जो सिक्कों के अनुसार वैन्यगुप्त, नरसिंहगुप्त और विष्णुगुप्त की परम्परा में था। इन सभी राजाओं के सिक्के एक ही बनावट और बाने के हैं तथा इन सबके सिक्के एक साथ कालीघाट दफीने में मिले थे। अस्तु, इस तृतीय कुमारगुप्त को भितरी मुद्रालेख में अंकित नरसिंहगुप्त का पुत्र और नालन्द मुद्रा लेख में अंकित विष्णुगुप्त के पिता के रूप में सहज पहचाना जा सकता है। इस प्रकार इन सिक्कों के माध्यम से दीक्षित के अनुमान को दृढ़ता प्राप्त होती है।

अल्तेकर (अ० स०) ने इस ग्रन्थ के लेखक के उपर्युक्त मत का समर्थन करते हुए इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया कि कुमारगुप्त के प्रथम वर्ग के सिक्के शुद्ध सोने के हैं और दूसरे वर्ग के सिक्कों में काफी मिलावट है।[१] तदनन्तर सिनहा (वि० प्र०) ने उत्तरवर्ती गुप्त शासकों के सिक्कों के धातु-मिश्रण का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया उससे अद्भुत तथ्य प्रकाश में आये।[२] सिनहा द्वारा उपलब्ध तथ्यों के प्रकाश में इस ग्रन्थ

---

१. ज० न्यू० सो० इ०, १२, पृ० ३१-३३।

२. ज० बि० उ० रि० सो०, ३४ (३-४), पृ० ५४; डिक्लाइन ऑव द किंगडम ऑव मगध, पृ० ४१५।

के लेखक ने सिक्कों के वजन की परख की। तब यह बात सामने आयी कि इन क्रमागत राजाओं के सिक्कों का वजन उत्तरोत्तर बढ़ता गया और वजन के बढ़ने के साथ-साथ सोने की मात्रा में कमी करने की प्रवृत्ति आती गयी।[1] इन दोनों तथ्यों को साथ देखने पर सिक्कों का प्रचलन-क्रम इस प्रकार ठहरता है :

राजा	भार (ग्रेन में)	प्रतिशत सोना	सोने की सामान्य मात्रा (ग्रेन में)
१. कुमारगुप्त (द्वितीय) (अर्थात् प्रथम वर्ग के सिक्के)	१३९-१४३	७९ प्र०श०	११०
२. बुधगुप्त	१४१.४-१४४.५	७० से ७२	१०६
३. वैन्यगुप्त	१४४.५-१४८	७२ ,,	१०४
४. नरसिंहगुप्त (प्रथम वर्ग के सिक्के)	१४४.५-१४८	७० ,,	१०१
५. ,, (द्वितीय वर्ग के सिक्के)	१४३.५-१४७	५४ ,,	७८
६. कुमारगुप्त (तृतीय) (अर्थात् द्वितीय वर्ग के सिक्के)	१४७-१४८.१	५४ ,,	७८
७. विष्णुगुप्त	१४९-१५०	४३ ,,	६४

इससे यह निर्विवाद रूप में प्रकट होता है कि कुमारगुप्त के प्रथम वर्ग के सिक्के क्रम में बुधगुप्त से पहले थे और दूसरे वर्ग के सिक्के क्रम में बहुत बाद के हैं और वे नरसिंहगुप्त के सिक्कों के साथ रखे जा सकते हैं। दोनों का वजन और धातु समान है।

इस प्रकार अब उत्तरवर्ती काल में दो कुमारगुप्त अस्तित्व तथा राज्यक्रम में नरसिंहगुप्त के निश्चित स्थान के लिए सिद्ध प्रमाण प्राप्त है। अस्तु, इसके अनुसार संशोधित राज्यक्रम इस प्रकार ठहरता है—स्कन्दगुप्त के बाद सारनाथ लेख का कुमारगुप्त (द्वितीय) हुआ। उसकी तिथि स्कन्दगुप्त की तिथि के अत्यन्त निकट है। द्वितीय कुमारगुप्त के बाद बुधगुप्त राज्याधिकारी हुआ। तदनन्तर वैन्यगुप्त आया, ऐसा उसकी तिथि से अनुमान होता है। फिर वैन्यगुप्त के बाद नरसिंहगुप्त, उसके बाद उसका बेटा तृतीय कुमारगुप्त (भितरी मुद्रा वाला) और अन्त में विष्णुगुप्त राजा हुआ। इस राज्यक्रम के परिप्रेक्ष्य में अनुमान होता है कि बुधगुप्त ज्येष्ठ, वैन्यगुप्त मध्यम और नरसिंहगुप्त पुरुगुप्त के कनिष्ठ पुत्र थे। सारनाथ अभिलेख के कुमारगुप्त (द्वितीय) का स्कन्दगुप्त (जिसका उत्तराधिकार उसे प्राप्त हुआ) और बुधगुप्त (जो उसका उत्तराधिकारी हुआ) से क्या सम्बन्ध था यह अभी तक अज्ञात है। हम उसके सम्बन्ध में अनुमान मात्र ही कर सकते हैं। यदि द्वितीय कुमारगुप्त स्कन्दगुप्त के बाद ही सीधे गद्दी पर बैठा तो

१. ज० न्यू० सो० इ०, १४, पृ० १२०।

उस अवस्था में वह उसका पुत्र या भाई अनुमान किया जा सकता है; किन्तु यदि इन दोनों के बीच पुरुगुप्त ने कुछ काल तक राज्य किया तब बिहार स्तम्भ-लेख के प्रकाश में, कुमारगुप्त द्वितीय) पुरुगुप्त का बेटा हो सकता है। उस अवस्था मे यह पुरुगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र होगा। यह वंश-क्रम और राज्य-क्रम अब प्रायः सभी विद्वानों द्वारा मान लिया गया है।[१]

इन राजाओं की तिथि अभिलेख और सिक्कों से इस प्रकार ज्ञात हुई है—

कुमारगुप्त (द्वितीय)	गुप्त संवत् १५४ (४७३ ई०)
बुधगुप्त	आरम्भिक गुप्त-संवत् १५७ (४७६ ई०)
	अन्तिम ,, १७५ (४९४ ई०)
वैन्यगुप्त	गुप्त संवत् १८८
नरसिंहगुप्त	तिथि अज्ञात

१. नरसिंहगुप्त के सिक्के धातु-मिश्रण की दृष्टि से दो प्रकार के हैं। इससे अल्तेकर और वि० प्र० सिनहा ने हमसे सर्वथा भिन्न निष्कर्ष निकालने की चेष्टा की है। सिनहा हमारी ही तरह नरसिंह गुप्त को परवर्ती काल में रखते हैं; किन्तु उनकी धारणा है कि उसके दो प्रकार के सिक्के उसके दो भिन्न राज्यकाल के द्योतक हैं। दोनों के बीच की अवधि में वे प्रकटादित्य अथवा प्र और वैन्य-गुप्त को रखते हैं। उनका कहना है कि अच्छी धातु वाले सिक्के प्रथम राज्य के और घटिया धातु वाले सिक्के दूसरे राज्य काल के हैं (डिक्लाइन आव द किंगडम आव मगध, पृ० ९०; ९९-१००; १०४)। उनकी मान्यता से हमारी वंश और राज्यक्रम की योजना पर कोई तात्विक प्रभाव नहीं पड़ता। उनकी मान्यता सम्भाव्य है; किन्तु उनके तर्क तोषकारी नहीं हैं।

उक्त दो प्रकार के सिक्कों के आधार पर अल्तेकर ने दो कुमारगुप्तों के साथ दो नरसिंह गुप्तों की कल्पना की है। उन्होंने सारनाथ अभिलेख के कुमारगुप्त की पहचान भितरी मुद्रा के कुमारगुप्त से की है और ७९ प्रतिशत सोने वाले सिक्कों को उसका बताया है और ७३ प्रतिशत सोने के सिक्कों को उसके पिता नरसिंहगुप्त का बताया है। तदनन्तर उन्होंने एक अन्य पिता नरसिंहगुप्त और पुत्र कुमारगुप्त की कल्पना की है और सहमते हुए उनकी पहचान विष्णुगुप्त के नालन्द वाले खण्डित मुद्रा में दिये गये नाम के साथ की है। इस दूसरे नरसिंह गुप्त को उन्होंने वैन्यगुप्त और भानुगुप्त के बाद और विष्णुगुप्त के पहले रखा है (क्वायनेज आव द गुप्त एम्पायर, पृ० २४७-२६८)। इस प्रकार उन्होंने वंशावली और राज्यक्रम सम्बन्धी पुराने और नये विचारों का समन्वय करने की चेष्टा की है। किन्तु उन्होंने अपनी इस धारणा के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह सब उलझी हुई है और इस बात की द्योतक है कि स्वयं उनके मस्तिष्क में उसका स्वरूप स्पष्ट नहीं था। वे इस बात को भूल गये हैं कि नरसिंहगुप्त के वे सिक्के, जिन्हें उन्होंने कुमारगुप्त द्वितीय के पिता के बताये हैं, वे उसके बेटे और भाई बुधगुप्त और वैन्यगुप्त के सिक्कों से वजन में भारी हैं और उनमें मिलावट की मात्रा अधिक है। उन्होंने इस बात का भी कोई समाधान प्रस्तुत नहीं किया है क्योंकि केवल उसके सिक्कों पर ही टांगों के बीच अक्षर हैं और फिर क्यों वे अक्षर काफी दिनों बाद वैन्यगुप्त और उसके उत्तराधिकारियों के सिक्कों पर ही दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार उनकी कल्पना में ऐसा कोई तत्व नहीं है जिसे गम्भीरता के साथ स्वीकार किया जाय।

कुमारगुप्त (तृतीय) तिथि अज्ञात
विष्णुगुप्त गुप्त संवत् २२४[1] (५४३ ई०)

इन राजाओं के अतिरिक्त गुप्त-वंश के कुछ अन्य राजे हैं जो मुद्रातात्विक और साहित्यिक सूत्रों से प्रकाश में आये हैं ; किन्तु गुप्तों के वंशावली और राज्यक्रम में उनका स्थान अभी तक पूरी तरह सुनिश्चित नहीं हो सका है। इन राजाओं के सम्बन्ध मे जानकारी इस प्रकार है---

काचगुप्त—सोने के कुछ सिक्के ऐसे हैं जिन पर चित्त और राजा के बायीं कॉख के नीचे उसका नाम काच लिखा है। ये सिक्के केवल उन्हीं दफीनों से प्राप्त हुए हैं जिनमें प्रथम चन्द्रगुप्त के सिक्के थे। जिन दफीनों में प्रथम चन्द्रगुप्त के सिक्के नहीं थे, उनमें काच नामांकित सिक्के नहीं मिले हैं।[2] एक दफीने में केवल प्रथम चन्द्रगुप्त, काच और समुद्रगुप्त के सिक्के प्राप्त हुए थे।[3] एक अन्य दफीने मे केवल समुद्रगुप्त और काच के सिक्के मिले हैं।[4] इस प्रकार काच का स्थान किसी प्रकार समुद्रगुप्त से हट कर नहीं ठहरता। ये सिक्के बनावट और बाने में भी समुद्रगुप्त के सिक्कों के बहुत कुछ समान हैं। इन पर सर्वराजोच्छेत्ता विरुद है, जिसका प्रयोग अभिलेखों में समुद्रगुप्त के लिए हुआ है। अतः विंसेण्ट स्मिथ,[5] फ्लीट,[6] और एलन[7] की धारणा रही है कि ये सिक्के समुद्रगुप्त के हैं और काच उसका अपर नाम है। इस प्रकार उनके इस मत के अनुसार इन सिक्कों से वंशावली और राज्यक्रम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और न उनसे सम्बद्ध कोई नया तथ्य सामने आता है।

किन्तु अन्य अनेक विद्वान् हैं जो काच को समुद्रगुप्त से सर्वथा भिन्न व्यक्ति मानते हैं। इस प्रकार का विचार सबसे पहले रैप्सन ने प्रकट किया था किन्तु वह कौन था, गुप्त वंश की वंशावली और राज्यक्रम में उसका क्या स्थान है, इस पर उन्होंने अपना कोई मत प्रकट नहीं किया। राखालदास बनर्जी ने भी काच का स्वतन्त्र व्यक्तित्व माना है किन्तु उनकी धारणा थी कि इन सिक्कों को समुद्रगुप्त ने अपने भाई की स्मृति में, जिसने कदाचित् युद्ध में वीरगति पायी थी, प्रचलित किया था।[8] सर्वप्रथम भण्डारकर (डी० आर०) ने काच को पहचानने का प्रयत्न किया।[9]

---

१. दामोदरपुर ताम्र-लेख, पीछे, पृ० ४२।
२. भरसर, हुगली, टेकरीडेबरा, बमनाला और कुसुभी के दफीने, पीछे, पृ० ७९; ८१; ८२, ८४।
३. टाँडा दफीना। पीछे, पृ० ८२।
४. कसरेवा दफीना। पीछे, पृ० ८१।
५. ज० रा० ए० सो०, १८८९, पृ० ७५-७६; इ० ए०, १९०२, पृ० २५९-६०।
६. का० इ० इ०, ३, पृ० २७; इ० ए०, १४, पृ० ९५।
७. ब्रि० म्यू० मु० सू०, गु० वं०, भूमिका, पृ० ३२।
८. द एज ऑव इम्पीरियल गुप्ताज, पृ० ९।
९. मालवीय कमेमोरेशन वाल्यूम, पृ० १८९।

उनकी धारणा थी कि वह द्वितीय चन्द्रगुप्त का ज्येष्ठ भाई रहा होगा जो देवी चन्द्रगुप्तम् नाटक के अवतरणों से रामगुप्त के रूप में ज्ञात है। उनका मत था कि लेखक ने राम को भूल से काच लिख दिया है। उनके इस मत से आरम्भिक दिनों में अल्तेकर (अ० स०) भी सहमत थे;[1] किन्तु उन्होंने रामगुप्त लेख-युक्त ताँबे के सिक्कों के प्रकाश में आने के पश्चात् अपना यह विचार त्याग दिया।[2]

हेरास (एच०) ने स्थापना प्रस्तुत की है कि काच समुद्रगुप्त का प्रतिद्वन्द्वी भाई था। इसका संकेत उन्हें प्रयाग प्रशस्ति में दिखाई पड़ा।[3] उनके इस मत का समर्थन इस ग्रन्थ के लेखक ने मंजु-श्री-मूल-कल्प के आधार पर किया, जिसमें समुद्रगुप्त के भस्म नामक भाई का उल्लेख है। उसने इस ओर ध्यान आकृष्ट किया कि संस्कृत कोशों में काच और भस्म परस्पर पर्याय हैं, और मंजु-श्री-मूल-कल्प का लेखक ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम को छिपाने में दक्ष था, यह सर्वविदित है ही।[4] इस प्रकार यह प्रायः निश्चित है कि समुद्रगुप्त के एक सगा अथवा सौतेला, सम्भवतः कनिष्ठ भाई था जिसका नाम काच (भस्म) था और उसने कुछ काल तक सिंहासन पर अधिकार कर लिया था अथवा करने का प्रयास किया था।

रामगुप्त—समुद्रगुप्त के द्वितीय चन्द्रगुप्त से बड़ा रामगुप्त नाम का एक और बेटा था, यह तथ्य विशाखदत्त लिखित देवी चन्द्रगुप्तम् के उपलब्ध अवतरणों से प्रकाश में आया है।[5] किन्तु इतिहासकारों का एक वर्ग उनके ऐतिहासिक अस्तित्व को स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं है। वे नाटक को इतिहास के ज्ञान का साधन नहीं मानते।[6] रामगुप्त की ऐतिहासिकता के विरुद्ध पुरातात्त्विक, मुद्रातात्त्विक और आभिलेखिक प्रमाणों का अभाव ही उनका मुख्य तर्क है। किन्तु एक दूसरा वर्ग उनकी ऐतिहासिकता में पूर्ण विश्वास करता है। इन इतिहासकारों ने यह सिद्ध करने के लिए कि यह नाटक काल्पनिक न होकर सुविख्यात घटना पर आधारित है अनेक सूत्रों से साहित्यिक सामग्री प्रस्तुत की है।[7] उनके इस विश्वास को रामगुप्त नामांकित ताँबे के

---

१. ज० न्यू० सो० इ०, ९, पृ० १३१-३३।
२. द क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, पृ० ८६।
३. आ० भ० ओ० रि०, इ०, ९, पृ० ८३-८५।
४. ज० न्यू० सो० इ०, ५, पृ० १४९-१५०।
५. पीछे, पृ० १२३-१२८।
६. विचित्र बात तो यह है कि वे ही इतिहासकार, जो गुप्त इतिहास के निमित्त नाटकों के मूल्य पर सन्देह व्यक्त करते हैं, कालिदास के मालविकाग्निमित्र को पुष्यमित्र शुंग के इतिहास-सूत्र के रूप में उद्धृत करने में संकोच नहीं करते। यदि पाँच शताब्दी पूर्व की घटनाओं के लिए कालिदास के नाटक को इतिहास-सूत्र के रूप में विश्वस्त माना जा सकता है, तो हम यह समझ पाने में असमर्थ हैं कि वे लोग विशाखदत्त के नाटक को, जिसमें उसके अपने समय की तात्कालिक अथवा अपने समय से कुछ ही पहले की घटना का उल्लेख है, किस तर्क से अमान्य ठहराते हैं।
७. आगे रामगुप्त सम्बन्धी अध्याय देखिए।

सिक्कों के प्रकाश में आने से बल मिला है।[1] फिर भी पहले वर्ग को आज भी अपने मत का आग्रह बना हुआ है। और वे गुप्तवंश में रामगुप्त का अस्तित्व स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। उनकी कल्पना है कि ताँबे के ये सिक्के मालवा के किसी स्थानीय शासक के होंगे।[2] इसके समर्थन में उन्होंने कोई तर्कसंगत साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया है। हमारा अपना मत है कि रामगुप्त की ऐतिहासिकता अस्वीकार करने का कोई आधार नहीं है। उन्हें गुप्तवंशावली में स्थान दिया जाना और राज्य-क्रम में द्वितीय चन्द्रगुप्त से पहले रखना चाहिये।

गोविन्दगुप्त—बसाढ़ (प्राचीन वैशाली)के उत्खनन से १९०३–०४ ई० में दो अत्यन्त महत्त्व की मुहरें प्राप्त हुईं जो गुप्तवंश के दो अज्ञात व्यक्तियों पर प्रकाश डालती हैं।[3] इनमें से एक पर चन्द्रगुप्त (द्वितीय) की पत्नी ध्रुवदेवी के पुत्र गोविन्द-

---

१. ज० न्यू० सो० इ०, १२, पृ० १३० आदि; १३, १२८ आदि; १७, पृ० १०८-१०९; २३, पृ० ३४० आदि।

२. द क्लासिकल एज, पृ० १७, पा० टि० १; ज० बि० रि० सो०, ४१, पृ० २१३; ज० इ० हि०, ४०, पृ० ५५३; ज० न्यू० सो० इ०, १२, पृ० १०७-११०; १८, पृ० १०९; २५, पृ० १०६-१०७; १६४; २६, पृ० १६२ आदि।

जो विद्वान् सिक्कों के रामगुप्त को गुप्तवंश का रामगुप्त स्वीकार करने के प्रबल विरोधी हैं और यह कहते हैं कि वह मालव का स्थानीय शासक रहा होगा, वे अत्यन्त सहज भाव से यह बात भुला देते हैं कि जिस क्षेत्र से ये सिक्के प्राप्त होते हैं उन पर गुप्तों से तत्काल पूर्व नागों, भारशिवों और पश्चिमी क्षत्रपों का अधिकार था और गुप्तों के तत्काल बाद उस पर हूणों और यशोधर्मन ने अधिकार कर लिया था। अतः इस काल में तो किसी स्थानीय शासक की कल्पना की ही नहीं जा सकती।

दूसरी बात, वे प्रायः रामगुप्त के सिक्कों की बनावट तथा उनके लेख मग, मगत, मगुत, मगु में मालव सिक्कों के साथ समानता होने की चर्चा किया करते हैं। किन्तु उनमें से कदाचित् किसीने भी मालव सिक्कों को देखने-समझने का कष्ट नहीं किया और न यह जानने की चेष्टा की कि रामगुप्त के सिक्कों के मिलने वाले क्षेत्र में अथवा चित्तौड़ क्षेत्र के बाहर क्या एक भी मालव सिक्का प्राप्त हुआ है। वास्तविक तथ्य यह है कि मालव सिक्के चित्तौड़ क्षेत्र के बाहर सर्वथा अज्ञात हैं। जिन रहस्यमय लेखों की चर्चा ये विद्वान् प्रस्तुत प्रसंग में किया करते हैं उनकी छाप में ठप्पे की चारो ओर की रेखाएँ स्पष्ट प्रकट होती हैं, जो इस बात की द्योतक हैं कि वे लेख अपने आप में पूरे हैं। रामगुप्त के सिक्कों पर मिलने वाले उपर्युक्त लेखों के ठप्पों की सीमारेखा नहीं दिखाई पड़ती जो इस बात के द्योतक हैं कि वे लेख अधूरे हैं। मालव सिक्कों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे धातु के अत्यन्त पतले चादरों के बने हैं और रामगुप्त के सिक्कों की तरह कदापि मोटे नहीं हैं। इस प्रकार दोनों सिक्कों में किसी प्रकार की ऐसी कोई समानता नहीं है जिससे एक दूसरे की तुलना की जा सके अथवा प्रभाव ढूँढ़ा जा सके। रामगुप्त के सिक्कों की बनावट और उनके रूप की तुलना यदि किन्हीं सिक्कों से की जा सकती है तो वे पद्मावती के नाग सिक्के हैं और यह स्वाभाविक भी है। उस क्षेत्र में नागों के उत्तराधिकारी के रूप में, गुप्त उनके अनुकरण पर सिक्के प्रचलित कर सकते हैं।

३. आ० स० इ०, ए० रि०, १९०३-०४, पृ० १०४।

गुप्त का नाम है। इससे ज्ञात होता है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त के प्रथम कुमारगुप्त से बड़ा गोविन्दगुप्त नामक एक और पुत्र था।

इस मुद्रा के आधार पर गुप्त वंशावली में गोविन्दगुप्त का स्थान तो सभी स्वीकार करते हैं पर अनेक विद्वान् उनके राजा होने की बात को स्वीकार नहीं करते।[१] १९२३ ई० में जब मन्दसोर से एक अभिलेख प्राप्त हुआ[२] जिसमें उनका उल्लेख विशद रूप में किया गया है तो उसके आधार पर कहा जाने लगा कि वह अपने छोटे भाई प्रथम कुमारगुप्त के अधीन मालवा का शासक था। किन्तु अन्यत्र हमने इसकी असम्भवता पर विचार किया है।[३] जैसा कि जगन्नाथ का कहना है[४] अधिक सम्भावना इस बात की ही है कि वह कुमारगुप्त से पूर्व गुप्त संवत् ९३ और ९६ के बीच थोड़े समय के लिए शासनारूढ़ हुआ था।

घटोत्कचगुप्त—बसाढ़ की दूसरी मुद्रा पर घटोत्कचगुप्त नाम अंकित है। इस आधार पर आरम्भ में ब्लाख (टी०) ने इस मुद्रा के घटोत्कचगुप्त की पहचान प्रथम चन्द्रगुप्त के पिता घटोत्कच से की थी।[५] उनके इस सुझाव को विंसेण्ट स्मिथ ने भी मान्य ठहराया था।[६] पर जब १९१४ ई० में एलन (जे०) ने लेनिनग्राड संग्रहालय के सोने के उस सिक्के को प्रकाशित किया, जिस पर राजा की बाँयीं काँख के नीचे घटो अंकित है, तो उन्होंने इस पहचान की असम्भवता की ओर इंगित किया और कहा कि इस मुहर का काल द्वितीय चन्द्रगुप्त के राज्य-काल के अन्त में ही रखा जा सकता है, उस समय चन्द्रगुप्त जीवित रहा होगा।[७] बाने और बनावट के आधार पर एलन ने सिक्के का समय पाँचवीं सती का अन्त अनुमान किया और सिक्के के चलाने वाले घटोत्कचगुप्त को द्वितीय कुमारगुप्त का समकालिक माना।

१९२९ ई० में तुमेन से प्रथम कुमारगुप्त का गुप्त संवत् ११६ का अभिलेख प्राप्त हुआ। उसमें घटोत्कचगुप्त का उल्लेख है, और वह उल्लेख इस ढंग से है जिससे जान पड़ता है कि वह प्रथम कुमारगुप्त का सगा उत्तरवर्ती वंशज था।[८] गद्रे (एम० बी०) की धारणा है कि वह प्रथम कुमारगुप्त का बेटा था; और अपने पिता के जीवन

---

१. इ० हि० क्वा०, २४, पृ० ७२-७५; गु० इ०, पृ० ४९७, पा० टि० २।

२. ए० इ०, २७, पृ० १२ आदि।

३. आगे गोविन्द गुप्त सम्बन्धी अध्याय देखिए।

४. इ० हि० का० २२, पृ० २८६; प्रो० इ० हि० कां० ९, पृ० ७८; भारत कौमुदी, २, पृ० १०८३।

५. आ० स० इ०, ए० रि०, १९०३-०४, पृ० १०२।

६ ज० रा० ए० सो०, १९०५, पृ० १५३; अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, दूसरा संस्करण, पृ० २६६, पा० टि० २।

७. ब्रि० म्यू० मु० सू०, गु० वं०, भूमिका, पृ० १७।

८. ए० इ०, २६, पृ० ११५ आदि।

काल में वह एरिकिण (एरण) का शासक रहा होगा।[1] घटोत्कचगुप्त के सिक्के उपलब्ध होने से[2] इतना तो निःसन्दिग्ध सिद्ध है कि उसने सिंहासन पर अपना अधिकार घोषित किया था। इन पंक्तियों के लेखक ने बयाना दफीने से प्राप्त क्रमादित्य विरुद अंकित एक सिक्के के आधार पर यह मत व्यक्त किया है कि वह प्रथम कुमारगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र था और स्कन्दगुप्त से पूर्व कुछ काल के लिए उसने सिंहासन पर अधिकार प्राप्त किया था।[3]

किन्तु प्रथम कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त के बीच में घटोत्कचगुप्त के होने की बात स्वीकार करने में सबसे बड़ी बाधा गुप्त संवत् १३६ की तिथि से उपस्थित होती रही है। विंसेण्ट स्मिथ के कथनानुसार यह तिथि प्रथम कुमारगुप्त की अन्तिम तिथि थी। उनका कहना था कि उन्होंने इस तिथि से युक्त चाँदी का एक सिक्का वॉस्ट (डब्लू०) के संग्रह में देखा था।[4] दूसरी ओर जूनागढ़ अभिलेख की यही तिथि, कुछ लोगों द्वारा की जाने वाली व्याख्या के अनुसार, स्कन्दगुप्त की आरम्भिक तिथि भी है। अतः लोग अधिक से अधिक उसके सिंहासन प्राप्त करने के प्रयत्न की बात स्वीकार करते हैं।[5] किन्तु सिक्कों के प्रचलन का अर्थ इससे कहीं अधिक होता है। घटोत्कच-गुप्त ने कुछ काल तक सिंहासन पर वस्तुतः अधिकार किया था इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

बैशम (ए० एल०) ने कुमारगुप्त प्रथम के १३६ तिथि वाले चाँदी के सिक्के के प्रमाण को अग्राह्य बताया है। उनकी धारणा है कि यह सिक्का कुमारगुप्त के मरणोपरान्त बना होगा। इस सम्बन्ध में उन्होंने, इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए कि आज भी मृत शासक के नाम पर उसकी मृत्यु के कुछ महीनों बाद तक सिक्के बन सकते हैं, स्कन्दगुप्त के राज्यारोहण के विवादग्रस्त काल में किसी प्रादेशिक टकसाल के टकसाली द्वारा अधिक दिनों तक पूर्ववर्ती राजा के नाम के सिक्के ढालने की सम्भावना पर बल दिया है।[6] इसके समर्थन में हमने अन्यत्र इस ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि इस प्रकार के उदाहरण भारतीय मुद्राओं के इतिहास में अज्ञात नहीं हैं। मुगल सम्राट् अकबर के इलाही वर्ष ५१ के सोने और ताँबे के सिक्के मिलते हैं, जब कि वह इलाही वर्ष ५१ आरम्भ होने से कई महीने पहले मर चुका था। और ये सिक्के किसी दूरस्थ टकसाल के नहीं हैं। सोने का सिक्का तो राजधानी आगरा के टकसाल का ही है और ताँबे के सिक्के गोरखपुर टकसाल के हैं।[7] इसी प्रकार

---

१. वही।
२. ब्रि० सं० मु० सू०, गु० वं०, पृ० १४०।
३. ज० न्यू० सो० इ०, १४, पृ० ९९ आदि।
४. ज० ए० सो० बं०, १८९४, पृ० १७५।
५. डिक्लाइन ऑव द किंगडम ऑव मगध, पृ० ३७।
६. बु० स्कू० ओ० अ० स्ट०, १७, पृ० ३६७।
७. ज० इ० हि०, ४०, २५०-५१।

औरंगजेब ११९८ हिजरी में मर गया था पर उसके नाम के १११९ हिजरी के सिक्के शाहजहाँनाबाद (दिल्ली) टकसाल के मिलते हैं।[१] इस प्रकार उक्त सिक्के के मरणोपरान्त प्रचलित किये जाने की सम्भावना भली भाँति मानी जा सकती है और कहा जा सकता है कि कुमारगुप्त इससे एक बरस पहले मरा होगा।

हमने इस तथ्य की ओर भी इंगित किया है कि जूनागढ़ अभिलेख में ऐसी कोई बात नहीं है जिससे कहा जाय कि वह गुप्त संवत् १३६ में सुदर्शन झील के फटने के पूर्व स्कन्दगुप्त गद्दी पर बैठा था।[२] इस प्रकार कुमारगुप्त प्रथम और स्कन्दगुप्त के बीच कुछ ऐसे महीनों का ऐसा समय हो सकता है जब घटोत्कचगुप्त गद्दी पर रहा हो।

किन्तु अब इस विषय पर किसी प्रकार के अनुमान करने की आवश्यकता नहीं रही। कुमारगुप्त प्रथम ने गुप्त संवत् १३० के आगे बहुत दिनों तक शासन नहीं किया यह उसके चाँदी के सिक्कों के पुनर्परीक्षण से निःसंदिग्ध रूप में स्पष्ट होता है। उसके तिथियुक्त सिक्कों पर ३० का अंक निःसन्दिग्ध रूप में अंकित मिलता है पर उसके आगे इकाई की कोई संख्या है यह विश्वासपूर्वक कदापि नहीं कहा जा सकता। वर्ष १३१, १३२ और १३३ के किसी सिक्के के होने का न तो कहीं उल्लेख प्राप्त है और न कोई जानकारी। स्मिथ ने एक सिक्के पर १३४,[३] दो सिक्कों पर १३५[४] और एक सिक्के पर १३६[५] का वर्ष अंकित होने की बात कही है। किसी अन्य को इन तिथियों वाले सिक्कों के अस्तित्व का न पता है और न किसी ने स्मिथ द्वारा बताये गये इन सिक्कों का परीक्षण किया। सभी लोग आँख मूँद कर उसकी बात मानते चले आ रहे हैं।

स्मिथ ने १३६ तिथि युक्त सिक्का १८९४ ई० में वॉस्ट (डब्लू०) के संग्रह में देखा था। उसके बाद न तो किसी ने उस सिक्के को देखा और न किसी को यह ज्ञात ही था कि वह सिक्का कहाँ है। १९६२ ई० में जब हम इंगलैण्ड गये तब हमें सैण्डरस्टेड (सरे) में वॉस्ट महोदय की विधवा के यहाँ उनका संग्रह देखने का अवसर मिला। वहाँ यह सिक्का जिस लिफाफे में रखा हुआ था उस पर १३६ का वर्ष अंकित था, फलतः उसने मेरा ध्यान आकृष्ट किया और हमने उसका ध्यानपूर्वक परीक्षण किया। यद्यपि स्मिथ का कहना था कि उस पर ६ का अंक पूर्णतः सुरक्षित है पर हमें उस पर वह अंक कहीं दिखाई नहीं पड़ा। ३० की संख्या के चिन्ह के आगे कुछ हलका-सा चिह्न अवश्य नजर आता है पर वह इकाई की संख्या का अवशेष है यह दृढ़ता पूर्वक नहीं

---

१. ब्रि० म्यु० मु० सू०, मु० का०, सिक्का ८४५।

२. ज० इ० हि०, ४०, पृ० २५१-५२। जूनागढ़ अभिलेख के २५ वीं पंक्ति में 'अथ' शब्द का तात्पर्य विद्वानों ने 'इसके बाद' अर्थात् 'स्कन्द गुप्त के राज्यारोहण के बाद' ग्रहण किया है। किन्तु वस्तुतः वह केवल बाँध के टूटने के एक नये प्रसंग के आरम्भ का द्योतक है।

३. इ० म्यू० सू०, १, पृ० १६६, सिक्का ५३।

४. ज० रा० ए० सो०, १८८९, पृ० १२८।

५. ज० ए० सो० बं०, १८९४, पृ० १७५।

कहा जा सकता। वस्तुस्थिति जो भी हो, उस अवशिष्ट चिन्ह को किसी प्रकार की कल्पना के सहारे ६ नहीं पढ़ा जा सकता। इस प्रकार अब हम विश्वासपूर्वक कहने में समर्थ हैं कि कुमारगुप्त प्रथम का कोई सिक्का वर्ष १३६ का है ही नहीं।

स्मिथ ने वर्ष १३५ युक्त दो सिक्कों की चर्चा की है। एक को उन्होंने मेथ्यू-संग्रह से प्राप्त ब्रिटिश संग्रहालय में बताया है और दूसरे को प्रिंसेप संग्रह में कहा है; किन्तु दोनों ही सिक्कों के तिथि के सम्बन्ध में उन्होंने कुछ भी निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा है। पहले के सम्बन्ध में उनका कहना है **"सीम्स टु मी टु बी डेटेड इन १३५"** (मुझे लगता है कि उस पर १३५ की तिथि है) और दूसरे के सम्बन्ध में उनका वाक्य है **"सीम्स टु बियर दि सेम डेट"** (इस पर भी वही तिथि जान पड़ती है)। जहाँ तक सिक्कों की बात है, ब्रिटिश संग्रहालय में एक भी सिक्का ऐसा नहीं है जिस पर दहाई की संख्या ३० हो। इस संग्रह के सिक्कों पर एलन ने अन्तिम तिथि १२४ पढ़ा है।[1] स्वयं हमने ब्रिटिश संग्रहालय के कुमारगुप्त प्रथम के चाँदी के एक-एक सिक्के का ध्यानपूर्वक परीक्षण किया किन्तु हमें स्मिथ वर्णित सिक्के की तरह का कोई सिक्का नहीं मिला। प्रिंसेप-संग्रह के सिक्के भी ब्रिटिश संग्रहालय में ही पहुँच गये हैं और वहाँ उनके संग्रह के कुमारगुप्त प्रथम के कितने ही सिक्के हैं पर उनमें से किसी पर भी उक्त तिथि नहीं है। स्मिथ ने इस सिक्के का जो चित्र प्रकाशित किया है, उसपर भी हम १३५ पढ़ने में असमर्थ रहे। इस प्रकार हम पूर्ण आश्वस्त हैं कि वर्ष १३५ के किसी भी सिक्के का कोई अस्तित्व नहीं है।

स्मिथ ने वर्ष १३४ वाले सिक्के का उल्लेख अपने इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता की सूची में किया है, किन्तु उसमें उन्होंने तिथि के उल्लेख में प्रश्नवाचक चिन्ह का प्रयोग किया है; जो इस बात का द्योतक है कि उन्हें स्वयं अपने पाठ पर सन्देह था। हमने स्वयं इस सिक्के का परीक्षण किया; उसपर १३४ की तिथि नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि इन सभी सिक्कों के सम्बन्ध में स्मिथ कल्पनाशील ही रहे हैं। हो सकता है कुमारगुप्त के राज्यकाल को स्कन्दगुप्त के निकट खींच लाने की भावना ने उन्हें अचेतन रूप में इसके लिए प्रेरित किया हो; पर वे अपने इस प्रयत्न में बुरी तरह असफल सिद्ध हुए। जब तक ३० की दहाई वाली संख्या के साथ स्पष्ट इकाई की संख्या से युक्त कोई सिक्का प्राप्त नहीं होता तब तक किसी प्रकार भी यह नहीं कहा जा सकता कि कुमारगुप्त ने गुप्त संवत् १३६ तक शासन किया। अधिक से अधिक यही अनुमान किया जा सकता है कि १३० के बाद कुछ दिनों उसने शासन किया होगा। इस तथ्य के प्रकाश में स्पष्टतः कुमारगुप्त की अन्तिम तिथि १३× और स्कन्दगुप्त के शासन कालीन तिथि १३६ के बीच बहुत बड़ा अन्तर है। इस अवधि के बीच किसी भी समय तक सुविधापूर्वक घटोत्कचगुप्त ने शासन किया होगा।

---

१. ब्रि० स० म्यु० सू० ..., पृ० १०९, सिक्का ३९८।

गुप्त-वंश के उत्तरवर्ती इतिहास में भी साहित्य, सिक्कों और अभिलेखों के आधार पर कतिपय नये नामों की स्थापना करने का प्रयास हुआ है। युवांग-च्वांग के यात्रा-विवरण में नालन्द के संघारामों के निर्माताओं के रूप में शक्रादित्य, बुधगुप्तराज, तथागतराज, बालादित्य और वज्र नामक राजाओं का उल्लेख है।[1] इतिहासकारों की धारणा है कि ये सभी राजे एक ही वंश अर्थात् गुप्त-वंश के हैं। चीनी विवरण में इनके लिए "पुत्र" वाची शब्द का प्रयोग हुआ है जिससे ऐसा ध्वनित होता है कि ये राजे क्रमशः एक दूसरे की सन्तान थे। किन्तु अधिक सम्भावना इस बात की है कि उक्त यात्रा-विवरण में "पुत्र" शब्द का प्रयोग अपने रूढ़ अर्थ में नहीं हुआ है; यहाँ उसका तात्पर्य वंशज अथवा उत्तराधिकारी से ही है। यह आवश्यक नहीं कि इनमें से कोई अपने पूर्ववर्ती का पुत्र अथवा तात्कालिक उत्तराधिकारी हो ही। किन्तु यह बात मान लेने पर भी इन राजाओं की पहचान गुप्तवंशी राजाओं के रूप में कर सकना सहज नहीं है। युवांग-च्वांग की इसी सूची के बुधगुप्तराज और बालादित्य को बिना किसी कठिनाई के बुधगुप्त और नरसिंहगुप्त बालादित्य के रूप में पहचाना जा सकता है;[2] किन्तु अन्य तीन के पहचानने में कठिनाई जान पड़ती है।

अधिकांश इतिहासकारों ने शक्रादित्य की पहचान प्रथम कुमारगुप्त से करने की चेष्टा की है। इस पहचान के मूल में केवल यही बात है कि बुधगुप्त के पूर्ववर्ती राजाओं में वही एक ऐसा राजा था जिसने महेन्द्रादित्य की उपाधि धारण की थी और महेन्द्रादित्य और शक्रादित्य परस्पर पर्यायवाची हैं।[3] सिनहा (वि० प्र०) ने शक्रादित्य को कुमारगुप्त (द्वितीय) अनुमान किया है क्योंकि बुधगुप्त के ठीक पहले वही शासक हुआ था। उनकी धारणा है कि उसने प्रथम कुमारगुप्त के अनुकरण में शक्रादित्य उपाधि धारण की होगी। उनकी यह भी कल्पना है कि युवांग-च्वांग दो कुमारगुप्तों में अन्तर न कर पाया होगा और प्रथम कुमारगुप्त की उपाधि का प्रयोग द्वितीय कुमारगुप्त के लिए कर दिया होगा।[4] किन्तु हमें तो दोनों ही कुमारगुप्तों के शक्रादित्य होने में सन्देह है। महेन्द्र और शक्र के परस्पर पर्यायवाची होने पर भी प्रथम कुमारगुप्त को शक्रादित्य इसलिए नहीं कहा जा सकता कि नालन्द में कोई भी पुरातात्त्विक अवशेष ऐसा नहीं मिला है जिसे गुप्त-इतिहास के पूर्व काल में रखा जा सके। दूसरे शब्दों में वहाँ कोई ऐसा अवशेष नहीं है जिसे प्रथम कुमारगुप्त के राज्यकाल में बना माना जा सके। द्वितीय कुमारगुप्त के सिक्कों पर उसका विरुद क्रमादित्य है। अतः कोई कारण

---

१. पीछे, पृ० १५४-१५५।

२. जायसवाल ने युवांग-च्वांग के बालादित्य की पहचान भानुगुप्त से की है (इम्पीरियल हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० ५४); रायचौधुरी ने उनके मत का समर्थन किया है (पो० हि० ए० इ०, ५वाँ सं०, पृ० ५९६)।

३. पो० हि० ए० इ०, ५वाँ सं०, पृ० ५७०-७१।

४. डिक्लाइन ऑव द किंगडम ऑव मगध, पृ० ६९।

नहीं कि कल्पना की जाय कि उसने प्रथम कुमारगुप्त के विरुद को अपनाया होगा। युवांग-च्वांग के विवरण में काल-क्रम सम्बन्धी विसंगतियों को देखते हुए दो कुमारगुप्तों के बीच गड़बड़ी की सम्भावना की कल्पना की जा सकती है। पर ऐसी गड़बड़ी हुई ही, यह कोरा अनुमान होगा, इसके लिए कोई आधार नहीं है। गुप्तवंश में द्वितीय कुमारगुप्त का अस्तित्व, अनस्तित्व के समान है। उसने इतने अल्पकाल तक शासन किया कि यह अनुमान करना कि उसने किसी भी महत्त्व का कोई संघाराम बनवाया था, अतिरंजना मात्र होगी। अतः हमारी धारणा है कि शक्रादित्य यदि गुप्तवंशीय शासक था तो वह सम्भवतः स्कन्दगुप्त रहा होगा। उसे कहाँव अभिलेख में शक्रोपम[1] कहा गया है।

बुधगुप्त के उत्तराधिकारी के रूप में तथागतराज का परिचय किसी पुरातात्त्विक सूत्र से प्राप्त नहीं होता। अतः इतिहासकारों ने उसे गुप्त-वंश का अज्ञात शासक मान कर वैन्यगुप्त के पश्चात् और भानुगुप्त से पहले रखने की चेष्टा की थी। उसे वे युवांग-च्वांग कथित बालादित्य बताते रहे हैं। सिनहा (वि० प्र०)[2] और सुधाकर चट्टोपाध्याय[3] ने बालादित्य (नरसिंहगुप्त) के पूर्वाधिकारी के रूप में उसकी पहचान वैन्यगुप्त से की है। किन्तु युवांग-च्वांग ने किसी भी कारण से वैन्यगुप्त का उल्लेख तथागतराज के नाम से किया होगा, ऐसा मानना किसी भी प्रकार युक्तिसगत नहीं है। हमारी समझ में तथागत और बुद्ध परस्पर पर्यायवाची हैं। अतः हो सकता है, बुध और बुद्ध में अन्तर न मानकर युवांग-च्वांग अथवा उसके लिपिक ने प्रमादवश बुधगुप्त के नाम को तथागतराज के रूप में दुहरा दिया हो। किन्तु तथागतराज के स्व-अस्तित्व की सम्भावना भी कम बलवती नहीं है। यदि तथागतराज नामक शासक वस्तुतः हुआ था तो हमारी धारणा है कि वह सोने के सिक्कों वाला प्रकाशादित्य होगा। उक्त सिक्कों की चर्चा करते हुए हमने आगे अपनी इस धारणा के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है।

नालन्द विहार के अन्तिम संरक्षक वज्र को एक विद्वान् ने वैन्यगुप्त बताया है। उनका तर्क है कि वैन्य वेणु का अपत्यवाचक है और वेणु इन्द्र का नाम है और इन्द्र के आयुधों में एक वज्र भी है। यह तर्क अपने आप में खींचतान का है। इसके अतिरिक्त यह भी द्रष्टव्य है कि वैन्यगुप्त नरसिंहगुप्त बालादित्य का पूर्वाधिकारी था, उत्तराधिकारी नहीं। राधागोविन्द बसाक का मत है कि वज्र (वज्रादित्य) तृतीय कुमारगुप्त का विरुद रहा होगा।[4] किन्तु उसके सिक्कों पर स्पष्ट रूप से उसका विरुद क्रमादित्य

---

१. पंक्ति ३ (का० इ० इ०, ३, पृ० ६७)।

२. डिक्लाइन ऑव द किंगडम ऑव मगध, पृ० १००।

३. अर्ली हिस्ट्री ऑव नार्थ इण्डिया, पृ० १९१।

४. हिस्ट्री ऑव नार्थ ईस्टर्न इण्डिया, पृ० ७९।

प्राप्त होता है। अतः वज्र की पहचान तृतीय कुमारगुप्त के रूप में भी नहीं की जा सकती। रायचौधुरी ने वज्र के रूप में उस राजा की सम्भावना प्रकट की है, जिसे पराजित और मार कर यशोधर्मन ने अपने राज्य का विस्तार पूर्व में लौहित्य तक किया था। उसे वे भानुगुप्त का (भानुगुप्त को वे युवांग-च्वांग कथित बालादित्य मानते हैं) पुत्र, **मंजुश्री मूलकल्प** कथित वकाराख्य और सारनाथ अभिलेख के प्रकटादित्य का छोटा भाई अनुमान करते हैं।[1] पर उनकी ये धारणाएँ भी खींचतान से भरी हुई हैं। सम्भावना इस बात की है कि वज्र का तात्पर्य या तो विष्णुगुप्त से है या फिर वह विष्णुगुप्त का कोई उत्तराधिकारी होगा। सुमण्डल (उड़ीसा) अभिलेख से ज्ञात होता है कि विष्णुगुप्त के पश्चात् भी गुप्त-वंश का अस्तित्व कुछ काल तक बना रहा।

गुप्तवंश का कुछ उल्लेख **मंजुश्री मूलकल्प** नामक बौद्ध ग्रन्थ में भी मिलता है। किन्तु इसका जो रूप आज उपलब्ध है वह अत्यन्त विसंगतिपूर्ण है और उसमें शासकों के नाम सांकेतिक ढंग से दिये गये हैं। लेखक को इतिहास से कोई मतलब न था; उसने ऐतिहासिक बातों की चर्चा अपने उद्देश्य विशेष से की है। इस कारण उसकी ऐतिहासिक चर्चा में कोई क्रम भी नहीं है। उसने कुछ बातें एक वर्ग के राजाओं के सम्बन्ध में कही हैं और फिर उसे अधूरा छोड़ कर दूसरे राजाओं के सम्बन्ध में कहने लगा है। इस प्रकार इसमें गुप्त-वंश का जो भी इतिहास है वह बिखरा हुआ है और कहीं-कहीं दुहराया हुआ भी जान पड़ता है।

इस ग्रन्थ में एक स्थल पर (१) समुद्र, (२) विक्रम, (३) महेन्द्र और (४) स-नामाद्य राजा का उल्लेख है।[2] तदनन्तर देवराज का नाम है।[3] इन नामों में समुद्र को समुद्रगुप्त के रूप में, विक्रम को चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के रूप में, महेन्द्र को प्रथम कुमारगुप्त के रूप में और स-नामाद्य को स्कन्दगुप्त के रूप में पहचान लेना सहज है; पर गुप्त-वंश में किसी देवराज को ढूँढ़ पाना कठिन है। यों तो देव नाम से द्वितीय चन्द्रगुप्त का उल्लेख कतिपय अभिलेखों में मिलता है,[4] पर यहाँ देवराज का उल्लेख स्कन्दगुप्त (स-नामाद्य) के बाद हुआ है, इसलिए निस्सन्देह यहाँ उनसे तात्पर्य नहीं है। काशीप्रसाद जायसवाल ने, जिन्होंने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है, देवराज को स्कन्दगुप्त का दूसरा नाम माना है।[5] किन्तु उनका यह अनुमान भी अत्यन्त सन्दिग्ध है। इसी ग्रन्थ में अन्यत्र देव का उल्लेख हुआ है और वहाँ उसके उत्तराधिकारियों के रूप में चन्द्र और द्वादश की चर्चा की गयी है।[6] इस स्थल पर जाय

---

१. पो० हि० ए० इ०, ५वाँ सं०, पृ० ५९७।

२. छन्द ६४५-४६।

३. छन्द ६४७।

४. साँची अभिलेख, पंक्ति ७ (पीछे, पृ० १४); पांडे, ८५।

५. इम्पीरियल हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० ३५।

६. छन्द ६७६-६७८।

सवाल ने **देव** को उत्तरवर्ती मागधेय गुप्त-वंश के आदित्यसेन का पुत्र और विष्णुगुप्त का पिता माना है।[1] उनके इस सुझाव में तारतम्य का अभाव है। जायसवाल ने **द्वादश** को सिक्कों का **द्वादशादित्य** अर्थात् वैन्यगुप्त और **चन्द्र** को सिक्कों का **चन्द्रादित्य** अर्थात् विष्णुगुप्त कहा है और विष्णुगुप्त को जीवितगुप्त का पिता बताया है। सिक्कों के वैन्यगुप्त द्वादशादित्य और विष्णुगुप्त चन्द्रादित्य मुख्य गुप्त-सम्राटवंश के थे, यह बात आज निःसन्दिग्ध रूप से सिद्ध हो चुकी है। अतः उनका सम्बन्ध उत्तरवर्ती मागधेय गुप्त-वंश से नहीं जोड़ा जा सकता। ऐसी स्थिति में **मंजुश्री मूलकल्प** के **देव** और **चन्द्र** को भी मागधेय उत्तरवर्ती गुप्त वंश का राजा नहीं बताया जा सकता। उन्हें मुख्य गुप्त-सम्राट वंश में ही वैन्यगुप्त के पूर्वज के रूप में मानना होगा। इन तथ्यों के प्रकाश में देखने पर ज्ञात होता है कि **मंजुश्री मूलकल्प** के **देव** और **देवराज** एक ही व्यक्ति हैं और वे स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारी थे। हमारी धारणा है कि ये नाम बुधगुप्त की ओर संकेत करते हैं (देव बुद्ध का पर्यायवाची कहा जा सकता है)। उसका उत्तराधिकारी और वैन्यगुप्त का पूर्वाधिकारी **चन्द्र** था, ऐसा कुछ सिक्कों से जान पड़ता है। इन सिक्कों की चर्चा आगे की गयी है। देवराज की बुधगुप्त के रूप में हमने जो पहचान उपस्थित की है, इसका समर्थन **मंजुश्री मूलकल्प** के उस अंश से होता है जिसमें **बल** को **देवराज** का छोटा भाई कहा गया है।[2] और **बल** की पहचान जायसवाल ने उचित रूप में **बालादित्य** अर्थात् बुधगुप्त के भाई नरसिंहगुप्त से की है।[3]

आगे **बल** के उत्तराधिकारियों के रूप में **मंजुश्री-मूलकल्प** ने **कुमार** और **उकाराख्य** की चर्चा की है।[4] जायसवाल ने समुचित रूप से **कुमार** की पहचान नरसिंहगुप्त के पुत्र तृतीय कुमारगुप्त के रूप में की है, जो उन दिनों बुधगुप्त का पूर्ववर्ती द्वितीय कुमारगुप्त समझा जाता था। द्वितीय कुमारगुप्त को बुधगुप्त का पूर्ववर्ती मान कर जायसवाल ने **उकाराख्य** राजा को बुधगुप्त माना है और **प्रकाशादित्य** विरुद अंकित सोने के सिक्कों को उसका बताया है क्योंकि उस पर **उ** अक्षर प्राप्त होता है।[5] किन्तु यह धारणा ग्राह्य नहीं है। **प्रकाशादित्य** के सिक्के बुधगुप्त के बहुत पीछे के हैं और नरसिंहगुप्त और कुमारगुप्त दोनों बुधगुप्त के बहुत पीछे हुए थे। अतः कुमारगुप्त तृतीय के उत्तराधिकारी के रूप में **उकाराख्य** राजा की पहचान उसके बेटे विष्णुगुप्त से की जानी चाहिए।

मंजुश्री मूलकल्प के एक स्थल पर **भस्म** नामक राजा का उल्लेख है और उसे

---

१. इम्पीरियल हिस्ट्री आव इण्डिया, पृ० ४३-४४।
२. छन्द ६४८; पीछे, पृ० १०९।
३. इम्पीरियल हिस्ट्री आव इण्डिया, पृ० ३७-३८।
४. छन्द ६७४-७५; पीछे, पृ० ११०।
५. इम्पीरियल हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० ३८।

समुद्रगुप्त का छोटा भाई कहा गया है।[1] उसकी पहचान हम पहले काचगुप्त के रूप में कर चुके हैं।[2]

आगे मंजुश्री मूलकल्प में वैशाल्या (वैशाली-कन्या) से 'जात' राजा के वंशज भ और उसके पुत्र प अथवा प्र का उल्लेख हुआ है। प से पहले व नामक राजा के एक सप्ताह राज्य करने की बात कही गयी है।[3] अन्यत्र भ का उल्लेख प के बाद हुआ है, और उसका उत्तराधिकारी व को बताया गया है।[4] यदि वैशाल्या जात का तात्पर्य समुद्रगुप्त से है, जैसा कि जायसवाल ने माना है, तभी कहा जा सकता है कि उन राजाओं का सम्बन्ध गुप्त-वंश से है। पहले अवतरण के भ को जायसवाल भानुगुप्त मानते हैं और उसका विरुद बालादित्य अनुमान करते हैं; और तब यह सुझाव रखते हैं कि प अथवा प्र उसका बेटा प्रकटादित्य था (बालादित्य पुत्र प्रकटादित्य का उल्लेख सारनाथ के एक लेख में हुआ है[5]) और व उसका भाई था; इसकी पहचान युवान-च्वांग द्वारा उल्लिखित वज्र से करते हैं।[6] दूसरे अवतरण के प अथवा प्र तथा व की पहचान वे पहले अवतरण की भाँति ही प्रकटादित्य और वज्र से करते हैं किन्तु वे भ की कोई चर्चा नहीं करते। कदाचित् इसलिए कि यह पंक्ति ग्रन्थ के तिब्बती संस्करण में नहीं है।[7] जायसवाल की यह धारणा उचित ही है कि दोनों अवतरणों में भ, व और प नामक एक ही राजाओं का उल्लेख किया गया है। किन्तु भ के भानुगुप्त, व के वज्र और प के प्रकटादित्य होने की जो बात उन्होंने कही है, वह संदिग्ध है। बालादित्य नरसिंहगुप्त का विरुद था केवल इस आधार पर प की पहचान प्रकटादित्य से कर सकना हमारे लिए सम्भव नहीं है। सारनाथ अभिलेख इतने बाद का है कि उसमें उल्लिखित किसी राजा को गुप्त-काल में रखना सम्भव नहीं है।

गुप्तकालीन पुरातात्विक सामग्री के प्रकाश में व की पहचान वैन्यगुप्त से, भ की भानुगुप्त से और प अथवा प्र की पहचान सोने के सिक्कों के प्रकाशादित्य से करना अधिक संगत प्रतीत होता है। किन्तु इस पहचान में ग्रन्थ में दिया गया राज्य-क्रम आड़े आता है। हो सकता है मंजुश्री मूलकल्प का लेखक इस स्थल पर भ्रमित हो। वस्तुस्थिति जो भी हो, उसके इन अवतरणों के आधार पर गुप्त कालीन इतिहास सम्बन्धी कोई भी निष्कर्ष प्रस्तुत करना निरापद न होगा।

गुप्त सिक्कों की बनावट के कुछ सोने और ताँबे के ऐसे सिक्के प्राप्त हैं, जिनके देखने

---

१. छन्द ७४१; पीछे, पृ० १११-१२।

२. पीछे, पृ० १७५।

३. छन्द ७५०-६२; पीछे, पृ० ११२।

४. छन्द ८४०-८४४; पीछे, पृ० ११५।

५. का० इ० इ०, ३, पृ० २८४।

६. इम्पीरियल हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० ५३-५४; वि० प्र० सिनहा ने इस मत का समर्थन किया है (डिक्लाइन ऑव द किंगडम ऑव मगध, पृ० ९३)।

७. इम्पीरियल हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० ५६।

से धारणा होती है कि उसके प्रचलन-कर्ताओं का सम्बन्ध गुप्तवंश से ही होगा। किन्तु अभी तक उन पर सम्यक् रूप से विचार नहीं किया गया है। इन सिक्कों पर चन्द्र, समुद्र, हरिगुप्त नाम और प्रकाशादित्य विरुद प्राप्त होते हैं।

प्रकाशादित्य—सोने के कुछ सिक्कों पर पट ओर प्रकाशादित्य विरुद अंकित पाया जाता है।[1] इस प्रकार के अब तक जितने भी सिक्के प्राप्त हुए हैं, उनमें किसी में भी चित ओर प्रचलन-कर्ता शासक का नाम नहीं मिलता। अतः लोगों ने इन सिक्कों के प्रचलन-कर्ता के सम्बन्ध में नाना प्रकार के अनुमान किये हैं। हार्नले ने इन सिक्कों को पुरुगुप्त का बताया[2] और विन्सेण्ट स्मिथ ने उनकी बात का समर्थन किया है।[3] किन्तु यह अनुमान पूर्णतः काल्पनिक है और केवल इस बात पर आधारित है कि पुरुगुप्त के सिक्के नहीं मिलते और दूसरा कोई ज्ञात ऐसा शासक नहीं है जिसको इन सिक्कों का प्रचलनकर्ता अनुमान किया जा सके। इस अनुमान का समर्थन एक मात्र भडसड़ दफीने की सामग्री की ओर संकेत करके किया जाता है। कहा जाता है कि इस दफीने में केवल समुद्रगुप्त, द्वितीय चन्द्रगुप्त, प्रथम कुमारगुप्त, स्कन्दगुप्त और प्रकाशादित्य के सिक्के मिले थे। अतः इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रकाशादित्य स्कन्दगुप्त के बाद हुआ और उसके शासनकाल में यह दफीना गाड़ा गया था। किन्तु एलन ने इस मत के विरुद्ध इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि प्रथम कुमारगुप्त के सिक्कों की तुलना में इन सिक्कों की बनावट ओछी और बाद की है और नरसिंहगुप्त के सिक्कों से मिलती हुई है।[4] साथ ही उनका ध्यान इस तथ्य की ओर भी गया कि इन सिक्कों में सोने की जो मात्रा है उनसे वे नरसिंहगुप्त और उसके उत्तराधिकारियों से पहले के जान पड़ते हैं।[5] उनका यह भी कहना है कि विक्रमादित्य और प्रकाशादित्य दोनों विरुद एक ही व्यक्ति पुरुगुप्त के नहीं हो सकते। इस प्रकार वे इस निष्कर्ष पर आये कि ये सिक्के किसी ऐसे राजा के हैं जो पाँचवीं शती के अन्त के लगभग हुआ था।[6] अपने तथ्यपरक इन निष्कर्षों के बावजूद, विचित्र बात है कि एलन ने इन सिक्कों को पुरुगुप्त के सिक्कों के अन्तर्गत रखा है और इस प्रकार पुरुगुप्त और प्रकाशादित्य को एक स्वीकार किया है।[7]

---

१. ब्रि० स० मु० सू०, पृ० १३५; क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, पृ० २८५।
२. ज० ए० सो० बं०, १८८९, पृ० ९३-९४। पीछे उन्होंने अपना यह मत बदल दिया और सिक्कों को यशोधर्मन का बताया (ज० रा० ए० सो०, १९०६, पृ० १३५)।
३. इ० ए०, १९०२, पृ० २६१; अर्ली हिस्ट्री आव इण्डिया, ४था सं०, पृ० ३२१; इ० म्यू० सू०, पृ० ११९।
४. ब्रि० सं० मु० सू०, गु० वं०, भूमिका, पृ० ५१-५२।
५. वही, भूमिका, पृ० ५२।
६. वही।
७. वही, पृ० १३५।

काशीप्रसाद जायसवाल ने प्रकाशादित्य की पहचान बुधगुप्त से की है। प्रकाशादित्य के सिक्कों पर उन्हें उ अक्षर दिखाई पड़ा है और मंजुश्री मूलकल्प में उन्हें यह उल्लेख मिला है कि द्वितीय कुमारगुप्त का उत्तराधिकारी उकाराख्य राजा था। बुधगुप्त द्वितीय कुमारगुप्त का उत्तराधिकारी है, इस कारण उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर उन्हें प्रकाशादित्य को उकाराख्य मानने और फिर उसकी पहचान बुधगुप्त से करने में कोई कठिनाई नहीं हुई।[1] अमलानन्द घोष[2] और अल्तेकर (अ० स०)[3] भी बुधगुप्त के प्रकाशादित्य होने का अनुमान करते हैं पर उन्होंने इसका कोई कारण प्रस्तुत नहीं किया। बुधगुप्त के सोने के सिक्के ज्ञात होने पर अल्तेकर पुराने मत की ओर झुक गये और मानने लगे कि प्रकाशादित्य की पहचान पुरुगुप्त से सम्भव है।[4] उनके तर्क इस प्रकार हैं :—

(१) प्रकाशादित्य के सिक्के पूर्वी भारत में नहीं मिलते। उनके मिलने के स्थान—रामपुर, शाहजहाँपुर, हरदोई, कन्नौज और भड़सड़ (जिला बनारस), इस बात के द्योतक हैं कि वह उन परवर्ती राजाओं में नहीं हैं जिनका राज्य बंगाल तक ही सीमित था।

(२) भड़सड़ दफीने में स्कन्दगुप्त और प्रकाशादित्य ही अन्तिम राजे हैं। यह इस बात का द्योतक है कि प्रकाशादित्य स्कन्दगुप्त के बाद आया।

(३) सिक्के की भाँति की विशिष्ट मौलिकता, गरुड़ध्वज का स्थान, पीछे की ओर का विशेष चिह्न और अपेक्षाकृत सोने की शुद्धता, इस बात के द्योतक हैं कि प्रकाशादित्य का स्थान नरसिंहगुप्त, द्वितीय कुमारगुप्त, बुधगुप्त और विष्णुगुप्त से, जिनके सिक्के रूढ़िगत धनुर्धर भाँति के और भारी मिलावट वाले हैं, पहले है।

इन तर्कों पर यदि गम्भीरता के साथ विचार किया जाय तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि इनमें से कोई भी इन सिक्कों को पुरुगुप्त का कहने में सहायक नहीं होता। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि भड़सड़ दफीने के जो सिक्के मिले हैं उनमें स्कन्दगुप्त और प्रकाशादित्य ही अन्तिम शासक है; पर साथ ही यह बात भी भुलाई नहीं जा सकती कि भड़सड़ दफीने के सभी सिक्के उपलब्ध नहीं हुए थे। जो सिक्के मिले वे पूरे दफीने के आधे के लगभग ही थे। दफीने के अधूरी सामग्री के आधार पर प्रकाशादित्य के सिक्कों के स्वामी के सम्बन्ध में किसी अन्तिम निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता। बहुत सम्भव है कि अनुपलब्ध सिक्कों में स्कन्दगुप्त के अन्य उत्तराधिकारियों के सिक्के रहे हों।

हमें इस बात की भी कोई जानकारी नहीं है कि रामपुर, शाहजहाँपुर, हरदोई या कन्नौज में कभी गुप्त सिक्कों का ऐसा कोई दफीना प्राप्त हुआ था जिसमें प्रकाशादित्य

---

१. इम्पीरियल हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० ५४-५५।
२. इ० हि० क्वा०, १९, पृ० १२१।
३ ज० न्यू० सो० इ०, १०, पृ० ७८।
४ क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, पृ० २८३-२८४।

के सिक्के रहे हों। इस प्रकार का कोई दूसरा दफीना भी कहीं अन्यत्र से ज्ञात नहीं है। इन जगहों से कदाचित् इक्के-दुक्के ही सिक्के प्राप्त हुए हैं। इण्डियन म्यूजियम में हरदोई और रामपुर के सिक्के हैं[1] और विल्सन (डब्लू० डब्लू०) ने कन्नौज से प्राप्त एक सिक्का प्रकाशित किया है।[2] इन इक्के-दुक्के सिक्कों से किसी भी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता। इस प्रसंग में जिन स्थानों का नाम लिया गया है, आवश्यक नहीं कि वे सिक्कों के मिलने के स्थान हों। अधिकांशतः ये स्थान वे हैं जहाँ ये सिक्के खरीदे गये थे। पुनः जिन राजाओं का नामोल्लेख अल्तेकर ने किया है, उनमें कोई भी मात्र बंगाल का शासक न था। नरसिंहगुप्त, बुधगुप्त और विष्णुगुप्त की मुहरें मगध के बीच नालन्द में मिली हैं।[3] यही नहीं, बुधगुप्त के अभिलेख तो पश्चिम में एरण से लेकर पूरब में दामोदरपुर तक बिखरे मिले हैं।[4] द्वितीय कुमारगुप्त का लेख सारनाथ से मिला था,[5] जो भड़सड़ से बहुत दूर नहीं है। उन तथ्यों के होते हुए सिक्कों के प्राप्त-स्थान के आधार पर प्रकाशादित्य को इन राजाओं से विलग नहीं किया जा सकता।

सिक्कों की धातु के सम्बन्ध में अल्तेकर की जानकारी सही नहीं है। प्रकाशादित्य के सिक्कों की धातु किसी भी प्रकार द्वितीय कुमारगुप्त अथवा बुधगुप्त के सिक्कों से बढ़िया नहीं है। वह केवल नरसिंहगुप्त और उनके उत्तराधिकारियों के सिक्कों से अच्छा है।[6] इस कारण प्रकाशादित्य के सिक्के केवल इनसे पहले पर अन्य लोगों के साथ ही रखे जा सकते हैं।

भाँति की मौलिकता के आधार मात्र पर उसे पूर्ववर्ती राजाओं के सिक्कों के साथ रखा और पुरुगुप्त के सिक्कों के रूप में अनुमान नहीं किया जा सकता। कला के किसी भी विद्यार्थी के लिए यह परखने में कठिनाई न होगी कि इन सिक्कों में उस रमणीयता का सर्वथा अभाव है जो पूर्ववर्ती गुप्त शासकों के सिक्कों में देखने में आती है। और जैसा कि एलन ने बताया है, ये सिक्के प्रथम कुमारगुप्त के सिक्कों की तुलना में ओछे हैं और नरसिंहगुप्त के सिक्कों की कोटि में ही रखे जा सकते हैं।[7] इस प्रकार कला और धातु दोनों को दृष्टि में रखते हुए प्रकाशादित्य के सिक्कों को बुधगुप्त के बाद ही किन्तु नरसिंहगुप्त से पहले रखा जा सकता है।

इसका समर्थन इस बात से भी होता है कि प्रकाशादित्य के सिक्कों पर घोड़े के नीचे जो रु अथवा म अक्षर हैं, उस प्रकार के अक्षरों का अंकन बुधगुप्त से पूर्व के सिक्कों पर नहीं पाये जाते।

---

१. इ० म्यू० सू०, १, पृ० ११९, सिक्के १ और २।
२. एरियाना एण्टिका, चित्रफलक १८, सिक्का १९।
३. पीछे, पृ० ५३-५६।
४. पीछे, पृ० ३८-४०।
५. पीछे, पृ० ३५।
६. पीछे, पृ० ५९।
७. ब्रि० म्यु० सू०, गु० वं०, भूमिका, पृ० ५२।

अन्यत्र हमने इन तथ्यों के प्रकाश में तथा इस आधार पर कि प्रकाश भानु (सूर्य) का गुण है, सिक्कों के प्रकाशादित्य की पहचान एरण अभिलेख से ज्ञात भानुगुप्त से की है।[1] हमारे इस मत का समर्थन कर्टिस (जे० डब्लू०) ने भी किया है।[2] किन्तु दो कारणों से हमें अब अपना यह मत भी समीचीन नहीं जान पड़ता—

(१) कालीघाट के दफीने में, जिनमें वैन्यगुप्त, नरसिंहगुप्त और उनके उत्तराधिकारियों के सिक्के मिले हैं, प्रकाशादित्य का एक भी सिक्का नहीं है। यदि उसमें रहा होता तो उसके एक-दो नमूने ब्रिटिश संग्रहालय में अवश्य सुरक्षित होते। इससे अनुमान होता है कि प्रकाशादित्य वैन्यगुप्त से पहले हुआ होगा।

(२) प्रकाशादित्य के सिक्कों में वैन्यगुप्त के सिक्कों से सोने की मात्रा अधिक है और लगभग बुधगुप्त के सिक्कों के समान है। इससे भी यह संकेत प्राप्त होता है कि इन सिक्कों का प्रचलनकर्ता वैन्यगुप्त से पहले और बुधगुप्त के बाद हुआ होगा।

इन सभी बातों पर विचार करके प्रकाशादित्य की पहचान गुप्त वंश के किसी ज्ञात शासक से नहीं की जा सकती। किन्तु युवांग-च्वांग कथित तथागतराज यदि बुधगुप्त से भिन्न व्यक्ति था तो उसकी पहचान प्रकाशादित्य से सम्भव है।

चन्द्रगुप्त (तृतीय)—कलकत्ता के इण्डियन म्यूजियम में सोने के तीन सिक्के ऐसे हैं जिन पर द्वितीय चन्द्रगुप्त के सिक्कों की भाँति ही चित ओर राजा के काँख के नीचे चन्द्र और पट ओर विक्रम विरुद अंकित है; किन्तु वजन में वे इनके सिक्कों से इतने भिन्न हैं कि उन्हें उनके सिक्के मानने में कठिनाई होती है।[3] इसीलिए स्मिथ ने उनका समाधान यह कह कर किया है कि वे चन्द्रगुप्त (द्वितीय) की मृत्यु के पश्चात् जारी किये गये होंगे।[4] एलन ने इनमें से दो सिक्कों के सम्बन्ध में कहा कि वे चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के कदापि नहीं हो सकते।[5] उनका भार—१४१.८ और १४५.८ ग्रेन निःसन्दिग्ध रूप से इस बात का द्योतक है कि वे स्कन्दगुप्त के काल से पहले के नहीं हैं। उनके ही शासन काल में सर्वप्रथम इस भार-मान के सिक्के प्रचलित किये गये थे। फलतः उन्होंने इन सिक्कों को उस तृतीय चन्द्रगुप्त का बताया, जिसका अस्तित्व उन्होंने उन सिक्कों के आधार पर स्थापित किया था जिन पर पट ओर द्वादशादित्य विरुद है और चित ओर उन्होंने चन्द्र पढ़ा था।[6] किन्तु जब द्वादशादित्य के सिक्कों का उनका चन्द्र पाठ गलत प्रमाणित हो गया तो तृतीय चन्द्रगुप्त का

---

१. ज० न्यू० सो० इ०, १२, पृ० ३४-३५।
२. वही, २०, पृ० ७३ आदि।
३. इ० म्यू० सू०, १, पृ० १०६; सिक्के ३०-३२।
४. वही, पा० टि० १।
५. ब्रि० सं० मु० सू०, गु० वं०, भूमिका, पृ० ५३, पा० टि० २।
६. वही, भूमिका, पृ० ५३।

अस्तित्व निराधार हो गया; और कुछ काल के लिए लोग इण्डियन म्यूजियम के इन सिक्कों को भूल गये।

बहुत दिनों के बाद कार (र० च०) ने इण्डियन म्यूजियम के इन सिक्कों पर ध्यान दिया और कहा कि वे सुवर्णमान पर बने द्वितीय चन्द्रगुप्त के सिक्के हैं।[1] तब जतीन्द्रनाथ बनर्जी ने भी यही मत व्यक्त किया।[2] उन्होंने किसी ऐसे तृतीय चन्द्रगुप्त का अस्तित्व दुष्कल्प्य माना जिसने अपने सुप्रसिद्ध स्वनामी पूर्ववर्ती का विरुद **श्री विक्रम** धारण किया हो। किन्तु अल्तेकर ने इन सिक्कों को द्वितीय चन्द्रगुप्त के सिक्के मानने में जो कठिनाइयाँ हैं उनको पूरी तरह से अनुभव किया और कहा कि पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में साम्राज्य के लिए जो दावेदार उठे थे उनमें से ही कोई तृतीय चन्द्रगुप्त रहा होगा। उनकी दृष्टि में उसके **विक्रम** विरुद अपनाने में कोई कठिनाई नहीं थी। उन्होंने अपने इस कथन के समर्थन में इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया कि राष्ट्रकूट वंश के सभी कृष्ण नामधारी राजाओं का विरुद **अकालवर्ष** और सभी गोविन्द नामधारी राजाओं का विरुद **प्रभूतवर्ष** था।[3] सिनहा (वि० प्र०) ने इन सिक्कों को तृतीय चन्द्रगुप्त के अस्तित्व का निःसंदिग्ध प्रमाण माना है। वे उसे प्रथम कुमारगुप्त का पुत्र कहते हैं और उसे उनके मृत्यूपरान्त होने वाले दावेदारों में गिनते हैं।[4]

ये सिक्के तृतीय चन्द्रगुप्त के अस्तित्व के निःसन्दिग्ध प्रमाण कहे जा सकते हैं; किन्तु तृतीय चन्द्रगुप्त को कुमारगुप्त प्रथम का पुत्र कदापि नहीं कहा और प्रथम कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त के बीच रखा जा सकता। जैसा कि एलन ने इंगित किया है, ये सिक्के स्कन्दगुप्त से पूर्व के हो ही नहीं सकते।[5] तथाकथित सुवर्ण मान के सिक्के स्कन्दगुप्त के उत्तरवर्ती काल में प्रचलित किये गये थे; और ये सिक्के उसी मान के हैं। अतः ये सिक्के जब होंगे तो स्कन्दगुप्त के बाद के ही होंगे। इन सिक्कों के चित ओर राजा के सिर के पास ऊपर की ओर एक चिन्ह है जिसकी ओर अभी तक किसी का ध्यान नहीं गया है। इस प्रकार का चिन्ह प्रथम कुमारगुप्त, स्कन्दगुप्त, द्वितीय कुमारगुप्त और बुधगुप्त आदि किसी के सिक्के पर नहीं पाया जाता। अतः यह चिन्ह इस बात का द्योतक है कि इन सिक्कों का स्थान बुधगुप्त के बाद ही होगा। साथ ही इन सिक्कों पर उन अक्षरों का भी अभाव है जो बुधगुप्त के बाद के राजाओं अर्थात् वैन्यगुप्त, नरसिंहगुप्त आदि के सिक्कों पर राजा के पैर के नीचे पाये जाते हैं इस कारण ये सिक्के बुधगुप्त और वैन्यगुप्त के बीच के ही काल के हो सकते हैं। और इस प्रकार इन सिक्कों के

---

१. ज० न्यू० सो० इ०, ७, पृ० १५-१६।

२. वही, पृ० १६।

३. वही, पृ० १७-१८।

४. डिक्लाइन ऑव द किंगडम ऑव मगध, पृ० ३९-४०।

५. ब्रि० सं० मु० सू०, गु० वं०, भूमिका, पृ० ५२।

प्रचलन-कर्ता की पहचान सुगमता के साथ उस **चन्द्र** से की जा सकती है जिसका उल्लेख **मंजुश्री-मूलकल्प** में **द्वादश** अर्थात् वैन्यगुप्त द्वादशादित्य से पहले हुआ है।[१]

हरिगुप्त--अहिच्छत्रा से प्राप्त कुछ ताम्र-मुद्राओं से हरिगुप्त नामक राजा का ज्ञान होता है। ये सिक्के दो प्रकार के हैं और दोनों ही द्वितीय चन्द्रगुप्त के ताम्र मुद्राओं की भाँति के हैं और एक का सादृश्य तो प्रथम कुमारगुप्त के ताम्र-मुद्राओं से भी है। इस प्रकार के एक सिक्के के ब्रिटिश म्यूजियम में होने का उल्लेख एलन ने किया है। पहले कनिंगहम के संग्रह में था। उस पर उन्होंने सन्दिग्ध भाव से **[श्री] महारा[ज ह]रि गुप्तस्य** पढ़ा था।[२] किन्तु एक निजी संग्रह में कुछ सिक्के हैं जिनसे उनके उक्त पाठ की पुष्टि होती है। उसी निजी संग्रह में एक नयी भाँति का भी सिक्का है जिस पर **महाराज श्री हरिगुप्त** लेख है। इन सिक्कों का उल्लेख अल्तेकर (अ० स०)[३] और सरकार (दि० च०)[४] ने किया है।

हरिगुप्त कौन था इस सम्बन्ध में एलन ने कुछ नहीं कहा है। उनका कहना है कि ये सिक्के पाँचवीं शती ई० के जान पड़ते हैं।[५] उसी प्रकार अल्तेकर की धारणा है कि हरिगुप्त छठी शताब्दी के पूर्वार्ध के बाद न हुआ होगा। उसकी पहचान के सम्बन्ध में वे यद्यपि निश्चित नहीं है तथापि उन्होंने सिक्कों के हरिगुप्त को हूण तोरमाण का गुरु, जिनका उल्लेख जैन अनुश्रुतियों में हुआ है, अनुमान किया है। अपनी इस पहचान के साथ उनकी यह भी धारणा है कि वह उत्तरी पंचाल के किसी स्थानीय गुप्त-वंश का होगा जिसने हूण-आक्रामक के साथ अपना सम्बन्ध बना लिया होगा।[६] दिनेशचन्द्र सरकार सिक्कों के हरिगुप्त की पहचान उस हरिराज से करते हैं, जिसका उल्लेख बाँदा जिला (उत्तरप्रदेश) के इच्छवर ग्राम से प्राप्त तिथि-विहीन कांस्य-मूर्ति पर **गुप्तवंशोदित** के रूप में हुआ है। उनका कहना है कि वह मालवा और मध्यभारत का स्थानीय शासक था जिसने गुप्त-शक्ति के ह्रास होने पर पाँचवीं शती ई० के अन्तिम चरण में उनके सिक्कों का अनुकरण किया।[७]

किन्तु इनमें से कोई भी सुझाव हमें ग्राह्य नहीं जान पड़ता। इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है कि (१) हरिगुप्त के सिक्के अपनी बनावट, बाने, चित्राकृति, अभिलेख, लिपि और भार में चन्द्रगुप्त और प्रथम कुमारगुप्त के ताँबे के सिक्कों से किसी प्रकार भिन्न नहीं हैं। (२) हरिगुप्त के जिन दो सिक्कों का उल्लेख अल्तेकर ने किया है (उनमें से एक की चर्चा सरकार ने भी की है) वे इलाहाबाद के श्री जिनेश्वरदास के संग्रह में हैं और वे

---

१. छन्द ६७७-७८; पीछे, पृ० ११० ।

२. ब्रि० सं० मु० सू०, गु० वं०, पृ० १५२ ।

३. क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, पृ० ३१८ ।

४. ए० इ०, ३३, पृ० ९५ ।

५. ब्रि० सं० मु० सू०, गु० वं०, भूमिका, पृ० ६१ । अल्तेकर ने इस सिक्के के इण्डियन म्यूजियम कलकत्ता में होने की बात कही है; किन्तु वह भूल है।

६. क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, पृ० ३१८ ।

७. ए० इ०, ३३, पृ० ९७ ।

उन्हें द्वितीय चन्द्रगुप्त के एक सिक्के के साथ अहिच्छत्रा में मिले थे।[1] (३) गुप्तों की ताम्र-मुद्राएँ अत्यन्त दुर्लभ हैं और प्रथम कुमारगुप्त के बाद किसी भी राजा की नहीं मिलतीं।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए इन सिक्कों को द्वितीय चन्द्रगुप्त और प्रथम कुमारगुप्त से कदापि दूर नहीं रखा जा सकता। लोग समकालिक अथवा तत्काल पूर्ववर्ती राजाओं के सिक्कों का ही अनुकरण किया करते हैं, दूरस्थ सिक्कों का नहीं। अतः यदि किसीने ये सिक्के अनुकरण पर बनाये हैं तो उसकी सम्भावना प्रथम कुमारगुप्त के तत्काल बाद ही की जा सकती है। पर इस बात का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि प्रथम कुमारगुप्त के तत्काल बाद गुप्त-साम्राज्य का ह्रास हुआ। स्कन्दगुप्त के इन्दौर वाले ताम्र लेख से निर्विवाद सिद्ध है कि उसके समय तक गुप्त-साम्राज्य का विस्तार बुलन्दशहर तक अवश्य था। ऐसी अवस्था में यह असम्भाव्य कल्पना होगी कि अहिच्छत्रा गुप्त-साम्राज्य से अलग किसी द्वीप के समान था। अतः गुप्त-शक्ति के ह्रास के पश्चात् इन सिक्कों के प्रचलित किये जाने की कल्पना नितान्त हास्यास्पद है।

कदाचित् हरिगुप्त के सिक्कों पर **महाराज** मात्र के उल्लेख से किसी को यह भ्रम हो कि ये सिक्के साम्राज्यीय सिक्कों के क्रम में नहीं हैं तो उन्हें यह स्मरण दिला देना उचित होगा कि चन्द्रगुप्त और कुमारगुप्त दोनों ही के लिए उनके ताँबे के सिक्कों पर केवल **महाराज** का प्रयोग हुआ है, **महाराजाधिराज** का नहीं।[2] अतः इस आधार पर इन सिक्कों के साम्राज्यीय परम्परा में होने की बात पर कदापि सन्देह नहीं किया जा सकता। ये सिक्के निःसन्देह किसी गुप्त सम्राट् के ही हैं, जिसकी जानकारी हमें किसी अन्य सूत्र से नहीं है। कोई आश्चर्य नहीं यदि हरिगुप्त कोई अन्य न होकर चन्द्रगुप्त द्वितीय का उत्तराधिकारी गोविन्दगुप्त ही हो।

समुद्रगुप्त (द्वितीय)—हमने सोने का एक ऐसा सिक्का प्रकाशित किया है जिससे समुद्रगुप्त (द्वितीय) नामक शासक का संकेत प्राप्त होता है।[3] यह सिक्का अब लखनऊ संग्रहालय में है। भार तथा कतिपय अन्य विशेषताओं के कारण इस सिक्के को स्कन्दगुप्त से पहले नहीं रखा जा सकता। साथ ही उस पर राजा के पैर के नीचे अक्षर का अभाव है, इससे वह प्रकाशादित्य और वैन्यगुप्त के बाद का भी नहीं कहा जा सकता; किन्तु स्कन्दगुप्त और वैन्यगुप्त के बीच, तृतीय चन्द्रगुप्त को रखने के बाद, इतना समय ही कहाँ नहीं बचता कि उनके बीच किसी और राजा के होने का अनुमान किया जा सके। अतः जब तक कुछ और पुष्टकारी प्रमाण सामने

---

१. जिनेश्वर दास से प्राप्त सूचना। इन सिक्कों को प्राप्त करने के तत्काल बाद उन्होंने हमें दिखाया था और सबसे पहले हमने इनकी चर्चा १९५४ में भारतीय मुद्रापरिषद् के अहमदाबाद वाले अधिवेशन में की थी (ज० न्यू० सो० इ०, १२, पृ० ११६)।

२. क्वा० सं० मु० सू०, गु० वं०, पृ० ५२; क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, पृ० १५६; १५८; २३७।

३. ज० न्यू० सो० इ०, १६, पृ० १०२ आदि।

नहीं आते, उसे गुप्त राज्य-क्रम में स्थान देना उचित न होगा। इसी कारण हमने अभी इसे कोई स्थान नहीं दिया है।

भानुगुप्त—एरण से प्राप्त गुप्त-संवत् १९१ के एक अभिलेख[1] से भानुगुप्त का नाम लोगों को बहुत दिनों से ज्ञात है। इस अभिलेख में कहा गया है कि **जगति प्रवीरो राजा महानपार्थ समोति शूरः** भानुगुप्त के साथ गोपराज युद्ध में गया था और वहाँ वह मारा गया। आरम्भ में तो लोग भानुगुप्त को सम्राट् गुप्त-कुल का मानते ही न थे। उसे वे मालवा का स्थानिक शासक ही समझते थे। राधागोविन्द बसाक ने सर्वप्रथम उसे गुप्त-वंश में सम्मिलित किया और उसके उस राजा के होने का अनुमान किया जिसके शासन काल में २२४ गुप्त-संवत् में पाँचवाँ दामोदरपुर शासन प्रचलित किया गया था, और जिसका नाम उक्त शासन में अस्पष्ट है।[2] किन्तु एरण अभिलेख और दामोदरपुर शासन की तिथियाँ एक-दूसरे से इतनी दूर हैं कि यह पहचान स्वीकार करना कठिन ही नहीं, असम्भव भी है। हमने[3] और कर्टिस (जे० डब्लू०) ने[4] भानुगुप्त की पहचान सोने के सिक्कों के प्रकाशादित्य से की थी। इस पहचान का एक मात्र आधार यह था कि प्रकाश भानु का गुण है। देखने में यह तर्क काफी संगत जान पड़ता है; किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उसकी पहचान प्रकाशादित्य से नहीं की जा सकती।[5] जायसवाल ने इसकी पहचान मंजुश्री मूलकल्प के भकाराख्य राजा से की है।[6] किन्तु इसके स्वीकार करने में जो कठिनाइयाँ हैं उसकी भी चर्चा ऊपर हो चुकी है।

फिर भी इस बात की पूर्ण सम्भावना है कि भानुगुप्त गुप्त-वंश का ही कोई राजकुमार रहा होगा; किन्तु उसने कभी राज्याधिकार ग्रहण किया, इसके कोई संकेत उपलब्ध नहीं हैं। उसका उल्लेख मात्र राजा या महाराजा के रूप में हुआ है; उत्तरवर्ती काल में गुप्त-वंश में यह उपाधि राजकुमारों और सामन्तों की थी। अतः उसे गुप्तों के राज्यक्रम में स्वीकार करने को हम अभी प्रस्तुत नहीं हैं। वंशावली में उसका क्या स्थान था यह भी अभी संकेताभाव में नहीं कहा जा सकता; किन्तु आश्चर्य नहीं यदि वह नरसिंहगुप्त का लड़का हो और हूणों के साथ युद्ध करते मारा गया हो।

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में गुप्त वंशावली और राज्यक्रम का जो रूप निखरता है उसी के आधार पर इस ग्रन्थ में गुप्त-वंश का इतिहास प्रस्तुत किया गया है।

---

१. का० इ० इ०, ३, पृ० ९१।
२. ए० इ०, १५, पृ० ११५ आदि।
३, ज० न्यू० सो० इ०, १६, पृ० १०२ आदि।
४. वही, २०, पृ० ७३।
५. पीछे, पृ० १९०।
६. इम्पीरियल हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० ५४।

गुप्त-वंशावली और राज्यक्रम

गुप्त

घटोत्कच

१. चन्द्रगुप्त (प्रथम)

२. समुद्रगुप्त
(?–६२ गु० सं०)

२अ. काचगुप्त

३. रामगुप्त

४. चन्द्रगुप्त (द्वितीय)
(विक्रमादित्य)
(६२–९३ गु० सं०)

५. गोविन्दगु

६. कुमारगुप्त (प्रथम)
(महेन्द्रादित्य)
(९६–१३ गु० सं०)

७. घटोत्कचगुप्त
(क्रमादित्य)

८. स्कन्दगुप्त
(क्रमादित्य)
(१३६–१४६ गु० सं०)
:
?
:
९. कुमारगुप्त (द्वितीय)
(क्रमादित्य)
(१५४ गु० सं०)

पुरुगुप्त

१०. बुधगुप्त
(विक्रमादित्य)
(१५७-१७५ गु० सं०)
:
?
:
११. चन्द्रगुप्त (तृतीय)
(विक्रमादित्य)
:
?
:
१२. तथागतगुप्त (?)
(प्रकाशादित्य)

१३. वैन्यगुप्त
(द्वादशादित्य)
(१८१ गु० सं०)

१४. नरसिंहगुप्त
(बालादित्य)

१५. कुमारगुप्त
(तृतीय)
(श्री क्रमादित्य)

१६. विष्णुगुप्त
(चन्द्रादित्य)
(२२४ गु० सं०)
:
?
:
वज्र (?)
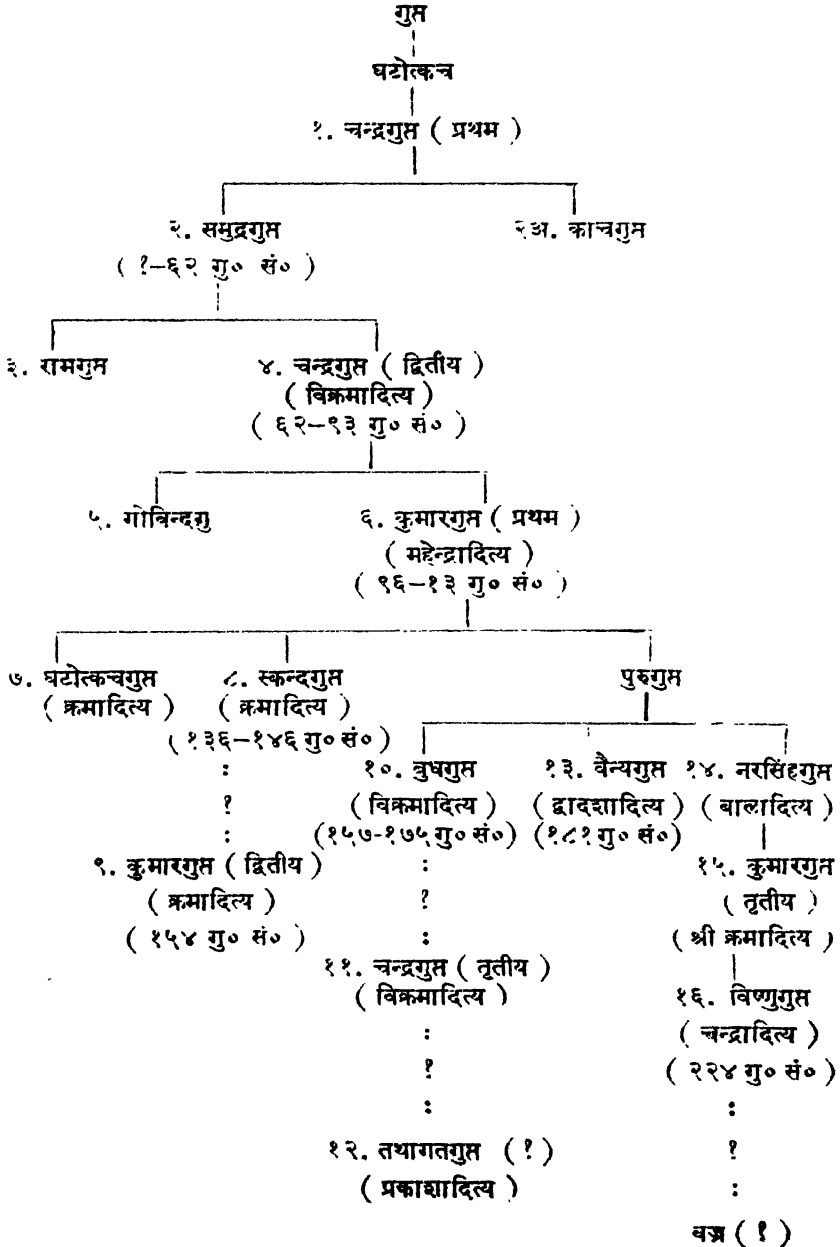
गुप्त-संवत्

गुप्त-वंशीय वृत्त-सन्धान की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या, गुप्त अभिलेखों में प्रयुक्त संवतों की आरम्भिक तिथि का निर्धारण रही है। उनके अधिकांश अभिलेखों में, प्रयुक्त तिथि-गणना के स्वरूप का कोई संकेत नहीं मिलता। वे अपनी तिथियों का उल्लेख मात्र **संवत्**[1], **संवत्सर**[2], **सं**[3] (संवत् अथवा संवत्सर का संक्षेप) अथवा **वर्ष**[4] शब्द में करते हैं—और इन सभी शब्दों का तात्पर्य मात्र **वर्ष** होता है। भारतीय वृत्त-सन्धान के आरम्भ काल में स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ शिलालेख ही एकमात्र ज्ञात ऐसा अभिलेख था जिसमें तिथि का उल्लेख भिन्न ढंग से हुआ था। भाऊ दाजी की धारणा थी कि उक्त अभिलेख की पन्द्रहवीं पंक्ति में **गुप्तस्य कालाद्** का प्रयोग हुआ है और उसका तात्पर्य 'गुप्तों के वर्ष से' है।[5] किन्तु पीछे ज्ञात हुआ कि उसका शुद्ध पाठ है **गुप्त-प्रकाले गणनां**[6] (गुप्तों के काल से की जानेवाली गणना)। इससे इतना तो निश्चित हो गया कि अभिलेख में प्रयुक्त तिथि की गणना का सम्बन्ध गुप्तों से है; किन्तु इससे यह निष्कर्ष न निकल सका कि उक्त संवत् गुप्तों का अपना है। इस कारण पूर्ववर्ती विद्वान् गुप्त अभिलेखों में प्रयुक्त संवत् के लिए **गुप्त-संवत्** शब्द का प्रयोग तो करते थे; पर उन्हें यह मानने में संकोच था कि उसका उद्भव गुप्तों से हुआ।

किन्तु अब कुमारगुप्त (द्वितीय) और बुधगुप्त के काल के दो लेख सारनाथ में बुद्ध मूर्तियों पर मिले हैं जिन पर **वर्ष शते गुप्तानां सचतुःपंचाशदुत्तरे**[7] (गुप्तों के १५४ वर्ष) और **गुप्तानां समतिक्रान्ते सप्तपंचाशदुत्तरे शते समानां**[8] (जब गुप्तों के १५७ वर्ष व्यतीत हो गये थे) अंकित हैं। इन शब्दावलियों से यह निःसन्दिग्ध रूप से स्पष्ट हो गया कि गुप्त अभिलेखों में अंकित संवत् उन्हीं के अपने हैं। इस प्रकार के स्पष्ट उल्लेख के अभाव में फ्लीट ने गुप्तों द्वारा अपना संवत् चलाने की बात मानने में कठिनाई का अनुभव किया था। उनकी धारणा थी कि यह मूलतः लिच्छवियों का

---

१. समुद्रगुप्त का गया और नालन्द ताम्र-शासन; प्रथम कुमारगुप्त का मानकुँवर अभिलेख आदि।

२. द्वितीय चन्द्रगुप्त का मथुरा और उदयगिरि अभिलेख; प्रथम कुमारगुप्त का बिलसड़ और धनैदह अभिलेख आदि।

३. द्वितीय चन्द्रगुप्त का साँची अभिलेख; दामोदरपुर के ताम्र-शासन।

४. स्कन्दगुप्त का कहौंव अभिलेख; बुधगुप्त का एरण स्तम्भ लेख।

५. ज० ब० ब्रा० रा० ए० सो०, ६ (प्रा० सी०), पृ० २०७; ७ (प्रा० सी०), पृ० ११४; ११३।

६. का० इ० इ०, ३, पृ० ६०; सेलेक्ट इन्स्क्रिप्सन्स, पृ० ३०५।

७. आ० स० इ०; ए० रि०; १९१४-१५, पृ० १२४; सेलेक्ट इन्स्क्रिप्सन्स, पृ० ३२१।

८. वही, पृ० १२४-१२५; से० इ०, पृ० ३२३।

संवत् है; उनके साथ गुप्तों का घनिष्ट मैत्री सम्बन्ध था इस कारण उन्होंने उनके संवत् को अपना लिया। उनका यह भी कहना था कि गुप्त-वंश के प्रथम दो व्यक्ति गुप्त और घटोत्कच की महाराज उपाधि उनके सामन्त पद का बोधक है; वे संवत् स्थापित करने की स्थिति में नहीं थे। साथ ही वे इस बात का भी अनुभव करते रहे कि किसी भी अवस्था में इस संवत् का आरम्भ चन्द्रगुप्त (प्रथम) के बाद के किसी गुप्त-वंशी राजा के राज्यारोहण से न हुआ होगा। फिर भी वे उसका आरम्भ चन्द्रगुप्त (प्रथम) के राज्यारम्भ से न मान सके। उनका कहना था कि यदि इसका आरम्भ चन्द्रगुप्त (प्रथम) के राज्यारोहण से माना जाता है तो उनके राज्यारोहण से कुमारगुप्त (प्रथम) के राज्यारोहण तक १२९ वर्ष होते हैं। इसका अर्थ यह होगा कि चन्द्रगुप्त (प्रथम), समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त (द्वितीय) और कुमारगुप्त (प्रथम) — चार राजाओं में से प्रत्येक का राज्य काल अनुपाततः सवा बत्तीस बरस मानना होगा। यदि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का अन्तिम निश्चित वर्ष ९३ को ध्यान में रखा जाय तो पिता-पुत्रों की तीन पीढ़ियों का आनुपातिक राज्यकाल ३१ वर्ष ठहरता है। फ्लीट की दृष्टि में किसी के लिए इतना लम्बा आनुपातिक राज्य-काल असम्भव था।[1]

फ्लीट के इस तर्क का अब कोई मूल्य और महत्व नहीं रहा। मथुरा स्तम्भ लेख के अनुसार यह निश्चित है कि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का राज्यारोहण वर्ष ५६ में हुआ था[2]। इसको ध्यान में रखकर यदि माना जाय कि संवत् का आरम्भ चन्द्रगुप्त (प्रथम) से हुआ तो उसके, उसके बेटे समुद्रगुप्त और पौत्र रामगुप्त का राज्यकाल मिलाकर केवल ५५ वर्ष ठहरता है। कुछ लोग रामगुप्त के अस्तित्व में सन्देह करते हैं। यदि उसे हटा दिया जाय तो भी चन्द्रगुप्त (प्रथम) और समुद्रगुप्त के राज्य के लिए यह अवधि असाधारण नहीं कही जा सकती। क्योंकि अभिलेखों से यह सिद्ध है कि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने ३८ वर्ष तक (गुप्त वर्ष ५६–९३) और उसके बेटे कुमार गुप्त (प्रथम) ने भी कम से कम ३८ वर्ष (गुप्त वर्ष ९३–१३५) तक राज्य किया था। अतः जैसा कि विन्सेण्ट स्मिथ का कहना था,[3] गुप्त-संवत् का आरम्भ सहज रूप से चन्द्रगुप्त (प्रथम) के राज्यारोहण से माना जा सकता है।

यदि गुप्त-संवत् का आरम्भ चन्द्रगुप्त (प्रथम) के राज्यारोहण से हुआ हो तो भी, यह मानना आवश्यक नहीं कि उसका विधाता भी वही था। इस सम्बन्ध में यह भुलाया न जाना चाहिये कि भारत के आरम्भकालिक राजे केवल अपने राज-वर्ष का अंकन किया करते थे किसी संवत् का नहीं। किसी संवत् का नियमित प्रयोग पहली बार कुषाणों के अभिलेखों और पश्चिमी क्षत्रपों के सिक्कों पर देखने में आता है। कुषाणों के अभिलेख के परीक्षण से ज्ञात होता है कि उनमें जिस संवत् का प्रयोग

---

१. का० इ० इ०, ३, भूमिका, पृ० १३०-१३२।

२. ए० इ०, २१, पृ० ८ आदि; से० इ०, पृ० २६९।

३. अर्ली हिस्ट्री आव इण्डिया, ४था सं०, पृ० २०६; इ० ए०, ३१, पृ० २५७।

हुआ है वह कनिष्क के राज्य वर्ष की गणना पर आधारित है। यह क्रम उसके उत्तराधिकारियों के समय में संवत् के रूप में चल निकला। किसी पूर्ववर्ती शासक के राज-वर्ष गणना को परवर्ती राजा द्वारा जारी रखने की प्रथा के, जो कुषाणों और पश्चिमी क्षत्रपों में पायी जाती है, सम्बन्ध में ध्यान देनेवाली बात यह है कि ये दोनों ही वंश भारत के लिए विदेशी थे। सम्भवतः उन्होंने अपनी कोई नयी पद्धति नहीं चलायी वरन् उस परम्परा का अनुकरण किया जो उन देशों में कदाचित् प्रचलित रही होगी जहाँ से वे भारत भूमि पर अवतरित हुए थे। तथ्य जो भी हो, गुप्तों के सम्बन्ध में तो इतना स्पष्ट है ही कि उन्होंने एक ऐसी प्रथा को अपनाया जो भारतीय परम्परा में सर्वथा अज्ञात थी; ऐसी स्थिति में किसी संवत् की स्थापना का विचार चन्द्रगुप्त (प्रथम) के मन में कदापि न उपजा होगा। समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ही शकों और कुषाणों द्वारा अधिकृत क्षेत्रों के सम्पर्क में आये थे; अतः उन्हीं के लिए यह सम्भव हो सकता था कि वे कुषाणों से इस प्रथा को ग्रहण करें।

चन्द्रगुप्त (प्रथम) का कोई अभिलेख प्राप्त नहीं है जिससे जाना जा सके कि उसने अपने लेखों में अपने राज्यवर्ष का प्रयोग किया था या नहीं। किन्तु समुद्रगुप्त के गया और नालन्द से मिले दो ताम्र-शासन हैं जिनमें क्रमशः ५ और ९ की तिथि है। निश्चय ही ये तिथियाँ चन्द्रगुप्त (प्रथम) के राज्यवर्ष के क्रम में नहीं हैं। अतः निःसन्देह ये समुद्रगुप्त के ही राज्यवर्ष होंगे। फलतः यह अनुमान किया जा सकता है कि गुप्त-संवत् समुद्रगुप्त के इन्हीं राज्य-वर्षों के क्रम में होगा और वस्तुतः इस प्रकार की बात एक विद्वान् ने कही भी है।[1]

किन्तु यदि गुप्त-संवत् को समुद्रगुप्त के राज्य-वर्ष के क्रम में मानें तो इसका अर्थ यह होगा कि समुद्रगुप्त ने ५५ वर्ष के दीर्घ काल तक राज्य किया।[2] किन्तु परवर्ती चन्द्रगुप्त (द्वितीय) और कुमारगुप्त (प्रथम) के ३८-३८ वर्ष के राज को दृष्टि में रखने पर सर्वथा असम्भव है। समुद्रगुप्त के नालन्द ताम्र-शासन में दूतक के रूप में कुमार चन्द्रगुप्त का उल्लेख है।[3] यह कुमार चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के अतिरिक्त कोई और नहीं हो सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि इस समय तक चन्द्रगुप्त (द्वितीय) इतना वयस्क हो चुका था कि उसे शासन का उत्तरदायी कार्य सौंपा जा सके। चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के शासन का आरम्भ गुप्त-संवत् ५६ में हुआ और उसने कम से कम गुप्त-संवत् ९३ तक राज्य किया। यदि हम यह कल्पना करें कि उसने दूतक का उक्त कार्य अपनी १८ वर्ष की आयु (वयस्कता की न्यूनतम आयु) में किया तो इसका अर्थ यह होगा कि वह ६९ (५६–५ + १८) वर्ष की आयु में

---

१. क्लासिकल एज, पृ० ५।

२. द्वितीय चन्द्रगुप्त का ५वाँ राज्यवर्ष गुप्त-संवत् ६१ है (ए० इ०, २१, पृ० ८ आदि; से० इ०, पृ० २६९)।

३. पंक्ति १२। (आ० स० इ०, ए० रि०, पृ० १३८; ए० इ०, २५, पृ० ५२; से० इ०, पृ० २६४

गद्दी पर बैठा और १०६ वर्ष से अधिक आयु तक जीवित रहा। यह यद्यपि असम्भव नहीं, पर असाधारण अवश्य कहा जायगा। फिर ६९-७० वर्ष की अवस्था में चन्द्रगुप्त (द्वितीय) कदापि इतना स्फूर्तिवान् न रहा होगा कि वह अपने साम्राज्य को विस्तृत तथा संयोजित करने के लिए दूर-दूर तक अभियान कर सके। अतः स्पष्ट है कि गुप्त-संवत् न तो समुद्रगुप्त के राज्य-काल के क्रम में है और न उसके शासन काल में इसकी स्थापना हुई।

अब चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के शासन काल पर दृष्टिपात कीजिये। उसका प्राचीनतम अभिलेख मथुरा से प्राप्त हुआ है जो कुषाणों की राजधानी थी; और वहाँ कुषाण संवत् (जिसकी गणना कनिष्क के राज्य-क्रम में होती थी) का प्रचलन था। चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के इस अभिलेख में उसके राज्यवर्ष और गुप्त-संवत् दोनों का अंकन है। इस प्रकार तिथि का यह दुहरा उल्लेख भारतीय अभिलेखों के इतिहास में अनोखा है। इससे यह स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है कि इस लेख में राज्यवर्ष के अनुसार तिथिगणना उस भारतीय परम्परा में की गयी है जिसका पालन समुद्रगुप्त के ताम्र-शासनों में हुआ है; और वांशिक संवत् के उल्लेख में स्थानीय कुषाण व्यवहार का प्रभाव है। इस अभिलेख से इस प्रकार स्पष्ट ज्ञात होता है कि वांशिक संवत् में गणना का आरम्भ चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के शासन काल में हुआ। किन्तु कुषाण और शक प्रथा से इसमें थोड़ी भिन्नता है। यह पूर्ववर्ती शासक के राज्य-वर्ष का क्रमानुकरण मात्र नहीं है। इसमें एक ऐसे वांशिक संवत् की स्थापना है, जिसकी गणना का आरम्भ किसी ऐसी घटना से माना गया है जो चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के राज्यारोहण से ५६ वर्ष पूर्व घटी थी। किसी पिछली घटना से संवत् की गणना भारत के लिए अज्ञात नहीं है। अकबर ने अपना इलाही संवत् अपने राज्य के २९वें वर्ष में आरम्भ किया था किन्तु उसकी गणना का आधार उसका राज्याभिषेक दिवस था।[1] महावीर, बुद्ध, विक्रम आदि संवत् का आरम्भ अपनी स्मारक घटनाओं के बहुत दिनों बाद हुआ। अपने ही समय में, स्वामी दयानन्द के अनुयायियों का अपना संवत् है, जिसकी गणना वे स्वामी जी के जन्म से करते हैं; पर उसकी स्थापना उनकी मृत्यु के बहुत दिन बाद की गयी।

अस्तु, गुप्तवंश के इतिहास में दो ही ऐसी घटनाएँ थीं जिनको आधार बनाकर चन्द्रगुप्त (द्वितीय) अपने वांशिक संवत् का आरम्भ कर सकता था—(१) राजा गुप्त के समय में गुप्त-वंश का उदय; (२) गुप्त साम्राज्य के वास्तविक संस्थापक और सम्राट् के रूप में चन्द्रगुप्त (प्रथम) का राज्यारोहण। गुप्त-संवत् के मूल में पहली घटना की स्मृति की सम्भावना इसलिए कम जान पड़ती है कि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के राज्यारोहण तक का ५५ वर्ष का काल गुप्त से समुद्रगुप्त तक चार

---

१. आइन-ए-अकबरी, मूल, १, पृ० २७७-७८; जैरेट कृत अनुवाद, २, पृ० ३०-३१

पीढ़ियों के राज्य के लिए बहुत कम है। अतः अधिक सम्भावना यही है कि इस संवत् की गणना का आरम्भ चन्द्रगुप्त (प्रथम) के राज्यारोहण से किया गया होगा। किन्तु यह अनुमान मात्र है, इस अनुमान को पुष्ट करनेवाले निश्चित प्रमाण अभी उपलब्ध नहीं हैं।

दूसरी महत्वपूर्ण विचारणीय बात यह है कि गुप्त-संवत की गणना वर्तमान वर्ष के अनुसार की गयी है या गत वर्ष के आधार पर। किसी संवत् के वर्तमान वर्ष की गणना साल के आरम्भ से और गत वर्ष की गणना वर्ष के अन्त मे होती है। उदाहरणार्थ वर्तमान वर्ष १ गत वर्ष शून्य और वर्तमान वर्ष २ गत वर्ष १ होगा। इस प्रकार गत वर्ष वर्तमान वर्ष से एक वर्ष पीछे रहता है।

अधिकांश प्राचीन भारतीय अभिलेखों में वर्तमान और गत वर्ष का कोई संकेत प्राप्त नहीं होता; उनके सम्बन्ध में अन्य प्रमाणों के आधार पर ही किसी निष्कर्ष पर पहुँच पाना सम्भव होता है। यही अवस्था सामान्यतः गुप्त अभिलेखों की भी है। अतीत में जिन लोगों ने गुप्त-संवत् के आरम्भ पर विचार करने का प्रयत्न किया, उनके सम्मुख ऐसा कोई संकेत न था जिससे वे यह जान सकें कि यह संवत् गत है अथवा वर्तमान। फलतः कुछ ने उसे वर्तमान माना और कुछ ने गत अनुमान किया। किन्तु अब इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं रही। सारनाथ से प्राप्त बुधगुप्त के समय का जो बुद्ध-मूर्ति लेख है, उससे अब यह स्पष्ट हो गया है कि गुप्त-संवत् गत संवत् है।[१] गुप्त-संवत् के आरम्भ सम्बन्धी ऊहापोह करते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है।

कुछ लोगों की धारणा थी कि गुप्त-संवत् और विक्रम-संवत् दोनों एक ही हैं।[२] कुछ लोगों ने उसके शक संवत् होने का अनुमान किया।[३] किन्तु अधिकांश लोगों का समीचीन मत रहा है कि यह उन दोनों से सर्वथा भिन्न संवत् है। उन लोगों ने अपनी-अपनी धारणाओं के अनुसार उसके आरम्भ के लिए निम्नलिखित तिथियों का सुझाव रखा है: १६६-६७ ई०[४], १९०-१९१ ई०[५], १९४-९५ ई०[६], २०१-२०-

---

१. आ० स० इ०, ए० रि०, १९१४-१५, पृ० १२४-२५; से० इ०, पृ० ३२१।

२. न्यूटन (ज० ब० ब्रा० रा० ए० सो०, ७ (प्रा० सी०), पृ० १ आदि); डी० के० मुखर्जी (इ० हि० क्वा०, ८, पृ० ८५; दुर्गापुर कालेज मैगजीन, फरवरी १९३४; ज० इ० हि०, १७, पृ० २९३; १८, पृ० ६४)।

३. इ० थामस (ज० रा० ए० सो०, १२ (प्र० सी०), पृ० १ आदि; ज० ब० ब्रा० रा० ए० सो०, २४, पृ० ३७१ आदि; ज० रा० ए० सो०, १३ (प्र० सी०), पृ० ५२४; कनिंगहम (ज० ए० सो० बं०, ३२, पृ० ११९; आ० स० रि०, १, पृ० १-३०; ३, पृ० ४); राजेन्द्रलाल मित्र (ज० ए० सो० बं०, ४३, पृ० ३६३ आदि)।

४. कनिंगहम (आ० स० रि०, १०, पृ० १११)।

५. बायले, न्यू० क्रा०, २ (३ रा० सी०), पृ० १२८ आदि।

६. कनिंगहम (आ० स० रि०, ९, ९० आदि)।

ई०[1], २७२-७३ ई०[2], २७८ ई०[3], २८४-८५ ई०[4], ३१२ ई०[5], ३१८-१९ ई०[6], ३१९ ई०[7], ३१९-२० ई०[8]। इन तिथियों के समर्थन में इन लोगों ने जो तर्क उपस्थित किये हैं उन सबकी चर्चा यहाँ अनावश्यक है। इन सुझावों में से अधिकांश के मूल में अनुश्रुतिक अथवा पुरातात्त्विक प्रमाण न होकर लोगों की अपनी कल्पना ही रही है। कारण विशेष से उन्होंने किसी ऐतिहासिक घटना के लिए कोई तिथि निश्चित कर ली और फिर उस तिथि से उन्होंने आगे या पीछे गणना करके अपना निष्कर्ष निकाला है और उपर्युक्त तिथियों में से किसी एक का सुझाव रखा है। जिन लोगों ने किसी अनुश्रुति का आश्रय लिया वे भी उसके मूल भावों को स्पष्ट न कर सके। इस प्रसङ्ग पर विचार करते समय फ्लीट को छोड़ कर किसी अन्य ने कदाचित् ही पुरातात्त्विक प्रमाणों पर ध्यान दिया हो।

मुखर्जी (डी० के०) ने गुप्त-संवत् को विक्रम-संवत् बताते हुए गोकाक (बेलगाव, महाराष्ट्र) से प्राप्त एक ताम्रलेख की चर्चा की है और उसमें अंकित तिथि को उन्होंने गुप्त-संवत् अनुमान किया है इस ताम्रशासन को सेन्द्रक वंश के विजयानन्द मध्यमार्ग के पुत्र आदिराज इन्द्रानन्द ने प्रचलित किया था; वह राष्ट्रकूट-नरेश देज्ज महाराज का प्रिय-पात्र था। उसमें तिथि की चर्चा इस प्रकार की गयी है **वर्धमानस्य सारीयात् सान्तेतावागुप्तायिकानां राज्ञं अष्टौ वर्ष शतेषु पंचचत्वारिंशदग्रेषु गतेषु** (जय आगुप्तयिक नरेशों के, जो वर्धमान—जैनों के २४वें तीर्थंकर—के आत्मिक वंशज थे, ८४५ वर्ष बीत जाने पर)।[9] उन्होंने **आगुप्तायिकानां राज्ञां** की व्याख्या की उन **राजाओं की, जिनके नाम का अन्त गुप्त से होता है,** और उसकी तुलना के लिए गुप्त वर्ष १०६ के उदयगिरि गुहा लेख की पंक्ति **श्री-संयुक्तानां गुप्तान्वयानां नृपसत्तमानां राज्ये**[10] को प्रस्तुत किया। किन्तु कहीं भी गुप्तों को वर्धमान का वंशज नहीं कहा गया है। फिर, जम्बुखण्ड (आधुनिक जमखेड़ी), जिसका उल्लेख अभिलेख में हुआ

---

१. सामशास्त्री (माइसोर पुरातत्व विभाग, वार्षिक रिपोर्ट, १९३३, पृ० ९-३०)।
२. जी० पै (ज० इ० हि०, ११, पृ० १८८)।
३. फिट्ज एडवर्ड हाल (ज० बं० ए० सो०, ३०, पृ० १४ आदि)।
४. जी० पै (ज० इ० हि०, १२, पृ० २१७); आर० आर० सौन्दरराजन (ज० इ० हि०, १९, पृ० १३२)
५. फर्गुसन (ज० रा० ए० सो०, ४ (न० सी०), पृ० ८१ आदि); भण्डारकर, रा० ग० (ज० ब० ब्रा० रा० ए० सो०, १०, पृ० ७२ आदि)
६. रा० ग० भण्डारकर, अर्ली हिस्ट्री ऑव डकन, परिशिष्ट, पृ० ९७ आदि।
७. कनिंगहम, भिलसा टोप्स, पृ० १३८ आदि; क्वायन्स ऑव मिडीवल इण्डिया, पृ० ९०; भाऊ दाजी, ज० ब० ब्रा० रा० ए० सो०, ८ (प्रा० सी०), पृ० १९ आदि; ओल्डेनबर्ग, इ० ए०, १०, पृ० ३१२ आदि।
८. का० इ० इ०, ३, पृ० ६९।
९. ए० इ०, २१, पृ० २८९-९२।
१०. ज० इ० हि०, १८, पृ० ६४।

है, महाराष्ट्र के बेलगाँव जिले में अवस्थित है; और यह भूभाग कभी गुप्तों के अधिकार में नहीं रहा और न कभी उस पर गुप्त प्रभाव अनुभव किया गया। तीसरे, गुप्त-संवत् का पश्चिमी भारत में प्रचलन था ही नहीं। वलभी-नरेशों के अभिलेख, जिनके गुप्त-संवत में अंकित होने का अनुमान किया जाता है, कभी भी अपनी तिथियों का उल्लेख इस नाम से नहीं करते। यदि कभी नामोल्लेख किया भी है तो उसे वलभी संवत कहा है। अतः अभिलेख में उल्लिखित आगुप्तायिक को न तो गुप्त कहा जा सकता और न उसमें उल्लिखित तिथि को गुप्त-संवत्। यह अभिलेख प्रस्तुत प्रसंग में कोई महत्त्व नहीं रखता। हमें इसके लिए उन्हीं अभिलेखों को परखना होगा, जो निःसंदिग्ध रूप से गुप्त-संवत् में अंकित हैं।

इस प्रसङ्ग में उड़ीसा के गंजाम जिले से प्राप्त उस लेख का उल्लेख महत्त्व का होगा जिसमें तिथि का उल्लेख **गौप्ताब्दे वर्षे शत त्रये वर्तमाने महाराजाधिराज श्री शशांक राज्ये** के रूप में किया गया है।[1] इसमें उल्लिखित महाराजाधिराज शशांक सम्भवतः कान्यकुब्ज नरेश हर्षवर्धन के समकालिक पुण्ड्रवर्धन नरेश ही हैं। युवान-च्वांग हर्षवर्धन के राज्य काल में ६३०-६४४ ई० बीच आया था। इस प्रकार गंजाम ताम्र-लेख का वर्ष ३०० इसी काल के आसपास होना चाहिये। तदनुसार गुप्त-संवत् का आरम्भ चौथी शती के प्रारम्भिक भाग में ही हुआ होगा, उससे पहले कदापि नहीं।

एक दूसरा अभिलेख तेजपुर (आसाम) में एक शिलाखण्ड पर अंकित है जिसकी तिथि **गुप्त** ५१० है।[2] यह एक राज्यादेश है जिसमें कतिपय सीमा के अन्तर्गत ब्रह्मपुत्र नदी के नौकानयन के नियन्त्रण की व्यवस्था की गयी है। यह शासन राजा हर्जरवर्मन के राज्यकाल में प्रचलित किया गया था। उल्लिखित तिथि का तात्पर्य गुप्त-वर्ष ५१० अनुमान किया जाता है। यदि वह वस्तुतः गुप्त-संवत् की तिथि है तो गंजाम ताम्र लेख का इससे समर्थन होता है। कामरूप के राजाओं के राज्य-क्रम से ज्ञात होता है भास्करवर्मन के निधन के पश्चात् शालस्तम्भ ने कामरूप के राज्य पर अधिकार कर लिया था। और हर्जरवर्मन उससे नवाँ राजा था। भास्करवर्मन हर्षवर्धन और युवान-च्वांग का समकालिक था और उसकी मृत्यु ६५० ई० में हुई। इस प्रकार २० वर्ष प्रति राज्य-शासन के आधार पर भास्करवर्मन के १८० वर्ष पश्चात् हर्जरवर्मन का काल ८२९-३० ई० के आस-पास होगा। यदि ८२९-३० ई० का समय अभिलेख के गुप्त ५१० के समकक्ष हो तो उसके अनुसार गुप्त-सम्वत् का प्रारम्भ ३१८-३१९ ई० के आसपास ठहरता है।

इन तथ्यों से इतना तो निश्चित हो ही जाता है कि गुप्त-सम्वत् का आरम्भ चौथी शती के आरम्भ से पहले कभी नहीं हुआ होगा। किन्तु हमें तो उसका निश्चित काल

---

१. ए० इ०, ६, पृ० १४३ आदि।

२. ज० बि० उ० रि० सो०, ३, पृ० ५११।

निर्धारित करना है। इस तथ्य पर पहुँचने के लिए अपने निष्कर्ष गुप्तों के अभिलेखों से ही निकालना अधिक प्रामाणिक और समीचीन होगा। अस्तु,

इस कार्य में सहायक प्रथम और अत्यन्त महत्त्व का तिथि-सम्बन्धी सूत्र मन्दसोर से प्राप्त तन्तुवायों की श्रेणी का वह अभिलेख है जिसे फ्लीट ने ढूँढ़ निकाला था।[1] उसमें मालव-संवत् ४९३ (गत) में शासक के रूप में कुमारगुप्त का उल्लेख हुआ है। यदि हम मालव-संवत् का निश्चित आरम्भ जान सकें और कुमारगुप्त की ठीक से पहचान कर सकें तो हम गुप्त-काल के आरम्भ के सम्बन्ध में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं। फ्लीट ने इस सूत्र का उपयोग अल-बरूनी द्वारा उल्लिखित अनुश्रुति के आधार पर निकाले गये अपने निष्कर्ष की पुष्टि में किया है।[2] किन्तु उनकी गणना की सबसे बड़ी निर्बलता यह है कि उन्होंने यह कहीं सिद्ध नहीं किया है कि मालव और विक्रम-संवत् एक हैं। उनसे पहले कनिंगहम ने मालव और विक्रम-संवत् के एक होने की सम्भावना मात्र प्रकट की थी,[3] उसे किसी रूप में प्रमाणित नहीं किया था। फ्लीट ने जब यह देखा कि गुप्त-संवत् के लिए उनके प्रस्तावित समय से गणना करने पर मालव-संवत् का आरम्भ ईसा पूर्व वर्ष ५८ के निकट पड़ता है, जो विक्रम-संवत् का प्रारम्भिक वर्ष है, तो उन्होंने कनिंगहम के उपर्युक्त अनुमान को प्रमाणित तथ्य मान लिया। और आज भी, जहाँ तक हम जान सके हैं, मालव-संवत् और विक्रम-संवत् की एकता को स्पष्ट रूप में कहीं सिद्ध नहीं किया गया है; लोग एक बँध गयी धारणा के आधार पर ही ऐसा मानते चले आ रहे हैं।

मालव-संवत् और विक्रम-संवत् की एकता के प्रमाण के अभाव में मुखर्जी (डी० के०) ने यह सुझाव प्रस्तुत किया कि गुप्त-संवत् और विक्रम-संवत् एक है और मालव-संवत् वह संवत् है जिसका उल्लेख अल-बरूनी ने हर्ष-संवत् के रूप में किया है और जिसका आरम्भ विक्रम-संवत् (उनके अनुसार गुप्त-संवत्) से ठीक ४०० वर्ष पूर्व हुआ था।[4] यद्यपि उन्होंने अपने इस अनुमान के समर्थन में कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया, तथापि गुप्त तिथियों का आरम्भ ५८ ईसा पूर्व और मालव-संवत् का आरम्भ ४५८ ई० पू० मान कर उन्होंने गुप्त तिथियों का जो संतुलन उपस्थित किया उससे अद्भुत परिणाम प्रकट हुए। मन्दसोर अभिलेख की दोनों मालव तिथियों ४९३ और ५२९ का सन्तुलन गुप्त-संवत् ९३ और १२९ से बैठ गया; और दोनों ही कुमारगुप्त (प्रथम) के शासन काल में पड़ती थीं। इस प्रकार मुकर्जी को अपना प्रतिपाद्य कुछ अन्य तिथियों पर घटित करने में सफलता मिली। किन्तु जो निश्चित प्रमाण अब उपलब्ध हुए हैं, उनसे स्पष्ट है कि उनके अनुमान एकदम निराधार थे।

---

१. का० इ० इ०, ३, भूमिका, पृ० ८१ आदि।
२. वही, भूमिका, पृ० ३१।
३. आ० स० रि०, १०, पृ० ३४।
४. इ० हि० क्वा०, ८, पृ० ८५।

चाहमान वंश के पृथ्वीराज (द्वितीय) के राज्यकाल का एक लेख मेनालगढ़ (उदयपुर) में एक स्तम्भ पर है, उसमें १२२६ की तिथि **मालवेश-गत-वत्सर-शतैः। द्वादशैश्च षट्विंशपूर्वैः** के रूप में अंकित है।[1] उनके चाचा वीसलदेव विग्रहराज का एक दूसरा लेख दिल्ली में फिरोजशाह की लाट के नाम से प्रख्यात अशोकस्तम्भ पर अंकित है। उसमें वर्ष १२२० का उल्लेख **संवत् श्री विक्रमादित्य १२२० वैशाख सुदी १५ गुरौ** के रूप में है।[2] एक तीसरे लेख में, जो उसके दूसरे चाचा का है जो उनके बाद गद्दी पर बैठे थे, तिथि का उल्लेख **प्रसिद्धमगमद्देवः काले विक्रमभास्वतः षड्विंशद्द्वादश शते फाल्गुन कृष्णपक्षे तृतीयायां** है।[3] ये तीनों ही लेख एक ही वंश के और तीन क्रमागत राजाओं के हैं और उन पर जो तिथियाँ हैं वह एक दूसरे के अति निकट हैं। ये इस बात के द्योतक हैं कि उनका उल्लेख एक ही संवत् में हुआ है, यद्यपि एक में उसे **मालव** और अन्य दो में **विक्रम** कहा गया है। इन अभिलेखों से यह निश्चित हो जाता है कि विक्रम और मालव एक ही संवत् के दो नाम हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि मालव संवत् का आरम्भ ई० पू० ५८ में हुआ था, ई० पू० ४५८ में नहीं, जैसा कि मुखर्जी का अनुमान था। अतः इस बात में सन्देह रह ही नहीं जाता कि गुप्त-संवत् विक्रम-संवत् से भिन्न था और उसकी आरम्भिक तिथि ई० पू० ५८ नहीं हो सकती।

अस्तु, गुप्त अभिलेखों और सिक्कों से ज्ञात होता है कि गुप्त-वंश में तीन कुमारगुप्त हुए थे और उनकी ज्ञात तिथियाँ इस प्रकार हैं—

(१) गुप्त-संवत् ९३ (बिलसड़ स्तम्भ-लेख से ज्ञात) और १२९ (मानकुँवर बुद्ध-मूर्ति से ज्ञात) के बीच।

(२) गुप्त-संवत् १४६ (स्कन्दगुप्त की इन्दौर ताम्र-लेख से ज्ञात अन्तिम तिथि) और १५७ (सारनाथ बुद्ध-मूर्ति से ज्ञात बुधगुप्त की आरम्भिक तिथि) के बीच।

(३) गुप्त-संवत् २२४ (दामोदरपुर ताम्र लेख से ज्ञात) से पूर्व।

और, जैसा कि सामशास्त्री (आर०) ने इंगित किया है[4] तन्तुवायों की श्रेणी के मन्दसोर अभिलेख में वंशावली, बिरुद अथवा कोई अन्य बात ऐसी नहीं है जिससे उसके समसामयिक शासक कुमारगुप्त की पहचान उक्त तीनों कुमारगुप्तों में से किसी के साथ सुगमता से की जा सके। यथास्थिति में तीनों में से किसी को भी समान औचित्य के साथ अभिलेख में उल्लिखित अवसर का समसामयिक शासक कहा जा सकता है।

जिस समय फ्लीट ने गुप्त-संवत् की समस्या पर विचार किया था, एक ही कुमारगुप्त—कुमारगुप्त (प्रथम) ज्ञात थे। इस कारण उनके लिए अभिलेख की तिथि को उनके काल का बता देना सुगम था। जब द्वितीय कुमारगुप्त का ज्ञान हुआ तब साम-

१. ज० ए० सो० बं०, ५४, १, पृ० ४६।
२. इ० ए०, १९, पृ० २१८।
३. ज० ए० सो० बं०, ५४, पृ० ४०।
४. माइसोर पुरातत्त्व विभाग, वा० रि०, १९२३, पृ० २४।

शास्त्री (आर०),[1] पै (जे०)[2] और सौन्दरराजन (आर० पी०)[3] ने अपना दृढ़ मत व्यक्त किया कि अभिलेख द्वितीय कुमारगुप्त के राज्यकाल का है। अभी तक किसी विद्वान् ने इस लेख के तीसरे कुमारगुप्त के काल का होने का दावा उपस्थित नहीं किया है।

यदि उक्त लेख का समसामयिक शासक प्रथम कुमारगुप्त था तब मालव-संवत् ४९३ गुप्त-संवत् ९३ और १२९ के बीच पड़ेगा; ऐसी अवस्था में गुप्त-संवत् का आरम्भ ३०६ ई० (४९३–५८–१२९) और ३४२ ई० (४९३–५८–९३) के बीच कहीं होगा। यदि समसामयिक शासक द्वितीय कुमारगुप्त था तब मालव-संवत् ४९३ गुप्त-संवत् १४६ और १५७ के बीच पड़ेगा और तब गुप्त-संवत् का आरम्भ २७८ ई० (४९३–५८–१५७) और २८९ ई० (४९३–५८–१४६) ई० के बीच कहीं होगा। इस प्रकार मन्दसोर अभिलेख से जो तथ्य प्राप्त होता है, उससे हम गुप्त संवत् के आरम्भ वर्ष को दो कालों के बीच सीमित कर सकते हैं—(१) २७८ और २८९ ई० के बीच अथवा (२) ३०६ और ३४२ ई० के बीच।

हमारे कार्य में सहायक होनेवाला दूसरा अभिलेख बुधगुप्त के काल का एरण स्तम्भ लेख है जिस पर तिथि का अंकन इस प्रकार हुआ है—**शते पंचाषष्ट्यधिके वर्षाणां भूपतौ च बुधगुप्ते आषाढ़ मास शुक्ल द्वादश्यांसुरगुरोर्दिवसे**[4] (बुधगुप्त के राज्यकाल में वर्ष १६५ के आषाढ़ शुक्ल द्वादशी गुरुवार)। इसमें आवश्यक तिथि सम्बन्धी जानकारी के साथ वार का भी उल्लेख है। इससे यह सुगमता से जाना जा सकता है कि आषाढ़ शुक्ल द्वादशी किस साल गुरुवार को थी। यह तिथिपरक प्रमाण गुप्त संवत् पर विचार करनेवाले सभी विद्वानों के सम्मुख गुप्त-वंशीय वृत्त-सन्धान के आरम्भक दिनों में ही रहा है और प्रत्येक ने उसके आधार पर अपने प्रतिपाद्य के अनुकूल एक तिथि उपस्थित की है। फलतः गुप्त-संवत् १६४ के आषाढ़ शुक्ल द्वादशी को व्यक्त करने वाली चार शताब्दी के बीच की नौ तिथियाँ इस प्रकार सामने रखी गयी हैं :

१. गुरुवार, २० मई १०७ ई० (मुकर्जी, डी० के०)
२. गुरुवार, ७ जून १०८ ई० (हाल, एफ० ई०)
३. गुरुवार, ३ जून ३३१ ई० (कनिंगहम, ए०)
४. गुरुवार, ७ मई ३५५ ई० (बायले, ई० सी०)
५. गुरुवार, २४ जून ३५९ ई० (कनिंगहम, ए०)
६. गुरुवार, १६ जून ३६८ ई० (सामशास्त्री, आर०)
७. गुरुवार, १ जुलाई ४३५ ई० (पै० जी०)

---

१. वही।
२. ज० इ० हि०, ११, पृ० १८२-१८४।
३. वही, ५६, पृ० १३२।
४. का० इ० इ०, ३, पृ० ८९; से० इ०, पृ० ३२६।

८. गुरुवार, ८ जून ४५० ई० (पै, जी०)
९. गुरुवार, २१ जून ४८४ ई० (फ्लीट, जे० एफ०)

यदि अकेले एरण अभिलेख को प्रमाण माना जाय तो इनमें से प्रत्येक को गुप्त-संवत् १६५ कहना होगा और हम किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकेंगे। ये ही नहीं, इनके अतिरिक्त भी अनेक वर्ष ऐसे मिलेंगे जब उक्त तिथि गुरुवार को पड़ी थी।

किन्तु ज्ञातव्य है कि भारतीय पञ्चांग में दिनों के रूप में नक्षत्रों के नामों का प्रवेश पाल अलेक्जेण्ड्रीन (३७८ ई०) की पुस्तक के माध्यम से हुआ; वह हमारे देश में **पौलिश सिद्धान्त** के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार यह ज्ञान यवन-खगोल से भारतीय खगोल में ४०० ई० से पहले कदापि न आया होगा। इससे पहले के सभी भारतीय लेखों में केवल तिथि और मास का उल्लेख मिलता है, वार का नहीं। एरण अभिलेख ही, जिसकी चर्चा यहाँ की जा रही है, पहला भारतीय लेख है जिसमें वार का उल्लेख हुआ है। अतः इतना तो स्वतः स्पष्ट है कि इस अभिलेख की तिथि पाँचवीं शती ई० के आरम्भ के पूर्व नहीं ही हो सकती। अतः ऊपर दिये गये अधिकांश तिथियों को सरलता से अस्वीकार किया जा सकता है।

तन्तुवायों की श्रेणी के मन्दसोर-अभिलेख ने दो ऐसे काल निर्धारित कर दिये हैं जिनके बीच गुप्त-संवत् का आरम्भ हुआ होगा। फलतः गुप्त-संवत् १६५ (गत) या तो ४४३ ई० (२७८ + १६५) और ४५४ (२८९ + १६५) के बीच होगा या फिर ४७१ ई० (२७३ + १६५) और ५०७ ई० (२८९ + १६५) के बीच। अस्तु, आषाढ़ शुक्ल द्वादशी, गुरुवार ४४३ और ४५४ ई० के बीच ८ जून ४५० ई० को और ४७१ और ५०७ ई० के बीच २१ जून ४८४ ई० को पड़ा था। इसका अर्थ यह हुआ कि गुप्त-संवत् १६५ (गत) या तो ४५० ई० था या फिर ४८४ ई०।

इन तिथियों को गुप्त-संवत् १६५ (गत)[1] मानकर गणना करने पर हमे निम्न-लिखित तिथियाँ प्राप्त होती हैं—

(१)	गुप्त-संवत् १६५ (गत)	४५० ई०
	गुप्त-संवत् १ (गत)	२८५ ई०
	गुप्त-संवत् १ (वर्तमान)	२८४ ई०
(२)	गुप्त-संवत् १६५ (गत)	४८४ ई०
	गुप्त-संवत् १ (गत)	३१९ ई०
	गुप्त-संवत् १ (वर्तमान)	३१८ ई०

और हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गुप्त-संवत् का आरम्भ वर्ष २८५ अथवा ३१९ ई० होगा। अब केवल यह निर्णय करना रह जाता है इनमें से कौन गुप्त-संवत् का वास्तविक आरम्भिक वर्ष है।

---

१. एरण अभिलेख में वर्ष के गत-संवत् होने की कोई स्पष्ट चर्चा नहीं है; किन्तु सारनाथ बुद्ध-मूर्ति लेख से ज्ञात होता है कि गुप्त-संवत् गत वर्ष पर आधारित था (पीछे, पृ० २००)।

और यह कार्य गुप्त-संवत् ६१ के मथुरा स्तम्भ-लेख की सहायता से सरलता से किया जा सकता है। गुप्त-संवत् पर विचार करनेवाले किसी भी पूर्ववर्ती विद्वान् के सम्मुख यह अभिलेख न था। और न इसके महत्त्व की ओर अभी तक किसी की दृष्टि गयी है। इस अभिलेख के अनुसार गुप्त-संवत् ६१ में अधिक मास था।[1] किन्तु खेद है कि इस अधिक मास का नाम अभिलेख में नष्ट हो गया है, जो कुछ स्पष्ट है उससे कुछ अनुमान नहीं किया जा सकता। यदि वह ज्ञात होता तो हमारे कार्य को अतिरिक्त बल मिलता। न होने से कुछ अधिक हानि भी नहीं है। गुप्त-संवत् के आरम्भ के सम्बन्ध में प्राप्त उपर्युक्त निष्कर्षों के अनुसार गुप्त-संवत् ६१ या तो ३४६ ई० (२८५ + ६१) या फिर ३८० ई० (३१९ + ६१) होगा। इन दो वर्षों में से केवल ३८० ई० में अधिक मास (आषाढ़) था और ३४६ ई० में कोई मास अधिक न था। अतः सुगमता के साथ २८५ ई० को छाँट कर कहा जा सकता है कि गुप्त-संवत् का आरम्भ ३१९ ई० में हुआ था। और हम यह भी कह सकते हैं कि तन्तुवायों की श्रेणी के मन्दसोर अभिलेख का कुमारगुप्त, प्रथम कुमारगुप्त था।

हमारा यह निष्कर्ष विना किसी वाह्य साक्ष्य के अकेले गुप्त अभिलेखों के प्रमाण पर आधारित है। और यह निष्कर्ष भण्डारकर (रा० गो०) और फ्लीट (जे० एफ०) के निष्कर्ष के समान ही है। भण्डारकर का कहना था कि गुप्त-वर्ष गत वर्ष है, इसलिए यदि उनका निष्कर्ष हमारे निष्कर्ष से मेल खाता है तो कोई आश्चर्य नहीं; हम दोनों इस निष्कर्ष पर एक दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र ढंग से और स्वतन्त्र आधार पर पहुँचे हैं। किन्तु फ्लीट के निष्कर्ष के साथ हमारे निष्कर्ष की समता स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखती है। वे गुप्त-संवत् को वर्तमान संवत् मानते थे और इसी आधार पर उन्होंने कार्य किया है। उनके अनुसार एरण स्तम्भ लेख का गुप्त-संवत् १६४ वर्तमान वर्ष था और वह ४८४ ई० में पड़ा था। इसके अनुसार वर्तमान गुप्त वर्ष १, ३२० ई० मे होता है। फिर भी फ्लीट ने अल-बरूनी के कथन के अनुसार गुप्त-वर्ष के आरम्भ के निमित्त गुप्त-वर्ष को एक वर्ष पहले ३१९ ई० में रखा है। इस प्रकार इस स्पष्ट अन्तर को वे चुपचाप गोल कर गये हैं।

परिव्राजक महाराजाओं के अभिलेखों में उनकी तिथियों के स्पष्टतः गुप्त राजाओं के वर्ष में लिखे होने की चर्चा है। दूसरे शब्दों में उनकी गणना गुप्त-संवत् में की गयी है; इस प्रकार वे गुप्त अभिलेखों के समान ही महत्त्व के हैं। गुप्त-संवत्, मास और तिथि के अतिरिक्त उनमें सामयिक संवत्सर (बार्हस्पत्य वर्ष) भी दिया हुआ है। अतः वे अपने आप में गुप्त-संवत् के आरम्भ होने के वर्ष जान पाने के लिए एक प्रामाणिक साधन हो सकते थे। उनका उपयोग उपर्युक्त निष्कर्ष को परखने के लिए किया जा सकता था। किन्तु इसमें कठिनाई यह है कि उनसे जो जानकारी प्राप्त होती है उनका

---

१. ए० इ०, २१, पृ० ८ आदि।

बार्हस्पत्य वर्ष के गणना सम्बन्धी ज्ञात आधुनिक सिद्धान्तों में से किसी के साथ मेल नहीं बैठता।[1] जब तक उनमें प्रयुक्त संवत्सरों की गणना का सिद्धान्त ज्ञात न हो इसका किसी भी रूप में प्रयोग नहीं किया जा सकता।

इनके अतिरिक्त दूसरी अन्य कोई आभिलेखिक अथवा पुरातात्विक सामग्री ऐसी नहीं है जिससे हमारे निष्कर्ष की परख हो सके।[2] किन्तु दो स्वतन्त्र अनुश्रुतियों से उसका पूर्णतः समर्थन होता है। इन अनुश्रुतियों में सबसे प्राचीन अनुश्रुति का उल्लेख जैन लेखक जिनसेन ने हरिवंशपुराण में किया है, जो शक संवत् ७०५ (७८३ ई०) की रचना है। उसकी ओर सर्वप्रथम पाठक (के० बी०) का ध्यान गया था[3] किन्तु गुप्त-संवत् के प्रसंग में वे उसका समुचित उपयोग न कर सके। इस प्रसंग में सामशास्त्री (आर०) का ध्यान सबसे पहले इसकी ओर गया[4] और उन्होंने इसका उपयोग करने का प्रयास किया था। इस अनुश्रुति की विस्तृत चर्चा हमने अन्यत्र की है[5] अतः हमें यहाँ इतना ही कहना है कि इस अनुश्रुति के अनुसार गुप्त लोग भट्टुवाण लोगों के

---

१. देखिए अध्याय के अन्त में परिशिष्ट।

२. फ्लीट ने नेपाल और वलभी अभिलेखों का प्रयोग अपने निष्कर्षों के समर्थन में किया है। किन्तु उनमें से किसी का भी प्रयोग गुप्त-संवत् के आरम्भिक तिथि के समर्थन अथवा विरोध में नहीं किया जा सकता। नेपाल के अभिलेखों में इस बात का कहीं भी कोई उल्लेख नहीं है कि उनकी तिथि गणना गुप्त-संवत् में हुई है। फ्लीट ने ही उन्हें गुप्त-संवत् में अंकित होने का अनुमान किया है। उन्होंने नेपाल के लिच्छवि अभिलेखों की तिथियों का वहाँ के कुछ अन्य अभिलेखों की ऐसी तिथियों से सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा की है जिन्हें हर्ष संवत् में अंकित होने का विश्वास वे करते हैं। किन्तु इन लेखों में भी अपनी तिथियों के किसी संवत् विशेष में अंकित होने की चर्चा नहीं है। हर्ष-संवत् का प्रश्न भी अभी तक सन्तोषजनक रूप में निर्णीत नहीं हो सका है। हर्ष अथवा उनके उत्तराधिकारियों का अपना कोई संवत् था, इस बात में भी सन्देह है।

वलभी अभिलेख भी यह नहीं कहते कि उनका अंकन गुप्त-संवत् में हुआ है। अधिकांश तो किसी संवत् विशेष का उल्लेख ही नहीं करते। जो करते भी हैं वे वलभी का उल्लेख करते हैं। यह तो अल-बरूनी का कहना है कि गुप्त और वलभी दोनों ही संवतों का आरम्भ एक ही है। परिस्थितियों से ऐसा लगता है कि इन अभिलेखों की तिथियाँ गुप्त-संवत् के ही क्रम में होंगी। किन्तु, इन अभिलेखों में गुप्त-संवत् के क्रमागत होने मात्र से गुप्त-संवत् सम्बन्धी किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता; गुप्त-संवत् के आरम्भ होने के ठीक निदान होने पर वे स्वयं निर्भर करते हैं। यदि गुप्त-संवत् के आरम्भ के सम्बन्ध में हमारे निष्कर्ष से वलभी लेखों के तिथियों का मेल होता है तो उससे केवल यही सिद्ध होगा कि वे गुप्त-संवत् के क्रम में हैं। यदि वलभी अभिलेखों की किसी तिथि का हमारे निष्कर्ष से मेल नहीं होता तो उससे यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि हमारे निष्कर्ष गलत हैं।

३. इ० ए०, १५, पृ० १४१।

४. मैसूर पुरातत्त्व विभाग, वा० रि०, १९२३, पृ० २४।

५. पीछे, पृ० ११६-१२०।

२४० वर्ष पश्चात्, जो हमारी धारणा के अनुसार और कोई नहीं पश्चिमी क्षत्रप ही थे,[1] आये। इसका अर्थ यह हुआ कि गुप्तों का उत्थान शकों के २४० वर्ष बाद अर्थात् शक संवत् २४१ में हुआ। इसके अनुसार शक संवत् २४१ ही गुप्त संवत् का आरम्भ वर्ष हुआ, और यह हमारी गणना के समान ही ३१९ ई० है।

दूसरी अनुश्रुति का उल्लेख अल-बरूनी ने किया है, जो ग्यारहवीं शती में भारत आया था। उसका कहना है कि एक संवत्—गुप्त-संवत् (और वलभी-संवत् भी) ऐसा था जिसको यदि शक-संवत् के वर्षों में परिवर्तित करना हो तो, उसके अत्यन्त स्पष्ट कथन के अनुसार, उसमें २४१ जोड़ना होता है। उसने तीन स्थलों पर गुप्त-संवत् का उल्लेख किया है, और प्रत्येक स्थल पर उसने स्पष्टीकरण किया है कि वह शक-संवत् के २४१ वर्ष बाद आरम्भ होता है। इस प्रकार यह शक और गुप्त-संवत् के सन्तुलन का अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख है। किन्तु १८४५ ई० में जब रेनॉ ने इस अनुश्रुति को प्रकाशित किया तो उन्होंने अल-बरूनी के कथन का अनुवाद इस प्रकार किया जिसका भाव यह होता था कि गुप्त-संवत् की गणना गुप्तों के उच्छेद के पश्चात् आरम्भ हुई।[2] फलतः उनके अनुवाद से अनेक विद्वानों को भ्रम हुआ और उन्होंने अल-बरूनी कथित २४१ शक संवत् को गुप्तों के उच्छेद का समय मान लिया। जब फ्लीट गुप्त-संवत् के आरम्भ के प्रश्न पर विचार करने लगे तो उन्होंने अल-बरूनी के उक्त अवतरण के शब्दशः नये अनुवाद की आवश्यकता का अनुभव किया। और उन्होंने जो अनुवाद राइट (डब्लू०) से प्राप्त किया, उसमें ऐसा कुछ नहीं है जिससे अनुमान हो कि गुप्त-संवत् का आरम्भ गुप्तों के उच्छेद के बाद हुआ। जिस वाक्यांश का यह अर्थ निकाला गया था, उसका वास्तविक अर्थ है 'इसकी गणना उनके द्वारा हुई', 'उनके द्वारा की गणना के अनुसार यह तिथि थी' अथवा 'लोग उनके अनुसार गणना करते थे'।[3] इस प्रकार गुप्त-संवत् के आरम्भ के रूप में शक-संवत् २४१ (गत), ३१९ ई० ही ठहरता है।

---

१. यती वृषभ के तिलोय-पण्णत्ति (स० हीरालाल जैन और आ० ने० उपाध्ये) के इस कथन में भी कि भट्टठुणों ने २४२ और गुप्तों ने २३१ वर्ष तक राज्य किया (गाथा १६०८) इसी अनुश्रुति का संकेत है। हरिवंश पुराण के २४० और तिलोय पण्णत्ति के २४२ कथन का अन्तर नगण्य है और सम्भवतः गत और वर्तमान की दो रीतियों से गणना का परिणाम है। भट्टठुण और बट्टुवाण को एक मानने में कोई कठिनाई नहीं है। वे एक ही नाम के दो रूप हैं। यती वृषभ ने एक अन्य प्रसंग में कहा है कि शकों ने २४२ वर्ष और गुप्तों ने २५५ वर्ष राज्य किया (गाथा १५०३-०४)। दोनों अवतरणों को एक साथ देखने पर यह स्पष्ट प्रकट होता है कि शकों को ही भट्टठुण कहा गया है, वे ही बट्टुवाण भी थे। डी० आर० मॉकड ने (पुराणिक क्रोनालाजी, पृ० १६८) इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि भट्टठुण चष्टण का विकृत अपभ्रंश रूप है। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय तो यह मानने में कोई कठिनाई नहीं रह जाती कि उसका तात्पर्य शकों से ही है।

२. फ्रैगमेण्ट्स अरबेस एत परसान्स, पृ० १४३।

३. का० इ० इ०, ३, ० ३०-३१; पीछे, पृ० १४८।

अब केवल यह निश्चय करना रह जाता है कि इस संवत् का आरम्भ किस दिन हुआ था। अभी तक जो अभिलेख ज्ञात हैं, उनसे इस संवत् के आरम्भ होने की तिथि का कोई संकेत नहीं मिलता। किन्तु परिव्राजक राजाओं के एक अभिलेख से इतना संकेत प्राप्त होता है उसमें उत्तर भारतीय पञ्चांग के पूर्णिमान्त पद्धति[1] का व्यवहार होता था। संक्षोभ के गुप्त संवत् २०९ के खोह ताम्र-शासन में तिथि दो प्रकार से

१. काल गणना की दो भिन्न पद्धतियाँ उत्तर और दक्षिण भारत में प्रचलित हैं। इन पद्धतियों के अनुसार देश में व्यवहृत जो दो महत्व के संवत्—विक्रम (जिसका आरम्भ ५८ ई० पू० है) और शक (जो ६८ ई० में आरम्भ हुआ) हैं, उनकी गणना दो भिन्न प्रकार से होती है।

शक संवत् के वर्ष का आरम्भ उत्तर और दक्षिण की दोनों ही पद्धतियों में संक्रान्ति के तत्काल पश्चात् शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से होता है। किन्तु मासों की व्यवस्था में उत्तरी पद्धति के अन्तर्गत कृष्णपक्ष पहले और दक्षिणी पद्धति के अन्तर्गत शुक्ल पक्ष पहले माना जाता है। अर्थात् दक्षिणी पद्धति में महीने का आरम्भ शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से और उत्तरी पद्धति में कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से होता है। फलतः दक्षिणी पद्धति के अनुसार चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से वर्ष का आरम्भ होता है और उसमें पूरे १२ मास होते हैं। उत्तरी पद्धति में ग्यारह पूरे और दो आधे मास होते हैं। एक आधा मास (चैत्र शुक्ल पक्ष) वर्ष के आरम्भ में और दूसरा आधा मास (चैत्र कृष्ण पक्ष) वर्ष के अन्त में होता है। इस अन्तर के परिणामस्वरूप उत्तरी दक्षिणी पद्धतियों में शुक्ल पक्ष के मास तो समान होते हैं, किन्तु कृष्ण पक्ष के महीने एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होते हैं। दक्षिण पद्धति के चैत्र का कृष्ण पक्ष, उत्तरी पद्धति के अनुसार वैशाख का कृष्ण पक्ष होगा। इसी प्रकार दक्षिणी पद्धति का कृष्ण पक्ष उत्तरी पद्धति के ज्येष्ठ का कृष्ण पक्ष होगा। इसलिए कृष्ण पक्ष की तिथियों के सम्बन्ध में विचार करते समय यह जानना आवश्यक है कि तिथि-गणना किस पद्धति से हुई है। तभी शुद्ध गणना की जा सकती है। उदाहरणार्थ, चान्द्र मास ज्येष्ठ के कृष्ण पक्ष की १०वीं तिथि अथवा सौर दिवस को दक्षिणी पद्धति से देखा जाय तो उसकी अंग्रेजी तिथि, उत्तरी पद्धति की तिथि गणना के अनुसार एक मास पीछे होगी। इस भेद के कारण उत्तरी पद्धति को पूर्णिमान्त और दक्षिणी पद्धति को आमान्त कहते हैं।

उत्तरी पद्धति में शक और विक्रम संवत के वर्ष एक समान हैं। अर्थात् वे दोनों ही एक ही तिथि से आरम्भ होते हैं नित्य प्रति समान रूप से चलते रहते हैं। इस कारण विक्रम और शक संवत की तिथियाँ एक-सी होंगी और शक और विक्रम संवत् के बीच वर्षों का अन्तर सर्वत्र समान बना रहेगा। किन्तु दक्षिणी पद्धति में शक और विक्रम दोनों ही संवतों में पक्षों की व्यवस्था आमान्त है। इस कारण जहाँ तक तिथि गणना का सम्बन्ध है दक्षिणी विक्रम और शक संवत् की तिथियाँ तो एक होंगी पर दोनों के वर्षों का अन्तर समान नहीं होगा। दक्षिण में विक्रम संवत् का आरम्भ दक्षिणी शक संवत और उत्तरी विक्रम संवत् से सात चान्द्र मास बाद होता है। दूसरे शब्दों में दक्षिणी विक्रम संवत् का आरम्भ कार्तिक शुक्ल १ से होता है। इस प्रकार दक्षिणी विक्रम संवत् के अनुसार शक संवत् और उत्तरी विक्रम संवत् दो दक्षिणी विक्रम संवत् में विभक्त होते हैं। चैत्र शुक्ल १ से आश्विन कृष्ण १५ तक के प्रथम ७ मास का एक विक्रम संवत् होगा और उत्तरवर्ती कार्तिक शुक्ल १ से फाल्गुन शुक्ल १५ तक के ५ मास का दूसरा विक्रम संवत् होगा। फलतः दक्षिणी पद्धति में चैत्र शुक्ल १ और आश्विन कृष्ण १५

अंकित है। आरम्भ में तिथि का उल्लेख **चैत्र मास शुक्ल पक्ष त्रयोदस्याम्** के रूप में और अन्त में **चैत्र दिन १७** के रूप में हुआ है।[1] इस द्वैध उल्लेख से प्रकट होता है कि गुप्त-संवत् में मासों के संयोजन में कृष्ण पक्ष पहले रहता था अर्थात् उसमें पूर्णिमान्त की उत्तरी पद्धति का पूर्ण रूप से पालन होता था। उसी से शुक्ल पक्ष त्रयोदशी (चान्द्र) पूरे मास का सौर दिवस २७ होगा। इससे सिद्ध है कि गुप्त-संवत् की सामान्य योजना दाक्षिणात्य नहीं है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, गुप्त-संवत् का आरम्भ किसी ऐतिहासिक घटना सम्भवतः चन्द्रगुप्त प्रथम के राज्यारोहण की स्मृति स्वरूप किया गया रहा होगा। अतः स्वाभाविक कल्पना यह होती है कि उसकी गणना उस दिन से की जाती रही होगी जिस दिन घटना घटी थी। किन्तु इसी के साथ यह भी स्मरणीय है कि मुगल काल में सम्राट् के राज्य वर्ष की गणना उसके वास्तविक राज्यारोहण दिवस से न होकर आगे या पीछे के निकटतम नवरोज (फारसी पञ्चांग के नव-वर्ष दिन) से की जाती थी। यह प्रथा इस देश में पहले से चली आ रही होगी, ऐसा अनुमान करना अनुचित न होगा। अस्तु, यदि ऐसा ही गुप्त काल में भी हुआ हो तो गुप्त-संवत् की गणना उत्तर-भारतीय पद्धति के अनुसार चैत्र शुक्ल १ से की जाती रही होगी। उसके अनुसार गुप्त-संवत् का आरम्भ अंग्रेजी तिथि के अनुसार ९ मार्च ३१९ ई० को हुआ होगा और गुप्त-संवत् १ (गत) का आरम्भ २६ फरवरी ३२० को हुआ होगा।

किन्तु सेनगुप्त (पी० सी०) का कहना है कि चैत्र शुक्ल १ से आरम्भ होने वाले वर्ष की गणना संक्रान्ति के दिन अथवा उसके एक दिन बाद से होती है और इसका आरम्भ आर्यभट्ट (प्रथम) ने ४९९ ई० में किया था। उनका कहना है कि उनके पूर्व पञ्चांग का आरम्भ शारदीय अथवा उसके दूसरे दिन से होता था।[2] यदि ऐसा था तो, गुप्त-संवत् का आरम्भ २० दिसम्बर ३१८ ई० को हुआ होगा और गुप्त वर्ष १ (गत) का आरम्भ ८ दिसम्बर ३१९ ई० को हुआ होगा।

के बीच की किसी भी विक्रम संवत् की तिथि को यदि शक संवत् के रूप में देखा जाय तो वह अंग्रेजी के समान तिथि में १२ चान्द्र मास अर्थात् लगभग एक वर्ष पीछे होगी। इसी प्रकार कार्तिक शुक्ल १ और फाल्गुन कृष्ण १५ के बीच की विक्रम तिथि शक तिथि से १२ चान्द्र मास अर्थात् लगभग एक वर्ष आगे होगी। यदि वर्ष अधिक मास का हुआ तो यह अन्तर लगभग १३ मास का होगा।

साथ ही यह बात भी द्रष्टव्य है कि दक्षिणी पद्धति का प्रयोग उत्तर में या उत्तरी पद्धति का प्रयोग दक्षिण में सामान्यतः नहीं होता। यदि भूले भटके हो भी गया तो पूर्णिमान्त पक्षों की उत्तरी पूर्णिमान्त व्यवस्था का दक्षिणी वर्ष व्यवस्था के साथ अथवा दक्षिणी आमान्त व्यवस्था का उत्तरी वर्ष व्यवस्था के साथ कदापि संयोग न होगा।

१. का० इ० इ०, ३, पृ० ११४-१५।
२. ज० ए० सो० बं०, ८ (न० स०), पृ० ४१।

दोनों गणनाओं के अनुसार गुप्त-संवत् के आरम्भ होने की तिथियों के बीच केवल ७९ दिन का अन्तर है। यह हमारे कार्य की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं रखता। हमें तत्कालीन नित्यप्रति की घटनाओं का कोई बोध नहीं है; इस कारण निश्चित तिथि की समस्या हमारे लिए नहीं उठती। दोनों पद्धतियों में से चाहे जिसे भी गुप्तसंवत् की गणना के लिए मानें, दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा। हमने यहाँ चैत्रादि गणना स्वीकार किया है।

परिशिष्ट

परिव्राजक अभिलेखों का संवत्सर

परिव्राजक महाराज गुप्त-साम्राज्य के अवनति काल में मध्य प्रदेश के बघेलखण्ड कहे जाने वाले भूभाग पर शासन करते थे; उनके सात अभिलेख हमें उपलब्ध हैं। इन सभी अभिलेखों में तिथि का अंकन गुप्त-संवत् में हुआ है। उनमें गुप्त-संवत्, मास और तिथि के साथ-साथ सम्वत्सर का भी उल्लेख है। उनमें उपलब्ध तिथियाँ इस प्रकार हैं—

१. कार्तिक शुक्ल तृतीया, गुप्त-संवत् १५६, महावैशाख (हस्तिन का खोह लेख[1])

२. चैत्र शुक्ल तृतीया, गुप्त-संवत् १६३, महाअश्वायुज (हस्तिन का खोह लेख[2])

३. फाल्गुन शुक्ल पंचमी, गुप्त-संवत् १७०, महाज्येष्ठ (हस्तिन का जबलपुर लेख[3])

४. माघ कृष्ण तृतीया, गुप्त-संवत् १९१, महाचैत्र (हस्तिन का मझगाँवा लेख[4])

५. गुप्त-संवत् १९८ (अन्य विवरण विनष्ट), महाअश्वायुज (हस्तिन का नवग्राम लेख[5])

६. कार्तिक दशमी, गुप्त-संवत् १९९, महामार्गशीर्ष (संक्षोभ का बैतूल लेख[6])

७. गुप्त-संवत् २०९, महाअश्वायुज (संक्षोभ का खोह लेख[7])

यदि हमें इस बात की जानकारी हो सके कि इनमें सम्वत्सर का प्रयोग किस पद्धति से किया गया है तो ये लेख गुप्त-संवत् के आरम्भ की जानकारी देने के एक अच्छे खासे साधन प्रमाणित हो सकते हैं।

---

१. का० इ० इ०, ३, पृ० ९३।

२. वही, पृ० ११०।

३. ए० इ०, २८, पृ० २६६।

४. का० इ० इ०, ३, पृ० १०६।

५. ए० इ०, २१, पृ० १२४।

६. वही, ८, पृ० २८४।

७. का० इ० इ०, ३, पृ० ११२।

धारणा यह है कि इनमें उल्लिखित संवत्सर बार्हस्पत्य हैं; और बार्हस्पत्य सम्वत्सर की गणना की दो पद्धतियाँ ज्ञात हैं। एक तो राशियों के लघुमान का सिद्धान्त है, जिसका प्रयोग कनिंगहम तथा कुछ अन्य विद्वानों ने उपर्युक्त ज्ञात सात तिथियों में से चार पर,[1] जो उस समय उन्हें ज्ञात थीं, गुप्त-संवत् का आरम्भ जानने के लिए किया था। दूसरी पद्धति वृहस्पति और सूर्य के संक्रान्ति की है। इसका अनुसरण फ्लीट ने इन्हीं चार तिथियों के लिए किया था। दोनों पद्धतियों का अनुसरण करने वाले विद्वानों का कहना था कि उन्होंने गुप्त-संवत् आरम्भ होने की जिस तिथि का अनुमान किया है वह इन अभिलेखों में अंकित तिथियों के साथ मेल खाती है।

हमने भी उक्त अभिलेखों के आधार पर गुप्त-संवत् के मूल को जानने के लिए दोनों पद्धतियों का अनुसरण किया और हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इन अभिलेखों में उल्लिखित संवत्सरों पर दोनों में से किसी भी सिद्धान्त को घटित कर अपेक्षित निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता। अतः विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करने के लिए हम अपने निष्कर्षों की चर्चा यहाँ कर रहे हैं।

लघुमान पद्धति के अनुसार, चान्द्र मास के नामों का प्रयोग उसी क्रम से वर्ष के लिए किया जाता है जिस क्रम से वे वर्ष में कहे या गिने जाते हैं। उनकी गणना का आरम्भ अश्वायुज से होता है और वे बिना किसी व्यतिक्रम के ८४ या ८५ वर्ष तक गिने जाते हैं। तदनन्तर एक संवत्सर का लोप इस लिए कर दिया जाता है कि ८५ सौर वर्ष ८६ बार्हस्पत्य वर्ष के निकट होता है।

उपर्युक्त अभिलेखों में दी गयी तिथियों में ५४ वर्ष का समय समाहित है, जो गुप्त वर्ष १५६ से आरम्भ होकर २०९ तक जाता है। यदि हम यह मान लें कि जो वर्ष प्रति ८४ या ८५ वर्ष पर लुप्त कर दिया जाता है, इस अवधि में नहीं घटा तो गुप्त-संवत् १५६ के महावैशाख को आधार बना कर इन ५४ वर्षों की समकालिक सम्वत्सर की तालिका इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है—

चक्र	गुप्त वर्ष	संवत्सर
१. १(८)	१५६	महावैशाख
२. १(९)	१५७	महाज्येष्ठ
३. १(१०)	१५८	महाअषाढ़
४. १(११)	१५९	महाश्रावण
५. १(१२)	१६०	महाभाद्रपद
६. २(१)	१६१	महाअश्वायुज
७. २(२)	१६२	महाकार्तिक

१. संख्या १, २, ४ और ७

	चक्र	गुप्त वर्ष	संवत्सर
८.	२(३)	१६३	महामार्गशीर्ष
९.	२(४)	१६४	महापौष
१०.	२(५)	१६५	महामाघ
११.	२(६)	१६६	महाफाल्गुन
१२.	२(७)	१६७	महाचैत्र
१३.	२(८)	१६८	महावैशाख
१४.	२(९)	१६९	महाज्येष्ठ
१५.	२(१०)	१७०	महाअषाढ़
१६.	२(११)	१७१	महाश्रावण
१७.	२(१२)	१७२	महाभाद्रपद
१८.	३(१)	१७३	महाअश्वायुज
१९.	३(२)	१७४	महाकार्तिक
२०.	३(३)	१७५	महामार्गशीर्ष
२१.	३(४)	१७६	महापौष
२२.	३(५)	१७७	महामाघ
२३.	३(६)	१७८	महाफाल्गुन
२४.	३(७)	१७९	महाचैत्र
२५.	३(८)	१८०	महावैशाख
२६.	३(९)	१८१	महाज्येष्ठ
२७.	३(१०)	१८२	महाअषाढ़
२८.	३(११)	१८३	महाश्रावण
२९.	३(१२)	१८४	महाभाद्रपद
३०.	४(१)	१८५	महाअश्वायुज
३१.	४(२)	१८६	महाकार्तिक
३२.	४(३)	१८७	महामार्गशीर्ष
३३.	४(४)	१८८	महापौष
३४.	४(५)	१८९	महामाघ
३५.	४(६)	१९०	महाफाल्गुन

चक्र		गुप्त वर्ष	संवत्सर
३६.	४(७)	१९१	महाचैत्र
३७.	४(८)	१९२	महावैशाख
३८.	४(९)	१९३	महाज्येष्ठ
३९.	४(१०)	१९४	महाअषाढ़
४०.	४(११)	१९५	महाश्रावण
४१.	४(१२)	१९६	महाभाद्रपद
४२.	५(१)	१९७	महाअश्वायुज
४३.	५(२)	१९८	महाकार्तिक
४४.	५(३)	१९९	महामार्गशीर्ष
४५.	५(४)	२००	महापौष
४६.	५(५)	२०१	महामाघ
४७.	५(६)	२०२	महाफाल्गुन
४८.	५(७)	२०३	महाचैत्र
४९.	५(८)	२०४	महावैशाख
५०.	५(९)	२०५	महाज्येष्ठ
५१.	५(१०)	२०६	महाअषाढ़
५२.	५(११)	२०७	महाश्रावण
५३.	५(१२)	२०८	महाभाद्रपद
५४.	६(१)	२०९	महाअश्वायुज

गुप्त-संवत् १५६ के तुल्य महावैशाख सम्वत्सर से आरम्भ उपर्युक्त तालिका के अनुसार गुप्त-संवत् २०९ के तुल्य महाअश्वायुज संवत्सर आता है और इस वर्ष के लिए यही संवत्सर संक्षोभ के खोह अभिलेख में भी है। उपर्युक्त तालिका के साथ परिव्राजक अभिलेखों में दिये गये आरम्भिक और अन्तिम तिथियों के साथ संवत्सर का मेल, पहली नजर में ऐसा आभास देता है कि इन वर्षों के बीच संवत्सरों का किसी प्रकार का कोई लोप नहीं हुआ था. अतः स्वभावतः आशा की जा सकती है कि शेष पाँचों अभिलेखों के संवत्सरों का भी मेल उपर्युक्त तालिका के साथ होगा, किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। पाँच में से केवल दो वर्ष १९१ (महाचैत्र) और १९९ (महामार्गशीर्ष) तालिका से मेल खाते हैं। शेष तीन में निम्न लिखित अन्तर है—

गुप्त वर्ष	संवत्सर (लेख में)	संवत्सर (तालिका में)
१६३	महाअश्वायुज	महामार्गशीर्ष
१७०	महाज्येष्ठ	महाअषाढ़
१९८	महामार्गशीर्ष	महाकार्तिक

अभिलेखों में दिये गये तिथियों के साथ तालिका का समन्वय करने के निमित्त तालिका में निम्न लिखित परिवर्तन अपेक्षित है—

(१) गुप्त-संवत् १५६ (महावैशाख) के बाद गुप्त-संवत् १५६ और १६२ के बीच दो संवत्सर जोड़ना आवश्यक है तभी गुप्त वर्ष १६३ का महाअश्वायुज के साथ समन्वय हो सकेगा।

(२) उपर्युक्त के अनुसार दो संवत्सर जोड़ने पर आगे के संवत्सर दो पग नीचे खिसक जायँगे जिसके परिणामस्वरूप वर्ष १७० का सम्वत्सर महावैशाख होगा, जब कि अभिलेख के अनुसार वह महाज्येष्ठ है। अतः इसको समन्वित करने के लिए वर्ष १६३ और १७० के बीच एक सम्वत्सर का लोप करना होगा।

(३) उपर्युक्त समन्वय के बाद महाज्येष्ठ के बाद आगे के सम्वत्सर एक पग नीचे उतरेंगे इसलिए पुनः १७० और १९० के बीच एक सम्वत्सर का लोप करना होगा ताकि अभिलेख के अनुसार वर्ष १९१ महाचैत्र के साथ मेल खा सके।

(४) तदनन्तर १९१ और १९८ के बीच एक सम्वत्सर जोड़ने की आवश्यकता होगी ताकि वर्ष १९८ के साथ महाअश्वायुज का समन्वय हो सके।

(५) और तब एक सम्वत्सर के लोप की आवश्यकता होगी ताकि वर्ष १९९ का महामार्गशीर्ष के साथ मेल बैठ सके।

उपर्युक्त तालिका में इस प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता का स्पष्ट अर्थ यह निकलता है कि परिव्राजक अभिलेख के सम्वत्सर लघुमान पद्धति पर आधारित नहीं हैं क्योंकि इस पद्धति में ८४-८५ वर्ष में केवल एक सम्वत्सर का लोप होता है और यहाँ हम एक ही चक्र (१) में दो सम्वत्सरों का आधिक्य और उसके बाद लगातार २ सम्वत्सरों का लोप, एक चक्र २ में और दूसरा सम्भवतः चक्र ३ में, पाते हैं। तदनन्तर चक्र ४ में एक सम्वत्सर का आधिक्य और फिर पाँचवें चक्र में एक संवत्सर का लोप पाते हैं।

इन्हीं तथ्यों से यह भी प्रकट होता है कि परिव्राजक अभिलेख की तिथियाँ बृहस्पति-सौर-संक्रान्ति वाली पद्धति पर भी आधारित नहीं हैं। इस पद्धति में बिना किसी अपवाद के १२ वर्ष के प्रत्येक चक्र में एक सम्वत्सर का लोप होता ही है। कभी-कभी उसमें एक सम्वत्सर का आधिक्य भी होता है; किन्तु उस अवस्था में उसी चक्र मे दो सम्वत्सरों का लोप भी हो जाता है। यहाँ प्रत्येक चक्र में एक सम्वत्सर का लोप नहीं मिलता और न किसी चक्र में एक का आधिक्य और दो का लोप ही मिलता है।

अभिलेखों से ऐसा जान पड़ता है कि जिस अवधि में ये प्रचलित किये गये, उस अवधि में एक चक्र में दो सम्वत्सरों का आधिक्य था और फिर लगातार दो चक्रों में लोप और फिर एक चक्र में एक संवत्सर का आधिक्य और फिर दूसरे चक्र में एक का लोप।

इन बातों से यही निष्कर्ष निकलता है कि परिव्राजक अभिलेखों में प्रयुक्त सम्वत्सर बार्हस्पत्य सम्वत्सर के दोनों सिद्धान्तों में से किसी पर आधारित नहीं है। उसमें किसी तीसरी पद्धति का प्रयोग हुआ है, जिसके सम्बन्ध में हमें कोई जानकारी नहीं है, अतः आवश्यकता इस बात की है कि पहले उस पद्धति की जानकारी प्राप्त की जाय जिनका इन संवत्सरों की गणना में प्रयोग किया गया है, उसके बाद ही गुप्त-संवत् के आरम्भ की जानकारी के लिए किसी रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है।

३

राज-वृत्त

गुप्त-वंश

मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् लगभग पाँच सौ वर्षों तक उत्तर भारत में किसी भी शक्तिशाली राज्य का पता नहीं चलता। मौर्यों के ह्रास के साथ देश अनेक राजतान्त्रिक और जनतान्त्रिक (गण एवं नगर) राज्यों के रूप में विघटित हो गया। उनकी घटती-बढ़ती शक्ति ही इस काल की विशेषता कही जा सकती है। कुछ काल के लिए मध्यप्रदेश में शुंग सत्ताधारी हुए; पंजाब में विदेशी आक्रामकों—बाख्त्री-यवन, पह्लव और शकों ने अपना अधिकार जमाया। उनके बाद कुशाणों के सम्बन्ध में अनेक लोगों की धारणा है कि उन्होंने एशियाई इतिहास में महत्तम सफलता प्राप्त की थी। कहा जाता है कि उनका साम्राज्य पश्चिम में भारत की परिधि के बाहर दूर तक और पूरब में बंगाल की खाड़ी तक फैला हुआ था;[1] किन्तु इसकी सत्यता सन्दिग्ध है। यह सन्दिग्ध न भी हो तब भी, यह तो सत्य है ही कि कुशाण साम्राज्य एक शती से अधिक टिक न सका। अस्तु,

उत्तर-पश्चिम में निरन्तर होने वाले आक्रमणों के कारण भारतीय जनता ने शीघ्र ही एक ऐसे शक्तिशाली शासन की आवश्यकता का अनुभव किया जो इस उपद्रव को रोकने में समर्थ हो। फलतः हम देखते हैं कि तीसरी शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में देश के तीन कोनों से तीन शक्तिशाली राज्यों का उदय हुआ। मध्य देश के पश्चिमी भाग में नाग अथवा भारशिव उठे। उन्होंने अपने सतत संघटित प्रयत्नों से भारत स्थित कुशाण-साम्राज्य को चूर-चूर कर दिया। उनका दावा है कि उन्होंने गंगा तक फैली सारी भूमि को अपने अधिकार में कर लिया था और दश अश्वमेध यज्ञ किये थे।[2]

दक्षिण में वाकाटकों का उदय हुआ। उन्होंने न केवल दक्षिणी पठार में अपने राज्य का विस्तार किया वरन् विन्ध्य के उत्तर में भी, काफी बड़े भूभाग पर उनका प्रभाव था।

तीसरी शक्ति का उदय पूर्व में हुआ। वह शक्ति गुप्तों की थी। वे पूर्वी उत्तर प्रदेश के एक कोने से छोटे से राज्य के रूप में उदित हुए और अपने युग की महत्तम शक्ति कहलाने का गौरव प्राप्त किया। उनके साम्राज्य के अन्तर्गत विन्ध्य के उत्तर का सारा भूभाग समाहित था और दक्षिण पर भी उन्होंने अपना प्रभाव डाल रखा था।

भारशिव, वाकाटक और गुप्त तीनों ही देश की उभरती हुई शक्तियाँ थीं; किन्तु आश्चर्य की बात है कि उनमें परस्पर प्रभुत्व की स्पर्धा के कोई चिह्न दिखाई नहीं देते।

---

१. अद्रीश बनर्जी, इ० हि० क्वा०, २७, पृ० २९४।

२. पराक्रमाधिगत भागीरथ्य जलमूर्द्धाभिषिक्तानां दशाश्वमेधावभृत्य स्नातानां भारशिवानां। (का० इ० इ० ३, पृ० २३६; २४५, पंक्ति ६-७)

वाकाटक सहज भाव से अपने उत्थान का श्रेय भारशिवों को देते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भारशिवों ने वाकाटकों से साथ अपने को आत्मसात् कर दिया और शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभरने में उनकी सहायता की। गुप्त और वाकाटक दोनों ही सहज रूप में एक दूसरे के शत्रु बन कर एक दूसरे के लिए स्थायी रूप से घातक हो सकते थे; किन्तु उन दोनों के बीच भी हम सौहार्द्र सम्बन्ध पाते हैं। इस प्रकार आन्तरिक शान्तिमय वातावरण के बीच गुप्तों ने अपने विशाल साम्राज्य की स्थापना की और दो शताब्दियों से अधिक काल तक अपनी सत्ता बनाये रखने में समर्थ हुए।

ये गुप्त-वंशी सम्राट् कौन थे, इस सम्बन्ध में विद्वानों ने नाना प्रकार की कल्पनाएँ प्रस्तुत की हैं। इस वंश का आदि शासक उनके अपने अभिलेखों के अनुसार **महाराज श्री** उपाधिधारी गुप्त था।[3] उसका बेटा और उत्तराधिकारी घटोत्कच था, उसकी भी वही उपाधि थी। गुप्त और घटोत्कच नाम ऐसे हैं जो सामान्यतः शासक वर्ग में नहीं पाये जाते। इस कारण कुछ विद्वानों की धारणा है कि ये लोग किसी उच्च कुल के न थे।

काशीप्रसाद जायसवाल का मत है कि गुप्त सम्राट् जाट और मूल रूपेण पंजाब के निवासी थे। उन्होंने अपने मत की पुष्टि में निम्नलिखित तथ्य उपस्थित किये हैं—

---

१. वाकाटक वंशावली में रुद्रसेन (प्रथम) के मातामह (नाना) भारशिववंशीय राजा भवनाग का निरन्तर उल्लेख किया गया है। मातामहों का उल्लेख सामान्यतः उन्हीं अवस्थाओं में किया जाता है जब उन्होंने अपने दौहित्रों को किसी प्रकार की विशेष सहायता की हो।

२. गुप्त राजकुमारी प्रभावती गुप्त का विवाह वाकाटक-वंशीय रुद्रसेन (द्वितीय) से हुआ था।

३. कनिंगहम ने १८९१ ई० में जे० रैप्सन को लिखा था कि 'मैंने भारत में ४८ वर्ष व्यतीत किया है इसलिए मैं साधिकार कह सकता हूँ कि 'गुप्त' स्वतः कोई नाम नहीं हो सकता। श्री भाग्य की देवी हैं। कुमारगुप्त की भाँति ही श्रीगुप्त भी एक सुन्दर व्यक्तिवाचक संज्ञा हो सकता है' (ब्रिटिश संग्रहालय में सुरक्षित ८ अक्तूबर, १८९१ का पत्र)। तदनन्तर विन्सेण्ट स्मिथ ने कहा कि गुप्त-वंश के संस्थापक का नाम श्रीगुप्त था। उन्होंने श्री को नाम का अंश स्वीकार किया (ज० रा० ए० सो०, ५३, पृ० ११९) उनका कहना था कि व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में 'गुप्त' नाम का कोई अर्थ नहीं है श्रीगुप्त (श्री द्वारा रक्षित) एक पूर्ण नाम है। किन्तु द्रष्टव्य है कि गुप्त अभिलेखों में उपलब्ध वंशावलियों में श्री प्रत्येक नाम के आगे लगा हुआ है। यदि नाम श्री गुप्त होता तो इन वंशावलियों में उसका उल्लेख श्री श्रीगुप्त के रूप में किया जाता। किन्तु उल्लेख केवल श्री गुप्त के रूप में हुआ है, इस कारण नाम केवल गुप्त था, इससे भिन्न कोई निष्कर्ष हो ही नहीं सकता। गुप्त नाम किसी प्रकार भी आपत्तिजनक नहीं है। इस ढंग के मित्र, दत्त, रक्षित आदि नाम प्रायः प्राचीन काल में देखने में आते हैं। ब्रिटिश संग्रहालय में एक कार्नेलियन की मुहर (मुद्रा) है जिस पर गुत्तस्य (गुप्तस्य) अंकित है जो इस बात का द्योतक है कि गुप्त स्वतः नाम था। सुविख्यात बौद्ध-भिक्षु उपगुप्त के पिता का नाम भी गुप्त था (दिव्यावदान, कावेल एवं नील सम्प०, पृ० ३४२)। गुप्त वंश के उद्भावक का नाम गुप्त ही था यह वाकाटक राज्ञी प्रभावती गुप्त के सिद्धपुर अभिलेख से निश्चित सिद्ध होता है। उसमें गुप्त वंशावली का आरम्भ 'पादमूलाद् गुप्तनामाधिराजो' से होता है (ज० प्रो० ए० सो० बं०, २२ (न० स०), पृ० ३८; से० ई० पृ० ४१५, पंक्ति १)

(१) 'कौमुदी महोत्सव' नामक नाटक में एक आर्य पात्र के मुख से चण्डसेन नामक पात्र को कारस्कर कहलाया गया है और उसे शासक होने के अयोग्य बताया गया है।[1] जायसवाल ने चण्डसेन के रूप में चन्द्रगुप्त (प्रथम) के होने की कल्पना करके बोधायन के इस कथन की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि कारस्कर लोग अपवित्र थे और वे समाज में हेय समझे जाते थे।

(२) कारस्कर लोग पंजाब में हिमालय की तराई में रहने वाले मद्रों की एक शाखा कहे गये हैं। मद्र लोगों को जार्तिक भी कहा गया है। अतः चन्द्रगोमिन के व्याकरण में भूतकालिक लङ् के उदाहरण में आये **अजयाद् जार्तो[2] हूणं** के आधार पर जायसवाल का कहना है कि गुप्त लोग जाट थे। इस उदाहरण में आये **जार्तो** शब्द से उन्होंने स्कन्दगुप्त का अभिप्राय माना है।[3]

(३) नेपाल के गुप्तवंशी राजा ग्वाल अथवा अहीर जाति के कहे जाते हैं। जाटों को भी लोग ग्वालों (अहीरों) के समकक्ष मानते है। निष्कर्ष गुप्त जाट थे।[4]

(४) जाटों का एक वर्ग 'धारी' कहलाता है। चन्द्रगुप्त (द्वितीय) की पुत्री वाकाटक रानी प्रभावती गुप्ता ने अपने पुत्र के एक ताम्रशासन में अपने को **धारण** और अपने पति को **विष्णुवृद्ध** गोत्रीय बताया है।[5] अतः जायसवाल का कहना है कि **धारण** यही धारी है। इस प्रकार गुप्त जाट हैं।[6] जायसवाल के इस कथन के समर्थन में दशरथ शर्मा ने यह बताया है कि जाटों में आज भी **धारण** गोत्र प्रचलित है।[7]

(५) **मंजु श्री-मूलकल्प** में गुप्तों के प्रसंग में **मथुरायां जात वंशाद्य** आया है। इसमें आये **जात** शब्द को जायसवाल ने **जाट** माना है।[8]

विद्वानों के एक दूसरे वर्ग की चेष्टा गुप्तों को वैश्य सिद्ध करने की रही है। इन लोगों का मुख्य तर्क शासकों के नाम के उत्तरांश **गुप्त** पर आधारित है। स्मृतियों के अनुसार **गुप्त** का प्रयोग केवल वैश्यों के लिए होता है। इसके साथ वे इस बात पर

---

१. ए० भ० ओ० रि० इ०, १२, पृ० ५० ।
२. इसका एक इतर पाठ 'जप्तो' है। कुछ लोग इसे 'गुप्तो' का भ्रष्ट-पाठ मानते हैं।
३. अ० भा० ओ० रि० इ०, १२, पृ० ४०; हिस्ट्री आव इण्डिया (१५० ए० डी०-३५० ए० डी०), पृ० ११५)। यशोधर्मन ने भी हूणों पर विजय प्राप्त किया था इस कारण हार्नले की धारणा है कि वैय्याकरण का संकेत उसकी ओर हो सकता है (ज० रा० ए० सो०, १९०९, पृ० ११४)।
४. ज० बि० उ० रि० सो०, १२, पृ० १०८ ।
५. ए० इ०, १५, पृ० ४११ ।
६. ज० बि० उ० रि० सो०, १२, पृ० १०८ ।
७. वही, २०, पृ० २२५ ।
८. हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० ११४-११६, श्लोक ७५९ ।

अधिक बल देते है कि गुप्तों का गोत्र धारण अग्रवाल जाति का, जो वैश्यों मे सबसे बड़ा और समृद्ध समाज है, एक प्रसिद्ध गोत्र है ।[१]

गौरीशंकर ओझा[२] तथा कुछ अन्य विद्वान् गुप्तों को क्षत्रिय बताते है । उनका कहना है कि—

(१) पूर्वकालिक गुप्तवंशीय शासक अपने मूल के सम्बन्ध में भले ही मौन हों, उनके सम्बन्ध में उत्तरवर्ती गुप्त शासकों के अभिलेखों से जाना जा सकता है । अस्तु, मध्य प्रदेश मे शासन करने वाले महाशिवगुप्त के सिरपुर अभिलेख में ज्ञात होता है कि गुप्त चन्द्रवंशी क्षत्रिय थे ।[३]

(२) धारवाड़ के गुत्तल नरेश, जो सोमवंशी क्षत्रिय थे, अपने को चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य का वंशज कहते है ।[४]

(३) जावा देश से प्राप्त, वहाँ की भाषा मे लिखित, तन्त्र कामन्दक नामक ग्रन्थ मे वहाँ के नरेश इक्ष्वाकुवंशीय राजा ऐश्वर्यपाल ने अपने वंश का आरम्भ समुद्रगुप्त से बताया है ।[५]

(४) पंचोभ ताम्र-शासन मे छः शासकों के गुप्तान्त नाम हैं; ये लोग स्पष्ट शब्दों मे अर्जुन के वंशज कहे गये है । इससे प्रकट होता है कि गुप्त लोग क्षत्रिय थे ।[६]

(५) गुप्तों का वैवाहिक सम्बन्ध लिच्छवि, नाग और वाकाटकों से था, इससे भी प्रकट होता है कि वे लोग क्षत्रिय थे ।[७] अनेक सूत्रों मे लिच्छवियों के क्षत्रिय होने की बात ज्ञात है । नाग लोग भी क्षत्रिय थे । प्रतिलोम विवाह सदैव हेय दृष्टि से देखा जाता था । अतः यह कल्पना सम्भव नहीं कि गर्वीले लिच्छवि और नागों ने अपनी राजकुमारियों को अपने से नीचे वर्ण में दिया होगा । वाकाटक लोग ब्राह्मण थे; गुप्त-वंशीय राजकुमारी प्रभावती गुप्ता के साथ उनके राजकुमार का विवाह प्रत्येक अवस्था मे शास्त्रों के अनुसार अनुलोम विवाह था । फिर भी यह कल्पना नहीं की जा सकती कि वाकाटकों ने क्षत्रिय से नीचे के किसी वर्ण के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया होगा । अतः गुप्तों के साथ उनका विवाह-सम्बन्ध उनके क्षत्रिय होने का द्योतक है ।

गुप्तों की सामाजिक स्थिति की कल्पना यहीं तक सीमित नहीं है । रायचौधुरी ने यह व्यक्त करने की चेष्टा की है कि गुप्त लोग ब्राह्मण थे । चन्द्रगुप्त (द्वितीय) की पुत्री प्रभावती गुप्ता ने अपना (अर्थात् अपने पिता का) गोत्र धारण कहा है; अतः

---

१. सत्यकेतु विद्यालंकार, अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास ।
२. राजपूताने का इतिहास, पृ० ११३–११४ ।
३. ए० इ०, ११, पृ० १९० ।
४. बम्बई गजेटियर, १(२), पृ० ५७८ ।
५. इ० हि० क्वा०, १९३३, पृ० ९३० ।
६. सुधाकर चट्टोपाध्याय, अर्ली हिस्ट्री ऑव नार्थ इण्डिया, पृ० १६० ।
७. गंगाप्रसाद मेहता, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, पृ० ९, पा० टि० १ ।

उनकी धारणा है कि गुप्तों का सम्बन्ध शुंगवंशीय अग्निमित्र की पट्टमहिषी धरिणी से रहा होगा और शुंग लोग ब्राह्मण थे।[१]

इन सभी अनुमानों में कौन सत्य के निकट है, यह किसी प्रकार भी नहीं कहा जा सकता। सभी अनुमान बहुत पीछे कही गयी बातों पर आधारित हैं और जिन वंशों से सम्बन्ध रखती हैं, उनसे इस गुप्त-वंश का कोई सम्बन्ध था, इसका कोई प्रमाण नहीं है। फिर, जो बातें कही गयी हैं उनमें तथ्य की अपेक्षा कल्पना अधिक है। जिस युग में गुप्तवंशीय शासक हुए, उस युग में वर्ण और जाति का उस रूप में कदापि महत्त्व न था, जिस रूप में आज हम देखते और आँकते हैं। जन्म की अपेक्षा कर्म अथवा गुण का ही अधिक महत्त्व था। अतः गुप्तवंशीय शासक जिस भी वर्ण के रहे हों अथवा उनकी सामाजिक स्थिति जो भी रही हो, वे निःसंदिग्ध रूप से शासन के अधिकारी थे और शासक के रूप में योग्य सिद्ध हुए।

गुप्त-शासकों के अभिलेखों में जो वंशावली उपलब्ध है, उनमें गुप्त और घटोत्कच के लिए **महाराज** का और उनके उत्तराधिकारी तीसरे राजा चन्द्रगुप्त (प्रथम) के लिए उन्हीं अभिलेखों में **महाराजाधिराज** का प्रयोग हुआ है। इस अन्तर के आधार पर इतिहासकारों की धारणा रही है कि आरम्भकालिक दोनों शासकों और तीसरे शासक की पद-मर्यादा में महान् अन्तर था। इस सम्बन्ध में कहा यह जाता है कि गुप्त-काल में **महाराज** शब्द का महत्त्व घट गया था। वह अब सम्राट् बोधक नहीं रह गया था। गुप्त-वंश के उत्तरवर्ती राजाओं ने इसका उपयोग अपने उपरिकों और सामन्तों के लिए किया है। अतः यह हीन मर्यादा का द्योतक है। **महाराज** शब्द के प्रयोग से ऐसा जान पड़ता है कि गुप्त और घटोत्कच दोनों ही अपने समय में सामन्त मात्र थे। कुछ लेखकों की तो यह भी धारणा है कि गुप्त-सम्राटों के ये पूर्वज छोटे जमींदार मात्र थे। शालीनतावश ही उनके उत्तराधिकारियों के अधीनस्थ एवं कर्मचारियों ने उन्हें **महाराज** कहा है।[२]

किन्तु ये सभी धारणाएँ निर्मूल हैं। इस काल में ऐसा कोई चक्रवर्ती ज्ञात नहीं है, जिसको गुप्त-वंश के इन आदिराजाओं का सम्राट् कहा जा सके।[३] निःसन्देह **महाराज** का पद **महाराजाधिराज** से छोटा था और उसका प्रयोग उत्तरवर्ती गुप्तवंशी राजाओं के समय में उपरिकों और सामन्तों के लिए किया है। किन्तु इस बात का कोई प्रमाण अब तक उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर कहा जा सके कि यह स्थिति गुप्त-पूर्व अथवा प्रारम्भिक गुप्त-काल में भी थी। जिन लोगों ने गुप्त और घटोत्कच की हीन-

---

१. पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियण्ट इण्डिया, ५वाँ सं०, पृ० ५२८।

२. रा० दा० बनर्जी, द एज ऑव इम्पीरियल गुप्ताज, पृ० १-५।

३. सुधाकर चट्टोपाध्याय का कहना है कि तीसरी शती ई० में गुप्तों के प्रदेश में मुरुण्ड राज्य कर रहे थे और आरम्भिक गुप्त राजे उनके अधीन थे (अर्ली हिस्ट्री ऑव नार्थ इण्डिया, पृ० १४१), किन्तु अपने कथन के पक्ष में उन्होंने कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया है।

स्थिति की कल्पना की है, उन्होंने साम्राटिक उपाधियों के विकास-क्रम पर ध्यान नहीं दिया है।

कहना न होगा कि अशोक महान् राजन् सदृश सामान्य उपाधि से ही सन्तुष्ट था।[1] सातवाहन-नरेशों ने भी, जिनके साम्राज्य का काफी विस्तार था, **राज्ञः** की उपाधि को पर्याप्त माना था।[2] यही नहीं, मथुरा, पंचाल, कौशाम्बी और अयोध्या के आरम्भ-कालिक राजों के लिए किसी उपाधि का प्रयोग नहीं मिलता।[3] ईसा पूर्व की पहली शताब्दी में पहली बार इन रजवाड़ों में से कुछ के शासकों ने अपने लिए **राजन्** अथवा **राज्ञः** का प्रयोग किया।[4] सम्भवतः उन्होंने ऐसा पंजाब के विदेशी शासकों के सम्पर्क में आने के बाद ही किया। पह्लव राजाओं के कारण ही स्थिति में परिवर्तन हुआ। उन्होंने यूनानी **बैसीलियस बैसीलिऑन** और ईरानी **शाहानुशाह** को **महाराज रजतिराज** का भारतीय रूप दिया।[5] फिर भी भारतीय राजा **राजन्** और **राज्ञः** से ही सन्तुष्ट रहे। आरम्भिक काल में **महाराज** का उपयोग भारतीय शासन-तन्त्र में पहली बार कुणिन्दों ने किया।[6] तदन्तर गुप्त-पूर्व काल में पश्चिमी क्षत्रप भी, जिनके राज्य का विस्तार सौराष्ट्र, गुजरात और मालवा में था, अपने को **राज्ञः** ही कहते रहे।[7] गुप्तों से पहले कुशाण भी सम्राट् की स्थिति में थे, उन्होंने अपने को **महाराज रजतिराज** कहा है, पर साथ ही उन्होंने अपने को केवल **महाराज** भी कहा है।[8] **महाराज** कहलाने से उनके पद-मर्यादा में किसी प्रकार की कमी आयी हो, ऐसा किसी प्रकार भी प्रकट नहीं होता। **महाराज** का प्रयोग कौशाम्बी के मघों[9], भारशिवों[10] और वाकाटकों[11] ने भी किया है। किन्तु इनमें से कोई भी किसी सम्राट् के अधीन रहा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत भारशिव और वाकाटक तो काफी प्रभाव

---

१. द एज ऑव इम्पीरियल यूनिटी, पृ० ७३।

२. ब्रि० म्यू० मु० सू०, आन्ध्र-क्षत्रप, (सातवाहन सिक्कों के लेख देखिये)।

३. ब्रि० म्यु० मु० सू०, प्राचीन भारत, (सिक्कों के अभिलेख देखिये): पृ० १२९-८०; १९०-२०३; १४८-१५४; १३०-१३६।

४. वही; राज्ञः कुमुदसेन (अयोध्या), पृ० १३७; राजा धनदेव (कौशाम्बी), पृ० १५३; राज्ञः रामदत्त, राज्ञः कामदत्त (मथुरा), पृ० १८१–८२।

५. पं० म्यू० मु० सू०, भाग १ (खरोष्ठी लेख देखिये)।

६. ब्रि० म्यू० मु० सू०, प्रा० भा०, पृ० १५९।

७. ब्रि० म्यू० मु० सू०, आ० क्ष०, (मुद्रा अभिलेख देखिये)।

८. १० वें वर्ष का कनिष्क का अभिलेख, (ए० इ०, ९, पृ० २४०); ४४ वें वर्ष का हुविष्क का अभिलेख (वही, १, पृ० ३८७); ८० वें वर्ष का वासुदेव का अभिलेख (वही, पृ० ३९२)।

९. आ० स० ई०, ए० रि०, १९११-१२, पृ० ५१ (महाराज शिवमघ); ए० इ०, २४, पृ० १४६-१४८ (महाराज वैश्रवण)।

१०. का० इ० इ०, ३, पृ० २३६ आदि; से० इ०, पृ० ४१८–२०, पंक्ति ६–७।

११. इ० हि० क्वा०, १६, पृ० १८२; १७, पृ० ११०; ए० इ० १५, पृ० ४१; ज० प्रो० ए० सो० बं०, २० (न० स०) पृ० ५८।

शाली थे और उनके राज्य का भी काफी विस्तार था। वाकाटक महारानी प्रभावती गुप्ता ने, जो स्वयं गुप्त-वंश की थीं, अपने अभिलेखों में अपने प्रपितामह प्रथम चन्द्रगुप्त और पितामह समुद्रगुप्त को, उस समय महाराज कहा है,[1] जब वे अपने अभिलेखों में महाराजाधिराज कहे गये हैं। निःसन्देह प्रभावती गुप्ता के मन में उनके प्रति अनादर अथवा हीनता के भाव न थे। ये तथ्य इस बात के प्रमाण हैं कि उन दिनों महाराज की उपाधि कोई हीन उपाधि न थी। सम्भवतः गुप्त सम्राट् स्वयं राजा शब्द को उतना हीन नहीं समझते थे जितना कि हम समझते हैं। समुद्रगुप्त ने स्वयं अपने व्याघ्र-निहन्ता भाँति के सिक्कों पर अपने को राजा कहा है।[2]

ऐसी स्थिति में यह कहना कि महाराज शब्द गुप्त और घटोत्कच के किसी हीन स्थिति का द्योतक है, अनुचित होगा। इस धारणा के विपरीत यह उस काल के शासक की सबसे बड़ी उपाधि थी। परवर्ती काल में ही उसकी मर्यादा में उस समय कमी हुई है, जब इस उपाधि के धारण करने वाले शासक सम्राट्-शक्ति द्वारा पराजित किये गये। सम्राट्-सत्ता ने उन्हें अपनी उपाधि का प्रयोग करने दिया और अपने लिए महाराजाधिराज का नया और भारीभरकम उपाधि का आविष्कार किया। इस स्थिति की कल्पना हम सहज ही कर सकते हैं, यदि हम अपने युग में ब्रिटिश शासन काल में हुए महाराज और महाराजाधिराज उपाधियों की दुर्दशा पर ध्यान दें। इस काल में इसका प्रयोग बड़े जमींदार मात्र के लिए भी किया जाता था। अस्तु, स्पष्ट तथ्य यह है कि महाराज गुप्त और महाराज घटोत्कच काफी शक्ति और प्रभाव वाले शासक थे।

गुप्त-वंश के आदि राजा गुप्त के सम्बन्ध में भारतीय सूत्रों से कुछ भी ज्ञात नहीं होता। ई-त्सिंग ने चीनी यात्री ह्वी-लुन का जो यात्रा-विवरण प्रस्तुत किया है, उसमें उसने जो अनुश्रुति दी है, उसके अनुसार राजा गुप्त ने मृगशिखावन में चीनी-यात्रियों के निमित्त एक मन्दिर बनवाया था और चीनी भिक्षुओं को उसके निकट ही गाँव दान दिया था। इस वृत्तान्त में उसका उल्लेख श्री-गुप्त (चे-ली-कि-टो) नाम से हुआ है।[3]

फ्लीट की धारणा है कि इस अनुश्रुति का श्री-गुप्त, गुप्त-वंश का संस्थापक श्री-गुप्त नहीं है।[4] उनकी दो आपत्तियाँ हैं—(१) गुप्त-वंशी पितृ का नाम श्री-गुप्त नहीं था; (२) ह्वी-लुन की भारत-यात्रा से लगभग पाँच सौ वर्ष पहले मन्दिर का निर्माण हुआ था। ह्वी-लुन की भारत-यात्रा का समय ६६५ और ६७५ ई० के बीच आँका जाता है। इस प्रकार चीनी-विवरण के श्री-गुप्त का समय १७५ ई० (६७५ – ५००) ठहरता है और गुप्त-वंश के संस्थापक तीसरी शताब्दी के अन्त अथवा चौथी

१. ए० इ०, १०, पृ० ४१; ज० प्रो० ए० सो० बं०, २०, पृ० ११० ।
२. क्वायनेज आंव द गुप्त इम्पायर, पृ० ७२ ।
३. ज० रा० ए० सो०, १३ (न० स०), पृ० ५७१; इ० ए०, १०, ११०; देखिये पीछे पृ० १५५ भी ।
४. का० इ० इ०, ३, पृ० ८

शताब्दी के आरम्भ में हुए थे। यही धारणा राव साहब (सी० के० एस०)[1], दांडेकर (आर० एन०)[2] और रायचौधुरी (हे० च०)[3] की भी है। किन्तु दांडेकर और रायचौधुरी चीनी अनुश्रुति के श्री-गुप्त को गुप्त वंश का मानते हैं और तिथि के आधार पर उन्हें गुप्त का पितामह अनुमान करते हैं। किन्तु जैसा कि एलन (जान) ने इंगित किया है,[4] श्री को नाम का अनिवार्य अंश मानना उचित नहीं है। चीनी लेखकों ने प्रायः श्री का उपयोग आदरार्थ ही किया है। गुप्त-अभिलेखों के प्रमाण में भी यही बात प्रकट होती है। ई-त्सिंग ने जिस राजा का उल्लेख किया है उसका नाम मात्र गुप्त था।

तिथि के सम्बन्ध में विचार करते समय यह न भूलना चाहिए कि ई-त्सिंग ने ह्वी-लुन लिखित विवरण का अनुवाद नहीं, वरन् उसके संस्मरण को अपने ढंग पर प्रस्तुत किया है। अधिक सम्भावना इस बात की है कि उसने काल-गणना अपने समय से की है, ह्वी-लुन के समय से नहीं। यदि उसके कथन को शब्दशः लिया जाय तो जैसा सलातूर (आर० एन०) ने इंगित किया है,[5] श्रीगुप्त का समय २००–२१२ ई० ठहरता है। श्रीगुप्त २००–२२५ ई० में हुए थे, इस निष्कर्ष पर सलातूर अन्य एक तिथि के आधार पर भी पहुँचे हैं। उसी ग्रन्थ में आदित्यसेन नामक राजा का उल्लेख है, जिसने महाबोधि में पुराने मन्दिर के बगल में एक नया मन्दिर बनवाया था। सलातूर के मतानुसार ह्वी-लुन इस नव-निर्मित मन्दिर के निकट आदित्यसेन की मृत्यु के बाद गया था। बील[6] और काशी प्रसाद जायसवाल[7] ने आदित्यसेन को उत्तरवर्ती मागधेय गुप्त-वंश का अनुमान किया है। इस प्रकार ह्वी-लुन ने मन्दिर की यात्रा ६९३-७०० ई० के बीच किसी समय की होगी।

किन्तु इस ऊहापोह में ई-त्सिंग के शब्द **पाँच सौ वर्ष के आसपास** (फाइव हण्डरेड इयर्स आर सो) पर गम्भीरतापूर्वक ध्यान नहीं दिया गया है। यह निश्चयात्मक कथन नहीं है, वरन् आनुमानिक समय का द्योतक है। आज भी हम अपनी नित्यप्रति की बातचीत में बिना किसी गम्भीरता के इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग करते हैं जब हम किसी काल के समय में पूर्णतः निश्चित नहीं होते। जब हम इस तरह के वाक्य का प्रयोग करते हैं हमारा तात्पर्य अधिकतम सीमा से होता है। वास्तविक समय कहे

---

१. जर्नल आॅव द मिथिक सोसाइटी, २४, पृ० २१८–२२३।

२. हिस्ट्री आव द गुप्ताज, पृ० २१।

३. पोलिटिकल हिस्ट्री आव एन्शियण्ट इण्डिया, ५ वाँ सं०, पृ० ५२९।

४. ब्रि० म्यू० मु० सू०, गु० वं०, भूमिका, पृ० १५–१६।

५. ज० यू० ३०, १४ (न० स०), खण्ड १, पृ० १०–११।

६. लाइफ आॅव ह्वेन-सॉंग, भूमिका, पृ० २६; इ० ए०, १८८१, पृ० ११०–११; ज० रा० ए० सो०, १८८२, पृ० ५११।

७. हिस्ट्री आॅव इण्डिया, पृ० ६९।

गये समय में कम भी हो सकता है। अतः चीनी वृत्तान्त के श्री-गुप्त और गुप्त-वंश के संस्थापक श्री गुप्त के एक होने में सन्देह करने का कोई कारण जान नहीं पड़ता। अस्तु,

मृगशिखावन, जहाँ राजा ने चीनी भिक्षुओं के लिए मन्दिर बनवाया था और उन्हें जो गाँव दान में दिये थे, वे उसके अपने राज्य के अन्तर्गत ही रहे होंगे। यदि उसे जाना जा सके तो गुप्त के राज्य-विस्तार के सम्बन्ध में कुछ अनुमान किया जा सकता है।

दिनेशचन्द्र गांगुली ने इस धारणा के आधार पर कि मृगशिखावन नालन्द से ४० पड़ाव पूरब था, उसके मुर्शिदाबाद (बंगाल) जिले में होने का अनुमान किया है। उन्होंने ईत्सिंग कथित पड़ाव की दूरी छः मील अनुमान किया है, इसके अनुसार उक्त जिला २४० मील पूर्व पड़ता है। फलतः उन्होंने यह भी अनुमान किया है कि यह क्षेत्र गुप्तों का मूल-स्थान था।[1] रमेशचन्द्र मजूमदार ने भी इसका समर्थन किया है।[2] इस सम्बन्ध में मजूमदार ने १०१५ ई० के लिखे एक हस्तलिखित ग्रन्थ का प्रमाण भी उपस्थित किया है जो कैम्ब्रिज में है। उसमें वारेन्द्र स्थित मृगस्थापन स्तूप का एक चित्र है। इसके आधार पर फूशर का कहना है कि मृगस्थापन ई-त्सिंग कथित मि-ली-किया सी-किया-पो-नो का मूल भारतीय रूप है।[3]

सुधाकर चट्टोपाध्याय इससे सहमत नहीं है। उनका कहना है कि मुर्शिदाबाद कभी वारेन्द्र के अन्तर्गत न था। अतः उनके मतानुसार मृगशिखावन मालदा में था। उनका कहना है कि २४० मील की दूरी निर्धारित करते समय नालन्द से गंगा तक की दूरी और फिर गंगा के किनारे-किनारे पूर्व की ओर दूरी देखना चाहिए।[4]

किन्तु ह्वी-लुन के यात्रा-विवरण पर ध्यानपूर्वक विचार करने पर ये सभी अनुमान गलत सिद्ध होते हैं। पहली बात तो यह है कि ई-त्सिंग कथित मि-ली-किया-सी-किया-पो-नो का समुचित रूप मृगस्थापन कदापि नहीं होगा। सी-किया-पो-नो, स्थापन की अपेक्षा शिखावन के अधिक निकट है। दूसरे, यात्रा-वृतान्त के विचारणीय अवतरण के उपलब्ध अनुवाद में ऐसी कोई बात नहीं है जिससे कहा जाय कि मृगशिखावन नालन्द से ४० पड़ाव पूरब था।

यात्रा-विवरण के अनुसार चीनी मन्दिर मृगशिखावन के निकट था, जो पश्चिम में कलुक्य, क्यु-ले-किया) मन्दिर और पूरब में नालन्द के बीच स्थित था। उसमें पहले गन्धारसन्द मन्दिर का उल्लेख है जो तुखारी लोगों का था। उसके पश्चिम में कपिशा का मन्दिर था जिसे गुणचरित तथा महाबोधि कहते थे। इसके उत्तर-पूरब लगभग दो

---

१. इ० हि० क्वा० १५, पृ० ५३२।

२. हिस्ट्री ऑव बंगाल, १, पृ० ६९–७०।

३. आइकान, पृ० ६२–६३।

४. अर्ली हिस्ट्री ऑव नार्थ इण्डिया, पृ० १३७–१३८।

पड़ाव की दूरी पर कलूक्य (क्यु-लु-किया) का मन्दिर था । इस स्थान से नालन्द ४० पड़ाव की दूरी पर था। जिस महाबोधि की यहाँ चर्चा है, वह बोधगया से सर्वथा भिन्न था। बोधगया का उल्लेख स्पष्ट रूप से दूसरे अनुच्छेद में वज्रासन महाबोधि मन्दिर के रूप में हुआ है, जहाँ से नालन्द केवल सात पड़ाव था। नालन्द की ओर जाते हुए चीनी यात्री ने पहले गंगा का सहारा लिया और फिर उतर कर मृगशिखावन मन्दिर पहुँचा। वहाँ से वह वज्रासन महाबोधि मन्दिर गया और तब फिर नालन्द। और पश्चिम से पूर्व की ओर आने वाले यात्री के मार्ग में पड़ने वाले स्थानों का यही स्वाभाविक क्रम भी होगा। इस प्रकार ऐसा कोई तथ्य नहीं है जिसके आधार पर मृगशिखावन को नालन्द के पूरब मुर्शिदाबाद में माना जाय अथवा उसकी पहचान वारेन्द्र स्थित मृगस्थापन स्तूप से करके उसे मालदा में रखा जाय।[1]

ह्वी-लुन के वर्णन से प्रतीत होता है कि मृगशिखावन बौद्धों के लिए अत्यन्त पवित्र और महत्त्व का स्थान था और वस्तुतः एक ऐसा स्थान मृगदाव (आधुनिक सारनाथ) के नाम से प्रसिद्ध है, जो गंगा के निकट और नालन्द के पश्चिम है। इसकी पहचान सरलता से चीनी वृत्तान्त के मृगशिखापत्तन से की जा सकती है।

चीनी मन्दिर के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह मृगशिखावन से अनति दूर था, इसका अर्थ यह हुआ कि वह वाराणसी (बनारस) जिले के अन्तर्गत ही कहीं स्थित था। महाराज श्री गुप्त ने इसी क्षेत्र में भूमि-प्रदान किया था, अतः यह कहा जा सकता है कि गंगा का यह मैदानी भाग उनके अधीन था। यात्रा वृत्तान्त से ऐसा प्रकट होता है कि महाराज श्री गुप्त की भेंट चीनियों से महाबोधि अर्थात् बोधगया में हुई थी और वे उन्हें देख कर द्रवित हुए थे। इस आधार पर जगन्नाथ का अनुमान है कि मगध भी उनके राज्य के अन्तर्गत था।[2] किन्तु राजा के बोधगया में होने मात्र से यह मान लेना कि मगध भी उनके राज्य के अन्तर्गत था, उचित न होगा। वहाँ वह धार्मिक भावना से भी जा सकते थे।

---

१. यही मत जगन्नाथ (इ० हि० क्वा०, २२, पृ० २८) और सिनहा (वि० प्र०) (ज० बि० रि० सो०, ३७, पृ० १३८; ३८ पृ० ४१९) का भी है। किन्तु रमेशचन्द्र मजूमदार का कहना है कि बील का अनुवाद ठीक नहीं है। वे शेवाने के अनुवाद को महत्त्व देते हैं। उन्होंने उनके अनुवाद को इस प्रकार रूपान्तरित किया है—मोर दैन फार्टी योजनाज-टु द ईस्ट आव नालन्द टेम्पल, गोइंग डाउन द गंगा, वन एराइव्ज एट द टेम्पल ऑव मि लि-किया-सि-किया-पो-नो (मृगशिखावन) (ज० बि० रि० सो०, ३८, पृ० ४१२) (नालन्द मन्दिर से चालीस योजन से अधिक पूर्व, गंगा के प्रवाह की ओर जाते हुए आदमी मिलि-किया-सि-किया-पो-नो के मन्दिर पहुँचता है)। इस प्रकार बील और शेवाने द्वारा चीनी अनुच्छेद के अनुवादों में महान् अन्तर है। इस कारण इन अनुवादों के सहारे एक दूसरे से भिन्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। किन्तु सिनहा के अनुरोध पर ईत्सिंग के मूल चीनी ग्रन्थ (नांज सूची० १४९६) का परीक्षण साइमन्स ने किया था। उनका कहना है कि बील का अनुवाद ठीक है (ज० बि० रि० सो०, ३८, पृ० ४१९)।

२. इ० हि० क्वा०, २२, पृ० ३०।

पौराणिक अनुश्रुतियों के अनुसार जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है, गुप्त-सम्राटों के मूल शासन-क्षेत्र का विस्तार प्रयाग से मगध तक था।[1] किन्तु उसमें बहुवचन में **गुप्ताः** का प्रयोग हुआ है, इस कारण यह सारा क्षेत्र आदिराज गुप्त के अधीन था, मानना कठिन है। सम्भवतः उसका राज्य वाराणसी के आस-पास तक ही सीमित था; हो सकता है कि पश्चिम में कुछ दूर तक प्रयाग और साकेत की ओर और पूर्व में मगध की ओर भी कुछ दूर तक उसका राज्य रहा हो।

इस राजा की चर्चा करते हुए इतिहासकारों ने दो मुहरों (मुद्राओं) का उल्लेख किया है। एक पर संस्कृत और प्राकृत मिश्रित भाषा में **गुत्तस्य** और दूसरे में शुद्ध संस्कृत में **श्री गुप्तस्य** अंकित हैं।[2] ये मुहरें गुप्त वंश के संस्थापक गुप्त की हैं या नहीं, कहना कठिन है। अधिक सम्भावना उनके राजकीय मुहर न होने की ही जान पड़ती है।

ई-त्सिंग के कथन को ध्यान में रखते हुए राधाकुमुद मुखर्जी ने गुप्त का शासन-काल २४०-२८० ई० के बीच माना है।[3] उसी आधार पर सलातूर (आर० एन०) ने उनका समय २४५-२७० ई० माना है।[4] स्मिथ ने ३२० ई० (गुप्त संवत् का आरम्भ वर्ष) को चन्द्रगुप्त (प्रथम) का आरम्भिक वर्ष मान कर गुप्त का समय २७५-३०० ई० के बीच निर्धारित किया है।[5] इस तिथि को प्रायः सभी विद्वान स्वीकार करते हैं।

गुप्त के बाद उसका बेटा घटोत्कच राज्याधिकारी हुआ; किन्तु उनके सम्बन्ध में इससे अधिक कुछ ज्ञात नहीं कि वे अपने पिता की तरह ही **महाराज** थे और वे चन्द्रगुप्त (प्रथम) के, जिन्हें साम्राज्य स्थापित करने और **महाराजाधिराज** कहलाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, पिता थे। किन्तु उल्लेखनीय बात यह है कि स्कन्दगुप्त के समय के सुपिया अभिलेख में उन्हें ही गुप्त वंश का आदिराज कहा गया है और उसमें उसके नाम के साथ **महाराज** उपाधि का प्रयोग नहीं है।[6] जायसवाल का भी यह मत था कि वाकाटक राज्ञी प्रभावती गुप्ता के अभिलेखों में घटोत्कच को ही आदिराज कहा गया है।[7] पूना ताम्रशासन में उल्लिखित **गुप्ताधिराजो महाराज श्री घटोत्कच** का अनुवाद प्रस्तुत किया गया है—**घटोत्कच, जो आदिराज गुप्त के रूप में**

---

१. पीछे, पृ० १००-१०२।

२. पहली मुहर (मुद्रा) ब्रिटिश संग्रहालय में है और ज० रा० ए० सो०, १९०५ पृ० ८१४ में प्रकाशित है। दूसरी मुहर कहाँ है, यह पता नहीं। जिन लोगों ने उसकी चर्चा की है, उन्होंने उसके सम्बन्ध में कोई निर्देश प्रस्तुत नहीं किया है।

३. गुप्त इम्पायर, पृ० ११।

४. लाइफ इन द गुप्त एज, पृ० ६।

५. इ० ए०, १९०२, पृ० २५७।

६. ए० इ० ४२, पृ० ३०६; प्रो० ओ० का०, १२ (२), पृ० ५८७।

७. हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० २४२-२४३।

था।[१] इससे यह ध्वनित होता है कि वाकाटक लोग घटोत्कच को पहला गुप्त राजा समझते थे। किन्तु यह अनुवाद भ्रष्ट है। पूना-शासन में भाषा की जो अस्पष्टता है वह रिद्धपुर ताम्रशासन में दूर हो गयी है। उसमें है— गुप्तानामादिराज।[२]

ब्लाख (टी०)[३] और विसेण्ट स्मिथ[४] ने बसाढ़ से मिले एक मुहर तथा लेनिनग्राद संग्रहालय के एक सोने के सिक्के को इस राजा का बताया है। किन्तु एलन ने इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि वे इसी नाम के एक परवर्ती शासक के हैं।[५]

घटोत्कच के काल की अन्तिम सीमा निश्चय ही ३१९ ई० रही होगी, जो गुप्त-संवत् का आरम्भ वर्ष है और चन्द्रगुप्त (प्रथम) के उत्कर्ष का द्योतक है।[६] उनके राज्य का आरम्भ ३०० ई० के आस-पास हुआ होगा।

---

१. ए० इ०, १५, पृ० ४१ आदि।

२. ज० प्रो० ए० सो० बं०, २० (न० स०), पृ० ५८।

३. आ० स० इ०, ए० रि०, १९०३–०४, पृ० १०२।

४. ज० रा० ए० सो०, १९०५, पृ० १५३; अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० २६६, पा० टि० १।

५. ब्रि० म्यू० मु० सू०, गु० वं०, भूमिका, पृ० ५४।

६. देखिये 'गुप्त-संवत्' शीर्षक अध्याय। पीछे पृ० १९६-२१२।

चन्द्रगुप्त (प्रथम)

चन्द्रगुप्त (प्रथम) घटोत्कच के पुत्र और गुप्त वंश के क्रम में तीसरे राजा थे। वास्तविक अर्थों में इन्हें ही साम्राज्य का संस्थापक कहना चाहिये। जैसा कि पहले कहा गया है, वे ३१९ ई० में सत्तारूढ़ हुए होंगे। अभिलेखों में इन्हें **महाराजाधिराज** कहा गया है, इस प्रकार उनकी उपाधि अपने पूर्वजों से बड़ी है और वह उनके सार्वभौम शासक होने का द्योतक है। उनकी रानी महादेवी कुमारदेवी ही पहली रानी हैं, जिनका उल्लेख वंश-सूचियों में हुआ है। वे लिच्छवि परिवार की थीं। प्रयाग प्रशस्ति में उनके पुत्र समुद्रगुप्त को **लिच्छवि-दौहित्र** कहा गया है और इस विरुद का उल्लेख प्रायः सभी परवर्ती गुप्त अभिलेखों में हुआ है।[1]

कुछ सोने के सिक्के ऐसे पाये जाते हैं जिन पर एक ओर चन्द्रगुप्त (प्रथम) अपनी रानी कुमारदेवी के साथ आमने सामने खड़े अंकित किये हैं और उन पर उन दोनों का नाम लिखा है। इन सिक्कों के दूसरी ओर सिंहवाहिनी देवी का चित्रण है और **लिच्छवयः** अर्थात् लिच्छवि लोग अंकित है।[2]

लिच्छवियों का उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों में वैशाली (आधुनिक बसाढ़, जिला मुजफ्फरपुर, बिहार) स्थित गणतन्त्र के रूप में बहुत मिलता है। ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी में वे मगध सम्राट् के काँटे बने हुए थे। वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करके ही बिम्बसार उन पर विजय पा सके और अजातशत्रु षड्यन्त्र द्वारा ही उनकी शक्ति पंगु करने में समर्थ हो पाये। लिच्छवियों के आक्रमणों को रोकने के लिए ही उन्हें पाटलिपुत्र में दुर्ग बनाना पड़ा था। किन्तु इस काल के पश्चात् उनके इतिहास के सम्बन्ध में कोई भी निश्चित जानकारी प्राप्त नहीं होती। किन्तु जिस प्रकार समुद्रगुप्त के लिच्छवि दौहित्र होने में गुप्तों ने अपना गौरव व्यक्त किया है और जिस ढंग से सिक्को पर लिच्छवियों का नाम अंकित किया गया है, उनसे अनुमान होता है कि वे इस काल में भी काफी शक्तिशाली रहे होंगे और उनके साथ किये गये वैवाहिक सम्बन्ध का गुप्तों के राजनीतिक उत्थान में विशेष योग रहा होगा।

गुप्तों के उत्थान में लिच्छवियों का योग किस ढंग का था, इस सम्बन्ध में लोगों ने अनेक प्रकार की कल्पनाएँ की हैं। जायसवाल की धारणा रही है कि गुप्तों ने लिच्छवियों की सहायता से किसी क्षत्रिय राजा से मगध का सिंहासन प्राप्त किया था।[3] उनकी इस धारणा का आधार कौमुदी-महोत्सव नामक नाटक है, जिसे वे घटनाओं

---

१. का० इ० इ०, ३, पृ० ८; ४३; ५३; २५६; ए० इ०, २५, पृ० ३२।

२. ब्रि० म्यु० सू०, पृ० ८; क्वायनेज आव द गुप्त इम्पायर, पृ० २७; ३३।

३. अ० भ० ओ० रि० इ०, १२, पृ० ५०; ज० बि० उ० रि० सो०, १९, पृ० ११३।

की समकालिक रचना मानते हैं। उन्होंने उक्त नाटक के पात्र चण्डसेन की पहचान चन्द्रगुप्त (प्रथम) से की है और कल्पना की है कि उन्होंने अपने नाम का सेन अंश त्याग करगुप्त नाम धारण किया। इस प्रकार उन्होंने अपने पितामह के नाम को वंश-नाम का रूप दिया। इस प्रकार के नाम-परिवर्तन के समर्थन में उन्होंने वसन्तसेन और वसन्तदेव का उदाहरण प्रस्तुत किया है, जो एक ही राजा के नाम थे। उन्होंने दृढ़सेन का भी उल्लेख किया है जिनका नाम सिक्कों पर दृढ़गण के रूप में मिलता है। उन्होंने यह भी कहा है कि चन्द्र का प्राकृत रूप चण्ड है। इसके समर्थन में उन्होंने सातवाहन नरेश चन्द्रसाति के अभिलेख का उल्लेख किया है जिसमें चन्द्र का रूप चण्ड है। दशरथ शर्मा ने उनके इस मत का समर्थन करते हुए सातवाहन नरेश चण्डसाति के अभिलेखों और श्री चण्डसाति अंकित सिक्कों तथा क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामंजरी की ओर ध्यान आकृष्ट कराया है।[1] इतिहास के चन्द्रगुप्त (प्रथम) और नाटक के चण्डसेन दोनों के लिच्छवियों के साथ घनिष्ठता की बात, जायसवाल की दृष्टि में, उक्त पहचान को पुष्ट करती है।

नाटक में सुन्दरवर्मन और कल्याणवर्मन को मगधकुल का कहा गया है। जायसवाल की कल्पना है कि यह वंश प्रयाग-प्रशस्ति में उल्लिखित कोतकुल[2] है। पाइरेस (ई० ए०) ने इस मत का खण्डन करते हुए कहा है कि सुन्दरवर्मन और कल्याणवर्मन मौखरि वंश के थे; मौखरिवंशीय राजाओं के समान उनके नाम वर्मान्त हैं। मगध मौखरियों का मूल स्थान था, इस कारण ही वे मगधकुल के कहे गये हैं।[3] इस प्रसंग में उन्होंने मयूरशर्मन के चन्द्रवल्ली अभिलेख की ओर ध्यान आकृष्ट किया है जिसमें कदम्बों के समय अर्थात् चौथी शताब्दी ई० में मौखरियों के मगध पर शासन करने की बात कही गयी है।[4] हमने अपने ज्ञानार्जन के प्रारम्भिक दिनों में यह मत व्यक्त किया था कि यह मगधकुल उत्तरवर्ती सातवाहन सम्राटों का था।[5] उस समय हमने इस ओर इंगित किया था कि कौमुदी-महोत्सव में कल्याणवर्मन को कर्णिपुत्र कहा गया है, जिससे तात्पर्य सुन्दरवर्मन से है और कर्णि सातवाहन वंश के सुविख्यात नरेश सातकर्णि के नाम का लघु रूप है। चण्डसेन द्वारा राज्यापहरण किये जाने के बाद लोगों ने कल्याणवर्मन को किष्किन्धा स्थित पम्पासर भेज दिया। इस बात से भी यह अनुमान किया जा सकता है कि इस मगधकुल का सम्बन्ध सातवाहनों के देश से रहा होगा अर्थात् वह सातवाहन वंश का एक अंग होगा।

उस समय हमें भविष्योत्तर पुराण के कलियुगराज-वृत्तान्त से अपनी इस धारणा की पुष्टि होती जान पड़ी थी। इस वृत्तान्त में कहा गया है कि चन्द्रश्री नामक आन्ध्र नरेश

---

१. ज० बि० उ० रि० सो०, २१, पृ० ७७; २२, पृ० २७५।
२. पंक्ति १४।
३. मौखरीज, पृ० १७; २८।
४. वही, पृ० ९, १७।
५. इ० क०, ११, पृ० ११७।

मगध का शासक और घटोत्कचगुप्त के पुत्र चन्द्रगुप्त (अर्थात् गुप्त-वंश के प्रथम चन्द्रगुप्त) का, अपनी पत्नी के सम्बन्ध से रिश्तेदार था। दोनों की पत्नियाँ परस्पर बहन थीं और वे लिच्छविकुल की थीं। अपनी पत्नी के सम्बन्धियों अर्थात् लिच्छवियों की सहायता से चन्द्रगुप्त मगध-सेना का सेनापति नियुक्त किया गया था। पश्चात् अपनी साली (रानी) के उकसाने पर उसने राजा चन्द्रश्री का वध कर दिया। तदनन्तर स्वयं रानी से द्रोह कर उसके बेटे पुलोमा को मार डाला और आन्ध्रों को भगा कर सिंहासन पर अधिकार कर लिया। इस ग्रन्थ में यह भी कहा गया है कि वाशिष्ठीपुत्र चन्द्रश्री सातकर्णि ने तीन वर्ष तक और उसके बेटे पुलोमा ने चन्द्रगुप्त के संरक्षण में सात वर्ष तक राज्य किया। इस प्रकार इस ग्रन्थ के कथनानुसार वाशिष्ठीपुत्र चन्द्रश्री सातकर्णि मगध के शासक थे और उनके पुलोमा नामक एक अल्प-वयस्क पुत्र था।

इस प्रकार कलियुगराज-वृत्तान्त और कौमुदी-महोत्सव की कथा में बहुत साम्य है — मगध के सिंहासन को वहाँ के राजा के एक सम्बन्धी ने, जिसका लिच्छवियों से वैवाहिक सम्बन्ध था, अपहृत कर लिया। राजा मारा गया, उसके अल्पवयस्क पुत्र ने कुछ काल तक राज्य किया तदनन्तर वह भी मार डाला गया। इन बातों को दृष्टि में रखते हुए कलियुगराज-वृत्तान्त के चन्द्रगुप्त, चन्द्रश्री और पुलोमा की पहचान कौमुदी-महोत्सव के चन्द्रसेन, सुन्दरवर्मन और कल्याणवर्मन से और पुनः ऐतिहासिक चन्द्रगुप्त (प्रथम) और शातवाहन वंशीय सातकर्णि और पुलोमा से करना स्वाभाविक ही था।

किन्तु अब यह बात निस्संदिग्ध रूप से सिद्ध हो गयी है कि कलियुगराज-वृत्तान्त विशुद्ध कूट-ग्रन्थ है[1] और कौमुदी-महोत्सव सातवीं शताब्दी ई० के मध्य से पूर्व की रचना नहीं है।[2] इसलिए इन दोनों ही ग्रन्थों को गुप्त-इतिहास के लिए प्रमाणस्वरूप ग्रहण नहीं किया जा सकता। कौमुदी-महोत्सव समकालिक तो है ही नहीं, साथ ही अन्य विश्वसनीय सूत्रों से ज्ञात तथ्यों के विपरीत भी है।

जायसवाल के इस कथन से कि चण्डसेन नाम का चण्ड चन्द्रगुप्त के चन्द्र का प्राकृत रूप है, कोई भी सहमत नहीं हो सकता। संस्कृत का चन्द्र प्राकृत में चन्द होता है चण्ड नहीं।[3] सामान्यतः पूर्ववर्ती र, द को ड में परिवर्तित करता है,[4] उत्तरवर्ती र नहीं। जैन-प्राकृत (अर्धमागधी और जैन-महाराष्ट्री) में कभी-कभी न्द्र न्ड हो जाता है पर वहाँ भी ण्ड नहीं होता।[5] अर्धमागधी में भी चन्द्र का चन्द होता है चण्ड नहीं,[6]

१. इ० हि० क्वा० २०, पृ० ३४५; ज० बि० रि० सो० ३१, पृ० २८।

२. कौमुदी-महोत्सव, बम्बई, १९५२, पृ० १२।

३. धनपाल, पाइलच्छिनाममाला, ५१५। कतिपय वैय्याकरण बिना किसी परिवर्तन के 'चन्द्र' रूप देते हैं (वररुचि, ३.४; हेमचन्द्र २।८०; मार्कण्डेय ३.४; त्रिविक्रम १.४।८०)। चण्ड रूप का उल्लेख कोई भी वैय्याकरण और कोषकार नहीं करता।

४. आर० पिशेल, प्राकृत ग्रामर, अनुच्छेद २९।

५. वही।

६. हरगोविन्ददास सेठ, पाइसद्दमहाण्णव, पृ० ३९३–३९४। वे अपने अर्धप्राकृत व्याकरण में केवल 'चन्द' रूप देते हैं 'चण्ड' नहीं (प्राकृत लक्षण २।१; ३।३९)।

और जैन-प्राकृत में चण्ड रूप अत्यन्त दुष्प्राप्य है।[1] चन्द्र चण्ड नहीं हो सकता, इसका कारण स्पष्ट यह है कि पूर्ववर्ती न द का रूप परिवर्तन से रक्षा करता है। सातवाहन अभिलेखों और सिक्कों से दिये गये उदाहरण अत्यन्त सन्दिग्ध हैं। कोडवल्ली कूप-अभिलेख[2] में राजाके संस्कृत नाम का रूप वाशिष्ठीपुत्र चण्डस्वाति है चन्द्रस्वाति नहीं और यही रूप पुराणों में भी मिलता है। वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्यपुराण की अधिकांश हस्तलिखित प्रतियों में चण्डश्री सातकर्णि है; केवल विष्णु और भागवत की एक-आध और मत्स्य की एक प्रति में चन्द्रश्री है।[3] रैप्सन ने कुछ सिक्कों पर निःसन्दिग्ध वासिठीपुत्र सिरि चड-सातिस पढ़ा है;[4] किन्तु जिस अक्षर को उन्होंने ड पढ़ा है उसका रूप उससे भिन्न नहीं है, जिसे उन्होंने उसी राजा के कुछ अन्य सिक्कों पर द पढ़ा है।[5] इन सिक्कों का अभिलेख भी चड ही है और इसी रूप में कोडवल्ली कूप-अभिलेख का भी नाम पढ़ा जा सकता है।[6]

दशरथ शर्मा का यह कहना कि क्षेमेन्द्र ने प्राकृत नाम चण्डसेन को चन्द्रसिंह कर दिया,[7] सत्य प्रतीत नहीं होता। क्षेमेन्द्र के बृहत्कथा-मंजरी के निर्णयसागर संस्करण में शशांकवती लम्बक में बैताल की आठवीं कहानी में ताम्रलिप्ति नरेश का नाम दो स्थलों पर निसन्देह चन्द्रसिंह मिलता है (श्लोक ४२० और ४३०)। उस स्थल पर सोमदेव के कथा-सरित्सागर में पाठ चण्डसेन है।[8] किन्तु साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि बृहत्कथा-मंजरी में ही उसी कथा के अन्तर्गत उसी व्यक्ति का नाम अन्यत्र चण्डसेन लिखा है चन्द्रसिंह नहीं (श्लोक ४४६, ४४९); और यह इस बात का द्योतक है कि बृहत्कथा-मंजरी में भी नाम चण्डसेन ही है, चन्द्रसिंह अपपाठ है जो दो स्थलों तक ही सीमित है।

कौमुदी-महोत्सव में ही हमें चन्द्र का प्राकृत रूप चन्द मिलता है।[9] दूसरी ओर चण्डसेन नाम का प्रयोग संस्कृत और प्राकृत दोनों में समान रूप से हुआ है।[10] जो स्वयं इस बात का द्योतक है कि जिस ध्वनि-परिवर्तन की कल्पना जायसवाल ने की है वह लेखिका के विचार में कभी आया ही नहीं था। यदि चन्द्र के चण्ड रूप में परिवर्तित होने की ध्वनिक सम्भावना होती तो यह समझ पाना कठिन है कि संस्कृत के

---

१. वही, पृ० ३९२अ।
२. स्टेन कोनो, ज० द० म० ज०, ६२, पृ० ५९१।
३. डाइनेस्टीज ऑव कलि एज, पृ० ४३; पा० टि० १९ और २२।
४. ब्रि० म्यू० मु० सू०, आ० क्ष०, पृ० ३०–३१।
५. वही, पृ० ३२–३३।
६. ह० क० शास्त्री, ए० इ०, १८, पृ० ३१७।
७. ज० बि० उ० रि० सो०, २२, पृ० ३१७।
८. लम्बक १२, तरंग १४ (निर्णय सागर प्रेस संस्करण)। कथा-सरित्सागर के क्रमानुसार यह सातवीं कथा है।
९. कौमुदी-महोत्सव, बम्बई, १९५२, पं ६१, ६२, ६३, ६४, १३२, १९३; २७६।
१०. वही, पंक्ति २९४।

नाटक में एक महत्त्वपूर्ण पात्र का नाम प्राकृत रूप में क्यों दिया गया और किसी अन्य नाम का नाटक में प्राकृतीकरण क्यों नहीं हुआ ?

नाम की बात के अतिरिक्त, नाटक की कथा भी पुरातात्त्विक सूत्रों से ज्ञात तथ्यों से सर्वथा भिन्न है। गुप्त-अभिलेखों के अनुसार लिच्छवियों के साथ चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध विवाह के माध्यम से था; चण्डसेन-लिच्छवि सम्बन्ध के सम्बन्ध में हमें कोई जानकारी नहीं है। नाटक के अनुसार सुन्दरवर्मन के दत्तक के रूप में चण्डसेन का उल्लेख है और उसे विष-वृक्ष और हीन-जाति का बताया गया है; उसे पितृघातक भी कहा गया है। चन्द्रगुप्त के दत्तक होने की बात कहीं भी किसी सूत्र से किसी को भी ज्ञात नहीं है। उसे किसीने कहीं भी पितृघातक नहीं कहा है। इस प्रकार चन्द्रगुप्त (प्रथम) को नाटक का चण्डसेन मानना सम्भव नहीं है और न इस नाटक को इतिहास के निमित्त गम्भीरता के साथ लिया जा सकता है।

जान एलन की कल्पना है कि चन्द्रगुप्त द्वारा सर्वप्रथम विजित किये जाने वाले स्थानों में से वैशाली, जो लिच्छवियों के अधीन था, एक था और सन्धि की एक शर्त के रूप में कुमारदेवी के साथ उनका विवाह हुआ था।[1] एलन के कथनानुसार गुप्तों को लिच्छवि-रक्त का जो गर्व है वह लिच्छवियों की प्राचीन वंशपरम्परा का है न कि उनके साथ की गयी किसी सन्धि या सहयोग से प्राप्त भौतिक लाभ का परिणाम। सोहोनी (श्री० वा०) की भी धारणा है कि चन्द्रगुप्त (प्रथम) और कुमारदेवी के विवाह का निर्णय रणभूमि में हुआ था।[2]

दो राजाओं के बीच हुए युद्ध के परिणामस्वरूप राजघरानों में विवाह होने के निस्सन्देह अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। किन्तु इस प्रकार के विवाह को कभी प्रतिष्ठा भाव से नहीं देखा जाता रहा है। उसे न केवल स्मृतियों में राक्षस विवाह ठहराया गया है वरन् अभिलेखों में भी उसे ऐसा ही कहा गया है।[3] इस प्रकार के विवाह से उत्पन्न पुत्र अपने को उस कुल से सम्बन्धित होने में कभी गौरव का अनुभव नहीं करेगा जिसका उसने, उसके पिता ने अथवा पिता-कुल के किसी अन्य ने रण-भूमि में दलन किया था। ऐसी अवस्था में पराजित पक्ष यदि प्रख्यात या शक्तिशाली रहा है, विजयी पक्ष ने अपने को उस शक्ति के विजित अथवा उच्छेदित करने वाला कहने में ही गौरव माना है।

यदि गुप्तों को लिच्छवि-दौहित्र होने का गर्व था, तो उसका एक मात्र यही अर्थ हो सकता है कि चन्द्रगुप्त (प्रथम) के साथ लिच्छवि-राजकुमारी का विवाह सामान्य स्थिति में हुआ था; और लिच्छवियों के साथ हुए इस विवाह सम्बन्ध से गुप्तों को अपने उत्थान में सहायता प्राप्त हुई थी। प्राचीन भारतीय राज-वंशावलियों में अनेक ऐसे उदाहरण हैं जहाँ नाना का उल्लेख, दौहित्र-कुल के वंश-क्रम में हुआ है और ऐसी

१. ब्रि० म्यू० मु० सू०, गु० वं०, भूमिका, पृ० १९।
२. ज० न्यू० सो० इ०, ५, पृ० ४१।
३. ए० इ०, १८, पृ० २३५ आदि।

प्रत्येक अवस्था में इस बात के प्रमाण मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि जामाता को अपने ससुर कुल से समुचित सहायता उपलब्ध हुई थी। वाकाटक-नरेश रुद्रसेन (प्रथम) और रुद्रसेन (द्वितीय) के ससुरों का उल्लेख वाकाटक वंश-परम्परा में केवल इस कारण हुआ है कि उनके साथ किया गया विवाह-सम्बन्ध वाकाटक वंश के लिए पर्याप्त हितकर सिद्ध हुआ। विष्णुकुण्डिन-नरेश माधववर्मन अपने को वाकाटक-कुमारी का सन्तान होने का गौरव इसलिए मानते हैं कि वाकाटक-परिवार के साथ विवाह-सम्बन्ध उसके वंश के उत्थान में अत्यधिक सहायक हुआ था।

अतः विन्सेण्ट स्मिथ का यह अनुमान गलत नहीं कहा जा सकता कि उन दिनों लिच्छवियों का पाटलिपुत्र पर अधिकार था और विवाह के माध्यम से चन्द्रगुप्त ने अपने पत्नी के सम्बन्धियों के राज्य पर अधिकार प्राप्त किया।[1]

अल्तेकर (अ० स०) की धारणा है कि कुमारदेवी स्वाधिकार से रानी थीं।[2] इसका अर्थ यह हुआ कि चन्द्रगुप्त (प्रथम) का प्रवेश लिच्छवि-परिवार में रानी पति (प्रिन्स-कन्सर्ट) के रूप में हुआ था और लिच्छवि-राज्य के साथ उनका सम्बन्ध कुछ उसी ढंग का था जिस ढंग पर इंगलैण्ड के राज्य पर मेरी के साथ तृतीय विलियम का नाम जुटा था। पति-पत्नी के इस प्रकार के संयुक्त राज्य की सम्भावना उनके सिक्कों से प्रकट होती है। वे सिक्के चन्द्रगुप्त के महाराजाधिराज की सम्राटीय उपाधि धारण करने के अवसर पर जारी किये गये होंगे और इस नये सिक्के पर लिच्छवियों के आग्रह पर ही उनकी राजकुमारी का नाम दिया गया होगा।

अल्तेकर द्वारा विलियम तृतीय और मेरी के साथ चन्द्रगुप्त (प्रथम) और कुमारदेवी की की गयी तुलना अपने आप में काफी आकर्षक है और वह सहज ग्राह्य हो सकती थी यदि भारतीय-इतिहास में पिता की गद्दी पर पुत्री के बैठने की परम्परा का ज्ञान अथवा उदाहरण प्राप्त होता। भारतीय धर्मशास्त्रों में पिता की सम्पत्ति पर पुत्री का दाय अज्ञात है। अतः कुमारदेवी स्वाधिकार से कदापि रानी नहीं रही होंगी। तथापि स्मिथ और अल्तेकर दोनों के ही सुझाव तत्वतः सत्य के निकट प्रतीत होते हैं। उन्हें केवल भारतीय परम्परा की दृष्टि से देखने की आवश्यकता है। वस्तुस्थिति की कल्पना इस प्रकार की जा सकती है—लिच्छवि-नरेश पुत्रहीन मरे होंगे। स्मृतियों में पुत्र के अभाव में दौहित्र का दाय स्वीकार किया गया है।[3] इस प्रकार लिच्छवि-सिंहासन का उत्तराधिकार राजकुमारी कुमारदेवी के पुत्र को प्राप्त होने की स्थिति आयी होगी। यह भी हो सकता है कि उनके पिता की मृत्यु के समय तक उसके कोई पुत्र न हुआ हो। अतः शासन-प्रबन्ध के निमित्त मध्यावधि प्रबन्ध इस प्रकार किया गया हो कि चन्द्रगुप्त (प्रथम) लिच्छवि-राज्य का प्रबन्ध-भार ग्रहण करें। इसके साथ ही नाना प्रकार की उत्पन्न होने वाली राजनीतिक गुत्थियों को बचाने के लिए यह भी उचित माना

---

१. अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, ४ सं०, पृ० २९५–२९६।

२. न्यू० स०, ४७, पृ० १०७; कैटलाग ऑव द क्वायन्स ऑव बयाना होर्ड, भूमिका, पृ० ६४।

३. मनुस्मृति, ९।१२२।

गया होगा कि उनकी लिच्छवि पत्नी का भी सम्बन्ध शासन से जोड़ दिया जाय और शासन लिच्छवियों के नाम पर किया जाय। इस अनुमान की स्पष्ट झलक सिक्कों में प्रकट होती है। चन्द्रगुप्त का नाम सिक्कों पर ठीक उसी स्थान पर है, जहाँ गुप्त सिक्कों पर राजा का नाम लिखा पाया जाता है। साथ ही गुप्त सिक्कों पर पायी जाने वाली प्रशस्ति अथवा विरुद का सर्वथा अभाव है। इसके स्थान पर उनकी पत्नी का नाम है। और पट ओर जहाँ प्रचलनकर्ता का नियमित रूप से विरुद रहता है, वहाँ लिच्छवियों का नाम—लिच्छवयः है।[१] जब एक बार यह प्रबन्ध हो गया तो यह निर्बाध रूप से इस प्रकार चलता रहा कि वास्तविक अधिकारी समुद्रगुप्त के जन्म के बाद भी

---

१. विद्वानों के एक वर्ग की धारणा है कि इन सिक्कों को समुद्रगुप्त ने प्रचलित किया था। एलन के मतानुसार ये चन्द्रगुप्त (प्रथम) और कुमारदेवी के विवाह की स्मृति में प्रचलित किये गये थे (ब्रि० म्यू० मु० सू०, गु० वं०, भूमिका, पृ० ९१)। भारतीय पुत्र द्वारा अपने माता-पिता के विवाह के स्मारक की बात अपने आप में हास्यास्पद है। जायसवाल ने इसकी समुचित भर्त्सना की है (ज० बि० उ० रि० सो०, १९, पृ० ९१)। एलन के इस सुझाव के मूल में उनकी यह धारणा है कि सिक्कों का उद्भव उस समय हुआ होगा जब गुप्त लोग कुषाणों के सम्पर्क में आये क्योंकि उन्होंने उनके पूर्वी (पंजाब के) सिक्कों का अनुकरण किया है। और यह स्थिति प्रथम चन्द्रगुप्त के समय में नहीं समुद्रगुप्त के समय में आयी। वे इन सिक्कों की अपेक्षाकृत मौलिकता से चकित हैं और कुषाणों के सिक्कों के अन्धानुकरण की ओर लौटने की बात वे समझ नहीं पाते। यही नहीं, वे यह भी सोच नहीं पाते कि प्रथम चन्द्रगुप्त अपने शासन के दीर्घकाल में केवल एक ही भाँति का सिक्का प्रचलित कर सन्तुष्ट हो गया होगा। किन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर इन तर्कों में कोई सार ज्ञात नहीं होता। आज यह बात स्पष्ट देखने में आती है कि न केवल समुद्रगुप्त का उत्पताक भाँति उत्तरवर्ती कुषाणों के अनुकरण पर बना है, वरन् कुषाणों के अनेक भाँतों का अनुकरण उसके उत्तराधिकारी द्वितीय चन्द्रगुप्त और प्रथम कुमारगुप्त ने किया है। अतः इसमें आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं जान पड़ती यदि समुद्रगुप्त ने अपने पिता के एक मौलिक भाँत के सिक्कों के रहते कुषाणों का अनुकरण किया। वस्तुतः प्रथम चन्द्रगुप्त के सिक्कों का रूप उतना मौलिक नहीं है जितना कि समझा जाता है। सिंहवाहिनी देवी कुषाण सिक्कों पर भी देखने में आती हैं (पं० म्यू० मु० सू०, फलक २०, सिक्का १०; न्यू० स०, ५४, पृ० ७)। चित ओर का स्वरूप भी पंजाब के शक शासक झियोनिस से बहुत मिलता हुआ है (प० म्यू० मु० सू०, फलक १६, सिक्का ८२)। फिर कुषाण सिक्के बिहार में भी पाये गये हैं। वे इस बात के द्योतक हैं कि पंजाब और मथुरा से काशी, प्रयाग, गया, पाटलिपुत्र आनेवाले यात्री व्यवहार के लिए समकालिक कुषाण सिक्के लाते रहे हैं। उनसे उस समय भी प्रथम चन्द्रगुप्त भली-भाँति परिचित रहा होगा जब उसके साम्राज्य का विस्तार प्रयाग से आगे नहीं था। उसने अपने सिक्कों का स्वरूप उन सिक्कों को देखकर किया होगा।

विशम्भरशरण पाठक चित ओर के अंकन को कल्याणसुन्दरी का स्वरूप मानते हैं और सिक्कों के समुद्रगुप्त द्वारा अपने माता-पिता के विवाह का स्मारक होने की एलन की बात का समर्थन करते हैं (ज० न्यू० सो० इ०, १९, पृ० १३८)। वे चित ओर के अभिलेख 'चन्द्रगुप्त' और 'कुमारदेवी-श्री' और विवाह के दृश्य का तात्पर्य 'चन्द्रगुप्तस्य कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य' और पट ओर के 'लिच्छवयः' लेख को 'लिच्छविनां दौहित्रस्य' का बोधक बताते हैं। किन्तु

उसमें किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं हुई। चन्द्रगुप्त, समुद्रगुप्त के वयस्क होने तक, शासन करते रहे। जब समुद्रगुप्त वयस्क हो गये तो अत्यन्त शालीनता के साथ चन्द्रगुप्त (प्रथम) समुद्रगुप्त को राज्याधिकार सौंप कर विरत हो गये। उनके इस स्वैच्छिक विराग का वर्णन हरिषेण ने अत्यन्त सजीव रूप में प्रयाग प्रशस्ति में किया है।

तथ्य जो भी हो, अब तक उपलब्ध ज्ञान के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि पूर्वी भारत के दो राज्यों—लिच्छवि और गुप्त, का विवाह के माध्यम से एकीकरण हुआ और इस प्रकार प्रथम चन्द्रगुप्त को एक काफी बड़ा राज्य प्राप्त हुआ। किन्तु चन्द्रगुप्त का कोई अभिलेख अथवा लेख प्राप्त नहीं है जिससे उनके राज्य के विस्तार का विवरण प्राप्त हो सके अथवा यह जाना जा सके कि उन्होंने किस प्रकार सम्राट् पद प्राप्त किया। अपने पुत्र और पुत्र के उत्तराधिकारियों के अभिलेखों में ही वे महाराजाधिराज कहे गये हैं। सम्भवतः उनके राज्य में मगध, साकेत और प्रयाग सम्मिलित थे, इन्हें ही पुराणों में गुप्तों का क्षेत्र बताया गया है।[1] उनके साम्राज्य के विस्तार का ठीक परिचय उनके पुत्र के विजय-वर्णन से प्राप्त होता है।

उनके बेटे समुद्रगुप्त ने अपना अभियान उत्तर में कौशाम्बी, श्रावस्ती, अहिच्छत्रा, मथुरा और पद्मावती के पड़ोसी राज्यों के विजय से आरम्भ किया। इसका अर्थ यह निकलता है कि चन्द्रगुप्त का राज्य वाराणसी से आगे गंगा के उत्तर न था। दक्षिण में कोसल-नरेश महेन्द्र के विजय से उनका अभियान आरम्भ होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उस समय तक साम्राज्य का विस्तार मध्यप्रदेश के दक्षिण-पूर्वी भाग बिलास-

---

अहमद हसन दानी ने ठीक ही कहा है कि चित्त ओर का अंकन कल्याणसुन्दरी मुद्रा का द्योतक नहीं है (ज० न्यू० सो० इ०, २०, पृ० ५-६) और अभिलेख की व्याख्या खींचतान से भरी है। उनके तर्कों की दुर्बलता स्वयं सिद्ध है। उस पर किसी प्रकार की टिप्पणी अनावश्यक है।

एलन, जायसवाल और अल्तेकर के इस मत का कि सिक्के पर प्रथम चन्द्रगुप्त द्वारा कुमारदेवी को उपहार—विवाहोपहार भेंट करने का चित्रण है, श्रीधर वासुदेव सोहनी ने खण्डन किया है। उनकी धारणा है कि सिक्कों पर विदा का दृश्य अंकित किया गया है (ज० न्यू० सो इ०, १९, पृ० १४८)। किन्तु सिक्कों के अंकन में ऐसी कोई बात जान नहीं पड़ती जिससे विदा जैसे किसी दृश्य की अभिव्यक्ति होती हो। यदि यह मान भी लिया जाय कि वह विदा का दृश्य है, तो सोहोनी ने यह नहीं बताया कि समुद्रगुप्त ने अपने माता-पिता के चित्रण के लिए ऐसा दृश्य क्यों चुना जो दाम्पत्य-जीवन में कभी सुखकर नहीं कहा जा सकता। सर्वोपरि, इस बात का संकेत कहाँ है कि उसे समुद्रगुप्त ने प्रचलित किया?

वासुदेवशरण अग्रवाल का मत है कि इन सिक्कों को लिच्छवियों ने समुद्रगुप्त के समय में प्रचलित किया (ज० न्यू० सो० इ०, १७, पृ० ११७-१८)। पट ओर के लेख 'लिच्छवयः' की जो व्याख्या उन्होंने की है, वह पूर्णरूपेण मान्य है। किन्तु सिक्के का प्रचलन समुद्रगुप्त के समय में हुआ इस कथन के लिए उन्होंने अपनी ओर से कोई ऐसी बात नहीं कही है जिससे इस बात की सम्भावना प्रकट होती हो। वे एलन के इस तर्क पर ही निर्भर करते हैं कि वह सिक्का कुषाण सिक्कों का अन्धानुकरण है।

१. देखिये पीछे, पृ० १००-२०१।

पुर, रायपुर और सम्भलपुर और गंजाम जिले के कुछ अंश तक हो चुका था। पूर्व की ओर समुद्रगुप्त ने कोई अभियान नहीं किया; इससे जान पड़ता है कि समतट वाले अंश को छोड़ कर बंगाल तक का भूभाग चन्द्रगुप्त के राज्य में सम्मिलित था। पश्चिम में वह विदिशा की सीमा तक सीमित था क्योंकि उन दिनों वाकाटक नरेश विन्ध्यशक्ति के वहाँ शासक रहने का हमें पता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि चन्द्रगुप्त (प्रथम) के साम्राज्य के अन्तर्गत बिहार, बंगाल (समतट को छोड़कर) और बनारस तक का पूर्वी उत्तर प्रदेश अथवा उससे कुछ ही अधिक, भूभाग था।

किन्तु खेद इस बात का है कि हमें चन्द्रगुप्त (प्रथम) की वीरता और शौर्य की जानकारी नहीं हो पाती। इतना ही कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने वंश की भावी महत्ता का मार्ग प्रशस्त किया था।

चन्द्रगुप्त (प्रथम) ने कितने दिनों शासन किया, यह निश्चय कर सकना कठिन है। रायचौधुरी ने सन्दिग्ध भाव से समुद्रगुप्त के ३२५ ई० में गद्दी पर बैठने की सम्भावना प्रकट की है।[1] उन्होंने इस तिथि के अनुमान का कोई कारण नहीं बताया है; किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि वे समुद्रगुप्त को गुप्त-संवत् का प्रतिष्ठापक मानते हैं। उनका यह अनुमान किसी प्रकार भी ग्राह्य नहीं है। स्मिथ की धारणा है कि चन्द्रगुप्त अपने राज्यारोहण के दस या पन्द्रह वर्ष बाद अर्थात् ३३० अथवा ३३५ ई० में मरा।[2] फ्लीट[3] और एलन[4] भी ३३५ ई० को चन्द्रगुप्त (प्रथम) के मृत्यु का समय मानते हैं। फ्लीट का यह भी मत है कि चन्द्रगुप्त ने वैशाली विजय के बाद कुमारदेवी से विवाह किया। यदि वस्तुतः इस प्रकार का कोई विजय चन्द्रगुप्त (प्रथम) ने किया था तो वह निस्सन्देह राज्यारोहण होने के बाद ३१९ ई० के बाद ही किसी समय किया होगा। ऐसी स्थिति में ३३५ ई० में समुद्रगुप्त केवल १३–१४ वर्ष का बालक रहा होगा। यह क्लिष्ट कल्पना होगी कि १३, १४ अथवा १६ वर्ष के बालक को उसका पिता प्रतिद्वन्दी राजकुमारों के बीच योग्यतम घोषित करेगा। अतः रमेशचन्द्र मजूमदार की धारणा है कि राज्यारोहण के तत्काल बाद ही ३२० ई० में चन्द्रगुप्त (प्रथम) ने विवाह किया होगा और समुद्रगुप्त सम्भवतः ३५० ई० से पहले गद्दी पर नहीं आया।

किन्तु, हम यह प्रतिपादित कर चुके हैं कि चन्द्रगुप्त (प्रथम) का विवाह राज्यारोहण से पहले हुआ था और समुद्रगुप्त का जन्म राज्यारोहण के बाद हुआ होगा। चन्द्रगुप्त (प्रथम) के राज्यारोहण के कितने दिनों बाद समुद्रगुप्त का जन्म हुआ, यह कहना कठिन है। किन्तु इतना तो अनुमान किया ही जा सकता है कि चन्द्रगुप्त ने समुद्रगुप्त

---

१. पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव इण्डिया, ५वाँ सं०, पृ० ५३२।
२. अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, ४था सं०, पृ० २९७।
३. का० इ० इ०, ३, पृ० ३८, टिप्पणी ५।
४. ब्रि० म्यु० गु० सू०, गु० वं०, भूमिका, पृ० २०।
५. गुप्त-वाकाटक एज, पृ० १५४।

को, लिच्छवि-राज का वैध अधिकारी होने के कारण, उसे वयस्क होते ही १८ अथवा २५ वर्ष की आयु में, राज्य सौंप कर वैराग्य लिया होगा। अतः हमारी धारणा है कि यह स्थिति ३३८ और ३४५ ई० के बीच किसी समय आयी होगी। इसके पूर्व या इसके बाद के किसी समय का अनुमान किसी प्रकार भी संगत नहीं कहा जा सकता।

राज्य-परित्याग के बाद चन्द्रगुप्त (प्रथम) कितने दिनों जीवित रहा, इसकी कल्पना करने की न आवश्यकता है और न वह की ही जा सकती।

काचगुप्त

समुद्रगुप्त के प्रयाग प्रशस्ति के रचयिता हरिषेण ने चन्द्रगुप्त (प्रथम) के राज्य-त्याग का मार्मिक वर्णन किया है।[1] उसने लिखा है कि भरी सभा में चन्द्रगुप्त (प्रथम) ने अपने बेटे समुद्रगुप्त को गले लगाया। वह भावातिरेक से भरा था और रोमांचित हो उठा था। उसकी आँखों में आँसू भरे हुए थे। उसने अपने बेटे से कहा—"तुम योग्य हो, पृथिवी पर राज्य करो।" आगे हरिषेण ने लिखा है कि सभ्य जनों ने उसकी घोषणा का स्वागत किया किन्तु तुल्य कुलज[2] लोगों (अर्थात् भाइयों) ने उसी समुद्रगुप्त को दुःखी भाव से देखा, उनके हृदय में द्वेष उमड़ रहा था।

कवि का कथन हो सकता है कुछ अतिरंजित हो, तथापि इतना तो है ही कि चन्द्रगुप्त का राज्य परित्याग और समुद्रगुप्त का राजतिलक[3] किसी गम्भीर वातावरण और विशेष अवस्था में हुआ था। यह बात राजकीय घोषणा पर सभ्यों और तुल्य-कुलजों की परस्पर विरोधी प्रतिक्रियाओं से स्पष्ट है। इसका निस्संदिग्ध भाव यह है कि अन्य राजकुमार भी गद्दी की ओर दृष्टि लगाये हुए थे और उनके उत्तराधिकार के दावों से प्रजा में उत्तेजना थी और सम्भवतः राजनीतिक जीवन भी अव्यवस्थित हो रहा था। वर्तमान और भावी सभी संकटों का अन्त करने के लिए राजा ने सबकी उपस्थिति में समुद्रगुप्त को राजगद्दी सौंप दी। राज्य के प्रमुख अधिकारी हरिषेण ने बहुत दिन बीत जाने के बाद भी जब प्रतिद्वन्द्वी राजकुमार के दुःख पर बल देते हुए इस घटना का उल्लेख किया है तो इसका स्पष्ट अर्थ यही निकलता है कि उक्त घटना महत्त्वपूर्ण रही होगी। इस प्रकार वह महत्त्वपूर्ण परिणामों से भरी ऐतिहासिक घटना की ओर संकेत करता जान पड़ता है।

---

१. पंक्ति ७-८।

२. 'तुल्य-कुलज' का तर्कसंगत अर्थ होगा—'समान कुल में जन्मे लोग'। अतः बैशम (पृ० ७८०) का लेखक से कहना था कि इस शब्द-युग्म का तात्पर्य यहाँ 'उन कुलीन लोगों से है जो गुप्तों के समान कुल के रहे होंगे'। किन्तु ऐसे अवसरों पर प्रायः भाइयों या परिवार के सदस्यों को ही असन्तोष हुआ करता है। अतः हमारी दृष्टि में इसका तात्पर्य 'भाई' से ही है और वही उपयुक्त है।

३. सामान्य धारणा है कि यह प्रथम चन्द्रगुप्त द्वारा समुद्रगुप्त के युवराज मनोनीत किये जाने का प्रसंग है; और राजा द्वारा कहलाये गये शब्द भावी घटनाओं की ओर संकेत करते है। किन्तु रमेशचन्द्र मजूमदार ने इस बात की ओर समुचित ध्यान आकृष्ट किया है कि राजा की भावुकता का जिस स्पष्टता के साथ उल्लेख हुआ है, वह मात्र उत्तराधिकारी की घोषणा का द्योतक न होकर राज्य-त्याग और विदा के अवसर के अनुरूप है (गुप्त वाकाटक एज, पृ० १३७)। बहादुरचन्द्र छाबड़ा भी सम्पूर्ण अनुच्छेद के विवेचन के पश्चात् इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं (इ० क०, १४, पृ० ४१)।

अस्तु, समझा ऐसा जाता है कि समुद्रगुप्त के भाइयों ने उसके विरुद्ध विद्रोह किया था। उक्त प्रशस्ति में तीन श्लोक आगे जो अंश है, वह गल गया है, पर अनुमान किया जा सकता है कि उसमें इस विद्रोह की चर्चा थी। प्रसंग समुद्रगुप्त के किसी युद्ध का है। कहा गया है कि उसने उसे अपने बाहुबल से जीता। इस युद्ध का उल्लेख उसके आर्यावर्त के अभियान से पहले है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि उसने अपने राज्य के प्रारम्भिक दिनों में ही गृह-कलह का शमन किया था। सम्भवतः समुद्रगुप्त के भाइयों ने उसके विरुद्ध एक होकर अपने में से किसी को उसके स्थान पर राजा बनाने की योजना की थी। हेरास (एच०) का अनुमान है कि यह विद्रोही भाई काच था, जिसका परिचय उसके सिक्कों से मिलता है।[1]

विद्वानों के एक वर्ग का कहना है कि काच नामयुक्त सिक्के समुद्रगुप्त के हैं और काच उसका ही अपर नाम था।[2] उनके तर्क हैं—

(१) काच के सिक्कों का पट समुद्रगुप्त के व्याघ्र-निहन्ता और अश्वमेध भाँति के सिक्कों से बहुत समानता रखता है।

किन्तु काच के सिक्कों और समुद्रगुप्त के उपर्युक्त दोनों भाँति के सिक्कों पर देवी की स्थिति-भंगिमा में सादृश्य अवश्य है; पर द्रष्टव्य यह है कि समुद्रगुप्त के सिक्कों में भारतीयता अधिक झलकती है। काच के सिक्कों पर देवी के हाथ में विदेशी बिषाण (कार्नुकोपिया) है; समुद्रगुप्त के व्याघ्र-निहन्ता भाँति के सिक्कों पर उसके स्थान पर भारतीय कमल है। फिर समुद्रगुप्त के सिक्कों पर देवी मकर पर खड़ी हैं जो एक भारतीय प्रतीक है और उसमें काच के सिक्कों की अपेक्षा, जिसमें देवी आसन पर खड़ी है, अधिक मौलिकता है। इससे स्पष्ट है कि काच के सिक्के समुद्रगुप्त के सिक्कों से पहले के हैं।

(२) काचगुप्त के चित ओर का अभिलेख काचोगामवजित्य कर्मभिरुत्तमैर्दिवं जयति समुद्रगुप्त के सिक्के के लेख अप्रतिहतो विजित्य क्षितिं सुचरितैर्दिवं जयति का शब्दान्वय मात्र है और यह इस बात का द्योतक है कि काच के सिक्के समुद्रगुप्त द्वारा प्रचलित किये गये थे।

किन्तु यह तर्क उपस्थित करते समय यह भुला दिया गया है कि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के छत्र भाँति के सिक्कों पर भी क्षितिमवजित्य सुचरितैर्दिवं जयति और कुमारगुप्त (प्रथम) के खड्गहस्त भाँति पर गामवजित्य सुचरितैः कुमारगुप्तो दिवं जयति है। पहला अभिलेख काच के लेख का भावबोधक है और दूसरा तो प्रायः उससे मिलता हुआ ही

---

१. ज० अ० ओ० रि० इ०, ९, पृ० ४८।

२. स्मिथ, ज० रा० ए० सो०, १८८९, पृ० ७५–७६; इ० ए०, १९०२, पृ० २५९–६०; फ्लीट, का० इ० इ०, ३, पृ० २७; एलन, ब्रि० म्यू० मु० सू०; गु० वं०, भूमिका, पृ० ३१; राय चौधुरी, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शिएण्ट इण्डिया, ५ वाँ सं०, पृ० ५३३; राधाकुमुद मुकर्जी, गुप्त इम्पायर, पृ० १७३।

है। इन के आधार पर निस्सन्देह यह तर्क नहीं किया जा सकता कि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) और कुमारगुप्त (प्रथम), काच अथवा समुद्रगुप्त ही थे। यदि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) और कुमारगुप्त (प्रथम) के सिक्कों पर समुद्रगुप्त के समान लेख हो सकते हैं तो कोई भी राजा उसी प्रकार का लेख अपने सिक्कों पर विधिवत अंकित कर सकता था। अभिलेखों की समानता काच और समुद्रगुप्त के एक होने का तर्क नहीं माना जा सकता।

(३) काचगुप्त के सिक्कों के पट ओर मिलने वाले **सर्वराजोच्छेता** विरुद का प्रयोग परवर्ती गुप्त अभिलेखों में समुद्रगुप्त के लिए हुआ है। अतः ये सिक्के उसके ही हो सकते हैं।

किन्तु द्रष्टव्य यह है कि समुद्रगुप्त के प्रायः अन्य सभी विरुद, जिनका कि उनके सिक्कों पर उल्लेख हुआ है, किसी न किसी रूप में प्रयाग प्रशस्ति में देखे जा सकते हैं; इस सिक्के पर उपलब्ध **सर्वराजोच्छेता** विरुद की उसमें कहीं किसी प्रकार की कोई चर्चा नहीं है। हरिषेण ने समुद्रगुप्त को **अनेक-भ्रष्ट राजोत्सन्न-राजवंश-प्रतिष्ठापक** कहा है। उन्हें **सर्वराजोच्छेता** कहना उनके इस सत्कार्य के सर्वथा विपरीत होगा। समुद्रगुप्त ने अपने लिए कभी भी **सर्वराजोच्छेता** का प्रयोग न किया होगा। अतः ये सिक्के उनके कदापि नहीं हो सकते। दूसरी बात यह भी है कि इस विरुद का प्रयोग अकेले समुद्रगुप्त के लिए नहीं हुआ है। चन्द्रगुप्त (द्वितीय) को भी प्रभावती गुप्त के पूना ताम्र-शासन में **सर्वराजोच्छेता** कहा गया है।[1]

(४) गुप्त राजाओं के एक से अधिक नाम थे। सम्भव है समुद्रगुप्त का भी अपर अथवा लौकिक नाम काच रहा हो।

किन्तु ऐसी स्थिति में यह स्मरणीय है कि उन सभी राजाओं के, जिनके एक से अधिक नाम थे, सभी सिक्कों पर समान रूप से एक ही नाम का उपयोग हुआ है। कोई कारण नहीं कि समुद्रगुप्त इस परम्परा का अपवाद हो और अपने अकेले एक भाँति के सिक्कों पर अपरिचित नाम दिए हो।

इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि गुप्तों का राज-लांछन गरुड़ध्वज, वीणा-वादक, अश्वमेध, अश्वारोही, सिंहनिहन्ता आदि असाधारण भाँति के सिक्कों को छोड़ कर अन्य सभी सिक्कों पर समुद्रगुप्त के समय से लेकर वंश के अन्तिम राजा तक, समान रूप से सिक्के के स्वरूप का एक अभिन्न अंग है। किसी गुप्त-वंशी शासक के सिक्कों का ऐसा कोई भाँति नहीं है जिसके कुछ सिक्कों पर गरुड़ध्वज हो और कुछ पर न हो। चन्द्रगुप्त (प्रथम) के किसी सिक्के पर गरुड़ध्वज नहीं है, यही अवस्था (बयाना दफीने के एक सिक्के को छोड़ कर) काचगुप्त के सिक्कों की भी है।[2] स्पष्ट है कि काच

---

१. ए० इ० १५, पृ० ४१ आदि, पंक्ति ५।

२. कैटलाग ऑव द क्वायन्स ऑव बयाना होर्ड, पृ० ६२; क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, पृ० ८८।

समुद्रगुप्त से पहले हुआ;[1] और चन्द्रगुप्त (प्रथम) के समान ही उसने पहले अपने सिक्कों पर गरुड़ध्वज का प्रयोग नहीं किया। पीछे चल कर उसने इसे अपनाया, जिसका प्रमाण बयाना दफीने में मिला सिक्का है। और उसके बाद ही गरुड़ध्वज के प्रयोग का प्रचलन हुआ और बाद के सिक्कों का अभिन्न अंग बन गया।

इस प्रकार इन सिक्कों से निश्चित सिद्ध होता है कि समुद्रगुप्त के समानान्तर अथवा उससे कुछ पहले काच नाम का एक शासक हुआ था। राखालदास बनर्जी ने उसके अस्तित्व को स्वीकार करते हुए उसकी पहचान समुद्रगुप्त के भाई के रूप में की है। साथ ही उनकी कल्पना यह भी थी कि वह कुशाणों के विरुद्ध किये गये स्वातन्त्र्य युद्ध में मारा गया; उसकी स्मृति में समुद्रगुप्त ने ये सिक्के प्रचलित किये।[2] यह कल्पना अत्यन्त मौलिक है; किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं, जो इस बात का संकेत दे कि समुद्रगुप्त का कोई भाई कुषाणों के विरुद्ध युद्ध करते हुए मारा गया था। फिर भारतीय परम्परा में स्मारक सिक्कों की कभी कोई प्रथा नहीं रही।

शिथोले (श्री० एस०) की धारणा है कि इन सिक्कों का प्रचलक काच गुप्त वंश का न होकर कोई बाहरी घुसपैठिया है।[3] उनका कहना है कि तोरमाण और मुहम्मद गोरी सदृश आक्रमकों ने अपने विरोधियों के सिक्कों का अनुसरण किया था, इस प्रकार के अनेक उदाहरण भारतीय मुद्रातत्त्व में मिलते हैं। अतः असम्भव नहीं कि जिन दिनों समुद्रगुप्त दक्षिण के अभियान में व्यस्त था, किसी प्रकार का विद्रोह उठा हो और कोई बाहरी घुसपैठा हो। किन्तु इस प्रकार के किसी कल्पना की आवश्यकता नहीं है। साहित्यिक सूत्रों से ज्ञात होता है कि उसके एक भाई ने ही गद्दी हड़पने की चेष्टा की थी।

समुद्रगुप्त और उसके काल के इतिहास की चर्चा करते हुए मंजुश्री-मूलकल्प में कहा गया है कि उसके भस्म नामक एक भाई था, जिसने तीन वर्ष (संस्कृत संस्करण के अनुसार तीन दिन) शासन किया।[4] यह वृत्त बहुत कुछ उलझा हुआ है। उसमें भस्म को विस्तृत विजय का श्रेय दिया गया है। बहुत सम्भव है कि उपलब्ध ग्रन्थ में इस स्थल की कुछ मूल पंक्तियाँ अनुपलब्ध हों, जिसके कारण ही यह उलझन है। हो सकता है कि अनुपलब्ध पंक्तियों में चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का नाम रहा हो। यह भी सम्भव है कि जिन विजयों का उल्लेख है उनका सम्बन्ध समुद्रगुप्त से हो और बीच में काच का उल्लेख केवल प्रासंगिक हो और समुद्रगुप्त के विजय अभियान के बीच उसके राज्याधिकार करने की चेष्टा को व्यक्त किया गया हो। तथ्य जो भी हो, इतना

१. अल्तेकर की धारणा है कि काच समुद्रगुप्त के बाद सामने आया हुआ (क्वायनेज आव द गुप्त इम्पायर, पृ० ८७); किन्तु साथ ही वे इस बात की भी सम्भावना मानते हैं कि काच ने समुद्रगुप्त के दक्षिण चले जाने के समय विद्रोह का झण्डा खड़ा किया होगा।

२. द एज आव द इम्पीरियल गुप्ताज, पृ० ९।

३. ज० न्यू० सो० इ०, १२, पृ० ३८।

४. श्लोक ७१०।

तो स्पष्ट है कि लेखक को समुद्रगुप्त के एक भाई होने और उसके राज्य प्राप्त करने की चेष्टा करने और कुछ काल तक राज्य करने की बात ज्ञात थी।

यह घुसपैठिया भस्म और कोई नहीं काच ही था, यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि काच और भस्म पर्यायवाची से हैं। आप्टे और मोनियर विलियम्स सदृश कोषकारों ने काच का अर्थ क्षारीय भस्म (अल्कलाइन एंशेज) बताया है।

समुद्रगुप्त के इस घुसपैठिये प्रतिद्वन्द्वी भाई के सम्बन्ध में और कुछ ज्ञात नहीं है। सम्भव है वह समुद्रगुप्त के असाधारण शौर्य से भयभीत होकर उसके सम्मुख नत-मस्तक हो गया हो! यह भी सम्भव है कि वह समुद्रगुप्त के विरुद्ध युद्ध करता हुआ मारा गया हो।

समुद्रगुप्त

समुद्रगुप्त चन्द्रगुप्त के अनेक बेटों में से एक थे और जैसा कि हम देख चुके है. उन्हें उनके पिता ने भरी सभा में अपना उत्तराधिकारी शासक मनोनीत किया था। किन्तु आरम्भ में उन्हें अपने भाइयों के विद्रोह का, जिसका नेतृत्व सम्भवतः काच ने किया था, सामना करना पड़ा।

अपने विद्रोही भाई काच को परास्त कर चुकने के बाद समुद्रगुप्त ने तत्कालीन उत्तर भारत में बिखरे हुए छोटे-छोटे राज्यों को जीत कर अपनी शक्ति सुदृढ़ करने की ओर ध्यान दिया और भारत में राजनीतिक एकता स्थापित कर अपने को एकराट् बनाने का प्रयत्न किया। विजय-अभियान की उन्होंने जो विशाल योजना बनायी थी उसका विशद उल्लेख प्रयाग-प्रशस्ति में प्राप्त होता है।

प्रयाग-स्तम्भ पर उत्कीर्ण प्रशस्ति को महादण्डनायक ध्रुवभूति के पुत्र हरिषेण ने रचा था। वह स्वयं महामात्य था और खाद्यटपाकिक, सन्धि-विग्रहिक, महादण्डनायक के पदों पर आसीन था। सम्भवतः वह राजा के साथ विजय अभियान में गया था। इस प्रकार तत्कालीन घटनाओं से उसका निकट का परिचय था। उसने न केवल सामान्य ढंग से शत-समर में सम्राट् की योग्यता का, जिसके कारण उनके शरीर में घावों के निशान थे, सामान्य रूप में उल्लेख किया है, वरन् एक-एक शत्रु का नामोल्लेख भी किया है, जिनसे उन्हें लड़ना पड़ा था। उसके इस लेख को इतिहास के प्रामाणिक साधन के रूप में ग्रहण किया और उसके विवरण को सत्य कहा जा सकता है।

अभिलेख के प्रथम अंश के छ श्लोकों में समुद्रगुप्त की शिक्षा, उन पर आने वाले उत्तरदायित्व और महान् पद के ग्रहण करने की तैयारी का उल्लेख है। उनमें युवक समुद्रगुप्त का वर्णन है। पहले दो श्लोक तो प्रायः नष्ट हो गये हैं; किन्तु जो शब्द बच रहे हैं, उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने पिता के जीवन काल में ही कुछ सफल युद्ध किये थे। तीसरे श्लोक में विद्वान् के रूप में उनकी उपलब्धि का उल्लेख है। चौथे और उसके बाद के दो श्लोकों में उनके शासक मनोनीत होने की घटना और उनके भाइयों के विद्रोह की चर्चा है।

सातवें श्लोक से उनकी सामरिक सफलता की चर्चा आरम्भ होती है। इस श्लोक के पूरे भाव ग्रहण कर पाना सम्भव नहीं है क्योंकि उसका एक अंश नष्ट हो गया है तथापि प्रसंग और अगले गद्यांश से ऐसा प्रकट होता है कि उन्होंने अच्युत, नागसेन, गणपतिनाग[1] और कोत-कुल के किसी राजा पर पूर्ण विजय प्राप्त की थी। इसके बाद

---

1. स्तम्भ पर केवल प्रारम्भिक अक्षरमात्र बच रहा है। गणपतिनाग का नाम अन्य दो नामों— अच्युत और नागसेन के साथ आगे इसी अभिलेख में मिलता है, इस कारण अनुमान है कि यहाँ भी गणपति नाग का ही नाम रहा होगा।

कहा गया है कि वे आनन्दोत्सव के लिए पुष्प नामक नगर में रुके। इस अंश का पत्थर छिल गया है, जिसके कारण इन घटनाओं के सम्बन्ध में समुचित जानकारी नहीं हो पाती।

जो भी हो, समझा जाता है कि जिन दिनों समुद्रगुप्त उत्तराधिकार के विवाद में व्यस्त थे, इन राजाओं ने मिल कर समुद्रगुप्त के गृह-कलह का लाभ उठाना चाहा अथवा उनके राज्यारोहण को चुनौती दी।[1] इन राजाओं के संघ ने उन पर पाटलिपुत्र[2] में आक्रमण किया और उन्हें अपनी ही राजधानी में उनके विरुद्ध युद्ध करना पड़ा। बहुत सम्भव है कि कवि ने इस स्थल पर सफल सैनिक अभियान के पश्चात् समुद्रगुप्त के अपनी राजधानी में प्रवेश करने का वर्णन किया हो।

कुछ लोगों की यह भी धारणा है कि उन दिनों कोत लोग पाटलिपुत्र में शासन करते थे। उन्हें परास्त कर समुद्रगुप्त ने पाटलिपुत्र पर अधिकार किया।[3] किन्तु इन मतों में से किसी भी धारणा को पुष्ट करने वाले कोई समुचित प्रमाण नहीं हैं। यदि हम पुष्प का तात्पर्य पाटलिपुत्र ग्रहण करें, तो उपर्युक्त राजाओं पर समुद्रगुप्त के विजय के साथ उसका किस प्रकार का सम्बन्ध है, नहीं कह सकते।

ये राजे इस प्रकार पहचाने जाते हैं---

अच्युत--- उत्तर पंचाल की राजधानी अहिच्छत्रा (रामनगर, जिला बरेली, उत्तर प्रदेश) में कुछ ताँबे के सिक्के प्राप्त हुए हैं,[4] जिन पर अच्यु अंकित पाया जाता है। रैप्सन[5] और स्मिथ[6] का सुझाव है कि अच्युत इसी राज्य का शासक था और ये सिक्के उसी के हैं। उनकी इस पहचान से प्रायः सभी विद्वान् सहमत हैं।

नागसेन---यह सम्भवतः उन नाग राजाओं में से था जो पुराणों के अनुसार दो स्थानों---चम्पावती अर्थात् पद्मावती (ग्वालियर में नरवर से २५ मील उत्तर-पूर्व स्थित पदम-पवाया) और मथुरा में राज्य करते थे। बाण ने हर्षचरित में कहा है कि 'नागवंशीय नागसेन का पद्मावती में अन्त हुआ, उसने अपनी नीति सम्बन्धी गुप्त वार्ता की चर्चा सारिका के सम्मुख की थी और उसने उसे चिल्ला कर प्रकट कर दिया।[7] रैप्सन ने

---

१. ज० इ० हि०, परिशिष्ट, पृ० २४, २७, ३७।

२. दशकुमारचरित में पाटलिपुत्र को पुष्पपुर कहा गया है। युवान-च्वांग ने पाटलिपुत्र का उल्लेख कु-सु-मो-पु-लो अथवा को-सु-मो-पु-लो के रूप में किया है (बुद्धिस्ट रेकार्ड्स् ऑव द वेस्टर्न वर्ल्ड, २, पृ० ८३)। इनसे जान पड़ता है कि पुष्पपुर और कुसुमपुर पाटलिपुत्र के बहुविख्यात पर्याय थे। लोगों की यह भी धारणा है कि पाटलिपुत्र गुप्तों की राजधानी थी।

३. ज० बि० उ० रि० सो०, १९, पृ० ११३, ११९।

४. ब्रि० म्यू० मु० सू०, गु० वं०, भूमिका, पृ० ७५; मूल पृ० ११७।

५. ज० रा० ए० सो०, १८९७, पृ० ४२०।

६. वही, पृ० ८६२; इ० म्यू० मु० सू०, १, पृ० १८५, १८८-८९।

७. नागकुल जन्मनः सारिका श्रावित मन्त्रस्य आसीत नाशो नागसेनस्य पद्मावत्याम् (निर्णयसागर प्रेस सं०, पृ० २००)।

अभिलेख उल्लिखित नागसेन की पहचान पद्मावती के इसी नागवंशी नागसेन से की है।[1]

गणपतिनाग—गणपतिनाग को एक हस्तलिखित ग्रन्थ में धाराधीश कहा गया है।[2] बेसनगर से प्राप्त सिक्कों से भी गणपतिनाग का पता लगता है।[3] इसलिए भण्डारकर ने गणपतिनाग का राज्य विदिशा में बताया है;[4] किन्तु अल्तेकर का कहना है कि गणपतिनाग के सिक्के विदिशा की अपेक्षा मथुरा में अधिक मिलते हैं।[5] मथुरा में एक नाग-वंशी राज के होने का पता पुराणों से लगता है। अतः बहुत सम्भव है कि यह मथुरा-नरेश हो।

कोत-कुल—ऊपर कहा गया है कि कुछ लोग कोत-कुल के पाटलिपुत्र में होने की बात कहते हैं; किन्तु राधाकुमुद मुकर्जी के मत में उनका राज्य कोसल में था[6] और रायचौधुरी (हे० च०) का कहना है कि वे गंगा के उपरले भूभाग में रहते रहे होंगे।[7] दोनों ही का मत उन सिक्कों पर आधारित है कि जिन पर कोत नाम मिलता है और श्रावस्ती से मिलने वाले श्रुत के सिक्कों से बहुत मिलते-जुलते हैं।[8] किन्तु तथ्य यह है कि कोत और श्रुत दोनों के सिक्के केवल पंजाब और दिल्ली के आसपास मिलते हैं[9] और उनका एक भी सिक्का कोसल में नहीं मिला है। श्रावस्ती में श्रुत के सिक्के मिलने की बात किस आधार पर कही गयी है, यह हमारे लिए जान सकना सम्भव नहीं हो सका। कनिंगहम का कहना है कि ताँबे के ये सिक्के ५०० और ८०० ई० के बीच पंजाब और राजपूताना (राजस्थान) में प्रचलित थे।[10] अतः इन सिक्कों को अभिलेख के कोत-कुल का नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः कोत लोग गंगा घाटी के उपरले भाग में दक्षिण पंजाब में राज्य करते थे, जहाँ पुष्पपुर, प्राचीन कान्यकुब्ज (कन्नौज) अवस्थित है।[11]

इन राजाओं के विजय को आर्यावर्त का पहला अभियान कहा गया है। इस

---

१. ज० रा० ए० सो, १८९८, पृ० ४४९।

२. काशीप्रसाद जायसवाल, केटलाग ऑव मिथिला मैन्यूस्क्रिप्ट्स, २, पृ० १०५; भावशतक (काव्यमाला सीरीज, १, ५; ८००)।

३. आ० स० इ०, ए० रि०, १९१३–१४, पृ० २१३।

४. इ० हि० क्वा०, १, पृ० २५५।

५. वाकाटक-गुप्त एज, पृ० १४१, पा० टि० २।

६. गुप्त इम्पायर, पृ० २०।

७. पो० हि० ए० इ०, ५वाँ सं०, पृ० ५३७।

८. ज० रा० ए० सो०, १८९८, पृ० ४४९।

९. इ० म्यु० मु० सू०, १, पृ० २५८।

१०. इ० म्यू० मु० सू०, १, पृ० २५८ में उद्धृत।

११. युवान-च्वांग का कथन है कि कान्यकुब्ज की पुरानी राजधानी पहले कुसुमपुर कही जाती थी (बुद्धिस्ट रेकर्ड्स ऑव द वेस्टर्न वर्ल्ड, १, पृ० ८१)।

अभियान के फलस्वरूप, गुप्त-साम्राज्य का गंगा-यमुना की घाटी में पश्चिम में मथुरा और पद्मावती तक फैल गया और इन राजाओं के अधिकार का पूर्णतः उन्मूलन हो गया। काशीप्रसाद जायसवाल का अनुमान है कि इस अभियान का मुख्य युद्ध कौशाम्बी में हुआ था। वही अहिच्छत्रा, मथुरा, कान्यकुब्ज और पद्मावती के राजाओं के एकत्र होने के लिए सुविधाजनक स्थान था।[१] प्रयाग-स्तम्भ मूलतः कौशाम्बी में ही था, इस तथ्य के प्रकाश में उनका यह अनुमान सम्भव जान पड़ता है। बहुत सम्भव है कि जान-बूझकर उक्त प्रशस्ति उस स्थान पर लगायी गयी हो, जहाँ समुद्रगुप्त ने अपनी विजय-यात्रा में पहली विजय प्राप्त की थी।

गंगा और यमुना के दोआब में अपना साम्राज्य सम्हालने के पश्चात् समुद्रगुप्त दक्षिण विजय के लिए निकले। अभिलेख की उन्नीसवी और बीसवीं पंक्ति में कहा गया कि उन्होंने सर्व-दक्षिणापथ-राज को पराजित किया। उनके दक्षिण-विजय की तीन विशेषताएँ थीं—(१) ग्रहण (शत्रु पर अधिकार); (२) मोक्ष (शत्रु की मुक्ति) और (३) अनुग्रह (राज्य को लौटा कर शत्रु के प्रति उदारता)।

विजेता की इस इच्छा पूर्ति मात्र के लिए कि लोग उन्हें चक्रवर्ती के रूप में जानें और मानें, सुदूर दक्षिण में यही नीति उचित और सम्भव थी। अभिलेख में दक्षिणापथ के बारह राजाओं का नामोल्लेख है जो पराजित होकर पकड़े और फिर अनुग्रहपूर्वक मुक्त कर दिये गये थे।

जिस क्रम से अभियान का उल्लेख अभिलेख में हुआ है, उसी क्रम को लोग समुद्रगुप्त की दक्षिण-यात्रा के मार्ग का क्रम अनुमान करते हैं, क्योंकि यह भौगोलिक और सामरिक दोनों दृष्टियों से स्वाभाविक है।

कोसल—यह दक्षिण कोसल था जिसकी राजधानी श्रीपुर (आधुनिक सिरपुर-मध्यप्रदेश में बिलासपुर से ४० मील पूरब उत्तर) थी।[२] मध्यप्रदेश के बिलासपुर, रायपुर और दुर्ग के जिले तथा उड़ीसा का सम्भलपुर जिला और गंजाम का कुछ भाग उसके अन्तर्गत था। वहाँ का राजा महेन्द्र था।

महाकान्तार—महाकान्तार का राजा व्याघ्रराज था। व्याघ्रराज नामक एक राजा की चर्चा गंज और नचना-कुठारा से प्राप्त अभिलेखों में हुई है। उसे उच्छकल्प वंश के जयनाथ का पिता अनुमान किया जाता है। जयनाथ का समय कलचुरि संवत् १७४ के रूप में ज्ञात है, इस प्रकार यह चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का समकालिक प्रतीत होता है। अतः उसका पिता समुद्रगुप्त का समकालिक कहा जा सकता है। इसके आधार पर राखालदास बनर्जी का कहना है कि महाकान्तार पूर्वी गोंडवाना का वन्य-

---

१. हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० १३२।

२. का० इ० इ०, ३, पृ० २९३; ए० इ०, ११, पृ० ११८ आदि भी देखिये

प्रदेश (विंध्य के जंगल) को महाकान्तार कहा जा सकता है।[1] स्मिथ के अनुसार यह राज्य उत्तर में नचना (अजयगढ़) तक फैला रहा होगा।[2]

किन्तु उच्छकल्प-वंशीय व्याघ्रराज को महाकान्तार-नरेश व्याघ्रराज मानने में कठिनाई यह है कि उसके और उसके बेटे के अभिलेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि उसका राज्य बघेलखण्ड में ही सीमित था; और यह प्रदेश आटविक के अन्तर्गत था, जिसका प्रयाग प्रशस्ति में अलग से उल्लेख हुआ है। महाकान्तार को कोसल के निकट ही दक्षिण की ओर होना चाहिए। इस प्रसंग में रायचौधुरी (हे० च०) ने इस ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि महाभारत में कान्तार का उल्लेख है जो वेणवतट (बेनगंगा की घाटी) और प्राक्कोसल (कोसल का पूर्वी भाग) के बीच स्थित था।[3] तदनुसार उनका कहना है कि मध्यप्रदेश का वन्य-भाग ही महाकान्तार था।[4] जोवियाउ दुब्रियुल का कहना है कि वह उड़ीसा में सोनपुर के दक्षिण था।[5] राधाकुमुद मुखर्जी ने उसकी राजधानी महानदी तटवर्ती सम्भलपुर को माना है।[6] काशीप्रसाद जायसवाल रायपुर जिले से सटे काँकर और बस्तर को महाकान्तार कहते हैं।[7] यही मत सथियानाथन् का भी है।[8] रामदास ने उसे गंजाम और विजगापट्टन (विशाखापत्तन) का झाड़खण्ड भाग माना है।[9] किन्तु मजूमदार (र० च०) का कहना है कि वह उड़ीसा स्थित जयपुर का वन्य-प्रदेश था। उसे एक परवर्ती अभिलेख में महावन कहा गया है जो महाकान्तार का पर्याय हो सकता है।[10]

कौरल-- कौरल की पहचान फ्लीट किसी देश अथवा नगर के रूप में करने में असमर्थ रहे। दक्षिण के सुप्रसिद्ध देश केरल का उल्लेख अभिलेख में न होने से उनको आश्चर्य हो रहा था। अतः उन्होंने यह कल्पना प्रस्तुत की कि यह केरल का अपरूप है।[11] किन्तु स्पष्ट भौगोलिक कठिनाइयों के कारण उनका यह संशोधन किसी प्रकार ग्राह्य नहीं है। कीलहार्न ने कौरल को कुणाल का अपरूप माना है।[12] कुणाल की चर्चा आयहोले अभिलेख में हुआ है: उसे पुलकेशिन ने विजित किया था। जायसवाल ने

---

१. द एज आव इम्पीरियल गुप्ताज, पृ० १४।
२. ज० रा० ए० सो०, १९१४, पृ० ३२०।
३. २।२१।१२-१३।
४. पो० हि० ए० इ०, ५वाँ सं०, पृ० ५३९।
५. एन्शियण्ट हिस्ट्री आव डकन, पृ० ६१।
६. गुप्त इम्पायर, पृ० १२६।
७. हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० १२६।
८. स्टडीज इन द एन्शियण्ट हिस्ट्री ऑव टोण्डमण्डलम, पृ० १३ आदि।
९. इ० हि० क्वा०, १, पृ० ६८४।
१०. द क्लासिकल एज, पृ० ९।
११. का० इ० इ०, ३, पृ० ७, पा० टि० १।
१२. ए० इ० ६, पृ० ३, पा० टि० ३; इ० ए०, १४, पृ० ५७।

कौरल की पहचान कोल्लुरु (कोलेर झील) से करने का प्रयत्न किया है ।[१] एलन ने उनके इस मत का समर्थन किया है ।[२] किन्तु यह स्थान वेंगीपुर के अत्यन्त निकट है और दण्डी ने इसे झील के किनारे स्थित आन्ध्रनगरी कहा है; अतः यह वेंगी नरेश हस्तिवर्मन के राज्य के अन्तर्गत रहा होगा, जिनका अभिलेख में स्वतन्त्र उल्लेख है । भण्डारकर (द० रा०) ने कौरल की पहचान महानदी तट स्थित सोनपुर जिले के ययाति नगर से की है, क्योंकि कवि धोयी ने अपने पवनदूतम् में उसका सम्बन्ध केरली से बताया है ।[३] किन्तु उक्त ग्रन्थ में केरली पाठ सन्दिग्ध है । सथियानाथियर ने कौरल की पहचान चेरल (नागपुर तालुका, जिला पूर्वी गोदावरी) से करने की बात कही है ।[४] कृष्णराव (बी० वी०) ने कौरल की पहचान बेलनौती राजेन्द्र चोल (प्रथम) के महेन्द्रगिरि स्तम्भ-लेख[५] में उल्लिखित कुलूत (मध्यप्रदेश स्थित चाँदा जिला) के साथ करने की बात कही है ।[६] बार्नेट (एल० डी०) की धारणा है कि इसकी पहचान दक्षिण भारत स्थित कोरड से की जानी चाहिए ।[७] रायचौधुरी (हे० च०) का कहना है कि यह गंजाम जिले में रसेलकोण्ड के निकट स्थित कोलड है ।[८] उपर्युल्लिखित स्थानों में से किसी के साथ कौरल की निश्चित रूप से पहचान कर सकना कठिन है; इतना ही निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वह पूर्वी तटवर्ती पट्टी में ही कहीं था, दकन के दक्षिणी भाग में नहीं । वह महाकान्तार से अधिक दूर न रहा होगा । वहाँ का राजा मण्टराज था ।

पिष्टपुर— गोदावरी जिले का वर्तमान पीठापुरम् । उस समय यहाँ का राजा महेन्द्रगिरि था ।

कोट्टूर—फ्लीट ने इसे कोयम्बतूर जिले में अन्नमलाई पर्वत के एक दर्रे के नीचे स्थित कोल्लूर से की है ।[९] मलातूर उसे बेलारी जिले में कुडलिगी तालुका स्थित कोत्तूर मानते हैं ।[१०] आयंगार का मत है कि उसकी पहचान कोयम्बतूर जिले से की जानी चाहिए ।[११] संथानाथियर इसे पूर्वी गोदावरी जिले में तूनी के निकट स्थित कोत्तूर समझते हैं ।[१२] किन्तु भौगोलिक दृष्टि से इसकी पहचान गंजाम जिले में महेन्द्रगिरि से १२ मील

---

१. हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० १२७ ।
२. ब्रि० म्यु० मु० सू०, गु० वं०, भूमिका, पृ० २३ ।
३. इ० हि० क्वा०. १, पृ० २५२ ।
४. स्टडीज इन द एन्शियण्ट हिस्ट्री ऑव टोण्डमण्डलम्, पृ० १५ ।
५. साउथ इण्डियन इन्स्क्रप्शन्स, ५, सं० १३५ ।
६. अर्ली डाइनेस्ट्रीज ऑव आन्ध्रदेश, पृ० ३६६ ।
७. बु० स्कू० ओ० स्ट०, २, पृ० ५७० ।
८. पो० हि० ए० इ०, ५वाँ सं०, पृ० ५३९ ।
९. का० इ० इ० ३, पृ० ८, पृ० ७ की पाद टिप्पणी ।
१०. अ० भ० ओ० रि० इं०, २६, पृ० १२० ।
११. स्टडीज इन गुप्त हिस्ट्री, पृ० २७ ।
१२. स्टडीज इन द एन्शियण्ट हिस्ट्री ऑव टोण्डमण्डलम्, पृ० १५ ।

दक्षिण-पूर्व स्थित कोथूर[1] अथवा विजिगापट्टन (विशाखापत्तन) जिले में पहाड़ियों की तलहटी में स्थित कोत्तूर करना उचित होगा।[2] यह राजा स्वामिदत्त के अधीन था।

एरण्डपल्ल—फ्लीट ने इसे खानदेश स्थित एरण्डोल बताया था।[3] एलन[4] और गुप्ते (वाई० आर०)[5] ने इसका समर्थन किया है। किन्तु एरण्डपल्ल का उल्लेख कलिंग के देवेन्द्रवर्मन के सिद्धान्तम् ताम्रशासन में हुआ है और वह कलिंग में था। इसकी ओर समुचित रूप से जौवियाउ दुब्रयूल ने ध्यान आकृष्ट किया है।[6] कलिंग में इसकी पहचान (१) विजगापट्टम् (विशाखापत्तन्) जिले के शिकाकुल के निकट स्थित अरण्डपल्ली, (२) उसी जिले के एण्डीपल्ली और (३) एलोर तालुका के एण्डपल्ली में से किसी से की जा सकती है। किन्तु सथियानाथियर की धारणा है कि वह पश्चिमी गोदावरी जिले के चेण्टलपुडी तालुका स्थित एर्रगुण्टपल्ली है।[7] यहाँ का शासक दमन था।

काँची—यह चेंगलपुट जिले का सुप्रसिद्ध काँचीपुरम् (काँजीवरम्) है। काँची का राज्य सम्भवतः कृष्णा के मुहाने से लेकर पालेर नदी और कहीं-कहीं तो कावेरी नदी के दक्षिण तक फैला हुआ था। यहाँ के राजा विष्णुगोप की पहचान पल्लववंशी युवामहाराज विष्णुगोपवर्मन (प्रथम) से की जा सकती है, जिनका उल्लेख उरुवपाकी और नेडुंगराय अभिलेखों में मिलता है।

अवमुक्त—सम्भवतः यह काँची और वेंगी के बीच में स्थित कोई छोटा-सा राज्य था। इसकी अभी तक समुचित पहचान नहीं की जा सकी है। काशीप्रसाद जायसवाल का इस नाम और हाथीगुम्फा अभिलेख में उल्लिखित आवा, जिसकी राजधानी पिथुण्डा कहा गया है, में समानता जान पड़ी है।[8] रायचौधुरी को यहाँ के नरेश नीलराज के नाम से गोदावरी जिले में येमाम के निकट नीलपल्ली नामक समुद्रतटवर्ती प्राचीन पत्तन का ध्यान हो आया है।[9] ब्रह्मपुराण में गौतम (गोदावरी) तटस्थित अविमुक्त क्षेत्र का उल्लेख हुआ है।[10]

वेंगी—कृष्णा और गोदावरी के बीच एल्लोर से ७ मील उत्तर स्थित वेंगी अथवा पेडुवेंगी के साथ इसकी पहचान की जाती है। यहाँ का राजा हस्तिवर्मन था। हुल्श ने

---

१. पो० हि० ए० इ०, ५वाँ सं०, पृ० ५३९।
२. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, विजिगापट्टम्, १, पृ० १३७।
३. का० इ० इ०, ३, पृ० १३।
४. ब्रि० म्यू० मु० सू०, गु० वं०, भूमिका, पृ० २३–२९।
५. हिस्ट्री ऑव द गुप्ताज, पृ० ५२ पर उद्धृत।
६. एन्शिएण्ट हिस्ट्री ऑव डकन, पृ० ५८–६१।
७. स्टडीज इन द एन्शिएण्ट हिस्ट्री ऑव टोण्डमण्डलम्, पृ० १५।
८. हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० १३८।
९. पो० हि० ए० इ०, ५वाँ सं०, पृ० ५४०।
१०. ११३।२२।

हस्तिवर्मन की पहचान सुविख्यात सन्त आनन्द के वंश के अत्तिवर्मन से की है।[1] किन्तु शालंकायन वंश की सूची में हस्तिवर्मन का नाम प्राप्त होता है,[2] इससे अधिक सम्भावना है कि उसका सम्बन्ध इसी वंश से रहा होगा।

पालक—आरम्भ में स्मिथ में इसकी पहचान मलाबार जिले के उत्तर स्थित पाल-घाट अथवा पलक्कड़ु से की थी, पीछे जब दुब्रयूल ने यह स्पष्ट प्रमाणित कर दिया कि समुद्रगुप्त मलाबार तट की ओर कभी गया ही नहीं,[3] तब उन्होंने अपना यह विचार त्याग दिया।[4] रायचौधुरी का कहना है कि पालक सम्भवतः गुण्टूर अथवा नौलोर स्थित पलक्कड अथवा पालत्कट है।[5] वेंकैया का कहना है कि अनेक पल्लव शासनों में राजधानी के रूप में पालक नाम का उल्लेख हुआ है, यह वही पालक हो सकता है और वह नेलोर जिले में कृष्णा के दक्षिण स्थित था।[6] एलन[7] और रामदास[8] भी उसकी अवस्थिति नेलोर जिले में स्वीकार करते हैं।

देवराष्ट्र—फ्लीट ने इसे महाराष्ट्र में बताया था।[9] गुप्ते (वाई० आर०) ने उनका समर्थन करते हुए कहा कि देवराष्ट्र के अन्तर्गत सतारा जिले के खानपुर और कराड ताल्लुकों के अंश थे। आज भी खानपुर तालुका में देवराष्ट्र का नाम देवराथे नामक ग्राम के रूप में जीवित है।[10] सथियानाथन की भी यही धारणा रही है।[11] किन्तु दुब्रयूल[12] ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया कि विजगापट्टम् (विशाखापत्तन्) जिले के कासिम कोट से जो ताम्रशासन प्राप्त हुआ है, उसमें देवराष्ट्र का उल्लेख एक प्रदेश के रूप में किया गया है। यह ताम्रशासन पूर्वी चालुक्य भीम (प्रथम) का है। उसमें एलमांची नामक ग्राम की चर्चा है जो देवराष्ट्र प्रदेश में स्थित था। एलामांची की पहचान विशाखापत्तन् जिला स्थित एलामांचिली से की जा सकती है। इस अवस्थिति का समर्थन एक अन्य अभिलेख से होता है, जिसमें कहा गया है कि पिष्टपुर गुणवर्मन

---

१. इ० ए०, ९, पृ० १०२; इ० हि० क्वा०, १, पृ० २५३।

२. नन्दिवर्मन (द्वितीय) का पेडुवेगी शासन (इ० हि० क्वा० १९२७, पृ० ४२९; १९३३; पृ० २१२)।

३. एन्शियण्ट हिस्ट्री ऑव डकन, पृ० ६०।

४. अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, ४था सं०, पृ० ३०१।

५. पो० हि० ए० इ०, ५वाँ सं०, पृ० ५४०।

६. हिस्ट्री ऑव द गुप्ताज, पृ० ५४ पर उद्धृत।

७. ब्रि० म्यु० मु० सू०, भूमिका, पृ० २३।

८. इ० हि० क्वा० १, पृ० ६९८; ए० इ०, २४, पृ० १४०।

९. का० इ० इ०, ३, पृ० १३।

१०. हिस्ट्री ऑव द गुप्ताज, पृ० ५२ पर उद्धृत।

११. स्टडीज इन द एन्शिएण्ट हिस्ट्री ऑव टोण्डमण्डलम्, पृ० १६।

१२. एन्शिएण्ट हिस्ट्री ऑव डकन, पृ० १६०; आ० स० इ०, ए० रि०, १९०८-०९, पृ० १२३; १९३४-३५, पृ० ४३; ६५।

शासित देवराष्ट्र राज्य का अंग था।[1] समुद्रगुप्त के अभियान के समय वहाँ का शासक कुबेर था।

कौस्थलपुर—दक्षिण अभियान में विजित राज्यों की सूची में यह नाम अन्तिम है। यहाँ का शासक धनंजय था। इस स्थान की अभी तक समुचित पहचान नहीं की जा सकी है। बार्नेट (एल० डी०) की धारणा रही है कि वह उत्तरी अर्काट में पोलर के निकट स्थित कुट्टलूर है।[2] किन्तु आयंगार का मत है कि यह प्रदेश कुशस्थली नदी के आस-पास था[3]।

विजित राज्यों की उपर्युक्त भौगोलिक अवस्थिति पर विचार करने से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि समुद्रगुप्त का यह सामरिक अभियान बंगाल की खाड़ी के तटवर्ती दक्षिण के पूर्वी भाग तक ही सीमित था। मध्यप्रदेश के वन्य-प्रदेशों से होते हुए समुद्रगुप्त की सेना उड़ीसा तट की ओर बढ़ी और वहाँ से गंजाम, विजिगापट्टम् (विशाखापत्तन्), गोदावरी, कृष्णा, नैलोर जिलों से गुजरती हुई मद्रास के दक्षिण काँची (आधुनिक काँचीपुरम्—काँजीवरम्) के सुप्रसिद्ध पल्लव राज्य तक पहुँची।

फ्लीट और उनका अनुसरण करते हुए अन्य कई विद्वानों ने मत व्यक्त किया है कि समुद्रगुप्त ने लौटते समय पश्चिमी तटवर्ती कुछ राजाओं को विजित किया था। इन विद्वानों ने कौरल को केरलपुत्र (मदुरा) अथवा दक्षिण के चेर राज्य से, कोट्टूर को कोयम्बतूर जिला स्थित कोथुरपोलाची से, पालक को मलाबार तटवर्ती पालघाट से, एरण्डपल्ल को खानदेश स्थित एरण्डोल से और देवराष्ट्र को महाराष्ट्र से पहचानने की चेष्टा की है। इस प्रकार अभियान के जिस रूप की कल्पना इन विद्वानों ने की है, उसके अनुसार अभियान के स्वाभाविक क्रम में समुद्रगुप्त को वेंगी और काँची के दक्षिणतम राज्यों के पराजित करने के बाद ही मलाबार तट की ओर बढ़ना चाहिए और वहाँ से पश्चिमी तट के उत्तरी राज्यों को जीतते हुए मध्यप्रदेश को रौंदते हुए अपनी राजधानी को वापस आना चाहिए था। अभिलेख में जिस क्रम से उल्लेख हुआ है, उसका इन विद्वानों के कथनानुसार यह अर्थ होता है कि वह पहले दक्षिण की ओर गया और फिर अचानक पश्चिम की ओर चला गया और तब फिर सुदूर दक्षिण की ओर लौटा। यह बात विचित्र-सी लगती है। यदि हम इस वैचित्र्य को किसी प्रकार गले उतार भी लें तो यह समझ पाना कठिन है कि समुद्रगुप्त पूर्व तट से एकदम पश्चिम तट पर बिना मध्यवर्ती राज्यों को पार किये महाराष्ट्र और खानदेश तक कैसे पहुँच गया। इन सारी विसंगतियों को देखते हुए और अभियान को व्यवस्थित गति देने वाले उपर्युक्त भौगोलिक विवेचन के प्रकाश में इन विद्वानों की कल्पना का कोई महत्व नहीं

---

१. ए० इ०, ३३, पृ० ५७।

२. कलकत्ता रिव्यू, फरवरी १९२४, पृ० २५३।

३. स्टडीज इन गुप्त हिस्ट्री, पृ० २७।

दिया जा सकता। समुद्रगुप्त के मलाबार तट की ओर जाने और महाराष्ट्र तथा खानदेश पर विजय प्राप्त करने का कोई प्रमाण नहीं है।

रमेशचन्द्र मजूमदार की धारणा है कि बंगाल की खाड़ी के किनारे-किनारे समुद्रगुप्त ने जो यह अभियान किया था, वह जल और थल सेना का संयुक्त अभियान था। उसमें दोनों ने भाग लिया था। उनकी इस कल्पना के लिए कोई निश्चित आधार नहीं है, उनका यह कथन केवल इस आधार पर है कि भारतीय महासागर के अनेक द्वीपों को इस महान् गुप्त सम्राट् ने या तो विजित किया था या भयभीत होकर उन्होंने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। इससे प्रकट होता है कि उनके पास एक शक्तिशाली नौसेना भी थी।[१]

दुब्रयूल का मत है कि समुद्रगुप्त अपने अभियान में पहले कुछ राजाओं को पराजित करता हुआ कृष्णा तक बढ़ गया; किन्तु शीघ्र ही उसे पूर्वी दक्कन के राजाओं के संघ की अधिक बलवती सेना का सामना करना पड़ा। अतः वह अपना विजय-अभियान समाप्त कर अपनी राजधानी लौट आया।[२] किन्तु यह उनकी कोरी कल्पना है। इसे अभिलेख अथवा किसी अन्य साधन से प्रमाणित नहीं किया जा सकता। समुद्रगुप्त ने वेंगी और काँची पहुँच कर हस्तिवर्मन और विष्णुगोप को पराजित किया ही था, इसमें तो सन्देह किया ही नहीं जा सकता। यह अवश्य है कि वेंगीनरेश को पराजित किये बिना काँची नहीं जाया जा सकता था। अतः सम्भव है कि वेंगी और काँची नरेशों ने संयुक्त रूप से उसका सामना किया हो। सैनिक दृष्टि से तो अभियान निःसन्दिग्ध सफल रहा, पर उससे किसी प्रकार का भूविस्तार नहीं हुआ, यह मानना होगा।

समुद्रगुप्त यद्यपि दक्षिण के बारह राजाओं को पराजित करने और बन्दी बनाने में समर्थ रहा किन्तु वह अपने सामर्थ्य और साधन को भी अच्छी तरह समझता था। वह जानता था कि इन दूरस्थ प्रदेशों पर स्थायी रूप से राज्य कर सकना सम्भव न होगा। अतः उसने एक कुशल दूरदर्शी की भाँति अपने बन्दियों के मोक्ष करने और उनको उनका राज्य लौटा कर अनुग्रह करने की बुद्धिमत्ता दिखायी। उसका यह कार्य उसकी राजनीतिक महत्ता का परिचायक है।

समुद्रगुप्त ने दक्षिण की ओर सैनिक अभियान किया था, किन्तु समूचे अभिलेख में दक्षिण के पराजित राजाओं में उन वाकाटकों की कहीं भी कोई चर्चा नहीं है, जो केन्द्रीय और पश्चिमी दकन की प्रमुख शक्ति थे। यह बात बहुत ही आश्चर्यजनक सी लगती है। अतः कुछ विद्वानों का मत है कि तात्कालिक वाकाटक नरेश रुद्रसेन (प्रथम) का उल्लेख अभिलेख की २१वीं पंक्ति में आर्यावर्त के पराजित किये गये राजाओं के साथ हुआ है। किन्तु यह भूलना न चाहिए

---

१. एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० २४३।

२. एन्शिएण्ट हिस्ट्री ऑव डकन, पृ० ६०-६१।

कि प्रयाग अभिलेख में उल्लिखित रुद्रदेव उत्तर भारत का शासक था और वाकाटक वंशी रुद्रसेन दक्षिण नरेश थे। दो कदापि एक नहीं हो सकते।

दाण्डेकर (आर० एन०)[1] का और रायचौधुरी (हे० च०)[2] की दृष्टि में एरण अभिलेख से इस बात का स्पष्ट बोध होता है कि समुद्रगुप्त ने वाकाटकों को मालवा अर्थात् मध्य भारत के उत्तरी-पूर्वी भूभाग से वंचित कर दिया था। किन्तु जैसा कि अल्तेकर ने इंगित किया है,[3] समुद्रगुप्त की प्रशस्ति के रूप में प्रयाग अभिलेख में उनकी विविध सफलताओं का सविस्तार वैभवपूर्ण चित्रण किया गया है। पाठकों पर उसका आतंकपूर्ण प्रभाव जताने के लिए शक राजाओं का, जिन्होंने कदाचित् नाम-मात्र की ही अधीनता स्वीकार की थी विस्तृत राजकीय उपाधि के साथ उल्लेख किया गया है। ऐसी अवस्था में यह कभी सम्भव न था कि वाकाटकों के विरुद्ध, जो उस समय देश के सबसे शक्तिशाली सम्राट् थे और जिनके अधिकार की सीमा, समुद्रगुप्त के अपने राज्याधिकार सीमा से किसी प्रकार कम न थी, यदि समुद्रगुप्त ने किसी प्रकार का अभियान किया होता तो हरिषेण चुप रह जाता और आधे दर्जन अस्तित्व-हीन राजाओं की पाँत में उनका नाम भर गिना देता। वह निश्चय ही उसकी चर्चा विस्तार के साथ दर्प भरे शब्दों में करता।

रुद्रसेन (प्रथम) के पुत्र पृथ्वीषेण (प्रथम) के (जो समुद्रगुप्त का कनिष्ठ सम-कालिक था) अभिलेख इस बात के द्योतक हैं कि यमुना के दक्षिण और विन्ध्य के दक्षिण-पश्चिम का भूभाग वाकाटक राज्य के अन्तर्गत था[4] और आर्यावर्त के प्रथम अभियान के फलस्वरूप मगध के आस-पास की विस्तृत भूभाग पर अधिकार करने के बावजूद समुद्रगुप्त जान-बूझ कर यमुना की घाटी से, जो वाकाटकों के अधीन था, कतराया है।

प्रयाग प्रशस्ति में वाकाटकों के उल्लेख के अभाव का समाधान सहज ही इस बात से हो जाता है कि समुद्रगुप्त का सैनिक अभियान विन्ध्य के दक्षिण भारत के पूर्वी भाग तक ही सीमित था। उन्होंने कोई अभियान मध्य और पश्चिम भारत की ओर किया हो, इसका कोई प्रमाण नहीं है। समुद्रगुप्त ने वाकाटकों को निर्विघ्न शासन

---

१. हिस्ट्री ऑव द गुप्ताज, पृ० ५६।

२. पो० हि० ए० इ०, ५वाँ सं०, पृ० ५४२। रायचौधुरी का कहना है कि इस भूभाग पर वाकाटक सम्राटों का प्रत्यक्ष शासन न था वरन् वह करद-नरेश व्याघ्र के अधीन था, जिसका उल्लेख नचना अभिलेख में हुआ है। वे उसे प्रयाग-प्रशस्ति में उल्लिखित महाकान्तार नरेश व्याघ्रराज अनुमान करते हैं। किन्तु न तो उनकी यह पहचान असन्दिग्ध है और न किसी करद नरेश पर विजय का अर्थ उसके सम्राट पर विजय होता है। बहुत सम्भव है कि दो शक्तिशाली राजाओं के बीच में रहने के कारण व्याघ्र ने दोनों को तुष्ट करते हुए दोनों की प्रभुता स्वीकार की हो।

३. वाकाटक-गुप्त एज, प्रथम सं०, पृ० १४०।

४. का० इ० इ०, ३, पृ० २३४; ए० इ०, १७, पृ० १३।

करने दिया, आश्चर्य नहीं यदि गुप्तों और वाकाटकों के बीच जाना-समझा अनाक्रमण-सन्धि जैसी बात रही हो, जो पीछे भी दीर्घ काल तक चलती रही और चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के समय में विवाह सूत्र द्वारा उसे अधिक दृढ़ किया गया।

इस प्रकार दक्षिण में विजय और दक्षिण-पश्चिम में एक मित्र प्राप्त कर समुद्रगुप्त अपने राज्य को लौटा। लौटने पर पाया कि उत्तर की ओर उसके विरुद्ध नौ शत्रुदेशों की पाँत खड़ी है और उनसे उन्हें निरन्तर खतरा है। अतः उन्होंने तत्काल उनके उच्छेद करने की योजना बनायी। इन राजाओं में से तीन—अच्युत, नागसेन और गणपति नाग, तो वही थे, जिन्हें उसने पहले पराजित किया था। शेष छः निम्नलिखित थे—

रुद्रदेव—इस राजा को लोग अब तक या तो वाकाटक वंशीय रुद्रसेन (प्रथम) समझते रहे हैं[1] अथवा उसके प्रति अपनी अनभिज्ञता के भाव ही व्यक्त करते रहे हैं। इधर हाल में दिनेशचन्द्र सरकार ने यह मत प्रतिपादित किया है कि रुद्रदेव की पहचान पश्चिमी क्षत्रप रुद्रदामन (द्वितीय) अथवा उसके पुत्र रुद्रसेन (तृतीय) से की जानी चाहिये।[2] किन्तु जैसा कि ऊपर इंगित किया जा चुका है वाकाटक रुद्रसेन (प्रथम) दकन का राजा था। पश्चिमी क्षत्रप तो उनके भी पश्चिम थे। समुद्रगुप्त ने पश्चिम अथवा मध्य भारत में कोई अभियान नहीं किया था। एरण अभिलेख से उस ओर उसकी अन्तिम सीमा का अनुमान किया जा सकता है। साथ ही, वाकाटक पृथ्वीषेण (प्रथम) विंध्य के दक्षिण-पश्चिम यमुना के दक्षिण तक का भूभाग अपने राज्य के अन्तर्गत बताता है। ऐसी स्थिति में रुद्रदेव के रूप में वाकाटक रुद्रसेन अथवा किसी पश्चिमी क्षत्रप की कल्पना नहीं की जा सकती।

रुद्रदेव की पहचान सुगमता के साथ कौशाम्बी से प्राप्त सिक्कों के रुद्र से की जा सकती है, जिसका समय भी चौथी शती ई० ज्ञात होता है।[3] वे सिक्के आर्यावर्त के बीच उसी स्थान से मिले हैं, जहाँ पहले प्रयाग स्तम्भ लगा था और सिक्कों की लिपि स्तम्भ की लिपि से मिलती हुई है, ये तथ्य इस बात को निर्विवाद रूप से संकेत करते हैं कि इन सिक्कों का प्रचलनकर्ता ही अभिलेख में उल्लिखित रुद्रदेव है।

मतिल—फ्लीट[4] और ग्राउस[5] का कहना है कि बुलन्दशहर (उत्तर प्रदेश) से प्राप्त मिट्टी की मुहर पर जो मत्तिल नाम है, वही यह मतिल है। उनके इस कथन को प्रायः सभी ने स्वीकार किया है। किन्तु यह पहचान काफी सन्दिग्ध है। एलन ने उचित रूप से इस ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि इस मुहर में कोई भी उपाधि नहीं है जिससे

---

१. राधाकुमुद मुखर्जी, द गुप्त इम्पायर, पृ० २३; इ० हि० क्वा०, १, पृ० २५४; काशीप्रसाद जायसवाल, हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० ५, ७७, १३१, १४१; रा० न० दाण्डेकर, हिस्ट्री ऑव द गुप्ताज, पृ० ५७।

२. प्रो० इ० हि० का०, ७, पृ० ७८।

३. ज० न्यू० सो० इ०, ११, पृ० १३।

४. इ० ए०, १८, पृ० २८९।

५. इम्पीरियल गजेटियर, २, पृ० ३९।

कहा जाय कि उसका स्वामी किसी रूप में सत्ताधारी था ।[१] उपाधि के अभाव में तो यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह कोई छोटा-मोटा राजा रहा होगा । सम्प्रति मतिल और उसके प्रदेश के सम्बन्ध में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है ।

नागदत्त —नाम से ऐसा लगता है कि नागसेन और गणपति नाग की भांति ही यह भी कोई नागराज होगा । जायसवाल का कहना है कि लाहौर से चौथी शती ई० की जो महेश्वर नामक नागराज की मुहर प्राप्त हुई है, उसी महेश्वर नाग का यह पिता होगा ।[२] दिनेशचन्द्र सरकार के मतानुसार वह उत्तरी बंगाल का शासक और गुप्तों के दत्त नामान्त उपरिकों का पूर्वज होगा;[३] किन्तु केवल नामान्त के आधार पर उसके उत्तरी बंगाल का शासक होने की कल्पना नहीं की जा सकती ।

चन्द्रवर्मन— चन्द्रवर्मन की पहचान प्रायः लोग बांकुरा (बंगाल) के समीप सुसुनिया पर्वत पर स्थित अभिलेख में उल्लिखित चन्द्रवर्मन से करते हैं । वह पुष्कर्ण-नरेश सिंहवर्मन का पुत्र था । पुष्कर्ण की पहचान सुसुनिया से २५ मील दूर स्थित पोखरन से की जाती है ।[४] किन्तु प्रयाग स्तम्भ-लेख का चन्द्रवर्मन बंगाल नरेश नहीं हो सकता । बंगाल का अधिकांश भाग पहले से ही गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत था और अभिलेख में किसी बंगाल के शासक का उल्लेख नहीं जान पड़ता । यह चन्द्रवर्मन सम्भवतः वह है जिसका उल्लेख मन्दसोर के दूसरे अभिलेख में नरवर्मन के भाई और सिंहवर्मन के पुत्र के रूप में हुआ है ।[५]

नन्दि—नन्दि के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं । अनुमान किया जाता है कि वह मध्यभारत के रूप में पुराणों में नन्दियशस् के साथ उल्लिखित नागराज शिवनन्दि होगा; किन्तु पुराणों में जिन राजाओं का उल्लेख हुआ है वे बहुत पहले के हैं । इस कारण यह पहचान सम्भव नहीं है ।

बलवर्मन--इसकी अभी तक सन्तोषजनक पहचान नहीं की जा सकी है । कुछ लोगों की धारणा है कि वह हर्षवर्धन के समकालिक असम नरेश भास्करवर्मन का पूर्वज था ।[६] किन्तु वर्मन नामान्त के आधार पर उसे असम-नरेश अनुमान नहीं किया जा सकता । अभिलेख में असम का उल्लेख आर्यावर्त से भिन्न स्वतन्त्र रूप में हुआ है । हो सकता है वह चन्द्रवर्मन का कोई दायाद हो ।

आर्यावर्त के इन नौ राजाओं के सम्बन्ध में रैप्सन की धारणा थी कि वे कदाचित्

---

१. ब्रि० म्यू० मु० सू०, गु० वं०, भूमिका, पृ० २३ ।

२. हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० ३४; १४२ ।

३. प्रो० इ० हि० का०, ७, पृ० ७८ ।

४. ए० इ०, १२, पृ० ३१७; १३, पृ० १३३ ।

५. ए० इ०, १२, पृ० ३१५; १४, पृ० ३७१; का० इ० इ०, ३, पृ० १३ ।

६. राखालदास बनर्जी, द एज ऑव इम्पीरियल गुप्ताज़, पृ० १३; दाण्डेकर, हिस्ट्री ऑव द गुप्ताज, पृ० ५८ ।

पुराणों में उल्लिखित नव नाग हैं[1] उनकी इस कल्पना में असम्भव जैसी कोई बात नहीं जान पड़ती; तथापि इसकी पुष्टि के लिए अधिक प्रमाण की आवश्यकता होगी यदि वस्तुतः ये सब नागवंशी राजा ही हों तो कहा जा सकता है कि नागों के उच्छेदक के रूप में गुप्तों का लांछन गरुड़ सार्थक है।

अभिलेख का यह अंश इस कथन के साथ समाप्त होता है कि इन नौ राजाओं के अतिरिक्त आर्यावर्त के अन्य बहुत-से राजे थे जिनके राज्य को समुद्रगुप्त ने अपने में समेट लिया (**अनेकार्यावर्त-राज-प्रसभोद्धरण**)। यह तो निश्चितप्राय है कि समुद्रगुप्त को इन रजवाड़ों को अपनी छत्र-छाया के नीचे लाने के लिए अनेक छोटे-बड़े अभियान करने पड़े होंगे। कुछ विद्वानों की धारणा है कि इन सभी राजाओं ने मिल कर संघटित रूप से सामना किया था; किन्तु अभिलेख में इस अनुमान के लिए किसी प्रकार का कोई संकेत उपलब्ध नहीं है।

उसके इन अभियानों के बीच आटविकों ने समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार की थी। आटविक का सामान्य अर्थ 'वनवासी' होता है और वह महाकान्तार का पर्याय जान पड़ता है। किन्तु महाभारत में आटविक और महाकान्तार में स्पष्ट विभेद किया गया है।[2] सन्ध्याकरनन्दि ने अपने रामचरित की टीका में कोटाटवी का उल्लेख किया है।[3] वटाटवी और महलाटवी का उल्लेख अभिलेखों में मिलता है।[4] इनसे जान पड़ता है कि उन दिनों अनेक अटवी रहे होंगे। फ्लीट ने इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि परिव्राजक महाराज संक्षोभ के खोह अभिलेख में कहा गया है कि उसके पूर्वज अठारह आटविक राज्यों सहित डाभाल (जबलपुर प्रदेश) के पैत्रिक राज्य पर शासन करते थे।[5] परिव्राजकों की भूमि बुन्देलखण्ड, बघेलखण्ड, रींवा तथा विन्ध्य शृंखला के अन्य भागों में थी। मोनियर विलियम्स द्वारा उल्लिखित विन्ध्याटवी सम्भवतः मथुरा से नर्मदा तक की भूमि को कहते थे।[6] इस भूभाग पर समुद्रगुप्त के अधिकार की बात एरण अभिलेख से प्रकट होती है। अतः बहुत सम्भव है कि इसी भूभाग को प्रयाग अभिलेख में आटविक की संज्ञा दी गयी हो।[7] रायचौधुरी (हे० च०) का कहना था कि डाभाल से सम्बद्ध वन-राज्यों के अतिरिक्त आलवक (गाजीपुर उ० प्र०) भी आटविक राज्यों के अन्तर्गत था।[8] किन्तु यह भूभाग तो पहले से ही मूल गुप्त

---

१. ज० रा० ए० सो०, १८९७, पृ० ४२१।

२. २।३१।१३-१५।

३. पृ० ३६।

४. ए० इ०, ७, पृ० १२६; लूडर की सूची ११५५।

५. का० इ० इ०, ३, पृ० १३, पा० टि० ४।

६. देखिये संस्कृत कोष।

७. अर्थशास्त्र, ९।२।१; अग्निपुराण २४२।१-२; मानसोल्लास, १, पृ० ७९, श्लोक ५५६ और मेधातिथि (मनु ७।१८५) में आटविक का उल्लेख राज-सेना के घटकों में हुआ है।

८. पो० हि० ए० इ०, ५वाँ सं०, पृ० ५३८।

राज्य के, जो गंगा के किनारे पटना से प्रयाग तक फैला था, भीतर था। गाजीपुर इन दो नगरों के बीच गंगा तट पर स्थित है।

इन विजयों से समुद्रगुप्त इतना शक्तिशाली हो गये कि साम्राज्य के सीमान्त स्थित राज्य और गणतन्त्र, सभी **सर्वकरदान**, **आज्ञाकरण** और **प्रणामागमन** द्वारा उसके **प्रचण्ड शासन** का परितोष करने को उत्सुक रहने लगे थे। इन प्रत्यन्त नृपों में पूर्व और उत्तर के पाँच राजे और पश्चिम तथा उत्तर-पश्चिम के दस गण-राज्य थे।

इनमें निम्नलिखित पूर्व के सीमान्त राज्य थे—

समतट—बृहत्संहिता के अनुसार भारत का पूर्वी भाग समतट कहा जाता था। युवान-च्यांग ने इसे ताम्रलिप्ति से पूर्व समुद्रतटवर्ती भाग बताया है। सम्भवतः यह समुद्र-तटवर्ती पूर्वी बंगाल का अंश था। उसकी राजधानी कर्मान्त अथवा कुमिल्ला जिला स्थित बड़कामता था।[1]

डवाक—फ्लीट ने इसकी पहचान आधुनिक ढाका से की है।[2] स्मिथ का मत था कि इसका तात्पर्य बोगरा, दिनाजपुर और राजशाही जिलों के प्रदेश से है।[3] भण्डारकर इसे चटगाँव और त्रिपुरा का पर्वतीय भूभाग बताते है।[4] किन्तु यह सम्भवतः आसाम में नवगाँव स्थित डवाक है। इस प्रकार यह राज्य कपिली-यमुना (कोलोंग) की घाटी में फैला था।[5]

कामरूप—आसाम का गुहाटी जिला या उससे कुछ ही अधिक भूभाग।

समुद्रगुप्त के साम्राज्य की उत्तरी सीमा पर नेपाल और कर्तृपुर स्थित थे। कर्तृपुर सम्भवतः जालन्धर जिले का करतारपुर और कटुरिया के भूभाग का संयुक्त क्षेत्र था।[6] कुछ लोगों ने इसकी पहचान मुल्तान और लोहनी के बीच स्थित कहरोर से की है।[7] एक अन्य सुझाव यह भी है कि वह कुमायूँ, गढ़वाल और रुहेलखण्ड में विस्तृत कटयूर राज था।[8]

अभिलेख में निम्नलिखित गणराज्यों के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे समुद्रगुप्त को कर देते और साम्राज्य के पश्चिम और उत्तर-पश्चिम सीमाओं पर स्थित थे।

मालव—सभी विद्वान् मालव को **मल्लोइ** मानते हैं जिन्होंने पंजाब में अलक्सान्दर के आक्रमण का प्रतिरोध किया था।[9] किन्तु यवन लेखकों के **मल्लोइ** और

---

१. भट्टशाली, आइकानोग्राफी, पृ० ४ आदि; रायचौधुरी, पो० हि० ए० इ०, ५वाँ सं०, पृ० ५४३।

२. का० इ० इ०, ३, पृ० ९; पा० टि० १४।

३. अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, ४था सं०, पृ० ३०२।

४. इ० हि० क्वा०, १, पृ० २५७।

५. कु० ल० बरुआ, अर्ली हिस्ट्री ऑव कामरूप, पृ० ४२, पादटिप्पणी।

६. का० इ० इ०, ३, पृ० ९, पा० टि० १४।

७. ज० इ० हि०, १४, पृ० ३०।

८. ज० रा० ए० सो०, १८९८, पृ० १९८-९९।

९. सर्वप्रथम यह पहचान रा० गो० भण्डारकर ने उपस्थित किया था। (इ० ए० १, पृ० २३)।

मालव का सामंजस्य सन्दिग्ध है ।[1] वस्तुस्थिति जो भी हो, महाभारत में मालव लोगों का उल्लेख है ।[2] पाणिनि की काशिका वृत्ति में भी उनका उल्लेख है ।[3] उत्तरवर्ती काल में मालव पूर्वी राजस्थान में थे और उन्होंने टोंक के निकट कर्कोटनगर के आसपास भूमि पर अधिकार कर रखा था । वहाँ उनके सिक्के बड़ी मात्रा में प्राप्त हुए हैं जो ईसा पूर्व दूसरी शती से चौथी शती ई० तक के कहे जाते हैं ।[4] यहीं उनका नहपान के जामाता उषवदात के साथ संघर्ष हुआ था; और सम्भवतः वे कुछ काल के लिए पगस्त भी कर दिये गये थे ।[5] किन्तु शीघ्र ही वे स्वतन्त्र हो गये और शक्तिशाली बन बैठे । यह बात उनके नाँदसा से प्राप्त कृत संवत् २८२ (२२५ ई०) के अभिलेख से ज्ञात होता है ।[6] सम्भवतः समुद्रगुप्त के समय मालवों का अधिकार मेवाड़, टोंक और दक्षिण-पूर्वी राजस्थान को सटे हुए भूभाग पर था ।

आर्जुनायन—आर्जुनायनों का प्राचीनतम उल्लेख पाणिनि के अष्टाध्यायी के भाष्य में मिलता है ।[7] कनिंगहम को उनके ई० पू० १०० के आसपास के सिक्के मथुरा से प्राप्त हुए थे ।[8] बृहत्संहिता के अनुसार वे उत्तरी भाग के निवासी थे ।[9] इस प्रकार वे आगरा और मथुरा के पश्चिम, दिल्ली-जयपुर-आगरा के त्रिकोण के बीच की भूमि के शासक अनुमान किये जा सकते हैं ।

यौधेय—यौधेयों का उल्लेख पाणिनि ने आयुधजीवी संघ के रूप में किया है और उनकी अवस्थिति वाहीकों के बीच रखी है ।[10] विभाजन से पूर्व का समूचा पंजाब वाहीक कहा जाता था । यौधेयों के सिक्के भी प्राप्त होते हैं ।[11] उनके प्राचीनतम सिक्के दूसरी-पहली शती ई० पू० के हैं । उनसे ज्ञात होता है कि उन दिनों वे लोग बहुधान्यक प्रदेश (अर्थात् हरियाणा) में रहते थे और रोहितक (रोहतक) उनकी राजधानी थी । ई० पू० पहली शती में वे किसी समय पश्चिमी आक्रामकों के

---

१. हमारी दृष्टि में मल्लोइ का शुद्ध समवर्ती मल्ल होगा
२. सभापर्व ३२।७ ।
३. काशिका, काशी सं०, १८९८, पृ० ४५५—५६ ।
४. ए० सी० एल० कार्लाइल ने, जिन्होंने मालव सिक्कों को ढूँढ निकाला था, लिपि के आधार पर उनका काल अशोक के समय से लेकर तीसरी चौथी शताब्दी ई० निर्धारित किया है (क० आ० स० रि०, ६, पृ० १७४, १७८) । स्मिथ तथा अन्य विद्वान उनका समय ईसा पूर्व दूसरी शती से आँकते हैं । किन्तु एलन उनका समय दूसरी शती ई० से पूर्व मानने को प्रस्तुत नहीं हैं (ब्रि० म्यू० मु० सू०, गु० वं०, भूमिका पृ० १०६ ।
५. इ० इ०, ११, पृ० २७, १२९; ए० इ०, ८, पृ० ७८, पंक्ति ४ ।
६. ए० इ०, २७, पृ० २५२—२६७ ।
७. ४।२; ५।३ ।
८. क्वायन्स ऑव एन्शिएण्ट इण्डिया, फलक ८, सिक्का २० ।
९. इ० ए०, १३, पृ० ३३१ ।
१०. ४।१।१७८; ५।३।११४—११७ ।
११. ब्रि० म्यू० मु० सू०, ए० इ०, भूमिका, पृ० १४७; मूल पृ० २६५ ।

दबाव से दक्षिण-पूर्व की ओर चले गये और भरतपुर तक विस्तृत सारे उत्तर पूर्वी राजस्थान में फैल गये। वहाँ वे दूसरी शती ई० तक रहे। १५० ई० से पहले किसी समय उन्हें शक महाक्षत्रप रुद्रदामन ने परास्त किया।[१] उनसे पराजित होकर वे हिमालय के पर्वतीय प्रदेश में चले आये। तीसरी शती ई० में वे पश्चिम की ओर गये और सतलज तथा व्यास के उपरले कांठे को अपना आवास बनाया। उन दिनों लुधियाना के निकट सुनेत उनकी राजधानी थी।[२] सम्भवतः समुद्रगुप्त के समय वे लोग इसी भू-भाग में थे और उनके साम्राज्य के अन्तर्गत उत्तरी पश्चिमी सीमा थे।

मद्रक—मद्र-देश का प्राचीनतम उल्लेख उपनिषदों में मिलता है। मद्रकों का उल्लेख पाणिनि ने किया है[३] और महाभारत में भी हुआ है।[४] वे वाहीकदेश (पंजाब) में रहते थे और शाकल (सियालकोट) उनकी राजधानी थी। वे पूर्व और अपर दो भागों में बँटे हुए थे। पूर्व मद्र रावी से चिनाव तक और अपर मद्र चिनाव से झेलम तक था।[५] समुद्रगुप्त के विजय के समय सम्भवतः वे यौधेयों के दक्षिण राजस्थान में पग्घर के किनारे बीकानेर के उत्तर-पूर्वी सीमा पर भद्र नामक स्थान पर रहते थे। पाणिनि के कथनानुसार भद्र और मद्र एक ही नाम के दो रूप हैं।[६]

शेष पाँच जातियों—आभीर, प्रार्जुन, सनकानिक, काक और खर्परिक की अवस्थिति विद्वानों ने मालवा (मध्य-भारत) में माना है। किन्तु उन लोगों ने इस तथ्य पर ध्यान नहीं दिया है कि इस काल में एरण तक का भूभाग तो समुद्रगुप्त के साम्राज्य के अन्तर्गत था। उसके पश्चिम वाकाटकों का राज्य था और उसके समीप विदिशा के भूभाग में नागों का अधिकार था जैसा कि पौराणिक कथन तथा सिक्कों से प्रमाणित है। उनके आगे पश्चिमी क्षत्रपों का अधिकार था। यह इस प्रदेश में मिले उनके सिक्कों के दफीने से स्पष्ट है।[७] इन कारणों से ये लोग कदापि इस भूभाग में नहीं रखे जा सकते और न वे इस भूभाग के निवासी थे। उन्हें अन्यत्र देखना और पहचानना होगा।

आभीर—आभीरों का उल्लेख महाभारत में है। उसमें उन्हें सरस्वती और विनशन के निकट अर्थात् निचले सिन्धु कांठे और पश्चिमी राजस्थान में बताया गया है।[८] पतंजलि के महाभाष्य में भी इनका उल्लेख है।[९] पेरिप्लस और टालमी के भूगोल

---

१. ए० इ०, ८, पृ० ४४।
२. ज० यू० पी० हि० सो०, २३, पृ० १७३।
३. ४।२।१३१।
४. उद्योग पर्व, अध्याय ८; वनपर्व, अध्याय २५२; कर्ण पर्व, अध्याय ४०।
५. इण्डिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० ५२।
६. वही।
७. साँची और गोंडरमऊ के दफीनों में अन्यतम सिक्के स्वामी रुद्रसेन (तृतीय) के हैं (ज० न्यू० सो० इ०, १८, पृ० २२०–२२१, सं० २, ६, ७।
८. ९।३७।१।
९. १।१।३।

में इन्हें अबीरिया कहा गया है।[1] आभीर लोग पश्चिमी क्षत्रपों की सेना के सेनानायक पदों पर थे और परवर्ती काल में वे मध्यप्रदेश में बस गये थे जिसके कारण झांसी और विदिशा के बीच का भूभाग अहीरवार कहलाता है।[2] इस कारण कुछ विद्वानों की धारणा रही है कि वे समुद्रगुप्त के समय इसी भूभाग में थे; किन्तु हमारी धारणा है कि वे समुद्रगुप्त के समय तक इस प्रदेश में नहीं आये थे वरन् सिन्ध के निचले कांठे और पश्चिमी पंजाब में ही थे।

प्रार्जुन—स्मिथ ने प्रार्जुनों को मध्यप्रदेश के नरसिंहपुर जिले में बताया था।[3] किन्तु कौटिल्य ने प्रार्जुनों का उल्लेख गन्धारों के साथ किया है।[4] अतः गन्धारों की भाँति ही ये लोग भी उत्तर-पश्चिमी ही होंगे। अर्थशास्त्र की एक प्राचीन टीका में उन्हें चाण्डाल-राष्ट्र कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि वे अपनी संस्कृति में अभारतीय थे।

सनकानिक—चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के सामन्तों में एक सनकानिक महाराज थे जिन्होंने उदयगिरि के एक देवालय को दान दिया था। इस कारण लोगों ने मान लिया है कि सनकानिक लोग विदिशा के प्रदेश में रहते थे।[5] किन्तु उसी काल में लोग गणपतिनाग को भी विदिशा का शासक कहते हैं। दोनों की संगति बैठती है या नहीं, इस ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। स्थानीय लोग ही किसी मन्दिर को दान करें, ऐसी बात भी नहीं है। चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के समय उदयगिरि में सनकानिक महाराज के अभिलेख मिलने का तो सहज समाधान है। सनकानिक महाराज उन सैनिक और शासनिक अधिकारियों में रहे होंगे जो चन्द्रगुप्त (द्वितीय) की पुत्री प्रभावती गुप्ता के संरक्षण-काल में वाकाटक राज्य की शासन-व्यवस्था के लिए चन्द्रगुप्त (द्वितीय) द्वारा पाटलिपुत्र से भेजे गये थे। उन्होंने विदिशा के आस-पास ही अपना सदरमुकाम बनाया होगा। वीरसेन, साब, अम्रकारदेव आदि अन्य गुप्त-अधिकारियों के भी अभिलेख साँची-विदिशा प्रदेश में ही प्राप्त होते हैं जो इस बात के प्रतीक हैं। इस प्रकार ऐसी कोई चीज नहीं है जिसके आधार पर कहा जा सके कि सनकानिक लोग विदिशा के थे। हरिषेण ने उन्हें प्रार्जुनों और काकों के बीच रखा है। अतः उन्हें उसी ओर देखना चाहिए।

काक—महाभारत में काकों को ऋषिक, तंगण, प्रतंगण और विढ़भ लोगों के साथ रखा है।[6] ऋषिक तो हमारे जाने-पहचाने यू-ची हैं; तंगण लोग पुराणों के अनुसार कश्मीर के निकट के प्रदेश के निवासी थे। विढ़भ सम्भवतः विढल लोग हो सकते हैं जो यू-ची के ही एक शाखा थे। इस प्रकार स्पष्ट ही काक लोग भी उत्तर-पश्चिम

---

१. इ० ए०, ३, पृ० २६६ आदि।

२. ज० रा० ए० सो०, १८९७, पृ० ८९१; देखिये आइने-अकबरी, २, पृ० १६५।

३. ज० रा० ए० सो०, १८९७, पृ० ८९२।

४. शामशास्त्री कृत अनुवाद, पृ० १०४।

५. प्रो० हि० ए० इ०, ५वाँ सं०, पृ० ५४६।

६. ६।९।६४।

वासी ठहरते हैं। राखालदास बनर्जी ने इन काकों की पहचान कश्मीर के काकों से की है।[१] स्मिथ ने उनका सम्बन्ध साँची के प्रदेश से जोड़ा है और वह इसलिए कि वहाँ काकनादबोट नामक एक विहार था।[२] कुक्कुटपाद, पीलुसर, मृगदाव आदि विचित्र नामों की तरह काकनाद भी विहार का एक नाम मात्र है। भिलसा के निकट काकपुर[३] नामक ग्राम का अस्तित्व भी इस बात का प्रमाण नहीं कहा जा सकता कि कभी काक लोग साँची के आस-पास रहते थे।

खर्परिक—कहा जाता है कि ये खर्परिक बटियागढ़ अभिलेख में उल्लिखित खर्पर हैं।[४] इस प्रकार उन्हें मध्यप्रदेश के दमोह जिले में रखा जाता है।[५] किन्तु उक्त अभिलेख में ऐसा कुछ भी नहीं है जिससे खर्परों के उस प्रदेश के स्थानीय अथवा मूल निवासी होने की तनिक भी कल्पना की जा सके। उस लेख में तो केवल इतना ही कहा गया है कि दिल्ली के सुल्तान महमूद ने मीर जुलाच को, जो खर्पर सेना के विरुद्ध लड़ा था, चेदि का सूबेदार नियुक्त किया। मध्यकालीन ग्रन्थों में खर्पर उस प्रदेश के निवासियों के लिए प्रयुक्त हुआ है जहाँ कभी खर्परिक लोग रहा करते थे और इन ग्रन्थों में सर्वत्र उसका तात्पर्य मंगोल से है।[६] इस प्रकार यह भली प्रकार कल्पना की जा सकती है कि समुद्रगुप्त के समय खर्परिक लोग उत्तरी-पश्चिमी सीमा अथवा उसके ठीक बाहर रहते थे।

इस प्रकार हरिषेण की सूची से ज्ञात होता है कि उन दिनों गणराज्यों की एक पाँत थी जिसका एक छोर दक्षिण-पूर्वी राजस्थान में मालव से आरम्भ होता था और दूसरा छोर उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश में खर्परों के साथ समाप्त होता था और ये सब समुद्रगुप्त द्वारा प्रत्यक्ष प्रशासित राज्य के पश्चिम में थे। पूर्व में समुद्रगुप्त के साम्राज्य के अन्तर्गत दक्षिणी-पूर्वी अंश छोड़ कर सारा बंगाल था। उत्तर में सीमा हिमालय की तलहटी के किनारे-किनारे थी। दक्षिण में वह वाकाटक साम्राज्य को छूती हुई एरण से जबलपुर और वहाँ से विन्ध्य पर्वत माला के किनारे-किनारे चलती थी।

आगे प्रयाग अभिलेख में कहा गया है कि इन सीमान्त राज्यों के आगे भारत के बाहर उत्तर-पश्चिम में विदेशी राज्य थे और सुदूर दक्षिण में सिंहल और अन्य द्वीप, जो समुद्रगुप्त की साम्राज्य-शक्ति के प्रभाव में थे, उन्होंने सब प्रकार की सेवा प्रदान कर उसकी प्रभुता स्वीकार की थी। उनकी सेवाएँ थीं—(१) आत्म-निवेदन (सम्राट् के सम्मुख प्रत्यक्ष हाजिरी), (२) कन्योपायनदान (अपनी पुत्रियों को भेंट स्वरूप

---

१. एज ऑव इम्पीरियल गुप्ताज, पृ० २३।
२. ज० रा० ए० सो०, १८९७, पृ० ८९२, ८९४।
३. ज० बि० उ० रि० सो०, १८, पृ० २१२-१३।
४. ए० इ०, १९, पृ० ४६।
५. इ० हि० क्वा०, १९२५, पृ० २५८।
६. प्रो० इ० हि० का०, १७, पृ० ८४-८९।

लाकर राजा के साथ विवाह)[1] और (३) गरुत्मदांक-स्वविषय-भुक्ति-शासन-याचना[2] (अपने विषय अथवा भुक्ति के भोग के निमित्त गरुड़-अंकित मुहर से छपे शासनादेश की प्राप्ति) ।

हरिषेण ने विदेशी शासकों के सम्बन्ध में जो यह सब लम्बी-चौड़ी बातें कही हैं, उनमें नमक-मिर्च मिला है, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं । अतः उनकी इन बातों से केवल इतना ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कुछ विदेशी और समुद्रपार के राजाओं ने भी समुद्रगुप्त के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किया था ।

समुद्रगुप्त के साथ मैत्री करने वाले विदेशी राजों में दैवपुत्र-शाही-शाहानुशाही-शक-मुरुण्ड का उल्लेख अभिलेख में हुआ है। यह समस्त पद किसी एक राज्य अथवा जाति का बोधक है अथवा अनेक का, कहना कठिन है । दैवपुत्र, चीनी सम्राट् की उपाधि तेन-त्स का भारतीय शाब्दिक अनुवाद है इसे कुषाणों ने चीनियों से ग्रहण किया था ।[3] यह कनिष्क,[4] हविष्क[5] और वासुदेव[6] की उपाधि थी । शाहानु-शाही ईरानी सम्राटों की सुप्रसिद्ध उपाधि है जो बाख्त्री और भारत के शक शासकों के

---

१. फ्लीट ने कन्योपायन दान का अनुवाद—'ब्रिंगिंग प्रेसेण्ट्स ऑव मेडेन्स' (कुमारियों का भेंट स्वरूप लाना) और सिरकार (डी० सी०) ने 'आफरिंग ऑव मेडेन्स एण्ड प्रेसेण्ट्स' (कुमारियों और उपहारों की भेंट) (सेलेक्शन्स फ्राम संस्कृत इन्स्क्रिप्शन्स, १, भाग २, पृ० ४६) किया है । किन्तु १३३६ ई० में कक्कसूरि द्वारा रचित नाभिनन्दन जिनोद्धार प्रबन्ध (११।७०७) से ज्ञात होता है कि करद राजे एवं अन्य लोगों द्वारा भेंट स्वरूप अपनी कन्याएँ लाकर शक्तिशाली राजाओं से विवाह करने की एक प्रथा थी, उसे कन्योपायन दान कहते थे । इस प्रकार कन्योपायन दान में दो तत्त्व कन्योपायन और कन्या-दान निहित थे । इस प्रसंग में [illegible] की दृष्टि से कन्या का सम्बन्ध उपायन और दान दोनों से है (प्रो० इ० हि० का०, १७, पृ० ८३) ।

२. कुछ विद्वानों का कहना है इसमें (१) गरुत्मदांक गुप्त सिक्कों के उपयोग करने और (२) अपने विषय-भुक्ति के शासन करने के निमित्त दो शासन-याचनाएँ हैं (ज० बि० उ० रि० सो०, १८, पृ० २०७; १९, पृ० १४०); किन्तु यह युद्धि संगत नहीं है । दाण्डेकर ने इस सम्बन्ध में उन सिक्कों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है जिन पर गड़हर नामक वंश का उल्लेख है जिन्हें स्मिथ ने उत्तरवर्ती कुषाणों और कनिष्ट सूचियों के अन्तर्गत रखा है । उनकी धारणा है कि इन गड़हर शाओं को समुद्रगुप्त ने अपने सिक्कों पर गुप्त-लांछन अंकित करने का अधिकार प्रदान किया था (हिस्ट्री ऑव द गुप्ताज, पृ० ६२) । उत्तरवर्ती कुषाण परम्परा के सिक्कों पर 'समुद्र' नाम निस्सन्देह मिलता है पर यह नाम ठीक उसी स्थान पर अंकित है जहाँ अन्य अनेक नाम सिक्कों पर अंकित पाये जाते हैं और वे नाम निस्सन्देह किसी सम्राट् के नहीं हैं । इन सिक्कों पर अंकित समुद्र नाम गड़हरों में से ही किसी शासक का नाम हो सकता है ।

३. पी० पेलिओट, त्वांग-पाओ (१९२४, पृ० २३); सिल्वाँ लेवी द्वारा देवपुत्र शीर्षक लेख में उद्धृत (जर्नल एशियाटिका, १९३३, पृ० ११)

४. ए० इ०, १, पृ० ३८१; ९, पृ० २४०; १७, पृ० ११ ।

५. वही, १, पृ० ३८७ ।

६. वही, ९, पृ० २४२ ।

माध्यम से उनके कुषाण उत्तराधिकारियों तक पहुँची थी। यह बहुत दिनों तक यूनानी, ईरानी और प्राकृत रूपों में उत्तर-पश्चिमी भारत में प्रचलित रही। यह महाराज-राजाधिराज का ईरानी रूप है। शाही, शाहानुशाही में प्रयुक्त मूल शब्द है। इसका अकेले प्रयोग कनिष्क ने अपने एक लेख में किया है।[१] इस कारण विद्वानों का सर्वमान्य मत यह है कि दैवपुत्र-शाही-शाहानुशाहि का तात्पर्य उत्तर-पश्चिम स्थित कुशाण वंश के उन दायादों से है जो अपना उद्भव दैवपुत्र कनिष्क से मानते थे। किन्तु ये लोग वस्तुतः कौन थे, इस सम्बन्ध में लोगों में किसी प्रकार का कोई मतैक्य नहीं है।

रमेशचन्द्र मजूमदार का मत है कि समस्त पद अकेले एक कुशाण शासक का बोधक है जिसका राज्य काबुल, पंजाब के कुछ अंश और आगे पश्चिम की ओर कुछ दूर तक था।[२] स्मिथ उसे ग्रम्बेट बताते हैं जिसने ३५० ई० के आस-पास सासानी सम्राट् शापुर (द्वितीय) की भारतीय हाथियों के एक दल से सहायता की थी।[३] हेमचन्द्र रायचौधुरी को इसमें कुषाणों के अतिरिक्त सासानियों की भी झलक दिखायी पड़ी है।[४] बुद्धप्रकाश को तो इस बात में तनिक भी सन्देह है ही नहीं कि यह समस्त पद कुषाणों की उपाधि है; किन्तु उनका यह भी कहना है कि इसका प्रयोग ३५६ ई० से पूर्व ही हुआ होगा। वे इसे ३५० ई० और ३५६ ई० के बीच रखते हैं, जब कुषाणों पर सासानियों का दबाव जोरों पर था। उस समय कुषाण शासक ने समुद्रगुप्त की उभरती हुई शक्ति के साथ मैत्री करके उनकी सहायता प्राप्त की। उन्हें इस मैत्री की झलक प्रयाग अभिलेख में मिलती है।[५] अल्तेकर का मत कुछ ऐसा जान पड़ता है कि यह उपाधि किदारों की थी जो मूलतः सासानियों के करद थे।[६]

अन्य लोगों की धारणा है कि यह एक राजा की उपाधि न होकर तीन छोटे-छोटे राज्यों का बोधक है, जिनमें कुषाण साम्राज्य बट गया था। इस सम्बन्ध में प्रायः इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया जाता है कि चीनी इतिहासकारों ने बार-बार भारत के दैवपुत्र (ति-पोनो-फो-तान-लो) का उल्लेख किया है; और इसका तात्पर्य भारत के किसी अज्ञात सम्राट् से न होकर दैवपुत्र उपाधि-धारी राजा से है।[७] कैनेडी का कहना है कि भारत के दैवपुत्र को पंजाब में होना चाहिए क्योंकि चौथी शती ई० के चीनी इतिहासकारों ने इस देश को हाथियों के लिए प्रसिद्ध बताया है।[८]

शाहि के सम्बन्ध में एलन का कहना है कि इसका प्रयोग किदार कुषाण करते थे।

---

१. वही, १७, पृ० ११।
२. रमेशचन्द्र मजूमदार, वाकाटक-गुप्त एज, पृ० १३५।
३. ज० रा० ए० सो०, १८९७, पृ० ३२।
४. पो० हि० ए० इ०, ५वाँ सं०, पृ० ५४५, पा० टि० २।
५. स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन, पृ० २६८।
६. वाकाटक-गुप्त एज, पृ० २२।
७. ब्रि० म्यु० मु० सू०, भूमिका, पृ० २७।
८. ज० रा० ए० सो०, १९१२, पृ० ६८२; १९१३, १६२।

इसे उन्होंने अपने पूर्वाधिकारियों से प्राप्त किया था। इस प्रकार इस बात के संकेत मिलते हैं कि शाहि कुषाणों की एक शाखा विशेष की उपाधि थी जिसका सम्बन्ध गन्धार से था।[1] वे इस बात की सम्भावना भी मानते हैं कि शाहि-शाहानुशाही, भारत के किसी इसे बड़े राजा की उपाधि थी; जो ईरानी उपाधि धारण करता था। किन्तु साथ ही शाहानुशाही को वे शाहि से भिन्न भी मानते हैं।[2] स्मिथ का कहना है कि शाहानुशाही या तो सासानी सम्राट् शापुर (द्वितीय) था, जिसने निस्सन्देह यह उपाधि धारण की थी या फिर वक्षु-तट स्थित कुषाणों का कोई राजा था। एलन उसे काबुल का कुषाण राजा अनुमान करते हैं। उनके अनुसार शाहानुशाहि (अथवा सम्भवतः शाही-शाहानुशाही) की पहचान उस कुषाण राजा से की जानी चाहिए जिसके राज्य का विस्तार भारतीय सीमा से वक्षु तक था।[3]

कुछ विद्वानों का मत है कि शक-मुरुण्ड, देखने में जाति(अथवा जातियों)का नाम जान पड़ता है और उसका तात्पर्य कुषाण उपाधि-धारी राजा से भिन्न किसी राजा अथवा राज्य से है। उनका यह भी कहना है कि ये पश्चिम भारत के शक होंगे जो क्षत्रपों के नाम से ख्यात हैं और जिनकी राजधानी उज्जयिनी थी और जो चष्टन और रुद्रदामन के वंशज थे। इस सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि मुरुण्ड शक शब्द है जिसका अर्थ स्वामी होता है और इस उपाधि का प्रयोग शकों और उनके बाद कुषाणों ने किया था। उसके भारतीय रूप स्वामी का प्रयोग पश्चिमी क्षत्रपों ने भी किया है। इस प्रसंग में इस ओर भी संकेत किया जाता है कि साँची के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि नन्दिसुत महादण्डनायक श्रीधरवर्मन के अधीन ३१९ ई० के आस-पास एक शक-राज्य था।[4] साथ ही कुछ अन्य अनेक छोटे-छोटे शक राजाओं के विन्ध्य प्रदेश में होने का पता उनके सिक्कों से लगता है।

किन्तु प्रयाग अभिलेख में यह प्रसंग जिस रूप में है उससे यही जान पड़ता है कि ये राजे उत्तर-पश्चिम के थे न कि पश्चिम के। अतः कुछ विद्वान् इस अभिलेख में अंकित शक को शक अनुमान करते हैं जिनके सिक्कों का अनुकरण समुद्रगुप्त ने किया था। यह सिक्के कुषाणों के सिक्कों के ढंग के हैं तथा पट ओर आरदोक्षों का चित्रण है और सामने की ओर राजा के नाम के सांकेतिक अक्षरों के साथ ब्राह्मी में शक अंकित है।[5] ये सिक्के उन उत्तरवर्ती कुषाणों से भिन्न हैं जिनके पट ओर ओयशा (शिव) का अंकन है।

कुछ विद्वान् मुरुण्ड को शक से भिन्न अनुमान करते हैं। स्टेन कोनो ने इन्हें

---

१. ब्रि० म्यु० मु० सू०, भूमिका, पृ० २७।

२. वही।

३. वही, पृ० २८।

४. ए० इ०, १४, पृ० २९२।

५. ब्रि० म्यु० मु० सू०, भूमिका, पृ० २८।

कुषाण कहा है।[1] विल्सन ने मुरुण्डों को हूणों की एक जाति बताया है और उनकी पहचान टालमी कथित **मुरुण्डाइ** से की है।[2] सिल्वाँ लेवी ने यह बताने का यत्न किया है कि वे शक अथवा कुषाण थे।[3] उन्होंने इसे चीनी शब्द **म्यूलोन** में पहचाना है जिसका प्रयोग तीसरी शती ई० में फु-नान (श्याम) जाने वाले चीनी राजदूत ने भारत के किसी प्रादेशिक राजा की उपाधि के रूप में किया है। इस चीनी प्रतिनिधि मण्डल की उस प्रतिनिधि मण्डल से भेंट हुई थी जो तत्काल ही भारत से लौटा था। फु-नान नरेश ने उन्हें भारत भेज कर वहाँ का समाचार प्राप्त किया था। टालमी ने **मुरुण्डाइ** को गंगा के बायें किनारे पर घाघरा से दक्षिण काँठे के सिरे पर बताया है। लेवी का कहना है कि यूनानी और चीनी विवरण काफी मिलते हैं और उनका समर्थन जैन ग्रन्थों से भी होता है। जैन ग्रन्थों में **मुरुण्डराज** को कान्यकुब्ज का शासक कहा गया है और कहा गया है कि वह पाटलिपुत्र में रहता था।[4] किन्तु इन उल्लेखों से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में गंगा के काँठे में **मुरुण्डों** का एक शक्तिशाली राज्य था। वे समुद्रगुप्त-कालीन मुरुण्ड नहीं हो सकते क्योंकि समुद्रगुप्त के समय में गंगा का काँठा उनके राज्य का एक अभिन्न अंग था और उस समय मुरुण्ड उनके राज्य के बाहरी सीमा पर रहते थे। पुराणों में **मुरुण्ड** अथवा **मुरुड** का उल्लेख भारत में शासन करने वाले विदेशी राजाओं की सूची में शक, यवन, तुखारों के साथ हुआ है। मत्स्य-पुराण में उन्हें विदेशी और वायु-पुराण में आर्य-म्लेच्छ कहा गया है। प्रयाग अभिलेख में दैवपुत्र और शकों के साथ **मुरुण्ड** का उल्लेख इस बात का द्योतक है कि वे इनसे बहुत दूर न रहे होंगे। सम्भव है ये लोग लम्पाक निवासी हों। लम्पाक अलीयाल और कुमार नदी के बीच काबुल नदी के उत्तरी किनारे पर था।[5]

कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि समूचा पद **दैवपुत्र-शाही-शाहानुशाही-शक-मुरुण्ड** केवल एक राज्य का सूचक है। यह मत सर्वप्रथम कनिंगहम ने प्रतिपादित किया था।[6] अभी हाल में यही मत बीवर (ए० डी० एच०) ने भी व्यक्त किया है।[7] उनका कहना है कि न केवल **दैवपुत्र-शाही-शाहानुशाही** वरन् **शक-मुरुण्ड** भी उत्तरवर्ती कुषाणों का बोधक है। उनका यह भी कहना है कि **मुरुण्ड** शब्द अनुस्वार-विहीन **मोरेड** के रूप में राजा की उपाधि की तरह जेडा अभिलेख में, जो कनिष्क

---

१. का० इ० इ०, १, पृ० १४३।

२. एशियाटिक रिसर्चेज, ८, पृ० ११३।

३. मेनगेज चार्ल्स द हार्ल्म, लाइडन, १८९६, पृ० १७६-८५।

४. सिंहासन द्वित्रिंशिका, सम्पा० वेबर, इण्डिशे स्टडेन, १५, पृ० २७९-८०; मेरुतुंग, प्रबन्ध-चिन्तामणि, बम्बई, १८८८, पृ० २७।

५. लैसेन, इण्डिशे अल्तरतुम्स कुण्डे, १, पृ० ५४८; इसमें हेमचन्द्र (४.३६) का उद्धरण है। स्मिथ, ज० रा० ए० सो०, १८९७, पृ० ९८४-८६।

६. न्यू० क्रा० १८९३, पृ० १७६।

७. जर्न० र० सो० इ०, १८, पृ० ३७-४१।

(सम्भवतः प्रथम कनिष्क) के ११वें राजवर्ष का है, प्रयुक्त हुआ है। कोनो ने इसका व्याख्या राजा (लार्ड) के रूप में की है। चाहे इसका अर्थ जो कुछ भी हो, इतना तो है ही कि वह कुषाण सम्राट् के उपयुक्त राजकीय उपाधि थी। टाल्मी के कथनानुसार मुरुण्ड गंगा के किनारे, 'गंगरिडाइ' के उत्तर-पश्चिम में थे। इन दोनों बातों को जोड़ कर बीवर ने अपना मत इस प्रकार प्रतिपादित किया है—मुरुण्ड उपाधि का प्रयोग कुषाणों ने कनिष्क के समय आरम्भ किया; पीछे वह गंगा के उपरले काँठे में रहने वाले कुषाण उपनिवेशकों के लिए सामान्य रूप में व्यवहृत होने लगा। इस प्रकार समुद्रगुप्त के अभिलेख में कुषाण सम्राटों द्वारा प्रयुक्त उपाधियों के माध्यम से कुषाण साम्राज्य के शक-कुषाण राजाओं की चर्चा की गयी है। वे या तो पुराने कुषाण वंश के अवशेष थे (इस स्थिति में उन्होंने उनकी पहचान सिक्कों के आधार पर वासुदेव और तृतीय कनिष्क से की है) अथवा वे सासानी सामन्त थे जिन्हें उभरते हुए गुप्तों ने पूर्ववर्ती कुषाणों के चिर-परिचित उपाधियों के माध्यम से उल्लेख किया है। उनका यह भी कहना है कि समुद्रगुप्त ने सम्भवतः कुषाणों पर सासानियों के विजय का लाभ उठा कर ध्वस्त मुरुण्ड-साम्राज्य पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा की। वे अपनी इस बात का समर्थन उन सिक्कों में देखते हैं जिन पर समुद्र नाम मिलता है तथा जो बनावट में उन कुषाण और सिक्कों के समान हैं जिनके मुरुण्डों के सिक्के होने का अनुमान वे करते हैं। उनका यह भी कहना है कि गुप्त सिक्कों की भाँति के सिक्के पश्चिम के राजाओं ने भी चलाये थे। यह इस बात का द्योतक हो सकता है कि समुद्रगुप्त और उनके उत्तराधिकारियों का इन विदेशी राजाओं पर किसी रूप में प्रभुत्व था।

दैवपुत्र-शाही-शाहानुशाही-शक-मुरुण्ड सम्बन्धी इन सब मतों के औचित्य-अनौचित्य के पचड़े में पड़े बिना भी यह कहा जा सकता है कि इनसे अफगानिस्तान और उसके आस-पास जो शक-कुषाण राजा अथवा राजे थे, उनके साथ गुप्तों के मैत्री-सम्बन्ध का संकेत प्राप्त होता है।

समुद्र पार के मित्रों के रूप में प्रयाग अभिलेख में केवल सिंहल का नामोल्लेख हुआ है। सिंहल और भारत के पारस्परिक राजनीतिक सम्बन्ध की कुछ स्वतन्त्र जानकारी भी उपलब्ध है। चीनी लेखक वैंग-ह्वेन-त्सी के कथनानुसार सिंहल नरेश श्री मेघवर्ण (ची-मि-किया-पो-मो) ने समुद्रगुप्त के पास बहुमूल्य उपहारों के साथ अपना राजदूत भेज कर सिंहली यात्रियों के लिए बोध-गया में एक विहार और विश्रामगृह बनाने की अनुमति माँगी थी। समुद्रगुप्त ने इसकी अनुमति तत्काल दी और सिंहल नरेश ने बोधि-वृक्ष के उत्तर एक आलीशान विहार बनवाया। जब युवान-च्वांग इस देश में आया, उस समय तक उसने एक विराट् संस्थान का रूप धारण कर लिया था। उसके इतिहास की चर्चा करते हुए उसने लिखा है कि सिंहल नरेश ने भारत-नरेश को भेंट में अपने देश के समस्त रत्न दिये थे।[१]

---

१. गाइगर, महावंस, अनु० पृ० ३९; लेवी, जू० ए०, १९००, पृ० ३१६; इ० ए०, १९०२, पृ० १९४।

प्रयाग अभिलेख के अनुसार साम्राज्य का प्रभाव केवल सिंहल तक ही सीमित न था वरन् उसमें अन्य सभी द्वीपों की बात भी कही गयी है, किन्तु किसी के नाम का उल्लेख उसमें नहीं है। रायचौधुरी (हे० च०) की धारणा है कि अभिलेख में समुद्रगुप्त को जो वरुणेन्द्रसम कहा गया है, उससे झलकता है कि पड़ोसी समुद्र के द्वीपों पर उनका किसी प्रकार का कोई नियन्त्रण अवश्य था।[1] मजूमदार (र० च०) का मत है कि अभिलेख में सम्भवतः सामान्य भाव से मलय प्रायद्वीप, जावा, सुमात्रा तथा भारतीय द्वीप-समूह के अन्य द्वीपों के हिन्दू उपनिवेशों की ओर संकेत किया गया है। भारतीयों ने गुप्त काल में अथवा उससे पहले ही इन भूभागों में अपने उपनिवेश और राज्य स्थापित कर लिये थे। उन पर गुप्त-कालीन संस्कृति की गहरी छाप दिखायी पड़ती है। मध्य जावा में चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का सोने का एक सिक्का प्राप्त हुआ है। कम्बोडिया में गुप्त-काल के ही गुप्त-कला से प्रभावित मूर्तियाँ और गुप्त-शैली के मन्दिर मिले हैं। बर्मा में गुप्त-लिपि का प्रयोग और उपयोग तथा वहाँ से बड़ी संख्या में प्राप्त गुप्त-कालीन मृण्मूर्तियाँ भी इस दृष्टि से द्रष्टव्य हैं। इन उपनिवेशों और भारत के बीच निरन्तर घनिष्ठ आवागमन होता रहा, यह फाह्यान के विवरण से भी प्रकट होता है। इन सुदूर प्रदेश के भारतीय उपनिवेशियों के लिए स्वाभाविक ही था कि वे अपनी मातृभूमि के शक्तिशाली साम्राज्य के साथ अपना सम्बन्ध बनाये रखें। अतः मजूमदार का कहना है कि अन्य सभी द्वीप-वासियों द्वारा की जाने वाली अभ्यर्थना की बात कोरा कवि-वचन नहीं कहा जा सकता।[2] हरिषेण का कथन इन देशों में से कुछ के साथ वास्तविक सम्बन्ध पर आधारित हो सकता है। हाँ, यह अवश्य है कि यह सम्बन्ध किस प्रकार का था, इसकी कोई जानकारी प्राप्त नहीं की जा सकती। वस्तुतः इतना तो निःसंकोच कहा ही जा सकता है कि समुद्रगुप्त के समय में यदि बृहत्तर-भारत राजनीतिक प्रभाव में न भी रहा हो, सांस्कृतिक प्रभाव में तो अवश्य था ही।

इस विवेचन से समुद्रगुप्त के साम्राज्य के स्वरूप और उसके विस्तार की जो ठीक और विस्तृत जानकारी की जा सकी, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि समुद्रगुप्त के प्रत्यक्ष शासन के अन्तर्गत पूर्व में सुदूर दक्षिण-पूर्वी भाग छोड़ कर सारा बंगाल था। उत्तरी सीमा हिमालय की तलहटी से गुजरती थी। पश्चिम में वह यौधेय, मद्र और आर्जुनायनों को छूती थी और उसके अन्तर्गत लुधियाना के पूर्व के जिले सम्मिलित थे। लुधियाना से सीमा दक्षिण में हिसार तक एक कल्पित रेखा को छूती थी और वहाँ से दिल्ली की ओर दक्षिण-पूर्व बढ़ती थी और दिल्ली से यमुना के किनारे-किनारे चल कर फिर पूरब की ओर मिर्जापुर की ओर मुड़ जाती थी। यहाँ से सीधे दक्षिण रीवाँ के भूभाग को बचाती हुई बढ़ती पश्चिम की ओर जाती थी और सागर

---

१. पो० हि० ए० इ०, ५वाँ सं०, पृ० ५४७, पा० टि० २।

२. वाकाटक-गुप्त एज, पृ० १५१।

और दमोह के जिलों को अपने भीतर समेटती थी। दमोह से सीमा-रेखा जबलपुर तक जाती थी और वहाँ से पूरब की ओर विन्ध्य-पर्वत माला के किनारे-किनारे घने जंगलों वाले पर्वतीय प्रदेशों से होते हुए महानदी तक और फिर महानदी के किनारे-किनारे समुद्र तक पहुँचती थी। इस प्रकार उसके अन्तर्गत कश्मीर, पश्चिमी पंजाब (लुधियाना के पश्चिम), राजस्थान, सिन्ध और गुजरात को छोड़ कर लगभग सारा उत्तर भारत था और जबलपुर के पूर्व मध्यभारत का पठार भी उसके राज्य में सम्मिलित था।

प्रत्यक्ष प्रशासित इस सीमा के आगे, कश्मीर, पश्चिमी पंजाब और पूर्वी राजस्थान मे बिखरे कितने ही करद राज्य थे। उनके आगे पश्चिम और उत्तर-पश्चिम में शक और कुषाणों के राज्य थे। सम्भवतः उनमें से कुछ ने गुप्त-साम्राज्य की प्रभुता स्वीकार की थी। कम-से-कम उनके प्रभाव में तो अवश्य ही थे। दक्षिण के पूर्वी किनारे के राज्य और कृष्णा से आगे तमिल देश में पल्लव-राज, समुद्रगुप्त के करद थे। सिंहल तथा सम्भवतः भारतीय महासागर के कुछ अन्य द्वीप अथवा पूर्वी-द्वीप-समूह समुद्रगुप्त के प्रति विनम्र आदर-भाव रखते थे।

अपनी इस शानदार दिग्विजय के परिणामस्वरूप समुद्रगुप्त ने एक अश्वमेध किया था, जिसका परिचय सिक्कों तथा उनके उत्तराधिकारियों के अभिलेखों से मिलता है।[1] उन्हें उनकी पौत्री प्रभावतीगुप्ता के अभिलेख में **अनेकाश्वमेधयाजी** कहा गया है;[2] किन्तु यह बात सन्दिग्ध है। यदि उन्होंने एक से अधिक अश्वमेध किया होता तो उसके वंशधरों ने इस बात को अपने लेखों में बलपूर्वक कहा होता; विशेषतः ऐसी अवस्था में जब कि वे उन्हें निरन्तर **चिरोत्सन्न अश्वमेध-हर्ता** कहते नहीं अघाते। फ्लीट ने इस विरुद्-पद का अर्थ किया है—**दीर्घकाल से बन्द अश्वमेध को पुनर्प्रचलित करने वाला** (वन हू हैज रेस्टोर्ड द अश्वमेध, दैट हैड बीन लॉग इन अबेयन्स)[3] और उनके इस अनुवाद को सभी विद्वान् मानते चले आ रहे हैं। किन्तु यह ऐतिहासिक तथ्य के सर्वथा प्रतिकूल है। समुद्रगुप्त से पूर्व अनेक राजाओं—शुंगवंशी पुष्यमित्र, कलिंग-नरेश खारवेल, सातवाहन-वंशी सातकर्णि, वाकाटक-वंशी प्रवरसेन और भारशिवों ने अश्वमेध यज्ञ किये थे। कुछ ने तो कुछ ही समय पहले किया था। इस प्रकार यदि इस अनुवाद को ठीक मानें तो समुद्रगुप्त के वंशधरों का उक्त कथन सत्य से परे ठहरता है। किन्तु उनके वंशधर झूठ नहीं कह रहे थे; हमने ही इस पद का वास्तविक अर्थ समझने में भूल की है।

चिरोत्सन्न शब्द का प्रयोग अश्वमेध के प्रसंग में ही शतपथ ब्राह्मण में हुआ है। उसमे इसकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है कि यज्ञ के अनेक कर्मतत्त्व भूले जा चुके हैं

---

१. यह लखनऊ के राजकीय संग्रहालय में सुरक्षित अश्व-मूर्ति पर अंकित '......द्रगुप्तस देयदम्म' से भी प्रकट होता है। 'पराक्रम' लेखयुक्त अश्व-चित्र अंकित एक मुहर को भी लोग 'अश्वमेध' का द्योतक मानते हैं (ज० रा० ए० सो०, १९०१, पृ० १०२)।

२. ए० इ०, १५, पृ० ४१ आदि; से० इ०, पृ० ४१२।

३. का० इ० इ०, ३, पृ०।

अतः उसके परिणामस्वरूप कुछ प्रायश्चित्त द्योतक कर्म करना आवश्यक है। इसका अर्थ यह निकला कि शतपथ ब्राह्मण के काल से भी पहले अश्वमेध यज्ञ के कुछ कर्म भूले जा चुके थे। इस कारण विशेष अतिरात्रसोम करके यज्ञ समाप्त किया जाता था, जो विस्तृत यज्ञ की खामियों के लिए प्रायश्चित्त था। तैत्तिरीय संहिता में भी उत्सन्न शब्द की व्याख्या की गयी है। उसमें कहा गया है कि यज्ञ का सारा कर्म विधिवत् हुआ ही है, किसी के लिए भी यह निश्चित रूप से कह सकना अत्यन्त कठिन है। इस अनिश्चय का कारण स्पष्ट ही यह था कि यज्ञ का विधान अत्यन्त विस्तृत था और कोई कह नहीं सकता था कि उसकी कोई बात नहीं छूटी है।

इनके प्रकाश में ऐसा जान पड़ता है कि समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ को अत्यन्त विस्तार के साथ किया था और सम्भवतः भूले जा चुके कर्मों को भी फिर से उन्होंने उसमें सम्मिलित करने का प्रयत्न किया था। इस सम्बन्ध में यह भी द्रष्टव्य है कि समुद्रगुप्त से पहले जिन राजाओं ने अश्वमेध किया था, उन्होंने किसी प्रकार का कोई दिग्विजय नहीं किया था, जो अश्वमेध का एक आवश्यक अंग था। समुद्रगुप्त ने अश्वमेध से पहले दिग्विजय किया था। सम्भव है अकेले इसी तथ्य ने ही उन्हें दीर्घकाल के बाद पूर्ण रूप से राजसूय करने का गौरव प्रदान किया हो।

प्रयाग-प्रशस्ति में अश्वमेध की कोई चर्चा नहीं है। मौन का एक मात्र यही अर्थ हो सकता है कि उसकी स्थापना तक अश्वमेध नहीं हुआ था। किन्तु उसकी एक पंक्ति से कुछ ऐसा अवश्य लगता है कि समुद्रगुप्त इस प्रकार का कोई यज्ञ करने का विचार कर रहे थे। उनका यह विचार आगे चल कर पूरा हुआ यह उनके सिक्कों से प्रकट होता है। अश्वमेध की भावना एरण अभिलेख के **सुवर्ण दान** अथवा **अनेक-गो-हिरण्य-प्रदस्य** में भी कुछ दिखायी पड़ती है।

हरिषेण ने इस प्रशस्ति में अपने स्वामी के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है उसमें कुछ अत्युक्ति अवश्य हो सकती है। उस अत्युक्ति को अलग रख कर देखें तब भी उससे समुद्रगुप्त का एक उभरता हुआ चित्र झलकता है। जान पड़ता है कि समुद्रगुप्त एक शक्तिशाली और दृढ़निश्चयी शासक थे और राजनीतिज्ञ के महान् गुण उनमें समाहित थे। निस्सन्देह वे चक्रवर्ती बनने की कल्पना से आप्लावित थे। किन्तु कुशल राजनीतिज्ञ की भाँति उन्होंने सारे देश को अपने प्रत्यक्ष शासन के अन्तर्गत रखने का प्रयत्न कभी नहीं किया। इसके विपरीत उन्होंने सुदृढ़ केन्द्रीय शासन की स्थापना की जो छोटे राज्यों में विभेदकारी प्रवृत्तियों और उनके पारस्परिक विद्वेषों को रोकने में समर्थ था। अपने राज्य के चारों ओर के छोटे राज्यों को उन्होंने निर्ममता के साथ उखाड़ फेंका और अपना एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया। साथ ही पूर्वी बंगाल, असम, नेपाल आदि पूर्वी सीमान्तक राज्यों और पश्चिम में गण-राज्यों को हड़पने का भी कोई प्रयास नहीं किया। उन्हें विश्वस्त करद के रूप में बनाये रखा; ऐसा करने में उन्होंने एक महान् राजनीतिज्ञ के कुशल दूरदर्शिता का परिचय दिया। उनके विजय के कठिन कार्य में न लग कर उन्होंने विदेशी शक्तियों के विरुद्ध उनको मध्यवर्ती सीमान्त राज्य के रूप में

संरक्षण प्रदान किया। इस प्रकार अपने शिशु साम्राज्य में शक्ति-संचार किया। दक्षिण भारत के राजाओं ने इस नयी शक्ति के भार का अनुभव किया, साथ ही उनकी उदार नीति के परिणामस्वरूप वे आश्वस्त भी रहे। पश्चिम में स्थित वाकाटकों को जो तुल्य-शक्तिशाली थे, छेड़ने की भूल भी उन्होंने नहीं की। कदाचित् उनके साथ उनका अपने पिता के समय से ही मैत्री भाव था। इस प्रकार उन्होंने एक महान् साम्राज्य की सुदृढ़ नींव रखी, जिस पर उनके उत्तराधिकारियों ने सफलतापूर्वक एक विशाल अट्टालिका खड़ी की।

उनकी यह सफलता दीर्घकालिक सैनिक अभियान का ही परिणाम कहा जा सकता है। इससे उनकी असीम शक्ति और उच्च कोटि की सैनिक योग्यता का परिचय मिलता है। हरिषेण ने उनके **शत समर** में सम्मिलित होने की जो चर्चा की है अथवा सिक्कों पर उन्हें जो **समर-शत-वितत-विजयी** कहा गया है, उसकी सत्यता जानने के साधन न होने पर भी उसे कोरी अलंकारिकता नहीं कह सकते। धनुष-बाण धारण किये, परशु लिये, व्याघ्र को दलित करते हुए उनके जो चित्र सिक्कों पर मिलते हैं, वे उनकी वीरता की साकार मूर्ति प्रस्तुत करते हैं। **अप्रतिरथ, कृतान्त-परशु, व्याघ्र-पराक्रम, अप्रतिवार्य-वीर, पराक्रमांक, अजित, अजितराजजेताजितः** आदि विरुदों का जो प्रयोग सिक्कों पर किया गया है, वे सभी उनके सदृश व्यक्तित्व के लिए सर्वथा उपयुक्त थे।

महावीर, सेनापति, राजनीतिज्ञ, शासक होने के साथ-साथ समुद्रगुप्त में मानवोचित गुण भी भरे हुए थे। हरिषेण के शब्दों में वे **मृदु-हृदय** और **अनुकम्प** थे और प्रति क्षण दरिद्र, दुःखी, असहायों की सहायता के लिए तत्पर रहते थे; उदारता की वे प्रति-मूर्ति थे।

साथ ही समुद्रगुप्त विद्याव्यसनी और उच्च कोटि के कला-रसिक भी थे। हरिषेण के शब्दों में ही वे **सुखमनः, प्रज्ञानुसंगोचित, शास्त्रतत्त्वज्ञ** थे। उन्होंने अपने दरबार में अपने समय के **बहुगुणित** लोगों को एकत्र कर रखा था। उनकी सहायता से वे **सत्काव्यश्री** को परख लेते थे और स्वयं भी **बहु-कविता** के रचयिता थे। वह अपनी विद्वत्सभा के उपजीव्य (**विद्वज्जनोपजीव्य**) थे।[1] अपनी अनेक रचनाओं के बल पर वे कविराज कहे जाते थे (**अनेक-काव्य क्रियाभिः प्रतिष्ठित कविराज**)। किन्तु उनकी रचनाएँ आज कहीं उद्धरण रूप में भी उपलब्ध नहीं हैं।

समुद्रगुप्त न केवल महाकवि थे, वरन् महान् संगीतज्ञ भी थे। उनकी तुलना हरिषेण ने बृहस्पति, तुम्बरु, नारद सदृश संगीतकारों से की है। उनकी संगीत-कला

---

१. फ्लीट ने "विद्वज्जनोपजीव्यानेक काव्यक्रियाभिः" का अनुवाद "वेरियस कम्पोजीशन दैट वाज फिट टु बी मीन्स ऑव सबसिस्टेन्स ऑव लर्नेड पीपुल" किया है। किन्तु यहाँ "मीन्स ऑव सबसिस्टेन्स" के रूप में 'उपजीव्य' की कोई संगति नहीं है। वस्तुतः राजशेखरकृत काव्य-मीमांसा के अनुसार वे राजे जो अपनी विद्वत्सभा के अध्यक्ष होते और स्वयं भी राजकवियों को नवीन विचार देनेवाली काव्य-रचना करने की क्षमता रखते थे 'उपजीव्य' कहे जाते थे (पृ० ५४-५५)।

की दक्षता उनके उन सिक्कों में भी झलकती है जिन पर वे वीणा-वादक के रूप में अंकित किये गये हैं।

समुद्रगुप्त के सोने के सिक्कों की जो कलात्मक बनावट है, वह तत्कालीन कला के अद्भुत विकास का हलका-सा परिचय देती है। उसी के कारण गुप्त-काल भारत के इतिहास में अप्रतिम युग कहा और समझा जाता है।

जब हम उनके सिक्कों को देखते और उनके अभिलेखों का मनन करते हैं, तो हमें अपनी कल्पना में एक ऐसा राजा दिखायी देता है जो अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट शरीर वाला था; उसकी शारीरिक शक्ति के समान ही उसकी बौद्धिक और सांस्कृतिक उपलब्धियाँ भी थीं। उसने एक नये काल की सृष्टि की जिसमें आर्यावर्त ने पाँच सौ वर्षों के राजनीतिक ह्रास और विदेशी पराधीनता के पश्चात् नयी राजनीतिक चेतना और स्वाभाविक एकता प्राप्त की और वह नैतिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक और भौतिक समृद्धि के एक ऊँचे स्तर पर पहुँच गया। अतः यह कहना अत्युक्ति न होगा कि समुद्रगुप्त स्वयं भावी युग की, जिसका वह स्वयं बहुलांशों में नियामक था, शारीरिक और बौद्धिक शक्ति का प्रतीक था।

अन्त में कुछ शब्द समुद्रगुप्त के परिवार के सम्बन्ध में। राजकीय अभिलेखों के अनुसार दत्तदेवी उनकी पट्ट-महिषी थीं, जो सम्भवतः कदम्ब कुल की राजकुमारी और ककुत्स्थवर्मन की पुत्री थीं।[१] एरण अभिलेख में कहा गया है कि उन्हें अपने पति से

---

१. तालगुण्डा अभिलेख के अनुसार कदम्बकुल की एक राजकुमारी, जो ककुत्स्थवर्मन की पुत्री थीं, गुप्तकुल में विवाहित हुई थीं। उनके सम्भावित पति के रूप में लोगों ने चन्द्रगुप्त (द्वितीय), कुमारगुप्त (प्रथम) और स्कन्दगुप्त का नाम लिया है। पर इनमें से किसी को भी उनका पति अनुमान करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। अधिक सम्भावना यही है कि कदम्ब-राजकुमारी के पति समुद्रगुप्त रहे होंगे और वह कदम्ब राजकुमारी दत्तदेवी होंगी।

मूल उलझन ककुत्स्थवर्मन की तिथि निर्धारित करने की है। ककुत्स्थवर्मन के हालसी अभिलेख में जिस वर्ष ८० का उल्लेख है, उसे लोगों ने गुप्त-संवत् अनुमान किया है। किन्तु ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिससे कहा जा सके कि कदम्बों ने अथवा दक्षिण के किसी अन्य शासक ने अपने अभिलेखों में गुप्त-संवत् का प्रयोग किया था। अधिक सम्भावना यह है कि यह तिथि उसके अपने वंश-संवत् में अंकित की गयी है जिसका आरम्भ मयूरशर्मन के उत्थान से होता है और उसके उत्थान के आरम्भ का समय मलवल्ली अभिलेख के आधार पर २४० और २६० ई० के बीच आँका जाता है। इसके अनुसार हालसी अभिलेख का समय ३२० और ३४० ई० के बीच होगा। इस प्रकार हम सुगमता से ककुत्स्थवर्मन को समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ समकालिक कह सकते हैं।

मयूरशर्मन के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे पल्लवों की राजधानी कांची में विद्याध्ययन के निमित्त गये थे। वहाँ किसी अश्व-संस्थ अथवा अश्वमेध में कुछ उत्पात हुआ (श्रीकान्त शास्त्री, सोर्सेज आव कर्णाट हिस्ट्री, १, पृ० १८; सरकार, सक्सेसर्स ऑव सातवाहनाज, पृ० १८४, २३८ पाद टिप्पणी) जिससे मयूरशर्मन को शास्त्र छोड़कर शस्त्र ग्रहण करने की प्रेरणा प्राप्त हुई। फलस्वरूप यथासमय उन्होंने अपना राज-वंश स्थापित किया। पल्लव-नरेश कुमारविष्णु द्वारा अश्वमेध किये जाने की बात हमें ज्ञात है। वेलुरपल्यम् अभिलेख में जिस

शुल्कस्वरूप पौरुष-पराक्रम प्राप्त हुआ था (पौरुष-पराक्रमदत्ता शुल्क)। इससे अनुमान होता है कि समुद्रगुप्त ने उनसे अपने दक्षिण भारत के अभियान के समय विवाह किया होगा। एरण अभिलेख के अनुसार समुद्रगुप्त के अनेक पुत्र-पौत्र थे किन्तु हमें केवल दो का ही नाम ज्ञात है। वे हैं—रामगुप्त और चन्द्रगुप्त (द्वितीय)।

समुद्रगुप्त ने सम्भवतः लगभग बीस वर्ष तक शासन किया। मथुरा स्तम्भ-लेख से ज्ञात होता है कि उनका बेटा चन्द्रगुप्त (द्वितीय) गुप्त संवत् ५६ (३७५ ई०) में गद्दी पर बैठा था। उनसे पहले कुछ समय तक रामगुप्त ने राज्य पर अधिकार कर रखा था। इस प्रकार समुद्रगुप्त के शासन का अन्त ३७५ ई० से काफी पहले हुआ होगा; पर अनुमान किया जा सकता है कि वह ३७० ई० से अधिक पूर्व नहीं हुआ होगा।

उत्पात की बात कही गयी है, बहुत सम्भव है वह इसी अश्वमेध के समय में हुई होगी। कुमारविष्णु का समय अनिश्चित है और उसके सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। किन्तु सौभाग्य से मयूरशर्मन और कुमारविष्णु की वंश-परम्परा का क्रम उपलब्ध है। कदम्बों की स्वीकृत वंश-परम्परा इस प्रकार है—(१) मयूरशर्मन, (२) कंगवर्मन, (३) भगीरथ, (४) रघु, (५) ककुत्स्थवर्मन। ओंगोडा अभिलेख संख्या १ और उरुपल्ली अभिलेखों के अनुसार पल्लव वंश-परम्परा इस प्रकार है—(१) कुमारविष्णु, (२) स्कन्दवर्मा, (३) वीरवर्मा, (४) श्री विजयस्कन्द वर्मा और (५) विष्णुगोप वर्मा। दोनों वंश-परम्पराओं के मयूरशर्मन और कुमारविष्णु की समसामयिकता को ध्यान में रखते हुए यह बात सामने आती है कि ककुत्स्थवर्मन और विष्णुगोपवर्मन समसामयिक थे और प्रयाग-प्रशस्ति से यह ज्ञात है कि काँची के विष्णुगोप को समुद्रगुप्त ने पराजित किया था। इसका अर्थ यह हुआ कि ककुत्स्थवर्मन समुद्रगुप्त का भी समसामयिक हुआ। इस प्रकार इस निष्कर्ष पर सहज रूप से पहुँचा जा सकता है कि कदम्ब राजकुमारी का विवाह समुद्रगुप्त से हुआ था।

किन्तु तर्क किया जा सकता है कि पिता के समय में ही चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का विवाह कदम्ब-राजकुमारी से हुआ होगा। किन्तु चन्द्रगुप्त की दो पत्नियों में एक तो नाग-राजकुमारी थीं और दूसरी उसके ज्येष्ठ भाई रामगुप्त की विधवा, जिससे उन्होंने अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त विवाह किया था। इस प्रकार कोई बात ऐसी नहीं है जिससे उनके साथ कदम्ब-राजकुमारी के विवाह होने का अनुमान किया जा सके।

इसी प्रकार कदम्ब-राजकुमारी के साथ प्रथम कुमारगुप्त के विवाह की बात भी अग्राह्य है। कुमारगुप्त ध्रुवदेवी के कनिष्ठ पुत्र थे जिनसे चन्द्रगुप्त द्वितीय ने राज्यारोहण के पश्चात् ३७५ ई० के आस-पास विवाह किया था। अतः कुमारगुप्त का जन्म किसी भी अवस्था में ३८० ई० से पूर्व नहीं माना जा सकता। इस प्रकार उनके ३९० अथवा ३९२ ई० में विवाह की जो बात कही जाती है, सर्वथा असम्भव है। यही बात उनके बड़े भाई गोविन्दगुप्त के विवाह (पाइरेस, मौखरीज, पृ० ३२–३४) के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। मोरेस ने कदम्ब-राजकुमारी और स्कन्दगुप्त के विवाह की बात कही है। उनके कथन के अनुसार प्रथम कुमारगुप्त का जन्म ३७० ई० में हुआ था (कदम्बकुल, पृ० २७) जो सर्वथा असम्भव है।

रामगुप्त

समसामयिक अभिलेखों के अनुसार समुद्रगुप्त के तात्कालिक उत्तराधिकारी उनके सत्पुत्र चन्द्रगुप्त (द्वितीय) माने जाते रहे हैं। किन्तु विशाखदत्त कृत देवीचन्द्र-गुप्तम् नामक संस्कृत नाटक के कुछ अवतरणों[1] के प्रकाश में आने पर ज्ञात हुआ कि वे अपने पिता के तात्कालिक उत्तराधिकारी न थे। उनसे पहले कुछ काल के लिए उनके बड़े भाई रामगुप्त, समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के बीच गद्दी पर बैठे थे।

इन रामगुप्त के सम्बन्ध में अधिक कुछ ज्ञात नहीं है। नाटक के उपलब्ध अवतरणों में इतना ही ज्ञात होता है कि उनके शासन काल में उनके राज्य पर किसी शक राजा ने आक्रमण किया था। उसका सामना न करके अपने मन्त्री की सलाह पर रामगुप्त ने आक्रामक को अपनी पत्नी ध्रुवदेवी को देकर शान्त करना चाहा। उनके छोटे भाई चन्द्रगुप्त को, जिन्हें नाटक में कुमार कहा गया है और जो स्वयं वीर और साहसी थे, यह बात नहीं जँची। उन्होंने ध्रुवदेवी को शत्रु-शिविर में न जाने देकर स्वयं उनके वेश में जाने का निश्चय किया। तदनुसार नारी वेशधारी कुछ अन्य सैनिकों के साथ चन्द्रगुप्त ने शक शिविर में प्रवेश किया। जब शक-नरेश उनके आलिंगन को बढ़ा तो उन्होंने झपट कर उसे मार डाला। पश्चात् चन्द्रगुप्त ने अपने भाई को भी मार डाला और उनकी पत्नी ध्रुवदेवी से विवाह कर लिया।

इस घटना की चर्चा कम-से-कम पाँच अन्य लेखकों ने भी की है। उनमें बाण (६२० ई० के लगभग) पहले हैं। उन्होंने गुप्त इतिहास की इस घटना का उल्लेख अपने हर्ष-चरित में किया है। कहा है कि 'अरिपुर में शक-नरेश नारी-वेशधारी चन्द्रगुप्त द्वारा उस समय मारा गया जब वह परस्त्री का आलिंगन कर रहा था।'[2] हर्षचरित की टीका करते हुए शंकरार्य (१७१३ ई०) ने इस घटना की व्याख्या करते हुए बताया है कि शक-नरेश रामगुप्त की पत्नी ध्रुवदेवी को चाहता था। इसलिए अन्तःपुर में वह चन्द्रगुप्त के हाथों मारा गया जिन्होंने अपने भाई की पत्नी ध्रुवदेवी का रूप धारण कर रखा था। उस समय उनके साथ कुछ और लोग भी नारी वेश में थे।[3] राजशेखर ने भी इस घटना का उल्लेख अपने काव्य-प्रकाश में किया है।[4]

अबुल हसन अली ने इसका वर्णन अपने मजमल-उत्-तवारीख में अधिक विस्तार से

---

१. देखिये पीछे, पृ० १२३–१३० ।

२. निर्णयसागर प्रेस सं०, पृ० २००; कॉवेल-थॉमसकृत अनु०, पृ० १९४; पीछे देखिये, पृ० १३७ ।

३. देखिये पीछे, पृ० १३८ ।

४. गा० ओ० सी०, पृ० ४७; पीछे देखिये, पृ० १३८–१३९ ।

किया है। उसमें ऊपर कही गयी बातों के अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि शक-नरेश की हत्या से चन्द्रगुप्त जनता के आदर के पात्र बन गये और रामगुप्त की प्रतिष्ठा घट गयी। फलतः रामगुप्त चन्द्रगुप्त को सन्देह भाव से देखने लगे। चन्द्रगुप्त अपने भाई के कुचक्र से बचने के लिए पागल बन गये। एक दिन अकस्मात् चन्द्रगुप्त राम-गुप्त के महल में घुस गये और छुरे से उसकी हत्या कर दी। तदनन्तर स्वयं गद्दी पर बैठे और उसकी पत्नी से विवाह कर लिया।'[1] चन्द्रगुप्त के पागल बनने की बात चक्रपाणिदत्त ने अपने चरकसंहिता की टीका में भी कही है।[2]

गुप्त अभिलेखों में इस बात को स्वीकार किया गया है कि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने ध्रुवदेवी (अपने भाई की विधवा) से विवाह किया था और उनसे उनके सन्तान हुई थी। भाई की पत्नी से विवाह करने की बात नवीं शती ई० में लोकविदित थी, यह अमोघवर्ष के शक ७९५ (८७१ ई०) के संजान ताम्र-लेख से स्पष्ट है। उसमें कहा गया है कि 'कलियुग में गुप्त-वंशी राजा ने अपने भाई को मार कर उसका राज्य और उसकी पत्नी प्राप्त की थी।'[3] यह बात गोविन्द (चतुर्थ) के सांगली और खम्भात ताम्रपत्रों में भी दुहराया गया है। उनमें कहा गया है कि 'गोविन्द अपनी उदारता और दान में ही साहसांक (द्वितीय चन्द्रगुप्त) के समान है, उसके दुष्कर्मों में नहीं।' इन ताम्रपत्रों के अनुसार साहसांक के दुष्कर्म थे---बड़े भाई की हत्या, भावज (भाभी) से विवाह, भय से पागल बनना और पैशाच्यकर्म करना।[4]

इन साहित्यिक और आभिलेखिक सूत्रों से गुप्त-सम्राटों के इतिहास की एक अज्ञात किन्तु महत्त्वपूर्ण घटना का पूर्ण स्वरूप प्रकट होता है। किन्तु कुछ विद्वान् इन बातों की ऐतिहासिकता में विश्वास नहीं करते। उनका कहना है कि इस घटना का सर्वप्रथम उल्लेख घटना के दो सौ बरस बाद का है। बाण और उसके टीकाकार ने जो कुछ कहा है, वह काव्य-मीमांसा के कथन से भिन्न है और पूर्ववर्ती वृत्तों में घटना का विस्तार नहीं मिलता। वह अमोघवर्ष और गोविन्द (चतुर्थ) के समय में जोड़ी गयी। उनका यह भी मत है कि वैतालसाधना आदि दैवी तत्त्वों के अतिरिक्त स्वयं कहानी न केवल असाधारण है वरन् रोमानी और अतिरंजित भी है। वह तत्कालीन प्रथा और विश्वासों के प्रतिकूल भी है। वे कभी यह विश्वास नहीं करना चाहते कि समुद्रगुप्त के शक्तिशाली साम्राज्य का उत्तराधिकारी इस प्रकार शक-नरेश द्वारा पराजित किया जायेगा कि उसके पास अपने राज्य और सेना की रक्षा के लिए इस प्रकार का कार्य करने के सिवा और कोई उपाय नहीं रह जायेगा जो भारत के सुवर्ण-युग के सम्राट् के

---

१. इलियट-डाउसन, हिस्ट्री आव इण्डिया एज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स, १, पृ० ११०; पीछे देखिये पृ० १४६–१४९।

२. निर्णयसागर प्रेस सं०, ३रा सं०, पृ० २४८–४९; पीछे देखिये पृ० १३९।

३. ए० इ०, ४, पृ० २५७; पीछे देखिये पृ० ४९।

४. इ० ए०, ३९, पृ० २९३–२१६; ज० रा० ए० सो०, १९१२, पृ० ७१०; पीछे पृ० ४९–५०।

लिए ही नहीं, किसी देश और काल के किसी भी राजा के लिए निन्दनीय होगा । उनका कहना है कि—

> इसे हम किसी कायर अथवा पागल राजा की नादानी मात्र कह कर नहीं टाल सकते । हमसे यह मानने के लिए कहा जाता है कि उसे इस कार्य के लिए जनता ने भले ही प्रेरित न किया हो पर उसमें उसकी पूरी सहमति थी । भारत के सुवर्णयुग का आचार-शास्त्र पूर्ववर्ती पतित दिनों से, जब कि हम जानते हैं कि ऐसे खतरे के समय स्त्रियों ने अपने को आग में सौंप दिया था और पुरुष इस अपमान का बदला चुकाने के लिए रक्त की अन्तिम बूँद रहने तक जूझ मरे थे, निस्सन्देह भिन्न रहा होगा ।[1]

किन्तु ये सारी आपत्तियाँ वास्तविक न होकर केवल भावुकता जनित हैं। उन सबका समुचित उत्तर दिया जा सकता है । कौटिल्य की राजनीति में आचार का कोई स्थान न था; राज-हित ही उसकी दृष्टि में सर्वोपरि था । राज-हित में प्रत्येक कार्य, आचार-दुराचार, वैध-अवैध सबको उसने उचित ठहराया है । गुप्त-युग की राजनीति उक्त महान् राजनीतिज्ञ की राजनीति से कदापि भिन्न न थी । ऐसा कहीं भी नहीं कहा गया है कि शासन-कार्य आचार-शास्त्र के कठोर सिद्धान्तों के अनुसार होता था । यदि रामगुप्त ने अपनी पत्नी को शक-नरेश के पास भेजने का निश्चय किया तो वह न तो कायर थे और न पागल । वे सारा कार्य राजनीति के सिद्धान्तों के अनुसार कर रहे थे । उसमें जनता के न मानने जैसी कोई बात ही न थी । राजपूत और उनकी स्त्रियाँ जौहर के लिए विख्यात हैं; किन्तु उन्हीं राजपूतों में हम पाते हैं कि रत्नसेन, रामगुप्त जैसी परिस्थितियों में ही, अपनी पत्नी पद्मिनी को अलाउद्दीन खिलजी के पास भेजने को राजी हो गया था ।

चन्द्रगुप्त का अपनी भावज (भाभी) से विवाह कर लेना भी न तो शास्त्र के विरुद्ध था और न समाज के व्यवहार के प्रतिकूल । वैताल-साधना जैसी दैविक बात भले ही सत्य न हो पर विक्रमादित्य के साथ जुड़ी अनुश्रुतियों में वैताल के साथ उनका अविच्छिन्न सम्बन्ध माना जाता है । गुप्तोत्तर-काल में तो भूत-प्रेत की मान्यता के प्रमाण बहुलता से मिलते हैं । वे यदि पहले भी प्रचलित रहे हों तो कोई आश्चर्य नहीं ।

रामगुप्त सम्बन्धी अनुश्रुतियों को लेकर जो ऐतिहासिक स्वरूप खड़ा किया गया है, उसकी सबसे बड़ी कमजोरी रामगुप्त के सिक्कों के अभाव की कही जाती रही है । अतः भण्डारकर ने सोने के सिक्कों के काच और अनुश्रुतियों के रामगुप्त को एक मान कर इसे दूर करने की चेष्टा की थी । उनका कहना था कि रामगुप्त, जो देवीचन्द्रगुप्तम् के उपलब्ध अवतरणों में केवल एक बार आया है, काचगुप्त का अपपाठ है ।[2] इस प्रकार उन्होंने काच नाम वाले सोने के सिक्के रामगुप्त के ठहराये । किन्तु स्वयं इन सिक्कों से

---

१. मजूमदार, र० च०, वाकाटक-गुप्त एज, पृ० १६३–१६५ ।

२. मालवीय कमोमोरेशन वाल्यूम, पृ० १८० ।

ज्ञात होता है कि उन्हें रामगुप्त का नहीं ठहराया जा सकता। वे काचगुप्त नामधारी एक भिन्न शासक के हैं जो रामगुप्त से बहुत पहले हुआ था।[1]

सौभाग्य से अब ताँबे के कुछ सिक्के विदिशा तथा अन्य स्थानों से मिल गये हैं जिन पर स्पष्ट गुप्त-कालीन अक्षरों में **रामगुप्त** लिखा है।[2] ये सिक्के बनावट, शैली और भार-मान में चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के सिक्कों के समान हैं। रामगुप्त के सिक्कों की एक भाँत में अन्य गुप्त राजाओं के सिक्कों पर मिलने वाले गरुड़ के समान गरुड़ भी है।[3] इस भाँत के सिक्कों से तो रहा-सहा सन्देह भी जाता रहा। उनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे सिक्के गुप्तवंश के हैं और रामगुप्त भी गुप्तवंश के ही थे। इससे रामगुप्त की ऐतिहासिकता निःसन्दिग्ध रूप से सिद्ध हो जाती है। गरुड़ भाँत के सिक्कों के मिलने से पहले रमेशचन्द्र मजूमदार को रामगुप्त के सिक्कों के गुप्त-वंशी होने में सन्देह था। उनकी दृष्टि मे ये सिक्के मालवा के किसी स्थानीय राजा के थे।[4] उन्होंने इस तथ्य पर ध्यान देने की कभी आवश्यकता का अनुभव नहीं किया कि इस काल में मालवा में कोई स्थानिक शासक हो भी सकता है या नहीं। मालवा का एरण वाला भूभाग या तो वाकाटकों के अधीन था या फिर समुद्रगुप्त के समय से गुप्तों के प्रत्यक्ष शासन के अन्तर्गत। विदिशा और उसके आस-पास का प्रदेश भारशिवों के अधीन था। उसके आगे पश्चिमी क्षत्रप शासन करते थे। फिर भी यदि कहा जाय कि वहाँ स्थानिक शासक थे ही, तो वे इतने शक्तिशाली कदापि न थे कि वे अपने सिक्के जारी करते।

चन्द्रगुप्त (प्रथम) और समुद्रगुप्त दोनों के अब तक ताँबे के सिक्के नहीं मिले हैं। अतः यह सन्देह प्रकट किया जाता है कि जिस ढंग के ताँबे के नन्हें सिक्के विदिशा, झाँसी आदि से मिले हैं, उस ढंग के सिक्के गुप्त-वंश के रामगुप्त ने कदापि न चलाये होंगे और यदि उसने चलाये थे तो क्या वे विदिशा और उदयगिरि तक ही प्रचलित हो सके होंगे ? वह प्रदेश तो चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के काल में विजित हुआ था।

इन आपत्तियों के उत्तर में इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना पर्याप्त होगा कि मगध को लोग गुप्तों का गृह-प्रदेश कहा करते हैं। किन्तु वहाँ से चाँदी का केवल एक सिक्का (द्वितीय चन्द्रगुप्त का) मिला है[5] जब कि पड़ोसी उत्तर प्रदेश में वे प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। सोने के सिक्के भी जो साम्राज्य के अन्य भागों में बड़ी मात्रा में मिलते हैं, बिहार में अत्यल्प हैं। अब तक हाजीपुर से प्राप्त एक छोटा-सा दफीना ही प्रकाशित है।[6] पटना संग्रहालय के आलेखों से पाँच और दो सिक्कों के दो अन्य

---

१. देखिये पीछे पृ० १७५-१७६।
२. ज० न्यू० सो० इ०, १२, पृ० १०३; १३, पृ० १२८।
३. वही, २३, पृ० ३३१–४३।
४. क्लासिकल एज, पृ० १७, पा० टि० १।
५. ५० आ० स० रि०, १५, पृ० २४–३१।
६. प्रो० ए० सो० बं०, १८९४, पृ० ५७; क्वायनेज ऑव गुप्त इम्पायर, पृ० ३०८।

दफीनों का परिचय मिलता है।[1] स्पूनर[2], घोष[3] और अल्तेकर[4] के उत्खनन में पाटलिपुत्र में गुप्तों के चाँदी और सोने के एक भी सिक्के नहीं मिले। ताँबे के जो सिक्के मिले हैं वे भी इने-गिने ही हैं। गुप्तों के गृह-प्रदेश में जब सिक्कों की यह दयनीय स्थिति है, जब कि अन्यत्र वे प्रचुरता से दृष्टिगोचर होते हैं, तो हमें कोई आश्चर्य जैसी बात नहीं जान पड़ती, यदि रामगुप्त के सिक्के राजधानी से बहुत दूर विदिशा के प्रदेश में मिलते हैं।

यह भी स्मरण रखना होगा कि चाँदी और ताँबे के सिक्के प्रकृतितः सदैव स्थानीय होते हैं और इस बात के असंख्य उदाहरण हैं कि लोगों ने अपने सिक्के स्थानीय सिक्कों के निकटतम अनुकरण में जारी किये हैं। रामगुप्त के सिक्के उन नागों के सिक्कों से बहुत मिलते हुए हैं, जो उस प्रदेश में प्रचलित थे जहाँ रामगुप्त के सिक्के पाये गये हैं। एरण से, जो निस्सन्देह समुद्रगुप्त के राज्य का अंग था, उत्खनन में बड़ी मात्रा में रामगुप्त के सिक्के मिले हैं; और विदिशा भी, जहाँ से पहले सिक्के प्राप्त हुए थे, एरण से केवल चालीस मील की दूरी पर है। बहुत अधिक सम्भावना इस बात की है कि रामगुप्त के समय में स्थानीय अधिकारियों ने स्थानीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए इन सिक्कों को जारी किया था। एरण के विजय के बाद यदि समुद्रगुप्त ने इस प्रदेश में अपने सिक्के नहीं प्रचलित किये थे तो सिक्कों की इस कमी की पूर्ति इस प्रकार स्वाभाविक है।

रामगुप्त के सोने के सिक्कों के अभाव में कुछ लोग अब भी ताँबे के इन सिक्कों को निर्णयकारी मानने में संकोच करते हैं। उनसे यही कहा जा सकता है कि इंगलैण्ड के शासक एडवर्ड (अष्टम) के समान ही रामगुप्त का शासन भी अल्पकालीन ही था। अष्टम एडवर्ड के सिक्के ग्रेटब्रिटेन तथा उसके अधिकांश उपनिवेशों से निकले ही नहीं। प्रश्न उठता है—क्या सिक्कों के अभाव मात्र से भावी इतिहासकार एडवर्ड अष्टम के अस्तित्व से इनकार कर सकेंगे? यदि नहीं, तो फिर हम ही क्यों सोने के सिक्कों के अभाव में रामगुप्त की ऐतिहासिकता स्वीकार करने में हिचक दिखाते हैं?

सिक्कों के उपर्युक्त प्रमाण के प्रति सन्देह प्रकट करने के साथ ही लोग रामगुप्त के अभिलेखों के अभाव की ओर भी संकेत करते रहे हैं। कहा जाता रहा है कि गुप्त-काल के अभिलेख काफी मात्रा में अनुपलब्ध होते हैं। पर उनमें से एक में भी रामगुप्त का उल्लेख नहीं है।[5] किन्तु वस्तुतः अब यह बात नहीं है। अभी हाल में विदिशा नगर के निकट ही बेस नदी के तटवर्ती एक टीले से खुदाई करते समय जैन तीर्थङ्करों

१. अप्रकाशित।

२. आ० स० इ०, ए० रि०, १९१२-१३, पृ० ७९।

३. अप्रकाशित।

४. एक्सकवेशन्स एट कुम्रहार, पृ० १००।

५. वाकाटक-गुप्त एज, पृ० १६३।

की तीन प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं।[1] उनमें से एक आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की और दूसरी नवें तीर्थंकर पुष्पदन्त की है। तीसरी प्रतिमा की पहचान नहीं की जा सकी है। उनकी चरण-पीठिका पर लेख उत्कीर्ण थे। उनमें से बिन पहचानी प्रतिमा का लेख पूर्णतया नष्ट हो गया है; दूसरी मूर्ति का केवल आधा लेख उपलब्ध है; केवल तीसरी मूर्ति पर पूरा लेख है। इन लेखों का अभी सम्पादन-प्रकाशन नहीं हुआ है। किन्तु भारतीय पुरातत्व विभाग के लिपि-विशेषज्ञ गाइ (जी० एस०) से प्राप्त सूचना के अनुसार उन पर जो अभिलेख हैं, उनमें कहा गया है कि उन प्रतिमाओं को **महाराजाधिराज रामगुप्त** ने निर्मित कराया था।[2] उनका कहना है कि लिपि के आधार पर ये प्रतिमाएँ गुप्त काल की कही जा सकती हैं। कृष्णदत्त वाजपेयी का भी कहना है कि प्रतिमा-लेख चौथी शती ई० के हैं क्योंकि उनकी लिपि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के साँची और उदयगिरि की गुहा-लेखों से मिलती है। मूर्तियों की कला-शैली के सम्बन्ध में उनका मत है कि इन मूर्तियों में कुषाणकालीन तथा पाँचवीं शती ई० की गुप्त-कालीन मूर्तिकला के बीच के लक्षण परिलक्षित होते हैं। मथुरा आदि से प्राप्त कुषाण-कालीन बौद्ध और जैन प्रतिमाओं की चरण-पीठिका पर जिस प्रकार के सिंह का अंकन होता है, वैसा ही अंकन इन मूर्तियों पर भी है। प्रतिमाओं का अंग-विन्यास तथा सिर के पीछे के प्रभामण्डल अन्तरिम काल के लक्षणों से युक्त हैं। उनमें उत्तर गुप्त-कालीन अलंकरणों का सर्वथा अभाव है।[3] इस प्रकार इन मूर्तियों के आरम्भिक गुप्त-कालीन होने में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। इस तथ्य के साथ रामगुप्त के लिए लेख में **महाराजाधिराज** उपाधि का प्रयोग इस बात को सबल रूप से प्रमाणित करता है कि रामगुप्त गुप्त-वंशीय सम्राट् थे। इस अभिलेख के मिल जाने से अब किसी को यह कहने की गुंजाइश नहीं है कि रामगुप्त मात्र एक स्थानिक शासक थे।

इन अभिलेखों के बावजूद कदाचित् कुछ लोग ऐसे भी हों जो यह कह सकते हैं कि रामगुप्त का राजकीय अभिलेखों में उल्लेख नहीं है। अतः उन्हें यह स्मरण करा देना उचित होगा कि गुप्तों के राजकीय अभिलेखों में वंशक्रम मात्र का उल्लेख है, राज्यक्रम और उत्तराधिकार का नहीं। स्कन्दगुप्त गुप्त-वंश का प्रख्यात शासक है किन्तु उनके उत्तराधिकारियों ने अपने अभिलेखों में उनकी अद्भुत उपेक्षा की है। उनके किसी भी अभिलेख में उनकी कोई चर्चा नहीं है।[4] और इसका सीधा-सा कारण यह है कि वे परवर्ती राजाओं के प्रत्यक्ष वंश-क्रम में नहीं आते, क्योंकि वे उनके भाई पुरुगुप्त के वंशधर थे। इस प्रकार के उदाहरण अन्य वंशों से भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं जहाँ शासकों की उपेक्षा की गयी है। उदाहरणार्थ, पश्चिमी क्षत्रपों में दामघसद (प्रथम) एक

1. ये प्रतिमाएँ अब विदिशा संग्रहालय में हैं।
2. लेखक के नाम [illegible] अप्रैल १९६९ का पत्र।
3. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, ३० मार्च १९६९, पृ० १०।
4. [illegible] एपीग्रैफिक मैटेरियल्स, पृ० ६६-६७। पीछे देखिये पृ० ५१-५६।

विख्यात क्षत्रप और महाक्षत्रप हुए हैं, किन्तु उनके भाई रुद्रसिंह (प्रथम) और भतीजे रुद्रसेन (प्रथम) के अभिलेखों में जो वंशावली दी गयी है, उसमें कहीं भी उनका नामोल्लेख नहीं है।[१] अतः यदि गुप्त शासकों के अभिलेखों में रामगुप्त का कोई उल्लेख नहीं मिलता तो वह आश्चर्य जैसी तो कोई बात नहीं है।

इस प्रकार अब गुप्त-वंश में समुद्रगुप्त के पुत्र और चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के बड़े भाई रामगुप्त के अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। विदिशा की मूर्तियों के प्रकाश में आ जाने पर यह बात भी प्रभासित होती है कि उनका काल उतना अल्प न रहा होगा जितना साधारणतः अबतक समझा जाता रहा है। ये लेख तिथिविहीन हैं। यदि उनमें तिथि होती तो इस पर विशेष प्रकाश पड़ सकता था; फिर भी यह तो अनुमान किया ही जा सकता है कि वह चार-पाँच साल से कम न रहा होगा।

यदि गाइ के कथनानुसार प्रतिमा-लेखों का अभिप्राय यह हो कि उन प्रतिमाओं को स्वयं रामगुप्त ने निर्मित कराया अथवा प्रतिष्ठित किया था तो कहना होगा कि रामगुप्त की जैन-धर्म के प्रति आस्था थी।

---

१. इ० ए०, १०, पृ० १५७; ए० इ० १६, पृ० २३५, २३८; ज० ब० ब्रा० ए० सो०, ८, पृ० २३४।

चन्द्रगुप्त (द्वितीय)

रामगुप्त के पश्चात्, समुद्रगुप्त के अनेक पुत्रों में से एक – दत्तदेवी से उत्पन्न चन्द्रगुप्त (द्वितीय) गद्दी पर बैठे। गुप्तों की पारस्परिक वंशावली में, जो राजकीय शासनों और मुहरों पर अंकित पायी जाती है, चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के लिए **तत्परिगृहीत** शब्द का प्रयोग किया गया है।[1] इसका सामान्य भाव यह झलकता है कि उन्होंने अपने पिता की इच्छा के अनुसार सिंहासन प्राप्त किया था। यह व्याख्या कतिपय विद्वानों को केवल इस कारण स्वीकार्य है कि उसके बाद जो अन्य शासक हुए उन सबके लिए, पूर्ववर्ती से सम्बन्ध व्यक्त करने के लिए **तत्पादानुध्यात**[2] का प्रयोग हुआ है। उनकी दृष्टि से यदि इस व्याख्या को स्वीकार किया जाय, तो समुद्रगुप्त के बाद रामगुप्त के उत्तराधिकार के बात की जड़ ही कट जाती है। वे लोग इस शब्द को चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के समुद्रगुप्त से सीधे उत्तराधिकार प्राप्त करने का निश्चित प्रमाण मानते हैं।

किन्तु इस शब्द की दूसरी व्याख्या भी सम्भव है। बहुत सम्भव है कि समुद्रगुप्त ने चन्द्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहा हो और अपने ये भाव लोगों पर व्यक्त भी कर दिये हों; पर उसे विधिवत् कार्यान्वित करने के पूर्व ही मर गये हों और रामगुप्त ने पिता की इच्छा की उपेक्षा कर गद्दी पर बैठने का डौल लगा लिया हो। पीछे जब चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने रामगुप्त को मार कर उससे अधिकार छीना हो तो अपने इस कार्य के औचित्य को सिद्ध करने के लिए अपने को अपने पिता का **परिगृहीत** घोषित करना आवश्यक समझा हो। पीछे चल कर उसकी इस घोषणा ने उसके उत्तराधिकारियों के आलेखों में परम्परा का रूप ग्रहण कर लिया। यह शब्द बिना किसी ऐतिहासिक अर्थ के केवल पिता के प्रति सद्भाव और आदर का वाची भी हो सकता है। इसे समुद्रगुप्त के पश्चात् सीधे उत्तराधिकार का वाची मानना उचित नहीं है।

राज्यारोहण—चन्द्रगुप्त (द्वितीय) गुप्त वंश का पहला शासक है, जिसके राज्यारोहण की तिथि निश्चित रूप से, गुप्त संवत् ५६ (३७६–७७ ई०) के रूप में, ज्ञात है। गुप्त संवत् ६१ (३८० ई०) के अभिलेख में उनके उस राजवर्ष को **पंचमे** कहा गया है।[3]

---

१. भितरी स्तम्भ-लेख; भितरी धातु-मुद्रा; बुधगुप्त, नरसिंहगुप्त आदि के नालन्द से प्राप्त मृण्मुद्राएँ।

२. वही।

३. ए० इ०, २१, पृ० ८, पंक्ति १।

नाम—चन्द्रगुप्त का एक अपर नाम **देवगुप्त** भी था। वाकाटकों के एक अभिलेख में प्रभावतीगुप्ता को **देवगुप्त की पुत्री कहा गया है**[१] और दूसरे में उन्हें **चन्द्रगुप्त की पुत्री** बताया गया है।[२] उनके अपने एक सामन्त के साँची से प्राप्त लेख में भी उन्हें **देवराज** कहा गया है।[३] सोने के कुछ सिक्कों के किनारे के अभिलेख में उनके लिए **देव-श्री** का प्रयोग मिलता है।[४] सिक्कों पर यद्यपि उल्लेख विरुद-सा जान पड़ता है पर वह अपरनाम का द्योतक भी कहा जा सकता है।

शासन-कार्य—समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारी के रूप में चन्द्रगुप्त ने एक विस्तृत साम्राज्य प्राप्त किया था। किन्तु रामगुप्त वाली घटना से ऐसा प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त की मृत्यु के बाद, शीघ्र ही उत्तर के स्वतन्त्र सीमान्तक राज्यों ने, जिनका गुप्तों के साथ अब तक ऐसा राजनीतिक सम्बन्ध था जिसे अधीनता का द्योतक कहा जा सकता है, अब न केवल अपना राजनीतिक सम्बन्ध ही विच्छेद कर लिया वरन् साम्राज्य को चकनाचूर करने के लिए सचेष्ट भी हुए। अतः अनुमान होता है कि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) को भी अपने पिता की तरह ही अपने राज्यकाल के आरम्भिक काल अथवा कुमार रूप में ही सैनिक अभियान करना पड़ा था। उन्होंने सबसे पहले अपने अव्यवस्थित साम्राज्य को संघटित करने और सीमा को दृढ़ बनाने की ओर ध्यान दिया और फिर सामरिक अभियान के लिए निकले।

चन्द्रगुप्त को पहले शकों का सामना करना पड़ा जैसा कि रामगुप्त की घटना से ज्ञात होता है। किन्तु ये शक कौन थे, अभी तक जाना नहीं जा सका। देवीचन्द्रगुप्तम् के खण्डित होने के कारण, घटनास्थल का पता नहीं चलता। बाण ने उसे **अलिपुर** अथवा **अरिपुर** कहा है। यह किसी नगर का नाम है अथवा उसका तात्पर्य मात्र शत्रुनगर से है, स्पष्ट नहीं होता। किन्तु अधिक सम्भावना यही है कि उसका तात्पर्य नगर विशेष से न होकर शत्रुनगर से ही है। राखालदास बनर्जी का अनुमान था कि यह स्थान मथुरा के निकट रहा होगा।[५] किन्तु अबुल हसन ने जो कहानी दी है, उसके अनुसार रव्वाल (रामगुप्त), उनके भाई और उनके मुसाहिबों ने एक पहाड़ी के ऊपर, जहाँ सुदृढ़ दुर्ग था, आश्रय लिया था। इससे अनुमान होता है कि जहाँ यह घटना घटी, वह स्थान पहाड़ी था। काव्य-मीमांसा में राजशेखर ने उसे हिमालय प्रदेश में घटित बताया है। उनका कहना है कि 'चन्द्रगुप्त का कीर्तिगान हिमालय में कार्तिकेयनगर की स्त्रियाँ करती थीं जहाँ शर्म(राम)गुप्त को अपनी पत्नी खस (शक) नरेश को देकर भागना पड़ा था।'[६] अतः भण्डारकर (द० रा०) का मत है कि यह

१. का० इ० इ०, ३, पृ० २३७; २४६।
२. ए० इ०, १५, पृ० ४१ : ज० प्रॉ० ए० सो० नं० २२, पृ० ५८, पंक्ति ७।
३. का० इ० इ०, ३, पृ० ३१, पंक्ति ७।
४. क्वायनेज ऑव गुप्त इम्पायर, पृ० ९३, ९९।
५. एज ऑव इम्पीरियल गुप्त, पृ० ३०।
६. गा० ओ० सी०, पृ० ४७ : पीछे पृ० ११८।

घटना गोमती के काँठे में अल्मोड़ा (उत्तरप्रदेश) के बैजनाथ नामक ग्राम में घटी थी।[१]

किन्तु ऐसा कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है जिससे कहा जा सके कि शक कभी इस प्रदेश में थे। अतः काशीप्रसाद जायसवाल का कहना है कि वह स्थान जलन्धर के दोआब में सबाथू पर्वत के आस-पास उस जगह था जहाँ मुगलकाल में गुरुगोविन्द सिंह ने अपना सैनिक अड्डा बनाया था।[२] मीराशी (वी० वी०) बाण-कथित **अलिपुर** को **नलिनपुर** अनुमान करते हैं, जो प्राचीन कुलूत नगर के आसपास कहीं था। इस कुलूत को युवान-च्वांग कथित त्वेन-क्वांग के रूप में पहचाना जाता है, जो जलालाबाद के वर्तमान नगर के कुछ पश्चिम था।[३] किन्तु रंगास्वामी आयंगार अलिपुर की पहचान कांगड़ा जिले के एक पहाड़ी किले से करते हैं।[४]

हमारी धारणा है कि इस घटना-स्थल की अवस्थिति की खोज उस लौहस्तम्भ के लेख में की जानी चाहिए जो, आजकल मेहरौली में, कुतुब के निकट, दिल्ली से लगभग ९ मील दक्षिण खड़ा है। इसमें विशुद्ध संस्कृत और गुप्तलिपि में चन्द्रगुप्त का कीर्तिगान है। यह अभिलेख तिथि-विहीन है और उसके चौथे पद से ध्वनित होता है कि उसका आलेख निधनोपरान्त हुआ था। इस प्रशस्ति में कहा गया है कि वे सभी शत्रु जिन्होंने संघटित होकर बंग की ओर से आक्रमण किया था, पराजित हुए; वह (चन्द्र) सप्तसिन्धु पार कर वाह्लीकों के विरुद्ध सफलतापूर्वक लड़ा; और **स्वभुज-विजित एकाधिराज** का उसने दीर्घकाल तक उपभोग किया।[५]

अपनी वर्तमान जगह पर यह स्तम्भ सम्भवतः ११०९ वि० सं० (१०५२ ई०) के आसपास तोमर अनंगपाल द्वारा उठा कर लाया गया था।[६] सुप्रसिद्ध चारण चन्द्र रचित पृथ्वीराज-रासो में इस स्तम्भ के सम्बन्ध में एक अनुश्रुति है, जो सम्भवतः रचयिता के समय में प्रचलित थी। उसके अनुसार अनंगपाल के कल्हन नामक किसी पूर्वज ने एक दिन, जब वे आखेट में गये हुए थे, एक आश्चर्य देखा। एक शिकारी कुत्ता, अपने बच्चों के साथ बैठे शशक को देखकर डर गया। इस घटना की व्याख्या उनके व्यास ने इस प्रकार की कि वह भूमि वीर-भूमि है, इसी कारण शशक को देखकर कुत्ता भयभीत हो गया और उसने उन्हें वहाँ एक नगर स्थापित करने की सलाह दी। फलतः कल्हनपुर नामक नगर बसाया गया और वहाँ वह स्तम्भ स्थापित किया गया।[७]

१. मालवीय कमेमोरेशन वॉल्यूम, पृ० १९४।
२. ज० बि० उ० रि० सो०, १७, पृ० २९; इ० ए०, ६२, पृ० ११९।
३. इ० ए० ६२, पृ० २०४।
४. इ० ए०, ५२, पृ० १८३।
५. का० इ० इ०, ३, पृ० १४१।
६. कनिंघम, आ० स० रि०, १, पृ० १५१।
७. तब अनगानी पुत्ति, कहै सुनि पुत्ति सुवत्तह।

तोमरों की ख्यातों के अनुसार कल्हन, कह्लन अथवा किल्हन का दूसरा नाम चन्द्र भी था।[1]

जनश्रुतियों को निस्सन्देह इतिहास नहीं कहा जा सकता; किन्तु उनमें सत्य का अंश होता है इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता। अतः मानना अनुचित न होगा कि चारण को इस स्तम्भ के चन्द्र से सम्बन्धित होने की बात ज्ञात थी और उसकी कही हुई अनुश्रुति का तात्पर्य यह जान पड़ता है कि स्तम्भ उस स्थान पर खड़ा किया गया था जहाँ रामगुप्त वाली घटना घटी थी। जनश्रुति में कहे गये शश के रूप में चन्द्र का अनुमान किया जा सकता है (शश और चन्द्र की कल्पना लोकप्रसिद्ध है) और शक-नरेश के कार्य की तुलना कुत्ते से की जा सकती है। इस प्रकार जनश्रुति का भाव यह है कि लौह-स्तम्भ उस स्थान पर खड़ा किया गया था जहाँ चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने शक-नरेश का वध किया था। अस्तु, जैसा कि अभिलेख में कहा गया है कि उसकी स्थापना विष्णुपद पर की गयी थी। रामायण के एक श्लोक के अनुसार विष्णुपद वाह्लीक में सुदामा पर्वत पर स्थित था और उसके नीचे से विपाशा (व्यास) नदी बहती थी।[2]

भण्डारकर (द० रा०) का कहना है कि राजशेखर कथित घटनास्थल कार्तिकेय-नगर का ही नाम विष्णुपद है।[3] आजकल जिसे नागरकोट कहते हैं, वहाँ एक विष्णुपद नामक स्थान है भी। अतः बहुत सम्भव है यही नागरकोट ही प्राचीन काल का कार्तिकेयनगर हो। गुप्त-काल में रचित चतुर्भाणि में पाटलिपुत्र (कुसुमपुर) को नगर कहा गया है। आज भी लोग अहमदनगर और विजयनगर को केवल नगर कह कर पुकारते हैं। अतः कार्तिकेयनगर भी केवल नगर कहा जाता रहा हो तो आश्चर्य नहीं। पीछे जब वहाँ दुर्ग बना तो लोगों ने उसे नगरकोट कहना आरम्भ कर दिया।

रामगुप्त वाली घटना तथा स्तम्भ सम्बन्धी उपर्युक्त जनश्रुति का चाहे जिस भाव से मूल्यांकन किया जाय, इतना तो तथ्य है ही कि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने सप्तसिन्धु पार

पुब्ब कथा ज्यों भई, सुनौ त्यो कहँ अपुब्बह ॥
मिस्रु समुष हुइ बैठी ससु तहाँ, भगिग स्वान भैभीत हुअ।
सब सथ्थ तथ्थ आचिज्ज भय, करि पारम ठट्ठे सुभय ॥
ब्यास ज्योति जग जोंति तहँ, सिद्ध महूरत ताव।
दैव जोग भसह सिरह, किल किल्लित सु गाव ॥
कल्हनपुर कल्हन नृपति, वासी नृप निज साज।
कितक पाट अन्तर नृपति, अनंगपाल भय राज ॥

पृथ्वीराज रासो, ना० प्र० स० ३, १३–१७

१. पृथ्वीराज रासो, पृ० २७३।

२. वाल्मीकि रामायण, अयोध्या, ६८।१८–२०।

३. ज० आ० हि० रि० सो०, १०, पृ० ८६।

कर बाह्लीक पर विजय प्राप्त की थी। जान एलन के मतानुसार वाह्लीक का तात्पर्य विदेशी आक्रामकों से है।[1] अन्य लोग विश्वासपूर्वक उसे हिन्दुकुश पर्वत के पार बल्ख (बाख्त्री) समझते हैं। किन्तु चन्द्रगुप्त उतनी दूर तक गये थे, यह सन्दिग्ध है। जो लोग ऐसा समझते हैं, वे इस बात को भूल जाते हैं कि अभिलेख में वाह्लीक को सिन्धो: (सिन्धु-स्थित) कहा गया है। पंजाब अथवा उसका अधिकांश भाग वाह्लीक कहा जाता था यह महाभारत से प्रकट है। उसमें मद्र-नरेश शाल्व को वाह्लीक नरेश और उसकी बहन को वाह्लीकी कहा गया है और मद्र तो निस्सन्देह रावी और सतलज के बीच की भूमि थी।[2]

अस्तु, अपने पिता की सैनिक-मेधा का दाय प्राप्त कर चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने उत्तर-पश्चिम में विद्रोही शकों का कठोरता के साथ दमन किया। सम्भवतः उसने पंजाब के गणराज्यों का भी, जो उसके पिता के समय में मित्र थे, उन्मूलन किया और इस प्रकार अपने साम्राज्य का विस्तार कश्मीर तक किया। इस धारणा का अनुमान इस बात से होता है कि इसके बाद हमें गण-राज्यों का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। कश्मीर तक विस्तार की बात कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में कही है। उसमें कहा गया है कि हिरण्य के निधन के पश्चात् विक्रमादित्य ने मातृगुप्त को कश्मीर का उपरिक नियुक्त किया था।[3]

मेहरौली के स्तम्भ-लेख से यह भी प्रकट होता है कि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने पूर्व में वंग (बंगाल) का भी दमन किया।[4] सम्भवतः पश्चिमी राजाओं की तरह उसने भी नये सम्राट् के विरुद्ध अपना सिर उठाया था। उसके बाद वह दक्षिण की ओर बढ़ा। मेहरौली के लेख में इस ओर के अभियान के सम्बन्ध में स्पष्टतः कुछ नहीं कहा गया है। आलंकारिक ढंग से केवल इतनी ही चर्चा है कि 'उसके शक्ति के समीर से दक्षिण के समुद्र महक रहे थे।' किन्तु मेहरौली अभिलेख के इस अभाव की पूर्ति पुराणों से होती है। उनमें उसके दक्षिण-पूर्वी दिशा में किये गये विस्तार का विशद उल्लेख है। पुराणों के अनुसार देवरक्षित (चन्द्रगुप्त, द्वितीय) ने राज्य का विस्तार कोसल (दक्षिण कोसल), ओड्र, पुण्ड्र, ताम्रलिप्ति और पुरी तक किया था।[5]

विद्वानों की यह भी धारणा है कि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने अपने राज्यकाल के अन्तिम १२–१५ बरसों (गुप्त संवत् ८२ और ९३ अथवा ९६) (४०१–४१२ अथवा ४१५ ई०) के बीच दक्षिण-पश्चिम की ओर भी सैनिक अभियान किया था।[6]

---

१. ब्रि० म्यू० गु० सू०, गु० वं०, भूमिका, पृ० ३६।
२. इण्डिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० ५२।
३. राजतरंगिणी, ३।
४. कृष्णदत्त बाजपेयी ने अभी हाल में मेहरौली स्तम्भ में उल्लिखित वंग को उत्तर-पश्चिमी भाग में बताने का प्रयास किया है।
५. पीछे, पृ० १०२।
६. वाकाटक-गुप्त एज, पृ० १६६–६७।

उनकी इस धारणा का आधार कुछ सिक्के और अभिलेख हैं। चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के सन्धिविग्रहिक वीरसेन ने उदयगिरि (मालवा) में शम्भु (शिव) के लिए एक गुहा-मन्दिर का निर्माण कराते हुए लिखा है कि वह वहाँ अपने स्वामी के साथ, जो दिग्विजय पर निकले थे, आया था।[१] खेद है कि यह अभिलेख तिथिविहीन है। किन्तु उसी क्षेत्र से चन्द्रगुप्त के दो अन्य अधिकारियों के लेख प्राप्त हुए हैं, जिनकी सहायता से इस लेख की तिथि का अनुमान किया जा सकता है। एक में, जो गुप्त संवत् ८२ (४०१–४०२ ई०) का है, चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के सामन्त सनकानिक महाराज के दान की चर्चा है;[२] दूसरे में अम्रकारदेव नामक सैनिक अधिकारी द्वारा गुप्त संवत् ९३ (४१२–१३ ई०) में साँची के बौद्ध महाविहार को दान देने का उल्लेख है।[३] इनके आधार पर विद्वानों की धारणा है कि सामन्त सनकानिक महाराज और सैनिक अधिकारी अम्रकारदेव चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के साथ उस सैनिक अभियान में वहाँ आये थे जिसकी चर्चा वीरसेन ने की है। इस प्रकार वे लोग गुप्त संवत् ८२ और ९३ (४०१–४१२ ई०) के बीच चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के एक सैनिक अभियान की कल्पना करते हैं।

चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने पश्चिमी क्षत्रपों के चाँदी के सिक्कों के अनुकरण पर, जो मालवा प्रदेश में प्रचलित थे, अपने कुछ चाँदी के सिक्के जारी किये हैं। चन्द्रगुप्त (द्वितीय) द्वारा प्रचलित इन सभी सिक्कों पर तिथि ९× (किसी भी सिक्के पर इकाई की संख्या स्पष्ट उपलब्ध नहीं है) अंकित है।[४] ये सिक्के उसने गुप्त संवत् ९० और ९६ (४०९–४१५ ई०) के बीच किसी समय जारी किये होंगे। इन सिक्कों से चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के पश्चिमी सैनिक अभियान का समर्थन होता जान पड़ता है।

कहा यह जाता है कि इस दीर्घ अभियान-काल में चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने स्वामी रुद्रसेन (तृतीय) को परास्त कर पश्चिमी क्षत्रपों के तीन सौ वर्षों से अधिक काल तक के मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र के अविच्छिन्न शासन का अन्त कर दिया।[५] इस प्रकार का अनुमान प्रस्तुत करते हुए इतिहासकारों ने केवल एक-पक्षीय सूत्रों पर ही दृष्टि डाली है। उनके सम्मुख पश्चिमी क्षत्रपों की ओर से मिलने वाले प्रमाण नहीं रहे। क्षत्रपों के ओर की जो सामग्री उपलब्ध होती है, उनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का तथाकथित पश्चिमी अभियान कदापि पश्चिमी क्षत्रपों के विरुद्ध न रहा होगा। पश्चिमी क्षत्रपों के सिक्कों के तीन दफीने सरवनिया,[६] साँची[७] और

---

१. का० इ० इ०, ३, पृ० ३५, पंक्ति ५।
२. वही, पृ० २५।
३. वही, पृ० ३१।
४. क्वायनेज ऑव गुप्त इम्पायर, पृ० १५०।
५. क्लासिकल एज, पृ० २४५।
६. अ० स० इ०, ए० रि०, १९१३–१४, पृ० २४५।
७. कैटलाग ऑव द साँची ऑर्क्यालाजिकल म्यूजियम, पृ० ६१–६४।

गोण्डरमऊ[1] से प्राप्त हुए हैं। उनसे ज्ञात होता है कि राजस्थान और मालवा में पश्चिमी क्षत्रपों का शासन चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के राज्यारोहण से बहुत पहले ही शक सं० २७३ (३५१ ई०) अथवा तत्काल बाद समाप्त हो गया था। गोण्डरमऊ दफीने में सिक्कों की अन्तिम तिथि २७०, साँची दफीने में २७२ और सरवनिया दफीने में २७३ है। इस प्रकार शक सं० २७३ (३५१ ई०) अथवा तत्काल बाद पश्चिमी क्षत्रपों का शासन मालवा और राजस्थान से समाप्त हो गया था।[2] और उस समय तक तो चन्द्रगुप्त गद्दी पर भी नहीं बैठे थे।

इसके अतिरिक्त, इस तथाकथित दक्षिण-पश्चिम के दिग्विजय अभियान से बहुत पहले, कुशल राजनीतिज्ञ की दूरदर्शिता के साथ चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने वाकाटकों के साथ, जो उन दिनों दक्षिण-पश्चिम के स्वामी थे, पिता के समय की मैत्री को विवाह सम्बन्ध द्वारा प्रगाढ़ बना लिया था। उन्होंने अपनी दूसरी पत्नी कुबेरनागा से उत्पन्न पुत्री प्रभावतीगुप्ता का विवाह राजकुमार रुद्रसेन (द्वितीय) से कर दिया था। वाकाटकों के साथ इस विवाह सम्बन्ध से उन्हें दुहरा लाभ हुआ। एक तो वे वाकाटकों के सभी प्रकार के हस्तक्षेप से मुक्त रहे और दूसरे उन्हें अपने दामाद का सहज सहयोग प्राप्त हुआ। उन दिनों वाकाटक साम्राज्य सबसे अधिक समृद्धिवान

---

१. इण्डियन आर्क्यालाजी, १९५८-५९, पृ० ६२।

२. यदि क्षत्रपों के मालवा पर अधिकार के प्रमाण के रूप में विन्ध्य के दक्षिण से प्राप्त दो अन्य दफीनों को भी लिया जाय तो यह अवधि ३७९ ई० तक बढ़ाई जा सकती है। इनमें से एक दफीना पेद्दबंकूर(?)पालेम में मिला था और उसमें अन्तिम सिक्के द्वितीय यशोदाम के थे। दूसरा सोनपुर (छिंदवाड़ा) में मिला था और उसमें अन्तिम सिक्के स्वामी रुद्रसेन (तृतीय) के शक संवत् ३०१ के थे। (जी० वी० आचार्य ने सोनपुर वाले दफीने का परीक्षण किया था। उन्होंने उसमें स्वामी रुद्रसेन (तृतीय) के दो सिक्के तिथि ३१X और ३१२ के बताये हैं। किन्तु इस प्रकार के सिक्के न तो नागपुर संग्रहालय में और न प्रिंस आव वेल्स म्यूजियम, बम्बई के संग्रह में हैं। इन्हीं दो संग्रहालयों को दफीने के अलभ्य सिक्के दिये गये थे। इन दोनों संग्रहों की हमने काफी ध्यानपूर्वक छानबीन की पर हमें इन तिथियों का कोई भी सिक्का न तो तृतीय रुद्रसेन का और न किसी अन्य क्षत्रप का देखने में आया। ऐसा जान पड़ता है कि आचार्य ने किन्हीं सिक्कों पर इन तिथियों के पढ़ने की भूल की थी।) हमें पता नहीं कि ये सिक्के किन स्थितियों में और किस मार्ग से इस क्षेत्र में पहुँचे। किन्तु अन्य बातों को देखते हुए इन दफीनों के आधार पर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि विन्ध्य के दक्षिण का कोई भूभाग और उसके साथ मालवा भी शक संवत् ३०१ (३७९ ई०) तक पश्चिमी क्षत्रपों के अधीन था। किन्तु यदि इसकी सम्भावना मान भी ली जाय तब भी मालव क्षेत्र से पश्चिमी क्षत्रपों के मिटाने का श्रेय द्वितीय चन्द्रगुप्त के तथाकथित पश्चिमी अभियान को नहीं दिया जा सकता। द्वितीय चन्द्रगुप्त इतने पहले अर्थात् शक संवत् ३०१ के आसपास मालव में रहे अथवा उन्होंने पश्चिम में किसी प्रकार का कोई अभियान किया, इस बात का संकेत न तो गुप्त अभिलेखों से और न किसी अन्य साधन से उपलब्ध होता है। सम्प्रति इस प्रकार की कल्पना करने का कोई आधार नहीं है कि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने पश्चिमी क्षत्रपों को मालवा से निकाल बाहर किया।

था। उनके खजाने भरे थे, उनकी सेना ने दक्षिण में विजय प्राप्त की थी। इस कारण उनके विरुद्ध तो चन्द्रगुप्त का कोई अभियान हो ही नहीं सकता था।[१]

किन्तु ३९० ई० में जब अकस्मात् चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के दामाद रुद्रसेन (द्वितीय) की मृत्यु हो गयी[२] तो उन्हें दक्षिण और पश्चिम में अपना प्रत्यक्ष प्रभाव बढ़ाने का अवसर मिला। पति की मृत्यु के पश्चात् उनकी पुत्री प्रभावतीगुप्ता ने अपने अल्पवयस्क पुत्र और उत्तराधिकारी दिवाकरसेन की संरक्षिका के रूप में शासन की बागडोर अपने हाथ में ली।[३] उनके पूना ताम्रशासन में पूर्वी गुप्त लिपि का प्रयोग हुआ है और उसका आरम्भ भी गुप्त-वंशावली से होता है।[४] ये इस बात के निस्सन्दिग्ध प्रमाण है कि प्रभावतीगुप्ता के संरक्षणकाल में वाकाटक राज्य पर गुप्तों का अत्यधिक प्रभाव था। सम्भवतः चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने न केवल उन्हें सलाह ही दी वरन् सभी प्रकार की सहायता—प्रशासनिक और सैनिक भी, प्रदान की और पाटलिपुत्र से प्रशासन सँभालने के लिए अधिकारी भी भेजे। सनकानिक महाराज का उदयगिरि अभिलेख और अम्रकारदेव का साँची अभिलेख इसी काल का है। सम्भवतः ये लोग उन अधिकारियों में थे जिन्हें चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने वाकाटक राज्य का प्रशासन सँभालने के लिए भेजा था। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए वीरसेन के कथन को शब्दशः ग्रहण करना उचित न होगा। बहुत सम्भव है वीरसेन उस प्रदेश में उस समय गया हो जब चन्द्रगुप्त अपनी बेटी से मिलने गया रहा हो।

चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने अपने वाकाटक बाल-दौहित्रों की शिक्षा में वैयक्तिक रुचि दिखाई थी। साहित्यिक अनुश्रुतियों के अनुसार उनके वाकाटक दौहित्र प्रवरसेन ने **सेतुबन्ध** नामक एक काव्य लिखा था जिसका परिष्कार कालिदास ने किया था।[५] असम्भव नहीं चन्द्रगुप्त ने महाकवि को वाकाटक राजकुमारों की शिक्षा के लिए प्राध्यापक नियुक्त किया हो।

चन्द्रगुप्त ने अपने प्रभाव का विस्तार दक्षिण की ओर भी किया था। यह बात उस अनुश्रुति में व्यक्त होती है जिसमें कहा गया है कि उन्होंने श्रीशैल के निकट कृष्णा के तट पर उस स्थान पर, जहाँ नगर के अवशेष आज भी पाये जाते हैं, चन्द्रगुप्तपत्तन नामक नगर स्थापित किया था।[६] कुन्तलेश्वर-दौत्यम् नामक काव्य से भी ऐसा भासित होता है कि उन्होंने अपना प्रभाव कुन्तल-नरेश श्रीकृष्णवर्मन पर डाल रखा था और कालिदास को दूत के रूप में भेज कर उनकी सहायता से उसके साथ मैत्री-व्यवहार

---

१. ए० इ०, १५, पृ० ४१।
२. वाकाटक—गुप्त एज, पृ० १११।
३. वही।
४. ए० इ० १५, पृ० ४१।
५. पीछे, पृ० १११-१२।
६. साउथ इण्डियन एपीग्रैफी, ए० रि०, १९१४-१५, पृ० ९१।

स्थापित किया था।[1] श्रीकृष्णवर्मन के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वाकाटकों के साथ उसके सम्बन्ध अच्छे न थे। उसके पिता को प्रभावतीगुप्ता के ससुर पृथ्वीषेण ने परास्त किया था। सत्तारूढ़ होने पर श्रीकृष्णवर्मन ने प्रभावतीगुप्ता से अपने पिता द्वारा खोया हुआ सभी भूभाग प्राप्त कर लिया था। उसने अपने को दक्षिणाधिपति घोषित कर दिया था और एक अश्वमेध भी किया था। इस प्रकार श्रीकृष्णवर्मन से वाकाटक राज्य को स्थायी भय था और यह अत्यन्त चिन्ताजनक बात थी। उक्त काव्य के अनुसार इस खतरे को चन्द्रगुप्त ने अपनी कूटनीतिज्ञता और प्रभाव से टाला।

द्वितीय चन्द्रगुप्त के शासनकाल की किसी अन्य घटना का परिचय प्राप्त नहीं होता। किन्तु कुछ विद्वान् गुजरात और सौराष्ट्र पर उनके प्रभुत्व अथवा प्रभाव का अनुमान लगाते हैं। किन्तु उनके इस अनुमान का कोई औचित्य नहीं जान पड़ता। उस प्रदेश से न तो उनका और न उनके बेटे प्रथम कुमारगुप्त का कोई अभिलेख मिला है और न उनका कोई चाँदी का सिक्का ही। इस काल में उस दिशा में गुप्त साम्राज्य विस्तार को व्यक्त करने वाली कोई अनुश्रुति भी नहीं है।

कहा जाता है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त ने भी अपने पिता की भाँति ही अश्वमेध किया था। इसका आधार काशी से प्राप्त पाषाण का एक अश्व है जिस पर अंकित लेख को हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने चन्द्रगु पढ़ा है।[2] किन्तु उनका यह पाठ इतना अनिश्चित है कि उसके आधार पर किसी प्रकार का कोई अनुमान लगाना अनुचित होगा। फिर भी इतना तो है ही कि उन्होंने चक्रवर्तिन के रूप में अपनी सफलता को समुचित रूप में उद्घोषित किया था। सोने के सिक्कों का जो दफीना बयाना से प्राप्त हुआ है, उसमें एक अद्वितीय मुद्रा भी है जिस पर चित ओर विष्णु के चक्रपुरुष का एक बड़े चक्र के बीच अंकन है। वह चन्द्रगुप्त (द्वितीय) को तीन गोल पिण्ड भेंट कर रहे हैं, जो सम्भवतः त्रैलोक्य का प्रतीक है।[3] इसके पट ओर चक्रविक्रम अंकित है। वैष्णव-सम्प्रदाय के पंचरात्र आगम के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ अहिर्बुध्न्य-संहिता में कहा गया है कि चक्रवर्तिन पद प्राप्त करने के इच्छुक राजाओं के लिए चक्र-रूपी विष्णु का आराधन सर्वोत्तम है। जो राजा विशुद्ध हृदय से उनकी आराधना करता है वह अल्प काल में ही चक्रवर्ती पद प्राप्त कर लेता है। यह भी कहा गया है कि जो चक्रपुरुष की आराधना करता है वह लोक और परलोक दोनों में सार्वभौम पद प्राप्त करता है।[4] उपर्युक्त सिक्के से अनुमान किया जा सकता है कि कट्टर वैष्णव भावना

---

१. पीछे, पृ० १३२।

२. इ० हि० क्वा०, ३, पृ० ७१९। यह पाषाण अश्व भारत कला भवन (काशी विश्वविद्यालय) में है।

३. क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, पृ० १४५।

४. ज० न्यू० सो० इ०, ११, पृ० १८०।

के कारण चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने अपने पिता के अनुकरण पर अश्वमेध सरीखा वैदिक यज्ञ की अपेक्षा वैष्णव-धर्म में प्रतिपादित चक्रवर्तिन की भावना से ओतप्रोत चक्रपुरुष की पूजा को श्रेयस्कर माना और चक्रपुरुष की पूजा का कोई विराट आयोजन किया और उस अवसर पर अपने पिता की तरह ब्राह्मणों को दक्षिणा देने के निमित्त अथवा उस यज्ञ की सुखद स्मृति स्वरूप सोने के इन सिक्के को प्रचलित किया। इस प्रसंग में यह भी उल्लेख्य है कि अनेक सिक्कों और अभिलेखों में चन्द्रगुप्त (द्वितीय) को **परमभागवत** कहा गया है।[1]

विक्रमादित्य—चन्द्रगुप्त ने **विक्रमादित्य** का विरुद धारण किया था। यह विरुद उनके सिक्कों पर अंकित मिलता है। कुछ सिक्कों पर यह केवल **विक्रम** अथवा **विक्रमांक** के रूप में अंकित किया गया है। इस विरुद के कारण कुछ लोग उनको लोक-कथाओं और अनुश्रुतियों में वर्णित शकारि और विक्रम संवत् (५८ ई० पू०) के संस्थापक के रूप में उल्लिखित उज्जयिनीनिवासी राजा विक्रमादित्य होने का अनुमान करते हैं। यह तो कहना कठिन है कि यही चन्द्रगुप्त आनुश्रुतिक विक्रमादित्य हैं अथवा उन्होंने उन आनुश्रुतिक वीर के अनुकरण पर **विक्रमादित्य** विरुद धारण किया; किन्तु उनका शक-विजय और दीर्घकालिक मालव प्रवास दोनों ही अनुश्रुतियों से इतना साम्य रखते हैं कि दोनों ही अनुमान सम्भव कहे जा सकते हैं। असम्भव नहीं, विक्रमादित्य के साथ जुड़ी हुई अनुश्रुतियों और लोक-कथाओं में से कुछ इन्हीं वीर राजा के कार्य-कलापों से विकसित हुई हों। इस प्रकार की अनुश्रुतियाँ वे कही जा सकती हैं जिनका सम्बन्ध उनकी दानशीलता और विद्या-प्रश्रयता से है। विक्रमादित्य के आनुश्रुतिक नवरत्नों में सुप्रसिद्ध महाकवि कालिदास का नाम मुख्य रूप से लिया जाता है। वे चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के ही राज-दरबार में थे, ऐसा मानने के तो पर्याप्त कारण हैं ही।

व्यक्तित्व—चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के व्यक्तित्व को उद्घाटित करने वाला हरिषेण सरीखा कोई वृत्त-लेखक तो उपलब्ध नहीं है किन्तु उसके सिक्कों से उसके व्यक्तित्व, उसकी सम्राटीय महत्ता और शक्ति का बहुत कुछ अनुमान सुगमता से किया जा सकता है। सिंह-निहन्ता भाँत के सिक्कों पर उन्हें **नरेन्द्रसिंह** और **सिंह-विक्रम** कहा गया है। शिकारी और शिकार की विभिन्न अवस्थाओं का इन सिक्कों पर जो चित्रण हुआ है, उनमें राजा सिंह को बाण-विद्ध, खड्ग-हत अथवा पद-दलित करते दिखाये गये हैं। इस रूप में इन सिक्कों पर चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के मेधावी और स्फूर्तिपूर्ण बलिष्ठ मांसल

१. क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, पृ० १२५; का० इ० इ०, ३, पृ० ४३।

२. द० रा० भण्डारकर ने अनुमान लगाया है कि गोविन्दगुप्त और कुमारगुप्त एक ही राजकुमार के दो नाम थे। इसके प्रमाण में उन्होंने उन सिक्कों का उल्लेख किया है जिन पर राजा की बायीं काँख के नीचे 'कु' और पैरों के बीच 'गो' अंकित मिलता है। उनके अनुसार 'कु' का तात्पर्य कुमारगुप्त और 'गो' का तात्पर्य गोविन्दगुप्त है (इ० क०, ११, पृ० २३०)। किन्तु उनका यह मत इस कारण सर्वथा अग्राह्य है कि वे सिक्के प्रथम कुमारगुप्त के हैं ही नहीं।

शरीर का अंकन किया गया है। इस प्रकार ये सिक्के हमारे सम्मुख उनके शरीर और व्यक्तित्व को मूर्तरूप में उपस्थित करते हैं। जिस प्रकार ये सिक्के उनकी आत्म-शक्ति के समुचित प्रतीक हैं, उसी प्रकार अश्वारोही भाँत के सिक्के उनके सैनिक स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं। एक अन्य भाँत के सिक्कों पर वे मंचासीन पुष्प धारण किये दिखाये गये हैं। इन सिक्कों पर रूपाकृति लेख है। सम्भवतः ये सिक्के उनकी बौद्धिक महत्ता अथवा कला-भावना के प्रतीक हैं। उनके पारिवारिक जीवन की झलक उन सिक्कों में देखी जा सकती है जिनमें वे अपनी रानी के साथ बैठे अंकित किये गये हैं। इसी प्रकार छत्र भाँति के सिक्के उनके सार्व-भौम रूप को प्रस्तुत करते हैं।

शासनिक स्थिति—चीनी यात्री फा-ह्यान चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के शासन-काल में, ४००—४११ ई० के बीच लगभग दस वर्ष से अधिक समय तक भारत-भ्रमण करता रहा। उसने अपने जो संस्मरण छोड़े हैं उनसे ज्ञात होता है कि उसके समय में चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के विस्तृत साम्राज्य में सर्वत्र शान्ति और समृद्धि व्याप्त थी। यद्यपि उसने भारत के राजनीतिक जीवन की कोई चर्चा नहीं की है और उस सम्राट के, जिसके शासन में वह पाँच वर्ष से अधिक समय तक रहा होगा, नामोल्लेख करने तक की आवश्यकता का उसने अनुभव नहीं किया है फिर भी उसने लोक-जीवन के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह बड़े महत्त्व का है।

उसके कथनानुसार, लोग अपने आप में रहने दो वाली नीति में विश्वास करने वाली सरकार की छत्रछाया मे सुखपूर्वक रह रहे थे। लोगों को अपनी सम्पत्ति का लेखा-जोखा देने की आवश्यकता न थी और न उन्हें किसी अधिकारी या शासक के सम्मुख उपस्थित होना पड़ता था। सरकार अत्यन्त उदार और तटस्थ थी। लोग जहाँ चाहते जाते, जहाँ चाहते रहते। उन्हें रहने-ठहरने के लिए किसी प्रकार के अनुमति-पत्र प्राप्त करने अथवा नाम दर्ज कराने की आवश्यकता न थी। राज-शासन के नियम-विधान-थोड़े से थे और वे भी अत्यन्त उदार। अधिकांश अपराधों का दण्ड जुर्माना मात्र था, जिसका निर्धारण अपराध की गुरुता के अनुसार कम-अधिक हुआ करता था। फाँसी की सजा अज्ञात थी। निरन्तर विद्रोह का महत्तम दण्ड अंग-भंग था। राजस्व प्रायः राज-भूमि से प्राप्त होता था। सरकारी अधिकारियों को नियमित और निश्चित रूप से इतना वेतन मिलता था कि वे फिर जनता को अपने स्वार्थ के लिए चूसें और सताएँ नहीं।

उसका यह भी कहना है कि जनता सुखी थी। अधिकांश लोग निरामिष और अहिंसावादी थे। लोगों की सामान्यतः कोई अपनी आवश्यकता न थी और उनमें अपराधी मनोवृत्ति का प्रायः अभाव था। इसके प्रमाण में उसका कहना है कि राह चलते उसे कभी किसी ने नहीं सताया। रास्ते में बनी पन्थशालाओं में पर्याप्त और सुखद आवास उपलब्ध थे। उसकी इन बातों से चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के साम्राज्य में व्याप्त शान्ति, समृद्धि और सन्तोष का सहज अनुमान किया जा सकता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के शासन-काल में गुप्त-

साम्राज्य का व्यवस्थीकरण हुआ। समुद्रगुप्त ने विजय का जो कार्य आरम्भ किया था, उसे उन्होंने सीमान्त के गणतन्त्रों और राजतन्त्रों तथा कुषाणों और शकों के क्षेत्रों को अपने साम्राज्य के अन्तर्गत समाहित कर पूरा किया। उनकी इस विजय से साम्राज्य में शान्ति व्याप्त हुई फलस्वरूप देश में संस्कृति और सभ्यता का विकास हुआ और गुप्तों का शासन स्वर्ण-युग अथवा आदर्श-युग कहा गया, उससे आने वाली पीढ़ियों ने प्रेरणा और मार्ग-दर्शन प्राप्त किया।

परिवार—इस बात की पहले चर्चा की जा चुकी है कि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के दो रानियाँ थीं। एक का नाम ध्रुवदेवी अथवा ध्रुवस्वामिनी था, जो पूर्व में उनके बड़े भाई रामगुप्त की पत्नी थीं। दूसरी कुबेरनागा नाम्नी नागराजकुमारी थीं। कहा जाता है कि राजनीतिक आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप चन्द्रगुप्त का विवाह कुबेरनागा के साथ हुआ था पर इस प्रकार के अनुमान का कोई समुचित आधार नहीं है। किसी समय नाग लोग निस्सन्देह शक्तिशाली शासक थे पर इस काल में उनका महत्त्व समाप्त हो गया था; एक प्रकार से उनका राजनीतिक अस्तित्व मिट चुका था। इस कारण उनके साथ किसी ऐसे विवाह-सम्बन्ध की कल्पना, जिससे शक्ति और प्रतिष्ठा को बल प्राप्त होता हो, केवल समुद्रगुप्त के शासन-काल में ही की जा सकती है, किन्तु यह विवाह उस काल में हुआ होगा, ऐसा अनुमान करने का कोई आधार जान नहीं पड़ता।

चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के ध्रुवस्वामिनी की कोख से जन्मे दो बेटे गोविन्दगुप्त और प्रथम कुमारगुप्त और कुबेरनागा से उत्पन्न एक कन्या प्रभावतीगुप्ता थीं। इस कन्या का विवाह वाकाटक वंश में हुआ था।

चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने कम-से-कम ३८ वर्ष तक शासन किया। उनका अन्तिम ज्ञात अभिलेख गुप्त संवत् ९३ (४१८-४१९ ई०) का है। उनके कनिष्ठ पुत्र प्रथम कुमारगुप्त गुप्त संवत् ९६ (४१५-४१६ ई०) में सत्तारूढ़ थे, यह उनके अपने अभिलेख से स्पष्ट है। इस अवधि के बीच थोड़े दिनों तक ज्येष्ठ पुत्र गोविन्दगुप्त के सत्तारूढ़ रहने की प्रबल सम्भावना ज्ञात होती है। इस प्रकार यदि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने गुप्त संवत् ९३ के बाद शासन किया होगा तो वह थोड़े ही काल के लिए।

गोविन्दगुप्त

बसाढ़ (वैशाली) से प्राप्त ध्रुवस्वामिनी की मिट्टी की मुहर से ज्ञात हुआ है कि उनके गोविन्दगुप्त नामक एक पुत्र था। इस मुहर का लेख इस प्रकार है-- **महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त-पत्नी महाराज गोविन्दगुप्त माता महादेवी श्री ध्रुवस्वामिनी**।[1] भण्डारकर (द० रा०) ने इस मुहर के लेख का विवेचन करते हुए इस स्वाभाविक तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि किसी रानी के मुहर में उसके शासक पति और उसके युवराज पुत्र के नाम की ही अपेक्षा की जा सकती है।[2] अतः इस मुहर से ज्ञात होता है कि जिन दिनों यह मुहर जारी की गयी थी उन दिनों चन्द्रगुप्त (द्वितीय) जीवित थे। यदि उनके निधनोपरान्त उसका प्रचलन हुआ होता तो ध्रुवस्वामिनी ने अपने को राजमाता कहने में गौरव का अनुभव किया होता। दूसरी बात जो इस मुहर से प्रकट होती है, वह यह कि उसके जारी करने के समय तक कुमारगुप्त (प्रथम) युवराज नहीं घोषित हुए थे। यदि वे युवराज होते तो मुहर पर इस रूप में उनका नाम होता। इस मुहर में पुत्र के रूप में गोविन्दगुप्त का उल्लेख है, जो स्पष्ट रूप से यह व्यक्त करता है कि गोविन्दगुप्त चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के ज्येष्ठ पुत्र और साथ ही युवराज भी थे।

किन्तु चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के पश्चात् गोविन्दगुप्त के शासनारूढ़ होने की बात को अनेक विद्वान् सन्दिग्ध मानते हैं। राजकीय अभिलेखों में उपलब्ध वंशावली के आधार पर वे यह मानते हैं कि कुमारगुप्त (प्रथम) अपने पिता के पश्चात् सत्तारूढ़ हुए क्योंकि अभिलेखों में पिता-पुत्र के इस सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए **तत्पादानुध्यात** शब्द का प्रयोग किया गया है। किन्तु इस शब्द का सीधा-सादा अर्थ है **चरण-रत** अथवा **चरणों से अनुकम्पित** और पिता-पुत्र के बीच मात्र सौहार्द भाव को व्यक्त करने का व्यावहारिक रूप है। इस बात का संकेत यह कदापि नहीं करता कि पिता ने उत्तराधिकारी के रूप में उनका किसी प्रकार विशेष रूप से मनोनयन किया था अथवा उन्होंने तत्काल उत्तराधिकार प्राप्त किया था। **पादानुध्यात** शब्द का प्रयोग चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के सामन्त सनकानिक महाराज के अभिलेख में दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त करने मात्र के लिए हुआ है।[3] अनेक अभिलेखों से प्रकट है कि भाई के बाद भाई के सत्तारूढ़ होने के बावजूद उत्तरवर्ती भाई ने पिता के पश्चात् तत्काल सत्तारूढ़ होने वाले भाई के नाम की उपेक्षा कर अपने नाम के साथ **पादानुध्यात** शब्द

---

१. आ० स० इ०, ए० रि०, १९०३-०४, पृ० १०७।

२. इ० क०, ११, पृ० २३१।

३. का० इ० इ०, ३, पृ० २५ पंक्ति १।

का प्रयोग किया है। पाल-वंशीय मदनपाल अपने पिता के उपरान्त तत्काल सत्तारूढ़ नहीं हुआ था। उससे पूर्व उसका भाई कुमारपाल गद्दी पर बैठा था। फिर भी मनहाली-शासन में मदनपाल को **श्री-रामपालदेव-पादानुध्यात** कहा गया है।[1] इसी प्रकार अन्य अभिलेख में इसी शब्दावली के साथ विजयपाल को अपने पिता क्षितिपाल का उत्तराधिकारी कहा गया है;[2] जब कि वास्तविक तथ्य यह है कि उसके पिता का तत्काल उत्तराधिकारी उसका भाई देवपाल था। इस प्रकार कुमारगुप्त (प्रथम) के लिए **पादानुध्यात** शब्द का प्रयोग, यह बात मानने में किसी प्रकार भी बाधक नहीं है कि उनके पूर्व और उनके पिता के पश्चात् गोविन्दगुप्त सत्तारूढ़ हुए होंगे।

गोविन्दगुप्त के सत्तारूढ़ होने की बात का समर्थन मालव संवत् ५२४ (४६७ ई०) के मन्दसोर से प्राप्त अभिलेख से भी होता है।[3] उसमें राजा प्रभाकर के सेनापति दत्तभट्ट ने चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के पुत्र गोविन्दगुप्त का उल्लेख किया है और कहा है कि अधीनस्त नृप उनके पादपद्म को शिर नवाते थे (**नृपैरस्तमित-प्रतापैश्शिरोभिसालिंगित-पादपद्मो**) और इन्द्र भी उसकी शक्ति से आतंकित थे (**विचारदोलां विबुधाधिपोऽपि शंकापरीतः समुपारुरोह**)। ये वाक्य इस बात के स्पष्ट द्योतक हैं कि गोविन्दगुप्त ने कुछ काल तक सम्राट्पद का उपभोग किया था।

किन्तु कुछ लोग अभिलेख के इस कथन को गम्भीरतापूर्वक ग्रहण नहीं करते। वे गोविन्दगुप्त को अपने भाई के शासनकाल में मालवा का उपरिक मात्र मानते हैं।[4] अधिक कल्पनाशील लोगों की धारणा है कि गोविन्दगुप्त अपने भाई कुमारगुप्त (प्रथम) अथवा भतीजे स्कन्दगुप्त के निधन के पश्चात् मालवा के स्वतन्त्र शासक हो गये थे। दिनेशचन्द्र सरकार ने, जो इस मत के पोषक हैं, इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा की है कि अधीनस्थ सामन्त भी अपने से छोटे करद राजाओं द्वारा पूजित होते थे। इस प्रसंग में उन्होंने निर्मद अभिलेख का उल्लेख किया है जिसमें महासामन्त महाराज वरुणसेन के सम्बन्ध में, जो स्वयं सम्राट् नहीं थे, कहा गया है कि वे अनेक सामन्तों द्वारा पूजित होते थे। उन्होंने इस बात के भी उदाहरण दिये हैं जिसमें मात्र सामन्त-पद भोक्ता भी **इन्द्रतुल्य** अथवा उनसे भी बड़े कहे गये हैं। उन्होंने इस बात की ओर भी संकेत किया है कि युवराज भी कभी-कभी सत्तारूढ़ शासक के समान ही सम्राटीय सम्मान का उपयोग किया करते थे। अतः उनका मत है कि मन्दसोर अभिलेख के उपर्युक्त कथन को कोई महत्त्व नहीं देना चाहिये।[5]

किन्तु इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य यह है कि मालवा के साथ गोविन्दगुप्त का

१. ज० ए० सो० बं०, ६९, पृ० ६५।
२. कीलहार्न, नार्दर्न इन्स्क्रिप्शन्स, नं० ६२।
३. ए० इ०, २७, पृ० १२।
४. वही, पृ० १३।
५. इ० हि० क्वा०, २४, पृ० ७३-७४।

सम्बन्ध जताने वाला किसी भी प्रकार का कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है। मात्र इतने से ही कि दत्तभट्ट मन्दसोर-नरेश प्रभाकर के सेनापति थे, यह नहीं कहा जा सकता कि दत्तभट्ट के पिता अथवा उनके पिता के स्वामी गोविन्दगुप्त का भी मालवा से किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध था। मन्दसोर के निकट से चार अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जिनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उक्त भूभाग उन दिनों वर्मन नामान्त एक स्थानीय वंश के शासकों द्वारा शासित था।[1] इस वंश के प्रथम दो शासक—जयवर्मन और उनके पुत्र सिंहवर्मन चतुर्थ शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में स्वतन्त्र शासक थे। वहाँ सिंहवर्मन के पुत्र नरवर्मन ४०४ ई० में[2] और उनके पुत्र विश्ववर्मन ४२३ ई० में[3] शासन करते थे। और यह काल द्वितीय चन्द्रगुप्त और प्रथम कुमारगुप्त का काल है। मन्दसोर के इन राजाओं के अभिलेखों में ऐसी कोई बात नहीं है जिससे प्रकट हो कि उन्होंने कभी गुप्तों का प्रभुत्व स्वीकार किया था। उनके अभिलेख उनके वैभव की चर्चा स्वतन्त्र शासक के रूप में ही करते हैं। उन अभिलेखों में गुप्त-सम्राटों का भूले भी कोई संकेत नहीं है। विश्ववर्मन के पुत्र बन्धुवर्मन के समय में पहली बार ऐसा अभिलेख मिलता है जिसमें कुमारगुप्त (प्रथम) का उल्लेख चतुस्समुद्रान्त पृथिवी के शासक के रूप में हुआ है।[4] यह अभिलेख मालव संवत् ४९३ (४३६ ई०) का है। तदनन्तर गुप्त संवत् १३६ (४५५ ई०) के गिरिनार शिलाखण्ड लेख से पश्चिमी भारत पर स्कन्दगुप्त का शासन प्रमाणित होता है। और हम प्रभाकर को मालव संवत् ५२४ (४६७ ई०) में मन्दसोर पर शासन करते पाते हैं।[5] फिर मालव संवत् ५२९ (४७२ ई०) के एक अन्य लेख में ४३६ और ४७२ ई० के बीच अन्य राजों (बहुवचन में उल्लेख, जिनसे कम-से-कम तीन राजों के होने की बात झलकती है) का बिना नाम के उल्लेख हुआ है।[6]

इन सबसे स्पष्ट है कि मन्दसोर पर गुप्त सम्राटों का प्रभुत्व ४२३ और ४३६ ई० के बीच किसी समय स्थापित हुआ था और वह ४७२ ई० से बहुत पूर्व समाप्त भी हो गया। दत्तभट्ट के लेख से यह भी स्पष्ट है कि ४६७ ई० में गोविन्दगुप्त जीवित न थे। उनके शासन की चर्चा भूतकालिक रूप में की गयी है। इस प्रकार मालवा में गोविन्दगुप्त के स्वतन्त्र अथवा प्रतिद्वन्दी शासक के रूप में शासन की कदापि कल्पना नहीं की जा सकती। इसी प्रकार, छोटे भाई के अधीन बड़े भाई के उपरिक रूप में कार्य करने की बात तो और भी हास्यास्पद है।

---

१. ए० इ०, १२, पृ० ३१५; १४, पृ० ३७१; ज० बि० उ० रि० सो०, २९, पृ० १२७; का० इ० इ०, ३, पृ० ७२।
२. ए० इ०, १२, पृ० ३१५।
३. का० इ० इ०, ३. पृ० ७२।
४. वही, पृ० ८१, पंक्ति १३-१४।
५. ए० इ०, २७, पृ० १२।
६. इ० ए०, १५, पृ० १९४; का० इ० इ० ३. पृ० ७९; से० इ०, पृ० २८८।

निष्कर्ष यह कि इस अभिलेख में ऐसी कोई बात नहीं है जिससे कहा जा सके कि गोविन्दगुप्त का पद किसी प्रकार हीन था अथवा वे सम्राट् नहीं थे और उनका प्रभुत्व अनेक सामन्तों पर नहीं था। इसके विपरीत, इस बात के अन्य ऐसे संकेत मिलते हैं जिनसे गोविन्दगुप्त के अपने पिता के समय युवराज होने और उनके तत्काल बाद सत्तारूढ़ होने का अनुमान किया जा सकता है।

वसुबन्धु-चरित में परमार्थ का कथन है कि वसुबन्धु के प्रभाव से अयोध्यानरेश विक्रमादित्य बौद्ध-धर्म के पोषक बने थे और उन्होंने अपनी रानी तथा युवराज बालादित्य को उनसे शिक्षा प्राप्त करने के निमित्त उनके निकट भेजा था। उनका यह भी कहना है कि जब बालादित्य सत्तारूढ़ हुए तो उन्होंने वसुबन्धु को अयोध्या बुलाया और उन्हें विशिष्ट रूप से सम्मानित किया।

इस बात का विवेचन हम पहले कर चुके हैं कि वसुबन्धु के ज्येष्ठ संरक्षक चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य ही थे।[1] उनके कुमार बालादित्य की पहचान गोविन्दगुप्त से ही की जा सकती है, क्योंकि दूसरे कुमार—कुमारगुप्त (प्रथम), महेन्द्रादित्य कहे जाते थे। यदि हमारी यह बात स्वीकार कर ली जाय तो इसका स्पष्ट अर्थ यह होगा कि गोविन्दगुप्त चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के जीवन काल में युवराज थे और उनकी मृत्यु के पश्चात् वे तत्काल उनके उत्तराधिकारी बने (परमार्थ ने बालादित्य के गद्दी पर आने की बात कही है)।

किन्तु गोविन्दगुप्त का शासन-काल अल्प और दो वर्ष से अधिक नहीं रहा होगा। सम्भवतः उन्हें उनके छोटे भाई कुमारगुप्त (प्रथम) ने अपदस्थ कर दिया और वे मारे गये। दत्तभट्ट के मन्दसोर अभिलेख में गोविन्दगुप्त की शक्ति से इन्द्र के आतंकित होने की जो बात कही गयी है, उसमें असम्भव नहीं प्रच्छन्न रूप से कुमारगुप्त (प्रथम) का, जो महेन्द्र कहे जाते थे, संकेत हो। इससे दोनों भाइयों के बीच तनावपूर्ण स्थिति का अनुमान किया जा सकता है। तुमैन अभिलेख में तो स्पष्टतः कहा गया है कि कुमारगुप्त (प्रथम) पृथिवी की, जिसे उन्होंने बलपूर्वक प्राप्त किया था, रक्षा साध्वी पत्नी की तरह करते थे (**ररक्ष साध्वीमिव धर्मपत्नीम् वीर्याग्रहस्तैरुपगुह्य भूमिम्**)।[2] यह हमारी धारणा को और भी पुष्ट करता है।

इन प्रमाणों का महत्त्व स्वीकार करते हुए गोविन्दगुप्त का अल्पकालिक शासन ४१२ और ४१५ ई० के बीच रखा जा सकता है।

देवगढ़ मन्दिर के प्रांगण से दयाराम साहनी को एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख मिला था जो इस प्रकार है—**केशवपुरस्वामिपादाय भागवत गोविन्दस्य दानं।**[3] इस लेख में उल्लिखित भागवत गोविन्द को वासुदेवशरण अग्रवाल ने चन्द्रगुप्त (द्वितीय)

---

१. पीछे, पृ० १३४-१३६।
२. ए० इ०, २६, पृ० ११७।
३. ए० प्रो० रि०, आ० स० इ० (नर्दर्न सर्किल), १९१८, पृ० १२।

के पुत्र गोविन्दगुप्त के होने का अनुमान किया है और कहा है कि सम्भवतः उन्होंने ही देवगढ़ स्थित विष्णु-मन्दिर का निर्माण कराया था।[1] किन्तु भागवत गोविन्द की पहचान गुप्त-वंशीय गोविन्दगुप्त से करते समय उन्होंने कतिपय तथ्यपरक भूलें की हैं। उनके कथन से ऐसा झलकता है कि बसाढ़ मुहर और ग्वालियर संग्रहालय[2] स्थित अभिलेख में गोविन्दगुप्त का उल्लेख भागवत गोविन्द के रूप में हुआ है। वस्तुतः ऐसी कोई बात दोनों ही लेखों में नहीं है। गुप्त-शासक अपने को भागवत नहीं परम-भागवत कहते थे इसके अतिरिक्त उक्त लेख में मात्र गोविन्द का उल्लेख है, उसके साथ न तो गुप्त है और न कोई शासकीय उपाधि। इससे भागवत गोविन्द को गोविन्दगुप्त अनुमान करना कठिन है। इसके आधार पर देवगढ़ के मन्दिर को उनके द्वारा निर्मित नहीं बताया जा सकता। इस प्रकार गोविन्दगुप्त अथवा उनके काल के सम्बन्ध में किसी प्रकार की कोई और जानकारी किसी सूत्र में उपलब्ध नहीं है।

---

१. स्टडीज इन इण्डियन आर्ट, पृ० २२४-२५।

२. [illegible] टु दि आइडेण्टिटी ऑव भागवत गोविन्द इट मे बी मजेस्टेड देट ही वाज ए सन ऑव चन्द्रगुप्त (सेकेण्ड) एण्ड इज दि सेम ऐज भागवत गोविन्द ऑव द बसाढ़ सील एण्ड नाउ [illegible] दि न्यूली [illegible] ग्वालियर इन्स्क्रप्शन।

कुमारगुप्त (प्रथम)

बिलसड़ अभिलेख से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के कनिष्ठ पुत्र कुमारगुप्त (प्रथम) गुप्त संवत् ९६ (४१५ ई०) में गुप्त साम्राज्य पर शासन कर रहे थे। यदि उनके बड़े भाई गोविन्दगुप्त ने अपने पिता से उत्तराधिकार प्राप्त किया, जैसा कि हमने पूर्ववर्ती अध्याय में प्रतिपादित किया है, तो कहना होगा कि कुमारगुप्त (प्रथम) गुप्त संवत् ९६ से कुछ ही पहले सत्तारूढ़ हुए होंगे। यदि वे अपने पिता के सीधे उत्तराधिकारी थे, जैसा कि कुछ विद्वानों की धारणा है, तो उनका समय पीछे गुप्त संवत् ९४ (४१३ ई०) तक जा सकता है। इसी प्रकार उनकी अन्तिम तिथि उनके चाँदी के सिक्कों से गुप्त संवत् १३X (४४९-५० ई०) ज्ञात होती है।[1] गुप्त संवत १३० के बाद उन्होंने कितने समय तक शासन किया, इसकी कल्पना मात्र की जा सकती है; तथापि उक्त तिथि के बाद अधिक दिनों तक शासन करने की सम्भावना कम ही है।

इस अवधि के बीच उनके शासनकाल से सम्बद्ध अभी तक पन्द्रह अभिलेख प्राप्त हुए हैं। किन्तु उनमें से किसी में भी तत्कालीन राजनीतिक घटनाओं का किसी प्रकार का कोई विस्तृत विवरण नहीं है। उनसे साधारण रूप से यही पता चलता है कि कुमारगुप्त (प्रथम) ने अपने पूर्वजों से दाय रूप में प्राप्त विस्तृत साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखा। गुप्त संवत् ९६ के बिलसड़ अभिलेख में उनके **अभिवर्धमान विजय राज्य** का उल्लेख है। गुप्त संवत् १०६ (४२५ ई०) के उदयगिरि लेख में उन्हें सर्वोत्तम शासक कहा गया है। गुप्त संवत् ११७ के करमदण्डा अभिलेख में उनके **चतुरुदधि-सलिल-स्वादित-यश** का उल्लेख है। मालव संवत् ४९३ (४३६ ई०) के मन्दसोर अभिलेख में उनको **चतुस्समुद्रान्त विलोल-मेखलां सुमेरु-कैलाश-बृहत्पयोधर पृथिवी** का शासक कहा गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि सुमेरु और कैलाश गुप्त साम्राज्य की उत्तरी सीमा, विन्ध्य-वनान्त उसकी दक्षिणी सीमा थी। शेष दो दिशाओं मे उसकी सीमा समुद्र को छूती थी।

पुराणों के अनुसार महेन्द्र (कुमारगुप्त, प्रथम) ने अपने साम्राज्य का विस्तार

---

१. का० इ० इ०, ३, पृ० ४२।

२. स्मिथ ने कुछ ऐसे सिक्के प्रकाशित किये हैं जिन पर उनके कथनानुसार १३४, १३५ और १३६ की तिथि है। इन सिक्कों, विशेषतः अन्तिम सिक्के के आधार पर कुमारगुप्त (प्रथम) की अन्तिम तिथि गुप्त संवत् १३६ (४५५–५६ ई०) मानी जाती है। किन्तु इन तिथियों से युक्त सभी सिक्कों का अस्तित्व संदिग्ध है। विस्तृत विवेचन के लिए देखिये पीछे पृ० १७९–१८१।

कलिंग और माहिषक को मिला कर किया ।[1] इसके अनुसार जान पड़ता है कि कुमारगुप्त (प्रथम) ने अपने पितामह समुद्रगुप्त के समय के कतिपय दक्षिण-पूर्वी सामन्तों को, जिन्होंने उनके पिता चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के साथ मैत्री भाव बनाये रखा था, मिटा दिया ।

वस्तु-स्थिति जो भी हो, कुमारगुप्त (प्रथम) के समय में पश्चिम की ओर गुप्त साम्राज्य के विस्तार का प्रमाण उनके असंख्य चाँदी के सिक्कों में देखा जा सकता है जो पश्चिमी भारत में भावनगर तक बिखरे पाये जाते हैं । उनके इस ओर के अभियान और सफलता के सम्बन्ध में यद्यपि कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है तथापि इतना तो सहज अनुमान किया ही जा सकता है कि उनके पश्चिमी अभियान की प्राथमिक सफलताओं में दशपुर (मन्दसोर) नरेशों पर विजय अवश्य था । इस बात की चर्चा पहले की जा चुकी है[2] कि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के शासन काल में दशपुर के वर्मन शासकों में से दो—नरवर्मन और विश्ववर्मन ने अपनी स्वतन्त्र स्थिति कायम रखी थी । विश्ववर्मन के पुत्र बन्धुवर्मन को पहली बार हम कुमारगुप्त का प्रभुत्व स्वीकार करते पाते हैं । इससे ज्ञात होता है कि वर्मनों को कुमारगुप्त ने ही पराजित किया होगा ।

गुजरात-सौराष्ट्र की दिशा में कुमारगुप्त (प्रथम) ने सर्व वंश[3] के राजाओं का, जिनके सिक्के उनके सिक्कों के साथ दफीनों में बड़ी मात्रा में मिलते हैं, उन्मूलन किया होगा ।

कुमारगुप्त (प्रथम) के चाँदी के सिक्के एलिचपुर[4] और ब्रह्मपुरी (कोल्हापुर)[5] में

---

१. देखिये पीछे पृ० १०२ ।

२. पीछे पृ० २९८ ।

३. इस वंश का पता चाँदी के सिक्कों से लगता है जो आकृति और बनावट में पश्चिमी क्षत्रपों के सिक्कों के समान हैं, अन्तर केवल इतना ही है कि चन्द्रांकित मेरु के स्थान पर इन पर त्रिशूल का अंकन है । ये सिक्के समस्त सौराष्ट्र और गुजरात और उत्तर में अजमेर के निकट पुष्कर तक मिले हैं । इन पर अभिलेख है—'राज्ञो महाक्षत्रप परमादित्य-भक्त महासामन्त श्री सर्व भट्टारकस्य ।' कनिंगहम ने इन सिक्कों के भट्टारक की पहचान वलभी वंश के संस्थापक सेनापति भटार्क से की । तब से सभी लोग इन सिक्कों को वलभी-वंश का मानते चले आ रहे हैं । इन सिक्कों का लेख बहुत दिनों तक समुचित रूप से नहीं पढ़ा जा सका था । उसके समुचित पाठ के बाद अब यह स्पष्ट हो गया है कि ये सिक्के ऐसे राजा के हैं जो 'महाक्षत्रप', 'महासामन्त' और 'भट्टारक' तथा 'परम-आदित्य-भक्त' था और उसका नाम 'सर्व' था इस तथ्य तथा कुछ अन्य बातों के कारण अब इन्हें वलभी वंश के सिक्के कदापि नहीं कहा जा सकता । इन सिक्कों का प्रचलनकर्ता कुमारगुप्त (प्रथम) से पहले हुआ था, यह सानौंद (जिला अहमदाबाद) से प्राप्त दफीने (ज० बा० ब्रा० रा० ए० सो०, ६ (प्रा० सी०), पृ० ५४-७२) से प्रकट है । इन सिक्कों का विस्तृत विवेचन हमने अन्यत्र किया है (भारतीय विद्या, १८, पृ० ८१-८९) ।

४. ज० रा० ए० सो०, १८८९, पृ० १२४ ।

५. डकन कॉलेज बुलेटिन, २१, पृ० ५१ ।

भी मिले हैं। उन्हें दक्षिण-पश्चिम दकन में गुप्त-प्रभाव का संकेत माना जा सकता है; पर उस ओर उन्होंने कोई विजय प्राप्त की थी, यह नहीं कहा जा सकता।

पूर्व में कुमारगुप्त (प्रथम) की प्रभुता पूर्वी बंगाल तक फैली हुई थी, यह उनके गुप्त संवत् १२४ और १२८ के ताम्र-शासनों से स्पष्ट है।[१]

कुमारगुप्त (प्रथम) के अश्वमेध भाँति के सिक्कों से, जो दो प्रकार के हैं, ऐसा प्रकट होता है कि उन्होंने कुछ विशिष्ट सफलताएँ अवश्य प्राप्त की थीं। इन सिक्कों पर दो भिन्न अश्वों का अंकन हुआ है[२], जो इस बात के द्योतक हैं कि उन्होंने दो अश्वमेध किये थे

कुमारगुप्त (प्रथम) के सम्बन्ध में उनके पितामह समुद्रगुप्त के प्रयाग-स्तम्भ-लेख अथवा उनके पुत्र स्कन्दगुप्त के भितरी स्तम्भ-लेख के समान कोई पूर्वा प्राप्त न होने के कारण उनके शक्ति और व्यक्तित्व को पूरी तरह आँक सकना कठिन है; फिर भी जो बातें अभिलेखों और सिक्कों के माध्यम से ज्ञात होती हैं, वे राखालदास बनर्जी के इस कथन का कि वे एक शक्तिहीन शासक थे[३] पूर्णतः खण्डन करती हैं।

यदि उनके नये विजयों की बात एक ओर रख दी जाय, तो भी अकेले यही तथ्य कि पैंतीस वर्षों से अधिक काल तक उन्होंने अपने साम्राज्य को संघटित कर उसकी शान्ति, समृद्धि और सुरक्षा बनाये रखा, उनकी योग्यता और दक्षता का बहुत बड़ा प्रमाण है। मंजुश्री-मूलकल्प के शब्दों में सहज भाव से कहा जा सकता है कि वे **नृपवर मुख्य** थे।[४]

किन्तु साथ ही इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि शासन के अन्तिम दिनों में, उन्हें कतिपय पराभव-का भी सामना करना पड़ा था। उनके पुत्र स्कन्दगुप्त के भितरी स्तम्भ-लेख[५] से ज्ञात होता है कि कुमारगुप्त के अन्तिम दिनों में युद्ध के कारण गुप्त-साम्राज्य की स्थिति डाँवाडोल हो उठी थी। किन्तु इस तत्कालीन स्थिति का स्वरूप क्या था, यह निश्चय करना अत्यन्त कठिन है।

उक्त अभिलेख से इतना ही ज्ञात होता है कि पुष्यमित्रों ने गुप्त साम्राज्य के विरुद्ध अपने बल और कोश को समुदित रूप से संघटित किया था और कुछ समय के लिए उन्होंने गुप्त-वंश की लक्ष्मी को विचलित कर दिया था। उस समय शत्रु से साम्राज्य की रक्षा का भार सम्भवतः स्कन्दगुप्त को सौंपा गया था और वे विजय के लिए निकल पड़े थे (**स्वभिमत विजिगीषा-प्रोद्यतानां परेषां**)। वंश की विचलित लक्ष्मी की रक्षा के लिए शत्रु से युद्ध करते समय स्कन्दगुप्त की ऐसी दयनीय स्थिति हो गयी थी

१. पीछे पृ० २७।
२. क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, पृ० २०१-२०२।
३. द एज ऑव द इम्पीरियल गुप्ताज, पृ० ४०।
४. श्लोक ६४६। पीछे पृ० १०९।
५. का० इ० इ०, ३, पृ० ५२; पीछे पृ० ३३-३५।

कि उन्हें युद्ध-स्थल में ही सारी रात नंगी भूमि पर सोना पड़ा था। ऐसा जान पड़ता है कि उस समय गुप्त-साम्राज्य को ऐसा गहरा धक्का लगा था कि वह नष्ट होने की स्थिति में पहुँच गया था। अन्ततोगत्वा स्कन्दगुप्त ने शत्रु को बुरी तरह पराजित कर स्थिति सँभाल ली। इस प्रसंग में द्रष्टव्य है कि पूर्वाकार ने गुप्त-वंश की लक्ष्मी के विचलित होने और स्कन्दगुप्त द्वारा उनकी रक्षा किये जाने की चर्चा क्रमागत चार श्लोकों में तीन बार की है। यह संकट की गुरुता को प्रकट करता है; फिर भी संकट का रूप अन्ततः अज्ञात ही बना रह जाता है।

पुष्यमित्र, जिन्हें भितरी अभिलेख में गुप्तों का शत्रु कहा गया है, कौन थे, कहना सहज नहीं है। विष्णु-पुराण में पुष्यमित्र नामक एक जन का उल्लेख है और जैन कल्प-सूत्र में भी एक पुष्यमित्र-कुल की चर्चा है। पुराणों के अनुसार पुष्यमित्र, पुटमित्र, दुर्मित्र आदि की अवस्थिति नर्मदा के मुहाने पर स्थित मेकल में थी। उनके विवरण से ऐसा जान पड़ता है कि पुष्यमित्र नर्मदा काँठे में माहिष्य और मेकल के बीच थे। कुमारगुप्त (प्रथम) के समय वाकाटक समस्त विन्ध्य के शासक थे और उनके अन्तर्गत बरार, महाराष्ट्र, कोंकण, कुन्तल, कोसल, मेकल और आन्ध्र के सारे प्रदेश थे। इस प्रकार पुराणों में पुष्यमित्रों की जो स्थिति बतायी गयी है वह वाकाटकों के राज्य के अन्तर्गत था। वाकाटक गुप्तों के साथ विवाह-सम्बन्ध से आबद्ध थे और उन दिनों वाकाटकों का सचिवालय गुप्तों के प्रभाव में था, यह हम पहले देख चुके हैं। ऐसी अवस्था में यह सम्भव नहीं जान पड़ता कि, यदि पुष्यमित्र वहाँ रहते रहे हों, वाकाटकों ने कुमारगुप्त (प्रथम) के शत्रुओं को किसी प्रकार भी मार्ग प्रदान किया होगा।[१]

सुधाकर चट्टोपाध्याय का कहना है कि पुष्यमित्र नाग जाति के यूथों में से एक

१. सुधाकर चट्टोपाध्याय ने गुप्त-वाकाटक एज (पृ० ११७) के उद्धरण के साथ यह अनुमान प्रकट किया है कि वाकाटक नरेन्द्रसेन ही पुष्यमित्रों का नेता था (अर्ली हिस्ट्री आव नार्थ इण्डिया, पृ० १७८)। किन्तु उक्त ग्रन्थ में ऐसी कोई बात नहीं है। अल्तेकर (अ० स०) ने केवल प्रश्न उपस्थित किया है कि क्या नरेन्द्रसेन ने पुष्यमित्रों का पक्ष ग्रहण कर गुप्तों से मालवा ले लिया था? उन्होंने यह प्रश्न वाकाटक नरेश पृथिवीसेन (द्वितीय) के बालाघाट ताम्र-लेख के आधार पर उठाया है जिसमें कहा गया है कि उसके पिता नरेन्द्रसेन का आदेश कोशल, मेकल और मालवा के शासक मानते थे (ए० इ०, ९, पृ० २६७ आदि)। इस प्रश्न को उपस्थित करके अल्तेकर ने स्वयं ही तत्काल उसे असम्भव ठहरा दिया है। इसके लिए कारण उन्होंने यह बताया है कि नरेन्द्रसेन नलों के आक्रमण से परेशान थे। ऐसी अवस्था में उन्होंने अपने गुप्त-सम्बन्धियों से वैर मोल लेकर उन्हें अपने शत्रु के साथ मिलने का अवसर कदापि आने न दिया होगा। चट्टोपाध्याय ने भी इसे इन्हीं कारणों से असम्भव माना है (वही, पृ० १७८)। किन्तु इस प्रकार की कल्पना किसी विद्वान् के मन में उठनी ही नहीं चाहिये थी। कुमारगुप्त (प्रथम) और नरेन्द्रसेन कदापि समसामयिक नहीं थे। भूलना न चाहिये कि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) नरेन्द्रसेन के प्रमातामह (परनाना) और कुमारगुप्त (प्रथम) के केवल पिता ही थे। इस प्रकार दोनों के बीच तीन पीढ़ियों का अन्तर है।

थे। यह निष्कर्ष उन्होंने जूनागढ़ अभिलेख के दूसरे और तीसरे अनुच्छेद के आधार पर निकाला है, जिसमें कहा गया है कि स्कन्दगुप्त ने नरपति-भुजगानां से युद्ध किया था।[१] नरपति-भुजगानां में फ्लीट को यह सम्भावना जान पड़ी थी कि स्कन्दगुप्त ने विख्यात नाग-वंश के कुछ राजाओं को पराजित किया।[२] उन्हीं के इस कथन से चट्टोपाध्याय ने अपने इस कथन का सूत्र पकड़ा है। प्रयाग स्तम्भ-लेख को देखते हुए कहा जा सकता है कि नाग लोग गुप्तों से शत्रुता रखते रहे होंगे; किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि इस काल में वे उतने शक्तिशाली थे, जितने शक्तिशाली भितरी स्तम्भ-लेख में पुष्यमित्र बताये गये हैं। दद्दा (तृतीय)[३] और तिविरदेव[४] के परवर्ती अभिलेखों के आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उनके समय में नाग लोग उस क्षेत्र में थे, न कि यह कि वे गुप्तों के समान शक्तिशाली भी थे।

ऐसी स्थिति में दिवाकर (इ० र०) ने पुष्यमित्रान् के स्थान पर युद्धमित्रान् पाठ का जो सुझाव दिया है[५] वह अधिक संगत जान पड़ता है। अधिक सम्भावना इसी बात की है कि अभिलेख में सामान्य रूप से केवल शत्रुओं (अमित्र) का उल्लेख किया गया है, किसी शत्रु विशेष का नाम नहीं लिया गया है। ऐसी स्थिति में यह शत्रु कौन थे, हम नहीं जानते; किन्तु वे पश्चिमोत्तरी सीमावर्ती ही रहे होंगे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। मेहरौली स्तम्भ-लेख में उपलब्ध वाह्लीक के उल्लेख के अतिरिक्त गुप्त शासकों के इतिहास में पंजाब और उसके आगे के पश्चिमोत्तरी भूभाग का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस प्रदेश से किसी गुप्त-शासक का कोई अभिलेख नहीं मिला है। वहाँ से जो गुप्त-सिक्के मिले हैं वे भी इक्के-दुक्के ही हैं और प्रथम चन्द्रगुप्त और समुद्रगुप्त तक ही सीमित हैं। द्वितीय चन्द्रगुप्त और उनके उत्तराधिकारियों का कोई सिक्का वहाँ से ज्ञात नहीं है। इन बातों से ऐसा लगता है कि गुप्त सम्राट् पश्चिमोत्तर प्रदेश के प्रति कभी सतर्क नहीं रहे। असम्भव नहीं, गुप्तों ने पंजाब की ओर अपनी रक्षक सेना रखने की ओर भी ध्यान न दिया हो। ऐसी स्थिति में कुमारगुप्त (प्रथम) के शासन के अन्तिम दिनों में पश्चिमोत्तरी निवासियों द्वारा पंजाब की नदियों को पार कर गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण किये जाने की सहज कल्पना की जा सकती है।

चन्द्रगर्भ-परिपृच्छा से बुस्टन ने अपने ग्रन्थ में एक कथा उद्धृत की है, उसका उल्लेख काशीप्रसाद जायसवाल ने प्रस्तुत प्रसंग में किया है।[६] इस कथा में राजा महेन्द्रसेन और उनके पुत्र की चर्चा है। कहा गया है कि उनके राज्य पर तीन

---

१. अर्ली हिस्ट्री ऑव नार्थ इण्डिया, पृ० १७९।
२. का० इ० इ०, ३, पृ० ६२, पा० टि० २।
३. इ० ए०, १३, पृ० ८२ आदि।
४. का० इ० इ०, ३, पृ० २९५।
५. अ० भ० ओ० रि० इ०, १, पृ० ९९ आदि।
६. हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० ३३; हिस्ट्री ऑव बुद्धिज्म, पृ० १७१–७२।

विदेशियों—यवन, पाह्लीक और शकुनों ने मिल कर आक्रमण किया। वे लोग पहले परस्पर लड़े; फिर गन्धार तथा गंगा के उत्तर के भूभागों पर अधिकार कर लिया। महेन्द्रसेन के पुत्र ने इन शत्रुओं को पराजित किया। विजय के पश्चात् महेन्द्रसेन ने अपने बेटे को राज्य सौंप कर संन्यास ले लिया। जायसवाल इस कहानी को सत्य स्वीकार कर उसके महेन्द्र को कुमारगुप्त (प्रथम) और उनके बेटे को स्कन्दगुप्त के रूप में पहचान करते और तीनों विदेशी शत्रुओं को पह्लव (सासानी), शक (कुषाण) और हूण बताते हैं।

जान एलन[1] ने सोमदेव के कथासरित्सागर से एक दूसरी कथा उद्धृत की है जिसमें कहा गया है कि जिन दिनों म्लेच्छों ने पृथिवी को आक्रान्त कर रखा था उन दिनों महेन्द्रादित्य उज्जयिनी का शासक था। उसके संन्यास लेने के पश्चात् उसका बेटा विक्रमादित्य (विक्रमशील) राजा हुआ और उसने म्लेच्छों का विनाश किया। एलन का कहना है कि इस कथा में हूणों के आक्रमण और कुमारगुप्त (प्रथम) और उनके बेटे स्कन्दगुप्त की चर्चा है।

ये कहानियाँ कुछ अंशों में स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ और भितरी अभिलेखों से मेल खाती हैं। फिर भी उन्हें इतिहास नहीं कहा जा सकता। उनके किन्हीं ऐसी अनुश्रुतियों पर आधारित होने मात्र का अनुमान किया जा सकता जिनमें इतिहास के कुछ बीज निहित हों। जूनागढ़ अभिलेख में म्लेच्छ देश में स्कन्दगुप्त के यशोगान होने की चर्चा है (अपि च जितमेव तेन प्रथयन्ति यशांसि यस्य रिपवोऽपि आमूल-भग्न-दर्पा निर्वचना म्लेच्छ देशेषु)।[2] इनसे इतना ही प्रकट होता है कि कुमारगुप्त (प्रथम) के शासन के अन्तिम दिनों में गुप्त-साम्राज्य के पश्चिमोत्तर द्वार पर किसी विदेशी शक्ति अथवा शक्तियों (म्लेच्छ)[3] ने धक्का देने का प्रयास किया था।

भितरी स्तम्भ-लेख में कहा गया है कि स्कन्दगुप्त ने प्रत्यक्ष संघर्ष करके शक्तिशाली हूणों को पराजित करने में पृथिवी को हिला दिया (हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यान् धरा कम्पिता)।[4] इस अभिलेख में हूणों[5] का नामोल्लेख हुआ है, इस कारण कुछ विद्वान्

---

१. ब्रि० म्यू० मु० सू०, गु० वं०, भूमिका, पृ० ४९, पा० टि० १।

२. पद ४।

३. 'म्लेच्छ' शब्द का प्रयोग भारतीय साहित्य और इतिहास में सामान्य रूप से उन विदेशियों अथवा विदेशी जातियों के लिए हुआ है जो भारत में आक्रामक अथवा प्रवासी के रूप में आये। उसका कभी भी कोई निश्चित अर्थ नहीं था और उसका प्रयोग सुविधा और आवश्यकता के अनुसार किसी भी विदेशी जाति के लिए किया जाता था।

४. पद ८।

५. हूणों के विकास के सम्बन्ध में कोई निश्चित सूचना उपलब्ध नहीं है। पूर्ववर्ती विद्वान् उनका सम्बन्ध मध्य एशिया के उन कबीलों से जो जोड़ते रहे हैं जिन्हें चीनियों ने ह्यंग-नु कहा है और जो तीसरी शती ई०पू० के उत्तरार्ध में मंगोलिया में संघटित हुए थे। किन्तु हाल के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि हूणों का ह्यंग-नु के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध न था (दे

उन्हें ही जूनागढ़ अभिलेख में उल्लिखित म्लेच्छ मानते हैं ।[1] किन्तु सुधाकर चट्टोपाध्याय ने इस पहचान में सन्देह व्यक्त किया है। वे हूणों और म्लेच्छों को एक-दूसरे से भिन्न मानते हैं किन्तु म्लेच्छ कौन थे यह बताने में असमर्थ रहे। वे केवल यही कहते हैं कि वे यवनों और पारसीकों के समान कुछ मिश्रित यूथ रहे होंगे।[2] राधाकृष्ण चौधरी भी म्लेच्छों और हूणों को एक स्वीकार नहीं करते।[3] अपने समर्थन में उन्होंने भितरी अभिलेख में हूणों से स्वतन्त्र म्लेच्छों के उल्लेख की बात कही है; किन्तु इस प्रकार का कोई उल्लेख उस अभिलेख में नहीं पाया जाता। चट्टोपाध्याय और चौधरी ने यद्यपि म्लेच्छों से हूणों के

शियोनाइट्स-हेप्थलाइटस, भूमिका, पृ० १२)। अब यह कहा जाता है कि वे चीन की सीमा पर रहने वाली एक दूसरी जाति के लोग थे। उन लोगों ने चौथी-पाँचवीं शती में जोरों के साथ प्रवास अभियान शुरू किया। पश्चिम की ओर बढ़ते हुए, वे दो मुख्य धाराओं में बँट गये; एक तो वोल्गा की ओर गया और दूसरा वक्षु की ओर। पहली धारा के क्रिया-कलापों का उल्लेख रोम-साम्राज्य के इतिहास में विशद रूप में हुआ है। अत्तिल (४०६-५३ ई०) के नेतृत्व में उन लोगों ने रोम-साम्राज्य को नष्ट करने का प्रयास किया था। दूसरा दल वक्षु के काँठे में शक्तिशाली बना। रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में हूणों के इस प्रदेश में होने की बात कालिदास को ज्ञात थी। उन्होंने रघु के पश्चिमोत्तर दिग्विजय के प्रसंग में हूणों का उल्लेख किया है--

विनीताध्वश्रमास्तस्य वक्षुतीरविचेष्टनैः ।
दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धांल्लग्न कुङ्कुमकेसरान् ॥
तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम् ।
कपोल पाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम् ॥ ४।६७-६८

वक्षु के काँठे से निकल कर हूण ईरान और भारत की ओर बढ़े। ईरानी ग्रन्थों में उनका उल्लेख नाम 'ख्योन' के नाम से हुआ है। ईरान के इन आक्रामकों का उल्लेख पश्चिमी वृत्तकारों ने 'क्योनाय' अथवा क्योनाइट नाम से किया है। अपने सरदार के परिवार के नाम पर वे लोग 'येथा', 'हेप्थलाइट' अथवा एप्थलाइट कहलाये और यवन लेखकों ने उनका उल्लेख श्वेत हूण नाम से किया है।

हेप्थाल लोग पहली बार ईरान में बहराम (पंचम) (४२०-४३८ ई०) के राज्यकाल में उतरे। उन्होंने मर्व का विनाश किया; ईरानी पठार पर धावा बोला और तेहरान नगर के निकट राय की ओर बढ़े। ४२७ ई० में बहराम (पंचम) ने उन्हें एक गहरा धक्का दिया। फलतः कुछ दिनों तक हूणों ने सासानियों के विरुद्ध बढ़ने का साहस नहीं किया। बहराम (पंचम) के मरने पर उसके पुत्र यज्दगिर्द (४३८-४५७ ई०) के समय उन्हें पुनः ईरान पर धावा करने का अवसर मिला। इस बार सासानी उनका सामना न कर सके। और इसी के बाद ही हूण भारत भूमि पर टूटे। उन्होंने भारत पर कब आक्रमण किया यह निश्चित रूप से कह सकना कठिन है। चीनी इतिहास के एक अवतरण से ऐसा जान पड़ता है कि वक्षु-तट पर जम जाने के बाद ही हूणों ने गन्धार को आक्रमण कर अपने अधिकार में कर लिया था। सम्भवतः गन्धार से ही सिन्धु को पार कर उन्होंने गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण किया। जो भी हो, यह घटना ४५४ ई० में यज्दगिर्द के पराजय के बाद ही घटी होगी।

१. एलन, ब्रि० म्यू० मु० सू०, गु० वं०, भूमिका, पृ० ४४६; रायचौधुरी, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियण्ट इण्डिया, ५वाँ सं०, पृ० ५७८; दि० च० सरकार, सेलेक्ट इन्स्क्रप्शन्स, पृ० ३०१, पा० टि० ४; रा० ब० पाण्डेय, हिस्टारिकल एण्ड लिटरेरी इन्स्क्रप्शन्स, पृ० ९३, पा० टि० ४।

२. अर्ली हिस्ट्री ऑव नार्थ इण्डिया, पृ० १८१।

३. ज० बि० रि० सो०, ४५, पृ० ११७।

भिन्न होने की बात किसी ठोस आधार पर नहीं कही है तथापि वह विचार करने पर सारयुक्त जान पड़ता है। इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य यह है कि ४५४ ई० में सासानी नरेश यज्दगिर्द पर विजय पाने के पश्चात् ही हूण किसी समय भारत पर पहले-पहल आक्रमण कर सके होंगे। ऐसी अवस्था में उनका आक्रमण कुमारगुप्त (प्रथम) के शासन-काल में कदापि सम्भव नहीं है। जूनागढ़ अभिलेख स्कन्दगुप्त के शासन के आरम्भिक दिनों में ही अंकित हुआ था; अतः उसमें हूणों के होने की किसी प्रकार की संभावना हो ही नहीं सकती। **म्लेच्छ** का तात्पर्य उस लेख में किसी अन्य विदेशी आक्रामक से ही हो सकता है। अतः हमारी धारणा है कि उक्त अभिलेख में म्लेच्छ का संकेत किदार-कुषाणों से है जिनके साथ गुप्तों का समुद्रगुप्त के समय से ही कोई विशेष मैत्री भाव न था।[1]

फ्लीट की धारणा है कि इस काल में कुमारगुप्त की स्थिति अधीनस्थ सामन्त-सी हो गयी थी। उनके इस अनुमान का एकमात्र आधार मानकुँवर अभिलेख है जिसमें कुमारगुप्त (प्रथम) को **महाराजाधिराज** न कह कर केवल **महाराज-श्री** कहा गया है।[2] इसके समर्थन में उन्होंने स्कन्दगुप्त के एक सिक्के का भी उल्लेख किया है जिसके अभिलेख को सन्दिग्ध भाव से **महाराज कुमार पुत्र परम महादित्य महाराज स्कन्द** पढ़ा गया है। वस्तुतः उनके इस कथन में कोई सार नहीं है। अन्यत्र कहीं भी कुमारगुप्त के अधीनस्थ सामन्त रूप की कोई चर्चा नहीं पायी जाती। दामोदरपुर और बैग्राम ताम्र-शासनों से स्पष्ट है कि इसी काल में पूर्वी भारत में, जो गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत शासित था, कुमारगुप्त का प्रभुत्व सम्राट् के रूप में पूर्णतः व्याप्त था। देखने में **महाराज** पद **महाराजाधिराज** की अपेक्षा निम्न श्रेणी का जान पड़ता है, किन्तु अटूट सत्य यह है कि प्रारम्भिक गुप्त-काल में दोनों ही उपाधियों में किसी प्रकार का

---

१. पूर्ववर्ती गुप्तों के उत्थान-काल में कुषाणों ने पश्चिमोत्तर सीमान्त पर अधिकार कर रखा था और वे भारत के लिए निरन्तर परेशानी उत्पन्न करते रहते थे। जब कभी मध्य एशियाई पठार के घुमन्तुओं ने प्रयाम अभियान किया और उससे पश्चिमोत्तर में बसी जातियों का सन्तुलन बिगड़ा अथवा जब कभी गंगा-काँठे के शासकों में निर्बलता दिखाई पड़ी, कुशाण (जिन्हे भारतीय साहित्य में शक कहा गया है) भारतीय मैदान में उतरे। समुद्रगुप्त ने उन्हें अपना प्रभुत्व स्वीकार करने पर बाध्य किया था। किन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात् उन्होंने भारत पर फिर आक्रमण किया, जैसा कि रामगुप्त-काण्ड से परिलक्षित होता है। चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने उनको बुरी तरह पराजित किया। कुमारगुप्त (प्रथम) के शासन के उत्तरवर्ती-काल में इनका एक नया जत्था भारत पर अवतरित हुआ। ऐसा जान पड़ता है कि पाँचवीं शती के पूर्वार्ध में, किदार, जो सम्भवतः कुषाणों के ही एक जत्थे थे, मध्य एशिया के किसी भाग में घूमते समय जुआन-जुआन लोगों द्वारा पश्चिम की ओर खदेड़े गये। इस प्रकार वे बाख्त्री में आये और वहाँ उनका हूणों से संघर्ष हुआ; फिर वे सासानियों के सम्पर्क में आये और गन्धार में बस गये। किन्तु हेफ्थाल लोग किदारों का पीछा करते हुए भारत तक आये। इस प्रकार किदार गन्धार प्रदेश से आगे बढ़ने पर विवश हुए। परिणामतः उन्होंने पंजाब और गंगा-काँठे पर आक्रमण किया।

२. का० इ० इ०, ३, पृ० ४५।

कोई अन्तर नहीं माना जाता था। स्कन्दगुप्त के समय के सुपिया से प्राप्त अभिलेख में समान स्वर में समुद्रगुप्त, महेन्द्रादित्य (अर्थात् प्रथम कुमारगुप्त) और स्कन्दगुप्त को महाराज कहा गया है और विक्रमादित्य (द्वितीय चन्द्रगुप्त) के लिए तो इसका भी प्रयोग नहीं है। उनके लिए तो केवल श्री का प्रयोग हुआ है।[1] समुद्रगुप्त अपने ही एक भाँति के सिक्के पर राजा मात्र कहा गया है[2], जो महाराज से भी छोटा पद जान पड़ता है। चन्द्रगुप्त (द्वितीय) और कुमारगुप्त (प्रथम) के ताँबे के सिक्कों पर भी उनके लिए मात्र महाराज शब्द का प्रयोग हुआ है। इन सब के आधार पर समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त (द्वितीय) तथा अन्य लोगों के सम्राटीय स्थिति पर सन्देह प्रकट करना चरम सीमा की मूर्खता ही कही जायगी।

चीन के साथ सम्बन्ध—चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के समय में भारत और चीन के बीच जो जल और स्थल मार्ग खुले, उनके फलस्वरूप चीनी व्यापारी और धार्मिक-यात्री काफी संख्या में भारत आने लगे थे और सम्भवतः भारतीय भी चीन जाने लगे थे। जिन दिनों फायह्यान भारत में ही था, ४०४ ई० में चे-मॉंग के साथ चाँग-न्गान से सोलह यात्री चले और थल मार्ग से खोतान, ईरान और गन्धार होते हुए भारत आये। फायह्यान जिस मार्ग से गये थे, उसी मार्ग का अनुसरण करते हुए वे पाटलिपुत्र होकर सियु-चुआन के मार्ग से ४२४ ई० में लौटे। ४२० ई० में ह्वांग-लांग (चे-ली) निवासी फा-यांग पच्चीस आदमियों के साथ उत्तरी मार्ग से आया और काबुल, पंजाब, गंगा-काँठा होता हुआ समुद्रमार्ग से कैण्टन लौटा। ताओ-पु, फा-शेंग, फावै, ताओ-यो और ताओ-ताइ आदि कुछ अन्य भारत आने वाले चीनी यात्री हैं जिनको हम नाम से जानते हैं। ताओ-यो संकाश्य (फर्रुखाबाद जिले में स्थित आधुनिक संकीसा) तक आया था।[3] इन चीनियों का भारत आगमन उनके भारत और उसकी संस्कृति के प्रति जिज्ञासा का द्योतक कहा जा सकता है। इस प्रकार के सौहार्द्रपूर्ण वातावरण में कुमारगुप्त (प्रथम) ने सम्भवतः चीन के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने की दूरदर्शिता दिखाई थी। चीनी सूत्रों के अनुसार ४२८ ई० में तियान-चु (भारत) स्थित किया-पि-ली के राजा का, जिनका नाम यू-आइ (चन्द्र-प्रिय) था, भेजा हुआ दूत रत्न, सफेद तोता तथा अन्य उपहार लेकर नांकिंग में सांग दरबार में उपस्थित हुआ था।[4] यह भारतीय राजा कौन था यह तो निश्चित रूप से कहना कठिन है किन्तु चीनी भाषा में उसका चन्द्र-प्रिय के रूप में उल्लेख चन्द्र-गुप्त अर्थात् कुमारगुप्त (प्रथम) की ओर ही इंगित करता जान पड़ता है।

---

१. ए० इ०, ३३, पृ० ३०६।

२. क्वायनेज ऑव गुप्त इम्पायर, पृ० ७२।

३. प्र० च० बागची, इण्डिया एण्ड चाइना, पृ० ७२-७३।

४. सिल्वाँ लेवी, ज इर्ने सिथिक्ज़ेट्रिस, पृ० १२४

व्यक्तित्व—कुमारगुप्त (प्रथम) द्वारा प्रचलित नाना भाँति के सोने के सिक्कों से न केवल उनके साम्राज्य की समृद्धि और वैभव की झलक मिलती है, वरन् उनसे कुमारगुप्त के व्यक्तित्व—रूप, आकृति और गुणों का भी पर्याप्त परिचय मिलता है। सिक्कों पर अंकित रूपाकृति से जान पड़ता है कि कुमारगुप्त (प्रथम) नाटे कद और सुडौल शरीर के थे; उनके बाहु मांसल और वक्ष चौड़ा था। उन्हें घुड़सवारी करने और हाथी पर चढ़ने तथा शिकार का विशेष शौक था। सिक्कों पर उन्हें घोड़े पर सवार तलवार से गैंडे का शिकार करते, हाथी पर सवार होकर शेर मारते और धनुष-बाण से सिंह और बाघ का निशाना साधते दिखाया गया है। उन्हें सिक्कों के लेखों में सुधन्वी कहा गया है। इससे जान पड़ता है कि वे शर-सन्धान में निष्णात थे। तलवार चलाने में भी वे पारंगत थे, ऐसा उनके खड्ग-हस्त, राज-दम्पती और खड्गी-निहन्ता भाँत के सिक्कों से प्रकट होता है। वे अपने पितामह की तरह ही संगीतज्ञ भी थे, यह उन सिक्कों से ज्ञात होता है जिन पर वीणा-वादन करते हुए वे अंकित किये गये हैं।

धर्म-भावना—कुमारगुप्त (प्रथम) के कुछ सिक्कों पर पट ओर देवी के स्थान पर मयूरासीन कार्तिकेय का अंकन हुआ है। इसे उनके नाम-साम्य के मोह का प्रतीक मात्र नहीं कहा जा सकता। उसे उनके प्रति धार्मिक भाव का द्योतक कहना ही उचित होगा। इसी प्रकार श्रीधर वासुदेव सोहोनी के मतानुसार कुमारगुप्त के धार्मिक भाव की अभिव्यक्ति खड्गी-निहन्ता भाँत के सिक्कों में भी हुई है।[1] उनका कहना है कि ये सिक्के उनके शासन के आरम्भ काल में किये गये श्राद्ध के प्रतीक हैं। वे इन सिक्कों को कुमारगुप्त (प्रथम) के गर्वोन्नत लोगों के दमन के प्रति दृढ़ता साथ ही उदार-भावना का भी प्रतीक समझते हैं। उनका कहना है कि कुमारगुप्त एक ओर भंग-हर्ता थे तो दूसरी ओर वे खड्ग-त्राता भी थे। सोहोनी का यह भी कहना है कि अप्रतिघ भाँत के सिक्कों पर कुमारगुप्त (प्रथम) कुमार (कार्तिकेय) के समान कश्यप और अदिति से आशीर्वाद[2] प्राप्त करते दिखा . गये हैं। वह सिक्का उनके प्रताप (सैनिक शक्ति) और श्री (राज्य-श्री) का भी द्योतक हो सकता है।[3]

पारिवारिक जीवन—कुमारगुप्त (प्रथम) के पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में यह सहज भाव से कहा जा सकता है कि उनके अनेक रानियाँ और सुरैतिन थीं। किन्तु केवल एक ही रानी अर्थात् महादेवी अनन्तदेवी का नाम ज्ञात है। वे पुरुगुप्त की माता थीं। तालगुण्डा अभिलेख के आधार पर कुछ लोगों का कहना है कि वे कदम्ब-राजकुमारी थीं।[4] किन्तु इस असम्भावना की ओर हम पहले संकेत कर चुके हैं।[5]

---

१. ज० न्यु० सो० इ०, १८, पृ० १८२।
२. इसका उल्लेख कालिदास ने कुमारसम्भव में किया है।
३. ज० न्यू० सो० इ०, १८, पृ० ६२-६३
४. हिस्ट्री ऑव द गुप्ताज, पृ० १०२।
५. पीछे, पृ० २७६, पा० टि० १।

प्रथम चन्द्रगुप्त की तरह ही कुमारगुप्त (प्रथम) का राज-दम्पती की भाँत का एक सिक्का मिला है, पर इस पर रानी का चित्र होते हुए भी न तो रानी के नाम का पता चलता और न उनके कुल का ही कोई संकेत मिलता है।[१] चित ओर का अभिलेख या तो ठीकरे के बाहर रह गया है या ठप्पे पर था ही नहीं। इस कारण उससे जो कुछ प्रमाण मिल सकता था, वह भी अप्राप्य है। कुछ लोगों का अनुमान रहा है कि बिहार स्तम्भ-लेख में प्रथम कुमारगुप्त की एक पत्नी का नामोल्लेख है जो कुमारगुप्त (प्रथम) के ही किसी मन्त्री की बहन थीं। किन्तु यह अभिलेख कुमारगुप्त (प्रथम) और उनके पुत्र स्कन्दगुप्त दोनों में से किसी का भी नहीं है। वह पुरुगुप्त के किसी बेटे का है जो द्वितीय कुमारगुप्त या बुधगुप्त हो सकते हैं।

अनन्तदेवी से जन्मे पुरुगुप्त के अतिरिक्त कुमारगुप्त (प्रथम) के स्कन्दगुप्त नामक एक पुत्र और था जो उसका लाड़ला था और अपनी वीरता के कारण उसकी ख्याति एक राष्ट्रीय वीर के रूप में है। किन्तु जैसा कि अन्यत्र कहा गया है[२] वह रानी-पुत्र न था। सम्भवतः उसका जन्म किसी सुरैतिन से हुआ था।

कुमारगुप्त (प्रथम) के घटोत्कचगुप्त नामक एक तीसरा पुत्र भी था जो सम्भवतः सबमें बड़ा था और कुमारगुप्त (प्रथम) के पश्चात् उसने राज्याधिकार प्राप्त करने की चेष्टा की थी।[३]

कुछ विद्वानों की धारणा है कि कुमारगुप्त (प्रथम) ने अपने पुत्र के हित में राज्य का परित्याग किया था। अल्तेकर (अ० स०) ने यह सुझाव अप्रतिघ भाँत के सिक्के के चित दृश्यांकन की व्याख्या के रूप में प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि इस भाँत के सिक्कों पर राज्य-त्याग करने पर दृढ़ राजा से सेनापति और रानी अनुनय विनय तर्क-वितर्क करते अंकित किये गये हैं।[४] सिनहा (वि० प्र०) का भी यही मत है।[५] उन्होंने इस मत के समर्थन में पूर्वोल्लिखित कथासरित्सागर और चन्द्रगर्भ परिपृच्छा की कहानियों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, जिनमें कहा गया है कि महेन्द्रादित्य (कथासरित्सागर के अनुसार) अथवा महेन्द्रसेन (चन्द्रगर्भ-परिपृच्छा के अनुसार) ने युवराज को राज सौंप कर संन्यास ले लिया।

राजाओं द्वारा पुत्र के पक्ष में राज्य-परित्याग और संन्यास-ग्रहण प्राचीन भारत की जानी-मानी परिपाटी रही है। उसके अनुसरण में हो सकता है कुमारगुप्त (प्रथम) ने राज्य-त्याग किया हो; किन्तु इन कहानियों में कुमारगुप्त (प्रथम) के जीवन की ऐतिहासिक घटना का संकेत है, कह सकना अत्यन्त कठिन है। अप्रतिघ भाँति के सिक्कों पर तो उक्त घटना का कोई संकेत है ही नहीं यह बात दृढ़तापूर्वक कही जा

१. क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, पृ० २९२
२. आगे देखिए स्कन्दगुप्त सम्बन्धी अध्याय
३. पीछे पृ० १७८-१८१।
४. ज० न्यू० सो० इ०, ९, पृ० ७२; क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, पृ० २०९
५. ज० न्यू० सो० इ०, १६, पृ० २१०-२१४।

सकती है। सोहोनी (श्री० वा०) ने इन सिक्कों पर अंकित दृश्य की एक सर्वथा भिन्न व्याख्या की है।[1] उसे हम स्वीकार करें या न करें किन्तु इतना तो निश्चित रूप से कहा ही जा सकता है कि उनमें किसी ऐसे दुःखद पारिवारिक परिस्थिति का चित्रण नहीं है जिसकी कल्पना सिनहा (वि० प्र०) करते हैं। जिस परिस्थिति की कल्पना उन्होंने की है, उसका प्रचार राजनीति और शासन दोनों की दृष्टि से सर्वथा अवांछनीय माना जायगा; और उसको अन्यतम रूप से गुप्त रखने की चेष्टा की जायगी। यत्न यही होगा कि राजमहल में उसके सम्बन्ध में लोग यथासाध्य मौन ही रहें। यदि गुप्त परिवार में ऐसी घटना घटती तो गुप्त सचिवालय उसके सम्बन्ध में अधिकतम सतर्कता बरतता न कि उसको सिक्कों पर अंकित कर उसका ढिंढोरा पीटता। यदि मान लिया जाय कि इन सिक्कों का उद्देश्य कुमारगुप्त के राज्यत्याग के दृढ़-निश्चय की घोषणा ही है, तो कहना होगा कि उनका प्रचलन उनके शासन के अन्तिम दिनों में किया गया होगा, किन्तु बयाना वाले दफीने से स्पष्ट है कि वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। यह दफीना कुमारगुप्त (प्रथम) के शासन के अन्त के बाद ही तत्काल किसी समय दफनाया गया था। इस दफीने में उनके उत्तराधिकारी का केवल एक सिक्का मिला है जो अत्यन्त ताजी अवस्था में था। इस दफीने में अप्रतिघ भाँति के आठ सिक्के मिले हैं। यदि ये सिक्के कुमारगुप्त के अन्तिम दिनों में प्रचलित किये गये होते तो वे भी उसी सिक्के की तरह ताजे और हाल में टकसाल से निकले जान पड़ते। हमने स्वयं उनका बिखरने से पूर्व परीक्षण किया था। वे ताजी अवस्था में अथवा टकसाल से हाल के निकले बिलकुल नहीं हैं। दफीने में रखे जाने से पूर्व वे काफी समय तक व्यवहार में लाये जा चुके थे।

कुछ विद्वानों की धारणा है कि कुमारगुप्त (प्रथम) शत्रु से लड़ते हुए युद्ध-भूमि में मारे गये। किन्तु उनके युद्ध-स्थल में होने का कोई संकेत स्कन्दगुप्त के भितरी अभिलेख में नहीं है। ७५–७८ वर्ष के वृद्ध से आशा नहीं की जाती कि वह युद्ध-भूमि में जायेगा।[2]

कुमारगुप्त (प्रथम) ने राज्य-परित्याग किया अथवा युद्ध-स्थल में मारे गये अथवा उनकी स्वाभाविक मृत्यु हुई, यह किसी के लिए निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। इतना ही कहा जा सकता है कि गुप्त संवत् १३०[3] (४४९–५० ई०) के बाद किसी समय सिंहासन रिक्त हुआ।

---

१. वही, १८, पृ० ५६; २३, पृ० ३५४।

२. चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने गुप्त संवत् ५६ में राज्यारोहण के पश्चात् ही ध्रुवदेवी से विवाह किया था। अतः यह स्वाभाविक कल्पना की जा सकती है कि दूसरा पुत्र होने के कारण कुमारगुप्त (प्रथम) का जन्म विवाह के ४-५ वर्ष बाद ही गुप्त संवत् ६० के आसपास हुआ होगा।

३. अभी तक कुमारगुप्त (प्रथम) की अन्तिम तिथि स्मिथ के प्रमाण से गुप्त संवत १३६ माना जाती रही है। उन्होंने इस तिथि का उल्लेख डब्लू० वॉस्ट के संग्रह में एक चाँदी के सिक्के के आधार पर किया था। किन्तु हमने इस सिक्के का पुनर्परीक्षण किया। उससे ज्ञात होता है कि प्रथम कुमार गुप्त की अन्तिम तिथि १३० से अधिक आगे नहीं ले जाई जा सकती (देखिये पीछे, पृ० १७९-१८१)।

घटोत्कचगुप्त

गुप्त-वंश के इतिहास में घटोत्कचगुप्त का समावेश अभी हाल में हुआ है। उनका परिचय तुमेन अभिलेख से मिलता है, जो खण्डित है और आधे से अधिक बाँया भाग नष्ट हो गया है।[1] उपलब्ध अंश की दूसरी, तीसरी और चौथी पंक्तियों में द्वितीय चन्द्रगुप्त, उनके पुत्र प्रथम कुमारगुप्त और तदनन्तर घटोत्कच का उल्लेख है। उसमें घटोत्कचगुप्त के सम्बन्ध में कहा गया है कि उन्होंने अपने पूर्वजों द्वारा अर्जित यश को अपने बाहुबल से प्राप्त किया (**पूर्वजानां स्थिरसत्त्वकीर्तिर्भुजार्जिता**)। इन पंक्तियों से ऐसा प्रतीत होता है कि घटोत्कचगुप्त प्रथम कुमारगुप्त का प्रत्यक्ष वंशज था; किन्तु उनका निश्चित सम्बन्ध व्यक्त करने वाला अंश लुप्त हो जाने के कारण सम्बन्ध स्थापित कर सकना सम्भव नहीं है। तथापि उपलब्ध अंश से ऐसा अनुमान होता है कि वह प्रथम कुमारगुप्त का पुत्र ही होगा।

घटोत्कचगुप्त का परिचय बसाढ़ (वैशाली) से मिली मिट्टी की एक मुहर से भी मिलता है। ध्रुवस्वामिनी की मुहर के साथ ही, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है, यह मुहर मिली थी। इस मुहर में केवल एक पंक्ति का अभिलेख **श्री घटोत्कचगुप्तस्य** है।[2] ब्लाख (टी०) ने इस घटोत्कचगुप्त की पहचान प्रथम चन्द्रगुप्त के पिता घटोत्कच से की थी[3] और उसे स्मिथ ने मान लिया था।[4] किन्तु एलन ने समुचित रूप से इस पहचान की असम्भवता की ओर ध्यान आकृष्ट कराया और कहा कि उक्त मिट्टी की मुहर का समय चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के राज्यकाल में ही रखा जा सकता है और वह उसके जीवन काल में ही प्रचलित हुआ होगा। उनका यह भी कहना था कि यह घटोत्कचगुप्त गुप्त राजघराने का ही कोई सदस्य रहा होगा।[5] अतः बिना किसी

---

१. ए० इ०, २६, पृ० ११५।

२. आ० स० इ०, ए० रि०, १९०३-०४, पृ० १०७। राधाकुमुद मुखर्जी के कथनानुसार वैशाली से कुछ ऐसी मुहरें मिली हैं जिन पर घटोत्कच का नाम है और वह कुमारामात्य कहा गया है और वह महादेवी ध्रुवस्वामिनी से जन्मे चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के बेटे गोविन्दगुप्त का अमात्य था तथा वैशाली में उपरिक के रूप में नियुक्त था (द गुप्त इम्पायर, पृ० १२)। वस्तुतः इस प्रकार की कोई मुहर नहीं मिली है। उन्होंने वैशाली से मिली अनेक मुहरों को एक में मिला कर इस प्रकार की अनर्गल कल्पना की है। इन मुहरों का कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है।

३. आ० स० इ०, ए० रि०, १९०३-०४, पृ० १०२।

४. ज० रा० ए० सो०, १९०५, पृ० १५३; अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, ४था सं०, पृ० २९६ पा० टि० २।

५. ब्रि० म्यू० मु० सू०, गु० वं०, भूमिका, पृ० १७

कठिनाई के मुहर के घटोत्कचगुप्त और तुमेन अभिलेख के घटोत्कचगुप्त को एक कहा जा सकता है।

लेनिनग्राद संग्रहालय में धनुर्धर की भाँति का सोने का एक सिक्का है जिस पर राजा की बायीं काँख के नीचे घटो अंकित है और किनारे वाले अभिलेख के अंश रूप में (गु)प्त(:) पढ़ा जाता है। पट ओर क्रमादित्य विरुद है।[1] चित ओर का घटो और गुप्त से अनुमान होता है कि सिक्के के प्रचलक का नाम घटोत्कचगुप्त होगा। आकृति और बनावट के आधार पर एलन ने इस सिक्के को पाँचवीं शती के अन्त का माना है और उसे द्वितीय कुमारगुप्त का समसामयिक अनुमान किया है।[2] यह तिथि भी कुमारगुप्त (प्रथम) के बाद घटोत्कचगुप्त के राज्यारोहण के लिए कही जानेवाली तिथि से बहुत दूर नहीं है। अतः इस सिक्के को तुमेन अभिलेख के घटोत्कचगुप्त का कहा जा सकता है और इसके आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि उसने राजशक्ति प्राप्त की थी।

इस बात का समर्थन सोने के गुप्त-सिक्कों के बयाना दफीने से भी होता है। उसमें छत्र-भाँति का १३२ ग्रेन भार का क्रमादित्य विरुद-युक्त एक सिक्का मिला है। यह सिक्का प्रथम कुमारगुप्त अथवा उनके किसी पूर्वज का नहीं हो सकता, क्योंकि उनमें से किसी का विरुद क्रमादित्य न था। अतः स्वाभाविक रूप से यह सिक्का प्रथम कुमारगुप्त के तत्काल उत्तराधिकारी का ही होगा। छत्र-भाँति के सिक्के सम्भवतः गुप्त राजाओं ने अपने राज्यारोहण के समय प्रचलित किये थे। अतः इस सिक्के को अपने प्रचलनकर्ता का अग्रतम सिक्का कहा जा सकता है। खेद है कि इस सिक्के पर किनारे वाला अभिलेख नहीं है जिसके कारण प्रचलक का नाम जानना सम्भव नहीं है। क्रमादित्य विरुद का प्रयोग स्कन्दगुप्त के अधिक-भार वाले सिक्कों पर हुआ है अतः अल्तेकर (अ० स०) ने इस सिक्के को स्कन्दगुप्त का सिक्का अनुमान किया है।[3] किन्तु यह अनुमान करते समय उन्होंने इस तथ्य की उपेक्षा की है कि बयाना दफीना का यह सिक्का केवल १३२ ग्रेन भार का है[4] जब कि स्कन्दगुप्त के क्रमादित्य विरुद वाले सिक्के १४४ ग्रेन भार के हैं,[5] और वे उसके परवर्ती काल के सिक्के हैं, और इस बात के द्योतक हैं कि स्कन्दगुप्त ने क्रमादित्य विरुद राज्यारोहण के बहुत काल बाद ग्रहण किया था। इस प्रकार यह सिक्का स्कन्दगुप्त का नहीं हो सकता। सिक्के भार से निःसन्दिग्ध रूप से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि वह सिक्का

---

१. वही, पृ० १४९। इसी प्रकार का एक दूसरा सिक्का अजितघोष के संग्रह में भी है (ज० न्यू० सो० इ०, २२, पृ० २६०-६१)।

२. वही, भूमिका, पृ० ५४।

३. क्वायनेज ऑव गुप्त इम्पायर, पृ० २४७।

४. वही, पृ० २४८।

५. वही, पृ० २४४।

घटोत्कचगुप्त का ही होगा। क्योंकि क्रमादित्य विरुद उनके लेनिनग्राद वाले सिक्के पर भी मिलता है। यदि बयाना दफीने के छत्र की भाँति के इस एकाकी सिक्के के घटोत्कचगुप्त का सिक्का होने का अनुमान ठीक है तो यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि घटोत्कचगुप्त ने कुमारगुप्त (प्रथम) के पश्चात् राज्य-भार ग्रहण किया था।

इन सारी बातों को एक सूत्र में पिरोने पर यह तथ्य प्रकट होता है कि प्रथम कुमारगुप्त के निधन के पश्चात् स्कन्दगुप्त के विजय अभियान से लौटने से पूर्व कुछ काल के लिए उनके भाई घटोत्कचगुप्त ने सिंहासन पर अधिकार प्राप्त किया था। यह घटना गुप्त संवत् १३० (४४९ ई०) और १३६ (४५५ ई०) के बीच किसी समय घटी होगी।

स्कन्दगुप्त

स्कन्दगुप्त गुप्त संवत् १३६ (४५५ ई०) के लगभग सिंहासनारूढ़ हुए। यह जूनागढ़ अभिलेख से ज्ञात उनकी अद्यतम तिथि है। वे भितरी स्तम्भ-लेख के अनुसार प्रथम कुमारगुप्त के पुत्र थे; किन्तु इस अभिलेख की विचित्रता यह है कि उसमें उनकी माँ के नाम का कोई उल्लेख नहीं है। रायचौधुरी (हे० च०) की धारणा है कि इस अभाव का कोई विशेष अर्थ नहीं है। उनका कहना है कि राजाओं की रानियों और माताओं का उल्लेख अभिलेखों में किया ही जाय, अनिवार्य नहीं था। अपने इस कथन के समर्थन में उन्होंने बाँसखेड़ा और मधुबन ताम्र-शासनों का उल्लेख किया है, जिनमें हर्षवर्धन की माता का उल्लेख नहीं है।[1] इन शासनों का उल्लेख करते समय रायचौधुरी ने इस बात को भुला दिया है कि हर्षवर्धन राज्यवर्धन के छोटे भाई थे और राज्यवर्धन की माता का उल्लेख है; अतः इन शासनों में हर्षवर्धन का उल्लेख करते हुए उनकी माता का नाम दुहराने की कोई आवश्यकता न थी। अतः उस उदाहरण का प्रस्तुत प्रसंग में कोई अर्थ नहीं है। यदि कुछ हो भी तो, गुप्तों की चर्चा करते समय ऐसे किसी बाहरी उदाहरण की चर्चा अप्रासंगिक है। उनकी अपनी यह स्पष्ट परम्परा रही है कि वे अपने पिता-पितामहों के उल्लेख के साथ माता एवं पितामहियों की चर्चा अवश्य करें। इस परम्परा का आरम्भ समुद्रगुप्त के समय से हुआ। प्रयाग-स्तम्भ लेख में उनकी चर्चा इस प्रकार की गयी है—**महाराज श्री गुप्त प्रपौत्रस्य महाराज श्री घटोत्कच पौत्रस्य महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तपुत्रस्य, लिच्छवि दौहित्रस्य महादेव्यां कुमार देव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्री समुद्र-गुप्त।**[2] प्रथम कुमारगुप्त के बिलसड़ अभिलेख में उपर्युक्त पंक्तियों को दुहराते हुए आगे जोड़ा गया है—**समुद्रगुप्त पुत्रस्य महादेव्यां दत्तदेव्यामुत्पन्नस्य स्वयमप्रतिरथस्य परमभागवतस्य महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तपुत्रस्य महादेव्यां ध्रुवदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त।**[3] पुनः प्रथम कुमारगुप्त के पौत्र बुधगुप्त ने अपने नालन्द-मुद्रा में उपर्युक्त पंक्तियों में इस प्रकार वृद्धि की है—**कुमारगुप्तस्य पुत्रतत्पादा-नुध्यातो महादेव्यामनन्तदेव्यामुत्पन्नो महाराजाधिराज श्री पुरगुप्तस्तस्य पुत्र स्तत्पादा-नुध्यात महादेव्यां श्री...देव्यामुत्पन्नः परमभागवत महाराजाधिराज श्री बुधगुप्तः।**[4] इसी प्रकार उनके भाई नरसिंहगुप्त की नालन्द-मुद्रा में लेख है—**महाराजाधिराज पुरगुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुध्यातो महादेव्यां श्री चन्द्रदेव्यामुत्पन्नः परमभागवतो**

---

१. पो० हि० ए० इ०, ५वाँ सं०, पृ० ५७३।

२. पंक्ति २८-२९।

३. पंक्ति ३-६।

४. पंक्ति ५-८।

महाराजाधिराज श्री नरसिंहगुप्तः ।[1] उनके पुत्र तृतीय कुमारगुप्त के भितरी और नालन्द-मुद्राओं में भी इस प्रकार वृद्धि की गयी है—**श्री नरसिंहगुप्तस्तस्य पुत्रस्त-त्पादानुध्यातो महादेव्यां श्री मित्रदेव्यामुत्पन्न परमभागवतो महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्तः**[2] । अन्ततः उनके पुत्र विष्णुगुप्त के नालन्द-मुद्रा पर अन्तिम अंश इस प्रकार है—**कुमारगुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुध्यात महा[देव्यां ``देव्यामुत्प]न्नः परमभागवत महाराजाधिराज श्री विष्णुगुप्तः** ।[3]

इस प्रकार माता-पिता दोनों के नामोल्लेख की परम्परा समुद्रगुप्त के समय से आरम्भ होकर स्कन्दगुप्त के पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती राजाओं द्वारा निरन्तर परिपालित होती रही । इस तथ्य के प्रकाश में भितरी स्तम्भ-लेख को देखने पर ज्ञात होता है कि पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती राजाओं के आलेखों में पितामहों और पितामहियों तथा पिता-माता के नामांकन की जो परम्परा रही है उसका अक्षुण्ण रूप में पालन करते हुए उसी प्रकार की शब्दावली में स्कन्दगुप्त ने भी अपने पिता का उल्लेख किया है किन्तु अपनी माता का नाम छोड़ दिया है । स्वाभाविक रूप से उनसे आशा की जाती थी कि वे अपने सारे गुणों और कार्यों के बखान करने से पूर्व वे परम्परानुरूप अपना परिचय इस प्रकार देंगे—**कुमारगुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुध्यातमहादेव्यां** [माता का नाम] **देव्यामुत्पन्नो महाराजाधिराज श्री स्कन्दगुप्तः** । किन्तु उन्होंने अपना परिचय विचित्र रूप से दिया है । वे अपने पिता का नामोल्लेख करने के बाद सीधे-सीधे कहते हैं **सुतोऽयम्** (मैं उनका पुत्र हूँ) ।[4] यहाँ जिस प्रकार माता के नाम की उपेक्षा की गयी है, उसे कवि, लेखक अथवा उत्कीर्णक की मात्र आकस्मिक भूल कह कर टाला नहीं जा सकता । निस्सन्देह ऐसा जान-बूझकर किया गया है और साभिप्राय है ।[5] स्पष्टतः यह इस बात का द्योतक है कि स्कन्दगुप्त अपनी माता का नामोल्लेख

---

१. पंक्ति ५-८ ।

२. पंक्ति ७-८ ।

३. पंक्ति ३-४; ए० इ०, २६, पृ० २५ ।

४. भितरी स्तम्भ-लेख, पंक्ति ७ ।

५. प्रशस्तिकार द्वारा स्कन्दगुप्त की माता का उल्लेख न किये जाने का कारण बताते हुए जगन्नाथ अग्रवाल का कहना है कि जहाँ राज-वंश का अन्त होता है उसके आगे प्रशस्तिकार अपनी निजी शैली बरतने के लिए स्वतन्त्र था । वह अपने आश्रयदाता के पिता का यशोगान करने को आतुर था इसीलिए उसने माता के नाम का उल्लेख नहीं किया (अ० भ० ओ० रि० इ०, ४८-४९, पृ० ३२६) । किन्तु उनकी यह बात जँचती-सी नहीं जान पड़ती । प्रशस्तिकार अपने आश्रयदाता के पिता का यशोगान करने के लिए कितना भी आतुर क्यों न रहा हो, यदि वह माता का नाम देना चाहता तो उसमें उसकी यह आतुरता किसी प्रकार भी बाधक न होती । वह माता के नाम का उल्लेख करते हुए भी अपने आश्रयदाता के पिता का यशोगान कर सकता था । राज-वंश के प्रारूप के अन्तर्गत ही वह प्रथम कुमारगुप्त की प्रशंसा उसी प्रकार कर सकता था जिसप्रकार समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के विरुदों का

करने में लज्जा का अनुभव करते थे और उन्हें अपने को उनका पुत्र कहलाना गौरवपूर्ण नहीं प्रतीत होता था। इससे सुनिश्चित जान पड़ता है कि उनकी माँ न तो अग्रमहिषी थी और न महिषी। सम्भवतः वे किसी निम्नस्तर की स्त्री थीं। हो सकता है वे रखैल, सुरैतिन अथवा रनिवास की दासी रही हों।[1] अन्यथा कोई कारण नहीं कि

उल्लेख वंशावली के अन्तर्गत ही किया गया है और जो उसी अभिलेख में उपलब्ध है। राजवंश के प्रारूप में माता का नाम हटाने और अपनी शैली अपनाने की न तो कोई आवश्यकता ही थी और न उसे ऐसा करने का अधिकार था। परम्परा से हटने को मात्र उसकी आतुरता नहीं कहा जा सकता। श्रीधर वासुदेव सोहोनी भी, यद्यपि हमारे मत से सहमत नहीं हैं, यह स्वीकार करते हैं कि अभिलेख में स्कन्दगुप्त की माता के प्रति छिपाव (आब्सक्योरिटि) के तत्त्व निहित हैं (ज० वि० रि० सो०, ४३, पृ० १०१)।

[1] वैशम (अ० ला०) ने भितरी स्तम्भ-लेख के 'गीतैश्च स्तुतिभिश्च वंदक-जनो य प्रपयत्य र्य्यतां।' पंक्ति की ओर ध्यान आकृष्ट किया है इस पंक्ति का स्पष्ट भाव यह है कि 'वंदक-जनों के गीतों और स्तुतियों द्वारा स्कन्दगुप्त आर्य कहलाया।' इससे यह झलकता है कि स्कन्दगुप्त एक सामान्य शूद्र सुरैतिन का पुत्र था (बु० स्कू० ओ० अ० स्ट०, १७, पृ० ३६८-[illegible])। जगन्नाथ अग्रवाल भी स्वीकार करते हैं कि इस पंक्ति में ऐसा ही प्रतिध्वनित होता है। किन्तु वे प्रशस्तिकार द्वारा इस प्रकार के गम्भीर लांछन लगाने की धृष्टता की कल्पना नहीं कर सकते इसलिए वे फ्लीट पर दोषारोपण करते हैं कि उन्होंने पंक्ति का पाठ ठीक रूप में उपस्थित नहीं किया है। फलतः उन्होंने इस पंक्ति का अपना पाठ दिया है--'गीतैश्च स्तुतिभिश्च वृत्त-कथनैः य हेपयत्यार्यतां' और व्याख्या की है—"हूम हिज इनेट नोबिलिटी काजेज टु ब्लश बाइ रीजन आव द नेरेशन आव दि एक्सप्लायट्स बाई मीन्स आव सांग्स ऐण्ड यूलोजीज"। इसी प्रकार साधूराम ने भी पंक्ति को संशोधित किया है। उनका संशोधन अग्रवाल के संशोधन के समान ही है पर वे 'वृत्तकथनैः' के स्थान पर 'वृत्तकथने' कहते हैं। (वि० इ० ज०, ४, पृ० ७४)। इससे पूर्व भण्डारकर (इ० रा०) ने भी 'वन्दकजनो' के स्थान पर 'वृत्त-कथनम्' पढ़ा था और उनकी व्याख्या थी--"हूम नेरेशन आव हिज मोड आव लाइफ, टुगेदर विथ सांग्स आफ पैनेजेरिक्स इस रेजिंग टु दि डिग्निटी ओव एन आर्य"। बहादुरचन्द छाबड़ा ने भी इस पंक्ति को नये रूप में पढ़ने की चेष्टा की है। उनका पाठ है--'गीतैश्च स्तुतिभिश्च वन्दकजनैः यं रूपयत्यार्यतां' (ज० इ० हि०, ४१, पृ० ४५३ आदि)। यदि हम इन संशोधनों को ध्यानपूर्वक देखें तो उनमें दो मुख्य अन्तर दिखाई पड़ेगा। भण्डारकर, अग्रवाल और साधुराम 'वन्दक जन' की जगह 'वृत्तकथन' पढ़ते हैं किन्तु उनके कारक रूप के सम्बन्ध में एक मत नहीं है। दूसरे वे फ्लीट और सरकार के 'प्रपयत्य' की जगह 'हेपयत्य' पढ़ते हैं। छाबड़ा ने इसके स्थान पर एक तीसरा पाठ 'रूपापयत्य' दिया है। किन्तु यदि मिल द्वारा तैयार की गयी छाप (ज० ए० सो० बं०, ५, पृ० ३६१) और कनिंगहम कृत आँख देखी नकल (क० आ० स० रि०, १, पृ० ५२) को सामने रखकर फ्लीट द्वारा उपस्थित छाप का अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि प्रथम शब्द अस्पष्ट होते हुए भी किसी प्रकार भी 'वृत्तकथन' नहीं पढ़ा जा सकता। दूसरा अक्षर किसी अन्य अक्षर की अपेक्षा 'द' के अधिक निकट है। इसी प्रकार दूसरे शब्द का पहला अक्षर स्पष्टतः 'प्र' है 'हे' या 'ख्या' नहीं। इस प्रकार फ्लीट का पाठ यथास्थान है और उसका बैशम द्वारा कहे निष्कर्ष के सिवा कोई दूसरा निष्कर्ष नहीं हो सकता। फिर इस पंक्ति में ऐसी कोई बात भी नहीं है जिसे

कोई अपनी माँ का गर्व न प्रकट करे।[१]

प्रशस्तिकार ने भितरी अभिलेख में स्कन्दगुप्त के विजयोपरान्त अपनी माँ के पास जाने की तुलना कृष्ण के अपनी माँ देवकी के पास जाने से की है। अतः कुछ विद्वानों की धारणा है कि स्कन्दगुप्त की माता का नाम भी देवकी था।[२] अन्यथा उनकी कृष्ण की माता देवकी के साथ (जिन्हें अपने सभी दुर्भाग्यों के बावजूद वैधव्य का दुःख नहीं सहन करना पड़ा था) तुलना करने की कोई संगति ही नहीं है।[३] किन्तु यह तुलना नामों के कारण न होकर समान परिस्थितियों के कारण भी हो सकती है। किन्तु यदि इस उपमा में वस्तुतः अप्रच्छन्न रूप से स्कन्दगुप्त की माता का नाम प्रस्तुत किया गया है तो वह उनकी माता की स्थिति के प्रति और भी अधिक सन्देह उत्पन्न करने-वाला है। तब तो इससे यह प्रकट होता है कि पूर्वा का रचयिता अपने काव्य में जहाँ राजमाता को अमर करने को उत्सुक है, वहीं वह खुल कर वैसा कर सकने में अपने को असमर्थ पाता है। यदि प्रथम कुमारगुप्त के साथ उनका राज-कुलीन अथवा वैध सम्बन्ध होता तो निःसन्दिग्ध रूप से उनके नाम का उल्लेख परम्परागत वंश-वृत्त में, जहाँ उनका उचित स्थान था, अवश्य किया जाता।

माता के नाम की इस स्पष्ट उपेक्षा के अतिरिक्त भी कुछ अन्य बातें द्रष्टव्य है।

निन्दापरक अथवा अपमानजनक कहा जा सके। प्रशस्तिकार ने इस पंक्ति द्वारा इस बात पर बल देने की चेष्टा की है कि जो व्यक्ति निम्न कुक्षि में जन्मा था वह इतना श्रेष्ठ, इतना योग्य सिद्ध हुआ। उसका यह कथन बहुत कुछ उसी तरह का है जिस तरह आज के चरित्र लेखक महान् व्यक्तियों की चर्चा करते हुए उनके निम्नकुल में जन्म लेने का उल्लेख किया करते हैं।

१. दशरथ शर्मा (ज० इ० हि०, ४३, पृ० २२१) और जगन्नाथ अग्रवाल (अ० भ० ओ० रि० इ०, ४८-४९, पृ० ३२५) ने इस प्रसंग में इस बात पर बल दिया है कि भितरी स्तम्भ-लेख में स्कन्दगुप्त की मातृ-भक्ति का निश्चित प्रमाण उपलब्ध है। उनकी दृष्टि में स्कन्दगुप्त का अपनी माँ के पास अपनी विजय का सुसंवाद सुनाने जाना उनकी मातृ-भक्ति का स्पष्ट और निश्चित प्रमाण है। पर उनके इस कथन से कोई बात नहीं बनती। भक्ति माता और पुत्र के पारस्परिक वैयक्तिक सम्बन्ध का द्योतक है। स्कन्दगुप्त की माँ की सामाजिक स्थिति से उनकी मातृ-भक्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। किसी भी पुत्र के लिए यह स्वाभाविक है कि वह अपने विजय का समाचार जाकर अपनी माँ को सुनाए; किन्तु यदि उसकी माँ की सामाजिक स्थिति हीन है तो वह चाहे कितना भी मातृ-भक्त हो, अपने माँ के प्रति गौरव का अनुभव नहीं कर सकता। किसी प्रकार के गौरव का सम्बन्ध उससे नहीं समाज की दृष्टि से सम्बन्ध रखता है।

२. दास गुप्त (न० न०) कृष्ण और देवकी की उपमा से यह अनुमान करते हैं कि स्कन्दगुप्त की माँ पुष्यमित्र कुल की थीं और वह कुल स्कन्दगुप्त का विरोधी था; फलतः पुष्यमित्रों की पराजय उनकी माँ के लिए आनन्द का विषय था (बी० सी० ला वाल्यूम, १, ६० ६१७ आदि)। दिनेशचन्द्र सरकार की भी धारणा है कि स्कन्दगुप्त ने अपने मामा से ही युद्ध किया था (से० इ०, पृ० ३१४, पा० टि० २)।

३. सेवेल, हिस्टारिकल इन्स्क्रिप्शन्स ऑव सदर्न इण्डिया, पृ० ३४९; रायचौधुरी, पो० हि० ए० इ०, ५वाँ सं०, पृ० ५७०. पा० टि० ४।

अपने पिता के साथ अपना सम्बन्ध व्यक्त करने के लिए स्कन्दगुप्त ने तत्पादानुध्यात शब्द का, जो सभी गुप्त अभिलेखों में राजाओं द्वारा अपने पिता के साथ अपना सम्बन्ध व्यक्त करने के लिए अनिवार्य रूप में प्रयुक्त किया जाता रहा है, प्रयोग नहीं किया है। उसके स्थान पर वह अपने को **श्रीः पितृ-परिगत-पाद-पद्मवर्ती-प्रथित यशाः** कहते हैं।[1] पर जैसा कि सिनहा (वि० प्र०) ने इंगित किया है[2] परम्परागत सहज रूढ़ पदावली के भाव को इस प्रकार घुमा-फिरा कर प्रस्तुतीकरण को मात्र कवि-कल्पना नहीं कहा जा सकता। यह भी स्पष्टतः उस परम्परा की साभिप्राय उपेक्षा ही है, जिसके अनुसार यह पद वैध अथवा समुचित सम्बन्ध का बोधक माना जाता रहा है। इससे भी यह भाव निस्सन्दिग्ध रूप से प्रकट होता है कि स्कन्दगुप्त का सिंहासन पर कोई वैध अधिकार न था और प्रथम कुमारगुप्त अपने लाड़-दुलार के बावजूद उन्हें अपना उत्तराधिकारी कह पाने में असमर्थ थे; और स्कन्दगुप्त भी अपने को अपने पिता का **परिगृहीत** नहीं कह सकते थे।

स्कन्दगुप्त अपनी अवैध अथवा हेय जाति के प्रति अत्यधिक सजग रहे। वे निरन्तर अपने अभिलेखों में अपने को गुप्त-वंश का बताने की चेष्टा करते जान पड़ते हैं। भितरी अभिलेख में वह अपने को **गुप्त-वंशैक-वीरः** कहते हैं।[3] इसी प्रकार कहाँव अभिलेख में उन्हें **गुप्तानां वंश यस्य** कहा गया है।[4] किसी व्यक्ति को जब तक उसके पक्ष में कोई निर्बलता न हो अथवा वह किसी हीन भावना से ग्रसित न हो, सामान्यतः इस प्रकार अपने वंश की उद्घोषणा करने की आवश्यकता नहीं हुआ करती। स्कन्दगुप्त की यह निरन्तर चेष्टा कि लोग उन्हें गुप्त-वंश का वास्तविक सदस्य मानें, इस बात के रहे-सहे सन्देह को भी पुष्ट कर देता है कि वे किसी रानी के पुत्र न थे।[5]

---

१. भितरी स्तम्भ-लेख, पंक्ति ७।

२. डिक्लाइन ऑव द किंगडम ऑव मगध, पृ० ३०-३१।

३. पंक्ति ७।

४. पंक्ति २।

५. गुप्त-वंशीय सिंहासन पर स्कन्दगुप्त के वैध अधिकार के पक्ष में अपना अभिमत प्रकट करते हुए दशरथ शर्मा ने स्कन्दगुप्त के सिक्कों पर प्राप्त होनेवाले 'विक्रमादित्य' और 'क्रमादित्य' विरुदों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। उन्होंने इस बात के प्रमाण उपस्थित किये हैं कि उत्तराधिकार के प्रसंग में 'विक्रम' और 'क्रम' शब्दों का विशेष अर्थ होता है। उन्होंने इस सम्बन्ध में जो प्रमाण उपस्थित किया है उसके अनुसार 'क्रम' का तात्पर्य 'पितृ-पैतामहिक राज्य' है; और दशरथ शर्मा इसकी व्याख्या राज्य पर दायाधिकार के रूप में उत्तराधिकार (सक्सेशन टु किंगडम बाई इनहेरिटेड राइट) के रूप में करते हैं। 'विक्रम' का अर्थ तो 'शौर्य' है। अतः उनका कहना है कि स्कन्दगुप्त ने इन विरुदों को धारण करके जनता को न केवल अपने उस शौर्य का स्मरण कराया है जिसके द्वारा उन्होंने हूणों और पुष्यमित्रों के आक्रमण से साम्राज्य की रक्षा की, वरन् यह भी प्रकट किया है कि सिंहासन पर उनका दायाधिकार है (ज० इ० हि०, ३७, पृ० १४५-१५२)। स्कन्दगुप्त की सराहना शौर्य के कारण निस्सन्देह राष्ट्रवीर के रूप में की जा सकती है। यह उनके उपयुक्त ही था कि वे

स्कन्दगुप्त जन्मना चाहे जो भी रहे हों, इसमें सन्देह नहीं कि वे अपने सब भाइयों में सैनिक योग्यता में बढ़-चढ़ कर थे। राजकुमारावस्था में ही अपने पिता के राजत्व

'विक्रमादित्य' विरुद धारण करते। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में इसकी चर्चा अनपेक्षित है। बहुत सम्भव है कि इस विरुद द्वारा वे जनता पर यह प्रभाव डालना चाहते रहे हों कि उनका शौर्य-कार्य ऐसा रहा है कि वे ही राज्य के अधिकारी कहे जाने चाहिये। यह भी हो सकता है कि वे इस विरुद द्वारा इस बात की घोषणा करना चाहते रहे हों कि भले ही वे गद्दी के वैध दावेदार न हों, उन्होंने उसे अपने 'विक्रम' से प्राप्त किया है। गद्दी प्राप्त करने से पूर्व उन्हें किन्हीं राजकुमार से संघर्ष लेना पड़ा था, यह बात स्पष्ट रूप से जूनागढ़ अभिलेख में स्वीकार की गयी है।

यदि 'क्रमादित्य' विरुद का उद्देश्य वही हो जो दशरथ शर्मा अनुमान करते हैं तो वह उनके कथन को बल देने की अपेक्षा निर्बल ही अधिक करता है। आज तक ऐसा कोई उदाहरण प्राप्त नहीं है जहाँ गद्दी के वैध अधिकारी ने स्कन्दगुप्त की तरह इस बात का ढिंढोरा पीटने की आवश्यकता का अनुभव किया हो कि वह वैध उत्तराधिकारी है। यदि स्कन्दगुप्त को इस बात की आवश्यकता जान पड़ी कि वे यह विज्ञापित और घोषित करें कि वे सिंहासन पर अपने दाय-अधिकार से आये हैं, तो इससे तो यही प्रकट होता है कि दाल में कुछ काला अवश्य था; और वे लोगों को इस बात का विश्वास दिलाने के लिए आतुर थे कि वे अपने पिता के वैध उत्तराधिकारी हैं। वस्तुतः तथ्य जो हो, हमारी दृष्टि में 'क्रम' शब्द में निहित 'पितृ-पैतामहिक राज्य' का तात्पर्य पिता-पितामह के अधिकाराधीन राज्य मात्र से है अर्थात् उस राज्य से है जो वंशगत चला आ रहा हो। स्कन्दगुप्त ने 'क्रमादित्य' विरुद धारण कर केवल यह बताने की चेष्टा की हो वह उस सिंहासन पर आसीन है जो उसके वंश में पीढ़ियों से चली आ रही है न कि वे सिंहासन के वैध अधिकारी हैं।

इस प्रसंग में इस ओर भी ध्यान आकृष्ट करना अप्रासंगिक न होगा कि 'विक्रमादित्य' विरुद किसी सोने के सिक्के पर नहीं मिलता। 'क्रमादित्य' विरुद भी केवल उन सिक्कों पर है जो भारी वजन के हैं और उनके उत्तरवर्ती काल से सम्बन्ध रखते हैं। उनके पूर्ववर्ती सिक्कों पर जो हलके भार मान और १३६ ग्रेन के हैं किसी विरुद का प्रयोग नहीं हुआ है। पट ओर जहाँ सामान्यतः प्रचलक राजा का विरुद हुआ करता है मात्र उनका नाम 'स्कन्दगुप्त' है। इससे स्पष्ट है कि राज्यारोहण के समय उन्होंने कोई विरुद धारण नहीं किया था। सम्भवतः इसकी कल्पना बाद में की गयी और वह भी सम्भवतः उन लोगों को तुष्ट करने के लिए जो उनके वैध उत्तराधिकार के प्रति अविश्वास भाव रखते थे। सोने के सिक्कों के समान ही भितरी स्तम्भ-लेख में 'विक्रम' और 'क्रम' शब्द का उल्लेख है (पंक्ति ९)। इस प्रसंग में भी दशरथ शर्मा ने अपनी उपर्युक्त व्याख्या प्रस्तुत की है। किन्तु द्रष्टव्य है कि यह अभिलेख भी स्कन्दगुप्त के पूर्ववर्ती काल का न होकर उस काल का है जब वे अपने शत्रुओं का दमन कर पूर्णतः अपनी शक्ति जमा चुके थे। इस प्रकार उसका भी महत्व सिक्कों सरीखा ही है।

चाँदी के उन सिक्कों पर 'विक्रमादित्य' और 'क्रमादित्य' विरुद मिलते हैं जो राज्य के पश्चिमी भाग अर्थात् मालवा और सौराष्ट्र में प्रचलित थे (क्वायनेज ऑव गुप्त इम्पायर, पृ० २५१-२५६)। जो सिक्के राजधानी के निकट पूर्वी भाग में प्रचलित किये गये थे उन पर ये विरुद नहीं हैं (वही, पृ० २५७-५८)। दूर देश के लोगों को झूठ बोल कर तुष्ट कर लेना सहज है बनिस्बत उन लोगों के जो निकट रहते हैं और झूठ-सच को सहज रूप में जान सकते हैं। हो सकता है सौराष्ट्र के सिक्कों पर इन विरुदों के प्रयोग के पीछे यही भावना रही हो।

काल में उन्हें विजय की ओर अग्रसर होते हुए शत्रुओं का सामना करने के लिए भेजा गया था। उन्होंने शत्रुओं (अथवा पुष्यमित्रों) का, जिन्होंने गुप्त-साम्राज्य के विरुद्ध अपनी सारी शक्ति और साधन लगा रखा था, दमन किया। शत्रुओं द्वारा विचलित राज-लक्ष्मी को पुनर्स्थापित करने का श्रेय उन्हें प्राप्त है। ऐसी अवस्था में स्कन्दगुप्त के लिए यह सोचना स्वाभाविक ही था कि वे अपने पिता (प्रथम कुमार-गुप्त) के वास्तविक उत्तराधिकारी हैं।

किन्तु जिन दिनों स्कन्दगुप्त अपने विजय-अभियान में व्यस्त थे तभी उनके पिता की मृत्यु हो गयी; और राजधानी से दूर होने के कारण, सम्भवतः जैसा कि पहले चर्चा की जा चुकी है, प्रथम कुमारगुप्त के दूसरे बेटे घटोत्कचगुप्त ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया।[1] जब स्कन्दगुप्त विजयी होकर राजधानी वापस लौटे तो उन्हें घर में पराजय दिखाई पड़ी। किन्तु यह स्थिति कुछ ही समय तक रही। पिता की मृत्यु के कुछ ही महीने के भीतर उन्होंने अपने पराक्रम से राजाधिकार प्राप्त कर लिया। हम उन्हें घोषित करते पाते हैं—**क्रमेण बुद्ध्या निपुणं प्रधार्य ध्यात्वा च कृत्स्नान्गुण-दोष-हेतून। व्यपेत्य सर्व्वान्मनुजेन्द्र पुत्रांल्लक्ष्मीः स्वयं यं वरयांचकार** (लक्ष्मी ने समस्त गुण-दोषों को पूरी तरह छान-बीन करने के बाद अन्य राजपुत्रों को ठुकरा कर उनका वरण किया)।[2] इससे स्पष्ट है कि उनके और उनके प्रतिस्पर्धी घटोत्कच-गुप्त के बीच संघर्ष हुआ जिसमें घटोत्कचगुप्त हत हुए। यदि स्कन्दगुप्त ने स्वाधिकार से, बिना किसी कठिनाई के राजगद्दी प्राप्त की होती तो उन्हें 'लक्ष्मी ने स्वयं उसका वरण किया' (**लक्ष्मीः स्वयं यं वरयांचकार**) की घोषणा करने की कोई आवश्य-कता न होती।

इस प्रकार गुप्त-साम्राज्य का प्रभुत्व प्राप्त कर, भितरी अभिलेख के अनुसार स्कन्दगुप्त ने दिग्विजय द्वारा उसका विस्तार किया[3] और पराजितों पर दया दिखाई। शक्तिशाली हूणों का सामना कर उन्हें पराजित कर पृथिवी को हिला दिया।[4] जूनागढ़ अभिलेख में कहा गया है कि उन्होंने **नरपति भुजगानां मानदर्प्पोत्फणानां** (मान-दर्प से अपने फणों को उठानेवाले सर्प रूपी नरपतियों) का दमन किया। पिता की मृत्यु के पश्चात् **स्वभुज जनित वीर्य** से **चतुरुदधि-जलान्तांस्फीत** पर्यन्त देश को परा-जित कर शत्रुओं को वशवर्ती किया। उन्होंने म्लेच्छ देश के अपने शत्रुओं के दर्प को आमूल

---

१. पीछे, पृ० १७८-८१३; ३१३-१५।

२. जूनागढ़ अभिलेख, पंक्ति ५।

३. पुराणों से ऐसा आभास मिलता है कि स्कन्दगुप्त ने कोई नयी विजय प्राप्त नहीं की थी। अपने पिता-पितामहों द्वारा विजित भूभागों पर ही उसने शासन किया। (देखिये पीछे, पृ० १०२१)।

४. पंक्ति १५।

भग्न कर उन्हें अपनी विजय स्वीकार करने पर बाध्य किया। इस प्रकार उन्होंने समस्त पृथिवी और अपने शत्रुओं के गर्व पर विजय प्राप्त की।[1]

जूनागढ़ अभिलेख स्कन्दगुप्त के राज्यारोहण के एक ही दो वर्ष के भीतर ही अंकित किया गया था; अतः यह सहज अनुमान किया जा सकता है कि अभिलेख में जो कुछ भी कहा गया है वह या तो उनके युवराज काल की बातें हैं या फिर राज्यारम्भ के समय की। किन्तु भितरी अभिलेख तिथि विहीन है, इस कारण उसमें जो कुछ भी कहा गया है, उनके सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। उसमें वर्णित घटनाएँ उनके राज्य काल के किसी भी समय की हो सकती है। वस्तु-तथ्य जो भी हो, अधिकांश विद्वानों की यही धारणा रही है कि म्लेच्छों के साथ युद्ध का तात्पर्य भितरी अभिलेख में स्पष्ट रूप से उल्लिखित हूणों के साथ हुए युद्ध से है।[2] किन्तु हमने अन्यत्र[3] इस बात को स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया है कि जूनागढ़ उल्लिखित म्लेच्छ हूण नहीं हैं। वे सम्भवतः किदार-कुषाण हैं।

दोनों ही अभिलेखों में यह बात कही गयी है कि स्कन्दगुप्त ने अपने शत्रुओं को पराजित कर पूर्णतः कुचल दिया। अस्तु, लगता है कि स्कन्दगुप्त द्वारा दलित होकर किदार लोगों ने उत्तरी-पश्चिमी पर्वतीय भूभाग में शरण प्राप्त किया और फिर वे छटी शताब्दी में ही किसी समय वहाँ से वापस लौटे और गन्धार के कुछ भागों पर अधिकार स्थापित किया, जहाँ वे नवीं शताब्दी ई० तक रहे। इसी प्रकार हूण भी पाँचवीं शती के अन्त अथवा छटी शताब्दी के आरम्भ तक गन्धार से पूर्व की ओर आने का साहस न कर सके।

किदारों के पलायन को हम कोई महत्त्व दें या न दें किन्तु हूणों पर प्राप्त स्कन्दगुप्त के महान् विजय की हम उपेक्षा नहीं कर सकते। हूणों ने डैन्यूब से सिन्धु तक जो क्रूर विनाशकारी स्थिति उत्पन्न कर रखी थी, उसे ध्यान में रखना ही होगा। उनके नेता अत्तिल ने, जिसकी ४५३ ई० में मृत्यु हुई, रवेन्ना और कुस्तुन्तुनिया दोनों ही राजधानियों पर एक समान जोरदार आक्रमण किया था। ईरान को पराजित कर वहाँ के राजा को उसने मार डाला था। अतः कहना होगा कि हूणों को पराजित कर उनके क्रूर बर्बर आक्रमण से देश की रक्षा कर स्कन्दगुप्त ने सचमुच बहुत बड़े साहस का परिचय दिया था। उससे जनता ने अवश्य ही राहत की साँस की होगी। इस प्रकार स्कन्दगुप्त सच्चे अर्थों में राष्ट्रवीर, महान् योद्धा,[4] राष्ट्र के मुक्तिदायक और गुप्त-वंश के गौरव-रक्षक थे।

---

१. पंक्ति ४।

२. एलन, ब्रि० म्यू० सू० इ०, भूमिका, पृ० ४६; रायचौधुरी, पो० हि० ए० इ०, ५वाँ सं०, पृ० ५७८; दिनेशचन्द्र सरकार, से० इ०, पृ० ३०१, पा० टि० ४; रा० ब० पाण्डेय, हिस्टॉरिकल ऐण्ड लिटरेरी इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ९३, पा० टि० ४।

३. पीछे, पृ० ३०७।

४. सोने के सिक्कों पर स्कन्दगुप्त को सुधन्वी कहा गया है।

यही नहीं, वे एक उदार शासक भी थे। उन्हें शास्त्र और न्याय दोनों के प्रति महान् आस्था थी। उनके गुणों का बखान जूनागढ़ अभिलेख में इन शब्दों में किया गया है—**नैव कश्चिद्धर्मादपेतके मनुजः प्रजासु। आर्तो दरिद्रो व्यसनी कदर्यो दण्डेन वा यो भृश-पीडितः स्यात्** (उनकी प्रजा का कोई व्यक्ति अपने धर्म से च्युत नहीं होता; कोई दारिद्रय और कदर्य से पीड़ित नहीं है और न किसी दण्डनीय को अनावश्यक पीड़ित किया जाता)। साम्राज्य की शान्ति और सुरक्षा और लोक-समृद्धि के प्रति वे कितने सजग थे, यह उनके प्रान्तीय अधिकारियों के लिए निर्धारित प्रतिमानों से अनुमान किया जा सकता है। गोप्तों के लिए आवश्यक था कि वे "उपयुक्त, मेधावी, विनम्र, मानवोचित गुणों से युक्त, ईमानदारी में खरे, अन्तरात्मा में कर्तव्य और दायित्व के प्रति सजग, सर्वलोक-हितैषी, अर्थ के न्यायपूर्ण अर्जन समुचित संरक्षण और वृद्धि तथा वृद्धि होने पर समुचित कार्यों में व्यय करने में समर्थ हों।" सौराष्ट्र के गोप्ता की नियुक्ति के समय स्कन्दगुप्त ने इन विस्तृत गुणों को ध्यान में रखा था। इस सूची की तुलना कौटिल्य द्वारा उच्च अधिकारियों की नियुक्ति के लिए निर्धारित अनिवार्य गुणों के साथ किया जा सकता है। सौराष्ट्र के गोप्ता की नियुक्ति के समय जिन बातों पर स्कन्दगुप्त ने ध्यान रखा था, उन पर सामान्य दृष्टि डालने मात्र से पता चलता है कि वे अपनी प्रजा की सुख और समृद्धि के प्रति कितने सजग और उत्सुक थे।

गिरनार पर्वत स्थित सुदर्शन झील की, जिससे सिंचाई का काम होता था, मरम्मत कराने के प्रति स्कन्दगुप्त ने जो तत्परता दिखाई, उससे उनके लोक-हित के प्रति सजगता का परिचय मिलता है। उक्त पर्वत के एक प्राकृतिक खड्ड के एक छोटे-से निकास पर बाँध डाल कर चन्द्रगुप्त मौर्य ने सर्वप्रथम इस झील का निर्माण किया था।[1]

---

[1] १८७८ में सर्व प्रथम भगवानलाल इन्द्रजी ने इस झील की अवस्थिति की खोज की थी। उनकी धारणा थी कि वह गिरनार पर्वत के पूर्व उस स्थान पर रहा होगा जो अब भवनाथून मकुन (दर्रा) कहा जाता है। उसे उन्होंने तथाकथित दामोदर कुण्ड से कुछ ऊपर मुसलमान फकीर उरस के सामने बताया था (इ० ए०, ६, पृ० २५७)। तदनन्तर ए० जमशेदजी ने इस सम्बन्ध में एक विस्तृत खोजपूर्ण लेख प्रकाशित किया (ज० ब० ब्रा० रा० ए० सो०, १८, प्रा० सी०, पृ० ४७)। फिर 'सौराष्ट्रनो इतिहास' में शम्भुप्रसाद देसाई ने यह मत व्यक्त किया कि यह झील गिरनार के निकट नहीं थी। उन्होंने उसे त्रिपुरसुन्दरी देवी के मन्दिर और त्रिवेणी संगम के बीच, जहाँ पलासिनी और सोनरेखा मिलती है अनुमान किया (पृ० १५, पा० टि० १)। पुरातात्त्विक दृष्टि से झील के अवशेष खोजने का प्रयास अभी हाल में बड़ोदा विश्वविद्यालय के आर० एन० मेहता ने किया। उनके सर्वेक्षण के अनुसार जूनागढ़ के निकट सोनरेखा नामक नाला है जिसमें अनेक धाराएँ आकर मिलती हैं; वे रुद्रदामन के लेख में प्रयुक्त 'प्रभृति' शब्द का समर्थन करती जान पड़ती है। लोक-अनुश्रुतियों के अनुसार त्रिवेणी पर एक संगम था; इसके अनुसार कहा जा सकता है कि यहाँ सोनरेखा में एक अन्य पर्वतीय नदी आकर मिलती रही होगी। अतः इसे सुवर्णसिकता और पलासिनी का, जिनका उल्लेख अभिलेख में हुआ है, संगम स्थल अनुमान किया जा सकता है। इस संगम से लगभग दो सौ

उसमें बरसाती पानी जमा होता था और नहरों द्वारा दूरस्थ खेतों को सींचने के काम आता था। उस स्थान में जो दो अभिलेख मिले हैं, उनमें से एक में बताया गया है कि उस झील का बाँध एक बार पहले १५० ई० के लगभग टूटा था। उस समय उसकी मरम्मत शक क्षत्रप प्रथम रुद्रदामन ने करायी थी। दूसरे अभिलेख में कहा गया है कि गुप्त संवत् १३६ (४५५ ई०) में अति वृष्टि के कारण सुदर्शन झील अकस्मात् फट गयी; फलस्वरूप पलाशिनी आदि नदियाँ, जो निकटतम ऊर्जयत और रैवतक नामक पर्वतों से निकल कर इस झील में गिरा करती थीं, समुद्र की ओर बह निकलीं। सुदर्शन झील जो स्वतः सागर के समान थी, पानी के बह जाने से दुर्दर्शन हो गयी। स्कन्दगुप्त के आदेश पर असीम धन खर्च कर दो महीने के भीतर ही दरार को बन्द कर बाँध को पुनः बना दिया गया। यह बाँध १०० हाथ लम्बा, ६८ हाथ चौड़ा और ७ पुरिसा ऊँचा था। लेख के अनुसार उसे इस प्रकार मजबूत बनाया गया था कि यह स्थायी रह सके। इससे प्रकट होता है कि सिंचाई के प्रति प्राचीन काल में कितना ध्यान रखा जाता था।

युवान-च्वांग ने नालन्द में संघाराम बनवानेवाले शासकों में एक का उल्लेख शक्रादित्य नाम से किया है।[1] कहाँव अभिलेख में स्कन्दगुप्त को शक्रोपम कहा गया है।[2] बहुत सम्भव है युवान-च्वांग ने स्कन्दगुप्त को ही इस नाम से अभिहित किया हो[3] और इसकी प्रेरणा उन्हें किसी ऐसे ही सूत्र से प्राप्त हुई हो। यदि ऐसी बात हो, तो कहा जा सकता है कि स्कन्दगुप्त ने नालन्द विश्वविद्यालय की स्थापना में रुचि प्रकट की थी और बौद्ध धर्म और विद्या को प्रश्रय प्रदान किया था।

मीटर आगे बढ़ने पर नदी के दाहिने किनारे पर मिट्टी के बाँध के अवशेष हैं जो जोगानिया पर्वत को जोड़ते हैं। इसी प्रकार बायें किनारे पर भी कुछ आगे बढ़ कर १० मीटर ऊँचे बाँध का अवशेष है जो तल में १०० मीटर और सिरे पर ११ मीटर चौड़ा है। यह बाँध उत्तर, दक्षिण जाकर पूरब की ओर मुड़ जाता है और दाहिने तट वाले बाँध के अवशेष के सीध में पड़ता है। इस प्रकार अनुमान होता है कि इसी बाँध को बना कर झील बनायी गयी थी। उसका पानी का निकास अभिलेख के पास ही है, जो पानी की सीमा से ऊपर था। इस प्रकार नंदना के कथनानुसार सुदर्शन झील का निर्माण ओझट नदी की शाखाओं पर बताया गया था (ज० ओ० इं०, १८, पृ० २०-२८)। ओझट के सम्बन्ध में उन्होंने कुछ नहीं कहा है। किन्तु सम्भवतः यह मूलतः ऊर्जयत है, जिसका उल्लेख अभिलेख में पर्वत के रूप में हुआ है। यह नदी कदाचित् ऊर्जयत पर्वत से निकलती रही होगी। इससे ऊर्जयत पर्वत को पहचाना जा सकता है।

१. पीछे, पृ० १५४।

२. कहाँव अभिलेख, पंक्ति ३।

३. 'शक्रादित्य' की पहचान प्रायः लोग प्रथम कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य (= शक्रादित्य) से किया करते हैं। (ज० बि० ओ० रि० सो०, १४, पृ० १ आदि); किन्तु युवांग-च्वांग का कथन हमारे कथन से अधिक संगति रखता है क्योंकि बुधगुप्त का उल्लेख उनके बाद किया गया है। बीच में द्वितीय कुमारगुप्त का अल्पकालीन शासन नगण्य है। नालन्द में कोई ऐसा वस्तु उपलब्ध नहीं हुआ है जिसे प्रथम कुमारगुप्त का कहा जा सके।

स्कन्दगुप्त की सफलताएँ, उन्हें अपने पूर्ववर्ती चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, समुद्रगुप्त और द्वितीय चन्द्रगुप्त की पाँत में बैठाती हैं। उनके अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उनके कार्य समुद्रगुप्त के कार्यों की तरह ही महान् थे। उन्होंने गुप्त-वंश, साम्राज्य और देश पर छायी हुई विपत्ति को सफलतापूर्वक टाला। उन्होंने पहले राजगद्दी के प्रति अपनी स्थिति सुदृढ़ बनायी, फिर साम्राज्य भर में अपनी प्रभुता की स्वीकृति प्राप्त की और हूणों के रूप में आयी हुई विपत्ति को दूर किया। इस प्रकार गुप्त संवत् १४१ (४६० ई०) आते-आते, जैसा कि कहाँव अभिलेख[1] में प्रकट होता है, साम्राज्य में शान्ति व्याप्त हो गयी थी।

अपने पिता के समान ही स्कन्दगुप्त ने भी चीन के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित किया था। कहा जाता है कि ४६६ ई० में एक भारतीय राजदूत सांग-सम्राट् के दरबार में गया था। उस समय चीनी सम्राट् ने भारतीय नरेश को उपाधि प्रदान की थी जिसका अर्थ था—"अपना अधिकार सुदृढ़ रूप में स्थापित करनेवाला सेनापति"।[2] यह उपाधि सम्भवतः स्कन्दगुप्त के शौर्यपूर्ण कार्यों की समुचित सराहना थी।

स्कन्दगुप्त का उत्तरवर्ती शासन-काल अपेक्षाकृत अधिक शान्ति और समृद्धिपूर्ण था। किन्तु विचित्र बात है कि हमारे आधुनिक विद्वानों ने उसके "निरन्तर युद्ध के भार" से दबे होने की बात कही है।[3] स्मिथ का कहना है कि "उनके राज्य के अन्तिम वर्षों में हूणों का पुनः आक्रमण हुआ और इस बार वे उनका सामना उस प्रकार न कर सके जिस प्रकार उन्होंने अपने शासन-काल के आरम्भिक दिनों में किया था। विदेशियों के निरन्तर आक्रमणों के सामने घुटने टेक दिये।"[4] राखालदास बनर्जी ने भी हूणों के बार-बार आक्रमण तथा उनके तीसरे आक्रमण के समय उनका सामना करते हुए स्कन्दगुप्त के मारे जाने की कल्पना की है।[5]

इन युद्धों और आक्रमणों की झाँकी हमारे विद्वानों को स्कन्दगुप्त के सिक्कों में मिली है। प्रारम्भ में कनिंगहम ने अनुमान किया था कि सिक्कों के भारी वजन के होने का कारण उनकी धातु में मिलावट है।[6] उनके इस कथन मात्र ने हमारे विद्वानों को अपनी कल्पना का घोड़ा दौड़ाने का अवसर दे दिया और उन्होंने बिना सोचे-समझे यह निष्कर्ष निकाल लिया कि हूण-युद्ध के कारण राज-कोष में धन की कमी होने से सिक्कों में सोने की घटती हुई होगी।[7]

---

१. स्कन्दगुप्तस्य शान्ते वर्षे (पंक्ति ३-४)।

२. सिल्वाँ लेवी, ल इण्दे सिविलाजेट्रिस, पृ० १०६।

३. वाकाटक-गुप्त एज, पृ० १७८।

४. अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० ३२८।

५. द एज ऑव इम्पीरियल गुप्ताज, पृ० ४८-४९।

६. क्वायन्स ऑव मिडिवल इण्डिया, पृ० १५।

७. वाकाटक-गुप्त ए. . पृ० १७९।

किन्तु इस प्रकार की कल्पना के लिए कहीं भी कोई आधार नहीं है। इस कल्पना से तो लोगों की अर्थशास्त्र के प्रति अनभिज्ञता ही प्रकट होती है। किसी भी कारण से यदि राज-कोष पर कोई तनाव होता है तो निस्सन्देह सिक्कों के धातु में मिलावट की जाती है; किन्तु सिक्कों के वजन में किसी प्रकार की कोई वृद्धि नहीं की जाती। घटिया धातु मिलाने के साथ ही वजन बढ़ाने से सिक्कों के धातु का अवमूल्यन नहीं हो सकता। उससे तो घटिया धातु के मूल्य के साथ मिलावट की प्रक्रिया से व्यय की वृद्धि ही होगी। इस प्रकार के मिलावट से राज-कोष का भार घटने अथवा राज-कोष की आवश्यकता पूरी करने की अपेक्षा उस पर अतिरिक्त भार बढ़ेगा। इसके विपरीत मिलावट करके मूल धातु का प्रतिशत घटाने और वजन को पूर्ववत् रखने पर ही सिक्के का मूल्य धातु के रूप में कम होगा और उसी अनुपात में राज-कोष का भार कम होगा। इस बात को हम अपने समय में ही विगत द्वितीय महायुद्ध के समय शुद्ध चाँदी के सिक्कों के स्थान पर ताम्र-निकल मिश्रित सिक्कों के प्रचलित किये जाने से भली प्रकार समझ सकते हैं।

इस अर्थशास्त्रीय तथ्य को न समझ पाने के कारण हमारे विद्वानों ने असली कारण जानने की कभी कोई चेष्टा नहीं की। कुछ वर्ष पूर्व सिनहा (वि० प्र०) ने ब्रिटिश संग्रहालय स्थित स्कन्दगुप्त के सिक्कों का जो धातु विश्लेषण प्राप्त किया था, उससे ज्ञात होता है कि स्कन्दगुप्त के भारी वजन के सिक्के उनके हलके वजन के सिक्कों की तुलना में धातु की दृष्टि से किसी प्रकार भिन्न नहीं हैं। हलके वजन के सिक्कों में सोना ६७ से ७४ प्रतिशत है; और भारी वजन के सिक्कों में वह ७६ से ७९ प्रतिशत है।[१] इस तथ्य से विद्वानों की कही गयी बात ही पलट जाती है। उससे प्रकट होता है कि स्कन्दगुप्त का उत्तरवर्ती शासनकाल पूर्ववर्ती काल की अपेक्षा अधिक समृद्धिशाली था। इस बात को अभिलेखों में भी बार-बार दुहराया गया है। सोने के विश्लेषण से यह बात भी ज्ञात होती है कि उत्तरवर्ती काल में सोना सस्ता हो गया था। सोने और चाँदी के बीच मूल्य का अनुपात बनाये रखने के लिए ही सम्भवतः स्कन्दगुप्त को भार और सोने की मात्रा, दोनों के ही बढ़ाने की आवश्यकता हुई होगी।

किन्तु जहाँ देश में शान्ति और समृद्धि का विस्तार हुआ वहीं यह भी देखने में आता है कि अपने पिता से दायस्वरूप प्राप्त साम्राज्य को स्कन्दगुप्त अन्त तक अक्षुण्ण न रख सके। जूनागढ़ अभिलेख इस बात का द्योतक है कि शासन के आरम्भिक दिनों में उनका साम्राज्य पश्चिम में सौराष्ट्र तक फैला हुआ था; किन्तु उत्तरवर्ती काल का कोई भी अभिलेख उत्तरप्रदेश और पूर्वी मध्यप्रदेश से आगे नहीं मिलता।

उनके चाँदी के सभी सिक्के, जिनसे उनके शासन के अन्तिम तिथियों का बोध होता है, पूर्वी भाँति के हैं। इन सिक्कों पर **परमभागवत महाराजाधिराज** सदृश कोई

---

१. डिक्लाइन ऑव द किंगडम ऑव मगध, पृ० ६१; ४२३।

उपाधि, जो पूर्ववर्ती काल के पश्चिमी भाँति के सिक्कों पर पायी जाती है, नहीं देखने में आती। आरम्भकालिक सोने के सिक्कों पर **जयति महीतलम् स्कन्दगुप्त सुधन्वी** अभिलेख मिलता है किन्तु उत्तरवर्ती सिक्कों पर सीधा-सादा लेख है—**परहितकारी राजा जयति दिवं श्री क्रमादित्यः**।[1] इन सिक्कों पर प्रभुता और शौर्य उद्घोषित करनेवाले विरुदों का सर्वथा अभाव है; वे अपने को सामान्य **परहितकारी राजा** मात्र कहते हैं। उनकी इस दीनता को बेमानी नहीं कहा जा सकता। वह इस बात का द्योतक प्रतीत होता है कि स्कन्दगुप्त अब सम्राट् नहीं रह गये थे और उनका अपने पिता के राज्य के बहुलांश से सम्राटकीय प्रभुत्व उठ गया था।

साम्राज्य के इस ह्रास के मूल में सामन्तों में स्वतन्त्र होने की भावना जान पड़ती है जो उन दिनों उदय होने लगी थी जिन दिनों स्कन्दगुप्त हूणों को परास्त कर केन्द्र में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने में लगे थे।

यह तो ज्ञात ही है कि काठियावाड़ प्रायद्वीप में मैत्रकों ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित कर वलभी को अपनी राजधानी बना लिया था। उसके संस्थापक भटार्क गुप्त-सेना के सेनापति थे। वे सौराष्ट्र के इतने शक्तिशाली शासक बन बैठे कि उन्होंने अपने बेटे को दाय रूप में राज्य प्रदान किया।[2] यद्यपि उन्होंने और उनके बेटे ने कभी अपने को राजा नहीं कहा और सेनापति की ही उपाधि से सन्तुष्ट रहे, तथापि वे राजा के समस्त अधिकारों का उपभोग करते रहे।[3] उनके भाई के सम्बन्ध में **परमस्वामिना स्वयमुपहित राज्याभिषेकः** कहा गया है;[4] किन्तु इससे निस्सन्दिग्ध रूप से यह नहीं प्रकट होता कि वे अपने ऊपर गुप्त सम्राट् का प्रभुत्व स्वीकार करते थे। यह विरुद कुछ उसी प्रकार का राजनीतिक ओट सरीखा जान पड़ता है जिस प्रकार का ओट मुगल-साम्राज्य के ह्रास काल में मुगल शासकों के नाम के सिक्के प्रचलित करके अनेक स्वतन्त्र राजाओं ने लिया था।

बन्धुवर्मन के मन्दसोर अभिलेख से ज्ञात होता है कि मालव संवत् ४९३ (११७ गुप्त संवत्) में प्रथम कुमारगुप्त का मालवा पर प्रभुत्व था। किन्तु उसी अभिलेख में मालव संवत् ५२९ (गुप्त संवत् १५३) में शासन करनेवाले गुप्त सम्राट् की कोई

---

१. पीछे, पृ० ७५।

२. का० इ० इ०, ३, पृ० १६८; १८८।

३. पूर्ववर्ती काल में सेनापति बकछघोष के जारी किये गये सिक्के मिलते हैं (एलन, कैटलाग ... पे ... फे ६६, पृ० ६६); इससे ऐसा जान पड़ता है कि किसी शासक के लिए राजा अथवा महाराजा सदृश उपाधि धारण करना आवश्यक न था।

४. का० इ० इ०, ३, पृ० १६५, पं० ५-६।

चर्चा नहीं है।[1] इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि इस परवर्ती काल में मालवा से गुप्त शासकों का प्रभुत्व मिट चुका था।[2]

फिर इस काल में हमें एरण क्षेत्र के दक्षिण-पूर्व परिव्राजक शासन करते दिखाई पड़ते हैं। इस वंश के अनेक शासन प्रकाश में आये हैं पर किसी में भी गुप्त सम्राटों की कोई चर्चा नहीं है। शासनों में प्रयुक्त तिथियों के लिए गुप्त-नृप-राज्य का उल्लेख उन्होंने किया है किन्तु इस उल्लेख मात्र से यह नहीं कहा जा सकता कि वे गुप्तों के अधीन थे।[3] वे पहले गुप्तों के करद थे और स्वतन्त्र होने के उपरान्त सम्भवतः उन्होंने

---

१. अभिलेख का आरम्भ "कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति" से आरम्भ होता है और मालव संवत् ४९३ में मन्दिर के निर्माण तथा उस काल और मालव संवत् ५२९ (४७२-७३ ई०) में मन्दिर के जीर्णोद्धार किये जाने के बीच अनेक राजाओं (पार्थिवैः) (कम-से-कम तीन का द्योतक बहुवचन) के होने का उल्लेख करना है। पहली तिथि को प्रथम कुमारगुप्त और दूसरी तिथि को द्वितीय कुमारगुप्त का शासनारूढ रहने की जानकारी प्राप्त है, इस कारण कुछ लोगों का कहना है मन्दिर का निर्माण और जीर्णोद्धार दोनों एक ही नामवाले दो राजाओं के काल में हुआ, इस कारण कवि ने अपनी मेधावी कल्पना से राजा के नाम का केवल एक बार प्रयोग कर पुनरुक्ति से बचने का प्रयास किया है। इस प्रकार वे लोग यह मानते हैं कि इसमें प्रथम और द्वितीय दोनों कुमारगुप्तों का उल्लेख है और इस काल तक मालव गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत था (हिन्दुस्तान रिव्यू, जनवरी, १९१८, पृ० १ आदि; हिस्ट्री आव नार्थ-ईस्टर्न इण्डिया, पृ० ७४; ज० ब० ब्रा० रा० ए० सो०, २ (न० स०), पृ० १७६; वाकाटक गुप्त एज, पृ० १८१-१८२; डिक्लाइन ऑव द किंगडम ऑव मगध, पृ० ७०) यद्यपि कवियों की इस प्रकार की कल्पना अज्ञात नहीं है, तथापि यहाँ वास्तविक स्थिति वैसी नहीं है। कवि ने जान-बूझकर तत्कालीन शासक का नाम नहीं दिया है।

२. द्वितीय पृथ्वीषेण के अभिलेख से ज्ञात होता है कि उनके पिता नरेन्द्रसेन का प्रभुत्व कोसल, मेकल और मालवा के नरेश स्वीकार करते थे (ए० इ०, ९२, पृ० २६७ आदि)। मीराशी (बि० वि०) ने नरेन्द्रसेन का राज्यारोहण काल ४५० ई० के लगभग माना है। (एन्युअल बुलेटिन ऑव नागपुर युनिवर्सिटी हिस्टारिकल सोसाइटी, अक्तूबर, १९४६, पृ० ८ आदि)। यदि यह तिथि ठीक है तो सम्भावना इस बात की हो सकती है कि नरेन्द्रसेन ने गुप्त-सामन्तों के उस भूभाग पर अधिकार कर लिया हो, जिस पर वर्मन वंश के लोग शासन कर रहे थे; और बन्धुवर्मन इस पशोपेश में हो कि गुप्त-साम्राज्य से निकल कर वाकाटकों की प्रभुता स्वीकार करे या न करे। इससे प्रभुसत्ता के प्रति अभिलेख के मौन का समाधान हो जाता है। किन्तु कुछ विद्वानों को इस काल में वाकाटक अधिकार के प्रति सन्देह व्यक्त करते हैं। र० चं० मजूमदार नरेन्द्रसेन को ४८० ई० के बाद रखते हैं और उन्हें बुधगुप्त का समकालिक अनुमान करते हैं (ज० ए० सो० बं०, १२ (न० सं०), पृ० १ आदि।) किन्तु नरेन्द्रसेन के सुगमता से स्कन्दगुप्त का युवा-समकालिक होने और स्कन्दगुप्त के शासन के अन्तिम दिनों में गुप्त-सामन्त के विरुद्ध सुगमता से अभियान करने की सम्भावना को स्वीकार किया जा सकता है।

३. का० इ० इ०, ३, पृ० ९३; १००; १०६; ११२; ए० इ० ८, पृ० २८४; २१, पृ० १२४; २८, पृ० २६४।

पूर्व परम्परा के अनुसार गुप्त-संवत् का प्रयोग उसी प्रकार जारी रखा जिस प्रकार ब्रिटिश अधीनता से छुटकारा पाने के बाद भी हम ईसवी सन् का प्रयोग करते जा रहे हैं। परिव्राजकों के राज्य से लगा हुआ एक दूसरा राज्य था जिसकी राजधानी उच्छकल्प थी। इस राज्य के अभिलेखों में भी गुप्त सम्राटों का कोई उल्लेख नहीं है जिससे लगता है कि उसे भी गुप्तों की प्रभुता स्वीकार नहीं थी।[1]

इस प्रकार स्कन्दगुप्त का शासन समाप्त होते-होते, गुप्तों के घटते हुए साम्राज्य की पश्चिमी सीमा पर अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये थे।

किसी भी अभिलेख में स्कन्दगुप्त की रानी अथवा उनके पुत्रों का उल्लेख नहीं मिलता;[1] इस कारण लोगों का अनुमान है कि वे अविवाहित थे और अविवाहित ही मरे। किन्तु प्रथम चन्द्रगुप्त और प्रथम कुमारगुप्त के राज-दम्पती भाँत के इनके भी सिक्के प्राप्त होते हैं। उन सिक्कों से निस्सन्दिग्ध रूप से ज्ञात होता है कि वे विवाहित थे।[2]

---

१. का० इ० इ०, ३, पृ० ११७; १२१।

२. एलन ने इस भाँत को राजा और लक्ष्मी भाँत कहा है। नारी को लक्ष्मी मानने के पक्ष में उन्होंने तर्क यह दिया है कि उनके बायें हाथ में कमल और दाहिने हाथ में उस ढंग का फीता है जिस ढंग का फीता अन्य सिक्कों पर लक्ष्मी के हाथ में देखने में आता है (ब्रि० म्यू० मु० सू०, भूमिका, पृ० ९४)। अल्तेकर भी उनके इस मत का समर्थन करते प्रतीत होते हैं। उनका तर्क यह है कि राज-दम्पती भाँत के अन्य सिक्कों पर रानी सदैव बाँयें है और इन सिक्कों पर नारी-आकृति दायें है और वह राजा को कुछ भेंट कर रही है। (क्वायनेज आव द गुप्त इम्पायर, पृ० २४५)। किन्तु इनमें से किसी भी तर्क में किसी प्रकार की कोई सार्थकता नहीं है। कमल एकमात्र लक्ष्मी का प्रतीक नहीं है। साहित्य और पुरातात्विक प्रमाणों से स्पष्ट है कि वह लौकिक नारियों का भी प्रिय पुष्प था। संस्कृत साहित्य में प्रायः लीला-कमल का उल्लेख मिलता है। इसलिए हाथ में कमल होने मात्र से किसी नारी के लक्ष्मी होने का अनुमान नहीं किया जा सकता। सिक्के को द्वितीय चन्द्रगुप्त के चक्र-विक्रम भाँत के सिक्के को सामने रख कर ही परखना उचित होगा। उक्त सिक्के में चक्र-पुरुष (अथवा विष्णु) को दैव रूप की महत्ता को उनके अनुरूप अभिव्यक्त किया गया है। उनके सम्मुख राजा आकार में वामन सदृश उपस्थित किये गये हैं। उनमें दैव और मानव का अन्तर स्पष्ट दृष्टि-गोचर होता है। यदि इन सिक्कों पर नारी-आकृति से किसी देवी का अभिप्राय होता तो उनका अंकन भी उसी महत्ता के साथ किया जाता। इन सिक्कों पर नारी आकृति पुरुष आकृति से किसी भी रूप में श्रेष्ठ अंकित नहीं है। प्रभामण्डल, जो सामान्य रूप से दैव-स्वरूप का द्योतक होता है, वह तक इसमें नहीं है। यदि सिक्के का उद्देश्य 'लक्ष्मीः स्वयं यं वरयांचकार' की पंक्ति की साकार अभिव्यक्ति होती, जैसा कि अल्तेकर की धारणा है, तो उस स्थिति में नारी का अंकन हाथ में माला लिए सलज्ज वधू की तरह किया जाता। अपने वर्तमान रूप में कोई ऐसी बात नहीं है जिससे उन्हें रानी से भिन्न लक्ष्मी होने की कल्पना की जा सके।

अन्ततः यह सत्य नहीं है कि सिक्के पर नारी हाथ में कोई फीता लिये है अथवा पुरुष को वह कोई वस्तु दे रही है। ध्यानपूर्वक देखने पर प्रतीत होगा कि नारी के ऊपर उठे हाथ की हथेली भीतर की ओर आधी मुड़ी हुई है और उसके ऊपर शुक बैठा है।

और उनके कम-से-कम एक रानी तो अवश्य थी। किन्तु उत्तराधिकार प्राप्त करने योग्य कोई सन्तान थी, यह नहीं कहा जा सकता। हो सकता है द्वितीय कुमारगुप्त, जो उनके बाद सत्तारूढ़ हुए, उनके पुत्र हों पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।[१]

स्कन्दगुप्त की ज्ञात अन्तिम तिथि गुप्त संवत् १४८ (४६७ ई०) है; विश्वास किया जाता है कि इसी वर्ष उनकी मृत्यु हुई होगी।

१. डिक्लाइन ऑव द किंगडम ऑव मगध, पृ० ६४।

पुरुगुप्त

पुरुगुप्त प्रथम कुमारगुप्त के बेटों में से एक थे। उनका जन्म रानी अनन्तदेवी की कोख से हुआ था। उनके सम्बन्ध की हमें जानकारी उनके बेटों और उत्तराधिकारियों के अभिलेखों से ही होती है।[1] सभी अभिलेखों में उन्हें महाराजाधिराज कहा गया है।

जिन अभिलेखों में पुरुगुप्त का उल्लेख हुआ है, उनमें स्कन्दगुप्त की कोई चर्चा नहीं है। इस कारण कुछ विद्वानों की धारणा है कि पुरुगुप्त और स्कन्दगुप्त एक ही थे अर्थात् दोनों ही नाम एक ही व्यक्ति के हैं।[2] इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें एक ही राजा के दो या दो से अधिक नाम थे। यथा—इसी गुप्त वंश में द्वितीय चन्द्रगुप्त का दूसरा नाम देवगुप्त था।[3] किन्तु ऐसी अवस्था में, दो नामों में से एक का ही उल्लेख राजकीय आलेखों में होता था; दूसरे नाम को वे महत्त्व नहीं देते थे। अतः यह बात बुद्धि-संगत नहीं जान पड़ती कि एक ही व्यक्ति अपने सिक्कों और अभिलेखों में स्कन्दगुप्त न।म से पुकारा जायेगा और अपने वंशजों के लेखों में उसे पुरुगुप्त कहा जायेगा। अतः यह निश्चित प्राय है कि पुरुगुप्त और स्कन्दगुप्त दो भिन्न व्यक्ति थे और वे परस्पर सौतेले भाई थे।

पुरुगुप्त का उल्लेख करनेवाले अभिलेखों में स्कन्दगुप्त के नाम के अभाव को कुछ विद्वान् इस बात का द्योतक समझते हैं कि पुरुगुप्त स्कन्दगुप्त का स्पर्धी था और दोनों में सौहार्द नहीं था।[4] प्रथम कुमारगुप्त के बाद अभिलेखों में पुरुगुप्त का तत्काल उल्लेख तथा सम्बन्धबोधक तत्पादानुध्यात् के प्रयोग को कुछ विद्वान् इस बात का द्योतक मानते हैं कि अपने पिता के तत्काल बाद पुरुगुप्त ने उत्तराधिकार प्राप्त किया था। किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है, गुप्तों के राजकीय अभिलेखों में वंश-क्रम का उल्लेख हुआ है उत्तराधिकार और राज-क्रम का नहीं।[5] इस कारण स्कन्दगुप्त के नाम की उपेक्षा मात्र से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। तत्पादानुध्यात् भी इस प्रसंग

---

१. भितरी धातु-मुद्रा (ज० ए० सो० बं०, ५७, पृ० ८४); बुधगुप्त, नरसिंहगुप्त और तृतीय कुमारगुप्त की नालन्द से प्राप्त मुहरें (नालन्द एण्ड इट्स एपिग्रेफिक मैटीरियल, पृ० ६६-६७)।

२. ज० ए० सो० बं०, ५८, पृ० ८१-९३; इ० ए०, ४८, पृ० १६१ आदि।

३. पीछे, पृ० २८६।

४. फ्लीट, इ० ए०, १९, पृ०; कनिंगहम, क्वायन्स ऑव मिडिवल इण्डिया, पृ० ११।

५. ज० ए० सो० बं०, ५८, पृ० ९३।

६. पीछे, पृ० १६३।

में निर्णायक नहीं है। हम इस बात का विवेचन पहले ही कर चुके हैं। यह शब्द अधिक-से-अधिक अपने पिता के साथ समुचित सम्बन्ध को इंगित करता है।[1]

हो सकता है पुरुगुप्त गद्दी के लिए प्रतिस्पर्धी दावेदार रहे हों; किन्तु उन्होंने कभी इस प्रकार का दावा किया, इसका कोई प्रमाण प्राप्य नहीं है। यह पहले देख चुके हैं कि स्कन्दगुप्त के प्रतिस्पर्धी घटोत्कचगुप्त थे और उन्होंने कुछ काल के लिए गद्दी पर अधिकार कर लिया था।[2] गुप्त राजक्रम में उनका स्थान समुचित रूप से स्वीकार नहीं किया जाता रहा है, इस कारण ही पुरुगुप्त को स्कन्दगुप्त का प्रतिस्पर्धी माना जाता रहा है। इस प्रसंग में लोग इस बात को नजरअन्दाज करते रहे हैं कि स्कन्दगुप्त के बाद पुरुगुप्त के वंशधर काफी समय तक शासन करते रहे। यदि पुरुगुप्त के साथ संघर्ष करके स्कन्दगुप्त ने राज्याधिकार प्राप्त किया होता तो चतुर राजनीतिज्ञ के रूप में उन्होंने कदापि पुरुगुप्त अथवा उनके वंशधरों को जीवित न छोड़ा होता। वे जीवित रहकर उनके जीवन और गद्दी दोनों के लिए निरन्तर खतरा बने रहते।[3] इस कारण यह मानने का कोई कारण नहीं है कि गद्दी के दावेदार प्रतिस्पर्धी के रूप के पुरुगुप्त स्कन्दगुप्त से पहले हुए थे।

कुछ विद्वानों की धारणा है कि पुरुगुप्त और स्कन्दगुप्त साथ-साथ साम्राज्य के दो भिन्न भागों में शासन करते थे।[4] वे यह मानते हैं कि दोनों प्रतिस्पर्धी भाइयों में साम्राज्य का बँटवारा हो गया था। किन्तु साम्राज्य के इस प्रकार विभाजन का कहीं कोई संकेत प्राप्त नहीं होता। जो प्रदेश स्कन्दगुप्त और उनके सुदूर उत्तराधिकारी (पुरुगुप्त के बेटे) बुधगुप्त के अधिकार में थे, वे स्पष्टतः इस बात के द्योतक हैं कि स्कन्दगुप्त के शासन से परे कोई ऐसा भूभाग नहीं था जहाँ पुरुगुप्त के लिए शासन कर सकना सम्भव कहा जा सके।

स्कन्दगुप्त से पहले पुरुगुप्त हुए अथवा दोनों ने साथ-साथ शासन किया इस बात

---

१. पीछे, पृ० १६३, पा० टि० ४।

२. पीछे, पृ० १७८-१८१; ३१५।

३. सिनहा (वि० प्र०) ने हमारे इस कथन को भयावह कल्पना की संज्ञा दी है। उनका कहना है कि राजगद्दी के उत्तराधिकार की होड़ में प्रत्येक विजयी को शाहजहाँ और औरंगजेब का प्रतिरूप मान लेना न्यायोचित नहीं है। उनकी धारणा है कि प्रस्तुत प्रसंग में खून-खराबी और भ्रातृ-कलह की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है। स्कन्दगुप्त के आन्तरिक गुणों ने, जिसका प्रमाण उन्होंने राष्ट्रीय संकट के समय प्रस्तुत किया था, बिना अधिक खून-खराबी के (यदि वह हुआ तो) तख्त पलटने में उनकी सहायता की होगी (डिक्लाइन ऑव द किंगडम ऑव मगध, पृ० ४९)। स्कन्दगुप्त के निजी गुण चाहे जो भी रहे हों, कौटिल्य की राजनीति में प्रतिस्पर्धी राजकुमारों के लिए कोई दया-माया नहीं है। शाहजहाँ और औरंगजेब ही इस प्रकार के न थे। सारा इतिहास ही इस प्रकार की घटनाओं से भरा पड़ा है। अजातशत्रु का अपने पिता के प्रति व्यवहार सर्वविदित है। इसी गुप्त-कुल में ही इस बात का प्रमाण उपस्थित है। द्वितीय चन्द्रगुप्त ने अपने बड़े भाई रामगुप्त की हत्या की थी।

४. फ्लीट, इ० ए०, १९, पृ०; बसाक, हिस्ट्री ऑव नार्थ-ईस्ट इण्डिया, पृ० ७८।

की ओर संकेत करने वाली कोई चीज नहीं है। यदि कभी पुरुगुप्त गद्दी पर बैठे हों तो वे स्कन्दगुप्त के बाद ही बैठे होंगे।

सोने का एक सिक्का, जो पहले होये-संग्रह में था और अब ब्रिटिश संग्रहालय में है, पुरुगुप्त का माना जाता रहा है। एलन ने इस सिक्के पर राजा की बायीं काँख के नीचे **पुर** और पीछे की ओर **विक्रम** विरुद पढ़ा था।[1] उन्होंने इसी भाँति के तीन अन्य सिक्कों को भी, जिन पर पुर लेख नहीं था, पट और **श्री विक्रम** विरुद होने के कारण पुरुगुप्त का माना था।[2] बाद में सरस्वती (स० कु०) ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि उक्त सिक्के पर **पुर** पाठ सही नहीं है; उसे **बुध** पढ़ा जाना चाहिये।[3] उन्होंने बताया कि काँख के नीचे का पहला अक्षर वर्गाकार है और उसकी दाहिनी सीधी रेखा नीचे की ओर बढ़ी हुई है। इस अक्षर को **पु** पढ़ा गया है; गुप्त लिपि में **प** यद्यपि वर्गाकार होता है पर उसमें ऊपर की पड़ी लकीर नहीं होती। चूँकि ऊपर की पड़ी लकीर स्पष्ट है, यह गुप्त लिपि के **ब** के समान है और **पु** के अपेक्षा **बु** जान पड़ता है। दूसरे अक्षर के सम्बन्ध में उन्होंने बताया कि खड़ी लकीर के साथ ऊपर की ओर झुकी हुई एक बाँकी लकीर है जिसके खड़ी लकीर के ऊपरी सिरे से जुड़े होने की कल्पना की जा सकती है। इस प्रकार वह **र** नहीं हो सकता। वह या तो **ध** है या **प**। सरकार (दि० च०) ने सरस्वती के इस कथन का समर्थन किया है।[4] उनका कहना है कि जिस अक्षर को एलन ने **प** पढ़ा है वह **ब** जान पड़ता है। मजूमदार (र० च०) भी सिक्के के ठार के सूक्ष्म परीक्षण के बाद इसी निष्कर्ष पर पहुँचे; किन्तु उन्होंने यह अभिमत प्रकट किया कि जब तक कोई अधिक स्पष्ट सिक्का न मिल जाय तब तक इस बात का निश्चित निर्णय नहीं किया जा सकता।[5] किन्तु कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जो सरस्वती के इस संशोधित पाठ से सहमत नहीं हैं। बर्न (रि०) को इस संशोधन में सन्देह है। उन्होंने इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया कि कतिपय सिक्कों पर जो **प्रकाशादित्य** विरुद मिलता है उसके पहले अक्षर **प** का सिरा बन्द है; और होये के सिक्के का दूसरा अक्षर **ध** से मेल नहीं खाता।[6] बर्न के इस मत से सहमति प्रकट करते हुए दासगुप्त (न० न०) का कहना है कि दूसरा अक्षर **ध** की अपेक्षा **र** जान पड़ता है।[7] सिनहा (वि० प्र०) होये के सिक्के पर **बुध** पाठ को सरासर गलत मानते हैं। उनकी धारणा है कि बन्द **प** गुप्त लिपि में असामान्य नहीं है। उन्होंने विष्णुगुप्त के नालन्द मुहर की ओर ध्यान आकृष्ट किया है और बताया है कि उसकी दूसरी पंक्ति में बन्द **प**

---

१. ब्रि० म्यू० मु० सू०, पृ० १३४।
२. वही, पृ० १३४-३५।
३. इ० क०, १, पृ० ६९१-९२।
४. से० इ०, पृ० ३२३, पा० टि० १।
५. वाकाटक-गुप्त एज, पृ० १७१, पा० टि० १।
६. एन्युएल बिबलियोग्रैफी, १९३५, पृ० ११।
७. बी० सी० ला वॉल्यूम, १, ५०६१८।

है। वे यह बात भी स्वीकार नहीं करते कि दूसरा अक्षर ध है। उनका कहना है कि यदि किसी चन्द्राकार का अस्तित्व है तो वह बाहर की ओर है जब कि गुप्त लिपि के ध में चन्द्राकार भीतर की ओर होता है।[१] जगन्नाथ भी बुध की अपेक्षा पुर पाठ को ही ठीक मानते हैं।[२]

सिक्के के लेख को बुध पढ़े जाने के विरुद्ध अब तक जितने भी तर्क उपस्थित किये गए हैं, उनमें से एक भी कसौटी पर खरा नहीं ठहरता। सिनहा का यह तर्क कि बन्द सिरे का प नालन्द मुहर में देखा जा सकता है, उनकी बात को प्रमाणित नहीं करता। यह माना जा सकता है कि उक्त मुहर की दूसरी पंक्ति में पुत्र शब्द के पु में ऊपर एक पड़ी लकीर है; किन्तु उसीके साथ यह भी द्रष्टव्य है कि वहाँ उक्त अक्षर की बायीं लकीर गायब है; और जैसा कि मुखर्जी (ब्र० ना०) ने बताया है, गुप्त प का यह रूप प्रचलित नहीं है, वह लेखक का प्रमाद मात्र है।[३] यह बात इस बात से स्वतः सिद्ध है कि उसी अभिलेख का दूसरा प इससे सर्वथा भिन्न है। गुप्त प के दायें और बायें ओर की रेखाओं के सिरे टेढ़ी लाइनों से अलंकृत होते हैं और ऊपर के इन मुड़ी रेखाओं के बीच स्पष्ट खुली जगह होती है। प्रकाशादित्य के प्र में, प्रस्तुत प्रसंग में जिसकी ओर बर्न ने ध्यान आकृष्ट किया है, ऊपर कोई पड़ी रेखा नहीं है जो पड़ी रेखा सदृश जान पड़ता है, वह वस्तुतः बायीं और दायीं ओर की रेखाओं के ऊपर का टेढ़ा अलंकरण मात्र है और उनके बीच अधिक जगह खाली न होने से पंक्ति का भ्रम होता है। इस प्रकार कोई ऐसा उदाहरण उपलब्ध नहीं है जिससे कहा जाय कि प में ऊपरी भाग किसी पड़ी लकीर से बन्द रहता है।

यदि गुप्त लिपि के प के साथ होये के सिक्के के पहले अक्षर की तुलना की जाय तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि दोनों में कोई समानता नहीं है और किसी कल्पना से सिक्के पर पु नहीं पढ़ा जा सकता। स्वतः एलन ने, जिन्होंने लेख को पुर पढ़ा है, बाद में यह स्वीकार किया है कि यह अक्षर बु है। उनका कहना है कि लेख को बुर पढ़ सकते हैं। किन्तु बुर का कोई अर्थ नहीं होता इसीलिए वे उसका संशोधित रूप पुर ठीक मानते हैं।[४]

अपना यह संशोधन प्रस्तुत करते हुए एलन ने इस बात को भुला दिया है कि नाम पूरु या पुरु है पुर कदापि नहीं। नाम का यह शुद्ध रूप नरसिंहगुप्त और तृतीय कुमार-गुप्त के मुहरों में स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है।[५] अतः यदि एलन द्वारा प्रस्तुत लेख

---

१. डिक्लाइन ऑव द किंगडम ऑव मगध, पृ० १२।
२. प्रो० ओ० का०, १३, खण्ड ९, पृ० ११।
३. प्रो० इ० हि० का०, १९५८, पृ० ७७-८२।
४. डिक्लाइन ऑव द किंगडम ऑव मगध, पृ० १२।
५. पीछे, पृ० ५२; ५४; ५५।

का संशोधन स्वीकार कर लिया जाय तो उसका अर्थ यह होगा कि ठप्पा (डाई) बनाने वाला इतना मूढ़ था कि उसने न केवल पहले अक्षर को ही अशुद्ध लिखा वरन् दूसरे अक्षर में भी उ की मात्रा देना भूल गया। राजकीय नक्काश से इस प्रकार का अनुत्तरदायित्व पूर्ण कार्य करने की कल्पना कभी नहीं की जा सकती। फलतः इसी निष्कर्ष की ओर लौटने को बाध्य होना पड़ता है कि आलेखक ने कोई भूल नहीं की है और दूसरा अक्षर र नहीं ध है।

सिक्के के निकट परीक्षण से यह स्पष्ट झलकता है कि दूसरे अक्षर की रचना दो खड़ी लाइनों से हुई है। दाहिनी ओर की लाइन सीधी है और बायीं ओर वाली कुछ तिरछी है तथा दोनों लाइनें ऊपर-नीचे परस्पर मिली हैं। इस प्रकार अक्षर का ध निस्सन्देह असाधारण है : किन्तु उसके समीपवर्ती रूप का अभाव नहीं है। यह रूप स्कन्दगुप्त के कहाँव अभिलेख में देखा जा सकता है।[१] दोनों के तुलनात्मक अध्ययन करने पर किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता कि वह अक्षर ध के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

सर्वोपरि, यह उल्लेख अप्रासंगिक न होगा कि उसी प्रकार के अन्य दो और सिक्के प्राप्त हो गये हैं जिन पर बुध स्पष्ट है।[२] यदि होये के सिक्के को उनके प्रकाश में देखा जाय तो इस बात में सन्देह नहीं रह जाता कि वह सिक्का भी बुधगुप्त का ही है।

दो अन्य सिक्कों पर, जो गया जिले में मिले थे, राखालदास बनर्जी ने पुर पढ़ा था।[३] दासगुप्त (न० न०)[४] और सिनहा (वि० प्र०)[५] दोनों ने अपने कथन के समर्थन में इन सिक्कों का उल्लेख किया है। कहा गया है कि इन सिक्कों पर पुर नाम स्पष्ट है। बनर्जी के कथनानुसार ये सिक्के पटना के दीवानबहादुर (अब दिवंगत) राधाकृष्ण जालान के संग्रह में थे। उनके कथन की जाँच के लिए मजूमदार (र० च०) ने इस संग्रह का परीक्षण किया था; किन्तु उन्हें उस संग्रह में इस प्रकार का कोई सिक्का नहीं मिला।[६] मजूमदार आशा करते थे कि जिन सिक्कों की चर्चा बनर्जी ने की है, उन पर राजा की बायीं काँख के नीचे पुर लेख होगा। किन्तु संग्रह में ऐसा कोई सिक्का नहीं था, इसीलिए उन्होंने मान लिया कि वे सिक्के नहीं हैं। १९४६ में भारतीय इतिहास परिषद् के पटना अधिवेशन के समय इस संग्रह का परीक्षण हमने भी किया था। उस समय हमें नाम विहीन भाँति के दो ऐसे सिक्के देखने को मिले थे जिन्हें एलन ने पुरुगुप्त का अनुमान किया है। उनमें से एक के लिफाफे पर हरी स्याही में, जो निस्सन्देह बनर्जी की लिपि में था, प्रश्नवाचक चिह्न के

---

१. का० इ० इ०, ३, फलक ९, पंक्ति १; बुल्हर कृत लिपि फलक ४, पंक्ति ४, संख्या २५।
२. ज० न्यू० सो० इ०, १२, पृ० ११२-११५; इ० हि० क्वा०, २६, पृ० २५५, पा० टि० ५।
३. अ० भ० ओ० रि० इ०, १, पृ० ७५।
४. बी० सी० ला वाल्यूम, १, पृ० ६१८ आदि।
५. डिक्लाइन ऑव द किंगडम ऑव मगध, पृ० १३।
६. स्वयं मजूमदार से प्राप्त सूचना।

साथ पुरह लिखा हुआ था।[१] इससे स्पष्ट बात यह समझ में आयी कि पुरह के रूप में किनारे के अभिलेख के तीन अवशिष्ट अक्षरों को बनर्जी ने सिक्के के प्रचलक पुर का वाची मान लिया था। तीसरे अक्षर का वे कोई अर्थ न लगा सके थे इस लिए उन्होंने उसके सामने प्रश्नवाचक चिह्न रख दिया। सम्भवतः इन्हीं सिक्कों का उल्लेख उन्होंने पुरुगुप्त के सिक्के मान कर किया है। वस्तुतः जिसे उन्होंने पुरह पढ़ा वह परहित-कारी शब्द का प्रारम्भिक अंश है, जिससे बुधगुप्त के सिक्कों के किनारे का अभिलेख आरम्भ होता है। इस प्रकार जालान संग्रह में पुरुगुप्त का कोई सिक्का नहीं था।

कुछ अन्य सिक्के भी पुरुगुप्त के कहे जाते रहे हैं। उनके चित ओर अश्वारूढ़ राजा तलवार से सिंह का शिकार करता दिखाया गया है और पट ओर प्रकाशादित्य अभि-लेख है। सर्वप्रथम हार्नले (ए० एफ० आर०) ने इसे पुरुगुप्त का बताया था[२] और उसे स्मिथ[३] और एलन[४] ने मान लिया। किन्तु अपनी सूची की भूमिका में एलन ने इस मत को अस्वीकार करत हुए यह भी कहा है कि वे सिक्के किसी दूसरे राजा के हैं जो पाँचवीं शती के अन्त के लगभग हुआ होगा।[५] सिक्कों का अन्त-साक्ष्य भी उन्हें निस्सन्देह बुधगुप्त के बाद ही रखता है। इन सिक्कों पर घोड़ों के नीचे ड, रु, अथवा म अक्षर अंकित है। इस प्रकार के अक्षर बुधगुप्त के समय तक किसी गुप्त सिक्के पर नहीं मिलते।[६] वे सर्वप्रथम वैन्यगुप्त के सिक्कों पर दिखाई पड़ते हैं। अतः ये सिक्के या तो उसके पूर्ववर्ती के हैं जो बुधगुप्त के बाद राज्यारूढ़ हुआ अथवा उसके किसी उत्तराधिकारी के।

इस प्रकार अभी तक ऐसा कोई सिक्का अथवा मुहर नहीं मिली है जिससे कहा जा सके कि पुरुगुप्त ने राज्य किया। उनके राज्यारूढ होने के पक्ष में जो प्रमाण उपलब्ध है वह इतना ही कि उनके वंशधरों ने अपने अभिलेखों में उन्हें महाराजाधिराज कहा है। उन्होंने पुरुगुप्त के लिए महाराजाधिराज का प्रयोग सम्मानवश और राज्य पर अपने सीधे अधिकार के औचित्य को सिद्ध करने के लिए किया है अथवा वस्तुतः वह सिंहासनारूढ़ हुए थे, निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता; किन्तु स्कन्दगुप्त और द्वितीय कुमारगुप्त (स्कन्दगुप्त की अन्तिम तिथि गुप्त संवत् १४८ और द्वितीय कुमार-

---

१. राखालदास बनर्जी के पुत्र अद्रीश बनर्जी ने लेखक को बताया कि उनके पिता का हरी स्याही के प्रति विशेष आकर्षण था और वे आजीवन हरी स्याही से लिखते रहे।

२. ज० ए० सो० बं०, १८८९, पृ० ९३-९४। बाद में उन्होंने इस सिक्के के यशोधर्मन के होने की कल्पना की (ज० रा० ए० सो०, १९०५, पृ० १३५)।

३. इ० ए०, १९०२, पृ० २६३; अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, ४था स०, पृ० ३२९; इ० म्यू० मु० सू०, १, पृ० १३५।

४. ब्रि० म्यू० मु० सू०, गु० वं०, पृ० १३५।

५. वही, भूमिका, पृ० ५२।

६. पीछे, पृ० ७८, १७२।

गुप्त के एक मात्र ज्ञात तिथि गुप्त संवत् १५४) के बीच किसी शासक के लगभग दो वर्ष के अल्पकालीन शासन की सम्भावना मानी जा सकती है।

पुरुगुप्त शासनारूढ़ हुए हों या न हुए हों, उनका गुप्त-वंशावली में अपना अद्वितीय स्थान है। उनके कम-से-कम तीन बेटों ने राजगद्दी प्राप्त की थी। यदि स्कन्दगुप्त के बाद पुरुगुप्त शासनारूढ़ हुए थे तो, उस अवस्था में, अधिक सम्भावना यह है कि द्वितीय कुमारगुप्त भी उनका ही बेटा और ज्येष्ठ बेटा रहा होगा।

पुरुगुप्त के सम्बन्ध में जो अन्य जानकारी हमें प्राप्त है वह यह है कि उनके दो रानियाँ थीं। एक से, जिनका नाम चन्द्रदेवी था, नरसिंहगुप्त का जन्म हुआ था और दूसरी बुधगुप्त की माता थीं; उनका नाम मुहरों पर समुचित रूप से नहीं पढ़ा जा सका है।

कुमारगुप्त (द्वितीय)

स्कन्दगुप्त अथवा पुरुगुप्त (यदि वस्तुतः वे सिंहासनारूढ़ हुए थे तो) के बाद द्वितीय कुमारगुप्त गद्दी पर बैठे। उनका परिचय सारनाथ से प्राप्त एक बुद्ध-मूर्ति के आसन पर अंकित दानोल्लेख से मिलता है जिस पर गुप्त सम्वत् १५४ (४७५ ई०) की तिथि है।[१]

उनके पिता-माता के सम्बन्ध में किसी प्रकार की कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। अतः बहुत दिनों तक तो यह माना जाता रहा है कि वे भितरी धातु-मुद्रा में अंकित नरसिंहगुप्त के पुत्र हैं।[२] किन्तु अब यह निस्संदिग्ध रूप से प्रमाणित हो गया है कि वे उनसे सर्वथा भिन्न हैं।[३] अतः यदि ये सीधे स्कन्दगुप्त के बाद गद्दी पर आये, जिसकी सम्भावना अधिक है, तो वे उनके भाई या पुत्र अनुमान किये जा सकते हैं। किन्तु यदि स्कन्दगुप्त के बाद कुछ काल के लिए पुरुगुप्त शासक हुए थे तो उस अवस्था में इन्हें भी पुरुगुप्त का पुत्र अनुमान किया जा सकता है।[४]

इनके शासन के सम्बन्ध में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। इनके सोने के सिक्के स्कन्दगुप्तकालीन सिक्कों की मर्यादा का ही अनुसरण करते पाये जाते हैं। अतः उनके आधार पर यह सहज भाव से कहा जा सकता है कि उनके शासन-काल में साम्राज्य की सुख-समृद्धि बनी रही। उनके उत्तराधिकारी (बुधगुप्त) के अभिलेखों के प्राप्ति-स्थानों के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने स्कन्दगुप्त द्वारा छोड़े गये साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखा।

द्वितीय कुमारगुप्त का राज्यकाल अत्यल्प था। गुप्त संवत् १५७ (४७७ ई०) में बुधगुप्त नामक एक अन्य शासक पृथिवी का प्रशासन करते पाये जाते हैं।[५] इसका अर्थ यह हुआ कि उस समय तक द्वितीय कुमारगुप्त का निधन हो चुका था। बहुत सम्भव है कि उनकी मृत्यु गृह-कलह में हुई हो, जिसका संकेत युवान-च्वांग के वृत्त में मिलता है। उसमें बुधगुप्त द्वारा गद्दी छीन लिये जाने की बात कही गयी है।

---

१. आ० स० इ०, ए० रि०, १९१४-१५, पृ० १२५।

२. हिन्दुस्तान रिव्यू, जनवरी, १९१८, पृ० ३० आदि; इ० ए०, १९१८, पृ० १६१; ज० ब०, १०, पृ० १७२; ज० यू० पी० हि० सो०, १८, बी० सी० ला वाल्यूम, १, पृ० ६१७।

३. पीछे, पृ० १७१-१७३।

४. बिहार स्तम्भ-लेख के प्रथम खण्ड में उल्लिखित कुमारगुप्त यदि द्वितीय कुमारगुप्त हों तो उक्त लेख के द्वितीय खण्ड के आधार पर उनके पुरुगुप्त के पुत्र होने का कुछ अनुमान हो सकता है (देखिये पीछे पृ० २७)।

५. आ० स० इ०, ए० रि०, १९१४-१५, पृ० १२५।

बुधगुप्त

द्वितीय कुमारगुप्त के पश्चात् पुरुगुप्त के पुत्र बुधगुप्त गद्दी पर बैठे।[1] उनकी माँ का म उपलब्ध मुहर पर स्पष्ट पढ़ा नहीं जाता।[2] सारनाथ से प्राप्त दो बुद्ध-मूर्तियों के ासन पर अंकित दानलेखों से उनकी अद्यतम तिथि गुप्त संवत् १५७ (४७७ ई०) ात होती है।[3] इसी प्रकार उनकी अन्यतम तिथि एरण स्तम्भ-लेख के अनुसार गुप्त ंवत् १६५ (४८४ ई०) है।[4] इसके पश्चात् भी वे गुप्त संवत् १७५ (४९५ ई०) ाक शासन करते रहे, यह उनके चाँदी के सिक्कों से ज्ञात होता है।[5] इस प्रकार उन्होंने कम-से-कम बीस वर्ष तक शासन किया।

मंजुश्री-मूलकल्प में देवराज अथवा देव नामक एक शासक का उल्लेख है, जिसके अनेक नाम थे।[6] उक्त ग्रन्थ से प्राप्त सूत्रों से ऐसी धारणा होती है कि उनसे तात्पर्य

---

१. रायचौधुरी (हे० च०) ने एक समय युवान-च्वांग के इस कथन के आधार पर कि बुधगुप्त शक्रादित्य का वंशज था, बुधगुप्त को प्रथम कुमारगुप्त का पुत्र माना था (पो० हि० ए० इ०, ४था सं०, पृ० ३६५)। यही मत त्रिपाठी (रमाशंकर) ने भी प्रकट किया था (हिस्ट्री ऑव एन्शियण्ट इण्डिया, पृ० २६५)। हरग्रीव्ज की धारणा थी कि बुधगुप्त सारनाथ अभिलेख के द्वितीय कुमारगुप्त के पुत्र होंगे। (आ० स० इ०, ए० रि०, १९१४-१५, पृ० १२६)। किन्तु यह सब कोरे अनुमानमात्र थे और नालन्द से बुधगुप्त के मुहरों के प्राप्त हो जाने के बाद अब उनका कोई मूल्य नहीं रह गया। खेद की बात इतनी अवश्य है कि जो मुद्रा मिली है वह खण्डित है और उसका पुरुगुप्त के साथ सम्बन्ध बोध करानेवाला अंश नष्ट हो गया है। तथापि, जैसा कि सरकार (दि० च०) (इ० हि० क्वा०, १९, पृ० २७४) और घोष (अमलानन्द) (इ० हि० क्वा०, २०, पृ० ११९) ने कहा है, पुरुगुप्त और बुधगुप्त के बीच किसी अन्य व्यक्ति का नाम रखने की कोई गुंजाइश नहीं है और ६ठी पंक्ति के अन्त में उल्लिखित 'पुत्र' शब्द से दोनों के पिता-पुत्र सम्बन्ध के बारे में कोई सन्देह नहीं प्रकट किया जा सकता।

२. शास्त्री (हीरानन्द) ने बिना झिझक 'महादेवी' नाम पढ़ा है (नालन्द एण्ड इट्स एपीग्रैफिक मैटीरियल, पृ० ६४); घोष (अमलानन्द) ने 'चन्द्रदेवी' नाम का सुझाव दिया है (इ० हि० क्वा०, २०, पृ० ११९)। किन्तु सरकार (दि० च०) का दृढ़ मत है कि नाम 'चन्द्रदेवी' से सर्वथा भिन्न है। साथ ही उन्हें 'महादेवी' पाठ में भी सन्देह है (इ० हि० क्वा०, १९, पृ० २७३)।

३. आ० स० इ०, ए० रि०, १९१४-१५, पृ० १२५।

४. का० इ० इ०, ३, पृ० ८९। नन्दनपुर (जिला मुंगेर) मे गुप्त संवत् १६९ का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है और वह भी बुधगुप्त के शासन-काल का ही है; किन्तु उसमें उनका नामोल्लेख नहीं है (ए० इ०, २३, पृ० ५२) इस कारण यहाँ उसका उल्लेख नहीं किया गया है।

५. ब्रि० म्यू० मु० सू०, गु० वं०, पृ० १५३, सिक्का ६१७। कनिंगहम ने १८ × तिथियुक्त बुधगुप्त के एक सिक्के का उल्लेख किया है (क० आ० स० रि०, ९, पृ० २५, पा० टि०) पर ब्रिटिश संग्रहालय में इस प्रकार का कोई सिक्का नहीं है। अतः उसका अस्तित्व सन्दिग्ध है।

६. श्लोक ६४७; ६७६; पीछे, पृ० १०९-११०।

बुधगुप्त से ही है। यदि देव और बुध दोनों का तात्पर्य एक ही व्यक्ति से है तो उक्त ग्रन्थ के अनुसार वे श्रेष्ठ, बुद्धिमान और धर्मवत्सल थे।[१] किन्तु उनके कार्य-कलापों का कोई परिचय किसी सूत्र से नहीं मिलता। युवांग-च्वांग से इस बात की अवश्य जानकारी प्राप्त होती है कि वे नालन्द विहार के पोषक थे और वहाँ उन्होंने एक संघाराम बनवाया था। राजनीतिक गतिविधि के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता; किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उनका शासन शान्ति और समृद्धिपूर्ण था।

उनके अपने अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उनके समय में गुप्त-साम्राज्य का विस्तार पूर्वी मालवा से लेकर उत्तरी बंगाल और काली नदी से लेकर गंगा तक था। दामोदरपुर ताम्र-शासन से यह निस्संदिग्ध है कि पुण्ड्रवर्धन अर्थात् (उत्तरी बंगाल) उनके राज्य के अन्तर्गत था।[२] वाराणसी क्षेत्र में उनके प्रभुत्व का परिचय कम-से-कम तीन अभिलेखों से मिलता है, जो सारनाथ और राजघाट (वाराणसी) से प्राप्त हुए हैं।[३] एरण अभिलेख इस बात का द्योतक है कि उनके राज्य के अन्तर्गत पूर्वी मालवा था।[४] इस प्रकार उनके राज्य में उत्तरी बंगाल, बिहार, पूर्वी उत्तर प्रदेश और पूर्वी मालवा था। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि साम्राज्य के रूप में जो कुछ स्कन्दगुप्त ने छोड़ा था, उन सब पर इनका अधिकार बना रहा।

साथ ही, अन्य लोगों के अभिलेखों से इस बात का भी परिचय मिलता है कि इस काल में गुप्त-साम्राज्य की शक्ति और प्रतिष्ठा दोनों ही ह्रासोन्मुख हो रही थी। मैत्रक और परिव्राजक सामन्त तो स्कन्दगुप्त अथवा उनके उत्तराधिकारी के समय में ही स्वतन्त्र हो गये थे। इनके सम्बन्ध में यह पहले कहा जा चुका है कि वे अपने अभिलेखों में प्रभुसत्ता के रूप में गुप्तों का कोई उल्लेख नहीं करते। इस काल में हम कुछ अन्य वंशों को स्वतन्त्र अथवा अर्ध-स्वतन्त्र होते देखते हैं। पाण्डुवंशी उदयन, जिनका परिचय कालंजर (जिला बाँदा, उ० प्र०) के चट्टान-लेख से मिलता है, इस काल में प्रकाश में आये।[५] सम्भवतः इन्हीं के प्रपौत्र तिविरदेव थे, जिन्होंने दक्षिण कोसल में अपना राज्य स्थापित किया था।[६] इस काल में एक अन्य पाण्डुवंश के उद्भव का पता बघलखण्ड से प्राप्त ताम्र-शासन से मिलता है।[७] इस वंश के राजाओं ने अपने को न केवल महाराज ही कहा, वरन् उन्होंने अपने को परम-माहेश्वर, परम-ब्रह्मण्य आदि भी बताया है। एक अन्य महाराज लक्ष्मण का पता इलाहाबाद और रीवाँ से प्राप्त दो ताम्र-शासनों से मिलता

---

१. पीछे, पृ० १०९।

२. ए० इ०, १५, पृ० १३४; १३८।

३. आ० स० इ०, ए० रि०, १९१४-१५, पृ० १२५; ज० रा० ए० सो० बं०, १५ (न० सी०), पृ० ५।

४. का० इ० इ०, ३, पृ० ८९।

५. ए० इ०, ४, पृ० २५७।

६. ए० इ०, ७, पृ० १०४।

७. ए० इ०, २८, पृ० १३२; भारत कौमुदी, १, पृ० २१५।

है ।[1] यद्यपि इन शासनों में गुप्त-संवत् का प्रयोग किया गया है तथापि उनमें गुप्त-प्रभुता की कोई चर्चा नहीं है । इसी प्रकार महाराज सुबन्धु भी, जिन्होंने महिष्मती के प्राचीन नगर से संवत् १६७ में एक शासन प्रचलित किया था, किसी गुप्त सम्राट् का उल्लेख नहीं करते ।[2]

यही नहीं, बुधगुप्त के मालवा और बंगाल स्थित उपरिकों को भी अपने को महाराज कहते पाते हैं । मालवा के उपरिक सुशर्मन ने एरण अभिलेख में अपने को महाराज कहा है ।[3] इसी प्रकार पुण्ड्रवर्धन के उपरिक ब्रह्मदत्त और जयदत्त अपने को उपरिक महाराज कहते हैं ।[4] इनसे तत्कालीन स्थिति का सहज बोध किया जा सकता है ।

बुधगुप्त के सिक्के बहुत ही कम मिले हैं । अभी हाल तक तो समझा यह जाता था कि उन्होंने सोने का कोई सिक्का प्रचलित ही नहीं किया । किन्तु अब इस बात में सन्देह नहीं रहा कि अब तक जो सिक्का पुरुगुप्त का कहा जा रहा था, वह इनका ही है ।[5] उसके अतिरिक्त उनके नाम के कुछ और भी सोने के सिक्के प्रकाश में आये हैं । इस प्रकार के दो सिक्के काशी विश्वविद्यालय में हैं[6] और एक सिक्का लखनऊ के राजकीय संग्रहालय में है । इनके चाँदी के भी सिक्के हैं जो पूर्वी भाँत के हैं ; किन्तु वे भी अधिक नहीं मिलते ।

बुधगुप्त का निधन गुप्त संवत् १७५ (४९४-९५) मे या उसके आस-पास हुआ होगा । मंजुश्री-मूलकल्प के अनुसार उनके अन्तिम दिन विपत्तिपूर्ण थे । शत्रुओं ने उन्हें चारों ओर से घेर रखा था और वे मारे गये ।[7]

---

१. ए० इ०, २, पृ० ३६४ । आ० स० इ०, ए० रि०, १९३६-३७, पृ० ८८ ।

२. ए० इ०, १९, पृ० २६१ । इसकी तिथि को लोग सामान्यतः गुप्त संवत् मानते हैं । किन्तु मीराशी (व० व०) उसे तथाकथित कलचुरि संवत् बताते हैं और सुबन्धु को ४१६-४१७ ई० में शासन करनेवाला स्वतन्त्र शासक मानते हैं । (इ० हि० क्वा०, २१, पृ० ८२-८३) ।

३. का० इ० इ०, ३, पृ० ८९, पं० ३-४ ।

४. ए० इ०, १५, पृ० १३४; १३८ ।

५. इ० क०, १, पृ० ६९१-९२; ज० न्यु० सो० इ०, १०, पृ० ७८; १२, पृ० ११२ ।

६. ज० न्यू० सो० इ०, १२, पृ० ११२ ।

७. श्लोक ६७६-६७७; पीछे पृ० ११० ।

चन्द्रगुप्त (तृतीय)

तृतीय चन्द्रगुप्त का परिचय किसी आभिलेखिक सूत्र से प्राप्त नहीं होता। उनके अस्तित्व का अनुमान भारी वजन के कुछ ऐसे सिक्कों के आधार पर ही किया जाता है, जिन पर चन्द्र नाम और विक्रम विरुद अंकित है और जिन्हें स्कन्दगुप्त से पूर्व के किसी शासक का नहीं कहा जा सकता।[1] मुद्राओं के अतिरिक्त मंजुश्री-मूलकल्प से भी उनके अस्तित्व का कुछ ज्ञान होता है। उसमें देव के पश्चात् और द्वादश से पूर्व चन्द्र नामक शासक की चर्चा है।[2] देव की पहचान पहले बुधगुप्त से और द्वादश की वैन्यगुप्त द्वादशादित्य से, जो सिक्कों और अभिलेखों से भली प्रकार ज्ञात है, की जा चुकी है।[3]

तृतीय चन्द्रगुप्त के पिता-माता के सम्बन्ध में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है और न उनके शासन-काल के सम्बन्ध में ही कोई बात मालूम है। मंजुश्री-मूलकल्प के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि वे देव अर्थात् बुधगुप्त के मारे जाने के पश्चात् सत्तारूढ़ हुए और वे स्वयं भी मारे गये। उन्होंने कितने दिनों तक शासन किया, इसका कहीं कोई उल्लेख नहीं है। अस्तु,

इनके समय में ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त-साम्राज्य को हूणों के आक्रमण से ऐसा गहरा आघात लगा कि उसका प्रभुत्व सदा के लिए समाप्त हो गया। पहले देखा जा चुका है कि स्कन्दगुप्त ने ४६० ई० के लगभग हूणों को बुरी तरह परास्त किया और उन्हें भारत की ओर बढ़ने से रोका था। किन्तु ईरान हूणों के आक्रमणों को रोक सकने में असमर्थ रहा। फलतः हूणों ने उस पर अधिकार कर लिया और शक्तिशाली बन बैठे और बल्ख को अपनी राजधानी बना कर एक विस्तृत साम्राज्य पर शासन करने लगे। पाँचवीं शती के अन्त में अथवा छठी शती के आरम्भ में, तोरमाण के नेतृत्व में वे पुनः पंजाब से आगे बढ़े और पूर्वी मालवा को रौंदते हुए गुप्त-साम्राज्य के केन्द्र तक पहुँच गये।

एरण से ब्राह्मण धन्यविष्णु के दो अभिलेख प्राप्त हुए हैं। एक में कहा गया है कि धन्यविष्णु और उनके भाई मातृविष्णु ने मिल कर गुप्त संवत् १६५ में, जिन दिनों बुधगुप्त शासन कर रहे थे, भगवान् जनार्दन का ध्वज-स्तम्भ स्थापित किया।[4] दूसरे अभिलेख में मातृविष्णु के मृत्यु के पश्चात् उनके भाई धन्यविष्णु द्वारा हूण-नरेश तोर-

---

१. पीछे, पृ० १९०-१९२।

२. श्लोक ६७७-७८; पीछे, पृ० ११०।

३. पीछे, पृ० ११०-१११।

४. का० इ० इ०, ३, पृ० ८९ आदि।

माण द्वारा मालव विजय के प्रथम वर्ष में वराह की मूर्ति स्थापित किये जाने का उल्लेख है।[1] इससे प्रकट यह होता है कि ध्वज-स्तम्भ की स्थापना के एक पीढ़ी के भीतर ही अर्थात् बुधगुप्त के गुप्त संवत् १७५ (४९४-९५ ई०) के बाद ही तोरमाण ने किसी समय मालव पर विजय प्राप्त की।

मंजुश्री-मूलकल्प में कहा गया है कि **ह** नामक एक शूद्र महानृप पश्चिम से आया और उसने गंगा तक की भूमि पर अधिकार कर लिया। वह नन्दनपुर (अर्थात् पाटलिपुत्र) में **प** नामक राजा को प्रतिष्ठित करके वाराणसी चला गया और वहाँ बीमार होकर मर गया। मरने से पूर्व उसने अपने युवापुत्र **ग्रह** का राज्याभिषेक कर दिया।[2] जायसवाल (का० प्र०) ने समुचित रूप से **ह** की पहचान **हूण** से कर उसे **तोरमाण** माना है और **ग्रह** का तात्पर्य **मिहिरकुल** से अनुमान किया है।[3] यदि उनकी यह पहचान ठीक है और हमारी समझ में ठीक ही है, तो यह सुगमता से अनुमान किया जा सकता है कि तोरमाण की मृत्यु गंगा के मैदान पर अधिकार करने के एक-दो वर्ष के भीतर ही हो गयी।

जैन अनुश्रुतियों में मिहिरकुल के राज्यारोहण की निश्चित तिथि उपलब्ध है। वहाँ उसे कल्किराज कहा गया है।[4] इन अनुश्रुतियों के अनुसार, मिहिरकुल का जन्म शक संवत् ३९४ (गत) के कार्त्तिक मास के शुक्ल पक्ष में हुआ था, उस समय माघ संवत्सर (४७२ ई०) था। उसकी मृत्यु ७० वर्ष की अवस्था में शक ४६४ (५४२ ई०) में हुई। इन अनुश्रुतियों में उसका शासन-काल ४० अथवा ४२ वर्ष कहा गया है। इस प्रकार उसके राज्यारोहण का समय ५०० या ५०२ ई० ठहरता है। इससे अधिक-से-अधिक दो-तीन वर्ष पहले ४९७ और ४९९ ई० के बीच तोरमाण ने गुप्त साम्राज्य पर अधिकार किया होगा।

इस प्रकार अनुमान किया जा सकता है कि तृतीय चन्द्रगुप्त ४९५ ई० के लगभग गद्दी पर बैठा होगा और वह तीन-चार वर्ष के अल्पकालीन शासन के पश्चात् सम्भवतः तोरमाण के हाथों मारा गया।

---

१. वही, पृ० ३९६ आदि।
२. श्लोक ७६३-७७०; पीछे, पृ० ११२-१३।
३. इम्पीरियल हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० ५३।
४. देखिये इस खण्ड के अन्त में परिशिष्ट।

तथागतगुप्त (?) – प्रकाशादित्य

युवान-च्वांग के वृत्त में नालन्द विहार के पोषकों में तथागत-राज का उल्लेख है। उनका यह नामोल्लेख बुधगुप्त और बालादित्य (नरसिंहगुप्त) के बीच हुआ है। पुरातात्विक अथवा किसी अन्य सूत्र से गुप्त वंश में तथागत नामक किसी शासक का पता नहीं मिलता। असम्भव नहीं कि किसी प्रकार की गड़बड़ी के कारण बुधगुप्त के नाम को युवान-च्वांग ने तथागत के रूप में दुहरा दिया हो। (कहना न होगा कि बुद्ध और तथागत समानवाची हैं)। किन्तु साथ ही इस बात की भी सम्भावना कम नहीं है कि बुधगुप्त के बाद और नरसिंहगुप्त से पहले इस नाम का कोई अन्य शासक गुप्त वंश में हुआ।

ऐसी स्थिति में इस बात की भी सम्भावना है कि वे उस अद्वितीय भाँत के सोने के सिक्कों के प्रचलनकर्ता रहे होंगे, जिन पर अश्वारूढ़ शासक सिंह पर आक्रमण करते अंकित किये गये हैं।[1] इस भाँत के अब तक जो सिक्के मिले हैं, उनमें से किसी पर भी शासक का नाम उपलब्ध नहीं है। पट ओर केवल उनका विरुद प्रकाशादित्य ज्ञात होता है। ये सिक्के अब तक पुरुगुप्त, बुधगुप्त अथवा भानुगुप्त के अनुमान किये जाते रहे हैं। किन्तु ये सिक्के उनमें से किसी के भी नहीं हो सकते। इन सिक्कों पर अश्व के नीचे उसी प्रकार ड, रु अथवा म अक्षर अंकित हैं, जिस प्रकार के अक्षर राजा के पैरों के बीच वैन्यगुप्त, नरसिंहगुप्त, कुमारगुप्त (तृतीय) और विष्णुगुप्त के सिक्कों पर मिलते हैं। इस प्रकार के अक्षर बुधगुप्त और उनके पूर्ववर्तियों के सिक्कों पर नहीं देखे जाते। अतः वे पुरुगुप्त अथवा बुधगुप्त के नहीं हो सकते; उनके इन राजाओं के किसी उत्तराधिकारी के ही होने की कल्पना की जा सकती है। दूसरी ओर वजन तथा सोने की मात्रा के आधार पर इन सिक्कों को वैन्यगुप्त के बाद भी नहीं ठहराया जा सकता। इन सिक्कों का सामान्य भार १४५.४ ग्रेन है और इनमें ७७ प्रतिशत सोना है। ऐसी अवस्था में एकमात्र यही सम्भावना हो सकती है कि यदि गुप्त वंश में तथागतगुप्त नामक कोई शासक हुआ हो, तो उसी ने इन्हें प्रचलित किया होगा।

इन सिक्कों और युवान-च्वांग के वृत्त से ऊपर कही गयी बातों के अतिरिक्त और कुछ इस शासक के सम्बन्ध में ज्ञात नहीं होता। कोई अभिलेख ऐसा नहीं है जो तथागतगुप्त अथवा प्रकाशादित्य का कहा जा सके। मंजुश्री-मूलकल्प में प अथवा प्र नामाद्य एक शासक का उल्लेख मिलता है।[2] उससे उनके प्रकाशादित्य होने का

---

१. क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, पृ० २८५।

२. श्लोक ७८१; ८२३ आदि; ८४०; पीछे, पृ० ११३-११५।

अनुमान होता है।[1] यदि प्र अथवा प का तात्पर्य प्रकाशादित्य ही हो तो इस साधन से उनके सम्बन्ध में अच्छी जानकारी प्राप्त होती है।

मंजुश्री-मूलकल्प के अनुसार, जब प अथवा प्र (अर्थात् प्रकाशादित्य) बालक ही थे, तभी गोप नामक किसी व्यक्ति ने उनको बन्दी कर लिया था। १७ वर्ष की आयु तक वे बन्दी रहे। तदनन्तर उन्होंने किसी भगव (?) नामक व्यक्ति की सहायता से बन्दीगृह से निकल कर हूण-नरेश तोरमाण के यहाँ शरण ली। तोरमाण ने उन्हें गंगा तट स्थित नन्दनगर (अर्थात् पाटलिपुत्र) में गद्दी पर बैठाया।[2] इससे ऐसा जान पड़ता है कि हूण-नरेश स्वयं तो मालव में सीमित रहा और गुप्त-साम्राज्य का अन्य भाग प्रकाशादित्य को सामन्त के रूप में उपभोग करने के लिए छोड़ दिया। इस प्रकार गुप्त सम्राटों का युग समाप्त हुआ और उनके साम्राज्य का अन्त हो गया।

हूणों के करद रहते हुए भी प्रकाशादित्य का काफी प्रभाव बना हुआ था। मंजुश्री-मूलकल्प में उन्हें मगध का निष्कण्टक राजा कहा गया है और उनके राज्य का विस्तार पश्चिम में अटवी की सीमा तक, पूर्व में लौहित्य तक, उत्तर में हिमालय तक और दक्षिण में पूर्वी समुद्र तक बताया गया है।[3] इस प्रकार उनके राज्य के अन्तर्गत पूर्वी उत्तर प्रदेश का कुछ भाग, जो विन्ध्य की घाटी से लगा था, बिहार और बंगाल था। सम्भव है कि उड़ीसा का भी कुछ भाग उनके शासन के अन्तर्गत रहा हो।

उन्हें पंचकेसरी लोगों का विजेता और सिंह-वंश का उच्छेदक कहा गया है।[4] जायसवाल (का० प्र०) ने इन राजाओं की पहचान उड़ीसा के शासक के रूप में की है;[5] पर सम्भवतः ये लोग हिमालय के पूर्वी भाग के शासक थे।

मंजुश्री-मूलकल्प के बौद्ध लेखक ने प्रकाशादित्य के पूर्व जीवन की बड़ी सराहना

---

१. जायसवाल (इम्पीरियल हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० ५३ आदि) ने इन 'प' अथवा 'प्र' की पहचान 'प्रकटादित्य' से की है जिनका उल्लेख सारनाथ से प्राप्त एक अभिलेख में हुआ है (का० इ० इ०, ३, पृ० २८५)। यह अभिलेख बहुत ही क्षतिग्रस्त है और उससे कोई व्यवस्थित तथ्य प्राप्त नहीं होता। उससे इतना ही पता चलता है कि प्रकटादित्य का जन्म बालादित्य के परिवार में हुआ था और बालादित्य (द्वितीय) की रानी धवला से उसका जन्म हुआ था। सिनहा (वि० प्र०) ने उसे नरसिंहगुप्त बालादित्य का दूसरा पुत्र माना है (डिक्लाइन ऑव द किंगडम ऑव मगध, पृ० ९३)। किन्तु अभिलेख में ऐसी कोई बात नहीं है जिसके आधार पर उसे गुप्त वंश का कहा जा सके। यदि वह गुप्त वंश का हो तो भी दो बालादित्यों में से किसी को नरसिंहगुप्त अनुमान करना स्वैच्छिक होगा। किन्तु इस अभिलेख को गम्भीरतापूर्वक इस कारण ग्रहण नहीं किया जा सकता कि लिपि की दृष्टि से यह बहुत बाद का ठहरता है और उसे किसी भी प्रकार गुप्त काल में नहीं रख सकते।

२. श्लोक ७६१-६२; पीछे, पृ० ११२।

३. श्लोक ८२२-२५; पीछे, पृ० ११४।

४. श्लोक ८२७-२८; पीछे, पृ० ११४।

५. इम्पीरियल हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० ६५।

की है और उनके भावी जीवन की महत्ता की चर्चा की है और कहा है कि बौद्ध-धर्म में उनका अटूट विश्वास था।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि प्रकाशादित्य ४९७ और ४९९ ई० के बीच किसी समय सत्तारूढ़ हुए होंगे, पर वे बहुत दिनों तक शासन न कर सके। गुप्त संवत् १८८ (५०७ ई०) में हम वैन्यगुप्त को शासन करते पाते हैं।[1] मंजुश्री-मूलकल्प में ऐसा ज्ञात होता है कि उनके शासन के अन्तिम दिनों में देश में बहुत अव्यवस्था व्याप्त हो गयी थी। एक सप्ताह तक किसी राज-भृत्य ने राज्य का उपभोग किया; तदनन्तर वह मारा गया और राजाधिकार व नामक राजा अर्थात् वैन्यगुप्त के हाथ में चला गया।[2]

---

१. इ० हि० क्वा०, ६, पृ० ४५ आदि।
२. श्लोक ८४१-४२; पीछे, पृ० ११५।

वैन्यगुप्त

नालन्द से प्राप्त एक खण्डित मुहर[1] के अनुसार वैन्यगुप्त पुरुगुप्त का पुत्र था। मंजुश्री-मूलकल्प के अनुसार व (अर्थात् वैन्यगुप्त) ने प अथवा प्र (प्रकाशादित्य) के बाद राज्य प्राप्त किया।[2] उनके सिक्के कालीघाट दफीने से प्राप्त हुए थे; उन पर उनका विरुद द्वादशादित्य है।[3] मंजुश्री-मूलकल्प में भी द्वादश नाम से एक राजा का उल्लेख है।[4]

वैन्यगुप्त के शासन-काल का एक ताम्रशासन पूर्वी बंगाल के कुमिल्ला जिले के गुनइघर नामक स्थान से प्राप्त हुआ है, उसमें गुप्त संवत् १८८ की तिथि है।[5] इससे ऐसा जान पड़ता है कि वे इससे कुछ ही पूर्व शासनारूढ़ हुए होंगे; साथ ही, वे इस तिथि के बहुत दिनों पीछे तक राज्य का उपभोग कदाचित् नहीं कर पाये क्योंकि गुप्त संवत् १९१ (५१० ई०) में गुप्त वंश के एक दूसरे व्यक्ति को हम उनके हूण प्रभु की प्रभुसत्ता को चुनौती देते पाते हैं।[6]

नालन्द में वैन्यगुप्त की मुहर मिलने से ऐसा जान पड़ता है कि मगध के मुख्य प्रदेश उनके पूर्ण अधिकार में था। इस मुहर में उनके लिए गुप्त सम्राटों की परम्परागत समस्त उपाधियों का प्रयोग हुआ है, जो इस बात का द्योतक है कि वे अपने को अपने प्रदेश में सम्राट् समझते रहे अथवा वे उपाधियाँ अलंकरण मात्र थीं। गुनइघर अभिलेख से जहाँ यह ज्ञात होता है कि उनका राज्य पूर्वी बंगाल तक विस्तृत था वहीं यह भी प्रकट होता है कि वहाँ उनका एक सामन्त से अधिक मान न था। उक्त अभिलेख में वे केवल **महाराज** कहे गये हैं। इस अभिलेख से यह भी प्रकट होता है कि उनमें और उसके अधीनस्थ शासक के बीच कोई अन्तर नहीं था। उस प्रदेश का उपरिक भी अपने को **महाराज** कहता है और एक दूसरा अधिकारी **महासामन्त-महाराज** कहा गया है।

गुप्त साम्राज्य के ह्रास के चिह्न बंगाल से प्राप्त कुछ अन्य अभिलेखों से भी प्रकट होते हैं। वहाँ से महाराज विजयसेन का मल्लसरूल ताम्रशासन महाराजाधिराज गोपचन्द्र के तीसरे राजवर्ष में प्रचलित किया गया था।[7] गोपचन्द्र का अपना एक १८वें या

---

१. ए० इ०, २६, पृ० २३५।

२. श्लोक ८४३; पीछे, पृ० ११५।

३. क्वायनेज ऑव गुप्त इम्पायर, पृ० २८१-८२।

४. श्लोक ६७८; पीछे, पृ० ११०।

५. इ० हि० क्वा०, ६, पृ० ४५।

६. का० इ० इ०, ३, पृ० ९१।

७. ए० इ०, २३, पृ० १५९ आदि।

१९वें वर्ष का अभिलेख फरीदपुर से भी प्राप्त हुआ है ।[१] एक **महाराज-श्री महासामन्त** विजयसेन का उल्लेख गुनइघर शासन में भी है । मल्लसरूल अभिलेख के **महाराज** विजयसेन और गुनइघर शासन के **महाराज-श्री महासामन्त** विजयसेन दोनों एक ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं । और यह इस बात का द्योतक है कि गोपचन्द्र नामक किसी व्यक्ति ने गुप्त-राज्य के उस भूभाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था जिस पर गुप्त-नरेश की ओर से विजयसेन प्रशासक था । यह स्थिति वैन्यगुप्त के समय में आयी होगी अथवा उनके कुछ ही दिन बाद ।

वैन्यगुप्त के सम्बन्ध में इतनी और जानकारी उपलब्ध है कि वह महादेव (शिव) के उपासक थे, तथापि नालन्द मुहर पर उनके वंश की पारम्परिक उपाधि **परमभागवत** ही मिलती है । गुनइघर शासन में लगी मुहर पर गुप्तों के राजचिह्न गरुड़ के स्थान पर नन्दि की आकृति है । राजचिह्न का यह परिवर्तन सम्भवतः उनके शिवोपासक होने मात्र का द्योतक नहीं है; वरन् उनके हूण-नरेशों की, जो शिवोपासक थे, अधीनता को भी व्यक्त करता है । वे अन्य धर्मों के प्रति भी सहिष्णु थे और उन्हें प्रश्रय प्रदान किया था । उन्होंने कुछ भूमि बौद्ध-विहार को प्रदान की थी और गुनइघर शासन उसी से सम्बन्धित है । इस प्रकार उन्होंने बौद्ध धर्म के प्रति सहिष्णुता और प्रश्रय के पारम्परिक भाव को बनाये रखा था ।

---

१. इ० क०, ३९, पृ० २०४ ।

नरसिंहगुप्त-बालादित्य

नरसिंहगुप्त रानी चन्द्रदेवी से जन्मे पुरुगुप्त के तीसरे पुत्र थे और उनका परिचय उनके बेटे तृतीय कुमारगुप्त की भितरी धातु-मुद्रा[1] और उनके अपने नालन्द से मिली मिट्टी की मुहरों से मिलता है।[2] उनके समय का कोई अभिलेख अभी तक प्रकाश में नहीं आया है। इस कारण यह जान सकना सम्भव नहीं है कि वे कब सत्तारूढ़ हुए अथवा उनका निश्चित शासन-काल क्या था।

बहुत दिनों तक तो यही समझा जाता रहा कि वे स्कन्दगुप्त अथवा पुरुगुप्त के तत्काल बाद सत्तारूढ़ हुए।[3] कुछ लोगों ने राज के बटवारे की भी बात कही।[4] उनका कहना था कि गुप्त वंश की दो शाखाएँ स्कन्दगुप्त के पश्चात् पूर्व और पश्चिम में राज्य करती रही हैं।[5] किन्तु मुद्रातात्विक प्रमाणों से यह स्पष्ट सिद्ध है कि नरसिंहगुप्त वैन्यगुप्त से पूर्व कदापि सत्तारूढ़ नहीं हुए।[6] सम्भावना इस बात की है कि वे वैन्यगुप्त के तात्कालिक उत्तराधिकारी थे और गुप्त संवत् १८८ के बाद और १९१ से पहले किसी समय सत्तारूढ़ हुए।

अपने दो भाइयों—बुधगुप्त और वैन्यगुप्त के बाद, स्वयं जिनके राज्य के बीच दो अन्य राजे—तृतीय चन्द्रगुप्त और तथागतगुप्त (?) प्रकाशादित्य ने राज्य किया, नरसिंह-गुप्त का सत्तारूढ़ होना अपने-आप में एक असाधारण बात है। ऐसा किन स्थितियों में हुआ, यह अज्ञात है; किन्तु इतना तो प्रायः निश्चित रूप से कहा ही जा सकता है कि यह उसी अवस्था में सम्भव हुआ होगा जब वे अपने भाइयों में सबसे छोटा रहे हों। इस अवस्था में भी वे सत्तारूढ़ होने के समय ५४-५५ वर्ष से कम न रहे होंगे।[7]

सिक्कों से ज्ञात होता है कि वे बालादित्य के नाम से भी प्रख्यात थे।[8] युवान-च्वांग ने बालादित्य का उल्लेख तथागत-राज के उत्तराधिकारी अथवा वंशज तथा

---

१. ज० ए० सो० ब०, ५८, पृ० ८४।

२. नालन्द एण्ड इट्स एपिग्रैफिक मैटीरियल, पृ० ६६-६७।

३. इ० ए०, ४७, पृ० १६१ आदि; हिन्दुस्तान रिव्यू, जनवरी १९१८, पृ० ३० आदि।

४. इ० ए०, १९, पृ० २२७।

५. पीछे, पृ० १६६।

६. पीछे, पृ० १६९-१७३।

७. बुधगुप्त गुप्त संवत् १५७ में गद्दी पर कम-से-कम २५ वर्ष की अवस्था में बैठे होंगे। नरसिंह गुप्त छोटे भाई होने के कारण उनसे ५-६ वर्ष छोटे रहे होंगे और बुधगुप्त के राज्यारोहण के समय उनकी अवस्था २० वर्ष की रही होगी। इसके अनुसार गुप्त संवत् १८८ और १९१ के बीच उनकी अवस्था ५५-५६ वर्ष से कम नहीं रही होगी।

८. क्वायनेज ऑव द गुप्त इम्पायर, पृ० २७१।

बौद्ध-धर्म के पोषक के रूप में किया है; और कहा है कि उन्होंने नालन्द में एक संघाराम बनवाया था।[१] पीछे वे भिक्षु हो गये।[२] मंजुश्री-मूलकल्प में भी गुप्तवंश के बाल नामक एक राजा का उल्लेख है, जो बहुत अच्छे और लोकहित के प्रति सजग शासक थे।[३] मंजुश्री-मूलकल्प में यह भी कहा गया है कि उन्होंने विहार, आराम, वापी, तड़ाग, मण्डप, सड़क और पुल बनवाये थे। वे बौद्ध धर्म के अनुयायी थे और पृथिवी को उन्होंने समुद्र पर्यन्त चैत्यों से भर दिया था। उन्होंने विहार भी बनवाये। वह निष्कण्टक शासन कर रहे थे; किन्तु पुत्रशोक के कारण वे भिक्षु हो गये; और ३६ वर्ष शासन करने के पश्चात् उनकी मृत्यु हुई।[४]

स्पष्ट है कि इन पंक्तियों में युवान-च्वांग और मंजुश्री-मूलकल्प के लेखक दोनों ने ही एक ही व्यक्ति—बालादित्य की चर्चा की है और उनकी पहचान नरसिंहगुप्त के रूप में सरलता से की जा सकती है। वे तथागतगुप्त के उत्तराधिकारी अथवा वंशज तथा कुमार अर्थात् तृतीय कुमारगुप्त के पूर्ववर्ती थे। दोनों ही सूत्र उनके संघाराम बनवाने और भिक्षु हो जाने की बात कहते हैं। सम्भवतः नरसिंहगुप्त बालादित्य का उल्लेख नालन्द से प्राप्त आठवीं शती ई० के मध्य के एक अन्य अभिलेख में भी है।[५] उसमें कहा गया है कि असीम शक्ति वाले महान् राजा बालादित्य ने अपने समस्त शत्रुओं का उच्छेदन कर, पृथिवी का भोग किया और नालन्द में एक महान् और असाधारण मन्दिर का निर्माण कराया।

इन धार्मिक और लोकोपयोगी कार्यों के अतिरिक्त नरसिंहगुप्त के राजनीतिक कार्यों का भी कुछ परिचय युवान-च्वांग के वृत्त से प्राप्त होता है। उनका कहना है कि मगध-नरेश बालादित्य-राज, बौद्ध धर्म का बहुत आदर करते थे। जब उन्होंने मिहिर-कुल के क्रूर अत्याचार और दमन की कहानी सुनी तो उन्होंने अपनी सीमा की कठोर सुरक्षा की व्यवस्था की और कर देने से इनकार कर दिया। फलतः मिहिरकुल ने उनके राज्य पर आक्रमण किया। बालादित्य अपनी सेना सहित एक द्वीप में चले गये। मिहिरकुल भी अपनी सेना का बहुत बड़ा भाग अपने छोटे भाई की देख-रेख में छोड़-कर थोड़ी-सी सेना के साथ नाव में सवार होकर द्वीप में उतरा। वहाँ उसकी एक सँकरे दर्रे में बालादित्य की सेना के साथ मुठभेड़ हुई और वह बन्दी कर लिया गया। बालादित्य मिहिरकुल को मार डालना चाहते थे पर अपनी माँ के कहने पर इसे छोड़

---

१. इसका समर्थन एक मुहर से होता है जिस पर 'नालन्दायां श्री बालादित्य गन्धकुटी' अंकित है (मे० आ० स० इ०, ६६, पृ० ३८)।

२. पीछे, पृ० १५४।

३. श्लोक ६४८, पीछे, पृ० १०९।

४. श्लोक ६७४, पीछे, पृ० ११०।

५. श्लोक ४४८-५२; पीछे, पृ० १०९।

६. ए० इ०, २०, पृ० ३८।

दिया। लौटने पर मिहिरकुल ने पाया कि उसके भाई ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया है। निदान उसने कश्मीर में जाकर शरण प्राप्त की।[1]

इससे ऐसा जान पड़ता है कि मिहिरकुल एक प्रभु-शक्ति था और संघर्ष के समय बालादित्य उसके करद थे। इससे पहले हम यह देख चुके हैं कि प्रकाशादित्य को तोरमाण ने गद्दी पर बैठाया था; इस प्रकार स्पष्टतः वे हूणों के अधीन थे। गुप्त शासकों की यह करद स्थिति नरसिंहगुप्त के काल तक चलती चली आयी होगी; और नरसिंहगुप्त मिहिरकुल को कर देते रहे होंगे। इस परिप्रेक्ष्य में युवान-च्वांग का कथन कि नरसिंहगुप्त ने अपने प्रभु-शक्ति के हाथों बौद्ध-धर्म के दमन किये जाने की बात सुन कर विद्रोह कर दिया और कर देने से इनकार कर दिया, सत्य पर आधारित जान पड़ता है। उसके इस कथन में तनिक भी सन्देह नहीं किया जा सकता कि बालादित्य ने न केवल दृढ़ता-पूर्वक मिहिरकुल का प्रतिरोध किया वरन् उसे बुरी तरह पराजित भी किया।

किन्तु बालादित्य ने मिहिरकुल को कब पराजित किया, यह कल्पना करने की बात है। यदि अपनी पराजय के बाद मिहिरकुल ने सचमुच कश्मीर में शरण ली, तो इसका अर्थ यह हुआ कि बालादित्य ने उसे मध्यभारत के अधिकार से भी वंचित कर दिया था। ऐसी अवस्था में यह घटना मिहिरकुल के १५वें वर्ष के बाद, जिस वर्ष का उसका अभिलेख उस भूभाग में ग्वालियर से प्राप्त है,[2] घटी होगी। अन्यत्र यह कहा जा चुका है कि मिहिरकुल ५०० अथवा ५०२ ई० में गद्दी पर बैठा था।[3] अतः उसकी यह पराजय ५१५ अथवा ५१७ ई० के बाद ही किसी समय हुई होगी। किन्तु युवान-च्वाग के बौद्ध धर्म और बौद्धों के प्रति आस्था को देखते हुए उसकी बातों को अक्षरशः मान लेना उचित न होगा। उसके इस कथन का कि 'मिहिरकुल कश्मीर में शरण लेने को बाध्य हुआ' सम्भवतः इतना ही तात्पर्य है कि वह अपने अन्तिम दिनों में कश्मीर में शासन कर रहा था।

यह घटना नरसिंहगुप्त के राजत्वकाल के आरम्भ में ही घटी, इसका संकेत गुप्त संवत् १९१ (५०९-५१०) ई० के एरण अभिलेख में मिलता है, जिसमें एक महायुद्ध होने का उल्लेख है; और बताया गया है कि उस युद्ध में राजा भानुगुप्त का गोपराज नामक एक अधीनस्थ मारा गया था।[4] अनुमान होता है कि भानुगुप्त गुप्त राजवंश के कोई सदस्य थे और वे गोपराज के साथ हूणों का प्रतिरोध करने वहाँ गये थे। इस काल में किसी दूसरे शत्रु की कल्पना ही नहीं की जा सकती जिसके विरुद्ध पश्चिमी सीमा पर गुप्त सेना भेजी जा सकती थी। लगता है भानुगुप्त और गोपराज के

---

१. पीछे, पृ० १५१-१५३।
२. का० इ० इ०, ३, पृ० १६२; ए० इ०, पृ० ४००।
३. पीछे पृ० २४३; आगे पृ० ३६२।
४. का० इ० इ०, ३, पृ० ९१।

प्रतिरोध को तोड़ कर हूण सेना ने मगध में प्रवेश किया, जहाँ उसे नरसिंहगुप्त के हाथों पराजित होना पड़ा।

हूण आक्रमण के फलस्वरूप देश की समृद्धि को गहरा धक्का लगा और उसके कारण गुप्त राजकोष पर भारी आर्थिक बोझ आ पड़ा था, ऐसा नरसिंहगुप्त के सोने के सिक्कों से प्रकट होता है। उन्होंने जो सिक्के सम्भवतः आक्रमण से पूर्व प्रचलित किये थे, वे ७० प्रतिशत सोने के हैं; किन्तु उनके अधिकांश सिक्के, जो निस्सन्देह उनके परवर्ती राज्यकाल के हैं, केवल ५४ प्रतिशत सोने के हैं। मुद्राओं के इस ह्रास का कारण नरसिंहगुप्त के लोकोपकारी कार्य मात्र को नहीं माना जा सकता।[१]

अन्ततः युवान-च्वांग का कहना है कि बालादित्य, अपने द्वारा दिये जाने वाले धार्मिक दान को प्राप्त करने के लिए आये चीनी भिक्षुओं को देख कर राज-पाट छोड़-कर भिक्षु हो गये; किन्तु मंजुश्री-मूलकल्प का कहना है कि वे पुत्र-शोक के कारण भिक्षु हुए।[२]

उन्होंने कब राज्य-त्याग किया अथवा वे कब मरे, यह ज्ञात नहीं है; किन्तु मंजुश्री-मूलकल्प के अनुसार उनकी मृत्यु ३६ वर्ष शासन करने के पश्चात् हुई।[३] यदि पूर्व विवेचन को दृष्टि में रखते हुए नरसिंहगुप्त का राज्यारोहण गुप्त संवत् १८९-९० में रखें तो इस कथन के अनुसार उनका मृत्युकाल गुप्त संवत् २२६ ठहरता है जो विष्णुगुप्त के दामोदरपुर ताम्रशासन[४] के प्रकाश में कदापि मान्य नहीं है। हो सकता है इस अवधि में नरसिंहगुप्त का संन्यासकाल भी सम्मिलित हो।

उनके बाद उनके मित्रदेवी से जन्मे पुत्र तृतीय कुमारगुप्त ने उत्तराधिकार प्राप्त किया।

---

१. श्लोक ६५२; पीछे, पृ० १०९।
२. श्लोक ६५१; पीछे, पृ० १०९।
३. ए० इ०, १५, पृ० १४२; पीछे, पृ० ४२-४३।
४. ज० ए० सो० बं०, ५८, पृ० ८४; नालन्द एण्ड इट्स एपीग्रैफिक मैटीरियल, पृ० ६६-६७। हार्नले ने नाम को श्रीमतीदेवी और फ्लीट ने महा(लक्ष्मी)देवी अथवा केवल महादेवी पढ़ा है; किन्तु नालन्द से प्राप्त दो मुहरों पर स्पष्ट मित्रदेवी है।

कुमारगुप्त (तृतीय)

नरसिंहगुप्त के बाद मित्रदेवी से जन्मे उनके पुत्र तृतीय कुमारगुप्त गद्दी पर बैठे। उनका परिचय उनके नालन्द से प्राप्त मिट्टी के मुहरों[1] और भितरी से ज्ञात धातु-मुद्रा[2] से प्राप्त होता है। भितरी वाली मुद्रा उनके प्रशासित किसी ताम्र-शासन में लगी रही होगी, जो अब अप्राप्य है। उनका परिचय उनके सोने के सिक्कों से भी मिलता है। उन पर उन्हें श्री-क्रमादित्य कहा गया है।[3]

उनके शासन-काल की गति-विधि जानने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है; किन्तु मन्दसोर से प्राप्त एक अभिलेख में यशोधर्मन नामक शासक ने यह दावा किया है कि उसके राज्य के अन्तर्गत लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) से लेकर पश्चिमी सागर तक तथा हिमालय से लेकर महेन्द्र पर्वत तक का सारा उत्तरी भारत था।[4] यह अभिलेख तिथि-विहीन है; किन्तु एक अन्य अभिलेख में, जो उसी स्थान से मिला है, श्री यशोधर्मन नामक जनेन्द्र (राजा) के मालव संवत् ५८९ (५३१ ई०) में होने का पता मिलता है।[5] सम्भवतः दोनों अभिलेखों के यशोधर्मन एक ही व्यक्ति हैं; इस प्रकार वे तृतीय कुमारगुप्त के सम-सामयिक ठहरते हैं। अभिलेख से ऐसा प्रतीत होता है कि यशोधर्मन के हाथों गुप्तों का उन्मूलन हो गया। किन्तु तृतीय कुमारगुप्त के सोने के सिक्के भार और धातु की मात्रा में अपने पिता के परवर्ती सिक्कों के समान ही हैं। उनसे प्रकट होता है कि उनके समय में ऐसा कोई राजनीतिक परिवर्तन नहीं हुआ, जिसका कि राजकोष पर प्रभाव पड़ सके। इसका समर्थन एक अभिलेख मे भी होता है[6] जो मन्दसोर अभिलेख से (जिसमें यशोधर्मन के लौहित्य तक के विजय की चर्चा है) केवल दस वर्ष बाद का है। उससे ज्ञात होता है कि गौड़ पर (यदि यशोधर्मन के अधिकार में ब्रह्मपुत्र तक का क्षेत्र वस्तुतः था तो वह इस प्रदेश से होकर ही लौहित्य तक गया होगा।) गुप्त वंश का अधिकार था। इस अभिलेख अर्थात् गुप्त संवत् २२४ (५४३ ई०) के दामोदरपुर ताम्र-शासन की तुलना उसी स्थान से प्राप्त बुधगुप्त के काल के ताम्र-शासनों[7] के साथ की जाय, जो उपर्युक्त मन्दसोर अभिलेख से बहुत

---

१. नालन्द एण्ड इट्स एपीग्रैफिक मैटीरियल, पृ० ६५-६७।

२. ज० ए० सो० बं०, ५८, पृ० ८४।

३. ब्रि० म्यू० मु० सू०, गु० वं०, पृ० १४१-४३; ज० न्यू० सो० इ०, १२, पृ० ३१ आदि; डिक्लाइन ऑव द किंगडम ऑव मगध, पृ० ११४।

४. का० इ० इ०, ३, पृ० १४६ आदि।

५. वही, पृ० १५२ आदि।

६. ए० इ०, १५, पृ० १४२; १७, पृ० १९३।

७. ए० इ०, १५, पृ० ११४; १३८।

पहले के हैं तो ज्ञात होगा कि उस प्रदेश में एक ही शासन-तन्त्र काम कर रहा था। भूमि के विक्रय और विनिमय में एक ही प्रकार की व्यवस्था और प्रणाली काम कर रही थी। सबसे अधिक महत्त्व की बात तो यह है कि नगरश्रेष्ठि रिभुपाल इस अवधि में आधे शताब्दी से अधिक समय निरन्तर पुण्ड्रवर्धन विषय के अधिकरण के सदस्य बने रहे। इस प्रकार पूर्व में गुप्त सम्राटों के शासन के इतिहास अथवा परम्परा में किसी प्रकार का कोई व्यवधान दृष्टिगोचर नहीं होता।

अतः यशोधर्मन का कथन कोरी डींग जान पड़ती है। सम्भवतः उसका यह कथन दिग्विजय का सामान्य और पारम्परिक वर्णन मात्र है; यदि उसने वस्तुतः लौहित्य तक कोई अभियान किया था तो वह धावा मात्र रहा होगा। यदि उसने वस्तुतः अधिकार प्राप्त किया ही था तो यह अधिकार भी इतना अल्पकालिक था कि उसका गुप्त शासन-तन्त्र पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इस धारणा की पुष्टि इस बात से भी होती है कि इस अभिलेख के अतिरिक्त यशोधर्मन के सम्बन्ध में अन्यत्र कहीं कुछ ज्ञात नहीं है। वह कदाचित् उल्का की भाँति चमक कर मिट गया।

मंजुश्री-मूलकल्प के कथनानुसार बाल (अर्थात् बालादित्य) का पुत्र कुमार (अर्थात् कुमारगुप्त) अत्यन्त धार्मिक और गौड़ का महान् शासक था।[1] युवान-च्वांग के अनुसार बालादित्य का उत्तराधिकारी वज्र थे। वे भी नालन्द विहार के पोषक थे और उन्होंने भी एक संघाराम बनवाया था।[2] युवान-च्वांग कथित वज्र तृतीय कुमारगुप्त ही थे अथवा उनके उत्तराधिकारी, कहना कठिन है।

उनके बाद उनके पुत्र विष्णुगुप्त सत्तारूढ़ हुए पर कब, नहीं कहा जा सकता। हाँ, इतना ही कहा जा सकता है कि उनका राज्यारोहण गुप्त संवत् २२४ (५४३ ई०) से पहले किसी समय हुआ होगा। विष्णुगुप्त के लिए यह तिथि दामोदरपुर ताम्र-शासन से ज्ञात होती है।[3]

---

१. श्लोक ६७४; पीछे, पृ० ११० ।

२. पीछे, पृ० १५४ ।

३. ए० इ०, १५, पृ० १४२ । इस ताम्र-शासन के विष्णुगुप्त का मानने के सम्बन्ध में पीछे देखिये, पृ० ४३-४४ ।

विष्णुगुप्त

विष्णुगुप्त तृतीय कुमारगुप्त के पुत्र थे; उनका परिचय मिट्टी की एक खण्डित मुहर से मिलता है।[1] सम्भवतः वे अपने पिता के पश्चात् गद्दी पर बैठे। उनकी पहचान मंजुश्री-मूलकल्प में उल्लिखित उकाराख्य शासक से की जा सकती है।[2] उन्हें सोने के सिक्कों पर, जो बड़ी मात्रा में कालीघाट दफीने में मिले थे, चन्द्रादित्य कहा गया है।[3] वे कब गद्दी पर बैठे, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। किन्तु इतना तो है ही कि वे दामोदरपुर ताम्र-शासन से,[4] जो उनका समझा जाता है,[5] ज्ञात तिथि गुप्त संवत् २२४ (५४३ ई०) से पूर्व किसी समय गद्दी पर बैठे होंगे।

उनके शासनकाल की गति-विधि की कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है, पर इस काल में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन अवश्य देखने में आता है। उपर्युक्त ताम्र-शासन में पुण्ड्र-वर्धन-भुक्ति के प्रशासक उपरिक महाराज को राजपुत्र देव-भट्टारक कहा गया है। इसकी सुसंगत व्याख्या तो यही होगी कि सम्राट् के पुत्र देव पुण्ड्रवर्धन (उत्तरी बंगाल) के प्रशासक थे। इस अभिलेख से पूर्व की शताब्दी में इस भुक्ति के प्रशासक चिरदत्त,[6] ब्रह्मदत्त[7] और जयदत्त[8] थे, जो सम्भवतः एक ही कुल के थे। हम देख ही चुके हैं कि गुप्त-साम्राज्य के ह्रास काल में प्रादेशिक प्रशासक स्वतन्त्र होने के लिए सचेष्ट थे और कुछ तो स्वतन्त्र हो भी गये थे।[9] अतः आश्चर्य नहीं कि राजा के मन में इस प्रवृत्ति ने दत्त परिवार के उपरिकों के प्रति जो वंशगत प्रशासक थे, सन्देह उत्पन्न कर दिया हो और उन्होंने वंशगत उपरिकों की ओर से होने वाले विद्रोह को बचाने के लिए अपने ही कुल के किसी राजकुमार को उपरिक बनाना उचित समझा हो।

तृतीय चन्द्रगुप्त के समय में, जो सामन्त की स्थिति में पहुँच गये थे, उत्तर प्रदेश का कितना अंश गुप्त राज्य के अधीन रह गया था, निश्चित नहीं कहा जा सकता। किन्तु उसके वाराणसी तक होने की सम्भावना का अनुमान होता है। गुप्तों का मगध

---

१. ए० इ०, २६, पृ० २३५; पीछे पृ० ५६।
२. श्लोक ६७५; पीछे, पृ० ११०।
३. ब्रि० म्यू० मु० सू०, भूमिका, पृ० ६०-६१।
४. ए० इ०, १५, पृ० १४२।
५. पीछे, पृ० ४२-४४।
६. ए० इ०, १५, पृ० १२९; १३२।
७. वही, पृ० १३४।
८. वही, पृ० १३८।
९. पीछे, पृ० ३१७-३२०; ३४२-४३; ३४९-५०।

और गौड़ पर शासन बना था, यह नालन्द की मुहरों और कालीघाट दफीने के सिक्कों तथा दामोदरपुर ताम्र-शासन से स्पष्ट है। प्रथम कुमारगुप्त के शासनकाल में उड़ीसा गुप्त साम्राज्य में सम्मिलित किया गया था और वह इस काल तक चलता रहा। यह कटक जिले के बहरामपुर ग्राम से दक्षिण कोसल और उड़ीसा के कुछ भाग के शासक प्रसन्नभात्र के सैंतालीस सिक्कों के साथ मिले विष्णुगुप्त के एक सिक्के से प्रकट होता है।[1] अकेले इस सिक्के का मिलना इस बात का क्षीण प्रमाण ही माना जाता यदि स्थानीय शासकों के गुप्त संवत् युक्त कतिपय अभिलेख उस क्षेत्र से प्राप्त न हुए होते। गंजाम जिले के सुमण्डल नामक स्थान से प्राप्त एक अभिलेख में **वसुन्धरायां वर्तमान गुप्त राज्य** का प्रयोग हुआ।[2] इससे बोध होता है कि गुप्त लोग इस अभिलेख के समय तक शासन कर रहे थे और कलिंग-राष्ट्र उनके अन्तर्गत था। उड़ीसा से गुप्तों का अधिकार गुप्त संवत् २८० (५९९ ई०) तक समाप्त हो गया था, यह उसी क्षेत्र के कनास नामक स्थान से प्राप्त इस तिथि के एक दूसरे अभिलेख से प्रकट होता है। उसमें **वसुन्धरायां गौप्त काले** का प्रयोग हुआ है।[3]

विष्णुगुप्त के बाद किसी गुप्त शासक का पता नहीं चलता। इससे अनुमान होता है कि उनके साथ ही गुप्त-वंश का अन्त हो गया। किन्तु सिनहा (वि० प्र०) का कहना है कि गुप्त संवत् २३२ (५५१-५२ ई०) के अमौना अभिलेख में **देवगुरुपादानुध्यात** का जो प्रयोग हुआ है, उसका तात्पर्य मंजुश्री-मूलकल्प के देव और दामोदरपुर ताम्र-शासन के **देव-भट्टारक** से है।[4] किन्तु हमें इस शब्द में किसी राजा का अस्तित्व ध्वनित होता नहीं जान पड़ता। दामोदरपुर ताम्र-शासन में देव नामक राजकुमार की चर्चा है, किसी राजा की नहीं। इस बात का कोई प्रमाण नहीं कि वह राजकुमार विष्णुगुप्त के बाद सत्तारूढ़ हुआ। मंजुश्री-मूलकल्प में देव का उल्लेख पूर्ववर्ती शासक के रूप में हुआ है, जो चन्द्र (तृतीय चन्द्रगुप्त) और (वैन्यगुप्त द्वादशादित्य) से पहले हुए थे।[5]

गुप्त-वंश का अन्त किस प्रकार हुआ, कहा नहीं जा सकता। किन्तु मंजुश्री-मूलकल्प का कहना है कि इस राजा (श्रीमां उ) के पश्चात् भयंकर फूट और झगड़े आरम्भ हुए।[6] समवर्ती वंशों के कतिपय अभिलेखों से गुप्तों के पतन की हल्की-सी रूपरेखा इस प्रकार प्राप्त होती है—

उत्तर प्रदेश और मगध से गुप्तों के उखाड़ फेंकने के उत्तरदायी सम्भवतः मौखरि,

---

१. अ० भ० इ०, ए० रि०, १९२६, पृ० २३० ।
२. अ० हि० रि० ज०, १, पृ० ६६; ए० इ०, २८, पृ० ७९ ।
३. उ० हि० रि० ज०, २, पृ० २१६; ए० इ०, २८, पृ० ३३१ ।
४. डिक्लाइन ऑव द किंगडम ऑव मगध, पृ० १२९, पा० टि० १
५. श्लोक ६७६-७८; पांडे, पृ० ११० ।
६. श्लोक ६७५; पांडे, पृ० ११० ।

जिनका सम्बन्ध गुप्त साम्राज्य के भू-भाग से रहा है, थे। उनके उन्मूलन में उनका प्रत्यक्ष हाथ भले ही न रहा हो, वे उससे घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध अवश्य थे। सम्राटीय उपाधि धारण करने वाले पहले मौखरि ईशानवर्मन का उल्लेख हड़हा (जिला बाराबंकी) से प्राप्त विक्रम संवत् ६११ (५५३-५४ ई०) के अभिलेख में हुआ है।[1] इस अभिलेख में उनके पुत्र का भी उल्लेख एक स्वतन्त्र शासक के रूप में हुआ है। जौनपुर से प्राप्त एक खण्डित ईंट-अभिलेख भी सम्भवतः उन्हीं का है।[2] इन अभिलेखों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि ५५४ ई० से बहुत पहले ही उत्तर प्रदेश से गुप्त-प्रभुत्व समाप्त हो गया था।

हड़हा अभिलेख में ईशानवर्मन के गौड़ में किये अभियान का भी उल्लेख है; किन्तु उसमें उनके गुप्तों के साथ संघर्ष होने का कोई संकेत नहीं है। हाँ, देव बरनार्क अभिलेख से छठी शताब्दी के अन्त में ईशानवर्मन के पुत्र शर्ववर्मन और पौत्र अवन्ति-वर्मन का बिहार के शाहाबाद जिले पर अधिकार होने का परिचय मिलता है।[3] दक्षिण कोसल के पाण्डुवंशी शिवगुप्त बालार्जुन के सिरपुर स्थित लक्ष्मण मन्दिर के अभिलेख में मगध पर वर्मन-वंश के सूर्यवर्मन के अधिकार का उल्लेख है।[4] ये सूर्य-वर्मन मौखरि ईशानवर्मन के पुत्र अनुमान किये जाते हैं। इन सबसे अनुमान होता है कि मौखरियों ने गुप्तों को बिहार से निकाल बाहर किया।

इसका समर्थन गया जिले के अमौना से प्राप्त एक ताम्र-शासन से भी होता है, जिसे गुप्त संवत् २३२ (५५१-५५२ ई०) में कुमारामात्य महाराज नन्दन ने प्रचलित किया था।[5] उसमें किसी प्रभु-शासक का उल्लेख नहीं है। इससे जान पड़ता है कि उस समय तक (५५० ई०) तक उस भू-भाग से भी, जो गुप्तों का अपना था, गुप्तों का प्रभावकारी अधिकार समाप्त हो गया था।

उत्तरी बंगाल मे गुप्त शासन कम-से-कम गुप्त संवत् २२४ (५४३ ई०) तक बना था। उसके पश्चात् उनका यह अधिकार कितने दिनों तक रहा, कहा नहीं जा सकता। धर्मादित्य,[6] गोपचन्द्र[7] और समाचारदेव[8] नामक स्वतन्त्र शासकों के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि वे लोग छठी शताब्दी में बंगाल के दक्षिणी आधे भाग पर शासन कर रहे थे। सरकार (दि० च०) की धारणा है कि बंगाल से गुप्तों का प्रभुत्व मौखरियों द्वारा मगध पर अधिकार किये जाने के साथ समाप्त न हुआ होगा। वे

---

१. भण्डारकर कृत सूची, सं० १६०२।
२. वही, सं० १६०१; ज० रा० ए० सो० बं०, ११, पृ० ७०।
३. वही, सं० १५५४; १७४१; ज० रा० ए० सो० बं०, ११, पृ० ७०।
४. महाकोसल हिस्टारिकल सोसाइटीज पेपर्स, २, पृ० १९।
५. ए० इ०, १०, ४९।
६. इ० ए०, ३९, पृ० १९३-२१६; ज० रा० ए० सो०, १९१२, पृ० ७१०।
७. ए० इ०, २३, पृ० १५९ आदि; इ० ए०, ३९, पृ० २०४ आदि।
८. ऐसेज प्रेजेण्टेड टु सर यदुनाथ सरकार, पृ० १४९।

सुमण्डल ताम्र-शासन के आधार पर बंगाल और उड़ीसा दोनों पर गुप्तों का अधिकार ५६९ ई० तक अनुमान करते हैं। उनकी धारणा है कि बिहार को खोकर भी वे बंगाल स्थित किसी स्थान से उड़ीसा पर अधिकार बनाये रखने में समर्थ रहे।[१]

जिनसेन कृत **हरिवंश पुराण** नामक ग्रन्थ में जो अनुश्रुति दी हुई है, उसके अनुसार गुप्तों के शासन का अन्त (३१९ ई० में गुप्त संवत् स्थापित होने के) २३१ वर्ष पश्चात् ५५०-५१ ई० में हुआ।[२] यही अनुश्रुति एक अन्य जैन ग्रन्थ यति वृषभ कृत **तिलोय-पण्णत्ति** (त्रिलोक-प्रज्ञप्ति) में भी पायी जाती है।[३] पर साथ ही इसी से सम्बन्धित एक दूसरी अनुश्रुति भी उसमें दी हुई है, जिसके अनुसार गुप्त-शासन शक शासकों के २४२ वर्ष के शासन के पश्चात् २५५ वर्ष तक अर्थात् ५७५ ई० रहा।[४] एक ही ग्रन्थ में गुप्त-शासन का काल बताने वाली दो अनुश्रुतियाँ सरकार (दि० च०) के कथनानुसार दो सर्वथा भिन्न परम्पराओं को ध्यान में रख कर दी गयी हैं। एक का सम्बन्ध बिहार और उत्तर प्रदेश से गुप्त अधिकार के उन्मूलन से है और दूसरे का उसके बंगाल और उड़ीसा से समूल नष्ट हो जाने से।[५]

किन्तु अपने भोग्य-भूमि मगध से निष्कासन के पश्चात् बंगाल में गुप्तों के शासन के बने रहने का कोई प्रमाण नहीं है। सुमण्डल ताम्र-शासन के आधार पर इतनी दूर की कल्पना नहीं की जा सकती। किसी समर्थक प्रमाण के अभाव में इस तरह का निष्कर्ष निकालना अति होगा। इतना ही कहा जा सकता है कि गुप्त साम्राज्य के पतन के सम्बन्ध में प्राचीन-कालीन दो धारणाएँ हैं, एक के अनुसार उसका अन्त ५५०-५५१ ई० में और दूसरे के अनुसार ५७४-७५ ई० में हुआ।

---

१. मे० आ० स० इ०, ६६, पृ० ३१।
२. पीछे, पृ० ११७।
३. गाथा १५०३-४।
४. गाथा १६०८।
५. एसेज प्रेजेण्टेड टु सर यदुनाथ सरकार, पृ० ३४७।

मिहिरकुल

मिहिरकुल का परिचय उसके अपने ही ग्वालियर अभिलेख से मिलता है। उसके अनुसार वह हूण तोरमाण का पुत्र था।[1] युवान-च्वांग ने उसके साथ बालादित्य (नरसिंहगुप्त) के संघर्ष की चर्चा की है। इस कारण यह आवश्यक जान पड़ता है कि उसके सम्बन्ध में विभिन्न सूत्रों से जो जानकारी उपलब्ध है, उन्हें यहाँ एकत्र कर दिया जाय।

युवान-च्वांग का कहना है कि "कुछ शताब्दी बीते, मो-हि-लो-क्यु-लो (मिहिर-कुल) नामक एक राजा हुआ, उसने अपना अधिकार इस नगर (शाकल) में जमाया और भारत के ऊपर शासन किया। अपने अवकाश के क्षणों में उसने बुद्ध (फू-फा) धर्म से परिचय प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की और कुशाग्रबुद्धि के एक भिक्षु को बुलवाया। किन्तु किसी भिक्षु को उसके पास जाने का साहस नहीं हुआ। जिनकी इच्छाएँ कम थीं, वे अपने-आप में सन्तुष्ट थे, उन्होंने सम्मान की परवाह नहीं की; जो विद्वान् और विख्यात थे, उन्होंने राजकीय दान को हेय माना। उन दिनों राजा का एक पुराना भृत्य था, जिसने बहुत दिनों से गैरिक वस्त्र धारण कर रखा था। साथ ही अच्छी योग्यता भी रखता था और वाद-विवाद में पटु और वाचाल था। राजा के बुलावे पर भिक्षुओं ने उसी को भेज दिया। यह देख कर राजा बोला—मेरे मन में फू-फा (बुद्ध) के धर्म के प्रति आदर था और मैंने किसी ऐसे विद्वान् भिक्षु को बुलाया था जो आकर मुझे उक्त धर्म को समझाये। संघ ने इस भृत्य को मुझसे विवाद करने के लिए भेजा है। मैं तो समझता था कि भिक्षुओं में उच्च कोटि के लोग होंगे, लेकिन मैं जो देख रहा हूँ, उससे भिक्षुओं के प्रति मेरी आस्था जाती रही। फलतः उसने बौद्ध-धर्म को मिटा डालने के निमित्त पाँचों भारत के भिक्षुओं को नष्ट करने की आज्ञा दी और किसी को भी जिन्दा नहीं छोड़ा।"[2]

मिहिरकुल का उल्लेख एक अन्य चीनी सुंग-युग ने भी किया है। उसे छठीं शताब्दी के आरम्भ में वै-वंश की साम्राज्ञी ने बौद्ध विहारों को भेंट देने और बौद्ध ग्रन्थों को लाने के लिए भारत भेजा था। चीन लौट कर उसने अपना यात्रा-वृत्त लिखा था।[3] वह अब लुप्त हो गया है; उसके कुछ अंश मात्र बच रहे हैं।[4] उसमें गन्धार की चर्चा करते हुए उसने लिखा है कि "चिंग-क्वांग के प्रथम वर्ष (५२० ई०) के

---

१. का० इ० इ०, ३, पृ० १६२ आदि; से० इ०, पृ० ४००-४०१; पंक्ति १-२।

२. पीछे, पृ० १५१।

३. बागची, इण्डिया एण्ड चाइना, पृ० ७४।

४. बील, रेकर्ड्स ऑव द वेस्टर्न वर्ल्ड, १, पृ० ७९ आदि।

चतुर्थ मास के मध्य दशक में हमने गन्धार राज्य में प्रवेश किया। यह वह देश है जिसे येथा लोगों ने नष्ट कर डाला था और पीछे इस देश पर राज करने के लिए अपने एक तिकिन को बैठाया। उस समय से अब तक दो पीढ़ी बीत चुकी है। इस राजा का व्यवहार अत्यन्त क्रूर और प्रतिशोधात्मक था और वह अत्यन्त बर्बर अत्याचार किया करता था। उसका बौद्ध धर्म में विश्वास न था, वह शैतानों की पूजा करता था। अपनी शक्ति पर पूर्ण विश्वास कर उसने दोनों देशों की सीमाओं को लेकर किपिन (कश्मीर) देश से युद्ध ठान दिया था। उसकी सेना तीन बरस तक लड़ती रही। उस राजा के पास ४०० हाथियाँ थीं।......वह राजा अपनी सेना के साथ निरन्तर सीमा ही पर पड़ा रहा और राजधानी कभी नहीं लौटा। निदान बुड्ढे लोगों को श्रम करना पड़ा और जनसाधारण सताये गये।

यवन भिक्षु कॉस्मास इण्डिको प्ल्यूस्टिस ने भी, जो ५३० ई० के लगभग भारत आया था, मिहिरकुल की चर्चा की है। उसका कहना है कि "भारत के उपरले भाग में अर्थात् उत्तर की ओर आगे, श्वेत हूण लोग हैं। उनमें से एक, जिसका नाम गोल्ल है, जब भी युद्ध पर जाता है, अपने साथ कम-से-कम दो हजार से अधिक हाथी और घुड़सवारों की बहुत बड़ी सेना ले जाता है। वह भारत का राजा है और वह जनता पर अत्याचार करता और उन्हें कर देने को बाध्य करता है।......"[१]

भारतीय सूत्रों में, कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में मिहिरकुल की चर्चा इसलिए की है कि वह कश्मीर का शासक था। उसने मिहिरकुल के सम्बन्ध में लिखा है[२]— "म्लेच्छ जाति द्वारा देश दलित होने के पश्चात् मिहिरकुल राजा हुआ। वह नृशंस और काल के समान था। उसके रूप में उत्तर मे एक दूसरे अन्तक (यम) ने दक्षिण के यम से प्रतिस्पर्धा करने के लिए जन्म लिया था। जब वह चलता था, तो उसके आगे-आगे गिद्ध और कौवे सदैव उड़ा करते थे और सैनिकों द्वारा मारे गये लोगों के भक्षण के लिए आतुर रहते थे। वह स्वयं किसी राजा के प्रेत के समान था और उसके चारों ओर दिन-रात मारे गये असंख्य लोगों की आत्मा मँडराती रहती थी। उसे बच्चों, औरतों, बूढ़ों किसी के प्रति कोई दया न थी।

एक दिन उसने देखा कि उसकी रानी अपने वक्ष पर सिंहल की बनी किंशुक की कंचुकी पहने हुए है, उस पर सुनहले पद-चिह्न हैं। वह क्रुद्ध हो उठा। अन्तःपुर रक्षक से पूछताछ करने पर उसे बताया गया कि सिंहल देश में बस्त्रों पर राजा के पदचिह्न छापने की प्रथा है। किन्तु इस बात से वह सन्तुष्ट नहीं हुआ और दक्षिणी समुद्र की ओर अभियान के लिए निकल पड़ा और सिंहल नरेश को मार डाला। उसके स्थान पर उसने एक अन्य क्रूर स्वभाव के व्यक्ति को गद्दी पर बैठाया और वहाँ से यमुषदेव नामक बुना कपड़ा लाया जिस पर सूर्य की आकृति छपी थी।[३]

---

१. इ० ए०, ३४, पृ० ७३ आदि।

२. कलकत्ता संस्करण, पंक्ति २९१-३२९।

३. मजमलुत्-तवारीख में भी कश्मीर के राजा और सिन्ध के राजा हाल के प्रसंग में इसी कथा का

लौटते समय उसने चोल, कर्णाट्, लाट आदि राजाओं को भी पराजित किया। जो लोग उसके चले जाने पर वहाँ आये, उन्हें उनके ध्वस्त नगरों से उनके पराजय की सूचना मिली।

ज्यों ही वह कश्मीर के द्वार पर पहुँचा, उसने खड्ड में गिरे एक हाथी की चिग्घाड़ सुनी। उसे सुन कर उसे इतना आनन्द आया कि उसने सौ हाथियों को उसी प्रकार चिग्घाड कर मरने के लिए खड्ड में गिरवा दिया।

जिस प्रकार पापी के छूने से शरीर अशुद्ध हो जाता है, इसी प्रकार का अशौच पापियों की बातें सुन कर भी होता है; इस कारण पाप लगने के भय से उसके अन्य सभी दुष्कर्मों की चर्चा नहीं की जा रही है।

अन्ततः जब भैरव का वह अवतार सत्तर वर्ष तक राज्य कर चुका, तो अत्यन्त बीमार पड़ा और आग में जल मरा।

उसकी क्रूरता का चरम उदाहरण यह है कि "एक दिन जब वह चन्द्रकुल्या नदी में उतर रहा था, उसके रास्ते में एक बड़ा-सा चट्टान आ गया जो उखाड़ कर हटाया न जा सका। स्वप्न में देवताओं ने उसे बताया कि उस चट्टान में एक शक्तिशाली यक्ष रहता है और वह ब्राह्मण की भाँति व्रत करता है। अतः वह रोड़ा तभी हट सकता है, जब उसे कोई सती नारी छू दे। दूसरे दिन उसने अपने स्वप्न की बात कह सुनाई और उसकी परीक्षा करने का निश्चय किया। चन्द्रावती नाम्नी कुम्हारी को छोड़ कर कोई स्त्री वैसी नहीं मिली जो चट्टान को हटा सके। कुम्हारी के छूते ही चट्टान हट गया। इससे वह बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने पतियों, पुत्रों और भाइयों सहित तीन करोड़ स्त्रियों को मरवा डाला।"

जैन अनुश्रुतियों में कहा गया है कि पूर्ववर्ती गुप्तों के पश्चात् चतुर्मुख कल्किन् अथवा कल्किराज नामक एक महान् अत्याचारी शासक हुआ। वह सार्वभौम सम्राट् था (महींम कृत्स्नां स भोक्ष्यन्ति)। वह दुर्जनों में आदि (दुर्जनादिमः);

उल्लेख है। उसमें कहा गया है कि सिन्धु-नरेश किसी भी बारीक कपड़े को तब तक बनने नहीं देता था जब तक कि उस पर उसके पद-चिह्न न हों। जब कश्मीर नरेश (सम्भवतः मिहिरकुल) ने अपनी रानी को इसी प्रकार का कोई वस्त्र पहने देखा तो उसने उस वणिक् को बुलवाया जिससे वह क्रय किया गया था। उससे सारी बातें जान कर उसने सिन्धु पर आक्रमण कर राजा हाल का पैर काट डालने की प्रतिज्ञा की। मन्त्रियों ने बहुत समझाने की चेष्टा की कि सिन्धु ब्राह्मणों का देश है और उससे जीतना असम्भव है। पर मिहिरकुल ने किसी की बात नहीं सुनी और सेना लेकर चल पड़ा। राजा हाल ने देखा कि वह उसका सामना करने में असमर्थ है तो ब्राह्मणों से सलाह ली। उन्होंने मिट्टी का हाथी बनाकर सेना के आगे खड़ा कर देने की सलाह दी। हाथी इस तरह का बनाया गया था कि उससे आग निकल कर मिहिरकुल के अग्रगामी सेना में से बहुतों को झुलस दिया। अन्ततः मिहिरकुल को सन्धि करने पर विवश होना पड़ा। तब उसने अपनी प्रतिज्ञा राजा हाल की मोम की मूर्ति बनवा कर उसका पैर काट कर पूरी की (रेनां, फ्रैगमेण्ट्स अरबेज एत परसान्स, पृ० ४ आदि)।

अकर्मकारिन और भूतल को उद्वेलित करने वाला था। उसने एक दिन अपने मन्त्रियों से पूछा कि पृथ्वी पर कोई ऐसा भी है, जो उसकी अधीनता को स्वीकार नहीं करता। उत्तर मिला कि निर्ग्रन्थों को छोड़ कर और कोई नहीं है। अतः तत्काल उसने राज्यादेश जारी किया कि निर्ग्रन्थों को जैन सम्प्रदाय के धार्मिक लोग प्रतिदिन दोपहर को जो भोजन का पहला अंश दिया करते हैं, उसे कर-स्वरूप में वसूल किया जाय। कल्किराज के इस अत्याचारपूर्ण आदेश के फलस्वरूप निर्ग्रन्थ लोग भूखों मरने लगे। इस दृश्य को एक दैत्य सहन न कर सका। उसने प्रकट होकर अपने वज्र से उसको मार डाला। तदनन्तर कल्किराज अनन्त काल तक रहने और दुःख भोगने के लिए नरक चला गया।[1]

युवान-च्वांग, सांग-युन, कॉस्मास और कल्हण के वृत्तों के प्रकाश में इस अनुश्रुति को देखने से यही निष्कर्ष निकलता है कि कल्कि अथवा कल्किराज अत्याचारी मिहिरकुल का ही नाम था।

कल्किराज अथवा कल्कि के साथ मिहिरकुल की पहचान कर लेने पर जैन अनुश्रुतियों से इस अत्याचारी राजा के समय की भी जानकारी प्राप्त होती है, जो अन्यत्र अप्राप्य है। उनमें मिहिरकुल (कल्कि) के जन्म और मरण की निश्चित तिथि का उल्लेख मिलता है। जैन लेखक गुणभद्र का कहना है कि महावीर के निर्वाण से आरम्भ होकर दुस्समकाल का एक हजार वर्ष बीत जाने पर कल्किराज का जन्म हुआ। नेमिचन्द्र के कथनानुसार, शकराज का जन्म महावीर के निर्वाण के ६०५ वर्ष ५ महीना बीत जाने पर हुआ। और शकराज के जन्म से ३९४ वर्ष ७ महीना बीतने पर कल्किराज का जन्म हुआ। गुणभद्र ने इतनी बात और कही है कि कल्कि के जन्म के समय माघ-संवत्सर था। इन सबका सीधा-सादा अर्थ यह हुआ कि कल्कि का जन्म कार्त्तिक शुक्ल १, शक संवत् ३९४ (गत) को हुआ था और उस समय माघ-संवत्सर था। तदनुसार उसका जन्म ४७२ ई० में ठहरता है।[2]

जैन अनुश्रुतियों के सभी लेखकों का एक स्वर से कहना है कि कल्कि (मिहिरकुल) की मृत्यु ७० वर्ष की अवस्था अर्थात् शक ४६४ (५४२ ई०) में हुई। जिनसेन ने उसका राजकाल ४२ वर्ष बताया और गुणचन्द्र और नेमिचन्द्र केवल ४० ही वर्ष कहते हैं। इस प्रकार इन अनुश्रुतियों के अनुसार मिहिरकुल ५०० या ५०२ ई० में गद्दी पर बैठा था। इस प्रकार इस सूत्र से हमें एक निश्चित तिथि ज्ञात होती है, जिसके आधार पर परवर्ती गुप्त शासकों के काल में घटित घटनाओं का समयांकन बिना किसी कल्पना के सहज किया जा सकता है।

---

१. जिनसेन, हरिवंशपुराण, ६, ४८७-८८; गुणभद्र, उत्तरपुराण, ७६, ३८७-४७७; नेमिचन्द्र, त्रिलोकसार, ८४०-८४६।

२. वही।

४

समाज-वृत्त

राज्य और शासन

राज्य—जन-जीवन को व्यवस्थित करने की दृष्टि से किये जानेवाले शासन की इकाई का नाम 'राज्य' है। राजनीतिज्ञों ने इसकी नाना प्रकार से व्याख्या की है और इसके उद्भव और विकास के सम्बन्ध में अनेक स्थापनाएँ प्रतिपादित की हैं। उन सबकी चर्चा यहाँ अपेक्षित नहीं है। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जिस काल की चर्चा हमारा विषय है उस काल में देश में दो प्रकार की शासन-व्यवस्था प्रचलित थी—(१) लोक-तन्त्र और (२) राजतन्त्र।

लोकतन्त्र—लोकतन्त्र, प्रजातन्त्र, जनतन्त्र आदि नामों से अभिहित शासन-प्रणाली का मूलाधार जनता है। जनता अपने शासन की व्यवस्था अपने-आप करती है और इसके लिए वह स्वयं ही अपना तन्त्र स्थापित करती है। इस तन्त्र का रूप जनता की इच्छा और सुविधा के अनुसार अपना होता है। इस कारण विभिन्न लोकतान्त्रिक राज्यों की शासन-प्रणाली में एकरूपता हो, यह आवश्यक नहीं। प्राचीन काल में लोकतान्त्रिक राज्य **गण** अथवा **जनपद** के नाम से पुकारे जाते थे। कहीं-कहीं उन्हें **संघ** भी कहा गया है। भारत में गण-राज्यों का आरम्भ कब हुआ, यह स्पष्ट रूप से तो नहीं बताया जा सकता, पर ईसा पूर्व छठी शताब्दी में भगवान् बुद्ध के समय उत्तर भारत में अनेक गण-राज्यों के अस्तित्व का प्रचुर उल्लेख मिलता है। पाणिनि ने भी अपने अष्टाध्यायी में गण-राज्यों का विस्तृत उल्लेख किया है। यवन-आक्रामक अलक्सान्दर (सिकन्दर) के भारत-आक्रमण के समय पंजाब में अनेक गण-राज्य थे जिन्होंने उसके प्रवाह को वीरतापूर्वक रोका था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी जन-राज्यों की चर्चा पायी जाती है, किन्तु कदाचित् वे मौर्य-साम्राज्य में अन्तर्भूत हो गये थे। इस कारण उस काल में इनकी विशेष चर्चा नहीं पायी जाती। मौर्य-साम्राज्य के ह्रास के पश्चात् गण-राज्य फिर अस्तित्व में आये और गुप्त-साम्राज्य के उदय के समय तक बने रहे। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में अनेक गण-राज्यों का नामोल्लेख है जो, उनकी साम्राज्य-सीमा पर थे और जिनके साथ उनका मैत्री-भाव था। किन्तु समुद्रगुप्त के पश्चात् गण-राज्यों का कहीं किसी प्रकार का उल्लेख नहीं मिलता। जान पड़ता है द्वितीय चन्द्रगुप्त (विक्रमादित्य) के समय में इनका अस्तित्व सदा के लिए समाप्त हो गया।

समुद्रगुप्त के प्रयाग-प्रशस्ति में मालव, आर्जुनायन, यौधेय, मद्र, आभीर, प्रार्जुन, सनकानिक, काक और खर्परिक नामक जन-राज्यों का उल्लेख मिलता है। इनमें मालव आर्जुनायन और यौधेयों के सिक्के प्राप्त हुए हैं जिससे उनके सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त होती है। अन्य के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता, मालव और यौधेयों ने अपने सिक्कों पर अपने को **गण** कहा है। उनकी शासन-प्रणाली का गुप्त-काल में क्या रूप था यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता पर उससे पूर्ववर्ती

काल में यौधेय लोग अपना शासन अपने इष्टदेव ब्रह्मण्य (कार्तिकेय) के नाम पर किया करते थे। इस काल के अन्य गण-राज्यों के प्रमुख राजा या महाराज की उपाधि धारण करने लगे थे। सम्भवतः ये लोग भी इसी प्रकार की उपाधि धारण करते थे। विजयगढ़ (भरतपुर) से यौधेय का एक खण्डित लेख प्राप्त हुआ है, उसमें महाराज महासेनापति उपाधि का प्रयोग मिलता है।[1] उदयगिरि से प्राप्त एक लेख में एक सनकानिक महाराज का उल्लेख है।[2] इससे अनुमान होता है कि इन गण-राज्यों के प्रधान अपने को राजा अथवा महाराज कहने लगे थे।

राजतन्त्र—प्रजातन्त्र से सर्वथा भिन्न शासन-प्रणाली का नाम राजतन्त्र है। इसमें प्रभुसत्ता के रूप में एक व्यक्ति अपने राज्य के समस्त भूभाग और उसकी सारी जनता पर शासन करता है। उसका आदेश सर्वमान्य होता है। उसका अपने राज्य पर अधिकार या तो पैत्रिक अथवा वंशगत होता अथवा वह अपने शक्ति और बाहुबल से दूसरे के राज्य को छीन कर अपना अधिकार स्थापित करता है। इस प्रकार के राज्यों का उल्लेख संसार में सर्वत्र बहुतायत से मिलता है। भारत में इस ढंग के राज्यों का उल्लेख वैदिक काल से ही प्राप्त है।

साम्राज्य का रूप धारण करने से पूर्व गुप्तों का राज्य भी इसी प्रकार का था। समुद्रगुप्त के प्रयाग-प्रशस्ति में राजतान्त्रिक राज्यों की एक बहुत बड़ी सूची दी हुई है, जो उनके समय में शासक थे और जिन्होंने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली थी अथवा उनके मित्र के रूप में स्वतन्त्र शासक थे, उन सबकी चर्चा अन्यत्र विस्तार से की जा चुकी है।[3]

साम्राज्य—साम्राज्य और साम्राज्यवाद क्या है, इसकी स्पष्ट चर्चा प्राचीन भारत के राजनीति-ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है। अतः इतना ही कहा जा सकता है कि उस समय साम्राज्य के मूल में आज की तरह कोई आर्थिक भावना न थी। आज तो साम्राज्यवादी शक्ति अपने अधीनस्थ राज्यों का अपने हित और लाभ के लिए बिना झिझक दोहन करते हैं; और उनका यह दोहन मुख्यतः आर्थिक दृष्टि से होता है और उनका उपयोग उपनिवेशन, व्यापार और कच्चे माल की उपलब्धि के लिए किया जाता है।

भारतीय इतिहास पर दृष्टि डालने से ऐसा प्रतीत है कि राज्यों के विकास में देश की भौगोलिक स्थिति का बहुत बड़ा प्रभाव रहा है। गहरी नदियाँ, पर्वतों की टेढ़ो-मेढ़ी शृंखलाओं, उजाड़ रेगिस्तानों और दुर्लंध्य वनों के कारण जनता में सीमित प्रदेश की भावना जगी और लोगों ने अपने छोटे-छोटे जनपद बना लिये। स्थानीय स्थिति और आवश्यकताओं के अनुसार उनके अपने राज्य और राजा बन गये और फिर यथासमय उत्तरी भारत के शस्य-श्यामला प्रदेश के शक्तिशाली राजाओं के मन में छोटे-छोटे

---

१. का० इ० इ०, ९, पृ० २५१।

२. वही, पृ० ३१।

३. पीछे, पृ० २५०-२६२।

राज्यों को अपने नियन्त्रण में करने की भावना का उदय हुआ और उन्होंने साम्राज्य के स्थापना की कल्पना की। इस प्रकार विकसित प्राचीन भारतीय साम्राज्यवाद का उद्देश्य दूसरे राज्यों पर अधिकार प्राप्त करना मात्र रहा और उसके मूल में प्रतिष्ठा की भावना ही सर्वोपरि थी। पीछे चल कर उसमें धर्म का प्रवेश हो गया और साम्राज्य की स्थापना एक धार्मिक कर्तव्य माना जाने लगा। यह समझा जाने लगा कि दिग्विजय द्वारा सम्राट् को न केवल लौकिक शक्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त होती है वरन् उससे उसे स्वर्ग में भी स्थान प्राप्त होता है।

प्राचीन भारतीय धर्म-ग्रन्थों में कहा गया है कि सुचरित संयुक्त वीर्य की सुदृढ़ नींव पर स्थिर प्रभुत्व स्थापित हो जाने पर राजा यज्ञ करने का अधिकारी हो जाता है अर्थात् वह स्वर्ग का पद प्राप्त कर सकता है। ब्राह्मणों, मुख्यतः ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण में सम्राट् के लिए राजसूय, वाजपेय और अश्वमेध यज्ञों में से कम-से-कम एक अवश्य करने का विधान है। राजसूय का सम्बन्ध मुख्यतः अभिषेक से था; वाजपेय राज्याभिषेक के पश्चात् किन्तु राज्यारोहण से पहले किया जाता था; और अश्वमेध तत्वतः धार्मिक परिवेश में सम्राट् होने की घोषणा थी।

अश्वमेध-यज्ञ में एक घोड़ा देश-देशान्तर में एक वर्ष तक स्वच्छन्द विचरण के लिए छोड़ दिया जाता था। यह शासकों को एक प्रकार की चुनौती थी। यदि किसी राज्य से घोड़ा बिना किसी छेड़-छाड़ के चला गया तो उसका अर्थ यह था कि उस राज्य के शासक ने अश्व के स्वामी राजा की प्रभुता स्वीकार कर ली। यदि किसी राजा ने घोड़े को पकड़ लिया तो इसका अर्थ यह था कि उसने घोड़े के स्वामी की प्रभुता को चुनौती दी है। ऐसी अवस्था में घोड़े के स्वामी के लिए आवश्यक होता था कि वह चुनौती देनेवाले राजा को पराजित कर अश्व को प्राप्त करे। इस प्रकार अड़ोसी-पड़ोसी राजाओं से प्रभुता की स्वीकृति प्राप्त करने के पश्चात् अश्वमेध-यज्ञ किया जाता था।

इस रूप में भारतीय साम्राज्य राज्यों का एक ढीला-ढाला संघटन मात्र था, जिसका निर्माण सम्राट् की शक्ति के भय से होता था। उसमें ऐसी कोई शक्ति न थी जो राजाओं को किसी प्रकार की स्थायी एकता में बाँधकर रख सके। फलतः जनपदों की अपनी स्वाधीनता की भावना और राजाओं की सम्राटीय अधिकार की आकांक्षा के बीच निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। व्यक्तिविशेष की शक्ति से साम्राज्य का निर्माण होता था और उसकी निर्बलता से वह टूट जाता था। प्राचीन काल में कोई भी ऐसा चक्रवर्ती नहीं हुआ जो अपने साम्राज्य को दीर्घ काल तक अक्षुण्ण रख सका हो। कदाचित् ही कोई साम्राज्य एक या दो पीढ़ी से अधिक टिका हो।

किन्तु जब देश को विदेशी आक्रमणों से खतरा उत्पन्न होने लगा तब लोगों के मन में शक्तिशाली सम्राट् के अन्तर्गत राज्यों की स्थायी सुरक्षा और सार्थक एकता स्थापित करने के भाव उदय हुए। फलस्वरूप जब यवन आक्रामकों ने भारत के द्वार पर धक्का देना आरम्भ किया तब पहली बार वास्तविक साम्राज्य स्थापित हुआ। उस

समय देश की सार्थक एकता का पहला प्रयोग मौर्यों के अधीन किया गया जो एक शताब्दी तक चला। तदनन्तर गंगा-काँठे में साम्राज्यीय एकता की आवश्यकता का अनुभव इस प्रयोग के पाँच सौ वर्षों बाद ही किया जा सका। इस बार शक्तिशाली गुप्तों ने 'दैवपुत्र' कुशाणों का गर्व चूर्ण किया और शक-नरेश को उसके अपने नगर में ही मर्दित किया।

गुप्तों का वर्ण—भारतीय राजनीति के अनुसार बुद्धिमान्, उत्साही तथा वैयक्तिक योग्यता रखनेवाला व्यक्ति ही राज्य का प्रधान हो सकता है। पर इन गुणों के साथ-साथ, उनके मतानुसार उसको उच्च कुलीन भी होना चाहिये। इस प्रकार भारतीय राजनीति में किसी निम्न कुलीन व्यक्ति के राजासन तक पहुँच सकने की कहीं कोई कल्पना नहीं है। उसके अनुसार एकमात्र क्षत्रिय ही शासक हो सकता है। प्राचीन साहित्य में राजन्य और क्षत्रिय समान अर्थी माने गये हैं। किन्तु यह उन दिनों किस सीमा तक व्यावहारिक था, यह कहना कठिन है। हाँ, इतना तो निस्संकोच कहा ही जा सकता है कि परवर्ती काल में मात्र क्षत्रिय ही शासक नहीं थे। शुंग, कण्व, सातवाहन, वाकाटक, कदम्ब और गंग आदि परवर्ती काल के उल्लेखनीय शासक-वंश हैं और इनमें से एक भी क्षत्रिय न था। वे सभी ब्राह्मण थे और उनको क्षत्रिय कहने की कल्पना किसी ने भी नहीं की।

कलियुग में शूद्र शासक होने की बात पुराणों में कही गयी है। शूद्र से उनका तात्पर्य बौद्ध और उदारधर्मी राजाओं अथवा विदेशी शासकों से था, अथवा किसी अन्य से, यह उनमें स्पष्ट नहीं है। मनु और विष्णु स्मृति से भी शूद्र राजाओं के अस्तित्व की सम्भावना जान पड़ती है। उनमें कहा गया है कि स्नातक शूद्र राजाओं के राज्य में कभी न रहे।[1] इससे शूद्र राजाओं के अस्तित्व की सम्भावना प्रकट होती है और जहाँ तक इतिहास की बात है, हम सभी जानते ही हैं कि मगध के महान् साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य जन्मना शूद्र थे। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार वे किसी मयूर-पालक की सन्तान थे। किन्तु मध्यकालीन अभिलेखों में उन्हें सूर्य-वंशी बता कर उनकी महत्ता प्रकट की गयी है। इसी परिप्रेक्ष्य में गुप्त-वंश पर दृष्टिपात करना उचित होगा।

आधुनिक विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टि से गुप्तवंश के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—चारों वर्ण के होने की कल्पना की है।[2] इसकी चर्चा हम अन्यत्र कर चुके हैं। वस्तुतः गुप्त-शासकों ने अपने वर्ण अथवा जाति के सम्बन्ध में अपने अभिलेखों में किसी प्रकार की न तो कोई चर्चा की है और न इस सम्बन्ध में कोई संकेत ही उपस्थित किया है। हाँ, द्वितीय चन्द्रगुप्त की पुत्री, वाकाटक महारानी प्रभावतीगुप्ता के अभिलेखों से इतनी सूचना अवश्य मिलती है कि उनके पिता-कुल का गोत्र धारण था।

---

१. मनुस्मृति ६।६१; विष्णुस्मृति ७१।६४।

२. पीछे, पृ० २२२-२५।

यह एक महत्त्वपूर्ण सूचना है, जिसके आधार पर उनके वर्ण के सम्बन्ध में कुछ कहा जा सकता है। पर इसकी ओर उन लोगों में से किसी ने कोई ध्यान नहीं दिया है जो उन्हें ब्राह्मण या क्षत्रिय समझते हैं। कहना न होगा कि इतिहास के किसी काल में धारण ब्राह्मणों और क्षत्रियों का गोत्र नहीं था और न आज उनमें यह गोत्र पाया जाता है। इससे गुप्तों के ब्राह्मण या क्षात्रिय होने की बात अपने-आप कट जाती है। इसी प्रकार जो लोग गुप्तों के शूद्र होने का अनुमान करते हैं, उन्होंने भी इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि शूद्रों का अपना कोई गोत्र होता ही नहीं: और गुप्तों का अपना गोत्र था। इस कारण उन्हें शूद्र भी कदापि अनुमान नहीं किया जा सकता। फलतः एक मात्र यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गुप्त वैश्य थे।

गुप्त वस्तुतः वैश्य थे यह उनके धारण गोत्र से ही प्रकट होता है। पहले इस बात की चर्चा हो चुकी है कि धारण अग्रवाल वैश्यों का एक जाना-माना गोत्र है;[1] और अग्रवाल वैश्य समाज के अन्तर्गत एक प्रमुख जाति मानी जाती है। उसका उद्भव आग्रेय नामक प्राचीन गण राज्य से हुआ है।[2] लोगों ने इस बात की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है कि धारण जाटों की भी एक उपजाति का नाम है।[3] किन्तु इसकी चर्चा गुप्तों को शूद्र बताने के लिए ही की गयी है; इस कारण लोग इस तथ्य को नजर-अन्दाज कर गये हैं कि जाट परम्परागत कृषक और पशुपालक रहे हैं और स्मृतियों के अनुसार कृषि और पशुपालन वैश्य कर्म कहा गया है। अतः जाट भी वैश्य की परिभाषा के अन्तर्गत ही आते हैं। गुप्तों को अग्रवालों की दृष्टि से देखे या जाटों की, निष्कर्ष एक ही निकलता है कि गुप्त वैश्य थे।

गुप्तों को परवर्ती किन्हीं अभिलेखों में क्षत्रिय कहा गया है, इसका मात्र कारण हमारे ब्राह्मण विचारकों की बुद्धि-चातुरी है। उन दिनों समाज की भावना ही यह थी कि निम्नवर्ण के शासक को क्षत्रिय वर्ण का मान लिया जाय। लोक-मानस में धन की महत्ता सदैव रही है; अतः हो सकता है उन्हें क्षत्रिय मानने के पीछे भी यही भावना काम करती रही हो।

गुप्त-साम्राज्य—गुप्तों का छोटा-सा राज्य जो पूर्वी उत्तर प्रदेश के किसी कोने में स्थित था, प्रथम चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में ३१९ ई० के लगभग साम्राज्य के रूप में विकसित होना आरम्भ हुआ। प्रथम चन्द्रगुप्त के समय में सम्भवतः यह राज्य केवल मगध और उत्तरे प्रदेश में प्रयाग तक ही सीमित था। उनके पुत्र समुद्रगुप्त (३५०-३७५ ई०) के समय में उसने साम्राज्य का समुचित रूप धारण किया। उनके शासन का अन्त होते-होते उसका विस्तार हिमालय से लेकर विन्ध्य तक और गङ्गा के मुहाने से चम्बल नदी तक हो गया था। उनकी प्रभुता दक्षिणापथ के सभी राजों ने तो स्वीकार

---

१. पीछे, पृ० २२३-२२४।

२. ज० न्यू० सो० इ०, ४, पृ० ४९-५४।

३. पीछे, पृ० २२३।

की ही थी। पूर्व के समतट, डवाक और कामरूप के राज्यों, उत्तर में नेपाल और उत्तर-पश्चिम में मालव, आर्जुनायन, यौधेय, मद्र, आभीर आदि गणराज्यों पर भी उनका प्रभुत्व छा गया था। इन राज्यों से आगे के शासक भी उनके मित्र हो गये थे। चन्द्रगुप्त (द्वितीय) (३७५-४१३ ई०) ने बंगाल और उड़ीसा की विजय कर साम्राज्य का पूर्व में विस्तार किया। कदाचित् उनके समय में कश्मीर भी गुप्त-साम्राज्य में अन्तर्भूत हुआ। उनके पुत्र प्रथम कुमारगुप्त (४१५-४५० ? ई०) ने पश्चिमी मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र पर विजय कर पश्चिम की ओर साम्राज्य का विस्तार किया।

विजय और विस्तार के इस सम्पूर्ण काल में गुप्त सम्राट् विजित प्रदेशों पर अपना स्वत्व स्थापित करने और उनका एकीकरण कर साम्राज्य को प्रभावशाली शासनिक इकाई का रूप देने के प्रति उतने अधिक उत्सुक नहीं थे जितना कि वे अपने विजय-अभियानों में प्रदर्शित अजेय पराक्रम द्वारा स्वर्ग में अपने लिए स्थान प्राप्त करने को लालायित थे। उन्होंने बिना किसी दुराव के अपने सिक्कों के छोटे किन्तु सार्थक लेखों में स्पष्ट शब्दों में बारम्बार स्वीकार किया है **पृथिवीं विजित्या दिवं जयति** (पृथिवी को जीत कर स्वर्ग जीतता हूँ)।[१] उन्होंने न केवल यह घोषणा ही की वरन् स्वर्ग प्राप्ति के लिए धर्म-ग्रन्थों में वर्णित सम्राटों द्वारा किये जाने वाले कृत्य भी किये। समुद्रगुप्त और उनके पौत्र प्रथम कुमारगुप्त ने वैदिक कर्मकाण्ड के अनुसार अश्वमेध यज्ञ किये। समुद्रगुप्त को उनके वंशजों ने **चिरोत्सन्न-अश्वमेधहर्तुः** कह कर बड़ी सराहना की है। प्रथम कुमारगुप्त ने दो अश्वमेध किये थे, ऐसा उनके सिक्कों से ज्ञात होता है। द्वितीय चन्द्रगुप्त ने **परमभागवत** होने के कारण, अपने धार्मिक विश्वासों के अनुसार चक्रवर्तिनों के अनुरूप चक्रपुरुष की पूजा की थी और इन अवसरों पर दक्षिणा के रूप में बाँटने के लिए इन सभी सम्राटों ने अपने विशेष प्रकार के सिक्के प्रचलित किये थे।

प्रयाग-प्रशस्ति में वर्णित समुद्रगुप्त-विजय से स्पष्ट झलकता है कि अधिकांश विजित राज्यों की स्वाधीनता बनी थी। उनके सम्राट् की प्रभुता स्वीकार करने का मात्र इतना ही अर्थ था कि वे लोक-व्यवहार के अनुसार उन्हें कर अथवा भेंट देते रहें। सीमान्त के राजाओं का कर्तव्य था कि वे साम्राज्य पर बाहर से होनेवाले आक्रमणों के लिए रोक का काम करें। सहज शब्दों में कहा जा सकता है कि गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्भूत राज्य समूह के भीतर समूह सरीखे थे और वे समस्त स्वतन्त्रता का उपभोग करते थे। उनके आन्तरिक शासन में सम्राट् का किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप न था। वह राज्यों का स्वैच्छिक संघ अथवा ढीला-ढाला संघटन मात्र था।

यह संघ अथवा साम्राज्यीय एकता तभी तक बनी रही जब तक गुप्त शक्तिशाली सम्राट् रहे। जैसे ही वे लोग अपनी शक्ति से पृथिवी पर अर्जित फल का उपभोग करने के लिए स्वर्गाभिमुख हुए संघर्षात्मक शक्तियाँ उभरने लगीं और साम्राज्य के भीतर दरार पड़ने लगी। समुद्रगुप्त के दिवंगत होते ही साम्राज्य की पश्चिमी सीमा खतरे में पड़ गयी

१. पीछे, पृ० ७१ आदि।

थी। चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने उस पर विजय प्राप्त की। किन्तु उनके बाद उस ओर पंजाब और उसके आगे गुप्त-सत्ता का कोई संकेत नहीं मिलता। स्कन्दगुप्त (४५५-४६७ ई०) ने हूणों द्वारा उत्पन्न विपदा टाल कर साम्राज्य की रक्षा अवश्य की पर वे अपने शासन के अन्तिम दिनों में साम्राज्य का विघटन रोक न सके। गुजरात, सौराष्ट्र और पश्चिमी मालवा के सुदूर प्रदेश, जो उनके पिता के काल में ही साम्राज्य में अन्तर्भूत हुए थे, साम्राज्य से अलग हो गये। यह संकुचित साम्राज्य भी बुधगुप्त के काल (४९५ ई०) तक ही रहा। उनके उत्तराधिकारी हूण आक्रमण को रोक न सके। फलस्वरूप गुप्तों के न केवल साम्राज्यीय शक्ति का अन्त हुआ वरन् वे स्वयं सामन्त की स्थिति में पहुँच गये।[1] अब उनके पास राज्य का केवल केन्द्रीय भूभाग और उससे सटे उत्तर प्रदेश, बंगाल और उड़ीसा का अंश रह गया। उनकी यह दयनीय स्थिति अधिक दिनों तक न रही। ५१० ई० के लगभग हूणों को पराजित कर नरसिंहगुप्त पुनः स्वतन्त्रता स्थापित करने में सफल हुए। अपने जीवन-काल में उन्होंने अपने राज्य की शक्ति को कुछ कायम भी रखा; पर उनके उत्तराधिकारी असफल रहे। छठी शताब्दी के मध्य तक धीरे-धीरे अन्य उभरती हुई शक्तियों ने गुप्त-राज्य को आत्मसात् कर लिया।

शासक--भारतीय राजनीति ग्रन्थों में राज्य और साम्राज्य के बीच किसी प्रकार का कोई व्यावहारिक अन्तर नहीं पाया जाता। दोनों ही के प्रधान अथवा शासक इन ग्रन्थों में समान रूप से **स्वामी** कहे गये हैं। कदाचित् नीतिकारों का उद्देश्य राज्य पर शासकों के स्वत्व (अधिकार) पर बल देना रहा है। व्यवहार में शासक के लिए **स्वामी** शब्द का प्रयोग केवल शकों के अभिलेखों में हुआ है। साहित्य में राज्यों के शासक को **राजा** या **नरपति** और साम्राज्य के शासक को **सम्राट्**, **एकराट्**, **चक्रवर्ती** आदि शब्दों से अभिहित किया गया है। किन्तु व्यवहार में इस प्रकार का कोई अन्तर आरम्भिक दिनों में नहीं जान पड़ता। राज्य और साम्राज्य दोनों के शासकों के लिए समान रूप से **राजा** शब्द का प्रयोग पाया जाता है। अशोक जैसे महान् शासक का उल्लेख उनके धर्म-शासनों में **राजा** नाम से हुआ है। सातवाहनों के लिए भी, जो दक्षिण और पश्चिम में काफी बड़े भूभाग के स्वामी थे, **राजा** शब्द का ही प्रयोग मिलता है। पश्चिमी क्षत्रपों का भी अधिकार सौराष्ट्र, गुजरात और मालवा में फैला हुआ था पर वे भी **राजा** ही कहे जाते रहे। दूसरी ओर मथुरा, पंचाल, कौशाम्बी अयोध्या सदृश छोटे राज्यों के शासक भी **राजा** कहे गये हैं। इस प्रकार अधिकार-विस्तार के बावजूद मौर्य और मौर्योत्तर काल में छोटे-बड़े शासकों के बीच व्यावहारिक रूप से कोई अन्तर नहीं पाया जाता।

मौर्योत्तर काल में शासकों के लिए एक नयी उपाधि **महाराज** का प्रयोग आरम्भ हुआ। देखने में यह **राजा** से बड़ा लगता है पर व्यवहार में उसकी **राजा** से किसी

१. पीछे, पृ० १४७।

प्रकार की श्रेष्ठता ज्ञात नहीं होती । **महाराज** उपाधि का प्रयोग कुणिन्दों के सिक्कों पर हुआ है । कौशाम्बी के मघ तथा नाग, भारशिव और वाकाटक वंश के शासक **महाराज** कहे गये हैं पर इन सबका सीमा-विस्तार एवं प्रतिष्ठा एक-सी न थी । वाकाटकों की स्थिति इन सब में बड़ी थी । कतिपय अभिलेखों में भी कुषाण सम्राट् **महाराज** कहे गये हैं। गुप्त वंश के अभिलेखों में भी उस वंश के आरम्भिक शासकों गुप्त और घटोत्कच को **महाराज** कहा गया है । इससे यही प्रतीत होता है कि **राजा** से उच्च **महाराज** की उपाधि का प्रचलन होने पर भी, दोनों के महत्त्व में किसी प्रकार का अन्तर न था । यदि था तो वह परिलक्षित नहीं है ।

गुप्त-काल में प्रथम चन्द्रगुप्त के समय में **महाराजाधिराज** जैसे भारी-भरकम उपाधि का प्रयोग आरम्भ हुआ और निस्सन्देह उसका तात्पर्य सम्राट् से था । इसी अर्थ में उसका प्रयोग गुप्त अभिलेखों में हुआ भी है । तथापि गुप्त-साम्राज्य के उत्कर्ष काल में **राजा** और **महाराज** भी किसी प्रकार निम्न पद का द्योतक नहीं समझा जाता था । सम्राटों के लिए उनका प्रयोग प्रचुर रूप में गुप्त अभिलेखों और सिक्कों में हुआ है । गुप्त-साम्राज्य के उत्तरवर्ती काल में जब साम्राज्य की स्थिति अपकर्ष की ओर थी और गुप्तवंशी सम्राट् मात्र सामान्य शासक की स्थिति में आ रहे थे, राजा और **महाराज** निम्न स्तर का पद समझा जाने लगा । वह सामन्तों और छोटे शासकों का बोधक बन गया । इन दिनों गुप्तों के अधीनस्थ मातृविष्णु अपने को **महाराज** कहते हैं; बुन्देलखण्ड के परिव्राजक और वल्लभी के मैत्रक शासक **महाराज** कहे जाते पाये जाते हैं । यही नहीं, गुप्तों के कुछ उपरिक भी अपने को **महाराज** कहते हैं ।

सामान्यतः ऐसा जान पड़ता है कि गुप्त-काल में सम्राट् के लिए **महाराजाधिराज** पद व्यवहृत होता था । राजा और **महाराज** उपाधि आरम्भ में राजकुमारों के लिए प्रयोग में आती थी; बाद में उसने सामन्तों और उपरिकों की उपाधि का रूप ले लिया । रानियाँ सामान्य रूप से **महादेवी** कही जाती थीं । इनके साथ ही **भट्टारक** और **परम-भट्टारक**, दो अन्य उपाधियाँ थीं, जिनसे इस काल में राज्य के प्रधान उद्बोधित किये जाते थे ।

गुप्तों के शासन काल में शासकों को देवता-तुल्य समझा जाने लगा था । शासकों में देवत्व की यह कल्पना इस देश में शक-शासकों के समय आरम्भ हुई थी पर इस युग में वह अधिक व्यापक रूप में देखने में आती है । गुप्त-सम्राटों की तुलना अभिलेखों में बार-बार यम, वरुण, इन्द्र, कुबेर आदि से की गयी है । जनता के पालन और रक्षण के प्रसंग में उन्हें विष्णु के समान कहा गया है । किन्तु उनका यह देवत्व मात्र आलंकारिक ही था । व्यवहार में न तो इन राजाओं ने अपने को देवता माना और न जनता ने ही उन्हें देवता के रूप में ग्रहण किया । इन राजाओं के देवता मानने का अर्थ केवल उनकी महत्ता प्रकट करना था । देवताओं के सदृश वे कभी दोषमुक्त नहीं माने गये । स्वेच्छा की स्वतन्त्रता उन्हें कभी प्राप्त नहीं हुई ।

देवत्व भावना होते हुए भी, राजा को धर्मशास्त्रों में विहित आदेशों का पालन करना अनिवार्य था। ब्राह्मण लोग ही शास्त्रों के अधिकारी माने जाते थे और उनकी व्याख्या करने का अधिकार उन्हीं को प्राप्त था। इस प्रकार वे राजा के अधिकार पर अंकुश का काम करते रहे होंगे। शासकों के लिए यह आवश्यक था कि वे लोक-व्यवहार का अनुसरण करें। गण, श्रेणी आदि जन-संस्थाओं के हाथ में भी राजा के बहुत कुछ अधिकार बँटे हुए थे। उनके निर्णयों का राजा को न केवल समर्थन ही करना होता था वरन् उसे कार्यान्वित भी करना पड़ता था। साथ ही राजा को अपने सामन्तों के रुख को भी देखकर चलना पड़ता था क्योंकि उनके हाथ में भी काफी अधिकार निहित थे। इस प्रकार गुप्त शासक यद्यपि एक बहुत बड़े साम्राज्य के अधिकारी थे, उनके अधिकार मौर्य सम्राटों की अपेक्षा कहीं अधिक सीमित थे।

रानी—भारतीय शासन में शासक की पत्नी का कोई योग था या नहीं, इस सम्बन्ध में राजनीतिज्ञ प्रायः मौन हैं। किन्तु वैदिक कर्मकाण्ड में अश्वमेध-यज्ञ के समय रानियों का महत्त्वपूर्ण योग माना गया है। इससे धारणा होती है कि दैनिक शासन में भी रानियों का किसी-न-किसी रूप में कुछ योग अवश्य रहा होगा। जहाँ तक गुप्त-वंश की रानियों का सम्बन्ध है, उनके शासन में योग की सहज और स्वाभाविक रूप से कल्पना की जा सकती है। चन्द्रगुप्त (प्रथम), चन्द्रगुप्त (द्वितीय), कुमारगुप्त (प्रथम) तथा स्कन्दगुप्त ने अपने कुछ सिक्कों पर अपनी रानियों का अंकन किया है। इसे मात्र पारिवारिक अथवा दाम्पत्य-जीवन का अंकन नहीं कहा जा सकता। उसका कुछ-न-कुछ सार्वजनिक अभिप्राय अवश्य रहा होगा। चन्द्रगुप्त (प्रथम) के सिक्कों पर कुमारदेवी के अंकन के सम्बन्ध में हमने अन्यत्र कुछ अनुमान करने की चेष्टा की है।[1] पर इस प्रकार का अनुमान अन्य राजाओं की रानियों के सम्बन्ध में कर सकना सम्प्रति सम्भव नहीं है।

पति के जीवन-काल में रानी का शासन में कोई प्रत्यक्ष योग हो या न हो, उसकी अनुपस्थिति में वह अपने अल्प वयस्क पुत्र की संरक्षिका के रूप में राज्य-संचालन की अधिकारिणी मानी जाती थी और वह क्षमतापूर्वक राज्य-संचालन कर सकती थी, यह तो गुप्त-काल में स्पष्ट ही है। चन्द्रगुप्त (द्वितीय) की पुत्री प्रभावतीगुप्ता, जो वाकाटक वंश की रानी थीं, अपने पुत्र दिवाकरसेन की संरक्षिका के रूप में शासन करती रहीं।

उत्तराधिकार—भारतीय राजनीति ग्रन्थों में राजतान्त्रिक शासन वंशगत माना गया हैं। तदनुसार एक ही वंश के व्यक्तियों के एक के बाद एक शासक होने का विधान पाया जाता है। इसके अनुसार शासक का पद पैत्रिक था और पिता के बाद ज्येष्ठ पुत्र ही राज्याधिकारी होता था। पर व्यवहार में सदैव ऐसी बात न थी। शक्ति प्राप्त कर कोई भी व्यक्ति कभी भी राज्याधिकार प्राप्त कर लेता था। मौर्यों को उनके सेनापति पुष्यमित्र ने अपदस्थ कर दिया था। इसी प्रकार शुंग भी कण्वों द्वारा

---

१. पीछे, पृ० २१८-२२९।

अपदस्थ किये गये थे। वंशानुक्रम में भी राज्य तभी तक चलता था जब तक वंश की अपनी पर्याप्त शक्ति हो और दूसरे व्यक्ति शासन पर अधिकार करने का साहस न कर सकते हों। किन्तु इस अवस्था में भी वांशिक उत्तराधिकार का पैत्रिक क्रम भी बहुधा सिद्धान्त मात्र ही होता था। वंश का शक्तिशाली व्यक्ति ही प्रायः शासन का अधिकार प्राप्त करता था। इस बात के प्रचुर उदाहरण भारतीय इतिहास में देखे जा सकते हैं।

गुप्तवंश के सम्बन्ध में राज्य-क्रम पर समुचित ध्यान न देने के कारण लोगों की सामान्य धारणा बन गयी है कि उनका उत्तराधिकार पैत्रिक और अग्रजात्मक था। वस्तुतः तथ्य यह है कि लिच्छवियों के जनतन्त्रात्मक प्रभाव अथवा किसी अन्य कारण से गुप्त-वंश में उत्तराधिकार वंशगत होते हुए भी अग्रजात्मक न था। प्रयाग-प्रशस्ति से ऐसा प्रकट होता है कि सत्तारूढ़ शासक अपने पुत्रों में से जिसे योग्य मानता, समझता था, उसे अपने जीवन-काल में ही अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर देता था। उक्त प्रशस्ति के अनुसार समुद्रगुप्त को उनके पिता ने अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था। इससे उनके भाइयों (तुल्य कुलज) को जलन हुई थी। यदि गुप्त-वंश में पैत्रिक क्रम के साथ ज्येष्ठ पुत्र के उत्तराधिकार की परम्परा होती और समुद्रगुप्त ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण स्वाभाविक रूप से अपने पिता के उत्तराधिकारी होते तो उनके भाइयों में उस प्रकार के जलन की बात उठती ही नहीं, जिसकी चर्चा हरिषेण ने की है। तब किसी को किसी प्रकार की ईर्ष्या का अवसर ही नहीं होता। इसी प्रकार अभिलेखों से यह भी ज्ञात होता है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त को भी उसके पिता समुद्रगुप्त ने परिग्रहण किया था। परिग्रहण का यह क्रम किस सीमा तक गुप्त-वंश में चलता रहा कहना कठिन है।

ऐसा प्रतीत होता है कि परिग्रहण की इस परम्परा के कारण शीघ्र ही गुप्त-कुल में असन्तोष का वातावरण उत्पन्न हुआ और शक्ति को प्रभुता प्राप्त हुई। चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के समुद्रगुप्त द्वारा परिगृहीत होने पर भी उनके बड़े भाई रामगुप्त ने शासन पर बलात् अधिकार कर लिया था। रामगुप्त को मारने के पश्चात् ही चन्द्रगुप्त (द्वितीय) सत्तारूढ़ हो सके। इसी प्रकार हम आगे स्कन्दगुप्त को भी गृह-कलह के पश्चात् ही सत्तारूढ़ होते पाते हैं। तदनन्तर, जैसा कि मंजुश्री-मूलकल्प से प्रकट होता है, गुप्त-वंश में शक्ति ही उत्तराधिकार का मापदण्ड बनी। जो शक्तिशाली हुआ, उसने पूर्वाधिकारी को मार कर सत्ता प्राप्त की। वैयक्तिक शक्ति के आधार पर उत्तराधिकार का निर्णय होता रहा।

राज-धर्म—धर्म-सूत्रों और अर्थशास्त्रों से लेकर परवर्ती सभी ब्राह्मण ग्रन्थों में, वर्ण के आधार पर समाज को व्यवस्थित रखना राज्य का प्रधान कर्तव्य (धर्म) बताया गया है। कौटिल्य के अनुसार राजा धर्म-संस्थापक के रूप में वर्णाश्रम धर्म की रक्षा के लिए है।[1] महाभारत के शान्तिपर्व में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जाति-धर्म

---

१. अर्थशास्त्र, ३।१०।

और वर्ण-धर्म क्षात्रधर्म पर निर्भर करता है।[१] मनु का कहना है कि राज्य की समृद्धि तभी तक होगी जब तक वर्ण में शुद्धता रहेगी। यदि राज्य में प्रजा संकर होगी तो राज्य और प्रजा दोनों का विनाश होगा।[२] वस्तुतः मनु की दृष्टि में राज-कार्य वर्ण के साथ जुटा हुआ था।

पौराणिक विचारधारा के अनुसार वर्ण की उत्पत्ति और राज्य के विकास में घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसमें कहा गया है कि जब लोगों को जीवन-यापन के साधन प्रस्तुत हो गये, तो लोगों को चार वर्णों में बाँट दिया गया। ब्राह्मण पूजा-पाठ के लिए, क्षत्रिय युद्ध के लिए, वैश्य उत्पादन के लिए और शूद्र श्रम के लिए बनाये गये। यह व्यवस्था ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच तो ठीक चलती रही; किन्तु विचारशील औद्योगिक वैश्यों को यह व्यवस्था रुची नहीं। वायु-पुराण में एक जगह कहा गया है कि प्रत्येक वर्ण का कर्म निर्धारित है। पर वे अपना काम नहीं करते और आपस में झगड़ते हैं। इस बात का पता जब ब्रह्मा को लगा तो उन्होंने क्षत्रियों को दण्ड और युद्ध का कार्य सौंपा।[३] इस प्रकार पुराणों का मत है कि राज्य की उत्पत्ति विभिन्न वर्णों के संघर्ष को रोकने के लिए ही हुई है।

पुराणों की इन धारणाओं का उद्‍भव निश्चित ही गुप्त-काल ही में हुआ होगा क्योंकि पुराणों और महाभारत के व्यवस्था सम्बन्धी अंशों ने इसी काल में अपना अन्तिम रूप धारण किया। इसकी पुष्टि पाँचवीं शती में रचित नारदस्मृति के इस कथन से भी होती है कि राजा यदि किसी जाति-धर्म त्यागने वाले को दंडित न करे तो संसार के सारे जीव नष्ट हो जायेंगे।[४] शान्तिपर्व में तो स्पष्ट वर्णाश्रम धर्म की रक्षा को ही राज-धर्म कहा गया है। उसमें राजद्रोही और वर्ण-व्यवस्था को भंग करनेवाले को समान दंड की व्यवस्था है।[५]

यशोधर्मन के मालव संवत् ५८९ (५३२ ई०) के अभिलेख में अभयदत्त के लिए कहा गया है कि वे चारों वर्णों के हित का कार्य करते थे।[६] इसी प्रकार धर्मदोष के सम्बन्ध में कहा गया है कि उन्होंने राज्य को वर्ण-संकर होने से मुक्त रखा।[७] इसी प्रकार परिव्राजक महाराज संक्षोभ के ५२९ ई० वाले अभिलेख में उन्हें **वर्णाश्रमधर्म-स्थापना-निरतन** कहा गया है।[८] इन अभिलेखों से प्रकट होता है कि गुप्त-काल में चातुर्वर्ण की

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व ४१।१-२; ६५।५-६।
२. मनुस्मृति १०।६१; ७।३५; ८।४१।
३. वायुपुराण १।८।१५५-६१।
४. नारदस्मृति १८।१४।
५. महाभारत, शान्तिपर्व, ८६।२१।
६. का० इ० इ०, ३, पृ० १४६, पंक्ति १५-१७।
७. वही, पंक्ति १८-१९।
८. का० इ० इ०, ३, पृ० ११४, पंक्ति १०।

रक्षा न केवल सैद्धान्तिक रूप में राज-धर्म था, वरन् व्यावहारिक रूप में भी शासक उसको मानते थे। पर गुप्त-सम्राटों के अपने अभिलेखों में इस बात की कोई स्पष्ट चर्चा नहीं है।

यदि धर्मशास्त्रों और पुराणों की इन बातों को हम शब्दशः न लें, तो हमारी दृष्टि में उनके कथन का आशय केवल यह है कि शासक इस प्रकार शासन करे कि प्रजा अपने निर्धारित कर्तव्य को समुचित रूप से पालन करे और सामाजिक जीवन में शिष्ट व्यवहार रखे। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने सुरक्षा और शान्ति राज्य का कर्तव्य माना है और इस कर्तव्य का पालन करने में गुप्त सम्राट् पूर्णतः सचेष्ट रहे, यह तत्कालीन अभिलेखों से स्पष्ट ज्ञात होता है।

अमात्य—राज्य हो या साम्राज्य किसी भी शासक के लिए अपने सारे अधिकृत क्षेत्र पर, समस्त प्रजा पर, अकेले शासन और नियन्त्रण करना सम्भव न था और न हो सकता था। इस बात को मनु ने भी स्वीकार किया है।[1] अतः उसके लिए आवश्यक था कि वह अपना शासन अनेक लोगों की सहायता से करे। इस प्रकार के राज-सहायकों को भारतीय राजनीति ग्रन्थों में **अमात्य** कहा गया है। **अमात्य** को हमारे आधुनिक विद्वानों ने **मन्त्री** का पर्याय मान लेने की भूल की है। कौटिल्य ने अपने **अर्थशास्त्र** में **अमात्य** की चर्चा करते हुए स्पष्ट रूप में कहा है कि वह मन्त्रियों से सर्वथा भिन्न था। मन्त्रियों के सम्बन्ध में उनका कहना था कि उसकी संख्या ३–४ से अधिक नहीं होनी चाहिये। इसके विपरीत अमात्यों के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि उनकी संख्या इस बात पर निर्भर करती है कि शासक में उनके नियुक्त करने की कितनी शक्ति है।[2] उनका यह भी कहना था कि समय की आवश्यकता के अनुसार सभी लोग अमात्य नियुक्त किये जा सकते हैं। पर यह बात मन्त्रियों पर लागू नहीं होती।[3]

कौटिल्य ने कृषि की देख-भाल, दुर्ग का निर्माण, देश की सुव्यवस्था, शत्रुओं की रोक-थाम, अपराधियों को दंड, कर की वसूली आदि अमात्यों का कार्य बताया है।[4] अर्थशास्त्र से यह बात भी झलकती है कि अमात्य राज-सेवकों का वह वर्ग था जिसमें से पुरोहित, मन्त्री, समाहर्ता, कोषाध्यक्ष, विभिन्न विभागों के प्रशासक, अन्तःपुर के अधिकारी, दूत, विभिन्न विभागों के अध्यक्ष आदि उच्च वर्ग के अधिकारी लिये जाते थे।[5] इन्हीं बातों का समर्थन जातक कथाओं से भी होता है। उनके अनुसार अमात्य सैकड़ों की संख्या में नियुक्त किये जाते थे और वे गाँव के मुखिया,

१. मनुस्मृति, ७।५५।
२. अर्थशास्त्र, १।१६।
३. वही, १।८६।
४. वही, ८।१।
५. वही, १।९-१०।

क्रय-विक्रय के निरीक्षक, न्यायाधिकारी आदि अनेक प्रकार का कार्य करते थे।[1] इन सारी बातों से यह स्पष्ट है कि अमात्य सामान्य रूप से राजाधिकारियों को कहा जाता था। यही मत कामन्दक का भी है।[2] यदि आज की शब्दावली में हम कहना चाहें तो कह सकते हैं कि प्राचीन काल में अमात्य आधुनिक ब्यूरोक्रेसी (शासन-तन्त्र) का पर्याय था। सम्भवतः आरम्भ में अमात्य शासक के मित्र, साथी और दरबारी होते थे और वे कदाचित् उसके सम्बन्धी भी हुआ करते थे। बाद में चल कर उन लोगों ने राज कर्मचारियों का रूप धारण कर लिया।[3]

कात्यायन स्मृति का कहना है कि अमात्यों की नियुक्ति ब्राह्मणों में से की जानी चाहिये।[4] गुप्त-कालीन अभिलेखों के भी देखने से कुछ ऐसी ही बात प्रतीत होती है। समुद्रगुप्त के सन्धि-विग्रहिक हरिषेण ब्राह्मण थे यह निश्चित नहीं कहा जा सकता; पर द्वितीय चन्द्रगुप्त और प्रथम कुमारगुप्त के मन्त्री ब्राह्मण थे यह करमदण्डा अभिलेखों से निर्विवाद प्रकट होता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के उदयगिरि गुहालेख में भी एक ब्राह्मण अधिकारी का उल्लेख है।[5] साथ ही इस बात की चर्चा अनुचित न होगी कि ४९३-९४ ई० के परिव्राजक महाराज के अभिलेख में उपरिक और दूतक के रूप में सर्वदत्त नामक सद्गृहस्थ का उल्लेख है। उसे स्थापित-सम्राट् कहा गया है।[6] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वह या तो वैश्य रहा होगा या शूद्र। अतः गुप्त-साम्राज्य के अधिकारी भी दूसरे वर्ण के होते रहे हों।

सिद्धान्ततः अधिकारियों की नियुक्ति शासक करता था और इस प्रकार की नियुक्ति के उदाहरण भी मिलते हैं। यथा—अन्तर्वेदी विषय का विषयपति शर्वनाग स्कन्दगुप्त द्वारा परिगृहीत था।[7] इसी प्रकार सुराष्ट्र के गोप्ता पर्णदत्त की नियुक्ति का उल्लेख जूनागढ़ अभिलेख में मिलता है।[8] उसमें इस बात की भी चर्चा है कि राज-अधिकारियों से किन गुणों की अपेक्षा की जाती थी।[9] ये अधिकारी सिद्धान्ततः अपने पद पर तभी तक बने रह सकते थे जब तक शासक चाहे। किन्तु सामान्य रूप से यह बात कितनी व्यावहारिक थी, कहना कठिन है।

अधिकारियों की नियुक्तियों मे वंश और परिवार की ही प्रमुखता देखने में आती है। इस बात के अनेक उदाहरण मिलते हैं कि उपरिक आदि उच्च अधिकारी

१. फिक, सोशल आर्गनाइजेशन ऑव नार्थ-ईस्टर्न इण्डिया, पृ० १४४-१४९।
२. कामन्दकीय नीतिसार, ४।२५-२७।
३. रामशरण शर्मा, आस्पेक्ट्स ऑव पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स, २२। सं०, पृ० ३४।
४. कात्यायन स्मृति, श्लोक ११।
५. का० इ० इ०, पृ० ३६, पंक्ति ३-४।
६. वही, पंक्ति २३-२४।
७. का० इ० इ०, ३, पृ० ७०, पंक्ति ४।
८. वही, पंक्ति ९।
९. वही, पंक्ति ७-८; पीछे, पृ० ३२४।

राज-परिवार के लोग नियुक्त किये गये थे और एक ही परिवार के अनेक लोग राज-पदों पर काम कर रहे थे। मन्त्रियों, उपरिकों, विषयपतियों के वंशानुगत होने के उदाहरण तो प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। मध्य भारत में हम एक ही परिवार की पाँच पीढ़ियों को निरन्तर राजाधिकार भोग करते पाते हैं। उनमें से एक अमात्य, दूसरा अमात्य और भोगिक, तीसरा भोगिक तथा चौथे और पाँचवें को महासंधिविग्रहिक पाते हैं।[१] उसी प्रदेश में भोगिकों की दो-तीन पीढ़ियों तक बने रहने के भी अनेक उदाहरण हैं।[२] हाँ, यह बात अवश्य है कि ये लोग गुप्त सम्राटों के अधीन न होकर उनके सामन्तों के अधीन थे। किन्तु गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत भी इस प्रकार के उदाहरणों का अभाव नहीं है। करमदण्डा अभिलेख से पिता-पुत्र दोनों के गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत मन्त्री-कुमारामात्य होने की बात ज्ञात होती है।[३] पर्णदत्त और चक्रपालित पिता और पुत्र दोनों ही स्कन्दगुप्त के अन्तर्गत अधिकारी थे। इसी प्रकार पुण्ड्रवर्धन भुक्ति के दत्त नामान्त उपरिकों की सूची से ऐसा प्रकट होता है कि वे लोग भी एक ही कुल के थे।[४] जान ऐसा पड़ता है कि एक बार नियुक्ति के पश्चात् उसके वंशधर अपनी स्थानीय शक्ति और प्रभाव के बल पर उस पर निरन्तर बने रहते थे।

एक दूसरी बात जो गुप्त-काल में विशेष रूप से परिलक्षित होती है वह यह है कि एक ही व्यक्ति कई-कई पदों पर काम करता था। इसका सबसे महत्त्व का उदाहरण हरिषेण का है जो कुमारामात्य, सन्धिविग्रहिक होने के साथ ही महादण्डनायक भी था।[५] किसी अधिकारी को एक से अधिक पद देने के पीछे दो ही कारण हो सकते हैं। एक तो विश्वस्त व्यक्तियों का अभाव; दूसरे वेतन-व्यय में मितव्ययिता।[६] इनमें से किस कारण से गुप्त सम्राट् प्रभावित थे, कहना कठिन है।

गुप्त-साम्राज्य में अधिकारियों को किस प्रकार वेतन दिया जाता था, इसकी कोई निश्चित कल्पना कर सकना सम्भव नहीं है। असंख्य सुवर्ण मुद्राओं का अस्तित्व और उनका भूमि-क्रय में प्रयोग का अभिलेखों में उल्लेख तथा कर के प्रसंग में हिरण्य के उल्लेख से अनुमान किया जा सकता है कि अधिकारियों को वेतन नकद दिया जाता रहा होगा। फाह्यान के वृत्त का लेगे ने जो अनुवाद प्रस्तुत किया है,

---

१. का० इ० इ०, ३, पृ० १०४, पं० २८-३०; पृ० १०८, पंक्ति १८-२०।

२. वही, पृ०१२३, पंक्ति २१-२२; पृ०११९, पंक्ति २२-२३।

३. ए० इ०, १०, पृ० ७१, पंक्ति ६-७।

४. ए० इ०, १५, पृ० १३०, पंक्ति ३; पृ० १३५, पंक्ति २; पृ०१३८, पंक्ति २।

५. पीछे, पृ० ७, पंक्ति ३२।

६. ब्रिटिश शासन काल में भारत में जो देशी रियासतें थीं, उनमें से अनेक में एक ही व्यक्ति एक से अधिक पदों पर काम करता था। इस ग्रन्थ के लेखक के एक मित्र पटौदी रियासत में अधिकारी थे और वे एक साथ ही तीन पदों पर काम करते थे। उनके पद थे—(१) दीवान के निजी सचिव, (२) मण्डी अधिकारी, (३) आयकर अधिकारी। उन्हें दूसरे और तीसरे पदों पर काम करने के लिए केवल भत्ता मिलता था।

उससे ज्ञात होता है कि शासक के अंग-रक्षक और कर्मचारियों को नियमित वेतन मिलता था।[१] किन्तु बील ने इस अंश का अनुवाद सर्वथा भिन्न किया है। उनके अनुसार "राजा के मुख्य अधिकारियों के लिए आय (रेवेन्यू) निश्चित थी।"[२] अभी हाल में एक चीनी विद्वान् ने इसका अनुवाद किया है "राजा के अंगरक्षक, कर्मचारी और सेवक सभी को इमालुमेण्ट और पेंशन मिलता था।"[३] यदि इस अन्तिम अनुवाद को स्वीकार किया जाय तो ऐसा अनुमान होता है कि **इमालुमेण्ट** शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थ में हुआ है और उसमें खिराज भी सम्मिलित है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि गुप्त साम्राज्य के अमात्यों को वेतन नकद और खिराज दोनों रूपों में दिया जाता था।[४]

कुमारामात्य—गुप्त अभिलेखों और मुहरों में **अमात्य** की अपेक्षा **कुमारामात्य** शब्द का व्यवहार प्रमुख रूप से हुआ है। लोगों ने इसकी व्याख्या दो प्रकार से की है। इसका एक अर्थ किया गया है—**युवावस्था से ही पदासीन अमात्य**।[५] इस व्याख्या का समर्थन संस्कृत कोषों में मिलने वाले **कुमाराध्यापक** शब्द को सामने रख कर किया जा सकता है।[६] दूसरी व्याख्या अनेक लोगों ने **युवराज के अमात्य** के रूप में की है।[७] इस व्याख्या की सार्थकता नासिक के सातवाहन अभिलेख[८] में प्रयुक्त **रायामाच** (राज्यामात्य) को दृष्टिगत रखने पर प्रतीत होती है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से दोनों ही व्याख्याएँ अपनी जगह ठीक हैं। पर प्रशासनिक दृष्टि को सामने रखने पर पहली व्याख्या की कोई सार्थकता प्रतीत नहीं होती और दूसरी व्याख्या गुप्त कालीन अभिलेखों में किये गये प्रयोगों को देख कर निरर्थक जान पड़ती है। इसको समुचित

---

१. ए रेकर्ड ऑव बुद्धिस्टिक किंगडम, पृ० ४५।

२. ट्रेवल्स ऑव फाह्यान, पृ० ५५।

३. हो चाँग-चुन, फाह्यान्स पिलग्रिमेज टु बुद्धिस्ट कण्ट्रीज, चाइनीज लिटरेचर, १९६५, न० ३७, पृ० १५४।

४. रामशरण शर्मा, आस्पेक्ट्स ऑव पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स, २रा सं०, पृ० २४०।

५. युवावस्था अर्थात् सेवाकाल आरम्भ करने से ही अमात्य (अल्तेकर, स्टेट ऐण्ड गवर्नमेण्ट इन ऐन्शियण्ट इण्डिया, पृ० ३३९) कैडेट-मिनिस्टर, प्रशिक्षण प्राप्त करने वाला मन्त्री (रायचौधुरी, प्रो० हि० ऐ० इ०, ४था संस्करण, पृ० ५६२): बचपन से ही राज-सेवा करनेवाला (ब्लाख, ए० इ०, १० पृ० ५०)।

६. मोनियर विलियम्स, संस्कृत कोष।

७. मिनिस्टर इन-चार्ज ऑव प्रिन्स (सी० वी० वैद्य, मिडिवल हिस्ट्री ऑव इण्डिया, १, पृ० ११८); काउन्सिलर ऑव द क्राउन-प्रिन्स (फ्लीट, का० इ० इ०, ३, पृ० १६०): प्रिन्सेस मिनिस्टर (ब्लाख, अ० स० ई०, ऐ० रि०, १९०३-०४): मिनिस्टर ऑव द प्रिन्स वाइसराय (बेणी प्रसाद, स्टेट इन एन्शियण्ट इण्डिया, पृ० २९६); दि प्रिन्सेस ऑर द एयर-अपरैण्ट्स मिनिस्टर (हीरानन्द शास्त्री, नालन्द एण्ड इट्स एपिग्रेफिक मैटिरियल, पृ० ३५) आदि।

८. ए० इ०, ८, सं० १९। इसमें एक रायामाच की पुत्री के दान देने का उल्लेख है।

रूप से समझने के लिए आवश्यक है कि उन अभिलेखों और मुहरों पर विचार किया जाय, जिनमें इस शब्द का प्रयोग हुआ है अस्तु,

१. समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में प्रशस्तिकार हरिषेण ने अपने को **सन्धिविग्रहिक-कुमारामात्य-दण्डनायक** कहा है ।[१]

२. कुमारगुप्त के करमदण्डा अभिलेख में दानदाता पृथिवीशेण ने अपने को तथा अपने पिता शिखरस्वामिन को **मंत्रि-कुमारामात्य** कहा है तथा यह भी कहा है कि वह पीछे **महाबलाकृत** पद पर आसीन हुए थे ।[२]

३. कुमारगुप्त (प्रथम) के दामोदरपुर शासन नं० १ और २ में कहा गया है कि कुमारगुप्त (प्रथम) के शासन काल में पुण्ड्रवर्धन भुक्ति के अन्तर्गत कोटिवर्ष विषय का प्रशासन **कुमारामात्य वेत्रवर्मन** करते थे ।[३]

४. बसाढ़ (वैशाली) से प्राप्त मिट्टी की छः मुहरों **तिर-कुमारामात्याधिकरणस्य** अंकित है ।[४]

५. बसाढ़ से ही मिली एक अन्य मुहर पर, जिसकी लिपि ४थी-५वीं शताब्दी की है, **वैशालीनाम-कुण्डे कुमारामात्याधिकरणस्य** अंकित है ।[५]

६. नालन्द से मिट्टी की दो मुहरें प्राप्त हुई हैं जिनमें से एक पर **मगध-भुक्तौ कुमारामात्याधिकरणस्य** और दूसरे पर **नगर-भुक्तौ कुमारामात्याधिकरणस्य** अंकित है ।[६]

७. मीटा से प्राप्त मिट्टी की एक मुहर पर **महाश्वपति-महादण्डनायक विष्णुरक्षित पादानुध्यात कुमारामात्याधिकरणस्य** अंकित मिलता है ।[७]

८. बसाढ़ से मिली तीन मुहरों पर **युवराजपादीय कुमारामात्याधिकरणस्य** और दो पर **युवराज-भट्टारक-पादीय-कुमारामात्याधिकरणस्य** तथा एक पर **श्री श्री-परम भट्टारक पादीय-कुमारामात्याधिकरणस्य** अंकित है ।[८]

९. अमौना (गया) से प्राप्त गुप्त संवत् २३२ के अभिलेख में नन्दन ने अपने को **देवगुरु पादानुध्यात कुमारामात्य** कहा है ।[९]

१०. सातवीं शती के पूर्वी बंगाल से प्राप्त लोकनाथ नामक शासक के ताम्र

---

१. पीछे, पृ० ७, पंक्ति ३२ ।
२. ए० इ०, १०, पृ० ७१; पंक्ति ६-७ ।
३. ए० इ०, १५, पृ० १३०, पंक्ति ४; पृ० १३३, पंक्ति ३ ।
४. आ० स० इ०, ए० रि०, १९०३-४, पृ० १०९, मुहर २२ ।
५. आ० स० इ०, ए० रि०, १९१३-१४, पृ० १०४, मुहर ३०० ।
६. नालन्द एण्ड इट्स एपीग्रेफिक मैटेरियल्स, पृ० ५१-५३ ।
७. आ० स० इ०, ए० रि०, १९११-१२, पृ० ५२ ।
८. वही, १९०३-०४, पृ० १०७-१०८ ।
९. ए० इ०, १०, पृ० ४९ ।

शासन की मुहर पर गुप्तकालीन लिपि में **कुमारामात्याधिकरणस्य** तथा उसके नीचे सातवीं शती की लिपि में **छांकनाथस्य** अंकित है।[1]

उपर्युक्त अवतरणों को देखने से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त के सन्धिविग्रहिक हरिषेण, चन्द्रगुप्त द्वितीय के मन्त्री शिखरस्वामी, कुमारगुप्त के मन्त्री पृथिवीषेण **कुमारामात्य** थे। ये इस बात के स्पष्ट द्योतक हैं कि इस उपाधि का प्रयोग ऐसे अधिकारी करते थे जिनका सम्बन्ध युवराज अथवा राजकुमार से न होकर सीधे सम्राट् से था। इसी प्रकार दामोदरपुर के ताम्रशासन से ज्ञात होता है कि कुमारगुप्त के शासन काल में कोटिवर्ष विषय का अधिकारी वेत्रवर्मन कुमारामात्य था। वह पुण्ड्रवर्धन भुक्ति के उपरिक के अधीन था जो निश्चित रूप से कोई राजकुमार या युवराज न था। यह भी इस बात का द्योतक है कि **कुमारामात्य** का कुमार से कोई सम्बन्ध न था। बसाढ़ और नालन्द से मिली मुहरों से प्रकट होता है कि भुक्तियों में **कुमारामात्य** का अपना अधिकरण होता था। इस प्रकार के अधिकरण तिर, वैशाली, मगध और नगर नामक भुक्तियों में थे। ये भी कुमारों के साथ कुमारामात्य का सम्बन्ध व्यक्त नहीं करते।

ऊपर आठवें अनुच्छेद में उल्लिखित बसाढ़ (वैशाली) से मिली मुहरों के आधार पर राखालदास बनर्जी ने यह स्थापना प्रस्तुत की है कि **कुमारामात्य** तीन स्तर के होते थे। कुछ **कुमारामात्य** पद में राजकुमारों के समान माने जाते थे, कुछ का स्थान उत्तराधिकार युवराज के समान था और कुछ स्वयं सम्राट् के समकक्ष माने जाते थे।[2] उनकी यह स्थापना दो बातों पर आधारित है। एक तो यह कि **पाद** का अर्थ एक वचन में **समान** होता है और दूसरे यह कि **युवराज-भट्टारक** का तात्पर्य **उत्तराधिकारी युवराज** से है जो आयु में छोटे अन्य युवराजों से भिन्न होता था। किन्तु जैसा कि घोषाल (यू० एन०) ने इंगित किया है[3] बहुवचन में **पादाः** व्यक्तियों के नाम और उपाधियों के अन्त में प्रयुक्त होने वाला सुप्रसिद्ध पद है। फिर बनर्जी ने ऐसा कोई उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया है जिससे यह ज्ञात हो कि **पाद** का **कल्प** के अर्थ में प्रयोग होता हो। फिर उसका अर्थ **उससे कुछ कम होता है** न कि **समान**। किन्तु यदि थोड़ी देर के लिए हम यह मान भी लें कि **पाद** का वही अर्थ है जो बनर्जी कहते हैं तब भी **युवराजपादीय कुमारामात्याधिकरण** का अर्थ कदापि **युवराज के समान कुमारामात्य** नहीं होगा। **इस** परिसर्ग का प्रयोग सम्बन्ध बोध के लिए किया जाता है। अतः **युवराजपादीय कुमारामात्य** का समुचित अर्थ होगा **युवराज के अंतर्गत काम करनेवाला कुमारामात्य**। तीसरी बात यह कि **युवराज** और **युवराज-भट्टारक** में किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं किया जा सकता। **युवराज** का अर्थ ही **राज्य का उत्तराधिकारी राजकुमार** होता है। **युवराज** के साथ **भट्टारक** का प्रयोग पद का आदर बोधक मात्र है।

---

१. वही, १५, पृ० १९।

२. एज ऑव द इम्पीरियल गुप्ताज, पृ० ७३-७४।

३. स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ४५०।

अन्ततः बनर्जी की यह धारणा कि कुछ **कुमारामात्य** स्वयं सम्राट् के समकक्ष थे, अपने-आप में उनकी स्थापना की निरर्थकता प्रकट करने लिए पर्याप्त है। उन्होंने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि किसी अधिकारी की सम्राट् के साथ इस प्रकार की बराबरी न तो प्राचीन काल में जान पड़ती और न अर्वाचीन काल में। निष्कर्ष यह कि **कुमारामात्य** के बीच किसी प्रकार के क्रमिक स्तर की कल्पना नहीं की जा सकती है।

इसका स्पष्टीकरण वैशाली से प्राप्त एक दूसरी मुहर से होता है जिस पर **श्री युवराज भट्टारकपादीय बलाधिकरणस्य** अंकित है।[1] इस मुहर के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि बलाधिकृत का पद युवराज के समान था। उसका सीधा-सादा तात्पर्य यही होगा कि वह बलाधिकृत युवराज से सम्बद्ध था। अस्तु, उपर्युक्त अवतरणों में **कुमारामात्य अधिकरणों** का तात्पर्य केवल इतना ही है कि वे युवराज अथवा सम्राट् से सम्बद्ध थे।

दीक्षितार (वी० र० रा०) ने इस सम्बन्ध में **कुमारामात्याधिकरण** के मुहरों पर अंकित गज-लक्ष्मी के चित्र की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। इन मुहरों पर कमलदल के बीच खड़ी लक्ष्मी का अंकन है और उनके दोनों ओर नीचे दो कुब्जक हाथ में घट लिये हुए उनमें से सिक्के उडेल रहे हैं और ऊपर दोनों ओर गजों का अंकन है। दीक्षितार का कहना है[2] कि इन मुहरों पर अंकित लक्ष्मी, गज और सिक्के उड़ेलते हुए कुब्जक, गुप्त सम्राटों के धन-वैभव के प्रतीक हैं; इस प्रकार वे इस बात के द्योतक हैं कि कुमारामात्य का पद केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत राजकोष से सम्बन्धित था। वे सम्भवतः राजकोष तथा युवराज और अन्य राजकुमारों की वैयक्तिक सम्पत्ति की देख-रेख करते थे। निष्कर्ष यह कि उनकी धारणा के अनुसार कुमारामात्य कोषाधिकारी थे और उनका कर्तव्य धन की वृद्धि करना और देश की समृद्धि के लिए राज्य, राजा और राजकुमारों की संपत्ति का संरक्षण करना था। दीक्षितार की यह कल्पना अपने-आप में मनोरंजक अवश्य है पर उसमें तथ्य कितना है, कहना कठिन है। लक्ष्मी के इस अंकन मात्र से कुछ नहीं कहा जा सकता।

अभिलेखों से कहीं ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि कुमारामात्यों का सम्बन्ध कोष से था। वे केन्द्रीय और स्थानीय शासन के अनेक छोटे-बड़े पदों पर आसीन पाये जाते हैं। अतः घोषाल के मतानुसार कुमारामात्य अधिकारियों का एक वर्ग विशेष था, जिसमें से गुप्त साम्राज्य के केन्द्रीय और स्थानीय अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। उनकी यह भी धारणा है कि इनका पद मन्त्रियों से भिन्न और नीचे था।[3] यह बात सम्भवतः उन्होंने करमदण्डा अभिलेख में मन्त्रि-कुमारामात्य उल्लेख के आधार पर कही है। पर इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य यह है कि उसी अभिलेख में यह भी कहा गया है मन्त्रि-

---

१. आ० स० इ०, ए० रि०, १९१३-१४, पृ० १०८, मुहर १२।

२. गुप्त पालिटी, पृ० १५७।

३. स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ४५०।

कुमारामात्य पृथिवीषेण पीछे चल कर महाबलाधिकृत बने। इससे भाव यह निकलता है कि महाबलाधिकृत का पद मंत्रि-कुमारमात्य से ऊँचा था; पर महाबलाधिकृत का पद मंत्री से किसी प्रकार ऊँचा नहीं कहा जा सकता। इसलिए घोषाल के मत को विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

रमेशचन्द्र मजूमदार और राधागोविन्द बसाक की धारणा रही है कि कुमारामात्य ऐसे अधिकारियों का वर्ग था जो उच्च पदों के लिए वंशानुगत अधिकारी थे (वन हू हैज हेरेडिटेरी राइट टु दि आफिस आफ स्टेट) और उनमें से कुछ युवराज और सम्राट् के अधीन काम करते थे।[1] इन लोगों ने यह निष्कर्ष करमदण्डा अभिलेख के आधार पर निकाला है जिसमें पिता और पुत्र दोनों ही कुमारामात्य कहे गये हैं। किन्तु अकेले इस उदाहरण से कोई निष्कर्ष निकालना उचित न होगा, क्योंकि हम यह भी जानते हैं कि हरिषेण समुद्रगुप्त के अधीन कुमारामात्य थे और साथ ही उनके पिता भी समुद्रगुप्त की सेवा में थे पर वे कुमारामात्य नहीं थे। इस प्रकार कुमारामात्य पद अथवा सेवा-वर्ग (कैडर) के वंशानुगत होने जैसी बात परिलक्षित नहीं होती।

अल्तेकर (अ० स०)[2] ने समुचित ही अनुमान किया है कि कुमारामात्य उच्च कोटि के राजकर्मचारी थे जिनकी तुलना अपने समय के आई० सी० एस० और आई० ए० एस० से की जा सकती है। इस वर्ग से केन्द्रीय तथा स्थानीय शासन के लिए अधिकारियों का निर्वाचन होता था। हमारी दृष्टि में यह कहना अधिक समीचीन होगा कि गुप्तशासन की ब्यूरोक्रेसी (शासन-तन्त्र) का ही नाम कुमारामात्य था। सम्भवतः वह अमात्य से ऊँचा वर्ग था। यह भी सम्भव है कि जिस प्रकार गुप्त साम्राज्य में अनेक उपाधियों को भारी रकम नाम दिया गया था, उसी प्रकार इस शासनतन्त्र को भी एक बड़ा नाम दे दिया गया हो।

सभा—प्रयाग प्रशस्ति में एक विचारणीय शब्द सभा का प्रयोग हुआ है। यह सम्भवतः लोक सभा थी जिनमें जनता के प्रतिनिधि उपस्थित होते थे। उनमें कुछ उच्च अधिकारी भी पदेन उपस्थित होते रहे होंगे। गुप्त-शासन व्यवस्था में ग्राम से आरम्भ कर प्रत्येक पग पर लोक-प्रतिनिधियों की परिषद् देखने में आती है, इससे इस बात का अनुमान किया जा सकता है कि सर्वोच्च स्तर पर भी लोक-प्रतिनिधियों की सभा रही होगी।

इस सभा का वास्तविक कार्य क्या था, सम्प्रति अनुमान नहीं किया जा सकता। किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि शासन के उत्तराधिकारी के मनोनयन पर वह अपनी स्वीकृति प्रदान करती थी। यह अनुमान चन्द्रगुप्त (प्रथम) द्वारा सभा के बीच चन्द्रगुप्त के उत्तराधिकारी होने की घोषणा से होता है।

---

१. हिस्ट्री ऑव बंगाल १, पृ० २८४।

२. स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एन्शियण्ट इण्डिया, पृ० ३३९।

मन्त्रि-परिषद्—प्राचीन भारतीय राजनीति ग्रन्थों में इस बात का निरन्तर उल्लेख हुआ है कि राज्य के प्रधान को (चाहे वह किसी छोटे-मोटे राज्य का राजा हो या किसी बड़े साम्राज्य का सम्राट्) चाहिये कि वह अपने राज्य का शासन **मन्त्री**, **सचिव** अथवा **अमात्य** की सहायता से करे। हमारे आधुनिक विद्वानों ने बिना समुचित रूप से विचार किये ही यह मान लिया है कि इन शब्दों का तात्पर्य समान रूप से **मन्त्र देने वाले मन्त्री** से है। किन्तु पहले इस बात पर विचार किया जा चुका है कि **अमात्य** का तात्पर्य शासन-तन्त्र अर्थात् राज-कर्मचारियों से था। **मन्त्री** और **अमात्य** का अन्तर कामन्दक ने अपने नीतिसार में स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है। उसमें कहा गया है कि राजा अपनी राजधानी में रहते हुए अपने मन्त्रियों और अमात्यों के सहयोग से राज-हित का चिन्तन करे।[1] **अमात्य** को ही **सचिव** भी कहते थे यह बात रुद्रदामन के अभिलेख से प्रकट होती है जिसमें **अमात्य** के साथ-साथ **मति-सचिव** और **कर्मसचिव** का उल्लेख है।[2] कामन्दक ने **अमात्य** और **सचिव** की योग्यता की चर्चा करते हुए दोनों में किसी प्रकार का भेद नहीं किया है,[3] इससे भी जान पड़ता है कि दोनों एक ही थे। इससे स्पष्ट है कि **मन्त्री**, **अमात्य** और **सचिव** से भिन्न होते थे। सम्भवतः मन्त्री लोगों की नियुक्ति **अमात्यों** और **सचिवों** में से ही किया जाता था; किन्तु सभी उस पद के अधिकारी न होते रहे होंगे। इस अन्तर का लोगों ने अनुभव नहीं किया है जिसके कारण उन्होंने मन्त्रियों द्वारा ऐसे कार्यों के किये जाने की चर्चा की है जो उनके कदापि न थे।

मन्त्रियों का मुख्य कर्तव्य राजा को मन्त्रणा देना और मन्त्र की रक्षा करना था। उन्हें गूढ़ विषयों के विभिन्न पहलुओं पर विचार करना, किसी ज्ञात विषय पर समुचित निर्णय पर पहुँचना, यदि किसी विषय पर कोई सन्देह उत्पन्न हो तो उसको दूर करना, और ऐसे विषयों के जिसकी पूरी जानकारी न हो, तह तक पहुँचना होता था।[4] इस कारण ऐसे ही लोग मन्त्री हो सकते थे जो संभ्रान्त कुल के, सदाचारी, वीर, विद्वान्, निष्ठ और राजनीति के ज्ञाता हों। उनमें कुछ अन्य बातों का भी होना आवश्यक था। चतुर, सत्यवादी, कूटनीतिज्ञ, राज्य के भीतर का ऐसा निवासी, जो आकर्षक व्यक्तित्व और स्वस्थ शरीर वाला, सच्चरित्र, मेधावी और उत्साही हो तथा अच्छी पकड़ वाला हो, मन्त्री के उपयुक्त समझा जाता था। उसके लिए यह भी आवश्यक था कि वह समय पर काम आने वाला हो, शत्रु तक पहुँच सकता हो और समस्त प्राकृतिक आपदाओं को सह सकता हो।[5]

---

१. नीतिसार, ८।१।

२. ए० इ०, ८, पृ० ४२, पंक्ति १७।

३. नीतिसार, ४।२५-२७; ३४।

४. वही, १२।१०।

५. वही, ४।२४-३०

ऐसा प्रतीत होता है कि छोटे राज्यों में एक ही दो मन्त्री होते थे; बड़े राज्यों में मन्त्रि-परिषद् होती थी। करमदण्डा अभिलेख से ज्ञात होता है कि गुप्त शासकों के मन्त्री थे।[1] कुछ लोगों ने प्रथम कुमारगुप्त के बिलसड अभिलेख (४१५-४१६ ई०) में मन्त्रि-परिषद् के उल्लेख की परिकल्पना की है। उक्त लेख में कहा गया है कि ध्रुवशर्मण नामक व्यक्ति को परिषद् ने सम्मानित किया था (**पार्षदा मानितेन**)।[2] उनकी धारणा है कि यहाँ परिषद् से तात्पर्य मन्त्रि-परिषद् से है। किन्तु यह सम्भव नहीं है। भारतीय परम्परा में मात्र राजा ही विद्वानों को सम्मानित करता था, मन्त्रि-परिषद् नहीं। यदि किसी परिषद् ने ध्रुवशर्मण को सम्मानित किया था तो वह विद्वत्परिषद् ही हो सकती है। इस प्रकार किसी गुप्त अभिलेख में मन्त्रि-परिषद् की चर्चा उपलब्ध नहीं है। किन्तु इसका अर्थ कदापि नहीं है कि उनका मन्त्रि-परिषद् रहा ही न होगा। कामन्दक ने अपने नीतिसार में **मन्त्रिमण्डल** का उल्लेख किया है[3] और **मन्त्रि-परिषद्** का उल्लेख कालिदास की रचनाओं में प्रायः मिलता है।[4] इससे सहज अनुमान किया जा सकता है कि गुप्त-शासनतन्त्र में मन्त्रि-परिषद् था।

इस मन्त्रि-परिषद् का संघटन किस प्रकार होता था, कहा नहीं जा सकता। अर्थशास्त्र में राजा के तीन या अधिक मन्त्रियों से मन्त्रणा करने की बात कही गयी है।[5] महाभारत के शान्तिपर्व में मन्त्रियों की संख्या आठ बतायी गयी है।[6] किन्तु, कामन्दक जो गुप्त कालीन मन्त्रि-परिषद् के संघटन पर प्रकाश डाल सकता था, इस विषय पर मौन है। उससे मात्र इतनी सूचना मिलती है कि मन्त्रिमण्डल में एक पुरोहित भी होता था।[7] मुद्राराक्षस नाटक से इतनी जानकारी और मिलती है कि मन्त्रियों में एक **मन्त्रि-मुख्य** होता था।[8] सम्भवतः वह परिषद् में अध्यक्ष का आसन ग्रहण करता था।

मन्त्रियों के लिए आवश्यक था कि वे परिषद् में हुए विमर्श और निर्णय को गुप्त रखें। स्वयं मन्त्री नशे अथवा क्रोध में बात उगल सकते थे अथवा सोते में बर्रा सकते थे अथवा अनजान भाव में अपने विश्वस्त से कह सकते थे। इसलिए उनकी नियुक्ति में विशेष सतर्कता बरती जाती थी और ऐसे ही लोग नियुक्त किये जाते थे जो दृढ़ चरित्र हों और गोपनीयता की शपथ लें। फिर भी पूर्ण गोपनीयता रखने की दृष्टि से इस बात की सावधानी बरती जाती थी कि बैठक ऐसी जगह की जाय जहाँ मनुष्य

---

१. ए० इ०, १०, पृ० ७१, पंक्ति ६-७।
२. का० इ० इ०, ३, पृ० ४३, पंक्ति ९।
३. नीतिसार, १२।४८।
४. मालविकाग्निमित्र, अंक १।
५. अर्थशास्त्र १. १५।
६. महाभारत, शान्तिपर्व, ८५।७-१०।
७. नीतिसार, ४।३१।
८. मुद्राराक्षस, अंक २।

ही नहीं पशु-पक्षी भी पहुँच न सकें ।[1] सामान्यतः मन्त्रिमण्डल की बैठकें राजमहल के सबसे ऊपरी हिस्से में हुआ करती थीं।

कालिदास कृत मालविकाग्निमित्र के एक अंश से ज्ञात होता है कि राजा जिस बात को मन्त्रि-परिषद् के सम्मुख रखना चाहता था वही बात उसके सम्मुख रखी जाती थी। परिषद् उस पर विचार करती और फिर अपना विमर्शित मत अमात्य के माध्यम से राजा को सूचित कर देती। अमात्य के लिए आवश्यक न था कि वह परिषद् के मत को स्वयं राजा तक पहुँचाए। वह सामान्यतः कंचुकी के माध्यम से राजा को सूचित किया करता था। अत्यन्त गोपनीय मत ही अमात्य द्वारा स्वयं राजा को सूचित किये जाते थे। राजा मन्त्रियों द्वारा दिये गये परामर्श पर विचार कर अन्तिम निर्णय लेता था।[2]

इस प्रकार मन्त्रिपरिषद् मात्र परामर्शदात्री थी। किन्तु उनके परामर्श की उपेक्षा करने के लिए राजा सम्भवतः स्वतन्त्र न था। इस प्रकार राजा पर उनका बहुत अधिक नैतिक प्रभाव रहा होगा और राजा को निरंकुश होने से वे रोकते रहे होंगे।

केन्द्रीय अधिकारी—केन्द्रीय शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट और विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं होती। किन्तु हमारे विद्वानों ने गुप्तों के केन्द्रीय शासन की कल्पना आज की शासन-व्यवस्था के आधार पर की है। उनकी धारणा है कि उस समय भी कैबिनेट हुआ करता था; विभिन्न विभागों के मन्त्री होते थे और एक पूरा विस्तृत सचिवालय काम करता था। अल्तेकर (अ० स०) का मत है कि राजधानी केन्द्रीय सचिवालय का सदरमुकाम था और उसका मुख्य अधिकारी **सर्वाध्यक्ष** कहा जाता था। वह केन्द्रीय सरकार के आदेशों को प्रादेशिक और स्थानीय शासकों के पास विशेष दूतों और निरीक्षकों के माध्यम से भेजता था जो राजाज्ञा-वाहक कहे जाते थे। केन्द्रीय सचिवालय में विभिन्न मन्त्रियों और विभागीय प्रधानों के कार्यालय होते थे। सामान्य राज-कार्य प्रत्येक मन्त्री अपने उत्तरदायित्व पर किया करते थे। महत्त्वपूर्ण विषय परिषद् के सम्मुख उपस्थित किये जाते थे।[3]

वस्तुतः इस प्रकार का अनुमान करने का कोई कारण नहीं जान पड़ता कि गुप्त शासन के अन्तर्गत मन्त्री लोग स्वयं राज्यादेश को कार्यान्वित करते थे अथवा वे राजा की ओर से शासन-प्रबन्ध करते थे। अमात्यों के सम्बन्ध में लोगों में जो गलत धारणा है, कदाचित् उसीके परिणामस्वरूप अल्तेकर ने उपर्युक्त अनुमान प्रस्तुत किए हैं। ऊपर इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि अमात्य मन्त्रियों से सर्वथा भिन्न थे। मन्त्री लोग शासक के सलाहकार मात्र थे और वे किसी प्रकार का प्रशासनिक कार्य स्वयं नहीं करते थे। प्रशासनिक कार्य अमात्य किया करते थे। गुप्त-सचिवालय की कल्पना आधुनिक शासन-व्यवस्था के रूप में करना उचित

---

१. नीतिसार, १२।४२-४७।
२. मालविकाग्निमित्र, अंक १।
३. वाकाटक गुप्त एज, पृ० २७५-७६।

न होगा। हमारी धारणा है कि गुप्त शासकों का केन्द्रीय सचिवालय कुछ ही अधिकारियों और कर्णिकों (लेखकों) तक सीमित रहा होगा। बसाढ़ से मिली मुहरों से ज्ञात होता है कि राजा और युवराज के अपने-अपने कार्यालय होते थे और उन कार्यालयों में कुमारामात्य काम करते थे। सम्भवतः ये ही अधिकारी केन्द्रीय सचिवालय का कार्य निबाहते थे; और उनमें काम करने वाले कुमारामात्य राज्यादेशों को कार्यान्वित करते और दूतों द्वारा प्रादेशिक तथा स्थानीय अधिकारियों और अधिकरणों तक पहुँचाते थे। प्रान्तीय और स्थानीय अधिकारी और अधिकरण अपने तन्त्र द्वारा उन राज्यादेशों का पालन करते थे।

प्रादेशिक शासन—गुप्त कालीन अभिलेखों से होता है कि गुप्त सम्राट् ने पहली बार व्यवस्थित रूप से प्रान्तीय और स्थानीय शासन-तन्त्र की स्थापना की थी। इस शासनतन्त्र का कार्य मुख्यतः कर-संचय करना तथा शान्ति और व्यवस्था बनाये रखना था। सम्भवतः वह जनहित के कार्य भी करता था। सम्राट् द्वारा शासित साम्राज्य विभिन्न क्षेत्रीय-आकार की अनेक इकाइयों में बँटा हुआ था। ये इकाइयाँ निम्नलिखित थीं—

१. देश—गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत सम्भवतः सबसे बड़ी इकाई का नाम देश था। प्रासंगिक रूप से उसका उल्लेख जूनागढ़ अभिलेख में हुआ है। उससे यह भी अनुमान होता है कि सुराष्ट्र एक देश था।[१] द्वितीय चन्द्रगुप्त के एक अभिलेख से मध्य-प्रदेश में सुकुली नामक देश का परिचय मिलता है।[२] गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत दूसरे और कौन से देश थे, यह ज्ञात नहीं है; पर अनुमान किया जा सकता है कि साम्राज्य के अन्तर्गत कम-से-कम तीन-चार देश तो और रहे ही होंगे। देश के प्रशासक को **गोप्ता** कहते थे।[३] जूनागढ़ अभिलेख से ज्ञात होता है कि समुचित शासन, लोकहित, साम्राज्य की समृद्धि उसका मुख्य उत्तरदायित्व था। आन्तरिक शान्ति बनाये रखने के अतिरिक्त **गोप्ता** को बाह्य आक्रमणों के प्रति भी सजग रहना पड़ता था और उसकी दृष्टि साम्राज्य के सामन्तों पर भी रहती थी। उसके शासन करने के तन्त्र का वास्तविक स्वरूप क्या था, इसका स्पष्ट उल्लेख कहीं प्राप्त नहीं है; किन्तु अनुमान किया जा सकता है वह बहुत कुछ केन्द्रीय एवं अन्य छोटे शासकीय इकाइयों के सदृश ही रहा होगा।

२. भुक्ति—गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत एक दूसरी इकाई का नाम भुक्ति था। वह देश के अन्तर्गत कोई छोटी इकाई थी, अथवा वह अपने-आपमें देश के समान ही कोई स्वतन्त्र इकाई थी, यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता। साम्राज्य के पूर्वी क्षेत्र से उपलब्ध अभिलेखों में देश की कोई चर्चा नहीं है। इसी प्रकार पश्चिमी क्षेत्र के

---

१. का० इ० इ०, ३, पृ० ५८, पंक्ति ६।
२. वही, पृ० ३१, पंक्ति ४।
३. वही, पृ० ५८, पंक्ति ३।

अभिलेखों में भुक्ति का उल्लेख नहीं मिलता। वस्तुस्थिति जो भी हो, भुक्ति का आकार आजकल की कमिश्नरी की तरह ही रहा होगा। बंगाल से उपलब्ध अभिलेखों में पुण्ड-वर्धन भुक्ति का उल्लेख मिलता है[१]। नालन्दा और बसाढ़ से मिली मुहरों से तिर, नगर और मगध नामक भुक्तियों का परिचय मिलता है।[२] तिरभुक्ति तो कदाचित् आज-कल का मिथिला रहा होगा। नगरभुक्ति कदाचित् पाटलिपुत्र के आस-पास का प्रदेश था और उसके अन्तर्गत आरा और गया के जिले रहे होंगे।[३] मगधभुक्ति के अन्तर्गत गया को छोड़कर बिहार का दक्षिणी भाग रहा होगा। इसी प्रकार साम्राज्य के अन्तर्गत अन्य अनेक भुक्तियाँ रही होंगी, किन्तु उनका कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है। कदाचित् भुक्ति को ही **मण्डल** भी कहते थे। **मण्डल** का उल्लेख धर्मादित्य के फरीदपुर अभिलेख में हुआ है।[४] भुक्ति के अन्तर्गत अनेक **विषय** होते थे।

भुक्ति का प्रशासक **उपरिक** कहलाता था और उसकी नियुक्ति सम्राट् स्वयं करते थे। **उपरिक** का वास्तविक तात्पर्य स्पष्ट ज्ञात नहीं होता। कुछ विद्वानों की धारणा है कि उसका सम्बन्ध **उपरिकर** (निश्चित कर के अतिरिक्त किसानों की उपज पर लगाया गया कर) के संचय से है।[५] किन्तु द्रष्टव्य यह है कि **उपरिक** और **उपरिकर**, दोनों ही शब्दों के मूल में **उपरि** शब्द है और **उपरि** का अर्थ ऊपर अथवा एक से बड़ा होता है। अतः कदाचित् इसका तात्पर्य एक ऐसे अधिकारी से है जो पद में अन्य अधिका-रियों से ऊँचा हो; इस प्रकार यह सर्वोच्च अधिकारी अथवा प्रशासक (गवर्नर) कहा जा सकता है। भुक्ति के इस प्रधान प्रशासक के सम्बन्ध में कोई निश्चित जानकारी उप-लब्ध नहीं है; पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि उसका विषयपतियों पर नियन्त्रण था और उन्हें नियुक्त करने का अधिकार उसे प्राप्त था। उनके पास पर्याप्त शक्ति और अधिकार था; ऐसा इस बात से लक्षित होता है कि हम उन्हें अपने को **महाराज** कहते पाते हैं और यह भी पाते हैं कि इस पद पर एक राजकुमार भी था।

विषय—भुक्ति अथवा **मण्डल** के अन्तर्गत एक छोटी प्रशासनिक भौगोलिक इकाई **विषय** नामक थी। इसका अनुमान दामोदरपुर से प्राप्त शासनों से होता है। **विषय** का उल्लेख हमें समुद्रगुप्त के समय से ही मिलता है। उनके नालन्द ताम्रशासन में क्रमिल

---

१. ए० इ० १०, पृ० १३०; १३३; १३८-३९।

२. देखिए पीछे, पृ० ३८२।

३. गुप्तकालीन 'चतुर्भाणि' नामक ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि नगर पाटलिपुत्र का नाम था (मोती-चन्द्र तथा वासुदेवशरण अग्रवाल सम्पादित संस्करण, पृ० ६९)। नगरभुक्ति के अन्तर्गत वाल-विषय (आधुनिक आरा) होने की सूचना जीवितगुप्त के देववर्णार्क अभिलेख से और राजगृह तथा गया-विषय होने का परिचय देवपाल के नालन्दा ताम्र-शासन से मिलता है।

४. इ० ए०, ३९, पृ० १९५, मुहर तथा पंक्ति २।

५. सलातूर, स० न०, लाइफ इन गुप्त एज, पृ० २५८, रामशरण शर्मा, आस्पेक्ट्स ऑव पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एनशियण्ट इण्डिया, पृ० २४४।

विषय[1] और गया ताम्रशासन में गया विषय[2] का उल्लेख हुआ है। कुमारगुप्त प्रथम के काल के मन्दसौर अभिलेख से ज्ञात होता है कि लाट एक विषय और दशपुर उसके अन्तर्गत एक महत्त्वपूर्ण नगर था।[3] स्कन्दगुप्त के काल के इन्दौर ताम्रलेख में गंगा-यमुना के बीच का भूभाग अन्तर्वेदी विषय कहलाता था।[4] पुरुगुप्त के अज्ञात बेटे के बिहार स्तम्भलेख में अजपुर के किसी विषय के अन्तर्गत होने का उल्लेख है, जिसका नाम नष्ट हो गया है।[5] इसी प्रकार प्रथम कुमारगुप्त के दामोदरपुर शासनों में कोटिवर्ष विषय का उल्लेख मिलता है।[6] तोरमाण के समय के, जो बुधगुप्त के कुछ ही समय पीछे राजनीति के क्षितिज पर उदित हुआ था, एरण वराह अभिलेख से ज्ञात होता है कि एरिकिण एक विषय था।[7] इन सबके देखने से ज्ञात होता है कि विषय काफी बड़े भूभाग को कहते थे और उसके अन्तर्गत अनेक ग्राम हुआ करते थे। सम्भवतः उसका स्वरूप आधुनिक जिलों के समान था और वे साम्राज्य के सभी भागों में थे।

विषय का प्रमुख शासक **विषयपति** कहलाता था। वैग्राम ताम्रशासन में विषयपति कुलवृद्ध को **भट्टारक पादानुध्यात** कहा गया है। इस कारण दीक्षितार (वी० रा० रा०) की धारणा है कि उक्त विषयपति का सीधा सम्बन्ध सम्राट् से था अर्थात् वह सम्राट् द्वारा सीधे प्रशासित होता था;[8] किन्तु **भट्टारक पादानुध्यात** का अभिप्राय सम्राट् के प्रति-निष्ठा भाव व्यक्त करना मात्र है। उससे किसी प्रकार की प्रशासनिक व्यवस्था का अनुमान करना अनुचित होगा। दामोदरपुर के एक ताम्रशासन में स्पष्ट शब्द में पुण्ड्र-वर्धन भुक्ति के उपरिक द्वारा विषयपति के नियुक्त किये जाने की बात कही गयी है।[9] इससे स्पष्ट है कि विषयपति उपरिक के अधीन था और उसकी नियुक्ति उपरिक द्वारा ही होती थी।

विषयपति अपने प्रशासन-क्षेत्र का प्रबन्ध **विषय-परिषद्** के सहयोग से करता था जिसमें **नगर श्रेष्ठि, सार्थवाह, प्रथम-कुलिक** और **प्रथम-कायस्थ** होते थे।[10] **नगरश्रेष्ठि** निस्सन्देह व्यापारियों का प्रमुख और नगर सभा का अध्यक्ष था। **सार्थवाह** व्यापारिक श्रेणियों का प्रतिनिधित्व करता था। **प्रथम-कुलिक** सम्भवतः कारीगरों के प्रतिनिधि को कहते थे। **प्रथम-कायस्थ** का तात्पर्य सम्भवतः उससे ही है जिसे धर्मपाल के फरीदपुर

---

1. ए० इ०, 25, पृ० 52, पंक्ति 5।
2. का० इ० इ०, 3, पृ० 256, पंक्ति 7।
3. वही, पृ० 84, पंक्ति 3-4।
4. वही, पृ० 70, पंक्ति 4।
5. ए० इ०, 25, पृ० 130, 133।
6. का० इ० इ०, 3, पृ० 49, पंक्ति 25।
7. वही, पृ० 149, पंक्ति 7।
8. गुप्त पॉलिटी, पृ० 256।
9. ए० इ०, 15, पृ० 130, पंक्ति 3-4।
10. वही।

और खालिमपुर लेख में **ज्येष्ठ कायस्थ** कहा गया है। इसका शाब्दिक अर्थ प्रधान-लेखक मात्र है, इस कारण दीक्षितार की धारणा है कि वह प्रशासन का प्रधान सचिव (चीफ सेक्रेटरी) था।[1] किन्तु परिषद् के अन्य सदस्यों की भाँति ही वह जन-प्रतिनिधि ही होगा। इस दृष्टि से सम्भवतः शिक्षित-समाज के प्रतिनिधि को **प्रथम कायस्थ** अनुमान किया जा सकता है। इस प्रकार विषय-परिषद् में सभी वर्ग का प्रतिनिधित्व होता था।

विषय-परिषद् का कार्य बहुत कुछ ग्राम-परिषदों और वीथी-परिषदों के समान ही रहा होगा और विषयपति और विषयपरिषद् का सम्बन्ध बहुत कुछ उसी प्रकार का रहा होगा जिस प्रकार का सम्बन्ध सम्राट् और उसके मन्त्रिमण्डल के बीच पाया जाता है। किन्तु इस सम्बन्ध में कोई विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं है। किंतु प्रशासन में निस्सन्देह उसके विस्तृत अधिकार रहे होंगे, इसका अनुमान **विषय अधिकरण** में काम करने वाले अधिकारियों की सूची से किया जा सकता है। इन अधिकारियों की नामावली इस प्रकार है—

शौल्किक (चुङ्गी अधिकरी)।[2]

अग्रहारिक (ब्राह्मणों और मन्दिरों को दिये गये अग्रहार सम्बन्धी कार्य को देखनेवाला अधिकारी)।[3]

गौल्मिक (वन-विभाग सम्बन्धी अधिकारी)।[4]

ध्रुवाधिकरणिक (कृषि-उत्पादन सम्बन्धी अधिकारी)।[5]

भाण्डगाराधिकृत (खजाने का अधिकारी)।[6]

उत्खेटयित (कर-विभाग का अधिकारी)।[7]

तलवाटक (पुलिस-विभाग का अधिकारी)।[8]

विषय अधिकरण के आलेखों का विभाग **अक्षपटल** कहलाता था और उसके अधिकारी को **अक्षपटलिक** अथवा **महाक्षपटलिक** कहते थे।[9] इस विभाग में अनेक कर्मचारी होते थे जो **दिविर** कहलाते थे।[10] उनका मुख्य कार्य सम्भवतः आलेखों की प्रतिलिपि करना था। आलेखों का प्रारूप एक दूसरा अधिकारी तैयार करता था जिसे **कर्त्ती** अथवा **शासयित्री** कहते थे।[11]

---

१. गुप्त पॉलिटी, पृ० २५७-५८।
२. का० इ० इ०, ३, पृ० ५२।
३. वही।
४. वही।
५. वही, पृ० १७०।
६. ए० इ०, १२, पृ० ७५।
७. वही।
८. का० इ० इ० ३, पृ० २१७।
९. वही, पृ० १९०।
१०. वही, पृ० १२३।
११. ए० इ० १२, पृ० ७९।

वीथी और पट्ट— कुमारगुप्त के शासनकाल के कुलाइकुरी ताम्रशासन में पुण्ड्रवर्धन विषय के अन्तर्गत स्थित शृङ्गवेर वीथी का उल्लेख है, जिसका सदरमुकाम पूर्णकौशिक था।[1] पहाड़पुर ताम्रशासन में दक्षिणांशक वीथी का नाम आया है जो नागिरट्ट मण्डल के अंतर्गत था।[2] नंदपुर अभिलेख में गंगा तटवर्ती नन्दपुर वीथी का उल्लेख है।[3] गुप्तोत्तर काल के विजयसेन के मल्लसरुल ताम्रशासन में वर्धमान भुक्ति के अन्तर्गत वक्कत्तक वीथी का उल्लेख हुआ है। यह वीथी दामोदर नदी के उत्तरी किनारे पर एक लम्बी पट्टी के रूप में थी।[4] सम्भवतः वीथी को ही गुप्तेतर अभिलेखों में पट्ट कहा गया है। हस्तिन के खोह अभिलेख में उत्तरी पट्ट का नाम आया है।[5] वलभी तृतीय ध्रुवसेन के एक शासन में शिवभागपुर विषयान्तर्गत दक्षिण-पट्ट स्थित पट्टपद्रक नामक ग्राम की चर्चा है।[6] वीथी और पट्ट के प्रसंग में नदियों के उल्लेख से ऐसा अनुमान होता है कि नदी के तटवर्ती भूमि की अपनी एक स्वतन्त्र इकाई थी जो वीथी या पट्ट कहलाती थी। किन्तु इसे निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वीथी और पट्ट, विषय से छोटे भौगोलिक और शासनिक इकाई थे। जो भूमि और पथक से कदाचित् बड़े रहे होंगे। वीथी के शासक का उल्लेख आयुक्तक नाम से मिलता है। वह अपने अधिकार-क्षेत्र का शासन एक परिषद् की सहायता से करता था जिसके सदस्य वीथी-महत्तर और कुटुम्बिन् होते थे। वीथी-महत्तर सम्भवतः वीथी के अन्तर्गत रहनेवाले वयोवृद्ध लोग कहलाते थे और कुटुम्बिन् का तात्पर्य प्रमुख कृषक-परिवारों से था। आयुक्तक और वीथी-परिषद् का काम सम्भवतः ग्रामिक और ग्राम-परिषद् के समान ही रहा होगा, जिनकी चर्चा आगे की गयी है। इनका सम्बन्ध मुख्यतः भू-प्रबन्धक से जान पड़ता है। पुस्तपाल, कायस्थ और कुलिक वीथी शासन के अन्य छोटे अधिकारी थे।

भूमि, पथक और पेठ— गुप्त-साम्राज्य के पश्चिमी भाग से प्राप्त गुप्तेतर अभिलेखों में भूमि, पथक और पेठ नामक कुछ अन्य भौगोलिक और शासनिक इकाइयों के नाम मिलते हैं जो ग्राम-समूह के रूप में थे। संक्षोभ के खोह अभिलेख में ओपनी ग्राम के मणिनाग-पेठ में अवस्थित होने का उल्लेख है।[7] इसी पेठ में दो अन्य ग्रामों— व्याघ्रपल्लिका और काचरपल्लिका के होने का उल्लेख सर्वनाथ के ताम्रशासन में मिलता है।[8] इससे अनुमान होता है कि मध्य-भारत वाले भाग में पेठ नामक कोई

---

१. इ० हि० क्वा०, १९, पृ० २४, पंक्ति १।
२. ए० इ०, २०, पृ० ६१।
३. वही, २३, पृ० ५५, पंक्ति ३।
४. वही, पृ० १५४।
५. का० इ० इ०, ३, पृ० १०४।
६. ए० इ०, ११, पृ० ८८।
७. का० इ० इ०, ३, पृ० ११६।
८. वही, पृ० १३८।

इकाई थी जिसके अन्तर्गत अनेक ग्राम होते थे। इसी प्रकार पश्चिमी भाग में बलभी अभिलेखों में पथक और भूमि का उल्लेख मिलता है। बलभी वंश के चतुर्थ धारासेन के एक शासन में कालापक पथक के अन्तर्गत किक्कटपुर के होने की बात कही गयी है।[१] यह पेठ के समान ही कोई इकाई थी अथवा भिन्न, इसका समुचित अनुमान नहीं किया जा सकता; क्योंकि स्वतः पेठ का भी उल्लेख वलभी शासनों में मिलता है।[२]

चतुर्थ धारासेन के एक अन्य शासन में क्रम से विषय, भूमि और ग्राम का उल्लेख है;[३] जिससे अनुमान होता है कि विषय के अन्तर्गत कतिपय ग्राम-समूह भूमि कहे जाते थे। ग्रामों के एक अन्य बड़े समूह को स्थली नाम से पुकारे जाने का पता द्वितीय धारासेन के पलिताना और झार अभिलेख[४] से लगता है। झार अभिलेख में वत्सग्राम के दिपनक पेठ और भिल्वखाट-स्थली के अन्तर्गत होने की बात कही गयी है। इससे यह ज्ञात होता है कि स्थली पेठ से बड़ी इकाई थी।[५]

इन ग्राम समूहों का अपना कोई शासन-तन्त्र था, ऐसा किसी सूत्र से ज्ञात नहीं होता। सम्भवतः ये ग्रामों के समुचित निर्देशन के निमित्त भौगोलिक इकाई मात्र थे।

ग्राम—वैदिक काल से ही इस देश में प्रशासनिक इकाई के रूप में ग्राम की चर्चा पायी जाती है। यह आरम्भ से ही शासन की सबसे छोटी इकाई थी। कौटिल्य के कथनानुसार ग्राम में सौ से पाँच सौ परिवार होते थे।[६] सम्भवतः गुप्त-काल में भी ग्रामों की यही स्थिति रही होगी। ग्रामों का उल्लेख अनेक गुप्त अभिलेखों में हुआ है। समुद्रगुप्त के नालन्द ताम्र-शासन में भद्रपुष्करक ग्राम[७] तथा गया ताम्र-शासन में रेवतिक ग्राम[८] का, स्कन्दगुप्त के कहाँव स्तम्भ लेख में ककुभ-ग्राम का[९] उल्लेख हुआ है। ग्रामों का मुख्य धन्धा कृषि था किन्तु उनमें तन्तुवाय (जुलाहा), कुम्भकार (कुम्हार), बढ़ई, तेली, सुनार आदि अन्य कारीगर भी रहा करते थे। अवस्थानुकूल प्रत्येक ग्राम का क्षेत्र हुआ करता था।

ग्राम-शासन के प्रशासक को ग्रामिक, ग्रामेयक अथवा ग्रामाध्यक्ष कहते थे।[१०] वह स्थानीय परिषद् की सहायता से अपना शासन करता था जिसको मध्यप्रदेश में

१. ज० ब० ब्रा० रा० ए० सो०, १०, पृ० ७९; इ० ए०, १, पृ० १६।
२. इ० ए०, १५, पृ० १८७।
३. वही, ८, पृ० ७९।
४. वही, ६, पृ० १२।
५. वही, १५, पृ० १८७।
६. कौटिल्य २।१।४६; अनु० पृ० ४६।
७. ए० इ० २५, पृ० ५२, पृ० ५।
८. का० इ० इ०, ३, पृ० २५६, पं० ७।
९. वही, पृ० ११, पंक्ति ६।
१०. वही, पृ० ११२; इ० ए० ५, पृ० १५५; का० इ० इ०, ३, पृ० २५६।

पंचमण्डली[1] और पूर्वी भाग, विशेषतः बिहार में, **ग्राम-जनपद**[2] अथवा **परिषद्**[3] कहते थे। उनकी अपनी मुहर होती थी जिनको वे स्व-प्रचारित आलेखों पर प्रमाणीकरण के लिए अंकित किया करते थे। उसके सदस्य **महत्तर** कहलाते थे और वे प्रायः ब्राह्मणेतर वर्ण के होते थे, ऐसा तत्कालीन भू-शासनों से ज्ञात होता है। उनमें ब्राह्मणों और **महत्तरों** का अलग-अलग उल्लेख हुआ है। वैग्राम ताम्रशासन में **महत्तरों** का उल्लेख **सम्व्यवहारिप्रमुख** के रूप में हुआ है।[4]

ग्राम-परिषद् शासन सम्बन्धी सभी काम करती थी। यथा—वह ग्राम की सुरक्षा पर ध्यान रखती थी, गाँवों के झगड़े निपटाती थी, लोक-हित के कार्य आयोजित करती थी, सरकारी राजस्व संचय कर सरकारी खजाने में जमा करती थी। उसका अधिकार अपनी ग्राम सीमा के अन्तर्गत सभी घरों, गलियों, हाटों, कुओं, तालाबों, ऊसर और खेतिहर भूमि, जंगल, मन्दिर, श्मशान आदि पर था। बिना महत्तरों की अनुमति के कोई भी भूमि, चाहे वह धर्म-कार्य के लिए ही क्यों न हो, नहीं बेची जा सकती थी। मनु के कथन से ऐसा ज्ञात होता है कि ग्राम-परिषद् को ग्राम से प्राप्त राजस्व को ग्राम-हित में व्यय करने का अधिकार प्राप्त था।[5]

ग्राम-परिषद् के महत्तर निर्वाचित अथवा मनोनीत होते थे, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। महत्तर शब्द से ऐसा ध्वनित होता है कि ग्राम के अन्तर्गत रहनेवाले विभिन्न वर्गों के वयोवृद्ध लोग, जिनको आयु,, अनुभव, चरित्र आदि के कारण प्रमुखता प्राप्त होती थी, वे ही ग्राम-परिषद् के सदस्य होते थे, किन्तु परिषद् के सदस्यों की संख्या सीमित रही होगी, इस कारण वे ग्रामवासियों द्वारा निर्वाचित अथवा मनोनीत किये जाते रहे होंगे।

अभिलेखों के अध्ययन करने से यह भी ज्ञात होता है कि **ग्रामिक** और **ग्राम-जनपद** (परिषद्) के अधीन शासन-व्यवस्था के निमित्त अनेक कर्मचारी रहते थे। उनमें से कुछ निम्नलिखित थे :—

अष्टकुलाधिकरण—**कुल** का अर्थ **परिवार** और **अधिकरण** का तात्पर्य **शासन** अथवा **शासक** अथवा **शासन-परिषद्** माना जाता है। इस प्रकार **अष्टकुलाधिकरण** का तात्पर्य आठ परिवारों से संघटित परिषद् होगा। यदि हम इसका यह भाव ग्रहण करें तो इसका अर्थ यह होगा कि महत्तरों वाली परिषद् से भिन्न कोई दूसरी परिषद् भी थी। किन्तु इस प्रकार की सम्भावना कम ही है। अतः विद्वानों की धारणा है कि यह किसी पद का नाम था। बसाक (रा० गो०) का कहना है कि यह

१. का० इ० इ०, ३, पृ० ३१, पं० ६।
२. नालन्द से प्राप्त मुहरें।
३. अ० स० इ०, ए० रि०, १९०३-४, ० १०९।
४. ए० इ०, २१, पृ० ८१, पं० २।
५. मनुस्मृति, ८।११६; ११८।

ग्राम के .. .त आठ कुलों पर अधिकार रखनेवाला अधिकारी था।[1] राखालदास बनर्जी की धारणा है कि यह आठ ग्रामों पर अधिकार रखनेवाला अधिकारी होगा।[2] दासगुप्त (न० न०) ने इसकी तुलना समाचारदेव के गुगराहाटी अभिलेख में प्रयुक्त ज्येष्ठाधिकरणक-दामुक-प्रमुखाधिकरण से करते हुए यह मत प्रकट किया है कि ग्राम के अन्तर्गत न्याय करनेवाली संस्था थी जिसमें लगभग आठ न्यायाधिकारी होते थे।[3] दीक्षितार (वि० आर० आर०) की धारणा है कि इस अधिकार का सम्बन्ध ग्राम के भू-व्यवस्था से था। इस प्रसंग में उन्होंने इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि मनुस्मृति (७।११९) की कुल्लूक कृत टीका के अनुसार कुल का तात्पर्य उस भू-क्षेत्र से है जो छः बैलोंवाले दो हलों से जोता जा सके। इस प्रकार यह अधिकारी गाँव के उतने भूभाग पर नियन्त्रण रखता था जो सोलह हलों से जोता जा सके।[4] बनर्जी, बसाक और दीक्षितार ने तो कल्पना की उड़ान ही भरी है। केवल दासगुप्त के सुझाव के समर्थन में यह कहा जा सकता है कि बुद्धघोष के महापरिनिर्वाणसुत्तन्त की टीका में **अष्टकुल** का तात्पर्य **न्याय-परिषद्** से माना गया है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि पूर्वकालिक यह न्यायाधिकरण गुप्त-काल में भी प्रचलित रहा होगा। किन्तु अभिलेखों के परीक्षण से जान पड़ता है कि इसके कार्य का सम्बन्ध न्याय से किसी प्रकार भी न था। कुमारगुप्त (प्रथम) के धनैदह[5] और दामोदरपुर[6] ताम्रशासन में **अष्टकुलाधिकरण** का उल्लेख **ग्रामिक** और **महत्तरों** के साथ हुआ है और कहा गया है कि इन लोगों ने लोगों को भूमि-क्रय किये जाने के निमित्त दिये गये आवेदन की सूचना जनता को दी। इससे ध्वनित होता है कि यह **ग्रामिक** और **महत्तर** की तरह का ही एक महत्त्वपूर्ण पद था और ग्राम के भूमि के क्रय, विक्रय और प्रबन्ध में उसका महत्त्वपूर्ण हाथ था।

अक्षपटलिक—ग्राम शासन से सम्बन्धित दूसरा महत्त्वपूर्ण पद अक्षपटलिक का ज्ञात होता है। इसका उल्लेख कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में किया है। मोनियर विलियम्स के अनुसार **अक्षपटल** का तात्पर्य **न्यायाधिकरण** अथवा **न्यायालेखागार** से था। मोनाहन की धारणा है कि कौटिल्य उल्लिखित **अक्षपटल** का तात्पर्य **लेखा-विभाग तथा सामान्य आलेख-भण्डार** से था।[7] इस प्रकार मौर्यकाल में अक्षपटलिक साम्राज्य का एक अधिकारी था और उसका सम्बन्ध राज-कोष से था। किन्तु गुप्त-काल में **अक्षपटलिक** एक स्थानीय अधिकारी था, जो भूमि-सम्बन्धी अधिकार-

---

१. ए० इ०, १५, पृ० १३७।
२. ज० ए० सो० बं०, ५ (न० सी०), पृ० ४६०।
३. इण्डियन कल्चर, ५, पृ० ११०-१११।
४. गुप्त पॉलिटी, पृ० २७४।
५. ए० ई०, १५, पृ० १३७।
६. वही, १७, पृ० ३४६।
७. अर्ली हिस्ट्री ऑव बंगाल, पृ० ४५; दीक्षितार, मौर्य पॉलिटी, पृ० १५७।

पत्र और ग्राम से सम्बन्धित राजकीय आदि आलेखों को सुरक्षित रखता था। हो सकता है वह ग्राम-सम्बन्धी आय का भी लेखा-जोखा रखता हो। ग्राम जैसे छोटी शासनिक इकाई से सम्बन्धित होते हुए भी अक्षपटलिक एक महत्त्वपूर्ण अधिकारी प्रतीत होता है। समुद्रगुप्त के ताम्र-शासनों में गोपस्वामिन नामक एक अक्षपटलिक का उल्लेख है। नालन्द ताम्र-शासन में उसे **महापीलुपति** और **महाबलाधिकृत**[1] तथा गया ताम्र-शासन में **दूत**[2] कहा गया है।

वलत्कौशान—**वलत्कौशान** का उल्लेख समुद्रगुप्त के नालन्द और गया ताम्र-शासनों में हुआ है।[3] इन शासनों में कहा गया है कि "आप (वलत्कौशन तथा अन्य) लोगों को ज्ञात हो कि अपने माता-पिता तथा अपने पुण्य की अभिवृद्धि के निमित्त मैंने इस ग्राम को उपरिकर सहित अग्रहार स्वरूप.....को दिया है। अतः आप उनकी ओर ध्यान दें और उनके आदेश का पालन करें और जो ग्राम का हिरण्य आदि प्रत्याय है, वह उन्हें दिया जाय।" इससे ऐसा जान पड़ता है कि **वलत्कौशन** भूकर अधिकारी था और उसका मुख्य कार्य आय-संचय करना था और वह ग्राम को उपलब्ध सुविधाओं की भी देखभाल करता था। दिनेशचन्द्र सरकार की धारणा है कि वह राजा का ग्रामस्थित प्रतिनिधि था।[4]

गुप्तोत्तर अभिलेखों में कुछ अन्य ग्राम-अधिकारियों का उल्लेख मिलता है। बहुत सम्भव है ये अधिकारी गुप्त-काल से चली आती परम्परा के ही हों। इस प्रकार के अधिकारियों में एक **तलवाटक** था[5] जो सम्भवतः दक्षिण के **तलवारिक** के समान ही था और वह ग्राम का रक्षक था। **सीमकर्मकार** नामक एक दूसरा ग्राम-अधिकारी था[6] जो सम्भवतः ग्राम की सीमा के अंकन का काम करता था। कदाचित् उसे ही **सीमाप्रदात** भी कहते थे।[7] **प्रमातृ**[8] (मापक), **न्याय-कर्णिक**[9] (खेतों की सीमा सम्बन्धी विवाद निपटानेवाला अधिकारी), **कर्णिक**[10] (आलेख अधिकारी) और **हट्टिक**[11] (हाट-अधिकारी अथवा हाट से कर वसूलनेवाला अधिकारी) ग्राम से सम्बन्धित अन्य अधिकारी थे।

---

१. ए० इ०, २५, पृ० ५५, पंक्ति ११।
२. का० इ० इ०, ३, पृ० २५६, पंक्ति १५।
३. ए० इ०, २५, पृ० ५५, पंक्ति ५; का० इ० इ०, ३, पृ० २५६, पंक्ति ७-८।
४. सेलेक्ट इन्स्क्रप्शन्स, पृ० २७१, पा० टि० ५।
५. का० इ० इ०, ३, पृ० २१७।
६. वही।
७. ए० इ०, १२, पृ० ७५।
८. वही, १७, पृ० ३२५।
९. वही, १२, पृ० ७०।
१०. वही, ४, पृ० १०५-१०६
११. वही, पृ० २५४।

पुर और दुर्ग—नागरिक शासनिक इकाई का नाम पुर था। वे सम्भवतः आधुनिक नगर अथवा कस्बे के समान रहे होंगे। कतिपय राजनीति-ग्रन्थों में उनका उल्लेख दुर्ग के नाम से हुआ है। सामान्यतः दुर्ग से तात्पर्य किले से समझा जाता है। किन्तु पुर का पर्याय होने से ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि उन दिनों नगर और कस्बे था जो चारों ओर किले से घिरे होते थे अथवा राजधानी स्थित नगर दुर्ग कहा जाता था। अस्तु, अर्थशास्त्र के अनुसार राजधानी केन्द्रीय स्थान में स्थापित की जाती थी। उसमें विभिन्न वर्णों और विभिन्न प्रकार के कारीगरों तथा विभिन्न देवताओं के लिए अलग-अलग स्थान निश्चित होते थे।[१] ऊन, सूत, बाँस, चमड़ा, अस्त्र-शस्त्र तथा धातु का काम करनेवाले कारीगरों का इस प्रसंग में विशेष रूप से उल्लेख हुआ है।[२] राजधानी से भिन्न नगर भी सम्भवतः इसी ढंग के होते रहे होंगे; और गुप्त-काल में नगरों की यही रूप-रेखा रही होगी। पाटलिपुत्र, अयोध्या, उज्जयिनी, दशपुर, गिरिनगर आदि गुप्त-काल के कतिपय नगर हैं जिनका परिचय विभिन्न सूत्रों से प्राप्त होता है।

नगर अथवा पुर का शासक पुरपाल कहलाता था। बहुधा उसका उल्लेख उसके द्वारा शासित नगर के नाम पर होता था। यथा—दशपुर का शासक दशपुर-पाल के नाम से अभिहित हुआ है। इस अधिकारी की नियुक्ति भुक्ति का शासक किया करता था। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख से ज्ञात होता है कि सुराष्ट्र के गोप्ता पर्णदत्त ने अपने पुत्र चक्रपालित को गिरिनगर का प्रशासक नियुक्त किया था। पुर-पालों की नियुक्ति कुमारामात्यों में से भी होती थी।

विषय और ग्रामों की भाँति ही सम्भवतः पुरों में भी शासन-समिति होती थी। और यह समिति आजकल म्युनिसिपल बोर्ड अथवा कारपोरेशन द्वारा किये जाने का कार्य किया करती थी। वह नागरिक सुविधाओं पर ध्यान देती थी। विश्ववर्मन के गंगधर अभिलेख से इस बात की जानकारी मिलती है कि सरकारी अधिकारी तथा प्रजा दोनों ही यथासाध्य जनहित का कार्य किया करते थे।[३] गिरिनगर के प्रशासक ने ध्वस्त सुदर्शन झील की मरम्मत करायी थी।[४] यह समिति सम्भवतः लोक-उद्यानों तथा मन्दिरों की देख-रेख तथा पानी की व्यवस्था भी करती रही।

नगर के प्रशासन में नागरिक लोग सरकार के साथ सहयोग किया करते थे। मुहरों और अभिलेखों से ज्ञात होता है कि गुप्त-काल के कारीगरों और व्यवसायियों के अपने निगम थे। वैशाली से प्राप्त २७४ मुहरों में श्रेष्ठि-सार्थवाह-कुलिक निगम का उल्लेख है।[५] कुलिकों और श्रेष्ठियों के अपने स्वतन्त्र निगम भी थे, यह भी कुछ मुहरों

१. अर्थशास्त्र, २।४
२. वही।
३. का० इ० इ०, ३, पृ० ७७-७८।
४. वही, पृ० ६४।
५. आ० स० इ०, ए० रि०, १९०३-०४, पृ० ११२-११८।

से ज्ञात होता है। दशपुर में रेशम के तन्तुवायों की अपनी एक श्रेणी थी।[1] एक तैलिक श्रेणी इन्द्रपुर (इन्दौर, जिला बुलन्दशहर) में थी।[2] इन निगमों और श्रेणियों के संघटन के सम्बन्ध में किसी प्रकार की कोई निश्चित सूचना उपलब्ध नहीं है; किन्तु ऐसा अनुमान होता है कि प्रत्येक व्यवसाय के प्रमुख पैतृक आधार पर अथवा निर्वाचन द्वारा उसके सदस्य होते थे। सम्भवतः ये निगम साहूकारों, व्यापारियों और कारीगरों के प्रतिनिधि होने के कारण उनके नागरिक हितों की देख-भाल किया करते थे; और इसके निमित्त उनका नागरिक तथा सैनिक कर्मचारियों के साथ भी सहयोग बना हुआ था। नारद स्मृति के अनुसार निगम स्वयं अपने नियम निर्धारित करते थे जो **समय** कहा जाता था।[3] और शासक उनमें प्रचलित परम्पराओं के स्वीकार करने के लिए बाध्य था। इस प्रकार निगमों को बहुलांशों में आत्म-स्वातन्त्र्य उपलब्ध था।

राज-कोष—प्रत्येक राज्य का मूलाधार उसका राज-कोष होता है। इस कारण भारतीय राजतन्त्र में राज-कोष को राज्य के सप्तांगों में गिना गया है। कहा गया है कि जिस शासक के पास पर्याप्त कोष होता है, उसे प्रजा से आदर और सद्भावना प्राप्त होती है; शत्रु को भी कोष-सम्पुट शासक के विरुद्ध अभियान करने से पहले खूब सोचना-विचारना पड़ता है।[4] प्राचीन राजविदों के मतानुसार बिना कोष के धर्म, अर्थ और काम की पूर्ति सम्भव नहीं है।[5] अतः प्रत्येक राज्य के लिए कोष संचित करना अनिवार्य था; किन्तु साथ ही अर्थशास्त्र में यह भी कहा गया है कि कोष का संचय सद्मार्ग और वैध साधनों द्वारा ही किया जाना चाहिये।[6]

भूमि और भू-राजस्व—कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार भूमि निर्विवाद रूप से राज्य की सम्पदा मानी जाती थी।[7] मौर्योत्तर काल में भी यवन लेखकों ने जो कुछ भी लिखा है उससे प्रतीत होता है कि भूमि का स्वामी राजा ही माना जाता था।[8] गुप्त-काल पर दृष्टिपात करने से भी यही बात ज्ञात होती है। अनेक शासनों से, जिसमें भू-दान की चर्चा है, स्पष्ट जान पड़ता है कि यदि सभी नहीं तो अधिकांश भूमि का स्वामित्व राज्य में निहित था; और उनका प्रबन्ध ग्राम-जनपद अथवा परिषद् किया करती थी।

इस परिषद् को राज्य अथवा शासक की ओर से इस बात का अधिकार प्राप्त था कि वह ऐसी भूमि को जो **समुदयबाह्य** हो अर्थात् जिससे कोई राजस्व प्राप्त न होता हो,

---

१. का० इ० इ०, ३, पृ० ८०-८५।
२. वही, पृ० ७० आदि।
३. नारद स्मृति, १०।१।
४. कामन्दक नीतिसार, ४।६१-६२।
५. वही, १४।३२।
६. अर्थशास्त्र ६।१।
७. वही ४।१।
८. मेकक्रिण्डल, एन्शियण्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिटरेचर, पृ० ४८।

जो अप्रद हो अर्थात् जिसे पहले किसी को न दिया गया हो और जो खिल अथवा अप्रहत अर्थात् पहले जोती न गयी हो[1], मूल्य लेकर किसी भी व्यक्ति को दे दे। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उन दिनों बंगाल में भूमि का मूल्य दो अथवा तीन दीनार प्रति कुल्यवाप था। भू-क्रय के निमित्त स्थानीय अधिकारी के पास आवेदन करना पड़ता था। राज्याधिकारी आवेदन प्राप्त होने पर अधिष्ठान एवं स्थानीय अधिकरणों में पंजीकृत अधिकार सम्बन्धी आलेखों आदि की छान-बीन करते थे और सम्बन्धित अधिकारी उस भूमि की जाँच करते थे और इस प्रकार सब तरह से सन्तुष्ट होने के पश्चात् भूमि का विक्रय होता था।[2]

विक्रय के अतिरिक्त राज्य अथवा राजा की ओर से व्यक्तियों तथा संस्थाओं को भूमि निम्नलिखित पद्धति के अनुसार अनुदान स्वरूप दी जाती थी—

१. भूमिच्छिद्र-धर्म—कौटिल्य ने इस पद्धति की विस्तार से चर्चा की है। उसके कथनानुसार, ऐसी भूमि, जो अनुर्वर हो, उपजाऊ खेत बनाने, चरागाह के रूप में परिवर्तित करने अथवा इसी प्रकार के अन्य कार्य के लिए राज्य की ओर से लोगों को पूर्ण-स्वामित्व के अधिकार के साथ दी जाती थी। इस प्रकार प्रदत्त भूमि को प्राप्तकर्ता अथवा उसके उत्तराधिकारी बेच और हस्तान्तरित कर सकते थे।[3]

२. नीवि-धर्म— व्यावहारिक अर्थ में नीवि का तात्पर्य परिपण अथवा मूल-धन है। अतः ऐसा ज्ञात होता है कि इस पद्धति के अनुसार भूमि प्राप्त करनेवाला व्यक्ति प्रदत्त भूमि की आय अथवा उपज का उपभोग मात्र कर सकता था। उपभोग का यह अधिकार भी उसे अपने जीवन-काल तक ही होता था। धनैदह ताम्र-शासन से ज्ञात होता है कि राज्य को उस भूमि को वापस ले लेने का अधिकार था।

३. अप्रदा नीवि-धर्म—इस पद्धति के अनुसार प्राप्तकर्ता और उसके उत्तराधिकारी भूमि का उपभोग निरन्तर कर सकते थे और इस प्रकार दी गयी भूमि को राज्य अथवा राजा वापस नहीं ले सकता था। किन्तु प्राप्तकर्ता को इस बात का अधिकार न था कि उसे बिना राज्य की विशेष स्वीकृति के किसी दूसरे को हस्तान्तरित कर सके। यह बात गुप्त संवत् २२४ के दामोदरपुर ताम्र-शासन से ज्ञात होती है।

प्रत्येक भूमिधर को, चाहे उसने भूमि क्रय करके प्राप्त की हो अथवा उसे राज्य की ओर से प्रदान की गयी हो, राज्य को राजस्व देना ही होता था। हाँ, राज्य चाहे तो उसे राजस्व देने से मुक्त कर सकता था। ऐसी अवस्था में वह इसका उल्लेख अपने

---

१. कुछ विद्वानों ने समुदयबाह्याप्रद खिल को विभिन्न प्रकार के भूमि का अर्थ लिया है। समुदयबाह्य को समुदायबाह्य मान कर उन्होंने उसका अर्थ ग्राम-परिषद् के अधिकार के बाहर की भूमि किया है। इसी प्रकार उन्होंने अप्रहत को बिना जुती हुई और खिल को अनुर्वर भूमि अथवा इसी प्रकार की भूमि माना है (घोषाल, इ० हि० क्वा०, ५, पृ० १०४; सलातूर, लाइफ इन गुप्त एज, पृ० ३३८; दीक्षितार, गुप्त पॉलिटी, पृ० १६८-१६९)।

२. अर्थशास्त्र, २।५।

३. दीक्षितार, मौर्यन पॉलिटी, पृ० १४२।

दान-शासन में कर देता था। इस प्रकार भूमि राज्य के आय का प्रमुख साधन था। मौर्य काल में भू-राजस्व स्पष्ट रूप से दो प्रकार के थे—(१) सित—राज्य अधिकृत भूमि का उत्पादन और (२) भाग—वैयक्तिक अधिकारवाली भूमि के उत्पादन का अंश। गुप्त-काल में सित नामक किसी राजस्व की चर्चा नहीं पायी जाती है। हाँ, गुप्तों के सामन्तों के अभिलेखों में भाग का उल्लेख एक अन्य शब्द भोग के साथ मिलता है।[१] भाग-भोग को संयुक्त रूप से एक मानकर फ्लीट ने उनका अर्थ—"भाग अथवा अंश का उपभोग"[२] किया है और वे इसका तात्पर्य कर का उपभोग मानते हैं।[३] ऊपर यह उल्लेख किया जा चुका है कि कौटिल्य के समय में भाग भू-कर के रूप में प्रचलित था।[४] स्मृतियों में भी भाग और उसका समानार्थी अंश का उल्लेख भू-कर के ही रूप में हुआ है।[५] शुक्रनीति के अनुसार भी भाग राज्य को प्राप्त होनेवाले राजस्व के नौ साधनों में से एक था। अतः गुप्त-काल में भी भाग निस्सन्देह भू-कर अथवा भू-उत्पादन से प्राप्त राज्यांश को ही कहते रहे होंगे। इस प्रकार भाग-भोग को एक शब्द नहीं माना जा सकता। भाग से भिन्न भोग किसी दूसरे कर का नाम था, ऐसा सहज अनुमान किया जा सकता है।

सलातूर (र० न०)[६] को भोग का उल्लेख मनुस्मृति[७] में प्राप्त हुआ है। उसकी व्याख्या उक्त स्मृति के टीकाकार सर्वज्ञनारायण ने "फल-फूल, तरकारी, घास आदि के रूप में नित्य दिये जानेवाले भेंट" के रूप में की है। इस प्रकार की व्याख्या सम्भवतः टीकाकार ने देवताओं को लगाये जानेवाले भोग को दृष्टि में किया होगा, यह स्पष्ट परिलक्षित होता है। किन्तु इस तथ्य पर ध्यान न देकर सलातूर ने यह मान लिया है कि वस्तुतः उस समय इस प्रकार की प्रथा थी जिसमें राजा को नित्य भोग दिया जाता था। बाण के हर्षचरित में एक स्थान पर कहा गया है कि "मूर्ख भू-स्वामी गाँवों से निकल कर (हर्ष की सेना के) मार्ग पर आ कर खड़े हो गये और वे वयोवृद्ध लोगों के नेतृत्व में जल के घड़े उठाये धक्कम-धुक्की करते हुए सेना के सम्मुख आये और दही, चीनी, मिठाई और फूलों की भेंट लेकर खड़े हो गये और फसलों की रक्षा की याचना करने लगे।[८] इससे सलातूर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भोग की उक्त प्रथा हर्ष-काल में प्रचलित थी। उन्होंने उसके राष्ट्रकूटों में भी प्रचलित होने की बात कही है।[९]

१. का० इ० इ०, ३, पृ० ११८, १३२।
२. वही, पृ० १२०।
३. वही, पृ० २५४, पा० टि०।
४. अर्थशास्त्र, २।६।
५. गौतमस्मृति, १०।२४-२७; मनुस्मृति ८।१३०।
६. लाइफ इन गुप्त एज, पृ० ३५२।
७. मनुस्मृति, ८।५।
८. हर्षचरित, पृ० २०८।
९. इ० ए०, ११, पृ० १११; ए० इ०, १, पृ० ५२।

किन्तु इस प्रकार का अनुमान उनके द्वारा उल्लिखित सूत्रों से कदापि नहीं किया जा सकता। कदाचित् सलातूर भी अपने इस अनुमान से सन्तुष्ट नहीं रहे; अतः उन्होंने एक दूसरा अनुमान यह भी प्रकट किया है कि भोग कदाचित् वह कर था जिसे वाकाटक शासनों[1] में ग्राम-मर्याद (ग्राम द्वारा दिया जानेवाला वैधानिक देय) कहा गया है। किन्तु हमें यह भी समीचीन नहीं जान पड़ता। हमारी दृष्टि में तो भोग भी भाग की तरह ही एक नियमित कर था। आश्चर्य नहीं यदि यह उसी कर का नया नाम हो जिसे मौय-काल में सित कहते थे। राज्य-अधिकृत भूमि के उपभोग के बदले में दिये जाने-वाले कर को सहज भाव से भोग कहा जा सकता है।

किन्तु भाग और भोग दोनों ही शब्द गुप्त सम्राटों के अपने शासनों में भू-उत्पादन पर राज्य द्वारा निर्धारित कर के प्रसंग में नहीं मिलते। उनके स्थान पर उनमें दो अन्य शब्दों—उद्रंग और उपरिकर का प्रयोग मिलता है। इन शब्दों का प्रयोग परवर्ती काल में भी हुआ है। बुहलर का मत है कि उद्रंग राज्य के लिए प्राप्त किये जानेवाले भू-उत्पादन के अंश को कहते थे।[2] फ्लीट ने भी उनके इस कथन का समर्थन किया है।[3] घोषाल का कहना है कि यह स्थायी भूमिधरों पर लगनेवाला कर था।[4] इसी प्रकार फ्लीट के मत में उपरिकर उन किसानों पर लगाये जानेवाला कर था, जिनका भू पर अपना कोई स्वामित्व न था।[5] घोषाल के अनुसार यह ऐसे लगान अथवा माल-गुजारी का नाम था जिसे अस्थायी किसान दिया करते थे।[6] बार्नेट (एल० डी० उत्पादन में राज्यांश को उपरिकर मानते हैं;[7] पर उन्होंने यह नहीं बताया है कि वह उद्रंग से किस प्रकार भिन्न था।

इस प्रकार इन दोनों ही शब्दों की व्याख्या अथवा तात्पर्य के सम्बन्ध में लोग एक मत नहीं जान पड़ते। किन्तु गम्भीरता से विचार करने पर यह बात सहज सामने आती है कि उन्होंने एक ही बात को अपने शब्दों में भिन्न-भिन्न ढंग से कहा है। इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य यह है कि भूमिच्छिद्र-धर्म के अन्तर्गत राज्य द्वारा भूमि लोगों को स्वामित्व के सम्पूर्ण अधिकार के साथ उपभोग के लिए दी जाती थी। इस प्रकार भूमि-प्राप्त भूमिधरों को सहज रूप से स्थायी भूमिधर कहा जा सकता है। यह बात भी स्पष्ट है कि इस प्रकार के भूमिधरों से राज्य केवल अपना भाग उगाहने का अधिकारी था, जिसे मौर्य-काल में भोग कहते थे और जिसका गुप्तों के सामन्तों के शासनों में भी

---

१. का० इ० इ०, ३, इ० पृ० २५८।
२. इ० ए०, १२, पृ० १८९।
३. का० इ० इ०, ३, पृ० ९७-९८; पा० टि०।
४. काण्ट्रीब्यूशन टु द हिस्ट्री ऑव हिन्दू रेवन्यू सिस्टम, पृ० २१०।
५. का० इ० इ०, ३, पृ० ९८; पा० टि०।
६. काण्ट्रीब्यूशन टु द हिस्ट्री ऑव हिन्दू रेवन्यू सिस्टम, पृ० १९१-२१०; अग्रेरियन सिस्टम इन एन्शियण्ट इण्डिया, पृ० ३९-४०।
७. ज० रा० ए० सो०, १९३१, पृ० १६५।

उल्लेख हुआ है। ठीक यही बात फ्लीट और घोषाल उद्रंग के सम्बन्ध में कहते हैं। अतः दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि भाग का ही नाम उद्रंग था और वह भू-उत्पादन से राज्य को प्राप्त होनेवाला अंश था। इसी प्रकार नीवि-धर्म और अप्रदा नीवि-धर्म के अनुसार भूमि लोगों को कतिपय शर्तों के साथ प्राप्त होती थी और प्राप्तकर्ता का भूमि में स्वामित्व जैसा कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता था। वे केवल उसके उत्पादन का उपभोग कर सकते थे। यह उपभोग स्थायी हो सकता था, पर वे किसी दूसरे को भूमि का हस्तान्तर नहीं कर सकते थे। इस प्रकार इस प्रथा के अनुसार प्राप्त भूमि के स्वामियों को अस्थायी भूमिधर और राज्य को उस भूमि का स्वामी कहना अनुचित न होगा। इस प्रकार के भूमिधरों से राज्य को कुछ उसी प्रकार का कर प्राप्त होता रहा होगा जिसे मौर्य-काल में सित कहा गया है और कदाचित् जिसका उल्लेख गुप्तों के सामन्तों के शासनों में भोग नाम से हुआ है। अतः यह सहज भाव से कहा जा सकता है कि उसी कर को गुप्त-शासन में उपरिकर कहते थे।

ग्रामों से प्राप्त होनेवाली आय (ग्राम-प्रदाय) का समुद्रगुप्त के नालन्द और गया ताम्र-शासनों में[1] मेय (जो तौल कर दिया जाय अर्थात् अन्न) और हिरण्य (नकद)[2] कहा गया है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि उद्रंग और उपरिकर दोनों ही अन्न और नकदी के रूप में लिये जाते रहे होंगे। अन्न के रूप में राजस्व लिये जाने की बात फाह्यान ने भी कही है। उनका कहना है कि "जो लोग राज-भूमि को जोतते हैं, उन्हें ही उससे उत्पन्न अन्न (का एक अंश) देना पड़ता है।"[3] किन्तु उत्पादन का कितना अंश राज्य को प्राप्त होता था यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। अल्तेकर की धारणा है कि भूमि की क्षमता के अनुसार यह कर १६ से २५ प्रतिशत तक था।[4] किन्तु निश्चित प्रमाण के अभाव में युक्तिसंगत अनुमान यह होगा कि गुप्त-काल में भी परम्परागत उत्पादन का छठा अंश ही लिया जाता रहा होगा।

गुप्तों के सामन्तों के कतिपय अभिलेखों में भूत-प्रत्याय शब्द का उल्लेख मिलता है। अल्तेकर ने इसकी व्याख्या की है—"अस्तित्व में आनेवाली वस्तु पर कर।"[5] इस प्रकार उनके अनुसार यह राज में बननेवाली वस्तुओं पर लगनेवाला कर था। कुछ

---

१. ए० इ० २५, पृ० ५२, पं० ८; का० इ० इ०, ३, पृ० २५६, पं० १२।

२. सामान्यतः हिरण्य सोने के अर्थ में समझा जाता है। इसलिए लोगों ने इसका यही अर्थ लिया है और उसे किसी अज्ञात प्रकार का कर माना है। किन्तु हिरण्य का अर्थ धन, नकदी आदि भी होता है, इसकी ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया है। इस अर्थ में हिरण्य का प्रयोग अर्थशास्त्र, मनुस्मृति तथा तत्प्रभृति अन्य अनेक ग्रन्थों में हुआ है। अर्वाचीन और प्राचीन कोषकारों को भी इस शब्द का यह अर्थ ज्ञात है। प्रस्तुत प्रसंग में यही अर्थ समीचीन भी है।

३. ए रेकर्ड ऑव बुद्धिस्ट किंगडम, पृ० ४२-४३।

४. वाकाटक गुप्त एज, पृ० २९१।

५. वही।

अन्य अभिलेखों से जान पड़ता है कि कारीगरों को भी कुछ कर देना पड़ता था[१] और व्यापारियों से भी व्यापार की वस्तुओं पर चुङ्गी ली जाती थी जिसे चुङ्गी अधिकारी लगाते और उगाहते थे।[२] इनके अतिरिक्त गुप्त-शासन के अन्तर्गत और कौन-से कर थे अथवा राज-कोष को भरने के और कौन-से साधन थे, कहा नहीं जा सकता।

सैनिक संघटन—आरम्भिक दिनों में गुप्त-सम्राटों ने देश में दूर तक विजय के निमित्त सैनिक अभियान किये थे। परवर्ती काल में उन्हें हूणों के भयंकर आक्रमणों से देश की रक्षा करनी पड़ी थी। अतः निस्संदिग्ध रूप से अनुमान किया जा सकता है कि गुप्त सम्राटों का अपना बहुत बड़ा सैनिक संघटन रहा होगा। किन्तु गुप्तकालीन सेना और उसके अधिकारियों के सम्बन्ध में अत्यल्प जानकारी ही उपलब्ध है।

यदि कामन्दकीय नीतिसार को प्रमाण माना जाय तो कहा जा सकता है कि गुप्त-सेना के पारम्परिक चार अंग—**रथ, पदाति, अश्व** और **हस्ति** रहे होंगे।[३] किन्तु कालिदास के ग्रन्थों में सैनिक प्रसंग में **रथ** का कोई उल्लेख नहीं मिलता। समुद्रगुप्त के नालन्द और गया ताम्र-शासनों में भी स्कन्धावार के उल्लेख में **रथ** की कोई चर्चा नहीं है।[४] किन्तु कतिपय सम्राटों ने अपने को अपने सिक्कों पर **अति रथ प्रवर** कहा है। इनसे ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त-काल में युद्ध की दृष्टि से **रथ** का महत्त्व कम हो गया था, पर उसका अस्तित्व मिटा न था। साथ ही गुप्त-काल में सेना के एक नये अंग नौसेना के विकसित होने की बात कालिदास के ग्रन्थों से ज्ञात होती है। उनमें **पदाति,**[५] **अश्व**[६] और **हस्ति**[७] के साथ **नौ**[८] का भी उल्लेख है। **नौ** का उल्लेख समुद्रगुप्त के उपर्युक्त नालन्द और गया ताम्र-शासन में भी हुआ है।

गुप्त-सेना में **पदाति, अश्वारोही** और **गजारोही** अंग होने का अनुमान सिक्कों और अभिलेखों से भी किया जा सकता है। सिक्कों पर अनेक राजाओं का अंकन अश्वारोही और प्रायः सभी सम्राटों का धनुर्धर रूप में अंकन हुआ है। प्रथम कुमारगुप्त का अंकन गजारूढ़ रूप में भी हुआ है। मुहरों, अभिलेखों और साहित्य में **अश्वपति**[९], **महाश्वपति**[१०] और **भटाश्वपति**[११] का उल्लेख मिलता है जो अश्वसेना के सेनापति प्रतीत

१. ए० इ०, २३, सं० ८, पं० ३।
२. वही, सं० १२, पृ० २९।
३. कामन्दकीय नीतिसार, १९।२३-२४।
४. ए० इ०, २५, पृ० ५२, पं० १; का० इ० इ०, ३, पृ० २५६, पं० १।
५. रघुवंश ४।४७।
६. वही ४।२९।
७. वही।
८. वही, ४।३६।
९. का० इ० इ०, ३, पृ० २६०।
१०. ए० स० इ०, ए० रि०, १९११-१२, पृ० ५२-५३।
११. वही, १९०३-०४, पृ० १०१-१०२।

होते हैं। इसी प्रकार महापीलुपति का उल्लेख समुद्रगुप्त के नालन्द और वैन्यगुप्त के गुनइघर ताम्र-शासन में हुआ है।[१] विशाखदत्त के मुद्राराक्षस में गजाध्यक्ष और हस्त्याश्वाध्यक्ष का उल्लेख मिलता है[२] जो हस्ति-सेना के सेनापति के द्योतक हैं।

अभिलेखों से बलाधिकृत और महाबलाधिकृत नामक दो अन्य सैनिक अधिकारियों का भी परिचय मिलता है। कदाचित् वे समूची सेना के सेनापति अथवा प्रधान सेनापति रहे होंगे। एक मुहर से युवराज के अधिकरण से सम्बद्ध बलाधिकृत का भी पता मिलता है। उससे अनुमान होता है कि युवराज के अधीन कोई युद्ध-विभाग होता था।

प्रयाग अभिलेख में तत्कालीन युद्ध में प्रयुक्त होनेवाले शस्त्रास्त्रों के रूप में परशु, शर, शंकु, शक्ति, प्रास, असि, तोमर, भिन्दिपाल, नाराच, वैतस्तिक का उल्लेख हुआ है।[३] कालिदास के रघुवंश से इतनी बात और ज्ञात होती है कि सैनिक लोग कवच और शिरस्त्राण धारण करते थे।[४]

विधि और न्याय—प्राचीन काल से ही भारत में प्रजा-विष्णु (अर्थात् राजा नहीं प्रजा ही सर्वोपरि है) की धारणा रही है। अतः राजा को प्रजा के निमित्त विधि स्थापित करने का अधिकार नहीं था। वह केवल **धर्म** (ऋषि-मुनियों द्वारा निर्धारित नियम), **व्यवहार** (प्रजा के रीति-रिवाज) और **चरित** (पूर्व के उदाहरण) के आधार पर प्रजा पर शासन करने का अधिकारी था। राजा इन तीनों के अभाव में ही अपना **शासन** प्रचलित कर सकता था।[५] महत्त्व प्रथम तीन का ही था और उनमें भी धर्म का सर्वोपरि स्थान था। अन्य दो का स्थान क्रमशः निम्न था। राज-शासन का स्थान सबसे नीचे था और वह प्रथम तीन के विरुद्ध नहीं जा सकता था।

धर्म की रचना आरम्भ में प्रजा और राजा के हित के निमित्त की गयी थी। पीछे समय-समय पर लोक प्रचलित धारणाओं, विश्वासों और परिवर्तित अवस्थाओं के अनुसार उनमें संशोधन-परिवर्तन परिवर्धन होता रहा। इस प्रकार गुप्त-काल तक विधि-साहित्य ने अपना एक नया रूप धारण कर लिया था जो **स्मृति** के नाम से प्रख्यात है। गुप्तकालीन विधि और न्याय की जानकारी प्राप्त करने की दृष्टि से बृहस्पति, नारद और कात्यायन स्मृतियों का अधिक महत्त्व है।

धर्मशास्त्रों और स्मृतियों के अनुसार विधि के अठारह विषय थे। किन्तु उनमें माल (सिविल) और फौजदारी (क्रिमिनल) जैसा कोई अन्तर पहले प्रकट नहीं किया जाता था। यह अन्तर पहली बार गुप्त-काल में देखने में आता है। बृहस्पति ने अठारह विषयों

---

१. सेलेक्ट इन्स्क्रप्शन्स, पृ० ३४३, पं० १५।
२. मुद्राराक्षस, अङ्क ३।
३. का० इ० इ०, ३, पृ० ८, पं० १७।
४. रघुवंश, ७।४८-४९।
५. नारदस्मृति, ३।१०।

की चर्चा करते हुए चौदह को धन-मूल और चार को हिंसामूल बताया है।[1] नारद के अनुसार विधि के निम्नलिखित अठारह विषय थे—(१) ऋण, (२) उपनिधि, (३) सम्भूयोत्थान (साझीदार), (४) दत्त-पुनरादान (दिये को वापस लेना), (५) अशुश्रुषाभ्युपेत्य (अनुबन्ध भंग), (६) वेतन-अनपकार (वेतन आदि न देना), (७) अस्वामिविक्रय (अनधिकार बिक्री), (८) विक्रियासम्प्रदान (बेची से मुकरना), (९) क्रीत्वानुशय (पूर्व-क्रय का अधिकार), (१०) समय-अनानपकार (सेवा सम्बन्धी अनुबन्ध), (११) क्षेत्र विवाद (भूमि सम्बन्धी झगड़े), (१२) स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध, (१३) दाय भाग (उत्तराधिकार), (१४) साहस (डकैती-चोरी), (१५) वाक्पारुष्य (अपमान, मानहानि), (१६) दण्डपारुष्य (आक्रमण), (१७) द्यूत (जुआ); (१८) प्रकीर्ण (विविध)।[2]

नारद ने विधि के इन मुख्य विषयों के १३२ विभेद भी बताये हैं। इनमें कुछ तो ऐसे हैं जो दीवानी और फौजदारी दोनों के अन्तर्गत आते हैं। गुप्त-काल में क्रय आदि के माध्यम से भू-सम्पत्ति का स्वामित्व बढ़ रहा था और उसके कारण कदाचित् धन-मूलक विवाद अधिक उठने लगे थे, क्योंकि इस काल में इसी प्रकार के विधि का महत्त्व अधिक दिखाई देता है।

बृहस्पति स्मृति के अनुसार गुप्त-काल में चार प्रकार के न्यायालय थे—(१) प्रतिष्ठित, (२) अप्रतिष्ठित; (३) मुद्रित और (४) शासित।[3] इन न्यायालयों की स्पष्ट रूपरेखा उपलब्ध नहीं है। शब्दों के आधार पर अनुमान किया जाता है कि प्रतिष्ठित न्यायालय, उन न्यायालयों को कहते रहे होंगे जिनकी स्थिति स्थायी थी अर्थात् वे किसी स्थान पर नियमित रूप से बैठा करती थीं। अप्रतिष्ठित न्यायालय सम्भवतः वे थे जिनका न कोई निश्चित स्वरूप और न उनका कोई स्थान था, वरन् किसी प्रयोजन विशेष के लिए स्थापित किये जाते थे अथवा न्यायालय का रूप धारण करते थे। हमारी धारणा है कि राज्यानुमोदित न्यायालय प्रतिष्ठित और जनानुमोदित न्यायालय अप्रतिष्ठित कहे जाते होंगे। मुद्रित न्यायालय के सम्बन्ध में कहा जाता है कि इन न्यायालयों में राजा द्वारा नियुक्त प्राड्विवाक (न्यायाधिकारी) में बैठते थे। उनके मुद्रित कहे जाने का लोगों ने यह अर्थ लगाया है कि प्राड्विवाक के पास न्यायालय की कार्रवाई को प्रामाणिक करने के निमित्त राजमुद्रा रहती होगी।[4] पर हमारी अपनी धारणा है कि इस प्रकार के न्यायालय राजमुद्रित आज्ञापत्रों द्वारा स्थापित किये जाते रहे होंगे और वे सीधे राजा की देख-रेख में रहे होंगे, इसलिए उन्हें मुद्रित कहते होंगे। शासित सम्भवतः वह

---

१. बृहस्पति स्मृति, २।५।
२. नारदस्मृति १।१६-१९; मनु (८।३-७), बृहस्पति (१०-२९), कात्यायन आदि स्मृतियों में यह सूची तनिक भिन्न है।
३. नारदस्मृति, १।५७-५८।
४. दीक्षितार, गुप्त पॉलिटी, पृ० १८४।

न्यायालय था जिसमें शासक स्वयं बैठता था और न्याय करता था। यह सम्भवतः सर्वोच्च न्यायालय था। प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित न्यायालयों के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे छोटे-मोटे अपराधों को देखते थे और वे केवल वाक्‌दण्ड और धिक्‌दण्ड दे सकते थे। मुद्रित और शासित न्यायालय आर्थिक एवं शारीरिक दण्ड देने के भी अधिकारी थे।

न्यायालयों के उपर्युक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त स्मृतियों से कुल, श्रेणी और पुग अथवा गण के अपने न्यायालय होने की बात भी कही गयी है;[1] यह भी ज्ञात होता है कि आरण्यकों और सैनिकों के भी अपने न्यायालय थे। ये सभी न्यायालय अपने समूह सीमा के भीतर कार्य करते थे। उन्हें साहस आदि भारी अपराधों के सम्बन्ध में न्याय करने का अधिकार न था। इससे धारणा होती है कि इनकी रूपरेखा पंचायतों सदृश रही होगी। कात्यायन ने कारीगरों, कृषकों आदि को सलाह दी है कि वे अपने झगड़ों का फैसला महत्तरों से करा लिया करें। महत्तरों का उल्लेख अभिलेखों में ग्राम और विधि-शासन के प्रसंग में बहुत हुआ है। अतः ऐसा जान पड़ता है कि अपनी सीमा क्षेत्र में महत्तर न्याय का काम भी देखते थे। स्मृतियों में जिन न्यायालयों को अप्रतिष्ठित कहा गया है, उनका तात्पर्य कदाचित् स्वनिर्मित होने के कारण महत्तरों के इन्हीं न्यायालयों से रहा होगा। इसी प्रकार कुल, श्रेणी, पुग अथवा गण द्वारा मान्य होने के कारण उनके न्यायालय प्रतिष्ठित न्यायालय कहे जाते रहे होंगे। ये स्थानीय जन-संस्थाएँ अपनी सीमा के अन्तर्गत अधिकांश विवादों को निपटा देती रही होंगी। इस प्रकार राज-न्याय की आवश्यकता कम ही पड़ा करती होगी। इन न्यायालयों से सन्तुष्ट न होने पर ही लोग मुद्रित और शासित न्यायालय में जाते होंगे जिन्हें अपील सुनने का अधिकार प्राप्त था।

इन जन-संस्थाओं के अतिरिक्त कुछ मुद्रित अथवा राज्य द्वारा मर्यादित स्थानीय न्यायालय भी हुआ करते थे, ऐसा भी अनुमान होता है। गुप्त-कालीन अनेक अभिलेखों और मुहरों में विषय-अधिष्ठान तथा ग्राम और वीथियों के प्रबन्ध-समितियों के प्रसंग में अधिकरण शब्द का प्रयोग हुआ है। इन अधिकरणों में, अभिलेखों के अनुसार, भूमि के क्रय-विक्रय का निर्णय हुआ करता था। गुप्त-काल की ही रचना मृच्छकटिक में न्याया-लय के एक प्रसंग में अधिकरणिक (अधिकरण का अधिकारी), श्रेष्ठि और कायस्थ का उल्लेख हुआ है। इस उल्लेख की तुलना अभिलेखों में उल्लिखित उस प्रबन्ध समिति से की जा सकती है जिसके सदस्यों के रूप में नगर-श्रेष्ठि और प्रथम कायस्थ का उल्लेख है। अन्तर इतना ही है कि उसके सदस्यों में सार्थवाह और प्रथम कुलिक का भी उल्लेख है। गुप्तोत्तर-कालीन साहित्य में तो स्पष्टतः न्यायालय के लिए अधिकरण शब्द का प्रयोग मिलता है। अतः यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि ये स्थानीय अधिकरण भू-व्यवस्था के अतिरिक्त न्याय का काम भी देखते थे। इसका संकेत नालन्द से प्राप्त उन

---

१. बृहस्पति स्मृति १।६५-७०; ७१-७४; ९३-९४।

दो मुहरों से भी होता है जिन पर धर्माधिकरण शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] इनसे यह जान पड़ता है कि विशिष्ट स्थानों पर, जिनमें नालन्द भी एक था, सामान्य अधिकरणों से भिन्न धर्माधिकरण थे जो सम्पत्ति सम्बन्धी विवादों को देखते थे।

स्मृतियों में सभा नामक एक न्यायालय का भी उल्लेख मिलता है, जो सम्भवतः उच्च न्यायालय था। इसके अधिकारी प्राड्विवाक कहलाते थे और उनकी नियुक्ति स्वयं राजा करता था और उसे न्याय करने का अधिकार प्रदान करता था। इन प्राड्विवाकों की नियुक्ति सम्भवतः वर्ण के आधार पर होती थी। मनु और याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मणों को इस कार्य के लिए सर्वोत्तम माना है। उनके बाद स्थान क्षत्रिय और वैश्यों का आता है। किन्तु शूद्र किसी भी अवस्था में इस पद के अधिकारी नहीं माने गये हैं।[2] विष्णु स्मृति का कहना है कि न्याय-प्रबन्ध विद्वान् ब्राह्मण को ही दिया जाना चाहिये।[3] कात्यायन ने भी इन स्मृतिकारों की बात का ही अनुमोदन किया है और शूद्र को प्राड्विवाक नियुक्त करना वर्जित किया है। इसे न्याय-सभा में प्राड्विवाक के साथ सात, पाँच अथवा तीन सभ्य बैठते थे।[4] जो वैश्य वर्ण के हो सकते थे, वे लोग न्यायव्यवस्था को देखते, विधि की व्याख्या करते और प्राड्विवाक को परामर्श देते थे और वह उनके मतानुसार अपना निर्णय देता। इस सभा को मृत्युदण्ड तक देने का अधिकार था।

शासक स्वयं सर्वोपरि न्यायकर्ता था। यदि कोई यह अनुभव करे कि उसके साथ समुचित न्याय नहीं हुआ है तो वह राजा के सम्मुख अपील कर सकता था। उस पर राजा कम-से-कम तीन सभ्यों की सहायता से मामले की पूरी छानबीन कर अपना निर्णय देता था जो अन्तिम और सर्वमान्य होता था। कालिदास की रचनाओं से यह ज्ञात होता है कि जब राजा न्यायकर्ता के रूप में अपने आसन पर बैठता था तो उसका आसन धर्मासन कहा जाता था। यदि राजा अस्वस्थता अथवा अन्य कार्यों के आधिक्य के कारण स्वयं सर्वोच्च न्यायकर्ता का कर्तव्य पालन करने में असमर्थ होता तो उस अवस्था में राजधानी का सर्वोच्च प्राड्विवाक् उसका आसन ग्रहण करता था।

आज की तरह उन दिनों राज्य को अपनी ओर से किसी अपराध के न्यायविचार का अधिकार न था। न्यायालय तभी किसी मामले पर विचार करती थी जब जनता का कोई व्यक्ति उसके सम्मुख वाद उपस्थित करे। वाद उपस्थित होने के बाद प्रतिवादी को सूचना दी जाती थी और उसे न्यायालय के सम्मुख उपस्थित होकर अपनी निरपराधिता सिद्ध करना पड़ता था। न्यायालय में उपस्थित न होने पर प्रतिवादी को गिरफ्तार करके अदालत में लाया जाता था। प्रतिवादी द्वारा अपनी बात प्रस्तुत किये जाने के बाद साक्षी पर विचार किया जाता था। आवश्यक होने पर

१. नालन्द एण्ड इट्स एपीग्राफिक मैटीरियल्स, पृ० ५२।
२. मनुस्मृति, ८।२०-२१; याज्ञवल्क्य स्मृति २।३।
३. विष्णुस्मृति ३।७२-७३।
४. बृहस्पतिस्मृति १।६३।

वैयक्तिक साक्षी न लेकर आलेख-साक्ष्य देखा जाता था। तदनन्तर पक्षापक्ष पर विचार कर न्यायाधीश अपना निर्णय देता था जो दोनों पक्ष पर लागू होता था

यदि उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर न्यायालय किसी उचित निष्कर्ष पर न पहुँच सके तो उस अवस्था में दिव्य का सहारा लिया जाता था। मनु ने दो प्रकार के दिव्यों का उल्लेख किया था।[1] याज्ञवल्क्य[2] और नारद[3] ने पाँच और बृहस्पति[4] ने नौ प्रकार के दिव्य बताये हैं। इनमें जल, अग्नि और विष प्रमुख हैं। कदाचित् दिव्य प्रयोग का अवसर आने से पूर्व ही अपराधी अधिकांशतः अधीर हो उठते रहे होंगे। इस प्रकार न्याय का समाधान अपने-आप हो जाता रहा होगा।

फाह्यान का कहना है कि अपराधियों को शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाता था। अपराध की गुरुता के अनुसार उन्हें केवल आर्थिक दण्ड मिलता था। यहाँ तक कि राजद्रोह का अपराध दुहराने पर भी अपराधी का दाहिना हाथ मात्र ही काटा जाता था।[5] किन्तु चीनी यात्री की बात ठीक नहीं जान पड़ती। हो सकता है कि उसे शारीरिक दण्ड देखने या सुनने का अवसर न मिला हो। स्मृतियों में स्पष्टतः आर्थिक दण्ड के अतिरिक्त शारीरिक दण्ड का उल्लेख मिलता है। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख से भी यातना दण्ड के प्रचलित होने की बात ज्ञात होती है। उसमें कहा गया है कि उनके शासन-काल में दण्ड के अधिकारी किसी भी व्यक्ति को आवश्यकता से अधिक यातना नहीं दी जाती थी।[6] इससे यह भी ध्वनित होता है कि उनके शासन से पूर्व दण्ड-स्वरूप कठोर यन्त्रणा दी जाती थी। किन्तु इसकी सत्यता परखने का कोई साधन नहीं है। यन्त्रणा के अतिरिक्त उन दिनों मृत्यु-दण्ड का भी प्रचलन था। मृत्यु-दण्ड की विस्तृत चर्चा मृच्छकटिक में हुई है। मृत्यु-दण्डित चारुदत्त को वधिक वध-स्थान तक राज-मार्ग से ले जाया गया। मार्ग में जगह-जगह रुक कर ढोल पीट कर उसके अपराध की घोषणा की गयी और कहा गया कि उसे हत्या के अपराध में राजाज्ञा से फाँसी दी जा रही है। साथ ही यह भी घोषित किया गया कि यदि कोई इसी प्रकार का अपराध करेगा तो उसे भी राजा की आज्ञा से मृत्यु-दण्ड प्राप्त होगा। वध-स्थान पहुँचने पर उसे चित लेटने को कहा गया और वधिक ने तत्काल तलवार से उसका अन्त कर दिया।[7] गुप्त-काल में हाथी से कुचलवा कर भी मृत्युदण्ड दिया जाता था ऐसा मुद्राराक्षस से प्रकट होता है।[8]

---

१. मनुस्मृति ८।११४।
२. याज्ञवल्क्यस्मृति ४।९४।
३. नारदस्मृति १।२५०।
४. बृहस्पतिस्मृति १०।४।
५. ए रेकर्ड आव बुद्धिस्ट किंगडम्स, पृ० ४३।
६. का० इ० इ०, ३, पृ० ६२, पंक्ति ६।
७. मृच्छकटिक, अङ्क १०।
८. मुद्राराक्षस, अङ्क ५।

गुप्त-काल में शान्ति और सुरक्षा के निमित्त पुलिस व्यवस्था का अनुमान केवल अभिलेखों में प्राप्त महादण्डनायक[1], दण्डनायक[2], दण्डिक और दण्डपाशिक[3] शब्दों से ही किया जा सकता है। ये तत्कालीन किन्हीं अधिकारियों के पद-बोधक हैं। दण्ड शब्द का तात्पर्य सेना और न्याय दोनों से होता है। इस कारण कुछ लोग इन पदों का सम्बन्ध सेना से मानते हैं; पर अधिकांशतः धारणा यही है कि ये पद न्याय से सम्बन्ध रखते हैं। हमारी धारणा है कि ये लोग सेना और न्यायाधिकारियों से, जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, सर्वथा भिन्न थे और वे पुलिस विभाग से सम्बन्ध रखते हैं। महादण्डनायक और दण्डनायक पुलिस विभाग के सर्वोच्च अधिकारी होंगे और दण्डिक और दण्डपाशिक उनके नीचे के अधिकारी। इनसे नीचे सामान्य सिपाही चाट और भाट कहलाते थे। इनके अतिरिक्त चौरोद्धरिक नामक एक अन्य अधिकारी का भी उल्लेख मिलता है। सम्भवतः यह चोरों की निगरानी करनेवाला पुलिस तथा गुप्तचर विभाग का अधिकारी रहा होगा।

सामन्त और मित्र—मौर्य-साम्राज्य के अन्तर्गत विजित राज्यों की क्या स्थिति थी इसका स्पष्ट अनुमान नहीं किया जा सकता; पर जो कुछ उपलब्ध है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि विजित शासक आमूल नष्ट कर दिये गये थे। उनका अपना कोई अस्तित्व न था। अतः गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत सर्वथा एक नयी बात देखने में यह आती है कि जिन राजाओं ने अपनी पराजय मान कर गुप्त-सम्राट् की अधीनता स्वीकार कर ली, उन्हें उन्होंने अपने राज्य का अधिकारी बना रहने दिया। वे लोग अपने राज्य पर शासन करते रहे। उन्हें अपने सामन्तों को अपने अधीन रखने की स्वतन्त्रता बनी रही। एरण अभिलेख से ज्ञात होता है कि बुधगुप्त के सामन्त सुरश्मिचन्द्र के अधीन मातृविष्णु सामन्त के रूप में थे।[4] पर साथ ही वे अपने राज्य से उपलब्ध राजस्व के पूर्ण स्वामी न थे। क्योंकि वैन्यगुप्त के सामन्त रुद्रदत्त को अपने राजस्व का कुछ भाग दान करने से पूर्व सम्राट् की अनुमति लेनी पड़ी थी।[5]

इन अधीनस्थ राज्यों की, जिन्हें सामन्त की संज्ञा दी गयी है, आन्तरिक स्वतन्त्रता बहुत कुछ उनके आकार, उनकी भौगोलिक स्थिति और आर्थिक साधन पर निर्भर करती रही होगी। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सम्राट् की ओर से उसमें हस्तक्षेप कम ही होता होगा। समुद्रगुप्त के प्रयाग अभिलेख से यह बात ज्ञात होती है कि इन सामन्तों के लिए अनिवार्य था कि वे सम्राट् को सभी प्रकार के कर दें

---

१. आ० स० इ०, ए० रि०, १९११-१२, पृ० ५४-५५; १९०३-०४, पृ० १०९।
२. वही, १९११-१२, पृ० ५४-५५।
३. वही, १९०३-०४, पृ० १०८।
४. का० इ० इ०, ३, पृ० ८९।
५. सेलेक्ट इन्स्क्रप्शन्स, पृ० ३४१-४२।

(सर्वकरदान), राजाज्ञा को मानें (आज्ञाकरण), सम्राट् की अभ्यर्थना के लिए राज-दरबार में उपस्थित हों (प्रणामागमन) ।[१]

सामन्तों के अतिरिक्त साम्राज्य की सीमा पर स्थित राज्यों के साथ भी साम्राज्य के मैत्री सम्बन्ध होने की बात प्रयाग अभिलेख से ज्ञात होती है। उससे यह बात भी ज्ञात होती है कि उनका मैत्री सम्बन्ध समानता पर आधारित न होकर भय पर आधारित था। उक्त अभिलेख[२] में कहा गया है कि वे लोग भी सम्राट् की अपनी सेवाएँ भेंट करते थे (आत्म-निवेदन); अपनी कन्याएँ भेंट में लाकर सम्राट् से विवाहित करते थे (कन्योपायन दान) और अपने राज्य पर शासन करते रहने के निमित्त राज-मुद्रांकित शासन प्राप्त करना (गरुत्मदङ्क-स्वविषयभुक्ति-शासन-याचना) आवश्यक समझते थे। यदि उक्त अभिलेख के इस कथन में तनिक भी सत्यता हो तो कहना होगा कि इन सीमान्त मित्र राज्यों की स्थिति भी साम्राज्यान्तर्गत सामन्तों से बहुत भिन्न न थी।

इन मित्रों और सामन्तों के सम्बन्ध की देख-रेख के लिए एक अधिकारी था जिसे सन्धिविग्रहिक कहा गया है। उसका मुख्य काम सामन्तों और मित्रों के साथ सद्भाव बने रहने के प्रति सजग रहना तथा विद्रोहोन्मुख राज्यों का दमन करना रहा होगा। कदाचित् वह युद्ध में सम्राट् के साथ उपस्थित भी रहता था। कुछ विद्वानों ने आधुनिक युद्ध-मन्त्री के ढंग पर उसके युद्ध और शान्ति मन्त्री होने की कल्पना की है; पर वह किसी प्रकार मन्त्रिमण्डल का सदस्य था, यह नहीं कहा जा सकता। उसका निरन्तर सम्बन्ध सम्राट्, सामन्त और सैनिक अधिकारियों से रहता रहा होगा, इसलिए उसे एक महत्त्व का अधिकारी अवश्य कहा जा सकता है, पर मन्त्री कदापि नहीं।

सामन्तों और सम्राट् के बीच की कड़ी के रूप में दूत की कल्पना की जा सकती है जो बहुधा सम्राट् की ओर से सामन्तों और मित्रों के दरबार में रहा करता होगा और उनकी गति-विधि से सम्राट् को सूचित करता रहा होगा। मित्र राज्यों के दूत भी राजधानी में रहते रहे होंगे, पर इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता।

---

१. का० इ० इ०, ३, पृ० ८, पं० २२।
२. वही, पं० २४।

सामाजिक जीवन

सामान्यतः देखा यह जाता है कि राजनीतिक स्थिति के परिवर्तन के साथ नयी व्यवस्थाओं का जन्म होता है और उससे समाज प्रभावित होकर एक नया रूप धारण करता है। इस कारण ही इतिहास के क्षेत्र में राजनीतिक काल-विभाजन के अनुसार ही समाज के इतिहास को देखा और परखा जाता है। पर भारतीय समाज पर राजनीतिक परिस्थितियों से उत्पन्न धक्के लगे अवश्य, पर ये धक्के कुछ ऐसे ही रहे हैं, जैसे समुद्र की लहरें, जो अपनी भीषणता लिये किनारे की ओर बढ़ती हैं पर किनारे से टकरा कर लौट आती हैं। किनारों पर उसका प्रभाव क्षीण ही होता है। भारतीय समाज का जो ढाँचा वैदिक काल में बना, वह निरन्तर आज तक चला आ रहा है। उसी ढाँचे के भीतर भारतीय समाज ने धीरे-धीरे सामयिक आवश्यकता और परिस्थितियों के अनुसार नयी बात को ग्रहण किया। उसने पुरानी बातों को कब और किस प्रकार छोड़ा, इसका सहज अनुमान नहीं किया जा सकता। इस प्रकार भारतीय सामाजिक जीवन एक बँधी-बँधाई परम्परा का जीवन है जिसे किसी काल-विभाजन रेखा द्वारा अलग नहीं किया जा सकता। दीर्घ अन्तराल पर समाज के स्वरूप का अन्तर्विश्लेषण मात्र किया जा सकता है।

गुप्त काल के सामाजिक जीवन का अपना कोई अलग स्वरूप है, ऐसा कहना कठिन है। इतना ही कहा जा सकता है कि वैदिक काल में समाज का प्रमुख रूप से जो ग्रामीण स्वरूप था वह मौर्यकाल में नागरिकता की ओर उन्मुख हुआ था; गुप्त काल में ग्रामीण और नागरिक दोनों ही का एक समन्वित और विकसित रूप देखने को मिलता है। किन्तु इस रूप में भी उसे पूर्ववर्ती ढाँचे से अलग नहीं किया जा सकता। गुप्त काल से कुछ ही सौ वर्ष पहले देश पर विदेशी आक्रामकों का प्रभुत्व था। उनके रहन-सहन, रीति-रिवाज, खान-पान का भारतीय समाज पर कुछ उसी तरह का प्रभाव पड़ा होगा, जैसा आज हम अंग्रेजों का अपने जीवन पर देखते हैं; पर इस प्रभाव की गहराई गुप्त-काल में उतने स्पष्ट रूप से परिलक्षित नहीं होती, जितना कि हमारे जीवन पर पाश्चात्य जीवन का प्रभाव व्याप्त है।

गुप्त-कालीन जीवन की कल्पना प्रायः तत्कालीन रचित पुराणों और स्मृति-ग्रन्थों तथा साहित्यिक रचनाओं के आधार पर की जाती है। पर पुराण और स्मृति-ग्रन्थ किस सीमा तक रचनाकारों की अपनी कल्पना के आदर्श रूप हैं अथवा किस सीमा तक वे अपने पूर्ववर्तियों के कथन से अनुप्राणित हैं और किस सीमा तक वे वास्तविक जीवन के प्रतिबिम्ब हैं, कहना कठिन है। उनकी रचना का उद्देश्य तत्कालीन समाज का चित्र प्रस्तुत करना नहीं, वरन् इस बात का प्रतिपादन करना था कि समाज को किस प्रकार

का आचरण करना चाहिए। इसलिए यह सोचना अनुचित न होगा कि उनमें यथार्थ की अपेक्षा काल्पनिक आदर्श ही अधिक है। यह अवश्य है कि उन्होंने जो कुछ लिखा है, उसे सामयिक परिस्थितियों के परिपृष्ठ में ही लिखा होगा; इस कारण उनमें सामयिक अवस्था की एक झलक देखी जा सकती है। पर इस झलक की मात्रा का सहज अनुमान नहीं किया जा सकता। पुराणों और स्मृतियों से सर्वथा भिन्न भावना काव्य, आख्यान, नाटक आदि साहित्य की कोटि में आनेवाली रचनाओं की थी। उनका उद्देश्य लोक-रंजन ही मुख्य था; अतः उनमें सम-सामयिक समाज के यथार्थ चित्रण की अपेक्षा अधिक की जा सकती है। साथ ही इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि उनमें भी लेखक का अपना काल्पनिक आदर्श और पूर्व-परम्परा का मोह भी अवश्य निहित रहा होगा पर इसकी मात्रा अधिक न होगी। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर सामाजिक जीवन की जानकारी के लिए पुराणों और स्मृतियों की अपेक्षा इस सामग्री को अधिक महत्त्वपूर्ण और विश्वसनीय कहा जा सकता है। किन्तु वर्तमान अवस्था में दोनों प्रकार के साधनों का सहारा लिये बिना तत्कालीन समाज का स्वरूप उपस्थित करना सम्भव नहीं है। यहाँ जो कुछ कहा गया है वह दोनों प्रकार की सामग्री पर आधारित है; प्रयास यह अवश्य रहा है कि बात सन्तुलित रूप में उपस्थित की जाय। फिर भी इस स्वरूप को पूर्णतः यथार्थ मानना उचित न होगा; उसे आदर्श से अनुप्राणित कहना अधिक संगत होगा।

वर्ण—वैदिक काल से ही भारतीय समाज का आधार वर्ण रहा है। यों तो वर्ण का अर्थ रंग है, इसलिए समझा यह जाता है कि आर्यों ने इस शब्द का मूल प्रयोग अपने और अपने से भिन्न अनार्यों के बीच अन्तर व्यक्त करने के लिए किया था। पीछे चल कर जब व्यावसायिक विकास और व्यावसायिक योग्यता ने पारिवारिक रूप धारण किया तो यह शब्द जातिबोधक बन गया। ऋग्वेद काल में ही वैदिक समाज चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—में बँट गया था। ऋग्वेद के दशम मण्डल की एक ऋचा में उनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के शरीर से बतायी गयी है। कहा गया है कि ब्राह्मण उनके मुख से, क्षत्रिय उनकी भुजाओं से, वैश्य उनकी जंघाओं और शूद्र उनके पैरों से उत्पन्न हुए। इस प्रकार आलंकारिक ढंग से चारों वर्णों की व्यावसायिक स्थिति का वर्णन किया गया है। इसके अनुसार धर्म सम्बन्धी ज्ञान के शिक्षक और प्रचारक ब्राह्मण, युद्ध-रत लोग क्षत्रिय, शारीरिक श्रम कर धन पैदा करने वाले वैश्य और सेवा का कार्य करने वाले शूद्र कहलाये। इस प्रकार आरम्भ में वर्ण कर्म-बोधक था और उसमें किसी प्रकार का कोई कठोर विभाजन न था। धीरे-धीरे उसने कर्मणा विभाजन के स्थान पर जन्मना समाज अथवा जाति का रूप ले लिया और मनु-स्मृति के समय तक उसने अपना पूर्णतः कठोर रूप धारण कर लिया था। गुप्तकालीन स्मृतियों में समाज की झलक वर्ण के इसी कठोर रूप में मिलती है। इसी प्रकार की वर्ण-व्यवस्था का चित्रण कालिदास की रचनाओं में भी हुआ है। पर व्यवहार में वर्ण-व्यवस्था का कठोर रूप प्रकट नहीं होता। उसकी कठोरता गुप्तकाल में टूटने लगी थी।

ब्राह्मण—धर्मशास्त्रों के अनुसार ब्राह्मण का कर्तव्य अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन और दान और प्रतिग्रह था[1]। स्मृतियों में यह भी कहा गया है कि ब्राह्मणों को ब्रह्म-धारण (ब्रह्म-ज्ञान) और नियम-धारण (कर्तव्य-पालन) में निष्णात होना चाहिए[2] और उनमें विश्व-प्रेम की भावना होनी चाहिए। करमदण्डा अभिलेख में तप, स्वाध्याय करनेवाले तथा सूत्र, भाष्य और प्रवचन में निष्णात ब्राह्मणों का उल्लेख हुआ है;[3] एरण अभिलेख में मातृविष्णु को विप्रर्षि, स्वकर्माभिरत और क्रतु-याजी (वैदिक-यज्ञ-कर्ता) कहा गया है।[4] अन्य अभिलेखों से ब्राह्मणों के सिद्धि और मोक्ष की प्राप्ति के निमित्त ध्यान में एकाग्र योगी और भक्ति के साथ तप-रत मुनि होने का अनुमान होता है।[5] इसके साथ ही यह बात भी ज्ञात होती है कि ब्राह्मण लोग अपना अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन का काम छोड़ कर दूसरे काम भी करते थे।[6] स्मृतियों में कहा गया है कि आकस्मिक दुर्घटना घटित होने अथवा विपत्ति पड़ने पर वे लोग अपना साधारण धर्म छोड़ कर, अन्य कार्य कर सकते हैं। मनु का कहना है कि यदि ब्राह्मण अपने निर्धारित कर्मों से जीविका न चला सके तो उसे क्षात्र-कर्म करना चाहिए।[7] वशिष्ठ ने भी उनके शस्त्र धारण करने का विधान किया है।[8] पाराशर ने आपत्काल में ब्राह्मण को वैश्य-कर्म करने की भी छूट दी है।[9] मनु ने भी उनके कृषि और गोरक्षा द्वारा जीवन-यापन की भी बात कही है और व्यापार करने की भी छूट दी है;[10] केवल अस्त्र-शस्त्र, विष, मास, सुगन्धि, दूध, दही, घी, तेल, मधु, गुड़, कुश, मोम आदि बेचने से वर्जित किया है।[11] स्मृतिकारों ने आपद्धर्म की ओट में ब्राह्मणों के लिए क्षात्र और वैश्य-कर्म करने की जो यह बात कही है, वह गुप्तकालीन सामाजिक जीवन में एक सामान्य-सी बात हो गयी थी, यह उन्हीं स्मृतियों की अन्य बातों से स्पष्ट ज्ञात होता है। उन्होंने अमात्यों की नियुक्ति ब्राह्मणों में से ही किये जाने की बात कही है;[12] न्यायाधिकारी के पदों पर ब्राह्मणों के रखने की बात वे कहते हैं।[13] यही नहीं, एरण के अभिलेख से भी स्पष्ट प्रकट होता है कि सात्विक ब्राह्मण परिवार भी अपना धर्म छोड़ कर

---

१. मनुस्मृति, १०।७५।
२. वही, १०।३।
३. ए० इ०, १०, पृ० ७२।
४. का० इ० इ०, ३, पृ० ८९, पं० ४-५।
५. वही, पृ० ८१, पं० १
६. वही, पृ० ८९, पं० ७।
७. मनुस्मृति, १०।८१।
८. वशिष्ठस्मृति, अ० २।
९. पाराशरस्मृति, २।२।
१०. मनुस्मृति, १०।८२।
११. वही, १०।८८।
१२. कात्यायनस्मृति, श्लो० ११।
१३. मनुस्मृति ८।२०-२१; याज्ञवल्क्यस्मृति, २-३।

क्षात्र धर्म ग्रहण कर लिया करता था। उक्त अभिलेख में बताया गया है कि मातृ-विष्णु के प्रपितामह और पितामह इन्द्रविष्णु और वरुणविष्णु ब्राह्मण धर्म में निष्ठ थे; उनके पिता ने उसे त्याग कर सेना में प्रवेश किया और क्रमशः उन्नति कर राजपद प्राप्त किया। स्वयं मातृविष्णु का उल्लेख उक्त अभिलेख में सैनिक के रूप में हुआ है।[१] शूद्रक कृत मृच्छकटिक का प्रमुख पात्र चारुदत्त ब्राह्मण होते हुए वणिक का कार्य करता था और उसकी ख्याति सार्थवाह के रूप में थी। इस प्रकार गुप्त काल में वर्ण-व्यवस्था में जो कठोरता थी वह टूटने लगी थी, यह उन उदाहरणों से स्पष्ट लक्षित होता है।

ब्राह्मणों को जो सर्वोच्च सामाजिक स्थान प्राप्त था, उसके कारण उन्हें अनेक प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त थीं। राज्य उनसे किसी प्रकार का कर नहीं लेता था। मनु का कहना था कि धनाभाव होने पर भी राजा श्रोत्रिय ब्राह्मणों से कोई कर न ले तथा राज्य में रहने वाला कोई ब्राह्मण भूखा न रहने पाये।[२] उनकी तो यह भी धारणा थी कि जिस राज्य में श्रोत्रिय भूखा रह जाता है, उसका राज्य दरिद्र हो जाता है।[३] यही मत नारद आदि गुप्तकालीन स्मृतिकारों का भी था।[४] यही नहीं, अपराधी ब्राह्मणों के प्रति भी स्मृतिकारों का दृष्टिकोण अत्यन्त उदारता का रहा है। भयंकर-से-भयंकर अपराध करने पर भी ब्राह्मण को मृत्युदण्ड नहीं दिया जा सकता था। अधिक-से-अधिक उसे देश निष्कासन का ही दण्ड दिया जा सकता था।[५] अर्थ दण्ड भी उन्हें अन्य वर्णों के अपराधियों से कम दिया जाता था।

गुप्त-काल से पहले ही देश, धर्म, भोजन और वैदिक-शाखा के अनुसार ब्राह्मणों में उपभेद आरम्भ हो गया था। स्मृतियों में प्रायः देश-धर्म और खान-पान वैदिक शाखाओं के आधार पर ब्राह्मणों के उपभेदों का उल्लेख मिलता है; किन्तु गुप्तकालीन अभिलेखों में यह भेद गोत्र और प्रवर के आधार पर ही प्रकट किया गया है। उनसे कोशल[६], मध्यप्रदेश[७], उत्तरप्रदेश और उड़ीसा में यजुर्वेदीय ब्राह्मणों की प्रधानता दिखाई पड़ती है। उसी की शाखाओं के ब्राह्मणों को दान दिये जाने का उल्लेख प्रायः इस काल में मिलता है। इसी प्रकार सुराष्ट्र में सामवेदीय ब्राह्मणों की प्रधानता जान पड़ती है;[८] यदा कदा उत्तरप्रदेश में भी सामवेदीय ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है।[९] अथर्ववेदीय ब्राह्मणों का यदा कदा और ऋग्वेदीय ब्राह्मणों का कोई उल्लेख नहीं

---

१. का० इ० इ०, ३, पृ० ८९, पं० ४-७।
२. मनुस्मृति, ७।१३३।
३. वही, ७।१३४।
४. नारदस्मृति, ४।१४।
५. मनुस्मृति, ८।३८०-८१।
६. ए० इ०, ८, पृ० ३८७; ९, पृ० १७३-७८।
७. का० इ० इ०, ३, पृ० ९०, १०३, १९३।
८. ए० इ०, ११, पृ० १०८; १७, पृ० १०७, ११०, ३४८; १५, पृ० २५७।
९. का० इ० इ०, ३, पृ० ७०।

मिलता। इसका क्या कारण है कहना कठिन है। शाखाओं में मुख्य रूप से तैत्तिरीय[1], राणायनीय[2], मैत्रायणी[3], माध्यन्दिन[4], वाजसेनीय[5] आदि का और गोत्रों में आत्रेय,[6] औपमन्यव,[7] भरद्वाज,[8] भार्गवन,[9] गौतम,[10] गोतम,[11] कण्व,[12] कौत्स,[13] काश्यप,[14] कौण्डिन्य,[15] मौद्गल्य,[16] पराशर्य,[17] शाण्डिल्य,[18] शर्कराक्ष,[19] शाशातनेय,[20] शाट्यायन[21], वर्षगण[22], वासुल[23], वत्स,[24] वात्स्य,[25] विष्णुवृद्ध[26] और वाजि[27] का उल्लेख अभिलेखों में मिला है।

क्षत्रिय—धर्मशास्त्रों के अनुसार क्षत्रिय का कर्तव्य अध्ययन, यजन, दान, शस्त्राजीव और भूतरक्षण था। विष्णुस्मृति के अनुसार क्षत्रिय का मुख्य कर्तव्य प्रजापालन था।[28] आदि काल से ही उनका हाथ मुख्यतः राज्यप्रबन्ध में था और वे प्रायः शासक और सैनिक होते थे। स्मृतिकारों ने अपनी वर्ण-व्यवस्था में इनका स्थान

---

१. वही, पृ० २४६, पं० १८।
२. वही, पृ० ७०, पं० ६।
३. वही, पृ० ८९, पं० ५।
४. वही, पृ० ९६, पं० ८: पृ० ११८, पं० ७।
५. वही, पृ० १०३, पं० ९; पृ० ११८, पं० ७।
६. वही, पृ० २३९, पं० ५३।
७. वही, पृ० १०८, पं० ८।
८. वही, पृ० १०३, पं० ७; पृ० २३९, पं० ४५; पृ० २९५, पं० २२-२३।
९. वही, पृ० १०३, पं० १०।
१०. वही, पृ० २३९, पं० ५४।
११. वही, पृ० २७०, पं० ५।
१२. वही, पृ० ११८, पं० ७।
१३. वही, पृ० ३५, पं० ४; पृ० ९६, पं० ९; पृ० १०३, पं० ९।
१४. वही, पृ० २३९, पं० ४६।
१५. वही, पृ० १९८, पं० ९; पृ० २३९, पं० ४७।
१६. वही, पृ० २४६, पं० १९।
१७. वही, पृ० २३९, पं० ४६।
१८. वही, पृ० २४०, पं० ५८।
१९. वही, पृ० १७९, पं० ६५।
२०. वही, पृ० १२२, पं० ७।
२१. वही, पृ० २३९, पं० ४५, ५९।
२२. वही, पृ० ७०, पं० ६।
२३. वही, पृ० १०३, पं० ११।
२४. वही, पृ० ११६, पं० २७; पृ० १९८, पं० १०।
२५. वही, पृ० २३९, पं० ४५, ४९।
२६. वही, पृ० २३९, पं० ३।
२७. ए० इ०, १०, पृ० ७१, पं० ४।
२८. विष्णु-स्मृति, ५।३-४।

ब्राह्मणों के बाद रखा है; किन्तु बौद्ध साहित्य से ब्राह्मणों की अपेक्षा इनकी प्रधानता अधिक प्रकट होती है। बौद्ध और जैन आगमों में तो यहाँ तक कहा गया है कि धर्म-प्रवर्तक सदैव क्षत्रिय कुल में ही जन्म लेते हैं।[1] वस्तुस्थिति जो भी हो, इतना तो निःसंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि क्षत्रियों में विद्वत्ता और गुरुता के उदाहरण प्राचीन काल में भी कम नहीं हैं। जनक, प्रवाहन, जैबालि उस काल के ऐसे ही उल्लेखनीय नाम हैं; इन पर वैदिक साहित्य गर्व करता है। पीछे भी राजा शूद्रक ऋग्वेद, सामवेद, गणित, वैशेषिकी, हस्तविद्या का ज्ञाता कहा गया है।[2] गुप्त सम्राटों में स्वयं समुद्रगुप्त का परिचय विद्वान् कविराज के रूप में मिलता है।[3] ब्राह्मणों के समान ही स्मृतिकारों ने क्षत्रियों के लिए आपद्धर्म में वैश्यकर्म करने का विधान किया है; पर क्षत्रिय सामान्य भाव से वैश्यकर्म करते थे यह स्कन्दगुप्त-कालीन इन्दौर ताम्र-लेख से ज्ञात होता है। वहाँ के तैलिक-श्रेणी में एक क्षत्रिय सम्मिलित था।[4]

उपलब्ध अभिलेखों में क्षत्रियों से सम्बन्धित प्रसंग नहीं ही आते हैं; इसलिए उनसे तो यह ज्ञात नहीं हो पाता कि ब्राह्मणों की तरह ही उनमें भी किसी प्रकार की उप-जातियों का विकास हुआ था या नहीं। किन्तु साहित्य से यह बात प्रकट होती है कि वंश अथवा कुल के आधार पर उनमें वर्गीकरण होने लगे थे। यथा—सूर्यवंशी,[5] सोमवंशी,[6] पुरुवंशी,[7] क्रथकैशिक,[8] नीपवंशी,[9] पाण्ड्य[10] आदि। गुप्त-पूर्व काल में यवन, शक, कुशाण आदि विदेशी जातियाँ इस देश में आयी थीं और इस देश में रहकर यहाँ के सामाजिक जीवन में आत्मसात् हो गयीं। उनके सम्बन्ध में लोगों की धारणा है कि ये क्षत्रिय समाज में ही अन्तर्भूत हुई होंगी; ऐसी अवस्था में तो क्षत्रिय समाज के अन्तर्गत उन्होंने एक उप-जाति का ही रूप धारण किया होगा; पर उनके सम्बन्ध में भी स्पष्ट कुछ ज्ञात नहीं होता।

वैश्य—भारतीय समाज का तीसरा वर्ण अथवा वर्ग वैश्यों का था। धर्मशास्त्रों में इनका कर्तव्य अध्ययन, यजन, दान, कृषि, पशुपालन और वाणिज्य बताया गया है। इनमें से प्रथम तीन का सम्बन्ध मुख्यतः वैयक्तिक जीवन से और तीन का समाज से था। अतः स्मृतियों ने वैश्य-कर्म के रूप में उन अन्तिम तीन का ही उल्लेख किया

---

१. जातक, ३३, ५२।
२. मृच्छकटिक, अंक १।
३. पीछे, पृ० ७, पं० २७।
४. का० इ० इ०, ३, पृ० ७०, पं० ६-८।
५. रघुवंश, १।२।
६. विक्रमोर्वशीय, अंक ५।
७. रघुवंश, ८।८२।
८. वही।
९. वही, ६।४६।
१०. वही, ६।६०।

है।[1] विष्णुस्मृति ने इन तीन कामों के अतिरिक्त ब्राह्मण और क्षत्रियों की सेवा भी वैश्य-कर्म बताया है।[2] यदि उनके इस कर्म को ध्यान दिया जाय तो कहा जा सकता है कि वैश्य समाज का सबसे बड़ा वर्ग रहा होगा; समाज पर उसका सबसे अधिक प्रभाव रहा होगा और उसका बहुत महत्त्व माना जाता रहा होगा। तथापि स्मृति-कारों ने उन्हें अत्यन्त हेय दृष्टि से देखा है। मनु और वशिष्ठ स्मृतियों में वैश्य अतिथि को शूद्र के समान भृत्य के साथ भोजन कराने का विधान किया है।[3] याज्ञवल्क्य स्मृति में वैश्यों के लिए शूद्रों के समान अशौच बताया है। पर यह स्मृतिकारों के अहं का द्योतकमात्र है। उनका कार्य कदापि निन्दित न था, यह स्वयं स्मृतिकारों की बातों से ही स्पष्ट है। उन्होंने आपत्ति काल में वैश्य-कर्म करने की छूट ब्राह्मणों और क्षत्रियों को दी है[4] और गुप्त काल के वास्तविक जीवन में हम ब्राह्मण और क्षत्रियों को वैश्य-कर्म करते पाते हैं। वैश्य समाज में पर्याप्त रूप से प्रतिष्ठित थे, यह इस बात से स्पष्ट है कि वे न्याय सभा के सदस्य के रूप में न्यायालय के कार्यों में भाग लेते थे।[5] विषय आदि की शासन-परिषदों में श्रेष्ठि, सार्थवाह, कुलिक आदि के प्रतिनिधि रहते थे।[6] वैश्य लोग शस्त्र भी धारण करते रहे हों तो कोई आश्चर्य नहीं।[7] स्वयं गुप्त शासक वैश्य वर्ग के थे, यह इस बात का प्रमाण है कि वैश्य जितना आगे चाहें बढ़ सकते थे।

वैश्यों का कर्म-क्षेत्र इतना विस्तृत था कि विभिन्न कार्यों ने क्रमशः पारिवारिक और वंशगत रूप धारण कर लिया और समान व्यवसाय करने वालों के स्वतन्त्र समूह बन गये। इस प्रकार ब्राह्मणों अथवा क्षत्रियों की भाँति वैश्य वर्ण में किसी प्रकार की एक रूपता आरम्भ से ही नहीं जान पड़ती। गुप्त काल में कृषक, व्यापारी, गो-पालक, सुनार, लुहार, बढ़ई, तेली, जुलाहा आदि ने स्पष्टतः स्वतन्त्र जातियों का रूप धारण कर लिया था; और प्रत्येक जाति अथवा व्यवसाय-समूह ने अपनी श्रेणियाँ स्थापित कर ली थीं और वे उनके माध्यम से अपने को अनुशासित रखते और अपना व्यवसाय-कार्य किया करते थे।

धर्मशास्त्रों में दान को वैश्यों का एक कर्तव्य बताया गया है। जान ऐसा पड़ता है कि व्यवसाय से उपार्जित धन को वैश्य लोग प्रायः सार्वजनिक हित के कामों में व्यय किया करते थे। पर उनके दान अथवा सार्वजनिक कामों का परिचय भारतीय सूत्रों से कम ही मिलता है। चीनी यात्री फाह्यान ने लिखा है कि वैश्यों में जो लोग

---

१. मनुस्मृति, ८।१०।
२. विष्णुस्मृति, ५।६।
३. मनुस्मृति, ३।११२।
४. ऊपर, पृ० ४१७।
५. ऊपर, पृ० ४०८।
६ ए० इ०, १५, पृ० १३८, पं० ३-४।
७. वशिष्ठस्मृति, अ० २।

प्रमुख थे उन्होंने नगरों में सत्र और औषधालय स्थापित कर रखे थे; वहाँ लोगों को दान और औषधि मिला करती थी। देश के निर्धन, अपंग, अनाथ, विधवा, निःसन्तान, लँगड़े-लूले और रोगी उन स्थानों में आते थे और यहाँ उन्हें सब तरह की सहायता मिलती थी। चिकित्सक उनकी देख-भाल करते थे; उन्हें आवश्यकतानुसार भोजन और औषधि दी जाती और सब तरह की सुख-सुविधा प्रदान की जाती थी। स्वस्थ होने पर वे लोग स्वयं चले जाते थे। फाह्यान ने रास्ते में जगह-जगह पन्थशाला स्थापित की जाने की भी चर्चा की है और कहा है कि वहाँ, कमरे, चारपाई, बिस्तर आदि यात्रियों को दिये जाते थे। उसने कोसल से श्रावस्ती आते समय इस प्रकार की पन्थशालाएँ देखी थां।[१] सत्र चलाने के लिए दान दिये जाने का उल्लेख गढ़वा के स्तम्भलेख में हुआ है।

शूद्र—प्राचीन भारतीय वर्ण-व्यवस्था के अनुसार अन्तिम वर्ग शूद्र कहा जाता था। धर्मशास्त्रों में उनका कर्तव्य द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा, वार्ता (धनोपार्जन), कारु और कुशिल कर्म (शिल्प) बताया गया है। उनसे ज्ञात होता है कि सेवक और शिल्पकारों की गणना शूद्रों में की जाती थी; वे किसी प्रकार अस्पृश्य नहीं समझे जाते थे और समाज में उनका समुचित स्थान था। द्विजातियों के समान ही उन्हें भी पंचमहायज्ञ करने का अधिकार था।[२] यह तो पीछे चल कर समाज में उनका स्थान हेय समझा जाने लगा; यथासाध्य उन्हें दलित करने का विधान बना। दण्ड-विधान में शूद्रों को कठोरतम दण्ड देने की व्यवस्था हुई। साधारण अपराध के लिए शूद्र को वध-दण्ड देने की बात कही गयी। गुप्त काल में शूद्रों की वास्तविक स्थिति क्या थी, इसकी स्पष्ट जानकारी कहीं उपलब्ध नहीं है। पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि गुप्त काल से पहले ही, शूद्र लोग भी सेवा कार्य के अतिरिक्त अन्य दूसरे प्रकार के कार्य करने लगे थे। तभी मनु ने आजीविका के अभाव का बहाना लेकर उन्हें क्षत्रिय या वैश्यों का कार्य कर सकने की बात कही है।[३] कदाचित् वे लोग कृषि और व्यवसाय करने लगे थे। शूद्र राजासन तक पहुँचने की क्षमता रखते थे, यह बात भी मनुस्मृति से टपकती है।[४] उन्होंने शूद्र राजा के राज्य में निवास का निषेध किया है। शूद्रों का धनिक होना भी स्मृतिकारों को खटकी है; उन्होंने धनवान् शूद्र को ब्राह्मणों के मार्ग में बाधक बताया है।[५]

अन्त्यज—उपर्युक्त चारों वर्णों के अतिरिक्त भी समाज में कुछ लोग थे। ऐसे लोगों को अन्त्यज कहा गया है। इनमें चाण्डाल मुख्य थे। उन्हें अन्य चार वर्णों

---

१. रेकर्ड्स ऑव बुद्धिष्ट किंगडम्स्, पृ० ७९।
२. विष्णुस्मृति, ५।९।
३. मनुस्मृति, ४।६१; विष्णुस्मृति ७१।१६४।
४. मनुस्मृति, १०।१२१।
५. वही, १०।१२९।

के लोगों के साथ गाँवों और नगरों में रहने का अधिकार न था। रात्रि में वे नगर या ग्राम में प्रवेश नहीं कर सकते थे। दिन में भी जब कभी वे प्रवेश करते तो लकड़ी से ढोल बजाते चलते ताकि लोग मार्ग से हट जायँ और उनका स्पर्श बचा कर चलें।[1] इन चाण्डालों का कार्य स्मृतियों के अनुसार लावारिस मुर्दे हटाना और वधिक का काम करना था। वे लोग जंगली जानवर मारते और मछली का शिकार करते थे। फाह्यान ने अपने यात्रा-विवरण में इनकी स्पष्ट रूप से चर्चा की है। जिससे जान पड़ता है कि गुप्त काल में इनका अस्तित्व था।

कायस्थ—कायस्थ आधुनिक हिन्दू समाज की एक प्रमुख जाति है। गुप्त-कालीन अभिलेखों में प्रथम-कायस्थ का उल्लेख मिलता है जो विषय-परिषद् का सदस्य होता था।[2] इससे यह अनुमान किया जाता है कि वह किसी समूह विशेष का नेता था। अन्यत्र हमने उसे शिक्षित समाज का प्रतिनिधि अनुमान किया है।[3] गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का मत रहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जो भी लेखक का काम करते थे कायस्थ कहे जाते थे।[4] शूद्रक के मृच्छकटिक में कायस्थ का उल्लेख न्यायालय के लेखक के रूप में हुआ है।[5] अतः यह तो निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता कि गुप्त काल में कायस्थों की अपनी कोई जाति बन गयी थी पर उनकी सामूहिक स्थिति ने अपना रूप धारण करना आरम्भ अवश्य कर दिया था।

वर्णों का पारस्परिक सम्बन्ध—प्राचीन भारतीय समाज के इन विभिन्न वर्गों अथवा वर्णों के बीच कर्तव्य और व्यवसाय की दृष्टि से जो विभेद और विभाजन किये थे, उनका प्रभाव जातिरूप धारण करने के बाद पारस्परिक सम्बन्ध पर पड़ना अनिवार्य था। दैनन्दिन जीवन पर यह प्रभाव किस रूप में पड़ा, यह स्पष्ट रूप से जान सकना कठिन है; इतना ही कहा जा सकता है कि वह विवाह और खान-पान में सहज रूप से परिलक्षित होता है।

प्रारम्भ में चारो वर्णों में पारस्परिक विवाह होते थे, उसमें किसी प्रकार की कोई बाधा न थी। पर अन्तर्वर्ण विवाह के दो भेद अवश्य हो गये थे। उच्च वर्ण का पुरुष अपने वर्ण के अतिरिक्त अपने से निम्न वर्ण में ही विवाह कर सकता था।[6] इस प्रकार का विवाह **अनुलोम** विवाह कहलाता था। अनुलोम विवाह में किसी प्रकार की कोई बुराई नहीं मानी जाती थी। वशिष्ठ-स्मृति के अनुसार ब्राह्मण के अन्य तीन वर्ण की स्त्रियों से जन्मे पुत्र समान रूप से दाय के अधिकारी थे। मनु ने भी उन्हें

---

१. गाइल्स, ट्रेवेल्स ऑव फाह्यान, पृ० २१।
२. ए० इ०, १५, पृ० १३८ प० ३-४।
३. पीछे, पृ० १९१।
४. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ४७।
५. मृच्छकटिक, अंक ९।
६. याज्ञवल्क्य स्मृति, १।१३।

ब्राह्मण ही कहा है।[1] याज्ञवल्क्य ने भी शूद्र माता की सन्तान को ब्राह्मण पिता की सम्पत्ति में उत्तराधिकार स्वीकार किया है।[2] पर गुप्त काल आते-आते यह स्थिति बदल गयी थी। बृहस्पति ने उसके इस अधिकार को अस्वीकार किया है।[3] इसी से अन्य वर्णों के अनुलोम विवाह की स्थिति का अनुमान किया जा सकता है। प्रतिलोम विवाह अर्थात् उच्च वर्ण की स्त्री से निम्नवर्ण के पुरुष का विवाह हेय माना गया है और इसे किसी प्रकार की कोई मान्यता प्राप्त न थी।

अनुलोम और प्रतिलोम विवाह के प्रति स्मृतिकारों के इस दृष्टिकोण के रहते हुए भी दोनों ही प्रकार के विवाह राजघरानों के बीच धड़ल्ले के साथ होते थे; इनके उदाहरण गुप्त-वंश में ही देखे जा सकते हैं। वैश्य गुप्त-वंश की राजकुमारी (द्वितीय चन्द्रगुप्त की पुत्री) का विवाह वाकाटक-वंशी रुद्रसेन से हुआ था।[4] इसी प्रकार द्वितीय चन्द्रगुप्त की पत्नी कुबेरनागा नाग कन्या थीं और नाग क्षत्रिय कहे गये हैं। इस प्रकार यह वैश्य-क्षत्रिय प्रतिलोम विवाह का उदाहरण है। वैश्य-ब्राह्मण प्रतिलोम विवाह का उदाहरण कदम्ब और गुप्त-कुल के विवाह सम्बन्ध में देखा जा सकता है। इसका उल्लेख ब्राह्मण कदम्बों ने अपने अभिलेख में निःसंकोच किया ही नहीं है, वरन् इसका उन्होंने गर्व भी माना है।[5] इसी प्रकार सामान्य नागरिकों के बीच भी इन दोनों ही प्रकार के विवाह प्रचलित थे, ये तत्कालीन नाटकों और आख्यानों से प्रकट होते हैं। यही नहीं, गणिका-पुत्रियों और गणिका की दासियों से भी लोग निस्संकोच विवाह किया करते थे।[6]

वर्णों के पारस्परिक विवाह की स्वतन्त्रता देखते हुए यह सहज भाव से अनुमान किया जा सकता है कि पारस्परिक खान-पान में किसी प्रकार का भेद-भाव सम्भव न था। तथापि स्मृतिकारों ने वैश्यों और शूद्रों के साथ खान-पान में समानता का व्यवहार स्वीकार नहीं किया है। उन लोगों ने शूद्रों के साथ भोजन तो अग्राह्य कहा ही है, हमने ऊपर इस बात का उल्लेख किया है कि वैश्य अतिथि को भी उन्होंने साथ खाना खिलाने में आनाकानी की है।[7] वे उसे भृत्य के साथ भोजन कराने की बात करते हैं। साथ ही यह भी देखने में आता है कि याज्ञवल्क्य को परिवार के साथ सम्बन्ध रखनेवाले कृषक, नाई, ग्वाला तथा परिवार के शूद्र मित्र के साथ भोजन करने में कोई आपत्ति न

---

१. मनुस्मृति, १०।६
२. याज्ञवल्क्यस्मृति, २।१३३।
३. बृहस्पतिस्मृति, पुत्रविभाग, ४४।
४. ए० इ०, १५, पृ० ४१—ज० प्रो० ए० सो० बं०, २० (न० सी०), पृ० ५८।
५. ए० इ०, ८, पृ० ३१।
६. मृच्छकटिक में ब्राह्मण चारुदत्त के गणिका वसन्तसेना और ब्राह्मण शार्विलक के वसन्तसेना की दासी से विवाह करने का उल्लेख है।
७. पीछे, पृ० ४१८।

थी ।[1] जान ऐसा पड़ता है कि खान-पान के प्रति समाज के बीच कोई कठोर प्रतिबन्ध न था; यदि था तो उसको समाज ने दृढ़ता के साथ स्वीकार नहीं किया था ।

संकर जातियाँ—अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण धर्मसूत्र काल से ही क्रमशः कठोर होता जाता था । इस कारण प्रतिलोम विवाह की सन्तान को तो पिता-माता के वर्ण से भिन्न वर्ण का तो समझा ही जाता था, अनुलोम विवाह की सन्तान भी समय के साथ भिन्न वर्ण की समझी जाने लगी । इस प्रकार समाज में शंकर विवाह के फलस्वरूप नये वर्णों और जातियों की कल्पना स्मृतिकारों ने की । मनुस्मृति में इस प्रकार की जातियों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत की है जिनमें यवन, शक, चीन और पह्लव नाम भी हैं, जो स्पष्टतः बाहर से भारत में आयी विदेशी जातियाँ हैं । इसी प्रकार उनकी सूची में रथकार आदि कर्म-बोधक नाम भी हैं ।[2] जान यह पड़ता है कि गुप्त-काल से पूर्व भारतीय समाज ने जहाँ विदेशियों को अपने में आत्मसात् किया, वहीं उनको अपने से भिन्न माना और साथ ही अपने भीतर भी विवाह आदि को लेकर विभेद करना आरम्भ कर दिया । इस प्रकार जो नयी जातियाँ बनीं उनके विकास के प्रति अपना दृष्टिकोण प्रकट करने के लिए उनके संकर-वर्ण होने की कल्पना प्रस्तुत की ।

आश्रम—वर्ण के समान ही भारतीय समाज-शास्त्रियों ने मनुष्य के जीवन को चार भागों में विभाजित कर उनके अलग-अलग कर्तव्य और कर्म निर्धारित किये थे । जीवन के इन विभाजन को उन्होंने **आश्रम** नाम दिया है । जीवन के प्रारम्भिक २५ वर्षों को उन्होंने ब्रह्मचर्य आश्रम की अवस्था बतायी थी । इस काल में प्रत्येक व्यक्ति का यह उत्तरदायित्व था कि वह अपने को शिक्षित कर अपनी क्षमता को विकसित करे । अगले २५ वर्षों को गृहस्थ-आश्रम कहा गया । इस आश्रम में व्यक्ति के लिए उचित था कि वह विवाह कर पारिवारिक जीवन बिताये और समाज के प्रति अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व को निभाये । तदनन्तर वानप्रस्थ आश्रम में मनुष्य अपने को सांसारिक जञ्जालों से मुक्त रख धार्मिक भाव से चिन्तन करे । अन्तिम अवस्था संन्यास आश्रम में वह लौकिक चिन्ताओं को त्याग कर पारलौकिक चिन्तन करे अर्थात् अपने को ईश्वर की प्राप्ति में लीन कर दे । इस प्रकार आश्रम-व्यवस्था का उद्देश्य था कि मनुष्य समयानुसार व्यवस्थित ढंग से अपने जीवन की सभी आकांक्षाएँ पूरी करे । आश्रम की यह व्यवस्था निस्सन्देह आदर्श थी और समाज के व्यवस्थित रूप को उपस्थित करती है; किन्तु समाज में वह व्यावहारिक रूप में किस सीमा तक पालन किया जाता था कहना कठिन है । गुप्त-काल में इसका क्या रूप था यह जानना तो और भी कठिन है ।

---

१. याज्ञवल्क्यस्मृति, १।१६६ ।

२. मनुस्मृति, १०।८-४० । स्मृतियों में उल्लिखित संकरजातियों की विस्तृत चर्चा काणे ने अपने हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र (खण्ड २, पृ० १६९ आदि) में विस्तार से की है ।

ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य-आश्रम को आधुनिक सीधी-सादी शब्दावली में शिक्षा-काल कहा जा सकता है। अस्तु, शिक्षा का आरम्भ पाँच वर्ष की अवस्था में उपनयन संस्कार से होता था। १६ वर्ष की अवस्था तक बालक गुरुकुल में रहकर ज्ञानार्जन करता था। तदनन्तर वह विविध संस्थाओं में जाकर, रहकर विविध प्रकार के साहित्य का परिचय प्राप्त करता था। इस प्रकार वह २५ वर्ष की अवस्था तक ज्ञानार्जन करता रहता था। कुछ लोग इसके बाद भी ३० वर्ष की आयु तक अध्ययन करने के अनन्तर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे। इस प्रकार के ब्रह्मचारियों को **उपकुर्वाण** कहते थे। कुछ ब्रह्मचारी ऐसे भी होते जो आजीवन ज्ञानार्जन करते रहते। ऐसे लोग **नैष्ठिक** कहलाते थे।

शिक्षा-पद्धति—गुप्तकालीन अभिलेख बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं। इस कारण सामान्य धारणा है कि प्राचीन काल में भी आज की तरह ही बालक अपनी शिक्षा का आरम्भ अक्षर ज्ञान से करता था[1] और गुरुकुल जाने से पूर्व उसे लिखने-पढ़ने और प्रारम्भिक गणित का परिचय हो जाता था।[2] जातक की एक कथा में काशी के एक वणिक-पुत्र की चर्चा है जो लकड़ी की तख्ती लेकर अक्षर ज्ञान करने जाता था।[3] अभी हाल में कौशाम्बी से कुछ मृण्फलक मिले हैं जिन पर बच्चों की लिखने वाली तख्ती पर ब्राह्मी अक्षर का अंकन है।[4] सारनाथ से प्राप्त एक मूर्तिफलक पर लिखनेवाली तख्ती लिए बालक का चित्रण है।[5] ललित-विस्तर नामक बौद्ध-ग्रन्थ में प्रारम्भिक शिक्षाशाला के लिये लिपिशाला और शिक्षक के लिए दारकाचार्य का प्रयोग हुआ है।[6] इन सबसे भी यही सहज निष्कर्ष निकलता है कि शिक्षा का आरम्भ लिपि ज्ञान से ही होता रहा होगा। किन्तु फाह्यान के कथन से प्रतीत होता है कि गुप्त काल में लिपिबद्ध साहित्य का सर्वथा अभाव था। पाटलिपुत्र को छोड़ कर जहाँ कहीं भी वह गया, उसे लिखित रूप में कोई साहित्य उपलब्ध न हो सका। पाटलिपुत्र में भी उसे जो लिखित साहित्य मिला वह अत्यल्प था। अतः उसका कहना है कि शिक्षक लोग सारी शिक्षाएँ मौखिक रूप से देते थे। उन्हें सुनकर ही शिष्य ज्ञान प्राप्त करते थे। अतः उसके कथन से ज्ञात होता है कि मौखिक शिक्षा की परम्परा गुप्त काल में भी बनी हुई थी।

प्राचीन भारतीय मौखिक शिक्षा-पद्धति की चर्चा करते हुए कौटिल्य ने लिखा है कि सबसे पहले यह आवश्यक है कि शिष्य में शुश्रूषा अर्थात् अध्यापक के मुख से सुनने की जिज्ञासा हो। तदनन्तर वह अध्यापक की कही हुई बात का श्रवण करे और

१. रघुवंश, ३।२८; १८।४६।
२. वही, ३।३१; १७।३।
३. कठाहक जातक।
४. हरियाणा पुरातत्त्व संग्रहालय, झज्झर में संगृहीत।
५. साहनी, कैटलाग ऑव सारनाथ म्यूजियम, पृ० १९३-९४, मूर्ति सं० सी० (ए०) १२।
६. ललित विस्तर, अध्याय १०।

फिर श्रवण कर उसे ग्रहण करे और फिर उसे धारण करे अर्थात् याद रखे। इस कथन का तात्पर्य यह हुआ कि लोग अध्यापक के मुख से सुनकर उनकी कही हुई बातों को याद रखने का प्रयास करते थे। उनका यह प्रयास केवल रटना मात्र ही नहीं, समझना भी था। इस प्रकार धारण करने के बाद शिष्य ऊहापोह किया करते थे। अर्थात् जो कुछ उन्होंने अध्यापक के मुख से सुना और समझा, उसका वे परस्पर विवेचन करते और तब उन्हें अध्यापक की कही गयी बातों का सम्पूर्ण बोध होता, जिसके लिए कौटिल्य ने विज्ञान शब्द का प्रयोग किया है। उसके बाद वह स्वयं अपनी बुद्धि से उसका विवेचन (तत्त्वाभिनिवेश) करता। तत्कालीन इस शिक्षा-पद्धति के सम्बन्ध में एक उक्ति है जिसमें कहा गया है कि शिष्य अपने आचार्य से केवल चौथाई ज्ञान प्राप्त करता है और चौथाई वह अपनी बुद्धि से अर्जित करता है। शेष आधे में से चौथाई उसे अपने साथी छात्रों से प्राप्त होती है। बाकी चौथाई वह समय के साथ अपने अनुभव से ही जान पाता है।[१]

शिक्षा के विषय—कालिदास ने अध्ययन के सभी विषयों को विद्या की संज्ञा दी है[२]। विद्या का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहीं उसे तीन प्रकार का[३] और कहीं चार प्रकार का[४] और कहीं चौदह प्रकार का कहा है।[५] मल्लिनाथ की टीका के अनुसार त्रयी विद्या के अन्तर्गत वेद, वार्ता और दण्डनीति आता है। इससे यह सहज रूप से कहा जा सकता है कि त्रयी में उन्होंने जो तीन विद्याएँ गिनी-गिनायी हैं वे ब्राह्मण, वैश्य और क्षत्रिय वर्ग के कर्मानुकूल विद्याओं का वर्गीकरण है। किन्तु चार विद्याओं की चर्चा करते हुए उन्होंने त्रयी का पुनः उल्लेख करते हुए दण्ड, नीति और वार्ता का अलग से उल्लेख किया है और अन्वीक्षकी का नाम चौथी विद्या के रूप में दिया है। इस स्थान पर त्रयी से उनका क्या तात्पर्य है स्पष्ट नहीं होता। अतः मल्लिनाथ की व्याख्या को कदापि ग्रहण नहीं किया जा सकता। मनुस्मृति के अनुसार वैदिक साहित्य के अतिरिक्त धर्मशास्त्र अर्थात् स्मृति, इतिहास, पुराण, अर्थशास्त्र, अन्वीक्षकी तथा दण्डनीति (राजनीति) शिक्षा के मुख्य विषय थे।[६] किन्तु उनके इस उल्लेख से यह स्पष्ट नहीं होता कि ये सभी विषय सभी लोग पढ़ते थे अथवा कुछ ही लोग। कालिदास के समान ही अन्यत्र भी चौदह विद्याओं का उल्लेख देखने में आता है।[७] गुप्त-कालीन अभिलेखों में भी चौदह विद्याओं का उल्लेख हुआ है।[८] उनसे यह भी प्रकट होता है कि

१. द एज ऑव इम्पीरियल यूनिटी (पृ० ५८३-८४) में चर्चित।
२. रघुवंश, १।८; १।२३; १।८८; ५।२०-२१; १०।७१; १८।५०।
३. वही, १८।५०।
४. वही, ३।३०; याज्ञवल्क्यस्मृति, १।३११।
५. वही, ५।२१।
६. मनुस्मृति, २।१०; ३।२३२; ९।३२९।
७. वायुपुराण, १।६१-७०; गरुडपुराण, २२३।३०।
८. ए० इ० पृ० २८७।

उन चौदह विद्याओं का ज्ञान किसी भी मेधावी ब्राह्मण के लिए सुलभ और सहज था। अर्थात् ब्राह्मण लोग इन चौदह विद्याओं का अध्ययन करते थे। अन्य वर्ण की शिक्षा के विषय ये थे या नहीं, किसी सूत्र से ज्ञात नहीं होता। ये चौदह विद्याएँ थीं—चार वेद, छः वेदांग (अर्थात् छन्द, शिक्षा, निरुक्त, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष), पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र। कुछ ग्रन्थों के स्थान पर अठारह विद्याओं का उल्लेख मिलता है।[1] उनमें उक्त चौदह विद्याओं के अतिरिक्त धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और अर्थ-शास्त्र का नाम है। राजपुत्रों की शिक्षा में सैन्य-संचालन की शिक्षा अतिरिक्त थी। इस प्रकार स्मृतियों में जिन विद्याओं का उल्लेख है, वे प्रायः ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिए ही जान पड़ती हैं। वैश्य लोग इनमें से किन विद्याओं को सीखते थे और उनसे कितना लाभान्वित हो सकते थे कहा नहीं जा सकता। बृहस्पति ने नाट्यकला, चित्र-कला, नक्षत्र-विज्ञान, पशु-पक्षी विज्ञान का उल्लेख किया है,[2] सम्भवतः इनकी भी शिक्षा गुप्त-काल में होती थी। पर इनको तो कुछ ही लोग सीखना-जानना चाहते रहे होंगे।

वैश्यों के लिए शिक्षा के कुछ विशेष विषय थे ऐसा मनु से ज्ञात होता है। उनके अनुसार वैश्य के लिए मुक्ता, मणि, प्रवाल, धातु, वस्त्र, सुगन्धित मिष्ठान्न, भूमि, भूमि-कर्षण, नाप-तौल, पशुपालन, विभिन्न भाषाओं और विभिन्न देशों का ज्ञान आवश्यक था।[3] दिव्यावदान में, जो सम्भवतः चौथी शती का कथा-संग्रह है, दो ऐसी कथाएँ हैं जिनसे धनिक वणिक-पुत्रों को दी जानेवाली तत्कालीन शिक्षा का बोध होता है।[4] उनकी सूची में लिपि, गणित, मुद्रा, ऋण, उपनिधि, मणि, आवास, हाथी, घोड़ा, स्त्री-पुरुष की पहचान का उल्लेख है, हस्त-कौशल और शिल्प में रुचि लेनेवाले लोगों की शिक्षा की क्या व्यवस्था थी अथवा उनको किस विषय की शिक्षा दी जाती थी, इसका कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। यत्र-तत्र ६४ कलाओं की जो सूची मिलती है, उनमें अधिकांशतः हस्त-कौशल और शिल्प से ही सम्बन्ध रखते हैं। अतः उनकी शिक्षा की कुछ-न-कुछ व्यवस्था रही ही होगी, यह सहज अनुमान किया जा सकता है। गुप्त-काल में नाटक, काव्य, काव्य-शास्त्र आदि ललित-साहित्य का भी विकास और विस्तार प्रमुख रूप से मिलता है। अतः यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि इन विषयों में लोग उन दिनों अधिक रुचि लेते थे और उन दिनों उनकी शिक्षा भी विधिवत् दी जाती रही होगी। बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म का प्रचार-प्रसार के कारण इन धर्मों की शिक्षा भी निस्सन्दिग्ध रूप से उन धर्मावलम्बियों को मिलती रही होगी।

गुरुकुल—धनी-मानी और राज-घरानों के बच्चों को छोड़कर[5] अन्य लोगों के बच्चे

---

१. नैषधचरित, १।४।

२. बृहस्पतिस्मृति, पृ० २६४।

३. मनुस्मृति, ९।३२९-३२।

४. दिव्यावदान, २६।९९-१००

५. रघुवंश, ३।२०; ३।२९।

अपने गुरु के घर जाकर, उनके बीच निवास कर शिक्षा प्राप्त करते थे। गुरु परिवार के वे सदस्य होकर रहते और गुरु उनकी भोजन की व्यवस्था करता। पर बच्चों की इस प्रकार की व्यवस्था किसी गृहस्थ अध्यापक के लिए सहज न होती रही होगी। अतः किसी शिक्षक के पास १०-१५ ब्रह्मचारी से अधिक न होते रहे होंगे। इस प्रकार के गुरुकुल पहले नगर आदि के कोलाहलों से दूर जंगलों आदि में होते थे और अध्यापक और ब्रह्मचारी दोनों ही भिक्षाटन द्वारा अपने भोजन की व्यवस्था करते थे। पर इस प्रकार के गुरुकुलों के नगर और ग्राम के निकट होने में ही सुविधा थी। गुप्तकाल में अध्यापन का कार्य अधिकांशतः गाँव के भीतर रहनेवाले ब्राह्मण ही करते थे। मनुस्मृति से ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय तक सब ब्राह्मणों के लिए निःशुल्क शिक्षा देना सम्भव नहीं रह गया था। उसमें दो प्रकार के शिक्षकों का उल्लेख है। एक तो वे जो आचार्य कहलाते थे और कोई शुल्क नहीं लेते थे; ब्रह्मचारी शिक्षा-समाप्ति के उपरान्त उन्हें यथाशक्ति गुरु-दक्षिणा प्रदान करता था। दूसरे वे जो उपाध्याय कहलाते थे और शुल्क लेते थे। मनुस्मृति में शुल्क देकर पढ़ने और शुल्क लेकर पढ़ाने वालों की भर्त्सना की गयी है। उन्हें श्राद्ध आदि सामाजिक अवसरों पर निमन्त्रित किये जाने के अयोग्य ठहराया गया है। सम्भवतः इसी स्थिति को ध्यान में रखकर राजाओं की ओर से ब्राह्मणों को अग्रहार दिया जाता था ताकि वे आर्थिक चिन्ता से मुक्त होकर अध्यापन का काम कर सकें। गुप्तकाल में अग्रहार का काफी प्रचार था ऐसा तत्कालीन अभिलेखों से ज्ञात होता है। निर्धन विद्यार्थी जो अध्यापक को शुल्क न दे सकते थे उनको गुरु के गृह का कार्य करना पड़ता था।

जब कोई आचार्य अपनी विद्या, ज्ञान आदि के कारण विशेष ख्याति प्राप्त कर लेता था तो उसके यहाँ अधिक-से-अधिक लोग शिक्षा प्राप्त करने आने लगते थे। इस प्रकार उनका छोटा-सा गुरुकुल विकसित होकर एक बड़े विद्या-केन्द्र अथवा विश्व-विद्यालय का रूप धारण कर लेता था। इस प्रकार के व्यवस्थित विद्या-केन्द्र अथवा विश्वविद्यालय का जो प्राचीनतम उल्लेख मिलता है वह तक्षशिला में था। वह ईसा पूर्व सातवीं शती से तीसरी शती तक चलता रहा। जातकों से इस विद्या-केन्द्र के सम्बन्ध में प्रचुर जानकारी प्राप्त होती है। वहाँ दूर-दूर से विद्यार्थी सोलह वर्ष की अवस्था में आते थे और अनेक वर्षों तक रहते थे। वहाँ सिखाई जानेवाली विद्याओं की संख्या ६८ बतायी गयी है। वहाँ धनुर्विद्या, असि-विद्या ही नहीं भिषक् और शल्यचिकित्सा की भी शिक्षा दी जाती थी। वहाँ छात्रों को अपनी स्थिति के अनुसार ५०० से १००० कार्षापण शुल्क देना होता था जो आरम्भ में दिया जाता था या शिक्षा समाप्ति के बाद। वहाँ विद्यार्थियों की संख्या ५०० तक होती थी। उपाध्यायों के अतिरिक्त उनके सहायक उपाध्याय भी होते थे जो प्रायः उनके ही अपने मेधावी भूतपूर्व छात्र हुआ करते थे। तक्षशिला के ह्रास के उपरान्त विद्या का केन्द्र कदाचित् काशी बना। वहाँ से वैदिक-चरणों की मिट्टी की अनेक मुहरें मिली हैं, जिनमें अनेक गुप्त काल की हैं।

नालन्द-विश्वविद्यालय—उत्तर गुप्त काल में विद्या-केन्द्र के रूप में नालन्द के बौद्ध-विहार का अत्यधिक विकास हुआ था। यह विहार बिहार राज्य में पटना जिले के अन्तर्गत बड़गाँव नामक ग्राम के निकट प्राचीन गिरिव्रज अर्थात् राजगृह से आठ मील उत्तर स्थित था। वहाँ उत्तरवर्ती गुप्त सम्राट् स्कन्दगुप्त और उनके उत्तराधिकारियों ने, जिनका उल्लेख युवान-च्वांग ने शक्रादित्य, बुधगुप्त, तथागत, बालादित्य और वज्र नाम से किया है, महाविहार बनवाये थे। इस महाविहार ने विद्या और संस्कृति के रूप में इतनी ख्याति प्राप्त की कि वहाँ भारत के चारों ओर से तो विद्यार्थी आते ही थे, मध्य एशिया, चीन, कोरिया और जावा के लोग भी उसकी ओर आकृष्ट थे। वहाँ पढ़नेवालों की संख्या निरन्तर बढ़ती रही। उस महाविहार में विभिन्न प्रकार के आवास, व्याख्यान-गृह, पुस्तकालय, वेधशाला आदि थे जिनके अवशेष पुरातात्त्विक उत्खनन में प्राप्त हुए हैं। ये सारे भवन अत्यन्त विशाल कई तल्लों के थे और उनकी ऊँचाई इतनी थी कि ऊपरी तल्ले बादलों में छिप जाते थे। युवान-च्वांग और ही-ली ने वहाँ के भवनों का अत्यन्त विषद और मनोरम वर्णन किया है।

इस विश्वविद्यालय में अध्यापक और विद्यार्थी मिला कर दस हजार से अधिक लोग रहते थे जिनमें अध्यापकों की संख्या डेढ़ हजार थी जिनमें धर्मपाल, चन्द्रपाल गुणमति, स्थिरमति, शीलभद्र, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित और पद्मसम्भव जैसे विख्यात विद्वान् थे।

यह महायान बौद्ध-विहार था, अतः स्वाभाविक है कि उसमें पढ़नेवाले सभी बौद्ध मतावलम्बी हों। उसमें प्रवेश पाने के लिए होड़ लगी रहती थी। उसमें प्रवेश के अत्यन्त कठोर नियम थे। प्रवेश पाने से पूर्व आवश्यक था कि प्रवेशार्थी प्राचीन और नवीन साहित्य से परिचित हो। प्रवेश-द्वार पर ही उनसे कठिन प्रश्न किये जाते थे और उनका उत्तर कठिनता से दस में दो-तीन दे पाते थे। शेष को निराश लौट जाना पड़ता था।

नालन्द में व्याख्यान, प्रवचन, विवाद और विमर्श के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा के विषय थे बौद्धधर्म के महायान आदि सम्प्रदायों का धार्मिक साहित्य, तन्त्र, ज्योतिष और कर्मकाण्ड। इनके अतिरिक्त दर्शन, साहित्य, व्याकरण और कला की शिक्षा की भी व्यवस्था थी। विश्वविद्यालय के अन्तर्गत एक विशाल पुस्तकालय था जो रत्नसागर, रत्नोदधि, रत्नरंजन नामक तीन भवनों में स्थापित था। रत्नोदधि नौ तल्लों का था जिनमें प्रज्ञापारमिता वर्ग के धार्मिक ग्रन्थ और तन्त्र, साहित्य रखे गये थे।

नारी-शिक्षा—वैदिक काल में पुरुषों के समान ही स्त्रियों को भी शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था और वे विद्याभ्यास के निमित्त ब्रह्मचर्य धारण करती थीं। उनका भी उपनयन संस्कार होता था। घोषा और लोपामुद्रा उस काल की उन विदुषियों में हैं जिन्होंने ऋचाओं की रचना की थी। परवर्ती काल में भी नारी-शिक्षा का महत्त्व बना हुआ था पर वे वैदिक अध्ययन से वंचित कर दी गयी थीं। मनुस्मृति में एक ओर तो स्त्रियों के उपनयन की बात कही गयी है, दूसरी ओर उनके वैदिक

मन्त्र उच्चारण करने का निषेध किया गया है[1] और कहा गया है कि जिस यज्ञ में नारी का योग हो, उस आयोजन में ब्राह्मणों को भोजन नहीं करना चाहिए।[2] गुप्त-काल आते-आते स्त्रियाँ उपनयन संस्कार से भी वंचित कर दी गयी थीं। उनकी शिक्षा के विषय वैदिक साहित्य के स्थान पर लौकिक साहित्य हो गये।

ललित-विस्तर से ज्ञात होता है कि स्त्रियों में लिखने-पढ़ने का क्रम बना हुआ था और वे शास्त्रों का अध्ययन और काव्यों की रचना किया करती थीं। वात्स्यायन के कथनानुसार सामान्यतः स्त्रियाँ इतनी शिक्षित तो अवश्य ही होती थीं कि वे अपने घर का आर्थिक बजट बना सकें और उसके अनुसार खर्च कर सकें।[3] राजकुमारियों और उच्च कुलों की लड़कियों को, उनके कथनानुसार शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने का पर्याप्त अवसर प्राप्त था। शास्त्रीय शिक्षा के अतिरिक्त उन्हें अन्य विद्याओं की शिक्षा भी दी जाती थी। वात्स्यायन ने ६४ अंग-विद्याओं की एक सूची दी है और उन्हें उनके लिए आवश्यक बताया है।[4] इनमें पहेली, मन्त्र-पाठ, छन्द-पूर्ति, शब्द-छन्द का ज्ञान आदि भी सम्मिलित है। तत्कालीन साहित्य से यह भी ज्ञात होता है कि उच्च परिवार की बालिकाएँ ही नहीं, आश्रम में रहनेवाली बालिकाएँ भी इतिहास और कथा-साहित्य पढ़ती थीं और उन्हें काव्य-रचना करने और समझने की क्षमता थी।

स्त्रियों को नृत्य, संगीत, चित्रकला, गृह-सज्जा आदि की भी शिक्षा दी जाती थी[5] और इनकी शिक्षा के लिए संस्थाएँ थीं, जिनमें वे बालकों के साथ ही बिना किसी भेद के शिक्षा प्राप्त करती थीं। मालविकाग्निमित्र में मालविका के गणदास से नृत्य और संगीत सीखने का उल्लेख है। इसी नाटक में अग्निमित्र को दो कला-निपुण युवतियों के भेंट किये जाने की भी चर्चा है। रघुवंश में इन्दुमती की मृत्यु पर विलाप करते अज ने उन्हें कला-मर्मज्ञ बताया है।[6] मेघदूत में यक्ष-पत्नी के अपने पति के नाम पद्यबद्ध पत्र लिखने की चर्चा है। इसी प्रकार अभिज्ञान-शाकुन्तल में शकुन्तला के कमल-पत्र पर प्रेम पत्र लिखने का उल्लेख है। यदि कालिदास के आरम्भ में मूढ़ होने की अनुश्रुति में तनिक भी सत्यता है तो उससे तत्कालीन स्त्रियों के शास्त्रज्ञ और विदुषी होने का सहज अनुमान किया जा सकता है। इसका आभास इस तथ्य से भी होता है कि प्रभावती गुप्ता ने अपने पति के निधन के पश्चात् अपने अल्पवयस्क पुत्र की संरक्षिका के रूप में योग्यतापूर्वक शासन किया था। अमरकोष में उपाध्याया, उपाध्यायी और आचार्या शब्दों का उल्लेख है जो इस बात के द्योतक प्रतीत होते हैं कि उन दिनों स्त्रियाँ भी शिक्षिका का काम करती थीं।

---

१. मनुस्मृति, २।६६।
२. वही, ४।२०५।
३. कामसूत्र, १।३।३२।
४. कामसूत्र, १।३।१६।
५. वही।
६. रघुवंश, ८।६७।

गृहस्थाश्रम—शिक्षा-समाप्ति के पश्चात् सामान्यतः लोग गृहस्थ जीवन में प्रवेश करते थे। अर्थात् विवाह करके स्थायी जीवन व्यतीत करते थे और माता-पिता, भाई-बन्धु, कुल-परिवार के साथ मिल कर जीवन का उत्तरदायित्व निभाते थे। इस प्रकार का जीवन वे ५० वर्ष की अवस्था तक व्यतीत करते थे। गृहस्थ के रूप धार्मिक दृष्टि से आवश्यक था कि वे पंचमहायज्ञ करें। पंचमहायज्ञ की चर्चा प्रायः गुप्त-कालीन अभिलेखों में हुई है पर वे प्रायः ब्राह्मणों के ही प्रसंग में हैं, इसीलिए यह कहना कठिन है कि इसका प्रचार अन्य वर्णों में किस सीमा तक था।

परिवार संयुक्त होने के कारण गृहस्थ पर न केवल अपने, अपनी स्त्री और बच्चों के पालन-पोषण का उत्तरदायित्व था, वरन् उसे अपने माता-पिता, छोटे भाई-बहनों तथा भतीजे-भतीजियों और भाई की विधवा पत्नी के प्रति भी उत्तरदायित्व निभाना पड़ता था। वह परिवार के इन सभी सदस्यों के बीच किसी प्रकार का खान-पान, पहनने-ओढ़ने, रहन-सहन में विभेद नहीं कर सकता था। इसी प्रकार परिवार से सम्बद्ध अन्य सभी उत्तरदायित्व भी उस पर होते थे।

विवाह—पुरुषों के सम्बन्ध में प्रायः यह निश्चित था कि वे ब्रह्मचर्य समाप्त करने अर्थात् २५ वर्ष की अवस्था प्राप्त करने के बाद ही विवाह करें। पर स्त्रियों के विवाह वय के सम्बन्ध में इस प्रकार की कोई निश्चित धारणा ज्ञात नहीं होती। विष्णु-पुराण में कहा गया है कि वर की आयु वधू से तिगुनी होनी चाहिए।[1] इसका अर्थ यह हुआ कि उसके मतानुसार कन्या का विवाह ८-९ वर्ष की अवस्था में हो जाना चाहिए। स्मृतिकारों का सामान्यतः मत है कि रजस्वला होने से पूर्व कन्या का विवाह कर देना चाहिए।[2] इसका अर्थ यह हुआ कि कन्या का विवाह १२-१३ वर्ष की आयु तक कर दिया जाना चाहिए। पर स्मृतिकारों और पुराणों का यह मत जन-सामान्य में बहुत मान्य नहीं था, ऐसा प्रतीत होता है। वात्स्यायन के कामसूत्र से ऐसा जान पड़ता है कि लड़कियों का विवाह रजस्वला होने से पूर्व या पश्चात् कभी भी हो सकता था और होता था। स्मृतिकार भी इस स्थिति से परिचित थे और वे रजस्वला होने के बाद तीन वर्ष के भीतर विवाह कर दिये जाने की अनिवार्यता का अनुभव करते रहे हैं ऐसा उनके स्त्री-संग्रहण (सहगमन) सम्बन्धी विधानों से जान पड़ता है।[3] इसका अर्थ यह हुआ कि लड़कियाँ १७-१८ वर्ष की आयु तक अविवाहित रह सकती थीं। अंगिरस ने वर-वधू के बीच वय का अन्तर केवल २, ३ या ५ वर्ष उचित माना है।[4] वात्स्यायन का कहना है कि वर-वधू के बीच कम-से-कम ३ वर्ष का अन्तर होना चाहिए।[5] इससे धारणा होती है कि लड़कियाँ २२ वर्ष की आयु तक

१. विष्णुपुराण, ३।१०।१६।
२. याज्ञवल्क्यस्मृति, १।६४।
३. आगे, पृ० ४३४।
४. स्मृति मुक्ताफल (खण्ड १, पृ० १२५) में उद्धृत।
५. कामसूत्र, ३।१।२।

भी कुमारी रह सकती थीं। वस्तुतः कालिदास ने इन्दुमती, पार्वती, शकुन्तला आदि अपनी सभी नायिकाओं को युवती और उपभोगक्षमा रूप में प्रस्तुत किया है।[१] इनसे यह जान पड़ता है कि लड़कियों के विवाह वय के सम्बन्ध में जो भी धारणा रही हो गुप्त-काल में सामान्यतया उनका विवाह रजस्वला होने से पूर्व नहीं होता था। उसके बाद ही कम-से-कम १५-१६ वर्ष की अवस्था में होता रहा होगा।[२]

पूर्व काल में जिस प्रकार के अनुलोम और प्रतिलोम विवाह होते थे वैसे विवाह इस काल में भी प्रचलित थे, इसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं;[३] पर किस सीमा तक कहना कठिन है। स्मृतियों में जो विवाह के आठ रूप कहे गये हैं, उनमें से प्रथम तीन—ब्राह्म, दैव और आर्ष (जो श्रेष्ठ भी कहे गये हैं) ब्राह्मणों के साथ अनुलोम विवाह का अनुमोदन करते प्रतीत होते हैं। ब्राह्म विवाह में पिता अपनी पुत्री को वस्त्राभूषण से सुसज्जित कर किसी विद्वान् को आमन्त्रित कर उसको भेंट करता था। कहा गया है कि इस प्रकार के विवाह का उद्देश्य अपनी पुत्री को उसके पति के समान विद्वान् (विदुषी) बनाना होता था। उसके पीछे यह भावना भी कही जाती है कि उनसे जन्मी संतान विद्वान् होकर समाज में प्रतिष्ठित होगी और उससे माता-पिता की प्रतिष्ठा में भी वृद्धि होगी। दूसरे प्रकार के विवाह—दैवविवाह में पिता अपनी पुत्री को यज्ञ करने आये पुरोहित को भेंट कर देता था। इस प्रकार की भेंट पिता के लिए अहोभाग्य का विषय समझा जाता था। इसी प्रकार तीसरे प्रकार का विवाह—आर्ष विवाह किसी ऋषि के साथ पुत्री के विवाह को कहते थे। पर इन तीनों ही प्रकार के विवाह गुप्त-काल में होना सम्भव था या ऐसे विवाह होते थे, कहा नहीं जा सकता।

वात्स्यायन ने माता-पिता और अभिभावकों द्वारा ठहराये गये विवाह का अनुमोदन किया है। इससे अनुमान होता है चौथे प्रकार के विवाह—प्राजापत्य विवाह का ही प्रचलन गुप्त युग में विशेष रहा होगा। इस विवाह में पिता अपनी पुत्री को किसी योग्य व्यक्ति को प्रदान करता था और पति-पत्नी को अर्थ, धर्म और काम में समान अधिकार होता था। इस विवाह में अनुलोम, प्रतिलोम और सवर्ण तीनों ही रूप के विवाह की सम्भावना थी। पर वात्स्यायन ने सभी स्मृतिकारों के समान ही सवर्ण विवाह को सर्वोत्तम माना है। इससे प्रतीत होता है कि सवर्ण विवाह ही उन दिनों प्रधान था। पर लोगों को अपने वर्ण के भीतर भी स्वेच्छया विवाह करने की

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तल, ३।६; मालविकाग्निमित्र, २।३; कुमारसम्भव, १।३८-४०।

२. काणे का कहना है कि स्मृतियों में कन्याओं के विवाह वय के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है वह केवल ब्राह्मणों से सम्बन्धित है। वह अन्य वर्णों पर लागू नहीं होता (हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, २, पृ० ४४६)। किन्तु यह मत समीचीन नहीं जान पड़ता। अभिज्ञान शाकुन्तल में प्रियम्वदा आदि ऋषि-कन्याओं का शकुन्तला के सखी के रूप में जो चित्रण हुआ है, उससे यह स्पष्ट है कि वे विवाहित न होने पर भी यौवन-जनित ऐसे भावों से परिचित थीं (अंक ४) जो रजस्वला-पूर्व कन्याओं के लिए कदापि सम्भव नहीं है।

३. पीछे, पृ० ४२०-४२१।

स्वतन्त्रता थी। विवाह अपने गोत्र अर्थात् अपनी कुल परम्परा के बाहर और सपिण्ड से हट कर अर्थात् पिताकुल से ६ पीढ़ी से सम्बन्धित और माता कुल के पाँच पीढ़ियों से सम्बन्धित कुलों को छोड़कर ही विवाह किया जा सकता था। वात्स्यायन के कथन से अनुमान होता है कि वर के अभिभावक और सम्बन्धी अथवा मित्र अपनी ओर से लड़की के अभिभावक के सम्मुख विवाह प्रस्ताव उपस्थित करते थे। पर स्मृतियों में विवाहों की जिस रूप में चर्चा हुई है, उससे तो यह धारणा बनती है कि लड़की का अभिभावक योग्य वर देखकर उसके सम्मुख विवाह उपस्थित करता था।

स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख में आलंकारिक रूप से लक्ष्मी द्वारा स्कन्दगुप्त के वरण किये जाने का उल्लेख है (**लक्ष्मीः स्वयं यं वरयांचकार**)।[१] इसी प्रकार बुध-गुप्त के एरण अभिलेख में मातृविष्णु के लिए कहा गया है कि राजलक्ष्मी ने उसका वरण स्वेच्छया किया था (**स्वयं वरेव राजलक्ष्म्याधिगतेन**)।[२] तत्कालीन साहित्य में भी **स्वयम्वर** का उल्लेख मिलता है।[३] इन सबसे अनुमान होता है कि गुप्त काल में भी राजकुल की कुमारियों को पति-निर्वाचन की स्वतन्त्रता रही होगी। पर वस्तुतः उस काल में इस प्रकार की प्रथा थी, इसके प्रति कुछ विद्वान् सन्देह प्रकट करते हैं। उनका कहना है कि अभिलेखों में स्वयम्वर का उल्लेख केवल लक्ष्मी के प्रसंग में हुआ है और साहित्य में इसकी चर्चा पूर्ववर्ती राजाओं अथवा वीरों अथवा काल्पनिक नायकों के प्रसंग में हुआ है[४] और इसका समसामयिक कोई वास्तविक उदाहरण उपलब्ध नहीं है। यदि इस प्रकार की वस्तुतः उन्हें स्वतन्त्रता थी तो भी वह सीमित ही रही होगी; क्योंकि **स्वयम्वर** के आयोजन सार्वजनिक न होकर वैयक्तिक ही होते थे। अभिभावक जिन लोगों को अपनी पुत्री के योग्य समझते थे उन्हीं को उसमें सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित करते थे और उन्हीं में से किसी एक का वरण कुमारी को करना पड़ता था।

वात्स्यायन ने अभिभावकों द्वारा मनोनीत वर के साथ विवाह का अनुमोदन करते हुए भी यह कहा है कि ऐसे विवाह अधिक सुखदायक होते हैं जिनमें ऐसी कन्या के साथ विवाह किया जाय जिससे आँखें लड़ी हों और जो हृदय में बसी हो। उनके इस कथन से तथा स्मृतियों में स्त्री-संग्रहण के प्रसंग में कही गयी बातों से भी यही अनुमान होता है कि सामान्य समाज में भी युवतियों को अपना जीवन-साथी चुनने की पूरी छूट थी और युवक-युवतियों के पारस्परिक मिलन में विशेष बाधा न थी। मनु की दृष्टि में अपने ही वर्ण की आकर्षक कुमारी का संग्रहण (सहगमन) कोई अपराध न था। इसके लिए उन्होंने किसी प्रकार के दण्ड का विधान नहीं किया है। केवल

---

१. पीछे, पृ० २९, पं० ५।
२. का० इ० इ०, ३, पृ० ८९, पं० ६-७।
३. रघुवंश, सर्ग ६।
४. वाकाटक-गुप्त एज, पृ० १५१, पा० टि० १।

इतना ही कहा है कि यदि पिता चाहे तो संग्रहणकर्ता युवक से दुहितृ-शुल्क ले ले।[1] अन्य स्मृतिकारों ने भी समान वर्ण की ऐसी कुमारी का संग्रहण, जिसका रजस्वला होने के तीन वर्ष बाद तक विवाह न हुआ हो, अपराध नहीं माना है। वे ऐसी कुमारी का किसी अन्य वर्ण के पुरुष द्वारा किये गये संग्रहण को भी अपराध नहीं मानते, जिसके शरीर पर कोई आभूषण न हो। नारद स्मृति में इस प्रकार की कोई शर्त न रख कर स्पष्ट रूप में कहा है कि यदि कुमारी की सहमति हो तो उसका संग्रहण कोई अपराध नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य कही गयी है कि उस पुरुष को चाहिए कि उससे विवाह कर ले। स्मृतिकारों की इन बातों से स्पष्ट झलकता है कि युवक-युवतियों का पारस्परिक आकर्षण और मिलन सामान्य बात थी। कदाचित् इसी स्वच्छन्द मिलन को वैध रूप देने के लिए उन्होंने **गन्धर्व** और **असुर** विवाहों का विधान किया है। असुर विवाह के सम्बन्ध में कहा गया है कि अभिभावक को कुछ धन देकर किसी कुमारी को पत्नी के रूप में प्राप्त किया जा सकता है। यह मनु के दुहितृ शुल्कवाली बात का ही स्पष्टतः एक दूसरा रूप है। इस प्रकार कुमारी के अभिभावक को तुष्ट कर उसकी सहमति से विवाह किया जा सकता था। इस प्रकार का विवाह गुप्त-काल में प्रचलित था, यह अभिलेखों में उपमान स्वरूप किये गये अनेक उल्लेखों से स्पष्ट है। समुद्रगुप्त के एरण अभिलेख में **दत्त-शुल्क** का उल्लेख हुआ है।[2] इसी प्रकार, चन्द्रगुप्त द्वितीय के अभिलेख में कहा गया है कि उन्होंने अपने शक्ति रूपी क्रय-मूल्य से पृथिवी का क्रय किया है (**अवक्रय-क्रीत**)।[3] कालिदास के ग्रन्थों में भी **दुहितृ-शुल्क** की चर्चा है[4] तथा उसे **हरणम्** नाम से अभिहित किया है।

इस प्रकार की सहमति प्राप्त न होने की आशंका होने पर युवक-युवती **गन्धर्व-विवाह** कर लिया करते होंगे। इस प्रकार के विवाह में कहा गया है कि युवक-युवती यदि परस्पर राजी हों तो किसी श्रोत्रिय के घर से लाये अग्नि में हवन कर तीन फेरे कर लेने मात्र से विवाह सम्पन्न हो जायगा। इस प्रकार का विवाह करके अभिभावकों को निःसंकोच सूचित किया जा सकता था क्योंकि अग्नि को साक्षी देकर किया गया विवाह भंग नहीं किया जा सकता था। अभिभावकों को समाज के भय से इसे स्वीकार करने को विवश होना पड़ता होगा। पर लोक-भावना इस प्रकार के विवाह के विरुद्ध थी, यह मालतीमाधव में प्रेमासक्त नायिका से कामन्दिकी द्वारा कहे गये इस कथन से होती है कि पुत्री के विवाह का नियन्त्रण पिता और भाग्य द्वारा ही होता है। उतावली में किये गये विवाह का परिणाम अच्छा नहीं होता। अपने इस कथन के समर्थन में कामन्दिकी ने शकुन्तला-दुष्यन्त, पुरुरवा-उर्वशी, वासवदत्ता-उदयन के गन्धर्व विवाहों का उल्लेख किया है। समसामयिक अभिलेखों में भी उसका

१. मनुस्मृति, ८।३६४, ३६६।
२. का० इ० इ०, ३, पृ० २०-२१।
३. वही, पृ० ३५।
४. रघुवंश, ११।३८।

उल्लेख नहीं मिलता। इसलिए यह कहना कठिन है कि इसका प्रचार किस सीमा तक था। पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि इस प्रकार का विवाह रोमांस-प्रिय लोगों को अवश्य भाता रहा होगा।

वात्स्यायन का यह भी कहना है कि यदि मनचाही पत्नी सहज भाव से प्राप्त न हो तो वह छल-कपट द्वारा बलात् भी प्राप्त की जा सकती है। इस बात का अनुमोदन स्मृतिकार **राक्षस विवाह** के रूप में करते हैं। यही नहीं, उन्होंने तो सोते समय, नशे में अथवा उन्मत्तता की अवस्था में संग्रहण करने पर पुरुष को दण्डित करने के स्थान पर स्त्री की इच्छा के विरुद्ध उसकी मर्यादा के रक्षार्थ विवाह करने का विधान किया है और उसे **पैशाच्य विवाह** का नाम दिया है।

पत्नी—वात्स्यायन के अनुसार गुप्तकालीन आदर्श पत्नी का स्वरूप यह था कि वह अपने पति की देवता के समान सेवा करे; उसके घर आने पर उसकी देख-भाल करे और उसके खाने-पीने की समुचित व्यवस्था करे; व्रत-उपवासों में पति का साथ दे; उत्सवों, सामाजिक कृत्यों और धार्मिक जुलूसों में पति की आज्ञा प्राप्त करके ही जाय; उन्हीं आमोद-प्रमोदों में भाग ले जो उसके पति को पसन्द हों; पति अपनी पत्नी में कोई दोष न देखे इसलिए वह सन्दिग्ध चरित्र की स्त्रियों के संसर्ग में न रहे; द्वार पर खड़ी न हो; अधिक देर तक एकान्त में न रहे; अपने धन का अभिमान न करे; पति की अनुज्ञा बिना किसी को दान न दे; अपने पति के मित्रों का माला, सुगन्धि आदि से यथोचित सम्मान करे; सास-ससुर की सेवा करे और उनकी आज्ञा का पालन करे, उनकी उपस्थिति में उत्तर न दे, मृदुवचन कहे, जोर से हँसे नहीं; नौकरों से समुचित काम ले और उत्सवों पर उनका यथोचित मान भी रखे।

पत्नी के लिए यह भी उचित था कि पति के विदेश जाने पर वह संन्यासी-सा जीवन व्यतीत करे; धर्मचिह्नों के अतिरिक्त कोई अन्य आभूषण न धारण करे; धर्म-कार्य और व्रत-उपवास में लगी रहे; बड़े जो कहें वही करे; सुख-दुःख के अवसरों को छोड़ कर अन्य अवसरों पर अपने सगे-सम्बन्धियों के यहाँ भी न जाय और यदि जाय भी तो पति-परिवारवालों के साथ और वहाँ से थोड़ी ही देर में लौट आये; पति के वापस आने पर शालीन वस्त्रों में उससे मिले।

इस प्रकार का वैयक्तिक आचरण करते हुए पत्नी पर सम्पूर्ण गृह-व्यवस्था का उत्तरदायित्व था। वह पति, उसके माता-पिता, सगे-सम्बन्धियों की देखभाल करती थी; घर को स्वच्छ, फर्श को चिकना रखना और गृहदेवता की पूजा करना उसका काम था; उसका यह भी काम था कि अपने बगीचे में तरकारी, फूल, फल, जड़ी-बूटी के पेड़-पौधे लगाये, उनके बीजों को समय पर एकत्र कर बोये; घर में अन्न की पूरी व्यवस्था रखे; खेती और दुधार तथा टाट पशुओं की देख-भाल करे; परिवार का वार्षिक बजट बनाकर उसके अनुसार व्यय करे; नित्य-प्रति का हिसाब रखे। पति की अनुपस्थिति में घर की व्यवस्था बिगड़ने न पाये यह भी उसका उत्तरदायित्व था।

इसके लिए वह आय बढ़ाने और व्यय घटाने का प्रयत्न करे। यदि परिवार में सौत हो और वह आयु में छोटी हो तो उसे बहन के समान और यदि बड़ी हो तो माता के समान माने।[१]

स्मृतिकारों ने पत्नी पर पति का पूर्ण अधिकार माना है और पति का यह उत्तरदायित्व था कि वह अपनी पत्नी को अच्छी तरह रखे। पर साथ ही पति को अपने पत्नी को मारने-पीटने की पूरी स्वतन्त्रता थी। यदि पत्नी की कोई बात पति को बुरी लगे तो वह उसको त्याग भी सकता था। पर व्यवहार में पत्नी का त्याग इतना सहज न था क्योंकि स्मृतिकारों ने यह भी कहा है कि यदि कोई पति अपनी पत्नी को वर्ण-विनाशक अपराधों को छोड़ कर किसी अन्य अपराध के लिए त्यागता है तो राजा उसे दण्डित करे।

पत्नी के लिए आवश्यक था कि वह पति की आजीवन सेवा करती रहे और मृत्यु के उपरान्त सतीत्व का पालन करे। पर पति को पत्नी के मरने पर दूसरा विवाह करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। गुप्त-काल में बहु-पत्नित्व की प्रथा भी प्रचलित थी। राजघरानों में ही नहीं सामान्य जनों में भी उसका प्रचार था। धनिक व्यक्तियों के तो निःसन्देह अनेक पत्नियाँ होती थीं जिनका जीवन बाह्य रूप से तो सुख से भरा हुआ होता था पर आन्तरिक रूप से वे दुःखी जीवन व्यतीत करती थीं। दुष्ट, असयमी, बन्ध्या और निरन्तर कन्या उत्पन्न करनेवाली स्त्रियों को प्रायः सौत का सामना करना पड़ता था। कभी-कभी अस्थिर-मति पति के कारण भी पत्नी को यह दुःख भोगना पड़ता था।[२]

स्त्री-संग्रहण—उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट है कि पत्नी से सदैव पति के प्रति निष्ठ रहने की आशा की जाती थी। पर व्यवहार में कदाचित् ऐसा नहीं था। गुप्त-काल में पर-स्त्री और पर-पुरुष सम्बन्ध प्रचलित था और समाज इस बात से भली-भाँति परिचित भी था। वात्स्यायन ने इस प्रकार के प्रेमी-प्रेमिकाओं के मिलन की विस्तार से चर्चा की है। स्मृतिकार भी इस स्थिति से भली-भाँति परिचित थे। कदाचित् इसी कारण उनकी परिभाषा के अन्तर्गत न केवल स्त्री-पुरुष का एक ही शैया पर बैठना, सोना, आलिंगन-चुम्बन आदि ही संग्रहण था, वरन् स्त्री के साथ खाना, उसके कपड़े पकड़ना, उसके आभूषण को छूना, उससे मजाक करना और सुगन्धि और पुष्पहार भेंट करना भी उनकी दृष्टि में संग्रहण था। यही नहीं उन्होंने एकान्त, अरण्य, पनघट, ग्राम के बाहर, नदी के संगम आदि पर पर-पत्नी से वार्तालाप को भी संग्रहण घोषित किया है और इन सबको उन्होंने दण्डनीय ठहराया है।[३] संग्रहण के अपराध के लिए उन्होंने अर्थ-दण्ड ही नहीं लिंगोच्छेदन और मृत्यु-दण्ड का भी विधान किया है।

---

१. कामसूत्र, ४।१।१-५५; ४।२।१-३८।
२. वही, ३।४।५५-५६; ४।२।१; ४।४।७२-९०।
३. मनुस्मृति, ८।३५४-३५८, ३६१; याज्ञवल्क्यस्मृति, २।२८३-८४।

उनकी दृष्टि में उच्च वर्ण की स्त्री का संग्रहण निम्न वर्ण की स्त्री की अपेक्षा अधिक गम्भीर अपराध था; इसी प्रकार उन्होंने ब्राह्मण अपराधी के लिए कम और शूद्र अपराधी के लिए अधिक दण्ड का विधान किया है। विष्णु, याज्ञवल्क्य, नारद और बृहस्पति ने समान वर्ण की स्त्री के संग्रहण के लिए अधिकतम आर्थिक दण्ड, निम्न वर्ण की स्त्री के संग्रहण के लिए मध्यम अर्थ-दण्ड और उच्च वर्ण की स्त्री के संग्रहण के लिए मृत्यु-दण्ड का विधान किया है।[1] शूद्र को प्रत्येक अवस्था में मृत्यु-दण्ड का अधिकारी माना है। संग्रहण के सम्बन्ध में उन्होंने कुछ अपवाद भी प्रस्तुत किये हैं। यथा—वेश्या तथा ऐसी दासी का संग्रहण अपराध न था, जो स्वामी द्वारा नियन्त्रित न हो। ब्राह्मण वर्ण के अतिरिक्त अन्य वर्ण की कुलटा स्त्री के साथ, यदि वह किसी की रखैल न हो, सहवास भी अपराध न था।[2] भिक्षुणी के संग्रहण को स्मृतिकारों ने कोई महत्त्व नहीं दिया है। उसके लिए उन्होंने नाममात्र का अर्थ-दण्ड ही पर्याप्त माना है।[3]

पति की उपेक्षा करनेवाली स्त्री के लिए कौटिल्य और याज्ञवल्क्य ने नाक-कान काट लेने का विधान किया था।[4] मनु, बृहस्पति, विष्णु और कात्यायन ने उसके लिए मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था की है।[5] मनु ने तो यह भी कहा है कि उसे खूँखार कुत्तों से नुचवाना चाहिए।[6] किन्तु इसके साथ ही स्मृतिकारों का यह भी कहना है कि पर-पुरुष गमन उप-पातक मात्र है जो प्रायश्चित्त मात्र से दूर हो जाता है। स्त्री प्रायश्चित्त न करे तभी उसके साथ कठोर व्यवहार किया जाना चाहिए; उसकी उपेक्षा की जानी चाहिए और उसे भोजन से वंचित कर देना चाहिए। सग्रहणकृत स्त्री प्रायश्चित्त मात्र से अथवा कुछ स्मृतियों के अनुसार, मासिक स्राव होने के पश्चात् स्वयं पवित्र हो जाती है। वशिष्ठ और याज्ञवल्क्य का कहना था कि अन्य वर्ण के संसर्ग से गर्भवती स्त्री प्रसव-काल तक और तदनन्तर मासिक स्राव आरम्भ होने तक ही अपवित्र रहती है तदनन्तर वह पवित्र हो जाती है। यदि स्त्री शूद्र अथवा निम्न वर्ण के साथ सहगमन करे और उससे गर्भवती हो या पुत्र उत्पन्न करे तो उस अवस्था में उसे त्याग देना चाहिए।[7] इन बातों से ऐसा ज्ञात होता है कि समाज, संग्रहण के सम्बन्ध में पुरुष के प्रति अधिक कठोर था और नारी के प्रति उसके भाव उदार थे। किन्तु यह उदार भावना कदाचित् उन्हीं अवस्थाओं में रही होगी जब उसकी सहमति से संग्रहण न हुआ हो और उसके साथ बलात्कार किया गया हो।

---

१. विष्णुस्मृति, ५।४०-४१; याज्ञवल्क्यस्मृति, २।२८६,२८९; नारदस्मृति, १२।७०; बृहस्पति स्मृति, २३।१२।
२. मनुस्मृति, ८।३६३; याज्ञवल्क्यस्मृति, २।२९०; नारदस्मृति, १२।७८-७९।
३. मनुस्मृति, ८।३६२; याज्ञवल्क्यस्मृति, २।२९३।
४. अर्थशास्त्र, ४।१०।२२५; याज्ञवल्क्यस्मृति, २।२८६।
५ बृहस्पतिस्मृति, २२।१५-१६।
६. मनुस्मृति, ८।३७१।
७. क्लासिकल एज, पृ० ५६६।

विधवा—पति के मृत्यु के उपरान्त सामान्यतः स्त्रियाँ वैधव्य जीवन व्यतीत करती थीं। विधवा स्त्रियों के लिए स्मृतिकारों ने आत्मसंयम और सतीत्व के साथ रहने और सादा जीवन व्यतीत करने का विधान किया है। वे न तो आभूषण धारण कर सकती थीं और न केश सँवार सकती थीं। वे उबटन भी नहीं लगा सकती थीं। इस प्रकार वे सात्त्विक जीवन बिता सकें, इसलिए उन्हें कुछ स्मृतिकारों ने पति के सम्पत्ति में उत्तराधिकार प्रदान किया था।

साथ ही गुप्त-काल में विधवा एवं अन्य स्त्रियों के पुनर्विवाह के प्रचलन की भी बात ज्ञात होती है। यद्यपि वह बहुप्रचलित न था। नारद और पराशर ने पाँच विशिष्ट अवस्थाओं में स्त्रियों को पुनर्विवाह कर लेने की अनुमति दी है।[1] उनमें एक पति की मृत्यु भी है। किन्तु इस प्रकार का विवाह उन्होंने देवर या सम्बन्धी के साथ ही उचित ठहराया है।[2] अमरकोश में पुनर्विवाहित के अर्थ में न केवल पुनर्भू शब्द का उल्लेख किया है वरन् पुनर्भू पत्नीवाले द्विज पति के लिए विशेष शब्द और उसके पर्याय भी दिये हैं। कात्यायन स्मृति में वयस्क और ऊन सन्तान रहते हुए दूसरा पति करनेवाली स्त्रियों की चर्चा की है। दायभाग और उत्तराधिकार के अन्तर्गत उन्होंने ऐसी स्त्री के पुत्र के दाय पर भी विचार किया है जिसने पति को नपुंसक होने के कारण त्याग दिया हो। किन्तु वात्स्यायन के कामसूत्र से ऐसा प्रतीत होता है कि विधवाओं का विधिवत् पुनर्विवाह नहीं होता था। वे स्वेच्छित पुरुष के साथ दाम्पत्य जीवन व्यतीत कर सकती थीं और समाज उसे मान्य करता था। किन्तु वात्स्यायन के कथन से यह भी प्रकट होता है कि पुनर्भू पत्नियों को विवाहित पत्नी के समान सामाजिक स्थिति प्राप्त न थी। उनकी स्थिति को उन्होंने कुमारी और सुरतिन (रखैल) तथा देवी और गणिका के बीच बतायी है। उनके इस कथन में कितना सार है कहना तनिक कठिन है। द्वितीय चन्द्रगुप्त ने अपने भाई की पत्नी ध्रुवस्वामिनी के साथ पुनर्विवाह किया था किन्तु ध्रुवस्वामिनी की स्थिति किसी विवाहित पत्नी से कम प्रतीत नहीं होती।

इस बात के भी संकेत मिलते हैं कि गुप्त-काल में सती प्रथा अर्थात् मृत पति के शव के साथ जल मरने की प्रथा प्रचलित हो गयी थी। पर सम्भवतः उसे समाज से बहुत मान्यता प्राप्त नहीं हुई थी। केवल बृहस्पति[3] और विष्णु[4] ने मृत पति के साथ विधवा के सती हो जाने का विधान किया है। सती का उल्लेख कालिदास, वात्स्यायन आदि ने भी किया है और एरण के एक अभिलेख में गोपराज की पत्नी के सती हो जाने का उल्लेख है।[5]

---

१. नारदस्मृति, १२।९७; पराशरस्मृति, ४:३।

२. नारदस्मृति, १२।५०।

३. बृहस्पतिस्मृति, २५।११।

४. विष्णुस्मृति, ३५।१४।

५. का० इ० इ०, ३, पृ० ९२, पं० ५-७।

परिवार--पूर्ववर्ती काल के समान ही गुप्त-काल में संयुक्त परिवार व्यवस्था समाज में प्रचलित थी। वयोवृद्ध व्यक्ति का पूरे परिवार पर अनुशासन होता था और परिवार के सभी लोग उसका अनुशासन मानते थे। पारिवारिक विवादों में उसका निर्णय सर्वथा मान्य होता था और न्यायालय भी उसकी बातों का आदर करती थी। इसी प्रकार उसकी पत्नी का भी परिवार के भीतर उतना ही महत्त्व था। स्मृतियों ने पिता के जीवन-काल में बँटवारे की बात को हेय ठहराया है। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि पिता की मृत्यु के उपरान्त भी आठ वयस्क पुत्र, असंख्य पौत्र और भाई संयुक्त रूप से एक परिवार में रहते थे।[1] एक अभिलेख में अपने, अपनी माँ, पत्नी, बेटे बेटी, भाई, दो भतीजे और दो भतीजियों के आत्मिक सुख के लिए व्यवस्था का उल्लेख है।[2] इससे सहज अनुमान होता है कि संयुक्त पारिवारिक व्यवस्था सुदृढ़ रूप से और सद्भावनापूर्वक कई पीढ़ियों तक चलती रहती थी।

पारिवारिक सम्पत्ति का स्वामित्व पिता अथवा गृह-प्रमुख में निहित होता था किन्तु उसमें बेटे और भाइयों का दाय माना जाता था। आवश्यक होने पर इस बात का उल्लेख स्पष्ट रूप से भू-शासनों में कर दिया जाता था। उन दिनों दाय का वह रूप प्रचलित था जो परवर्ती काल में मिताक्षरा के नाम से प्रख्यात हुआ। पिता के जीवन-काल में बँटवारा की बात करनेवाले ब्राह्मण को स्मृतिकारों ने श्राद्ध में भाग लेने से वंचित किया है। पूर्ववर्तीकालीन धर्मशास्त्रों में दाय के प्रसंग में जो बारह प्रकार के पुत्र स्वीकार किये गये थे, वे गुप्त-काल में बहुमान्य नहीं रहे। इस काल में केवल पुत्रिका-पुत्र (दौहित्र) की मान्यता जान पड़ती है।[3] बृहस्पति के अनुसार दत्तक होना हेय कर्म था।[4] उनका कहना था कि जो अपना कुल छोड़कर दूसरे कुल में जाता है वह पाप का भागी होता है। उससे अच्छा उन्होंने नियोग[5] को माना है। किन्तु इस सम्बन्ध में स्मृतिकार एक मत नहीं हैं। याज्ञवल्क्य की दृष्टि में नियोग में कोई बुराई न थी पर बृहस्पति ने इसका विरोध किया है।

पारिवारिक सम्पत्ति में पुत्रों का जन्मना समान भाग था। कतिपय अपवाद की स्थिति में ज्येष्ठ पुत्र को कुछ अधिक अंश प्राप्त होता था।[6] पति की सम्पत्ति में विधवा के अधिकार के सम्बन्ध में स्मृतिकारों में मतभेद है। यदि मृत्यु के समय पति संयुक्त परिवार का सदस्य था तो उन्होंने विधवा का जीवन-निर्वाह का अधिकार स्वीकार किया है। किन्तु यदि वह अलग रहता था तो याज्ञवल्क्य और बृहस्पति ने विधवा का जीवन-काल तक पति के अंश पर उत्तराधिकार माना है। पर विधवा के इस अधि-

---

१. ए० इ०, १, पृ० ६; १२, पृ० २; १९ पृ० १२० ।
२ इ० ए०, ११, पृ० २५८ ।
३. याज्ञवल्क्यस्मृति, २।१२८ ।
४. बृहस्पतिस्मृति, दाय भाग, श्लोक ७८ ।
५. पति के मृत्यूपरान्त किसी सम्बन्धी के संसर्ग से सन्तति-प्रजनन ।
६. का० इ० इ०, ३, पृ० १९९ ।

कार को भी उस समय तक बहुत मान्यता प्राप्त न हो सकी थी। शकुन्तला के छठे अंक में सन्तानहीन विधवा की सम्पत्ति पर राज्याधिकार होने का उल्लेख है। भाइयों के रहते पिता की सम्पत्ति में पुत्रियों का कोई अधिकार न था; किन्तु भाइयों से अपेक्षा की जाती थी कि वे अपनी बहन के विवाह में एक पुत्र के अंश का चतुर्थांश व्यय करेंगे।

स्त्रियों को इस प्रकार पारिवारिक सम्पत्ति में तो कोई अधिकार न था पर विवाह के उपलक्ष्य में मिली वस्तुओं, पति-गृह जाते समय दिये गये धन, प्रेमस्वरूप प्राप्त भेंट, माता, पिता और भाई से मिले धन पर उनका एकाधिकार था।[1] वह स्त्री-धन कहा जाता था और उसके उपयोग और उपभोग की उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी।

दास—परिवार में पारिवारिक कार्य और सेवा-कार्य के निमित्त भृत्य और दास होते थे। दास और भृत्य में अन्तर यह था कि भृत्य सेवक होते हुए भी स्वतन्त्र था। वह जब चाहे सेवा से निवृत्त हो सकता था। उसे सेवा-कार्य के लिए वेतन प्राप्त होता था और उसको अपनी आय पर पूरा अधिकार था। उसे वह जिस प्रकार चाहे उपयोग-उपभोग करे। दास को इस प्रकार की स्वतन्त्रता न थी। दास को अपने स्वामी की इच्छानुसार छोटे-बड़े, अच्छे-बुरे सभी काम करने पड़ते थे। स्वामी अपने दास-दासी को किसी के हाथ बेच सकता था, बन्धक रख सकता था, दान दे सकता था। उसकी आय पर स्वामी का अधिकार होता था। दास के प्रति स्वामी का व्यवहार वैयक्तिक स्वभाव के अनुसार होता था। स्वामी उदार भी होते थे और क्रूर भी। यों मनु का कहना था कि गृहस्थ को माता-पिता, पत्नी और सन्तति के समान ही दास से भी कलह नहीं करना चाहिए।

भारतीय समाज में दास-प्रथा वैदिक काल से ही प्रचलित थी। इसकी चर्चा स्मृतियों में भी विपद् रूप से हुई है। मृच्छकटिक नाटक से ज्ञात होता है कि गुप्त-काल में यह प्रथा पूर्णरूप से प्रचलित थी। मनुस्मृति में सात प्रकार के दासों का उल्लेख है : (१) ध्वजाहृत, (२) भक्त-दास, (३) गृहज, (४) क्रीत, (५) दात्रिय, (६) पैत्रिक और (७) दण्ड दास।[2] युद्ध में बन्दी किये गये लोग दास समझे जाते थे और वे **ध्वजाहृत दास** कहलाते थे। स्वेच्छया दासता स्वीकार करने वाले लोग **भक्त-दास** कहलाते थे। स्वेच्छया लोग निम्नलिखित परिस्थितियों में दास होते थे : (१) भीषण अकाल के समय अन्नाभाव से क्षुधा पीड़ित होने पर, (२) ऋण-ग्रस्त होने पर ऋण न अदा कर सकने की स्थिति में, (३) ऋण की आवश्यकता होने पर बन्धक के रूप में, (४) जुए में सम्पदा हारने के बाद अपने को दाँव पर चढ़ा कर हार जाने पर। दास-दासी से उत्पन्न सन्तति **गृहज दास** कहलाती थी। क्रय किये गये दास **क्रीत दास** कहे जाते थे। दान में प्राप्त अथवा दूसरों द्वारा दिये गये दास **दात्रिय** कहलाते थे। कुल में दास के रूप में चले आते लोग **पैत्रिक दास** कहलाते थे।

---

१. मनुस्मृति, ९।१९४; याज्ञवल्क्य, २।१४३।

२. मनुस्मृति, ८।४१५।

दण्डस्वरूप भी लोग दास बनाये जाते थे। वे दण्ड दास कहलाते थे। इनके अतिरिक्त यह भी ज्ञात होता है कि दासी से सम्बन्ध रखने वाला व्यक्ति भी दास माना जाता था। इसी प्रकार स्वेच्छया दास से विवाह करने वाली स्त्री भी दासी मानी जाती थी।[1] किन्तु किसी भी अवस्था में ब्राह्मण दास नहीं बनाया जा सकता था। दासी के रूप में ब्राह्मणी का क्रय-विक्रय अवैध था।

दास न तो किसी सम्पत्ति का स्वामी हो सकता था और न सामान्यतः किसी मुकदमे में उसकी साक्षी स्वीकार की जाती थी। दास द्वारा बिना स्वामी की सहमति के किया गया समस्त कार्य, वैध होते हुए भी अग्राह्य था। परन्तु यदि कोई दास अपने स्वामी के हित के निमित्त कोई ऋण उपलब्ध करे तो वह स्वामी द्वारा देय होता था। इसी प्रकार यदि दास कोई अपराध करे तो उसका भार बिना ननु-नच के स्वामी को वहन करना होता था क्योंकि दास स्वामी के प्रतिच्छाया मात्र माना गया है। इस प्रकार स्वामी और दास दोनों ही अपने दायित्व और कर्तव्य से बँधे हुए थे।

स्व-विक्रीत दास के अतिरिक्त अन्य सभी दासों को दासता से मुक्ति प्राप्त हो सकती थी। स्वामी के घर में जन्मा, दान अथवा दाय में प्राप्त दास अपने स्वामी की इच्छा और उदारता से मुक्त हो सकता था। यदि दासी को अपने स्वामी से कोई सन्तान उत्पन्न हो जाय तो वह दासता से मुक्त मानी जाती थी।[2] इसी प्रकार यदि दास किसी विपत्ति से अपने स्वामी की जीवन-रक्षा करे तो वह अपनी दासता से मुक्त समझा जाता था।[3] यही नहीं, उसे पुत्र के समान दाय में अधिकारी भी माना जाता था। द्यूत-दास, ऋण-दास और अकाल-पीड़ित दास देय चुका देने पर मुक्त हो सकते थे। यह देय चाहे वह स्वयं दे या उसके कोई हितैषी या सम्बन्धी। दण्ड-दास भी अपने स्थान पर किसी दूसरे को देकर अपनी मुक्ति प्राप्त कर सकते थे।

मुक्ति की विधि भी अत्यन्त साधारण और प्रतीकात्मक थी। दास अपने कन्धे पर एक घड़ा रख कर स्वामी के सामने आता था और स्वामी उस घड़े को उसके कन्धे से उतार कर भूमि पर पटक देता था। कन्धे पर घड़े को ढोना उसकी दासता का और स्वामी द्वारा उसका पटका जाना, उसकी स्वतन्त्रता का प्रतीक था। तदनन्तर स्वामी उसके सिर पर अन्न और पुष्पयुक्त जल छिड़क कर जनसमूह की उपस्थिति में उसकी मुक्ति की घोषणा करता था।[4] इस प्रकार दास अपनी दासता से मुक्त हो जाता था। प्राचीन भारतीय दासता का यह रूप अन्य देशों की दासता से सर्वथा भिन्न था। बलात् बनाये गये और क्रीत-दास को यदि स्वामी मुक्त करने को इच्छुक न हो तो राजा चाहे तो उसे मुक्त करा सकता था।

---

१. कात्यायनस्मृति, श्लो० ७१५।
२. कात्यायनस्मृति, श्लो० ७१६।
३. याज्ञवल्क्यस्मृति, २।१८२।
४. नारदस्मृति, ५।२५-४३।

खान-पान—चौथी शती के अन्त में चीनी यात्री फाह्यान भारत आया था। उसका कहना है कि मध्य देश के लोग शाकाहारी थे। वे लोग किसी जीवित प्राणी को नहीं मारते, शराब नहीं पीते और लहसुन-प्याज नहीं खाते थे। केवल चाण्डाल इसके अपवाद थे। उनका यह भी कहना है कि वे लोग सुअर और पक्षी नहीं पालते, जीवित पशु नहीं बेचते। बाजारों में न तो कसाइयों की दुकानें हैं और न मदिरालय।[१] उनके इस कथन से तत्कालीन भारतीय जीवन का एक सात्त्विक रूप उपस्थित होता है। किन्तु वस्तुतः स्थिति ठीक इसके विपरीत थी। फाह्यान ने कदाचित् एक बौद्ध भिक्षु की दृष्टि से समाज को देखने की चेष्टा की होगी अथवा उन्हें समाज के विविध रूपों को देखने का अवसर न मिला होगा, ऐसा सहज कहा जा सकता है। समूचा गुप्त-कालीन साहित्य मांस और मदिरा की चर्चा से भरा हुआ है। उस काल की बृहस्पति आदि स्मृतियों से भी वह प्रतिध्वनित होता है। यदि स्त्री-पुरुषों में मांस-मदिरा का प्रचुर प्रचार न होता तो उन्हें यह कहने की आवश्यकता न होती कि यदि स्त्री का पति विदेश हो तो वह मांस-मदिरा का सेवन न करे। स्मृतियों में श्राद्ध के समय मांस के प्रयोग का भी स्पष्ट विधान है। इससे सहज अनुमान होता है कि तत्कालीन समाज आमिष भोजी प्रधान था। लोग पशु-पक्षी के मांस और मछली खाते थे। नगरों में मांस की नियमित दुकानें (सूणा) थीं। धनिक लोग जंगली सूअर, हिरण, नीलगाय और पक्षियों का शिकार करते और उनका मांस खाते थे। मछली में लोग रोहित (रोहू) का प्रचार अधिक था।[२]

नागरिक जीवन में मांस की प्रधानता होते हुए भी ग्राम-जीवन में अन्न का ही प्रयोग अधिक होता रहा होगा। लोग गेहूँ, जौ, चावल, दाल, चीनी, गुड़, दूध, घी, तेल का ही प्रमुख रूप से करते रहे होंगे। लंकावतार सूत्र में इन सबका उल्लेख स्वीकृत खाद्य के रूप में हुआ है। पर अन्न के रूप में कालिदास के ग्रन्थों में केवल चावल[३], जौ[४] और तिल[५] का उल्लेख मिलता है। चावल के रूप में उन्होंने शालि[६], नीवार,[७] कलम[८] और श्यामाक[९] का उल्लेख किया है। उनके उल्लेखों से ऐसा अनुमान होता है कि गुप्त-काल में धान और ईख की पैदावार बहुत थी।[१०] रघुवंश में शहद और

---

१ लेगे, रेकर्ड ऑव बुद्धिस्ट किंगडम, पृ० ४३।
२. रघुवंश, ४।४६-४७।
३. देखिये नीचे टिप्पणी, ६-९।
४. कुमारसम्भव, ७।१७, २७, ८२।
५. अभिज्ञानशाकुन्तल, अंक ३।
६. रघुवंश, १७।५३।
७. अभिज्ञानशाकुन्तल, अंक २; अंक ४।
८. रघुवंश, ४।३७; कुमारसम्भव, ५।४७।
९. अभिज्ञानशाकुन्तल, अंक ४।
१०. रघुवंश, ४।२०।

चावल से बने अर्घ नामक खाद्य-पदार्थ का उल्लेख है।[१] उनके अन्य ग्रन्थों में पयस चारु[२], मोदक[३], शिखरिणी[४] आदि दूध और चीनी से बनी वस्तुओं का उल्लेख मिलता है। इनका प्रयोग कदाचित् धनिक परिवारों में और दावतों के अवसर पर ही विशेष होता रहा होगा। मृच्छकटिक में चावल, गुड़, घी, दधि, मोदक और पूप का उल्लेख हुआ है।[५] गुड़विकार[६] और मत्स्य-खण्डिका[७] नामक दो अन्य पदार्थों का भी उल्लेख तत्काल साहित्य में मिलता है। समझा यह जाता है कि ये किसी प्रकार की मिठाइयाँ थीं।

मद्य-पान गुप्त-काल में सामान्य रूप से प्रचलित था। स्त्री-पुरुष, गरीब-अमीर सभी मुक्तरूप से मद्य-पान करते थे। कालिदास के ग्रन्थ मद्य और मद्यपान के उल्लेखों से भरे हुए हैं। उन्होंने इसका मद्य[८], मदिरा[९], आसव[१०], वारुणी[११], कादम्बरी[१२] और शीधु[१३] नाम से उल्लेख किया है। नारिकेलासव का भी उन्होंने उल्लेख किया है।[१४] लोगों की धारणा है कि वह नारियल से बनी शराब होगी पर वह कदाचित् ताड़ी का ही नाम था। शीधु गन्ने से बने शराब को कहते थे।[१५] लोग मधूक (महुआ) आदि के फूलों से भी शराब बनाते थे जो पुष्पासव कहा जाता था।[१६] इस प्रकार की शराब का कदाचित् सामान्य और मध्यम वर्ग के लोगों में प्रचार रहा होगा। धनी लोग सहकार-मंजरी और पाटल की सुगन्धियुक्त शराब का प्रयोग किया करते थे।[१७] शराब का पान चषक नामक पात्र में किया जाता था[१८] और सड़कों के किनारे स्थित शौण्डिकापण में खुले आम शराब बिका करती थी[१९] और लोग वहाँ बैठ कर उसे पीते थे। धनिक लोग

---

१. वही, ११।६७।
२. वही, १०।५१, ५४।
३. विक्रमोर्वशीय, अंक ३।
४. वही।
५. अंक १।
६. ऋतुसंहार, ५।१६।
७. मालविकाग्निमित्र, अंक ३।
८. ऋतुसंहार, ५।१०।
९. रघुवंश, ८।६८।
१०. वही, ४।४२।
११. कुमारसम्भव, ४।१२।
१२. अभिज्ञानशाकुन्तल, अंक ६।
१३. रघुवंश, १६।५२।
१४. वही, ४।४२।
१५. वही, १६।५२।
१६. कुमारसम्भव, ३।३८।
१७. रघुवंश, १९।४६।
१८. वही, ७।४९।
१९. अभिज्ञानशाकुन्तल, अंक ६।

अपने घर में अन्तःपुर के निकट स्थित पानभूमि में उसका सेवन करते थे।[१] मद्य की दुर्गन्धि छिपाने के लिए लोग बीजपूरक का छिलका चबाते थे ताकि साँस में उसकी महक बस जाये।[२] इसी उद्देश्य से लोग पान-सुपारी का भी प्रयोग करते थे।[३] शराब के नशे को कम करने के लिए मत्स्यखण्डिका के प्रयोग किये जाने का उल्लेख मिलता है।[४]

वस्त्रावरण—कालिदास के वर्णनों से अनुमान होता है कि गुप्त-काल में सिले वस्त्रों का प्रयोग नहीं होता था। उन्होंने स्पष्ट रूप से किसी वस्त्र का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु शकों के प्रवेश के साथ भारत में वारवाण (इरानी ढंग का लम्बा मोटा कोट) और पाजामे (या शलवार) का प्रचलन हो गया था और उनका प्रचार गुप्त-काल में था ऐसा गुप्त-सम्राट् के सिक्कों पर अंकित उनके छवि-अंकन से ज्ञात होता है।[५] इसका उपयोग कदाचित् बहुत ही कम होता रहा होगा। आश्चर्य नहीं, वह गुप्त-सम्राटों तक ही सीमित रहा हो।

सामान्यतः स्त्री और पुरुष केवल दो वस्त्र का उपयोग करते थे। एक का प्रयोग निम्न-भाग को और दूसरे का ऊपरी भाग को ढकने के लिए किया जाता था और वे दुकूल-युग्म[६] या क्षौम-युग्म[७] कहे जाते थे। पुरुषों के वस्त्र में ऊपरी वस्त्र उत्तरीय (दुपट्टा) होता था जो कदाचित् कन्धों से होता हुआ काँख के नीचे से निकाल लिया जाता रहा होगा अथवा कन्धे पर रख लिया जाता होगा। उत्तरीय का प्रयोग लोग प्रायः अवसर विशेष अथवा स्थान विशेष पर ही करते थे। अन्यथा शरीर का ऊपरी भाग अनावृत ही रहता था। कटि के नीचे लोग धोती पहनते थे। लोग किस प्रकार धोती पहनते थे, इसके विविध रूप सहज ही गुप्त-कालीन सिक्कों पर देखा जा सकता है। उनसे यह भी अनुमान होता है कि राजा और प्रजा के वस्त्र धारण करने के ढंग में कोई अन्तर न था। उस समय सिर पर पगड़ी बाँधने का भी प्रचलन था। कालिदास ने अलक-वेष्टन[८] और शिरसा-वेष्टनशोभिना[९] शब्दों के माध्यम से उसका उल्लेख किया है। सिक्कों के देखने से ज्ञात होता है कि राजाओं द्वारा सिर पर विविध प्रकार के मुकुट धारण किये जाते थे। कालिदास ने पादुका का उल्लेख किया है,[१०] जिससे अनुमान होता है कि उस समय जूतों का प्रचलन हो गया था और उसका प्रयोग

---

१. रघुवंश, ७।४९।
२. मालविकाग्निमित्र, अङ्क ३।
३. रघुवंश, ४।४२, ४४।
४. मालविकाग्निमित्र, अङ्क ३।
५. रघुवंश (४।५५) में वारवाण का उल्लेख हुआ है।
६. रघुवंश ७।१२,१९।
७. अभिज्ञानशाकुन्तल, अङ्क ४।
८. रघुवंश, १।४२।
९. वही, ८।१२।
१०. वही, १२।१७; मालविकाग्निमित्र, अङ्क ५।

धनिक वर्ग किया करता था। पर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह चमड़े का होता था अथवा किसी अन्य वस्तु का।

पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी दो वस्त्र धारण करती थीं। ऊपर का वस्त्र स्तनांशुक[1] अथवा स्तनपट्ट कहलाता था। यह कदाचित् कपड़े की पट्टी मात्र होती थी जिससे स्तनों को ढक कर पीठ पीछे बाँध देते थे। इसी प्रसंग में कूर्पासक[2] का भी उल्लेख हुआ है जो कदाचित् शरीर ढकने के लिए कोई ढीला-ढाला-सा वस्त्र था जिसका प्रयोग स्त्रियाँ जाड़े में करती थीं। दूसरा वस्त्र ये लोग कटि के नीचे धारण करती थीं। उसे आधुनिक शब्दों में साड़ी कहा जा सकता है, पर उसके पहनने का ढंग तनिक भिन्न था। उन दिनों वह कटि से घुटने तक ही पहना जाता था और नीवीबन्द की सहायता से कटि पर बाँधा जाता था और उसके ऊपर मेखला धारण की जाती थी जिसे कालिदास ने क्षौमान्तरित मेखला का नाम दिया है। कभी-कभी स्त्रियाँ दुपट्टा या चुन्नी सदृश वस्त्र का भी उपयोग करती थीं[3] जो कदाचित् अवगुंठन का भी काम देता रहा होगा। पर अवगुंठन का प्रचार कम ही था।

ये वस्त्र सूती, रेशमी और ऊनी तीनों प्रकार के होते थे। सूती और ऊनी कपड़े तो इस देश में ही तैयार होते थे और जन-साधारण के उपयोग में आते थे। रेशमी कपड़ों का प्रयोग धनिक-वर्ग करता था। प्रायः दो प्रकार के रेशमी वस्त्रों का उल्लेख पाया जाता है—कौशेय और चीनांशुक। कौशेय कदाचित् देश में ही तैयार होता था और चीनांशुक चीन से आयात किया जाता था। लोग सामान्यतः श्वेत वस्त्र अधिक पसन्द करते थे; पर रंगीन वस्त्रों का भी उपयोग होता था। रंगीन वस्त्रों में काले, लाल, नीले और केसरिया का अधिक प्रयोग होता था।

आभूषण—तत्कालीन साहित्य आभूषणों की चर्चा से भरा हुआ है। उनसे ज्ञात होता है कि स्त्री-पुरुष दोनों ही समान रूप से आभूषणों का प्रयोग करते थे। ये आभूषण रत्न-जटित,[4] सुवर्ण[5] और मोती[6] के होते थे। ये आभूषण सिर पर, कानों, गले, बाजू, कलाई, उँगली, कटि और पैरों में पहने जाते थे। सिर पर धारण करने वाले आभूषण चूड़ामणि[7], शिखामणि[8], मुक्तगुण[9], किरीट[10], मुकुट[11], मौलि[12] थे। इनका

---

१. विक्रमोर्वशीय, ५।१२; ४।१७; ऋतुसंहार १।७; ४।३; ६।५।
२. ऋतुसंहार, ४।१७; ५।१८।
३. रघुवंश, १६।१७; अभिज्ञानशाकुन्तल, अङ्क ५; अङ्क ६; मालविकाग्निमित्र, अङ्क ५।
४. मणि-कुण्डल (ऋतुसंहार २।५); मणिनूपुर (ऋतुसंहार, ३।२७)।
५. कांचन-कुण्डल (ऋतुसंहार ३।१९); कांचन-वलय (अभिज्ञानशाकुन्तल, अङ्क ६); जाम्बुनद अंबतंस (कुमारसम्भव, ६।९१)।
६. मुक्ताजाल (मेघदूत, १।३४; २।३८,४९; रघुवंश, १३।४८; १९।४५); कुमारसम्भव, ७।८९।
७. रघुवंश, १७।२८; कुमारसम्भव, ६।८१; ७।३५।
८. कुमारसम्भव, ७।३५।
९. मेघदूत, २।४६; रघुवंश, १६।१८।
१०. रघुवंश, ६।१९; १०।७५।
११. रघुवंश, ९।१३।
१२. वही, ३।८५; १८।३८; कुमारसम्भव, ५।७९।

प्रयोग केवल राजवर्ग के पुरुष किया करते थे। कानों में आभूषण स्त्री-पुरुष दोनों ही पहनते थे। पुरुषों के कर्णाभरणों में कुण्डल[1] और कर्णभूषण[2] का उल्लेख मिलता है। स्त्रियाँ कर्णपूर[3], कुण्डल[4], कनककमल[5] और अवतंस[6] पहनती थीं। कण्ठाभूषण भी स्त्री-पुरुष दोनों धारण करते थे। यह प्रायः विविध प्रकार के मोतियों के हार होते थे। इनको मुक्तावली[7], तारहार[8], हारशेखर[9], हारयष्टि[10], हार[11] आदि अनेक नामों से पुकारते थे जो सम्भवतः उनके विभिन्न रूप-भेद के प्रतीक थे। गुप्त-कालीन मूर्तियों में प्रायः मोतियों की एक लड़ी की माला का ही अंकन देखने में आता है। अंगद[12], वलय[13], कटक[14], केयूर[15] और अँगुलीयक (अँगूठी) कराभूषण थे जिन्हें स्त्री-पुरुष दोनों पहनते थे। कटि के आभूषण मेखला[16], कांची[17], कनककिंकिणि[18], रसना[19] थे जिन्हें केवल स्त्रियाँ पहनती थीं। इसी प्रकार वे पैरों में नूपुर[20] (पायल) धारण करती थीं। इनके विविध रूपों का तत्कालीन मूर्तियों, सिक्कों और चित्रों में प्रचुर मात्रा में हुआ है।

प्रसाधन—वस्त्राभूषण के प्रयोग के अतिरिक्त लोग अपने शरीर का नाना प्रकार से प्रसाधन और शृंगार किया करते थे। प्रसाधन का प्रचार सम्पन्न वर्ग में ही अधिक रहा होगा। सामान्य वर्ग तो उनकी देखा-देखी थोड़ा बहुत ही करता रहा होगा। प्रसाधनों में केश-प्रसाधन प्रमुख था। स्त्री-पुरुष दोनों ही लम्बे केश रखते थे और दोनों को ही अपने केशों को घुँघराले बनाने का शौक था। बालकों के केश दोनों

---

१. रघुवंश, ९।५१।
२. वही, ५।६५।
३. वही, ७।२७; कुमारसम्भव, ८।६२; ऋतुसंहार, २।२५।
४. ऋतुसंहार, २।२०; ३।१९।
५. मेघदूत, २।११।
६. कुमारसम्भव, ६।९१।
७. रघुवंश, १३।४८; विक्रमोर्वशीय, ५।१५।
८. रघुवंश, ५।५२।
९. ऋतुसंहार, १।६।
१०. वही, १।८, २।२५; कुमारसम्भव, ८।६८;
११. वही, ५।७०।
१२. रघुवंश, ६।१४, ५३; १६।६०।
१३. वही, ६।६८; ७।५०; कुमारसम्भव, ७।६९; १६।५६।
१४. अभिज्ञानशाकुन्तल, ३।११; ६।६; कुमारसम्भव, २।६४; ५।६८; मेघदूत, १।६४; रघुवंश १९।२२।
१५. मालविकाग्नि मित्र, अङ्क २।
१६. कुमारसम्भव, १।३८; ८।२६; रघुवंश, १०।८; ऋतुसंहार, १।४, ६।
१७. ऋतुसंहार, २।२०; ६।७।
१८. रघुवंश, १३।२३।
१९. वही, ७।१०; कुमारसम्भव, ५।१०; ऋतुसंहार, ३।३; मालविकाग्निमित्र, अङ्क ३।
२०. कुमारसम्भव, १।३४; ऋतुसंहार, १।५; रघुवंश, ८।६३।

ओर छल्लानुमा लटका करते थे। उनको काकपक्ष कहते थे। कालिदास ने रघु और राम के काकपक्ष का वर्णन किया है।[1] कार्तिकेय की गुप्तकालीन मूर्तियों में भी प्रायः काकपक्ष का अंकन मिलता है।[2] पुरुषों के भी कुन्तल केश दोनों ओर कन्धे तक लटकते रहते थे। उनके केश-विन्यास की चर्चा साहित्य में कम ही मिलती है पर उसके नाना रूप राजघाट से प्राप्त गुप्तकालीन मृण्मूर्तियों में सहज देखने को मिलता है। स्त्रियाँ तेल-सुगन्धि आदि लगा कर वेणी निकालती थीं और जूड़ा भी बनाती थीं। प्रायः एक वेणी का उल्लेख मिलता है।[3] इससे यह भी अनुमान होता है कि उन दिनों भी कुछ लोगों में दो वेणियों का प्रचार रहा होगा। इनके अतिरिक्त अलक,[4] लम्बालक[5], बर्हभर[6], चूड़ापाश, औद्रपटल, मधुपटल, मौलि आदि अनेक प्रकार के केश-विन्यासों का उल्लेख साहित्य में मिलता है और उनके रूप मृण्मूर्तियों में देखे जा सकते हैं। स्त्रियाँ अपने बालों को घुँघराला बनाने के लिए तरह-तरह के लेप और पिष्ट का प्रयोग करती थीं। स्त्री-पुरुष दोनों ही नहा-धोकर केशों को कालागुरु[7], लोध्र[8] और धूप के धूएँ से और शरीर[9] को कस्तूरी से सुगन्धित करते थे।[10]

ललाट पर स्त्री-पुरुष दोनों हरिताल, मनःशील और चन्दन से बने पिष्ट[11] अथवा काजल[12] या कुंकुम से तिलक लगाते थे और शलाका से आँखों में अंजन करते थे।[13] इसी प्रकार स्त्री[14]-पुरुष[15] दोनों ही अपने मुख पर[16] (और शरीर के अन्य भागों पर भी[17]) केसर, शुक्लागुरु और गोरोचन[18] से बने पिष्ट से पत्ररचना या विशेषक

---

१. रघुवंश, ३।२८; ११।१।
२. भारत कला-भवन, काशी, और पटना संग्रहालय में संरक्षित।
३. अभिज्ञानशाकुन्तल, अङ्क ७; मेघदूत, २।३०, ३४।
४. रघुवंश, ४।५४।
५. मेघदूत, २।२४।
६. वही, २।४६।
७. ऋतुसंहार, २।२१।
८. रघुवंश, २।२९; कुमारसम्भव, ७।९।
९. ऋतुसंहार, ४।५।
१०. रघुवंश, १७।२४।
११. ऋतुसंहार, १।२, ४, ६; कुमारसम्भव, ७।२३, ३३; रघुवंश, १८।४४; मालविकाग्निमित्र, अङ्क ३।
१२. मालविकाग्निमित्र, अङ्क ३।
१३. ऋतुसंहार, १।४, ६; रघुवंश, ७।२७, १६।५९, कुमारसम्भव, १।४७; ७।२०; मेघदूत, २।३७।
१४. कुमारसम्भव, ७।१५; मालविकाग्निमित्र, अङ्क ३।
१५. रघुवंश, १७।२४।
१६. कुमारसम्भव, ३।३०; मालविकाग्निमित्र, अङ्क ३।
१७. वही, ७।१५; रघुवंश, ९।२६; १०।६७।
१८. वही, ७।१५; ऋतुसंहार, ४।५; रघुवंश, ६।६५; मालविकाग्निमित्र, अङ्क ३।

किया करते थे। स्त्रियाँ अपने ओठों को अलक्तक से रँगती थीं[1] और उस पर लोध्र-धूलि छिड़क कर कुछ पीलेपन का आभास प्रकट करती थीं।[2] स्तनों पर वे चन्दन का लेप करतीं तथा पैरों में आलक्तक अथवा लाक्षारस से चित्रित करती थीं।[3] पुरुष अपने वस्त्र को सुगन्धित करते और पुष्पहार गले अथवा सिर पर धारण करते थे।

स्त्रियाँ उपर्युक्त प्रसाधनों के अतिरिक्त अपने शृंगार के लिए पुष्पों का भी प्रचुर प्रयोग करती थीं। वे फूलों की रसना[4], अवतंस[5], वलय[6], हार[7], वेणी[8] आदि बना कर अपने शरीर की सज्जा करती थीं। विभिन्न ऋतुओं में वे विभिन्न पुष्पों का प्रयोग करती थीं।

शरीर-प्रसाधन के पश्चात् स्त्री-पुरुष दोनों ही ताम्बूल (पान) का सेवन करते थे। यह सौन्दर्य का प्रतीक माना जाता था।[9]

कालिदास ने ऋतु के अनुसार शृंगार और प्रसाधन का विशद वर्णन किया है। अनुमान होता है कि अलग-अलग ऋतुओं में लोग अलग-अलग ढंग से अपने को सँवारते थे। ग्रीष्म में लोग जल-यन्त्र-मन्दिर (कदाचित् शावर) में स्नान करते, फिर अपने शरीर में चन्दन का लेप करते, हलके वस्त्र पहनते और चन्दन सुगन्धित पुष्पहार धारण करते और स्नान-कषाय से अपने केश को सुगन्धित करते और ललाट पर चन्दन लगाते थे।[10] वर्षा में अपने शरीर में चन्दन और कालागुरु का लेप करते, केशों और कानों को सामयिक पुष्पों से सजाते।[11] हेमन्त में इनके अतिरिक्त लोग अपने चेहरे पर विविध प्रकार के पत्र-लेखों को चित्रित करते थे।[12] शिशिर में वे घरों को कालागुरु की सुगन्ध देकर स्वच्छ करते। अपने वक्ष को केसर से चित्रित करते, केश को कालागुरु और धूप के धुएँ से सुगन्धित करते। स्तनों पर स्त्रियाँ प्रियंगु का लेप करतीं और हाथ-पैरों को आलक्तक से रँगती थीं।[13]

---

१. कुमारसम्भव, ५।११, ३४; ७।१८।
२. वही, ७।९।
३. मालविकाग्निमित्र, अङ्क ३; विक्रमोर्वशीय, ४।१६; मेघदूत, १।३६।
४. कुमारसम्भव, ३।५५।
५. मेघदूत, २।२; रघुवंश, १६।६१; ऋतुसंहार, २।२१, २५; ३।१९; ३।६; अभिज्ञानशाकुन्तल, अङ्क ६; मालविकाग्निमित्र, अङ्क ६।
६. अभिज्ञानशाकुन्तल, अङ्क ३।
७. वही, अङ्क ६; ऋतुसंहार, २।१८।
८. कुमारसम्भव, ७।१४; मेघदूत, २।२; ऋतुसंहार, २।१९, २१, २२, २५ आदि।
९. का० इ० इ०, ३, पृ० ८२।
१०. ऋतुसंहार, १।२-५।
११. वही, २।२१।
१२. वही, ४।५।
१३. वही, ६।१३।

इन ऋतु-प्रसाधनों की अपेक्षा विवाह के अवसर पर वधू का विशेष रूप से प्रसाधन किया जाता था। स्नान के पश्चात् उसके शरीर पर लोध्र मला जाता फिर कालेयक लगाया जाता। केशों को धुएँ द्वारा सुगन्धित किया जाता, गले में मधूक का हार पहनाया जाता। फिर उसके ललाट पर हरिताल का टीका और आँखों में अंजन लगाया जाता और शुक्लागुरु और गोरोचन से उसके शरीर पर पत्रविभक्त बनाये जाते।[१]

मनोरंजन और उत्सव—सामान्यतः लोगों के मनोरंजन का साधन जुआ था। मृच्छकटिक में उसका सुन्दर, विशद और मनोरंजक वर्णन हुआ है।[२] कालिदास ने चौपड़ के खेल का उल्लेख किया है।[३] मुर्गे[४] या मेढ़े[५] लड़ाना भी लोगों का मनोरंजन था। जलक्रीड़ा[६] और नौका-विहार भी लोगों में प्रचलित था। जलक्रीड़ा प्रायः स्त्रियाँ किया करती थीं।[७] झूला भी स्त्रियों के बीच बहुत प्रिय था। वे अपने प्रेमी-प्रेमिकाओं के साथ झूला झूलती थीं।[८] धनिक लोगों के मनोरंजन थे मद्य और नारी।[९] इस कारण समाज में गणिकाओं का विशेष सम्मान और महत्त्व था। वे अपने सौन्दर्य, वाक्चातुरी तथा अन्य अनेक प्रकार के कौशल से लोगों का मनोरंजन किया करती थीं। उनका वैभव-विलास भी लोगों को आकृष्ट किया करता था। जन्म आदि पारिवारिक उत्सवों में वे नाचने गाने के लिए बुलायी जाती थीं। देव-मन्दिरों मे भी उनका नाच-गाना होता था। लड़के-लड़कियाँ कन्दुक (गेंद) खेलते थे।[१०]

मृगया भी कुछ लोगों के मनोरंजन का साधन था। मृगया के अनेक सुन्दर अंकन गुप्त सम्राटों के सिक्कों पर देखने को मिलते हैं। उन पर सिंह, व्याघ्र और गैंडे के शिकार का अंकन हुआ है। लोग धनुष-बाण अथवा तलवार से शिकार किया करते थे; यह भी उनसे ज्ञात होता है। कभी-कभी शिकार घोड़े अथवा हाथी पर भी बैठकर किया जाता था। मृग का शिकार तो सामान्य बात थी। मृगया कुछ लोगों की दृष्टि में व्यसन और कुछ लोगों की दृष्टि में विनोद था। मनोरंजन के लिए लोग अपने घरों मे अनेक प्रकार के पक्षी पालते थे। मृच्छकटिक में वसन्तसेना के आवास के सातवें

---

१. कुमारसम्भव, ७।९-२३।
२. अङ्क २।
३. रघुवंश, ६।१८।
४. नारदस्मृति, १७।१; बृहस्पतिस्मृति, २६।३।
५. मालविकाग्निमित्र, अङ्क १।
६. रघुवंश, ९।३७; १६।१३; १९।९।
७. वही, ६।४८; १६।५४; मेघदूत, १।३७।
८. मालविकाग्निमित्र, अङ्क ३।
९. रघुवंश, १९।१५।
१०. वही, १६।८३।

प्रकोष्ठ में शुक, सारिका, कोयल, काक, तित्तिर, चातक, कबूतर, मोर और हंस के पाले जाने का उल्लेख है।[1] कालिदास ने यक्ष के घर में मृदुभाषण निपुण सारिका का उल्लेख किया है।[2]

धनिक लोग घनिष्ट मित्रों और समवयस्क साथियों के साथ समाज, घटा, गोष्ठी, आपानक, उद्यानयात्रा, समस्या-क्रीड़ा आदि का भी आयोजन किया करते थे।[3]

वर्ष में अनेक बार विशेष सार्वजनिक उत्सव हुआ करते थे। यथा—कौमुदी महोत्सव। इसका उल्लेख मुद्राराक्षस में हुआ है।[4] वह शरद की पूर्णिमा को मनाया जाता था। वात्स्यायन के कथनानुसार यह देशव्यापी (माहिमानी) क्रीड़ा थी।[5] चैत्र की पूर्णिमा को वसन्तोत्सव अथवा ऋतूत्सव[6] मनाया जाता था और यह कई दिनों तक होता था और इसमें कई प्रकार की क्रीड़ाएँ और उत्सव सम्मिलित थे। इस अवसर पर मदनोत्सव मनाया जाता था जिसका उल्लेख अभिज्ञानशाकुन्तल में हुआ इसमें आम की मंजरियों से कामदेव की पूजा की जाती थी और मिठाई बाँटी जाती थी। इस अवसर पर अशोक-दोहद और दोला (झूला) भी होता था तथा आज की होली की तरह ही पिचकारी से लोगों पर रंग (रंगोदक) डाला जाता था।[7] भादों की शुक्ल पक्ष की अष्टमी से द्वादशी तक पाँच दिन पुरुहूत-उत्सव इन्द्र के सम्मान में मनाया जाता था।[8] फाह्यान ने पाटलिपुत्र की चर्चा करते हुए रथ-यात्रा उत्सव का उल्लेख किया है जो उसके कथनानुसार प्रतिवर्ष दूसरे मास की अष्टमी को होता था। उसका उन्होंने विस्तार से वर्णन किया है। उनके कथनानुसार सूप के आकार का बीस हाथ ऊँचा रथ बनता था जिसमें चार पहिये होते थे और वह चमकीले श्वेत वस्त्र से मण्डित होता था और उस पर भाँति-भाँति की रँगाई होती थी। उस पर रेशमी ध्वज और चाँदनी लगी होती थी। उस रथ पर चाँदी, सोने और स्फटिक की देव-मूर्तियों को बैठाकर गाजे-बाजे के साथ जुलूस निकालते थे। उनका यह भी कहना था कि यह सारे देश में मनाया जाता है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि जनता समय-समय पर सार्वजनिक उत्सव मनाया करती थी।

वानप्रस्थ और संन्यास—आमोद-प्रमोदमय गृहस्थ-जीवन के पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम आरम्भ होता था। धर्मशास्त्रों ने इसके लिए पचास वर्ष के बाद की अवस्था

---

१. अङ्क ४।
२. मेघदूत, २।२५।
३. कामसूत्र।
४. अङ्क ६।
५. कामसूत्र, १।४।४२।
६. अभिज्ञानशाकुन्तल, अङ्क ६।
७. रघुवंश, १६।७०।
८. वही, ४।३।

निर्धारित की है पर यह अनिवार्य न था। कभी भी कोई गृहस्थ-जीवन से विरक्त हो सकता था। इस प्रकार गृहस्थ-जीवन से विरक्त होने पर लोग प्रायः निकट के जंगलों में स्थित आश्रमों में चले जाते[१] अथवा नगर के बाहर कुटिया बना कर रहते थे[२] और भगवद्भजन किया करते थे। मृगचर्म[३] अथवा कुश की चटाई[४] पर सोते और वल्कल पहनते थे। वानप्रस्थ में लोग पत्नी को साथ रख सकते थे[५] पर उन्हें पूर्णतः काम-जीवन से विरक्त रहना होता था। अन्तिम आश्रम संन्यास का था। इसमें और वानप्रस्थ में अधिक अन्तर न था। वानप्रस्थ योग-साधना और वैराग्य का प्रारम्भ था और संन्यास उसकी परिपक्वता। मोक्ष पाने के लिए योगियों के साथ शास्त्र-चर्चा, मन की एकाग्रता, योगबल से पाँचों पवनों पर अधिकार, सत, रज, तम आदि पर विजय संन्यास के उद्देश्य थे।[६]

पुरुषों की भाँति ही स्त्रियाँ भी गृहस्थ-धर्म त्याग कर संन्यास ले सकती थी। इस प्रकार की स्त्रियाँ बौद्ध धर्म में अधिक दिखाई पड़ती हैं। वे सिर मुड़ाये, गैरिक वस्त्र धारण किये बौद्ध विहारों में रहतीं और लोकोपकार और सदाचार का जीवन व्यतीत करती थीं।

---

१. वही, ३।७०; विक्रमोर्वशीय, ५।७।
२. वही, ८।१४।
३. वही, १४।८१।
४. वही, १।९५।
५. वही, ३।७०; अभिज्ञान शाकुन्तल, अङ्क ४; अङ्क ७।
६. वही, ८।१७-२४।

कृषि, वाणिज्य और अर्थ

कृषि—गुप्तकालीन-साहित्य देखने से ज्ञात होता है कि तत्कालीन आर्थिक जीवन कृषि-प्रधान था।[1] इस युग में राज्य की ओर से प्रयास हो रहा था कि अधिक-से-अधिक भूमि खेती के योग्य बनायी जाय। राज्य लोगों को भूमिछिद्र-धर्म और नीवि-धर्म के अनुसार भूमि दे रहा था। अग्रहार के रूप में ब्राह्मणों को भी भूमि प्राप्त हो रही थी। इस प्रकार क्रमशः भूमि प्राप्त करने और भू-सम्पत्ति बढ़ाने की प्रवृत्ति लोगों में बढ़ने लगी थी। लोग भूमि का क्रय-विक्रय करने लगे थे। फलस्वरूप भूमि सम्बन्धी विवादों का जन्म हो गया था, यह बात तत्कालीन स्मृतियों से प्रकट होता है। उनमें भू-विवाद की चर्चा विस्तार से की गयी है। सम्भवतः भू-विवादों को ही दृष्टि में रखते हुए राज्य ने भू-वितरण के लिए कठोर व्यवस्था की थी। शासनों के देखने से ज्ञात होता है कि भू-वितरण ग्राम-परिषद् की स्वीकृति और उसके माध्यम से होता था। भू-सम्पत्ति का हस्तान्तरण ग्राम के सह-निवासियों की सहमति अथवा ग्राम-परिषद् की अनुमति से होता था। भू-हस्तान्तरण ग्राम महत्तरों की उपस्थिति में किया जाता था और वह उसका सीमारेखांकन कर दिया करता था।

स्मृतियों में कृषि-कर्म वैश्यों का धर्म बताया गया है,[2] अतः यह सहज अनुमान किया जा सकता है कि भू-स्वामित्व अधिकांशतः उनमें ही सीमित रहा होगा। पर साथ ही राज-शासनों के देखने से यह भी ज्ञात होता है कि अग्रहार आदि के रूप में ब्राह्मणों को भी प्रचुर मात्रा में भूमि प्राप्त होती रही है। कदाचित् राजानुज्ञा से क्षत्रियों को भी भूमि दी जाती रही हो, तो आश्चर्य नहीं। पर किसी शासन में इस प्रकार की चर्चा नहीं है। इसका मात्र अनुमान किया जा सकता है। किस सीमा तक भू-स्वामी अपने हाथों कृषि-कर्म करते थे, यह कहना कठिन है, पर स्मृतियों से यह बात अवश्य झलकती है कि कितने ही भू-स्वामी स्वयं कृषि-कर्म न करके उसे जोतने-बोनेवाले लोगों को दे देते थे और वह उसे जोतता-बोता था और इस श्रम के बदले उसे ३५ से ५० प्रतिशत उत्पादन प्राप्त होता था।[3] इस काल में विष्टि (बेगार) की प्रथा प्रचलित थी, ऐसा भी ज्ञात होता है।[4] अतः जिन लोगों को विष्टि लेने का अधिकार प्राप्त था, वे लोग निस्सन्देह उसका उपयोग अपने कृषि-कार्य के लिए करते रहे होंगे। इस प्रकार समाज का बहुत बड़ा वर्ग कृषि-रत था, ऐसा कहना अनुचित न होगा।

---

१. मेघदूत, १।१६।

२. विष्णुस्मृति, ५।६; मनुस्मृति, ८।४१०; पराशरस्मृति, १।६८।

३ याज्ञवल्क्यस्मृति, १।१६६; बृहस्पतिस्मृति, १६।१३; ए० इ०, ९, पृ० ५९।

४. मनुस्मृति, ८।४१५; विष्णुस्मृति, १८।४४; नारदस्मृति, ५।२५-४४; वशिष्ठस्मृति, २।३९

कृषि की रक्षा राजा के कर्तव्यों में से एक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य समझा जाता था।[१] इसलिए यह सहज अनुमान किया जा सकता है कि राज्य की ओर से सिंचाई आदि का समुचित प्रबन्ध किया जाता रहा होगा; कुएँ (वापी), तालाब (तड़ाग) की समुचित व्यवस्था की जाती रही होगी। इस प्रकार के जलाशय-निर्माण किये जाने के उल्लेख जब तब अभिलेखों में प्राप्त होते हैं। गुप्त-काल में सिंचाई सम्बन्धी व्यवस्था की ओर राज्य कितना सजग था, इसका एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख में मिलता है। गिरनार पर्वत पर सुदर्शन नामक एक विशाल झील चन्द्रगुप्त मौर्य के समय बना था। उस झील से उनके पौत्र अशोक के समय में सिंचाई के निमित्त एक नहर निकाली गयी थी। इस झील का बाँध स्कन्दगुप्त के समय में टूट गया तो उनके अधिकारियों ने तत्काल बड़ी तत्परता से उसकी मरम्मत करायी।[२] यदि राज्य की ओर से सिंचाई के प्रति सजगता न होती तो इस प्राचीन झील की सहज उपेक्षा की जा सकती थी।

गुप्त-काल में मुख्य कृषि-उत्पादन क्या था, इसका स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता। साहित्य में उपलब्ध प्रासंगिक उल्लेखों से ही कुछ अनुमान किया जा सकता है। कालिदास के ग्रन्थों से ऐसा प्रतीत होता है कि उन दिनों ईख और धान की पैदावार बहुत होती थी।[३] धान के रूप में उन्होंने शालि,[४] नीवार,[५] कलम[६] और श्यामाक[७] का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त उनके ग्रन्थों में केवल जौ[८] और तिल[९] का उल्लेख मिलता है। लंकावतार सूत्र में स्वीकृत खाद्यों की जो सूची दी हुई है, उनमें जौ, चावल और चीनी के अतिरिक्त गेहूँ और दाल का भी उल्लेख है,[१०] अतः इस काल में उनकी खेती का भी अनुमान किया जा सकता है। चरक और सुश्रुत ने सूत्रस्थान में अन्नों की एक काफी लम्बी सूची दी है।[११] वे अन्न कदाचित् इस काल में भी उपजाये जाते रहे होंगे, पर उनकी उपज सीमित ही रही होगी।

गो-पालन—कृषि के साथ गो-पालन को भी स्मृतियों ने वैश्य-धर्म बताया है।[१२] इससे अनुमान होता है कि कृषि के समान ही लोग गो-पालन भी करते रहे होंगे। साहित्य

---

१. रघुवंश, १६।२।
२. का० इ० इ०, ३, पृ० ५८ आदि, पंक्ति १५-२३।
३. रघुवंश, ४।२०।
४. ऋतुसंहार, ३।१, १०, १६; ४।१, ८, १९, ५।१, १६।
५. अभिज्ञान शाकुन्तल, अंक ४; रघुवंश, १।५०।
६. रघुवंश, ४।३७।
७. अभिज्ञान शाकुन्तल, अंक ४।
८. कुमारसम्भव, ७।१७, २७, ८२।
९. अभिज्ञान शाकुन्तल, अङ्क ३।
१०. लंकावतार सूत्र, पृ० २५०।
११. चरकसंहिता, सूत्रस्थान, २७।५-१०; २७।२६-३३; सुश्रुत, सूत्रस्थान, ४६।९-१२; ४६।१३९-२०४।
१२. देखिये, पृ० ४१८ की टिप्पणी १।

में दूध, दही और मक्खन का प्रचुर उल्लेख मिलता है। उससे यह भी ज्ञात होता है कि अतिथि को मक्खन आदि भेंट करना एक सामान्य बात थी।[१] इससे यह तो अनुमान होता है कि प्रत्येक गृहस्थ कुछ-न-कुछ गो-पालन अवश्य करता था और पारिवारिक खान-पान में गोत्पादन का विशेष महत्त्व था। पर उद्योग और व्यवसाय के रूप में गो-पालन किस सीमा तक होता था, इसका आभास नहीं मिलता।

वन-सम्पत्ति—तत्कालीन साहित्य में वनों की बहुत चर्चा मिलती है और ऐसा प्रतीत होता है कि वन के उत्पत्ति का तत्कालीन आर्थिक जीवन में अपना एक विशेष महत्त्व था। चर्म, कस्तूरी और चँवर[२] वन-पशुओं से प्राप्त होते थे जिनका नागरिकों में प्रचुर प्रचार था। लाक्षा का प्रयोग प्रायः स्त्रियाँ अपने सौन्दर्य-प्रसाधन में करती थीं। भूर्जपत्र का प्रयोग लेखन-सामग्री के रूप में होता था। अनेक प्रकार के फूल रंग के काम आते थे। मधूक (महुआ) का लोग शराब बनाते थे। अनेक मसाले जंगल से ही मिलते थे। चन्दन का लोगों में प्रचुर प्रचार था। वह भी जंगल से ही आता था। इसके अतिरिक्त गृह-निर्माण, गृह-सज्जा, यान आदि के निर्माण में भी विविध प्रकार के काष्ठों का प्रयोग होता था। इस प्रकार वनोत्पादन का तत्कालीन आर्थिक जीवन में विशेष महत्त्व रहा होगा। वनवासियों का आर्थिक जीवन मुख्यतः उसी पर ही निर्भर करता रहा होगा। वे लोग इन वस्तुओं को नगर में बेचने लाते रहे होंगे। किन्तु इन सबसे अधिक महत्त्व का वन-धन हाथी था।[३] वह सवारी के काम आता था, सेना में उसका प्रयोग होता था और उसके दाँत और हड्डी तरह-तरह के कामों में आते थे। हाथियों पर कदाचित् राज्य का एकाधिकार था और राज्य ही उन्हें पकड़वाता था।

खनिज-सम्पत्ति—गुप्त-कालीन सिक्के सोने, चाँदी और ताँबे के हैं। साहित्य में सोने के आभूषणों और चाँदी तथा ताँबे के पात्रों का उल्लेख हुआ है। मेहरौली का लौह-स्तम्भ इस बात का प्रमाण है कि गुप्त-काल में लोहे का प्रयोग होता था। शस्त्रास्त्र भी लोहे के ही बनते थे। आभूषणों और गृह-प्रसाधनों में नाना प्रकार के मणियों के प्रयोग का भी उल्लेख साहित्य में मिलता है। सिन्दुर[४], मनःशिला[५], गैरिक[६], शैलेय[७] आदि खनिज का प्रयोग रंगों और प्रसाधनों के काम आता था। युवान-च्वांग के कथनानुसार उत्तर-पश्चिमी भारत, गंगा के उपरले काँठे और नेपाल से धातु उपलब्ध होता था। उसके विवरण से ज्ञात होता है कि सोना और चाँदी वोलोर (लघु तिब्बत), टक्क,

---

१. रघुवंश, १।४५।
२. कुमारसम्भव, १।१३।
३. रघुवंश, १६।२।
४. ऋतुसंहार, १।२४।
५ कुमारसम्भव १।५५; ७।२३।
६. रघुवंश, ५।७१।
७. कुमारसम्भव, १।५५।

कुलूत, शतद्रु (अम्बाला, सरहिन्द और लुधियाना तथा पटियाला जिले) तथा सिन्ध में प्राप्त होता था। उसने सोने के उद्यान, दरेल और मथुरा से आने की बात कही है। लोहा उद्यान और टक्क में; ताँबा टक्क, कुलूत और नेपाल में; तथा तु-शिह (कदाचित् पीतल या काँसा) कुलूत, मयूर (हरिद्वार) और ब्रह्मपुर (गढ़वाल) में; स्फटिक कश्मीर और कुलूत में; नमक सिन्ध में; तथा द्रविण देश में मणियों के प्राप्त होने का उल्लेख उसने किया है।[1] गुप्त-काल में भी खनिज के ये ही स्रोत रहे होंगे। इस सम्बन्ध में यह भी द्रष्टव्य है कि गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत छोटा नागपुर का लोहा और ताँबा-वाला खनिज प्रदेश भी था। इस प्रदेश में सोने के खानों के चिह्न भी मिलते हैं। सुवर्ण-रेखा और सोन नदियों में भी सोना मिलता है। इस सबसे अनुमान किया जा सकता है कि इस प्रदेश में भी खनिज-उद्योग रहा होगा। इस बात के कुछ प्रमाण मिलते हैं कि सिंहभूमि जिले के राखा पर्वत स्थित ताँबे की खानों से लोग गुप्त-काल के आस-पास ताँबा निकालते थे,[2] पर अन्य धातुओं के सम्बन्ध में इस प्रकार का कोई संकेत अभी उपलब्ध नहीं है।

जल-सम्पत्ति—समुद्र से प्राप्त होनेवाले मोती, मूँगा और सीप आदि का उल्लेख गुप्त-कालीन साहित्य में बहुत मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि आभूषणों के लिए लोग उनका प्रयोग प्रचुरता के साथ किया करते थे। वराहमिहिर के कथन से प्रतीत होता है कि समुद्र से मोती निकालना भारत का एक प्रमुख उद्योग था, जो भारत के समस्त किनारों पर होता था और फारस की खाड़ी तक विस्तृत था। पर कालिदास ने जब भी मोतियों की चर्चा की है, ताम्रपर्णी नदी का ही उल्लेख किया है[3] जो भारत की दक्षिणी सीमा पर स्थित है। मोती के देश में अन्यत्र होने की बात किसी अन्य सूत्र से ज्ञात नहीं होती। इसलिए यद्यपि कुछ काल के लिए गुप्त-साम्राज्य की सीमाएँ पूर्व में बंगाल की खाड़ी और पश्चिम में अरब सागर को छूती थीं, यह कहना कठिन है कि गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत किसी प्रकार का कोई जल-उद्योग था।

उद्योग—सामान्य जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले उद्योग तो किसी-न-किसी रूप में हर नगर और जनपदों में उसी परम्परा में होता रहा होगा, जो अब तक कुटीर-उद्योगों के रूप में प्रत्येक गाँवों में चली आती रही है। मिट्टी के बर्तन बनाने का काम कुम्हार, लोहे के बर्तन, अस्त्र-शस्त्र, खेती के उपकरण लुहार, धातु के बर्तन आदि कसेरे, लकड़ी के काम बढ़ई और आभूषण आदि बनाने का काम सुनार करते रहे होंगे। इसी प्रकार जुलाहों के हाथ में कपड़े बुनने का उद्योग रहा होगा। निष्कर्ष यह कि वर्गगत व्यव-

---

१. क्लासिकल एज, पृ० ५९२।

२. इन खानों के निकट पुरी-कुषाण सिक्के टकसाली अवस्था में बड़ी मात्रा में मिले हैं। उनमें, चौथी शताब्दी ई० की लिपि में अङ्कित एक सिक्का भी था (ज० बि० उ० रि० सो०, १९१९, पृ० ७३-८१)।

३. मेघदूत, १।१६।

साय के रूप में लोग अपने-अपने घरों में अपना-अपना परम्परागत व्यवसाय करते रहे होंगे।

पुरातात्त्विक और साहित्यिक सूत्रों से ज्ञात होता है कि गुप्त-काल में तन्तु-उद्योग (कपड़े) अत्यन्त विकसित था। सूती, रेशमी, ऊनी और अलसी आदि की छाल से बने कपड़ों का प्रायः उल्लेख मिलता है। कालिदास के ग्रन्थों में कौशेय[1], क्षौम[2], पत्रोर्ण[3], कौशेय-पत्रोर्ण[4], दुकूल[5], अंशुक[6] आदि वस्त्रों का उल्लेख हुआ है जो विभिन्न प्रकार के वस्त्रों का परिचय देते हैं। कालिदास के कथन से यह भी ज्ञात होता है कि उन दिनों इतने महीन कपड़े पहने जाते थे जो साँस से उड़ जायँ।[7] अमरकोश में रुई और छाल के रेशों से बने क्षौम (दुकूल), फलों की छालों से बने बदर, कीड़ों की लार से बने रेशम और पशुओं के रोम से बने ऊनी वस्त्रों का उल्लेख है। उसमें बुने, धोये, चिकनाये कपड़ों के विविध नाम भी दिये हैं और मोटे-महीन विविध प्रकार के कपड़ों, बिछाने के चादरों, दरियों आदि का भी उल्लेख है।[8]

पुरातात्त्विक उत्खनन और साहित्यिक उल्लेखों से यह भी ज्ञात होता है कि गुप्त-काल में हाथी-दाँत के साज-सज्जा, मूर्तियाँ, मुहरें आदि बना करती थीं। तत्कालीन तक्षण-कला का परिचय मूर्तियों और वास्तुओं से मिलता है जिनकी चर्चा अन्यत्र स्वतन्त्र रूप से की गयी है। इसी प्रकार कुम्हार लोग भी मूर्ति-कला में निष्णात थे।

साहित्य में नाना प्रकार के सोने, चाँदी और मणियों के आभूषणों का विस्तृत उल्लेख मिलता है। इससे प्रकट होता है कि सुनारी की कला भी उन दिनों बहुत उत्कर्ष पर थी। नक्काशी और खुदाई के बारीक कामों के नमूनों के रूप में तत्कालीन सोने के सिक्कों को देखा जा सकता है। उनके ठप्पों की खुदाई जिस बारीकी और कौशल से की गयी है, वह तत्कालीन कला का उत्कृष्ट रूप का नमूना है। मोतियों का काम भी उन दिनों बहुत होता था, यह आचारांग सूत्र[9] में विस्तार के साथ नाना प्रकार के मुक्ता-हारों के उल्लेख से ज्ञात होता है। हीरा, लाल, नीलम आदि मणियों[10] के

---

१. कुमारसम्भव, ७।७; ऋतुसंहार, ५।८।
२. रघुवंश, १०।८, १२।८; मेघदूत, २।७; कुमारसम्भव, ७।२६ आदि।
३. कुमारसम्भव, ७।२५; रघुवंश, १६।८७।
४. मालविकाग्निमित्र, अङ्क ५।
५. रघुवंश, ७।१८; कुमारसम्भव, ७।३३, ९२ आदि।
६. कुमारसम्भव, १।१४; ७।३; ऋतुसंहार, १।७; ४।३; मेघदूत, १।६६; रघुवंश, ६।७५ आदि।
७. रघुवंश, १४।४३।
८. अमरकोश, २।६।११३-११९।
९. आचारांग सूत्र, २।१।१।११।
१०. वराहमिहिर ने २० से अधिक मणियों का उल्लेख किया है (बृहत्संहिता, ८०।४-१८; ८१।१-३६; ८२।१-१२)।

काटने और सँवारने के कामों का परिचय भी तत्कालीन साहित्य से मिलता है। मणियों का प्रयोग न केवल आभूषणों में होता था वरन् उनका उपयोग गृहसज्जा के लिए भी किया जाता था यह मृच्छकटिक में वसन्तसेना के प्रासाद-वर्णन से प्रकट होता है। पुरातात्त्विक उत्खनन में अनेक स्थानों से गुप्त-कालीन स्तर-से विविध प्रकार के मन के प्राप्त हुए हैं, जो तत्कालीन मणि-उद्योग का परिचय देते हैं।

गुप्त-काल में लौह उद्योग का जो रूप था, उसका सहज नमूना मेहरौली स्थित चन्द्रगुप्त (द्वितीय) कालीन लौह-स्तम्भ में देखा जा सकता है। यह स्तम्भ २३ फुट ८ इंच लम्बा है और अनुमानतः वजन में ६ टन होगा[1] और इसकी समूची ढलाई एक साथ हुई है। इतनी लम्बी और वजनी धातु की ढलाई का प्राचीनकालीन नमूना अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं है और आधुनिक युग में इस प्रकार की ढलाई सहज नहीं कही जाती। इसकी ढलाई ही नहीं, इसका धातु-निर्माण भी तत्कालीन लौह-कला की उत्कृष्टता को उद्घोषित करता है। इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य यह है कि लगभग डेढ़ हजार वर्ष से वह गर्मी, सर्दी, बरसात सहता हुआ खुले में खड़ा है, किन्तु आजतक उसमें तनिक भी जंग नहीं लगा। जंग-मुक्त लौह का निर्माण वस्तुतः धातु-विज्ञान के क्षेत्र में एक आश्चर्य है। अन्य धातुओं के उद्योग और कला के रूप मे तत्कालीन धातु-मूर्तियों का उल्लेख किया जा सकता है। पूर्व गुप्त-कालिक जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ, जो चौसा (जिला शाहाबाद) से प्राप्त हुई हैं और अब पटना संग्रहालय में हैं, और उत्तर गुप्त-काल की विशालकाय बुद्धमूर्ति, जो सुल्तानगंज (जिला भागलपुर) में प्राप्त हुई थी और अब बरमिंगहम संग्रहालय में है, इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। चरक-संहिता में नाना प्रकार के धातु-पात्रों का उल्लेख किया है, उनसे भी धातु-उद्योग पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है।

व्यापार—कृषि और उद्योग पर अवलम्बित आर्थिक जीवन की व्यवस्था का माध्यम व्यापार था। गुप्त-काल में इस व्यापार के स्पष्ट दो रूप थे। एक का नियन्त्रण श्रेष्ठि करते थे और दूसरे का **सार्थवाह**। श्रेष्ठि जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति किया करते थे। उनकी दूकानें नगरों और ग्रामों में प्रायः सभी जगह होती थीं। सार्थवाह एक स्थान से दूसरे स्थान तक आते-जाते थे और इस प्रकार वे देश-विदेश का माल एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने का काम करते थे। इस प्रकार वे यातायात के व्यवस्थापक और थोक व्यापारी दोनों का काम करते थे।

सार्थवाह—समान अथवा संयुक्त अर्थवाले व्यापारी, जो बाहरी मण्डियों के साथ व्यापार करने के लिए एक साथ टाँड लाद कर चलते थे, वे **सार्थ** कहलाते थे और उनका वरिष्ठ नेता ज्येष्ठ व्यापारी **सार्थवाह** कहलाता था। गुप्त-काल में सार्थ-व्यवस्था का क्या रूप था, यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, पर अनुमान किया जा सकता है कि वह पूर्व परम्पराओं के उसी क्रम में रहा

---

१. स्मिथ, हिस्ट्री ऑव फाइन आर्ट्स इन इण्डिया एण्ड सीलोन, पृ० १७२।

होगा, जिसका परिचय जैन-साहित्य में प्राप्त होता है।[1] ऐसा ज्ञात होता है कि कोई एक उत्साही व्यापारी सार्थ बना कर व्यापार के लिए निकलता था और उसके सार्थ में अन्य व्यापारी भी सम्मिलित हो जाते थे। सार्थ में सम्मिलित होनेवाले व्यापारियों के बीच एक प्रकार की साझेदारी का समझौता होता था और हानि-लाभ के सम्बन्ध में उनके बीच अनुबन्ध रहता था। सार्थ में सम्मिलित होनेवाले सभी व्यापारियों की साझेदारी समान हो, यह आवश्यक न था। एक ही सार्थ के सदस्य हानि-लाभ और पूँजी की साझेदारी की दृष्टि से कई दलों में बँटे हो सकते थे। उन्हें इस सम्बन्ध में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने की पूरी छूट होती थी। किन्तु एक यात्रा में किसी एक सार्थवाह के नेतृत्व में यात्रा करनेवाले सभी व्यापारी, चाहे उनमें पूँजी की साझेदारी हो या न हो, **सांयात्रिक** कहे जाते थे और उन्हें कतिपय नियमों और सार्थवाह के आदेशों को समान रूप से पालन करना पड़ता था। उन्हें सार्थ के रूप में किन उत्तरदायित्वों को निभाना और मर्यादाओं का पालन करना पड़ता था, इसकी विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है।

प्राचीन-काल में अकेले चलना निरापद न था, इसलिए व्यापारियों के अतिरिक्त अन्य लोग भी, जो कहीं जाना चाहते थे, सार्थ में सम्मिलित हो जाते थे। सुरक्षा की दृष्टि से सार्थ के साथ अधिक-से-अधिक लोग चलें, इसके लिए सार्थवाह लोग सह-यात्रियों को तरह-तरह की सुख-सुविधा का प्रलोभन दिया करते थे। आवश्यकचूर्णि में एक कथा है जिसमें सार्थवाह के इस बात की घोषणा कराने का उल्लेख है कि उसके साथ यात्रा करनेवाले लोगों को भोजन, वस्त्र, बर्तन और दवा मुफ्त मिलेगी।[2] सामान्यतः सार्थ में पाँच प्रकार के लोग होते थे—(१) **भण्डी-सार्थ** (माल लादनेवाला सार्थ); (२) **बहलिका** (ऊँट, खच्चर, बैल आदि); (३) **भारवह** (बोझा ढोनेवाले लोग); (४) **औदरिका** (ऐसे लोग जो जीविका के निमित्त एक स्थान से दूसरे स्थान जाना चाहते थे) और (५) **कार्पटिक** (भिक्षु और साधु लोग)।[3] इस प्रकार सार्थ का उठना न केवल व्यापारिक क्षेत्र में बहुत बड़ी घटना मानी जाती थी, वरन् अन्य लोगों के लिए भी उसका बहुत बड़ा महत्त्व था। महाभारत के वनपर्व में एक महासार्थ का उल्लेख है[4] जिससे ज्ञात होता है कि सार्थ में हाथी, घोड़े, रथ आदि सभी प्रकार की सवारियाँ रहती थीं। सामान ढोने के लिए उनके साथ बैल, खच्चर, ऊँट आदि होते थे। इन सवारियों का उपयोग असमर्थ, बीमार, घायल, बूढ़े और बच्चों के लिए भी किया जाता था, पर उसके लिए सार्थवाह को पैसा देना पड़ता था। सार्थ का अधिकांश भाग पैदल चलता था जिसके कारण जब वह सार्थ चलता था तो वह उमड़ते हुए समुद्र की तरह जान पड़ता था।

---

१. यह सारी सामग्री मोतीचन्द्र ने अपनी पुस्तक सार्थवाह में एकत्र की है (पृ० १५१-१७०)।
२. आवश्यकचूर्णि, पृ० ११५; सार्थवाह, पृ० १६४।
३. बृहत्कल्प सूत्र भाष्य, पृ० ६६; सार्थवाह, पृ० १६३।
४. वनपर्व, ६१-६२।

उन दिनों आज की तरह न तो अधिक नगर थे और न कस्बे। अधिकांश लोग गाँवों में रहते थे। देश का अधिकांश भाग जंगली था और उनके बीच से होकर ही मार्ग जाते थे। ऐसे मार्गों पर प्रायः वन-पशुओं का भय बना रहता था और बटमार भी यात्रियों के लूटने के ताक में रहा करते थे। अतः सार्थ सदैव इस बात का प्रयत्न करते थे कि वे इन सबसे बचते हुए ऐसे मार्ग से जायँ जहाँ पानी सुलभ हो और आवश्यकता पड़ने पर खाने-पीने का सामान लिया जा सके। इसलिए उनका प्रयत्न होता था कि वे अधिकाधिक गाँवों और बस्तियों से होकर जानेवाले ऐसे मार्ग से जायँ जहाँ चरागाह भी हो।

सार्थवाह इस बात का ध्यान रखते थे कि चलने में लोगों को कष्ट न हो। सामान्यतः सार्थ एक दिन में उतना ही चलता था जितना बच्चे या बूढ़े सहज रूप से चल सकें। सूर्योदय से पहले सार्थ रवाना होता था और बिना राजमार्ग छोड़े मन्द गति से आगे बढ़ता था। रास्ते में भोजन के लिए रुकता था और सूर्यास्त से पूर्व अगले पड़ाव पर पहुँच कर रुक जाता था। सार्थवाह को घनघोर वर्षा, बाढ़, बटमार, जंगली पशु, राजक्षोभ आदि विपत्तियों का सामना करने के लिए पूरी तौर से तैयार रहना पड़ता था। वह अपने साथ खाने-पीने की पूरी व्यवस्था रखता था ताकि सार्थ विपत्ति-निवारण तक किसी जगह आराम से रुका रह सके। रास्ते की कठिनाइयों से बचने के लिए छोटे सार्थ बड़े सार्थों के साथ मिल कर आगे बढ़ने के लिए रुके रहते थे। प्रायः दो सार्थवाह जंगल अथवा नदी पड़ने पर एक साथ ठहरने और साथ-साथ नदी पार करने की व्यवस्था किया करते थे। जंगलों में पड़ाव पड़ने पर लोग अपने पड़ाव के चारों ओर आग जला लेते अथवा बाड़ खड़ा कर लिया करते ताकि जंगली जानवर निकट न आयें। बटमारी से बचने के लिए सार्थवाह पहरेदारी की व्यवस्था रखता था। वह प्रायः जंगलों से गुजरते समय आटविकों के मुखियों को कुछ दिया करता था ताकि वे लोग जंगल के बीच उनकी रक्षा का भार अपने ऊपर ले लें। इसी प्रकार वह रेगिस्तानों को भी पार करने का पूरा प्रबन्ध रखता था।

स्थल-मार्ग—प्राचीन कालीन भारतीय यातायात मार्गों का विस्तृत अध्ययन अभी उपलब्ध नहीं है। विविध प्रकार के सूत्रों में बिखरी हुई सामग्री और प्रासंगिक उल्लेखों के आधार पर प्राचीन मार्गों का कुछ अनुमान मात्र किया जा सका है। तदनुसार यदि मथुरा को, जो प्राचीन काल के प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों में गिना जाता था, केन्द्र मान कर चलें तो ज्ञात होता है कि उत्तर-पश्चिम की ओर मुख्य मार्ग पंजाब की नदियों के साथ-साथ आगे बढ़ कर सिन्धु नदी को पार कर उसके मैदान से होता हुआ हिन्दूकुश पार कर तक्षशिला पहुँचता था।[१] वहाँ से यह मार्ग काबुल नदी के साथ-साथ हिड्डा, नगरहार होता हुआ बाम्यान पहुँचता था। बाम्यान से एक रास्ता बलख को जाता था, बलख से वह मर्व और तेवेन होते हुए अस्काबाद के नखलिस्तान को पार कर

१. सार्थवाह, पृ० १२।

काराकोरम के रेगिस्तान को बचाते हुए आगे बढ़ कर कैस्पियन सागर के बन्दरगाहों की ओर चला जाता था अथवा फूट कर अन्तियोख की ओर जाता था जो रोमन व्यापार का एक प्रमुख केन्द्र था। बाम्यान से एक दूसरा रास्ता सुग्ध होता हुआ सीर दरिया पार कर ताशकन्द पहुँचता था और वहाँ से पश्चिम की ओर चलता हुआ तयानशान के दर्रों से होकर उच तुरफान पहुँचता था। एक दूसरा रास्ता बदख्शाँ और पामीर होते हुए काशगर पहुँचता था। काशगर पहुँच कर मध्य एशिया का यह रास्ता उत्तर की ओर तुरफान और दक्षिण की ओर तारिम तक जाता था। तारिमवाले रास्ते पर काशगर, यारकन्द, खोतान और निया स्थित थे। गुप्त-काल में इन स्थानों पर भारतीय उपनिवेश बस गये थे।[1]

देश के भीतर मथुरा से जो अन्य मार्ग जाते थे वे समुद्र तटवर्ती विभिन्न बन्दरगाहों को पहुँचते थे। एक मार्ग पूर्व में काशी, पाटलिपुत्र होता हुआ ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह को जाता था। दूसरा मार्ग उज्जयिनी होते हुए नर्मदा की घाटी में प्रवेश कर पश्चिमी समुद्र तट पर स्थित भरुकच्छ (भड़ौच) और शूर्पारक (सोपारा) के बन्दरगाहों को जाता था। इन बन्दरगाहों से एक दूसरा मार्ग विदिशा होकर बेतवा की घाटी से होते हुए कौशाम्बी पहुँचता था।[2] दक्षिण का पथ उज्जयिनी, महिष्मती होते हुए प्रतिष्ठान जाता था। वहाँ के आगे के अन्य अनेक मार्ग थे। इन प्रधान मार्गों के अतिरिक्त अन्य असंख्य छोटे-छोटे मार्ग भी थे जो एक दूसरे नगरों को मिलाते थे। इन मार्गों का कब और किस काल में प्रयोग आरम्भ हुआ और कब तक आते रहे, यह कह सकना कठिन है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि थोड़े ही हेर-फेर के साथ ये मार्ग गुप्त-काल में भी प्रचलित रहे होंगे।

इसकी सम्भावना फाह्यान के यात्रा-विवरण से प्रकट होती है। वे चांक-गन से पश्चिम की ओर चल कर खोतान पहुँचे थे। वहाँ से वे दरद देश आये और सिन्धु नद को पार कर दक्षिण-पश्चिम की ओर उद्यान (आधुनिक स्वात) गये। वहाँ से वे गन्धार आये। गन्धार से वे पूरब की ओर सात दिन चल कर तक्षशिला पहुँचे थे। गन्धार ही से वे चार दिन दक्षिण की ओर चल कर पुरुषपुर (पेशावर) भी गये थे। पश्चात् वे कई स्थानों पर रुकते हुए, सिन्धु नद को पार कर पंजाब होते हुए मथुरा आये थे। मथुरा से वे दक्षिण-पूर्व चल कर संकाश्य (आधुनिक संकीसा, जिला फर्रुखाबाद) आये और वहाँ से कान्यकुब्ज, श्रावस्ती होते हुए कपिलवस्तु गये और वहाँ से वैशाली आये और राजगृह, गया आदि गये। पाटलिपुत्र से वे वाराणसी होते हुए कौशाम्बी भी गये थे।[3]

जल-मार्ग—स्थल-मार्ग के अतिरिक्त लोग जल-मार्ग (नदी) से भी यात्रा किया करते थे। प्रायः सभी बड़ी नदियों में नावें चला करती थीं। इसका परिचय भी फाह्यान

---

१. वही, पृ० १७९।

२. वही, पृ० २४।

३. लेगे, रेकर्ड ऑव बुद्धिस्ट किंगडम्स, पृ० १६-६५।

के विवरण से मिलता है। उन्होंने पाटलिपुत्र से चम्पा तक नाव से यात्रा की थी।[१] इसके साथ ही गुप्त-काल में समुद्र-यात्रा का भी काफी प्रचार था। उस समय तक भारतीय व्यापारियों में आन्तरिक व्यापार के अतिरिक्त विदेशों के साथ सीधे जल-वणिज कर धन-उपार्जित करने का भाव उदय हो चुका था। यही नहीं, विदेशी वणिज से देश में इतना धन आने लगा था कि समुद्र-यात्रा वैभव का प्रतीक बन गया था।[२]

तत्कालीन साहित्य से यह भी ज्ञात होता है कि गुप्त-कालीन महान् जल-सार्थवाह जब द्वीपान्तरों से स्वर्ण-रत्न लेकर लौटते थे, तब वे सवा पाव से सवा मन तक सोने का दान किया करते थे। मत्स्यपुराण में सोलह महादानों के प्रसंग में सप्त-समुद्र महादान का उल्लेख हुआ है। जिन कूपों के जल से इस महादान का संकल्प किया जाता था, वे सप्त-सागर-कूप कहलाते थे। उस काल के प्रधान व्यापारिक नगरों, यथा—मथुरा, काशी, प्रयाग, पाटलिपुत्र आदि में आज भी सप्त-सागर-कूप अपने नाम रूप में बच रहे हैं। गुप्त-युग में लोगों का समुद्र से निकट का परिचय था, यह तत्कालीन साहित्य और अभिलेखों में उल्लिखित समुद्र सम्बन्धी अभिप्रायों से प्रकट होता है।[३]

गुप्त-युग में पश्चिमी समुद्र तट पर भरुकच्छ, शूर्पारक और कल्याण तथा पूर्वी तट पर ताम्रलिप्ति के प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह से भारतीय यात्रियों के द्वीपान्तर (हिन्द-एशिया) और मलय-एशिया जाने की चर्चा प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती है। कुषाण-काल से ही भारतीय वणिक् सुवर्ण-भूमि में जाकर बसने लगे थे। गुप्त-युग में उनका यातायात बहुत बढ़ गया था। किन्तु पश्चिमी समुद्र-तट के बन्दरगाहों से इस काल में भारतीय सार्थवाहों के जाने का उल्लेख नहीं मिलता। कास्मास इण्डिकोप्ला-एस्टस नामक भू-वेत्ता का, जो छठी शताब्दी में हुआ था, कहना है कि उस युग में सिंहल समुद्री व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र था। वहीं ईरान और अरब के जहाज आते थे और वहीं से विदेशों को जहाज जाते थे। सिंहल के व्यापारी वहाँ आये विदेशी माल को मलाबार और कल्याण के बन्दरगाहों को भेजते थे।[४]

जिस प्रकार स्थल-मार्ग निरापद नहीं थे, उसी प्रकार जल-मार्ग में भी अनेक कठिनाइयाँ थीं। फाह्यान ने समुद्रयात्रा की कठिनाइयों की विशद चर्चा की है।[५] वे ताम्रलिप्ति से सिंहल गये और वहाँ से उन्होंने एक बहुत बड़े व्यापारिक जहाज को पकड़ा जिन पर दो सौ यात्री थे। उस पोत के साथ एक दूसरा ऐसा छोटा पोत भी था जो आकस्मिक दुर्घटना में बड़े पोत के नष्ट होने पर काम दे सके। अनुकूल वायु में वे दो

---

१. वही।

२ मृच्छकटिक के लेखक ने वसन्तसेना के वैभव को देख कर चकाचौंध हुए विदूषक के मुख से कहलाया है—भवति किं युष्माकं यात्रपात्राणि वहन्ति (क्या आपके यहाँ जहाज चलते हैं ?)

३. सार्थवाह, भूमिका, पृ० ११-१२।

४. मैकक्रिण्डल, नोट्स फ्राम एन्शियण्ट इण्डिया, पृ० १६०।

५. लेगे, रेकर्ड ऑव बुद्धिस्ट किंगडम्स, पृ० १११।

दिनों तक पूर्व की ओर चले। उसके बाद उनको एक तूफान का सामना करना पड़ा, जिससे बड़े पोत में पानी रिसने लगा। फलस्वरूप उस पोत के व्यापारिक यात्री दूसरे पोत में जाने की आतुरता दिखाने लगे। दूसरे पोत के यात्रियों ने इस भय से कि पहले के पोत के यात्रियों के भार से उनका पोत डूब न जाय, उन्होंने अपने पोत की रस्सी काट दी। तब व्यापारी लोग इस भय से कि पोत में पानी न भर जाय, अपने भारी माल को समुद्र में फेंकने लगे। इस प्रकार तेरह दिन और तेरह रात तूफानी हवा चलती रही। तब उनका जहाज एक द्वीप के किनारे पहुँच पाया। यहाँ भाटा के समय पोत के उस छिद्र का पता चला जहाँ से पानी रिस रहा था। उसको तत्काल बन्द कर दिया गया। तदनन्तर पुनः पोत रवाना हुआ। बरसाती मौसम की हवा में पोत बह चला और अपना रास्ता ठीक न रख सका। रात के अँधियारे में टकराती और आग की तरह चकाचौंध करनेवाली लहरों, विशालकाय कछुओं, समुद्री गोहों और अन्य भीषण जल-जन्तुओं के सिवा और कुछ नहीं दिखाई पड़ता था। वे कहाँ जा रहे हैं, इसका पता न लगने से व्यापारी निराश-से होने लगे थे। समुद्र की गहराई में जहाज को कोई ऐसी जगह न मिली जहाँ वे लंगर डाल कर रुक सकें। जब आकाश साफ हुआ, तब पूरब-पश्चिम का ज्ञान हो सका, क्योंकि समुद्र में दिशा का ज्ञान नहीं हो पाता; सूर्य-चन्द्र आदि नक्षत्रों को देख कर ही जहाज आगे बढ़ता है। इस बीच यदि जहाज किसी जल-गत शिला से टकरा जाता तो किसी के बचने की सम्भावना न रहती। इस तरह वे लोग जावा पहुँचे। फाह्यान का यह भी कहना था कि यह समुद्र जल-दस्युओं से भरा हुआ था। उनसे भेंट होने का अर्थ मृत्यु था। कुशल हुई कि उन्हें जल-दस्यु नहीं मिले।

फाह्यान जावा में एक दूसरे पोत पर सवार हुआ। उसमें भी दो सौ यात्री थे। सब लोगों ने अपने साथ पचास दिन के लिए खाने-पीने का सामान ले रखा था। कैण्टन पहुँचने के लिए जहाज उत्तर-पूर्व की ओर चला। रास्ते में एक रात उन्हें तूफान और पानी का सामना करना पड़ा। आकाश में अँधेरा छा गया और निर्यामक दिशा ज्ञान भूल गया। फलतः वे लोग सत्तर दिनों तक बहते रहे। खाने-पीने का सामान समाप्त हो गया। खाना बनाने के लिए समुद्र का पानी प्रयोग करना पड़ा। पीने का पानी भी लोगों के पास कम ही बच रहा। अब लोगों ने अनुभव किया कि पचास दिन में कैण्टन पहुँच जाना चाहिए था, हम लोगों को चले सत्तर दिन हो गये हैं। जरूर हम लोग रास्ता भटक गये हैं। अतः वे लोग उत्तर-पश्चिम की ओर मुड़े और बारह दिन चलने के बाद शानतुंग अन्तरीप के दक्षिण में पहुँच गये। वहाँ उन्हें ताजा पानी और सब्जी प्राप्त हुई।

आयात और निर्यात—किसी भी सूत्र से ऐसी कोई सूची उपलब्ध नहीं है जिससे गुप्त-काल में बाहर से आयात होनेवाली और बाहर निर्यात की जानेवाली वस्तुओं का निश्चित रूप से ज्ञान हो सके। किन्तु आगे-पीछे के कालों के आयात-निर्यात के सम्बन्ध में जो जानकारी विभिन्न सूत्रों से मिलती है, उनके आधार पर

गुप्त-कालीन आयात-निर्यात के सम्बन्ध में कुछ धारणा बनायी जा सकती है। पेरिप्लस से ज्ञात होता है कि भारत से लाल मिर्च, हाथी दाँत, मोती, रेशम, हीरा आदि मणि और मसाले विदेश को निर्यात किये जाते थे। कास्मास के कथनानुसार भारत के पूर्वी तट से सिंहल को चन्दन, लौंग और सुगन्धि जाता था और वहाँ से वे पश्चिमी देशों, फारस और अबीसीनिया के बन्दरगाहों को निर्यात किये जाते थे। मलाबार के तटवर्ती पाँच बन्दरगाहों से लाल मिर्च का निर्यात होता था। उसका यह भी कहना है कि कल्याण से शीशम आदि लकड़ी के सामान बाहर जाते थे। अरब व्यापारी भारत से मोती, जवाहरात और सुगन्धित द्रव्य ले जाते थे। विभिन्न प्रकार के वस्त्र भी इस देश से बाहर जाते थे। ईरान को इस देश से शंख, चन्दन, अगर और रत्न भेजे जाते थे। कतिपय प्रकार के वस्त्र भी इस देश से अन्य देशों को जाया करते थे।

विदेशों से देश में आनेवाली वस्तुओं में दास-दासियाँ प्रमुख थीं। इनकी इस देश में काफी माँग थी। अन्तगडदसाओ[1] से पता चलता है कि सोमाली देश, वंक्षु-प्रदेश, यूनान, अरब, फरगना, बलख, फारस, सिंहल आदि से इस देश में दास-दासियाँ लायी जाती थीं। वे इस देश की भाषा न जानने के कारण केवल संकेतों से ही बातें करती थीं। इस देश में घोड़ों का भी व्यापार खूब था। अतः बनायु (अरब), पारसीक (फारस), काम्बोज और बाह्लीक (बलख) के व्यापारी घोड़े लेकर देश के कोने-कोने में जाते थे। गुप्त-कालीन साहित्य में प्रायः चीनांशुकों का उल्लेख मिलता है जिनसे अनुमान होता है कि चीन से रेशमी वस्त्र इस देश में आते थे। अबीसीनिया से हाथी दाँत के आयात का उल्लेख कास्मास ने किया है। अमर कोष के अनुसार म्लेच्छ देश से ताँबा आता था।

श्रेणि और निगम—उद्योग और वाणिज्य सम्बन्धी साहित्य में जो उल्लेख प्राप्त होते हैं, उनके देखने से प्रतीत होता है कि प्राचीन-काल में लोग यह कार्य प्रायः वैयक्तिक रूप में न करके सामूहिक सहयोग के रूप में किया करते थे। समान उद्योग अथवा वणिज के करनेवाले अपना संघटन बना लेते थे और उस संघटन के माध्यम से वे अपना काम करते थे। इस प्रकार के संघटनों का उल्लेख श्रेणि के नाम से मिलता है। महावस्तु में कपिलवस्तु के श्रेणियों के रूप में सौवर्णिक, हैरण्यिक, प्रावारिक (चादर बेचनेवाले), शांखिक (शंख का काम करनेवाले), दन्तकार (हाथी दाँत का काम करनेवाले), मणिकार (मणियों का काम करनेवाले), प्रास्तरिक (पत्थर का काम करनेवाले), गन्धी, कोशाविक (रेशमी और ऊनी कपड़े बनानेवाले), तेली, घृतकुण्डिक (घी बेचनेवाले), गौलिक (गुड़ बेचने या बनानेवाले), वारिक (पान बेचनेवाले), कार्पासिक (कपास का व्यवसाय करनेवाले), दध्यिक (दही बेचनेवाले), पूपिक (पूये बनानेवाले), खण्डकारण (मिठाई बनानेवाले), मोदकारक (लड्डू बनानेवाले), कन्दुक, समितकारक (आटा बनानेवाले), सक्तुकारक (सत्तू

---

१. अन्तगडदसाओ (बार्नेट कृत अनुवाद), पृ० २८-२९।

बनानेवाले), फलवणिज (फल बेचनेवाले), मूल-वणिज (कन्दमूल बेचनेवाले), चूर्णकुट्ट-गन्ध-तैलिक (सुगन्धित चूर्ण और तेल बेचनेवाले), गुडपाचक (गुड़ बनानेवाले), सीधुकारक (शराब बनानेवाले) और शर्कर-वणिज (चीनी बेचनेवाले) का उल्लेख है ।[१] गुप्त-कालीन ग्रन्थ जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति में अठारह श्रेणियों के नाम इस प्रकार दिये हुए हैं—कुम्हार, पट्टइल्ला (रेशम बुननेवाले), सुवर्णकार (सोनार), सूपकार (रसोइया), गन्धव्व (गायक अथवा गन्धी), कासवन (नाई), मालाकार, कच्छकार, तमोली, चम्मयरु (मोची), जन्तपीलक (तेली), गंछी, छिम्प (कपड़े छापनेवाले), कंसकार (कसेरा), सीवग (दर्जी), गुआर (ग्वाले), भिल्ल (शिकारी) और मछुये (मछुआ) ।[२] इन सूचियों में जो नाम हैं, उनसे यह प्रतीत होता है कि श्रेणियाँ उद्योग और उत्पादन का काम करनेवाले लोगों की ही थीं । विक्रय-व्यवस्था करनेवाले व्यापारियों के श्रेणियों का पता इनसे कम ही लगता है । गुप्तकालीन अभिलेखों से भी यही बात प्रकट होती है । मन्दसोर से प्राप्त एक अभिलेख में पट्टवायों (रेशमी कपड़ा बुननेवालों) की श्रेणी का[३] और इन्दौर (जिला बुलन्दशहर) से प्राप्त एक ताम्र-लेख में तैलिक श्रेणी[४] का उल्लेख है ।

वाणिज्य और उद्योग में लगे हुए लोगों का एक और संघटन था जो निगम कहलाता था । यह श्रेणी से किस प्रकार भिन्न था, इसका स्पष्ट उल्लेख कहीं प्राप्त नहीं होता । पर उपलब्ध सामग्री के अध्ययन से अनुमान होता है कि निगम किसी एक व्यवसाय के लोगों का संघटन न होकर अनेक व्यवसायों के समूह का संघटन था । यह संघटन मुख्यतः तीन वर्गों का था । उद्योग का काम करनेवाले लोगों का, जो **कुलिक** कहे जाते थे, एक निगम था । दूसरा निगम देश-विदेश से माल लानेवाले **सार्थवाह** लोगों का था; और तीसरा निगम **श्रेष्ठि** लोगों का था जो कदाचित् स्थानीय व्यवसायी होते थे और एक स्थान पर अपनी दूकान खोलकर स्थानीय लोगों की आवश्यकता पूर्ति किया करते थे । श्रेष्ठि और कुलिकों के अपने संघटन होने का पता उनकी मुहरों से लगता है । भीटा (इलाहाबाद) से कुलिक निगम[५] की और वैशाली से श्रेष्ठि निगम[६] की मुहरें मिली हैं । इसके अतिरिक्त अभिलेखों में आये **प्रथम कुलिक** और **नगरश्रेष्ठि** के उल्लेखों से भी उनका पता मिलता है, जो उनके प्रधान के बोधक हैं । सार्थवाहों के निगम की मुहर अभी कहीं नहीं मिली है, पर साहित्य में उनकी चर्चा बहुत है ।

---

१. महावस्तु, ३, पृ० ११३; सार्थवाह, पृ० १५१ ।
२. जम्बूद्वीप-प्रदीप, ३।४५; सार्थवाह, पृ० १७६ ।
३. का० इ० इ०, ३, पृ० ८१; पंक्ति १६ ।
४. वही, पृ० ७०; पंक्ति ८ ।
५. आ० स० इ०, ए० रि०, १९११-१२, पृ० ५६, मुहर ५५ अ ।
६. वही, १९१३-१४, पृ० १२४, मुहर ८ ब ।

ये तीनों वर्गों का अपना सामुदायिक निगम होने के अतिरिक्त पारस्परिक संयुक्त संघटन भी था। वैशाली से मिली मुहरों से ज्ञात होता है कि श्रेष्ठि और कुलिकों ने मिलकर श्रेष्ठि-कुलिक-निगम की और श्रेष्ठि, सार्थवाह और कुलिक तीनों ने मिल कर श्रेष्ठि-सार्थवाह-कुलिक निगम की स्थापना की थी। इनकी मुहरें वैशाली से प्राप्त हुई हैं।[१]

इन श्रेणियों और निगमों के सम्बन्ध में लोगों की धारणा है कि वे आधुनिक चैम्बर्स ऑव कामर्स अथवा मर्चेण्ट्स असोसियेशन की तरह की संस्थाएँ रही होंगी। वैशाली से श्रेष्ठि-सार्थवाह-कुलिक-निगम की २७४ मुहरें मिली हैं[२] जिनका उपयोग आलेखों के सुरक्षित रूप से भेजने के लिए किया गया होगा। इस संयुक्त निगम की छाप जिस मिट्टी पर है, उसी पर एक दूसरी छाप व्यक्ति विशेष की मुहर की भी है। संस्था के साथ व्यक्ति की मुहर की छाप के आधार पर ब्लाख का मत है कि सम्भवतः ये व्यक्ति उक्त संस्था के सदस्य थे और प्रान्तीय शासन-केन्द्र वैशाली स्थित चैम्बर ऑव कामर्स से अपने स्थानीय प्रतिनिधियों को आदेश भेजने के लिए उन्होंने इन मुहावरों का प्रयोग किया है।[३] अल्तेकर ने इससे तनिक भिन्न मत प्रकट किया है। उनकी धारणा है कि श्रेष्ठि-सार्थवाह-कुलिक-निगम की शाखाएँ उत्तर भारत के अनेक नगरों में फैली हुई थीं। और ये मुहरें उन पत्रों पर लगी रही होंगी जो वैशाली स्थित प्रादेशिक प्रशासन के पास उक्त निगम की विभिन्न शाखाओं से आयी होंगी। इन विभिन्न शाखाओं के पास, उनके मतानुसार निगम की मुहर समान रूप से रही होगी। इसलिए यह आवश्यक समझा गया होगा कि निगम की मुहर के साथ-साथ स्थायी शाखा के प्रधान अथवा मन्त्री की मुहर भी उसकी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए लगा दी जाय। निगम की मुहर की छाप के साथ ईशानदास की ७५, मातृदास की ३८ और गोस्वामी की ३७ छापें मिली हैं। अतः अल्तेकर की यह भी धारणा है कि ये लोग पाटलिपुत्र, गया अथवा प्रयाग जैसे महत्त्वपूर्ण शाखाओं के प्रधान या मन्त्री रहे होंगे। घोष, हरिगुप्त, भवसेन आदि की मुहरों की छापें निगम की मुहर की छाप के साथ केवल ५-६ बार मिली है अतः उनका कहना है कि वे कम महत्त्व की शाखाओं के अधिकारी रहे होंगे।[४]

इन मुहरों के सम्बन्ध में इतना तो स्पष्ट है और निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे वैशाली की नहीं हैं। वैशाली में बाहर से आयी होंगी। अतः यह निगम वैशाली के बाहर ही कहीं स्थित रहा होगा, पर कहाँ था यह मुहर से ज्ञात नहीं होता। किन्तु वे वैशाली के प्रशासक को ही भेजी गयी होंगी, ऐसा मानना कोरा अनुमान होगा और उसे बहुत संगतपूर्ण भी नहीं कहा जा सकता। हमारी अपनी धारणा तो

---

१. वही, १९०३-४, पृ० १०१।
२. वही।
३. वही, पृ० ११०।
४. वाकाटक गुप्त एज, पृ० २५५-२५६।

यह है कि इन मुहरों का उपयोग माल को सुरक्षित और प्रामाणिक रूप से भेजे जाने के निमित्त किया गया होगा। निगम के किन्हीं नियमों और सिद्धान्तों के अनुसार माल की पैकिंग निगम के सम्मुख किया गया होगा और तब निगम ने उस पर अपनी मुहर लगायी होगी और साथ ही प्रेषक सदस्य ने भी अपने माल की पहचान के लिए अपनी मुहर लगायी होगी।[१]

वस्तुतः स्थिति जो हो, श्रेष्ठि और निगम वणिज और उद्योग की दो महत्त्वपूर्ण संस्थाएँ थीं जो गुप्त-काल में जागरूक थीं। और बृहस्पति स्मृति से ज्ञात होता है इन संस्थाओं का संचालन निर्वाचित सभ्यों द्वारा होता था जिनकी संख्या २, ३ अथवा ५ होती थी। नारद स्मृति में कहा गया है कि इन संस्थाओं के लिखित नियम थे जो समय कहे जाते थे।[२] याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार इन संस्थाओं के बनाये गये नियमों और सिद्धान्तों को सब सदस्यों को मानना और पालन करना पड़ता था। जो उनका उल्लंघन करता तो वह उससे होनेवाली हानि के लिए उत्तरदायी होता। नियम का उल्लंघन अथवा बेइमानी का काम करने पर सदस्य संस्था से निकाल दिये जाते थे।[३] यदि सदस्यों में परस्पर किसी बात पर विवाद उठ खड़ा हो तो उसका निपटारा इन संस्थाओं द्वारा ही किया जाता था। इस संस्था को अपने सदस्यों को दण्डित करने का पूरा अधिकार था। राज्य के न्यायालयों से उनका कोई सम्बन्ध न था। किन्तु राज्य के न्यायालयों में इस संस्था के प्रतिनिधि रहते थे और वे प्रशासन में भी योग देते थे। इनका राज्य के साथ भी किसी प्रकार का निकट का सम्पर्क था यह एक मुहर से अनुमान किया जाता है जिसमें निगम की मुहर के साथ **युवराज पादीय कुमारामात्याधिकरण** की मुहर की भी छाप है। इसी प्रकार कदाचित् वे धार्मिक संस्थाओं से भी सम्बन्ध रखती थीं यह भी एक मुहर से ज्ञात होता है जिस पर निगम के साथ धर्म-वचनों की भी छाप है।[४]

ये संस्थाएँ अपने व्यावसायिक व्यवस्था के अतिरिक्त अन्य सार्वजनिक काम में भी योग देती थीं। दशपुर से पट्टवाय श्रेणी ने सूर्य मन्दिर का निर्माण कराया था और उसने पीछे उसका जीर्णोद्धार भी कराया।[५] स्मृतियों से यह भी झलकता है कि औद्योगिकों की श्रेणियाँ, अपने विषय की शिक्षा देने का भी प्रबन्ध करती थीं। बृहस्पति और कात्यायन ने औद्योगिकों के चार वर्गों का उल्लेख किया है शिक्षक (शिक्षा प्राप्त करनेवाला), अभिज्ञ (कुछ सीख चुका छात्र), कुशल और आचार्य। ऐसा जान पड़ता है कि सीखने-सिखाने की व्यवस्था कारखानों में होती थी और लोग सीखने के

---

१. बृहस्पति स्मृति, पृ० १५१, श्लो० ८-१०

२. नारद स्मृति, १०।१।

३. याज्ञवल्क्य, २।२६५।

४. इस प्रकार के छापों में 'जयतत्यनन्तो भगवान, जित भगवता, नमः पशुपतये' आदि अंकित हैं

५. का० इ० इ०, ३, पृ० ७०-७१; ८१-८४।

साथ कमाते भी थे। उक्त स्मृतियों में लाभ के इन चारों वर्गों में क्रमशः १, २, ३ और ४ के अनुपात में बँटवारे की बात कही गयी है।[1]

दशपुर के पट्टवायों की श्रेणी के सदस्यों के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे विविध विषयों के जानकार थे। और उस सूची में सेना-कर्म का भी उल्लेख है। इससे यह अनुमान होता है कि श्रेणियाँ अपने में से कुछ लोगों को सैनिक शिक्षा भी देती थीं जो अपने समाज के सदस्यों के धन, जन और वणिज की रक्षा करते थे। कदाचित इस प्रकार के लोग सार्थ के रक्षार्थ जाते आते रहे होंगे।

बैंक-व्यवस्था—उद्योग और व्यवसाय की समृद्धि के लिए आवश्यक है कि प्रचुर पूँजी उपलब्ध हो। उसके लिए वैयक्तिक पूँजी ही पर्याप्त नहीं है। अतः आवश्यकता इस बात की होती है कि दूसरों से भी, इसके लिए ऋण प्राप्त किया जाय। यह कार्य आजकल बैंकों द्वारा किया जाता है। स्मृति ग्रन्थों के देखने से ज्ञात होता है कि इस प्रकार के ऋण देने की प्रथा इस देश में प्राचीन काल से ही चली आ रही है और गुप्त-काल में भी प्रचलित थी। गुप्त-काल में ऋण देने का काम किस सीमा तक लोग वैयक्तिक व्यवसाय के रूप में करते थे, इसका स्पष्ट अनुमान नहीं किया जा सकता; पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह काम श्रेणी और निगम निश्चित रूप से करते थे। ये संस्थाएँ कदाचित् आज के बैंकों की तरह ही लोगों से थोड़े सूद पर धन प्राप्त कर अधिक सूद पर व्यापारियों को ऋण देती रहीं।

इन्दौर (जिला बुलन्दशहर) से प्राप्त स्कन्दगुप्त के काल के एक ताम्र-लेख से ज्ञात होता है कि इन्द्रपुर की तैलिक श्रेणी को एक ब्राह्मण ने कुछ मूल्य (धन) दिया था कि वह उसे स्थायी रूप से (अजस्रिकम्) सुरक्षित रखे और उस धन के सूद से वह सूर्य-मन्दिर में दीपोपयोजन के लिए नियमित रूप से दो पल तेल दिया करे। तेल का यह देय अभग्न-योग था अर्थात् वह कभी बन्द नहीं किया जा सकता था और पूँजी भी अविच्छिन्न-संस्था थी। दाता का इस श्रेणी पर अटूट विश्वास था कि यदि वह श्रेणी दूसरी जगह चली जाय तो भी दान की स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा अर्थात् वह पूँजी को अक्षुण्ण रखेगी और मन्दिर को तेल देती रहेगी।[2] इस प्रकार श्रेणियों पर जनता का अटूट विश्वास प्रकट होता है और वे उसे निस्संकोच किसी कार्य के लिए पूँजी सौंप देती थी। इस प्रकार श्रेणियाँ पूँजी जमा कर बैंक का काम करती थीं और दाता की इच्छानुसार उसके सूद के उपयोग के लिए वे न्यास (ट्रस्ट) का भी काम करती थीं। जब लोग उसे स्थायी निधि सौंप सकते थे तो यह भी अनुमान किया जा सकता है कि वे अपने धन को अल्पकाल के लिए भी धरोहर रूप में देते और सूद उपार्जित करते रहे होंगे। ऐसा ज्ञात होता है कि ये संस्थाएँ धन प्राप्त करते समय व्यावहारिक समय (शर्त) निश्चित कर लेती थीं ताकि आगे उसके सम्बन्ध में मतभेद न

१. बृहस्पति स्मृति, पृ० १३१, श्लो० ९-११; कात्यायन स्मृति, श्लो० ६३२।
२. का० इ० इ०, ३, पृ० ७०; पंक्ति ७ १०।

हो और उसका वे पूर्ण पालन करती थीं। इस प्रकार के समय का उल्लंघन महापातक समझा जाता था।

लोकोपकार के लिए स्थायी धन प्राप्त कर उसके सूद के उपयोग का उत्तरदायित्व उक्त व्यावसायिक संस्थाओं के अतिरिक्त धार्मिक संस्थाएँ भी ग्रहण करती थीं, ऐसा द्वितीय चन्द्रगुप्त के काल के साँची से प्राप्त एक अभिलेख से ज्ञात होता है। उसके अनुसार काकनादबोट के श्री महाविहार के आर्यसंघ को २५ दीनार का दान प्राप्त हुआ था कि वह स्थायी रूप से सुरक्षित जमा रहे और उसके सूद से नियमित पाँच भिक्षुओं को भोजन तथा महाविहार के रत्नगृह में दीप-ज्योति की व्यवस्था की जाय।[1] ये धार्मिक संस्थाएँ न्यास के रूप में दाता की इच्छा की पूर्ति सूद से तो कर सकती थीं पर वे बैंक की तरह पूँजी का किस रूप में उपयोग करती थीं जिससे उन्हें सूद प्राप्त होता था, नहीं जाना जा सकता। अनुमान है कि या तो वे स्वतः श्रेणियों की तरह ही ऋण देती रही होंगी या फिर उस पूँजी को किसी विश्वस्त श्रेणी या निगम में जमा कर देती होंगी। पहली अवस्था में उन्हें लेन-देन की पूरी व्यवस्था रखना आवश्यक था जो कदाचित् भिक्षु संघ के लिए सम्भव न रहा होगा। अतः सम्भावना यही है कि वे धन को अन्यत्र जमा कर दिया करते रहे होंगे।

सूद—सूद के सम्बन्ध में स्मृतियों ने विस्तार के साथ चर्चा की है। याज्ञवल्क्य[2] और बृहस्पति स्मृति[3] के अनुसार सामान्यतः बन्धक द्वारा सुरक्षित ऋण पर सवा प्रतिशत मासिक (१५ प्रतिशत वार्षिक) सूद निर्धारित था। बन्धक-हीन ऋण पर वर्ण के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र से क्रमशः २, ३, ४ और ५ प्रतिशत मासिक सूद लिया जा सकता था। याज्ञवल्क्य ने जंगल के मार्ग से यात्रा करनेवाले ऋणी से १० प्रतिशत और समुद्र-यात्री से २० प्रतिशत सूद लेने की बात कही है। याज्ञवल्क्य के अनुसार पारस्परिक रजामन्दी से इससे अधिक भी सूद लिया जा सकता था। पर कात्यायन का कहना है कि आपत्तिकाल में ही अधिक सूद लिया जा सकता है, अन्यथा नहीं।[4] व्यास स्मृति में इतने अधिक ऊँचे सूद की चर्चा नहीं है। उसमें बन्धक पर लिये गये ऋण पर सवा प्रतिशत, जमानत पर लिये गये ऋण पर १$\frac{1}{2}$ प्रतिशत और बिना बन्धक और जमानत के ऋण पर २ प्रतिशत सूद की बात कही है।[5]

मित्रवत् लिये गये ऋण पर सामान्यतः कोई सूद लिया या दिया नहीं जाता था। पर नारद का कहना है कि यदि एक वर्ष के भीतर ऐसा ऋण अदा न किया जाय तो उस ऋण पर सूद लिया और दिया जा सकता है।[6] कात्यायन ने नारद की इस बात

---

१ का० इ० इ०, ३, पृ० ३१. पंक्ति० ६, ८-१०।

२. याज्ञवल्क्य स्मृति २।३७-३८।

३. बृहस्पति स्मृति, पृ० ९०, श्लो० ४।

४. कात्यायन स्मृति, श्लो० ४९८।

५. शूलपाणि द्वारा याज्ञवल्क्य स्मृति (२।३७) की टीका में उद्धृत।

६. नारद स्मृति, ऋणादान, श्लोक १०८-१०९।

को स्पष्ट करते हुए इस प्रकार के ऋण के लिए सूद की तीन अवस्थाएँ निर्धारित की हैं : (१) ऋणी बिना ऋण अदा किये विदेश चला जाय तो एक वर्ष बाद; (२) यदि ऋण वापस माँगने पर न देकर विदेश चला जाय तो तीन मास बाद; (३) यदि ऋणी देश में ही रहता हो और माँगने पर न दे तो माँगने की तिथि से। कात्यायन के अनुसार इस प्रकार के ऋण पर सूद पाँच प्रतिशत लिया जा सकता है।[1]

स्मृतियों से यह भी प्रतीत होता है कि उन दिनों भी आज की तरह ही व्यापार में उधार चलता था। माल लेकर एक निश्चित समय के भीतर मूल्य चुका देने पर कोई सूद नहीं देना पड़ता था। उस अवधि के भीतर न चुकाने पर सूद देना पड़ता था। छूट की यह अवधि कितनी होती थी इसका कहीं स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता। पर कात्यायन ने एक स्थान पर कहा है कि क्रय-मूल्य अदा किये बिना कोई विदेश चला जाय तो छः मास बाद सूद लगने लगेगा और माँगने पर न दे तो पाँच प्रतिशत सूद लगेगा।[2] किन्तु सूद का निर्धारण कदाचित् क्रीत वस्तु के अनुसार होता था।

मनु के अनुसार यह सूद अनाज, फल, ऊन और भारवाहक पशु पर पाँच प्रतिशत था।[3] याज्ञवल्क्य[4] और नारद[5] ने सोना, अनाज, कपड़ा और तरल पदार्थ पर क्रमशः दो, तीन, चार और आठ प्रतिशत सूद का उल्लेख किया है। बृहस्पति ने ताँबा तथा कुछ अन्य वस्तुओं के लिए चार प्रतिशत सूद की बात कही है।[6] कात्यायन ने रत्न, मोती, मूँगा, सोना, चाँदी, फल, रेशमी तथा सूती कपड़े पर दो प्रतिशत और अन्य धातुओं पर पाँच प्रतिशत तथा तेल, मदिरा, घी, शीरा, नमक और भूमि पर आठ प्रतिशत सूद का उल्लेख किया है।[7] इससे वस्तुओं की माँग और खपत की तत्कालीन अवस्था का कुछ अनुमान किया जा सकता है।

मुद्रा—आर्थिक जीवन की समृद्धि की द्योतक मुद्राएँ हुआ करती हैं। अतः आर्थिक दृष्टि से गुप्त-काल का महत्त्व इस बात में है कि गुप्त-सम्राटों ने अत्यधिक मात्रा में सोने के सिक्के प्रचलित किये थे। इस दृष्टि से इस युग को सुवर्ण-युग कहा जा सकता है। भूमि के क्रय-विक्रय में मूल्य का निर्धारण इन्हीं सोने के सिक्कों में होता था। भू-कर के रूप में हिरण्य का उल्लेख मिलता है, इससे भी यह अनुमान होता है कि कर का कुछ अंश सिक्कों में वसूल किया जाता था। सिक्कों के रूप में कर की वसूली से यह भी कल्पना की जा सकती है कि कर्मचारियों को वेतन सिक्कों में ही दिया जाता रहा होगा। चूँकि सिक्के अधिकांशतः सोने के ही हैं, इसलिए वेतन भी इसी सिक्के में

---

१. कात्यायन स्मृति, ५०२-५०५।
२. वही।
३. मनुस्मृति, ८।१५१।
४. याज्ञवल्क्य स्मृति, २।३९।
५. नारद स्मृति, ऋणदान, १०।
६. बृहस्पति स्मृति, पृ० १०१, श्लो० १७।
७. कात्यायन स्मृति, ५१०-५१२।

मिलता रहा होगा। तात्पर्य यह कि उच्च कर्मचारियों को ही वेतन में सोने के सिक्के दिये जाते रहे होंगे। इन सिक्कों को तत्कालीन अभिलेखों में दीनार अथवा सुवर्ण कहा गया है। कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में दान के प्रसंग में "निष्कशत सुवर्ण परिमाणं" का उल्लेख किया है।[1] इससे धारणा होती है कि इसे कदाचित् निष्क भी कहते थे।

गुप्त-काल में सोने की अपेक्षा चाँदी के सिक्के बहुत कम मिलते हैं। साम्राज्य के पूर्वी भाग में तो चाँदी के सिक्के अत्यल्प मात्रा में मिले हैं। वे अधिकतर पश्चिमी भाग में ही पाये गये हैं, जहाँ सोने के सिक्कों का प्रायः अभाव है। अतः ऐसा जान पड़ता है कि सोने के सिक्कों का पूर्व में और चाँदी के सिक्कों का पश्चिम में प्रचलन था। यह बात अपने-आप में विचित्र जान पड़ती है। दोनों धातुओं के अलग क्षेत्र होने पर भी दोनों के बीच एक मूल्य निर्धारित था। सुवर्ण का एक सिक्का चाँदी के १५ सिक्कों के बराबर समझा जाता था जिसे रूपक कहते थे।

ताँबे के सिक्के पूर्वी और पश्चिमी दोनों ही भागों में इने-गिने ही मिले हैं। मध्य-भारत में एक मात्र रामगुप्त के सिक्के बड़ी मात्रा में पाये गये हैं, जो नाग सिक्कों की अनुकृति पर हैं। रामशरण शर्मा की धारणा है कि ताँबे के सिक्कों का अभाव इस बात का द्योतक है कि गुप्त-काल में छोटे राज-कर्मचारी अधिक संख्या में नहीं थे।[2]

इसी प्रसंग में यह भी द्रष्टव्य है कि अभिज्ञान शाकुन्तल में मन्त्री का कथन है कि धन की गणना करते-करते सारा दिन बीत गया (**अर्थ जातस्य गणना बहुल यतैकमेव पौरकार्यमवेक्षितं तद्देवः पत्रारूढ** प्रत्यक्षीकरात्विति) इस बात का द्योतक है कि मुद्राओं का अत्यधिक प्रचलन था। दूसरी ओर फाह्यान का कहना है कि क्रय-विक्रय में लोग कौड़ियों का प्रयोग करते थे।[3] ये दोनों परस्पर विरोधी बातें कहते हैं; पर दोनों में से किसी की सत्यता से सहसा इनकार नहीं किया जा सकता। कदाचित् यह बात कुछ वैसी ही है जैसी आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व तक सिक्कों के प्रचुर प्रचलन के बावजूद गाँवों में बहुत-सी चीजों के लेन-देन में कौड़ियों का व्यवहार होता था।

सामान्य जीवन—गुप्त-कालीन साहित्य में नागरिक जीवन का जो चित्रण हुआ है, उससे तत्कालीन उच्चस्तरीय वैभवपूर्ण जीवन का ही चित्र उभरता है। सामान्य नागरिक के आर्थिक जीवन की कोई झलक नहीं मिलती। उसका कुछ अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि १२ दीनार के दान के सूद से एक भिक्षु को नियमित रूप से नित्य भोजन दिया जा सकता था।[4] इस रकम पर कितना सूद प्राप्त होता था, इसका तो अभिलेख में उल्लेख नहीं है, पर यदि स्मृतियों में उल्लिखित सवा-

---

१. मालविकाग्निमित्र, अंक ५।

२. आस्पेक्टस ऑव पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स, पृ० २३५।

३. लेगे, रेकर्ड ऑव बुद्धिस्ट किंगडम, पृ० ४३।

४ का० इ० इ०, ३, पृ० २६२, पंक्ति ३-४।

प्रतिशत प्रतिमास के सामान्य सूद को इस का आधार मान लें तो इसका अर्थ यह होगा कि प्रतिमास उसका सूद ३।२० दीनार अर्थात् सवा दो रूपक होगा। एक रूपक सिक्के में ३२ से ३६ ग्रेन चाँदी पायी जाती है। इस प्रकार ८० ग्रेन चाँदी के मूल्य से एक भिक्षु को एक मास तक भोजन कराया जा सकता था। आज के भाव से इस चाँदी का दाम लगभग दो रुपया हुआ, जो आज कठिनाई से किसी एक व्यक्ति के लिए एक दिन के भोजन के लिए पर्याप्त है। स्पष्ट है कि गुप्त-काल में जीवन-यापन अत्यन्त सुलभ था।

———

धर्म और दर्शन

वैदिक धर्म—भारतीय धर्म और विश्वासों का आदि परिचय सिन्धु घाटी की सभ्यता के भौतिक अवशेषों से मिलता है। साथ ही भारतीय धर्म का एक दूसरा आदिम रूप ऋग्वेद की ऋचाओं में प्रकट होता है। दोनों में कौन-सा प्राचीन है अथवा दोनों किस स्तर की धार्मिक भावनाओं के द्योतक हैं, यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता। सहज भाव से इतना ही कहा जा सकता है कि भारतीय धार्मिक विश्वासों की परम्परा में वैदिक धर्म को ही प्रमुखता प्राप्त है। ऋग्वेद की धार्मिक भावना प्रकृति की गतिशीलता, भास्वरता और उदारता से उद्भूत है। उसमें उन्होंने चेतनशक्तिमय देवत्व का दर्शन किया है। इस प्रकार पृथिवी, आकाश और अन्तरिक्ष स्थित प्रकृति के विविध रूपों को उन्होंने देवता के रूप में ग्रहण किया। पृथिवी, अग्नि, सोम, बृहस्पति, नदी आदि पृथिवी स्थित, इन्द्र, रुद्र, मरुत, पर्जन्य आदि आकाश स्थित और द्यौ, वरुण, मित्र, सूर्य, सावित्री, पूषण, विष्णु, आदित्य, उषस् और आश्विन आदि अन्तरिक्ष स्थित देवता कहे गये हैं। ऋग्वेद में एक स्थल पर ३३३९ देवताओं का उल्लेख किया गया है।[१] यास्क ने उनमें से ३३ को मुख्य माना है।[२] इन देवताओं की उपासना का स्वरूप ऋग्वेद में बहुत स्पष्ट नहीं है; पर ब्राह्मणों में उसकी विस्तृत चर्चा मिलती है। देवताओं से सान्निध्य प्राप्त करने और उन्हें प्रसन्न कर मनोकामना पूरा कराने के निमित्त अग्नि को माध्यम बनाकर यज्ञ करने का विस्तृत विधान उनमें मिलता है। कुछ यज्ञ तो गृह-कर्म के रूप में किये जाते थे और कुछ जन्म, विवाह, मृत्यु अथवा अन्य गृह कार्यों पर किये जाते थे और अत्यन्त सामान्य थे। इनमें अग्नि में दूध, अन्न, घी अथवा मांस की हवि दी जाती थी। इस यज्ञ में स्वयं गृहस्थ होता होता था अथवा किसी ब्राह्मण को अपना होता बनाता था और घर के चूल्हे की आग ही यज्ञवेदि के रूप में प्रयुक्त होती थी। इस सामान्य यज्ञ को गरीब, अमीर सभी कर सकते थे और इसमें मन्त्र पाठ ही मुख्य था। इनके अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों में महायज्ञों (श्रौत यज्ञों) की भी चर्चा है, जो इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए किये जाते थे और सोम से सम्बन्ध रखते थे। इन यज्ञों को राजा या धनी-मानी (मघवन) लोग ही कर सकते थे। ये यज्ञ विशाल यज्ञशालाओं में किये जाते थे और उनमें गार्हस्पत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि नामक तीनों अग्नियाँ स्थापित की जाती थीं और यजमान इन यज्ञों में स्वयं बहुत कम भाग लेता था। उसकी ओर से सारा काम दक्षिणा प्राप्त कर ऋत्विज, उद्गाता और अध्वर्यु लोग किया करते

---

१. ऋग्वेद, ३।११।२३९।११।३९।११

२. निरुक्त, दैवतकाण्ड, १।५

थे। ये यज्ञ कई दिन, मास या वर्ष तक चलते रहते थे। इन यज्ञों में ऋचाओं का पाठ होता था और अग्नि में आहुति दी जाती थी और इन यज्ञों में अश्व, गो आदि पशुओं का मेध (बलि) होता था। कदाचित् कुछ यज्ञों में नरमेध भी होता था। इस प्रकार के असंख्य यज्ञों के नाम वैदिक साहित्य में मिलते हैं। उनमें मुख्यतः सोम और बार्हस्पत्य ब्राह्मण लोग किया करते थे; राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध आदि राजाओं के मुख्य यज्ञ थे।

वैदिक याज्ञिक कर्मकाण्डों की यह प्रधानता कालान्तर में कम होने लगी। लोगों का ध्यान ईश्वर, आत्मा, जीव, संसार आदि की सत्ता की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ; दार्शनिक दृष्टिकोण सामने आया और उपनिषदों के रूप में प्रादुर्भूत हुआ। इसने धीरे-धीरे धर्म के नये-नये रूपों को जन्म दिया। उनमें से कुछ तो वैदिक हिंसा के प्रतिक्रिया स्वरूप सामने आये और कुछ ने वैदिककालीन मान्यताओं की पृष्ठभूमि में ही अपना नवीन रूप निर्धारित किया। पहले प्रकार के धर्मों में जैन और बौद्ध-धर्म का नाम लिया जा सकता है। दूसरे प्रकार के धर्मों में वैष्णव, शैव धर्म आदि हैं। इस प्रकार की धार्मिक क्रान्ति के बावजूद वैदिक देवताओं का न तो सर्वथा लोप ही हुआ और न वैदिक कर्मकाण्डों का अन्त। वैदिक देवताओं के प्रति लोगों के मन में आदर बना रहा। गुप्तकालीन अभिलेखों में उनमें से अनेक का उल्लेख हुआ है और उनके साथ गुप्त सम्राटों, विशेषतः समुद्रगुप्त की तुलना की गयी है। प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को धनद, वरुण, इन्द्र, अन्तक-सम कहा गया है।[१] सिक्कों पर उनके लिए कृतान्त-परशु का प्रयोग हुआ है। और ये सभी विशेषण समुद्रगुप्त के लिए गुप्त अभिलेखों में अन्त तक होते रहे। वैदिक देवताओं के साथ समुद्रगुप्त की तुलना इस बात का प्रतीक है कि ये वैदिक देवता तत्कालीन लोक प्रचलित विष्णु, शिव आदि देवताओं से अधिक शक्तिशाली और महिमामय समझे जाते थे। किन्तु उनकी उपासना में लोगों की आस्था नहीं थी। वैदिक देवताओं की प्रतिमाएँ गुप्तकाल में बहुत कम देखने में आती हैं।

वैदिक देवताओं की उपासना के प्रति लोक-आस्था कम हो जाने के बावजूद यज्ञों के प्रति लोगों का आकर्षण बना हुआ था। महाभारत, मनुस्मृति और जैमिनी के मीमांसा-सूत्र में वैदिक यज्ञों की निरन्तर महिमा गायी गयी है। गुप्तकालीन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों के लिए विहित अग्निहोत्र[२] और सद्गृहस्थों के उपयुक्त महायज्ञों[३] का महत्त्व बना हुआ था। लोग प्रायः इन यज्ञों को किया करते थे। किन्तु उनका प्रचार किस सीमा तक था, इसका अनुमान करना कठिन है। वस्तुतः इन गृह-यज्ञों की अपेक्षा श्रौत-यज्ञों का प्रचार गुप्त-काल और उसके पूर्ववर्ती काल में अधिक दिखाई पड़ता है। इस काल में अश्वमेध यज्ञ की चर्चा सबसे अधिक

---

१. पंक्ति २६।
२. का० इ० इ०, ३, पृ० ७१।
३. वही, ३, पृ० १७०, १९०

पायी जाती है। स्वयं गुप्त सम्राटों में समुद्रगुप्त और प्रथम कुमारगुप्त ने अश्वमेध-यज्ञ किये थे। वाकाटक वंश के प्रथम प्रवरसेन ने चार अश्वमेध किये। यही नहीं, उन्होंने अग्निष्टोम, आप्तोर्याम, ज्योतिष्टोम, उक्थ्य, षोडासन, बृहस्पतिसव, साद्यस्क, अतिरात और वाजपेय आदि यज्ञ भी किये थे।[1] गया के मौखरिवंशी शासक यद्यपि गुप्त सम्राटों की शक्ति और वैभव की तुलना में नगण्य थे, तथापि उन्होंने इतने अधिक यज्ञ किये थे कि प्रशस्तिकार के आलंकारिक शब्दावली में इन्द्र को प्रायः उनके कारण अपने नगर से बाहर ही रहना पड़ता था, जिसके कारण उनके विरह में इन्द्राणी सूख कर काँटा हो गयी थीं।[2] इसी प्रकार बढ़वा (कोटा) के चार मौखरि शासकों में से तीन ने त्रिरात्र-यज्ञ किया था।[3] तृतीय शताब्दी के अन्तिम चरण में जयपुर क्षेत्र के दो अन्य शासकों ने भी त्रिरात्र-यज्ञ किया था।[4] मालवों द्वारा भी तृतीय शताब्दी में एकषष्ठिरात्र-यज्ञ किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[5] चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध में पौण्ड्रीक-यज्ञ किये जाने की सूचना भरतपुर क्षेत्र से प्राप्त एक अभिलेख में मिलती है।[6] इस प्रकार इस काल में वैदिक श्रौत यज्ञों के प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। ये यज्ञ उत्तर भारत में ही प्रचलित रहे हों, ऐसी बात नहीं है। दक्षिण भारत के शासकों ने भी प्रचुर मात्रा में वैदिक यज्ञ किये थे, ये उनके अभिलेखों से ज्ञात होता है।

जैन धर्म और दर्शन—जैन धर्म का विकास कब और किस रूप में हुआ, निश्चय-पूर्वक कहना कठिन है। अनुश्रुतियों के अनुसार एक के बाद एक २४ तीर्थङ्कर हुए जिन्होंने समय-समय पर जैन धर्म का प्रवर्तन किया। इनमें अन्तिम दो — पार्श्वनाथ और महावीर को छोड़ कर अन्य के सम्बन्ध में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। महावीर बुद्ध के समकालिक कहे जाते हैं और उनसे २५० वर्ष पूर्व पार्श्वनाथ के होने का अनुमान किया जाता है। वस्तुतः जैन धर्म का आधार इन्हीं दो तीर्थङ्करों के उपदेश और विचार हैं। उनके अनुसार नियामक अथवा ईश्वर जैसी कोई सत्ता नहीं है। मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं नियामक है। उसका कर्म ही सब कुछ है। पवित्र जीवन और तपस्या द्वारा मनुष्य बुराइयों से मुक्ति पा सकता है। अतः उनके अनुसार विरागमय जीवन ही सबसे अच्छा जीवन है और वही मुक्ति का सुगम मार्ग है। पार्श्वनाथ का कहना था कि जीव-हत्या न की जाय, असत्य भाषण न किया जाय और जो वस्तु मुक्तहस्त से न दी जाय, उसे ग्रहण न किया जाय और अनासक्ति

१. द एज आव इम्पीरियल यूनिटी, पृ० २२०; वाकाटक-गुप्त एज, पृ० १०१; ३६९।

२. यस्याहूत सहस्रनेत्र विरहक्षामा सदवायुवरे पौलोमी चिरमश्रुपातविरहध्वस्तकपोलश्रियम्। का० इ० इ०, ३, पृ० २२४।

३. ए० इ०, २२, पृ० ५२।

४. वही, २६, पृ० ११८।

५. वही।

६. का० इ० इ०, ३, पृ० २५३।

का भाव रखा जाय। संयम से ही कर्म का नाश होता है, तपस्या से वह आमूल मिट जाता है। इन्हीं बातों को महावीर ने अपने ढंग से उपस्थित किया था। उनका कहना था कि जीव न केवल मनुष्यों और पशुओं में है, वरन् जल और मिट्टी में भी है। कर्म ही सांसारिक दुःखों का मूल है और उसकी उत्पत्ति सुख-भोग से होती है। जीवन-मरण के निरन्तर चक्र के कारण ही जीवन में दुःख उत्पन्न होता है।

संसार में जीव (चेतन) और अजीव (अचेतन) दो विभाग हैं। दोनों ही शाश्वत हैं, अजन्मा हैं और दोनों का सहअस्तित्व है। जीव से जैनियों का तात्पर्य बहुत कुछ आत्मा से है। जीव में जानने और अनुभव करने की क्षमता है। वह कर्म करता है और कर्म से प्रभावित होता है। पुद्‌गल (द्रव्य) के सम्पर्क से कष्ट भोगता है और कष्ट भोगने के लिए बार-बार जन्म लेता है। उसका महत्तम प्रयत्न होता है कि उसे इस बन्धन से मुक्ति मिले। इस बन्धन से मुक्ति सर्वोच्च ज्ञान और महत्सत्य में लीन होने से ही प्राप्त हो सकती है। जैन दर्शन में जीव (लाइफ) और चेतना (कांशसनेस) के अन्तर की अभिव्यक्ति की कोई चेष्टा नहीं है। जीव पशु, मनुष्य, वृक्ष में निवास करता है, इस प्रकार उसका तात्पर्य जीवन (लाइफ) हुआ। निवसित शरीर के अनुसार जीव के नाना आकार-प्रकार हो सकते हैं। इस अवस्था में उसका तात्पर्य जीवन (लाइफ) से ही होगा। किन्तु जब जीव की मुक्ति की बात की जाती है तब हम निश्चित रूप से आत्मा की बात करते हैं। इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार जीव में जीवन और आत्मा का द्वित्व है। उसके अनुसार दोनों ही कर्म और पुनर्जन्म में बँधे हैं और दोनों की ही मुक्ति ज्ञान और ध्यान से हो सकती है। इसी प्रकार जैन दर्शन की परिभाषा में भी अजीव ठीक वही नहीं है जिसे हम तत्त्व कहते हैं। उनकी दृष्टि में जीव के अतिरिक्त संसार में जो कुछ भी है वह सब अजीव है। उसमें तत्त्व भी है, जिसे उन्होंने पुद्‌गल की संज्ञा दी है और आकाश, काल, धर्म, अधर्म भी है।

ज्ञान के प्रति जैन धर्म में अनिश्चय के भाव व्याप्त हैं, इस कारण उनके यहाँ न्याय (तर्क) का विशेष महत्त्व है। वे प्रत्येक वस्तु को स्यात की दृष्टि से देखते हैं। इस कारण उनका न्यायशास्त्र स्याद्‌वाद के नाम से पुकारा जाता है। उनके अनुसार किसी वस्तु की सात प्रकार से कल्पना की जा सकती है। उदाहरणार्थ क्या आत्मा है, इस प्रश्न का जैन न्यायायिक सात प्रकार से उत्तर देगा—(१) है; (२) नहीं है; (३) है भी और नहीं भी है; (४) कह नहीं सकते; (५) है किन्तु कह नहीं सकते; (६) नहीं है पर कहा नहीं जा सकता; (७) है, नहीं है और नहीं कहा जा सकता अर्थात् एक ऐसी अवस्था है जिसमें आत्मा है और एक ऐसी अवस्था है जिसमें आत्मा नहीं है और तीसरी ऐसी भी अवस्था है जिसका हम अनुमान नहीं कर सकते और उस अवस्था में मानना होगा कि हम उसका वर्णन नहीं कर सकते आदि आदि। इस प्रकार जैन दर्शन और न्याय के अनुसार ज्ञान एक सम्भावना मात्र है। इस प्रकार उनका ज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त का यह नकारात्मक स्वरूप अज्ञानवाद-सा लगता है। पर वे समस्त सत्य को अस्वीकार नहीं करते; वे

यह भी नहीं कहते कि संसार एकदम अज्ञेय है। उनका इतना ही कहना है कि हमें अपनी धारणाओं के प्रति अटूट अथवा दृढ़ विश्वास नहीं है।[१]

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, जैन धर्म और उसके धार्मिक साहित्य का आधार महावीर के विचार और उनके उपदेश हैं। उनके उपदेशों का संग्रह सर्वप्रथम उनके शिष्य इन्द्रभूमि ने, जिन्हें केवलिन भी कहा जाता है, किया था; पर वे बहुत दिनों तक मौखिक ही बने रहे। ४५३ ई० के आसपास पहली बार उन्हें वलभी की संगीति में देवर्षिगण क्षमाश्रमण ने लिपिबद्ध किया। यह ४५ सिद्धान्तों अथवा आगमो मे विभाजित है और उनका सग्रह ग्यारह या बारह अंगों मे हुआ है।

अन्य धर्मों की तरह जैन धर्म भी अनेक सम्प्रदायों में विभाजित है। उनमे श्वेताम्बर और दिगम्बर मुख्य हैं। कहा जाता है कि पार्श्वनाथ ने अपने अनुयायियों को श्वेत वस्त्र धारण करने की अनुमति दी थी। महावीर ने अपने अनुयायियों को प्रत्येक प्रकार के वस्त्र धारण करने का निषेध किया अर्थात् नग्न रहने का विधान किया। इस प्रकार पार्श्वनाथ के अनुयायी श्वेताम्बर और महावीर के अनुयायी दिगम्बर हैं। पर इस कथन के लिए कोई निश्चित आधार नहीं है। वस्तुस्थिति जो भी हो, दोनों सम्प्रदायों के मुख्य सिद्धान्त एक होते हुए भी दोनों के बीच कुछ स्थूल और सूक्ष्म भेद है। वस्त्र धारण करने न करने के प्रत्यक्ष भेद के अतिरिक्त एक स्थूल भेद यह भी है कि दिगम्बर सम्प्रदाय की मान्यता है कि स्त्रियाँ मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकतीं।

जैन धर्म का उद्भव यद्यपि उत्तर भारत में मगध मे हुआ तथापि उसका प्रचार दक्षिण और पश्चिम भारत में ही विशेष पाया जाता है। उत्तर भारत मे इसका किस सीमा तक प्रचार था यह सहज अनुमान सम्भव नही है। गुप्त-कालीन साहित्य मे जैन धर्म की समुचित चर्चा उपलब्ध नहीं है और न उससे सम्बन्धित अभिलेख और मूर्तियाँ ही अधिक संख्या में प्राप्त होती हैं। इससे अनुमान होता है कि इस काल में इस धर्म का जन-समाज मे व्यापक प्रचार न था फिर भी इतना तो निश्चित रूप से कहा ही जा सकता है कि उत्तर भारत के सभी भागों में इस धर्म को माननेवाले कुछ-न-कुछ लोग अवश्य थे।

गुप्त-काल से कुछ पहले की पार्श्वनाथ की एक विशाल प्रस्तर प्रतिमा पाटलिपुत्र से प्राप्त हुई है।[२] कुषाण और गुप्तकाल की तीर्थङ्करों की अनेक कास्य प्रतिमाएँ चौसा (बक्सर, विहार) में मिली हैं। ये मगध मे जैन-धर्म के अस्तित्व की द्योतक हैं।[३] बुधगुप्त के शासनकाल का एक ताम्रलेख पहाड़पुर (राजशाही, पूर्वी बंगाल) से प्राप्त

१. विस्तृत परिचय के लिये देखिए—यू० डी० बारोडिया, हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर आव जैनिज्म; जे० आई० जैनी, आउटलाइन्स आव जैनिज्म; एच० आर० कापड़िया, जैन रेलिजन एण्ड लिटरेचर

२. अप्रकाशित, श्री गोपीकृष्ण कानोडिया संग्रह।

३. पटना म्यूजियम कैटलाग आव एण्टीक्विटीज, पृ० ११६-१७; सुवर्ण जयन्ती ग्रन्थ, श्री महावीर जैन महाविद्यालय, बम्बई, १, पृ० २७९ : २८२-८३।

हुआ है जिससे ज्ञात होता है कि जैनाचार्य गुहनन्दि ने बटगोहली में कोई जैन विहार स्थापित किया था। उस विहार में अतिथिशाला के निर्माण और अर्हत् की पूजा के लिए ब्राह्मण नाथशर्मा और उनकी पत्नी रामी ने कुछ भूमि प्रदान की थी।[1] उत्तर प्रदेश में स्कन्दगुप्त के शासनकाल का एक स्तम्भ कहाँव (जिला देवरिया) में है। उसके शीर्ष पर तीर्थङ्करों की चार प्रतिमाएँ और तल में पार्श्वनाथ की एक बड़ी प्रतिमा अङ्कित है। स्तम्भ पर अङ्कित लेख के अनुसार भट्टिसोम के पौत्र, रुद्रसोम के पुत्र मद्र ने उसे गुप्त संवत् १४१ में स्थापित किया था।[2] इस स्तम्भ के निकट ही इसी काल की तीर्थङ्कर की एक खड़ी प्रतिमा भी प्राप्त हुई है।[3] स्तम्भ और प्रतिमा दोनों ही इस बात के द्योतक हैं कि गुप्तकाल में वहाँ जैन-धर्म से सम्बन्धित कोई महत्त्वपूर्ण मन्दिर अथवा संस्था थी। मथुरा से तीर्थङ्कर की एक प्रतिमा प्राप्त हुई है जिसे प्रथम कुमारगुप्त के शासन-काल में गुप्त संवत् ११३ में गृहमित्रपालित की पत्नी भट्टिभव की पुत्री समाध्या ने स्थापित किया था।[4] मध्यप्रदेश में विदिशा से अभी हाल में रामगुप्त के शासन-काल की तीर्थङ्करों की तीन अभिलेखयुक्त प्रतिमाएँ मिली हैं।[5] वहीं उदयगिरि के एक गुहाद्वार पर प्रथम कुमारगुप्त के शासनकाल में शंकर नामक व्यक्ति द्वारा पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापित किये जाने की सूचना एक अभिलेख से प्राप्त होती है।[6]

बौद्ध धर्म और दर्शन—ईसा पूर्व की छठी शताब्दी में कपिलवस्तु के राजकुमार सिद्धार्थ को संसार की असारता देख कर विराग हुआ और वे राज-वैभव त्याग कर कठिन तपस्या में लग गये और एक दिन बोध-गया में बोधि-वृक्ष के नीचे उन्हें बोधि (ज्ञान) प्राप्त हुआ और वे बुद्ध कहलाये। अपने इस ज्ञान के फलस्वरूप उन्होंने जो विचार प्रकट किये और उपदेश दिये उसके आधार पर जो धार्मिक मत बना वह बौद्ध कहलाया। गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण के समय तक यह उनके अनुयायियों का एक छोटा-सा समुदाय मात्र था। उनके निर्माण के पश्चात् मगध-नरेश अजातशत्रु के संरक्षण में बुद्ध के शिष्य कस्यप ने ५०० अर्हतों (भिक्षुओं) की एक संगीति राजगृह में बुलायी जहाँ पहली बार बुद्ध के वचनों के आधार पर थेरावाद के नाम से धर्म का निरूपण हुआ। तदनन्तर जब वैशाली के दस हजार भिक्षुओं ने थेरावाद के कतिपय विधानों का उल्लंघन किया तो कालाशोक के संरक्षण में थेरावादियों की दूसरी संगीति हुई और उस संगीति के अनुसार वैशाली के भिक्षु थेरावाद से निकाल दिये गये। इन निष्कासित भिक्षुओं ने अपना एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय स्थापित किया जो महासांघिक

---

१. ए० इ०, २०, पृ० ६६ आदि।
२. का० इ० इ०, ३, पृ० ६७-६८।
३. अप्रकाशित : कहाँव ग्राम में ही एक कुटी में प्रतिष्ठित।
४. ए० इ०, २, पृ० २१०-११।
५. जर्नल ऑव ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, १८, पृ० २४७-२५१; पीछे पृ० २८२-८३।
६. का० इ० इ०, ३, पृ० २५९-६०।

कहलाया। उन लोगों ने थेरावाद के विचारों-विधानों में बहुत कुछ हेर-फेर किया। तदनन्तर सम्राट् अशोक के १७वें राजवर्ष में पाटलिपुत्र में तीसरी संगीति हुई जिसमें थेराओं ने बुद्ध के वचनों को त्रिपिटक के रूप में स्थिर किया। त्रिपिटक के इस रूप को अशोक-पुत्र महेन्द्र सिंहल ले गये और वहीं उसे सर्वप्रथम लिपिबद्ध किया गया। चौथी और अन्तिम संगीति कनिष्क के समय में हुई जिसमें बौद्ध-धर्म स्पष्ट रूप से दो सम्प्रदायों-हीनयान और महायान में बँट गया। सिंहल के बौद्धों ने हीनयान को अपनाया और उत्तर भारत के बौद्ध महायान की ओर आकृष्ट हुए। इस संगीति में जो धर्म-निरूपण हुआ वह महायान सम्प्रदाय के संस्थापक नागार्जुन के प्रचार का आधार बना।

बौद्ध-धर्म का ईश्वर और आत्मा में विश्वास नहीं है। इस कारण बौद्ध-दर्शन का मूलाधार "शून्यता" अथवा "अनात्मता" है। इन शब्दों का प्रयोग बुद्ध ने अपने वचनों में प्रायः किया है पर उन्होंने उनकी किसी रूप में कहीं कोई व्याख्या प्रस्तुत नहीं की है। फलतः हीनयानियों और महायानियों ने इनकी व्याख्या अपने ढंग से की है। इस प्रकार दोनों सम्प्रदायों का दार्शनिक दृष्टिकोण भी एक दूसरे से भिन्न है।

हीनयानियों के मतानुसार शून्य अथवा अनात्म का तात्पर्य आत्मा के रूप में किसी वास्तविक तत्व का अनस्तित्व है। उसे उन्होंने पुद्गल-शून्यता की संज्ञा दी है। पुद्गल-शून्यता के ज्ञान से ही क्लेशावरण दूर किया जा सकता है। संसार की विभिन्न वस्तुओं के अन्तर को भूल कर उन्हें बिना किसी भेद के एक पुद्गल के रूप में अनुभव करने को उन्होंने पुद्गल-शून्यता का ज्ञान कहा है। उनकी बात को दृष्टान्त रूप से कहा जाय तो कहा जा सकता है कि उनकी दृष्टि में मिट्टी के घड़े और मिट्टी के घोड़े में कोई अन्तर नहीं है। वे दोनों को एक ही और वही मानते हैं। इस दार्शनिक दृष्टिकोण की व्याख्या भी हीनयानी दार्शनिकों ने तरह-तरह से की है। फलस्वरूप उनके भीतर अनेक भेद हैं जिनमें वैभाषिक और सौत्रान्तिक दो मुख्य हैं। वैभाषिक लोग प्राकृतिक वस्तुओं के अस्तित्व को प्रत्यक्ष के आधार पर स्वीकार करते हैं। सौत्रान्तिकों का कहना है कि बाह्य वस्तुएँ प्रज्ञप्ति मात्र हैं। उनका अस्तित्व केवल बाह्यार्थानुमेयत्व द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। उनका कहना है कि मनुष्य की मुटाई में यह बात निहित है कि वह पौष्टिक भोजन खाता रहा है। इसी प्रकार बुद्धि के अस्तित्व का अर्थ है ज्ञेय के अस्तित्व की अनुभव प्राप्ति। वसुबन्धु लिखित अभिधर्मकोष के अनुसार वैभाषिकों के मत में असंस्कृत अर्थात् आकाश अथवा निर्वाण द्रव्य (वास्तविक वस्तु) नहीं है वह केवल समस्त तत्वों का अभाव है। सौत्रान्तिकों के अनुसार निर्वाण ही सुख है और शेष सब अनात्म, अनित्य और दुख है। स्कन्धमात्र (तत्वों के सूक्ष्मतर रूप) के अस्तित्व को एक-दूसरे में हस्तान्तरित होने की बात वे स्वीकार करते हैं किन्तु उनका कहना है कि निर्वाण होने पर उसका हस्तान्तरण समाप्त हो जाता है। विभाषा का प्रचार मुख्यतः कश्मीर में था और वैभाषिक सम्प्रदाय के दार्शनिकों में धर्मोत्तर, धर्मत्रात, घोषक, वसुमित्र और बुद्धदेव मुख्य हैं। सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के संस्थापक कुमारलाभ थे। कुछ लोग उत्तर को उसका संस्थापक बताते हैं।

इस दार्शनिक पृष्ठभूमि में हीनयानियों की आस्था प्रबल रूप से स्व के लोप में थी। उनकी दृष्टि में स्व का लोप तभी सम्भव है जब मनुष्य घरबार त्याग कर भिक्षु का जीवन अपनाये और अपने सुखों की समग्र चिन्ताओं को छोड़ दे। उनका यह भी कहना था कि तपस्या द्वारा ही मनुष्य इस बात का ज्ञान प्राप्त कर सकता है कि उसका शरीर दुर्गुणों से परिपूर्ण है। इस प्रकार हीनयान का दृष्टिकोण नकारात्मक था और वे अहम् के विनाश को ही सब कुछ मानते थे।

महायानी दार्शनिक पुद्गल अर्थात् आत्मा तथा धर्म अर्थात् संसार, दोनों के अनस्तित्व में विश्वास करते हैं। उनका कहना है कि वास्तविक ज्ञान अर्थात् सत्य की प्राप्ति पुद्गल और धर्म दोनों के ज्ञान मात्र से ही सम्भव नहीं है। उनके मतानुसार इन दोनों शून्यताओं का ज्ञान क्लेषावरण और ज्ञेयावरण दोनों को उतार फेंकने से ही सम्भव है। वे हीनयानियों की तरह इतना ही नहीं मानते कि मिट्टी के बर्तन और मिट्टी के घोड़े में किसी अन्तर का अस्तित्व नहीं है वरन् वे यह भी कहते हैं कि मिट्टी (उनकी दार्शनिक शब्दावली में धर्म) का भी अस्तित्व नहीं है। इस धर्म-शून्यता के ज्ञान से ज्ञेयावरण हटा कर पूर्ण ज्ञान अथवा सत्य की प्राप्ति की जा सकती है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रज्ञापारमिता, समाधिराज, सद्धर्मपुण्डरीक आदि महायानी दर्शन-ग्रंथों में जिस प्रकार प्रतिपादित किया गया है उसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

हीनयानियों की धारणा है कि भिक्षु होने और बोधिपक्षीय धर्म और अष्टांगिक मार्ग आदि में पूर्णता प्राप्त करने मात्र से अभीप्सित लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है। महायानी लोगों का कहना है कि बुद्ध ने सामान्य जन को धर्म की ओर आकृष्ट करने के लिए तात्कालिक व्यवस्था के रूप में ही बोधिपक्षीय धर्म और अष्टांगमार्ग को प्रस्तुत किया था; और यह भी केवल इसलिए किया था कि लोग आत्मिक दृष्टि से तनिक ऊपर उठने पर यह समझ सकें कि ये कार्य उसी प्रकार काल्पनिक और शून्य हैं जिस प्रकार मानव लौकिक रूप से यह मानता है कि उसके पुत्र है, धन है। अतः महायानियों की दृष्टि में किसी भिक्षु के ज्ञान-प्राप्ति मे अपने चीवर, अपने ध्यान-कर्म और निर्वाण आकांक्षा के प्रति उसकी आसक्ति उतनी ही बाधक है जितनी कि किसी सामान्य मनुष्य की अपने सन्तान, धन और शक्ति के प्रति आसक्ति। गृहस्थ हो या भिक्षु, वह अपनी छओ अपूर्ण ज्ञानेन्द्रियों के कारण भ्रम के संसार में घूमता रहता है। उसकी मुक्ति तभी सम्भव है जब वह यह जान ले कि ये लौकिक भ्रम उतने ही असत्य हैं जितनी कि मृगमरीचिका अथवा स्वप्नदृष्ट घटना। जिस क्षण मनुष्य को इसका ज्ञान होगा उसी क्षण वह अपने अज्ञान के आवरण को फाड़ फेंकेगा और उसे सत्य के दर्शन होंगे। ज्ञेयावरण को हटाने के लिए क्लेषावरण—मोह, घृणा आदि को हटाना होगा।

हीनयानियों की भाँति महायान दर्शन की भी दो शाखाएँ हैं जो माध्यमिक और योगाचार के नाम से प्रसिद्ध हैं। माध्यमिक शाखा के प्रवर्तक नागार्जुन, पहली शती ई० में हुए थे। उन्होंने मूलमध्यकारिका प्रस्तुत की है। उनके मतानुसार शून्यता ही

सत्य है और इस सत्य की कोई निश्चित परिभाषा असम्भव है। इस सत्य का आभास प्रस्तुत करने के लिए अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि वह प्रत्येक सम्भाव्य वस्तु के अस्तित्व की अस्वीकृति है। उनका कहना है कि संसार सत्य पर गलत ढंग से लादी गयी वस्तु है। इस प्रकार संसार और शून्यता अथवा निर्वाण में कोई अन्तर नहीं है। इस शाखा से सम्बन्धित गुप्तकालीन दार्शनिक हैं—कुमारजीव, बुद्धपालित और भावविवेक।

योगाचार दर्शन के प्रवर्तक मैत्रेयनाथ कहे जाते हैं; उनका समय तृतीय शती ई० माना जाता है। माध्यमिक दर्शन की भाँति ही योगाचार में भी शून्यता को सत्य प्रतिपादित किया गया है और कहा गया है कि उसका आदि-अन्त कुछ नहीं है और उसकी व्याख्या असम्भव है। इसके अनुसार सत्य विज्ञप्ति मात्र है। यह बात माध्यमिकों के पूर्णवाद के विरुद्ध है जिसमे शून्यता के किसी भी गुण के अस्तित्व को नकारा गया है। योगाचार से ही आगे चल कर आसंग का विज्ञानवाद प्रस्फुटित हुआ जिसमें कहा गया है कि कल्पना के अतिरिक्त किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। बाह्य संसार मस्तिष्क की सर्जना मात्र है।

हीनयानियों की भाँति महायानी बौद्ध भी ध्यान और तपस्या की बात स्वीकार करते हैं और उसे आवश्यक भी मानते हैं। पर साथ ही उनका यह भी कहना है कि तपस्या द्वारा स्व का हनन और निर्वाण की आकांक्षा मात्र स्वार्थ है। भावना यह होनी चाहिए कि जो कुछ अपने सद्कर्मों से फल प्राप्त हो वह मात्र अपने लिए न होकर संसार के असंख्य जीवों के हित के निमित्त हो। अतः महायानियों ने जीवन को एक सर्वथा भिन्न दृष्टि से देखा। उनका कहना था कि स्व का हनन अपने जीवन को अनेक जन्म-जन्मान्तरों में सेवारत कर देने से ही सम्भव है। मनुष्य का यह दृढ़ संकल्प होना चाहिए कि वह अपने सुख, स्वर्गिक जीवन और निर्वाण की तब तक आकांक्षा न करेगा जब तक वह दूसरों को सुख, स्वर्गिक जीवन और निर्वाण प्राप्त कराने के प्रति अपना समस्त कर्तव्य पूरा न कर लेगा। इस प्रकार परहित महायान का मूल मन्त्र था। उनकी दृष्टि में परहित में आत्मसात् करने के लिए दृढ़ संकल्प आवश्यक है। इस प्रकार के संकल्प को उन लोगों ने बोधि-चित्त की संज्ञा दी है और बोधि-चित्त संकल्प कृत को बोधिसत्व कहा है। बोधि-प्रस्थान की ओर अग्रसर होने का नाम बोधिसत्व है। वह छः पारमिताओं—दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा में पूर्णता को प्राप्त करने का नाम है। उनका कहना है कि इन पारमिताओं में से किसी में पूर्णता तभी प्राप्त हो सकती है जब अपने जीवन का महत्तम त्याग किया जाय। सभी पारमिताओं में पूर्णता अकेले एक जीवन में प्राप्त करना सम्भव नहीं है। छओ पारमिताओं में पूर्णता प्राप्त करने के लिए अनेक जन्म ग्रहण करना होगा। उनके मतानुसार गौतम बुद्ध को भी छओ पारमिताओं में पूर्णता प्राप्त करने के लिए अनेक जन्म लेना पड़ा था। उनके इस जन्मों की कथाएँ जातकों और अवदानों में संकलित की गयी है। इस प्रकार महायान सम्प्रदाय के अनुसार जो कोई भी बोधि-चित्त विकसित

कर के बोधिसत्व हो सकता है अर्थात् बोधि (ज्ञान) प्राप्त कर कालान्तर में बुद्ध बन सकता है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक महायानी बोधिसत्व था और हीनयानी श्रावक। दोनों में स्थूल अन्तर यह है कि महायानी बुद्धत्व प्राप्त करने का आकांक्षी था और हीनयानी अर्हत प्राप्त करने का अभिलाषी।[१]

धर्म-लाभ के निमित्त हीनयान की भाँति महायान में भिक्षु-भिक्षुणी बनना आवश्यक नहीं है। उनके अनुसार कोई भी — पशु भी बोधिसत्व का जीवन व्यतीत कर सकता है। इस कारण वह जनसाधारण का ध्यान अपनी ओर खींचने में अधिक समर्थ सिद्ध हुआ और बौद्ध धर्म के प्राचीन रूप – हीनयान का प्रचार घटता गया।

सामान्यतः लोगों की धारणा है कि गुप्त-काल में बौद्ध-धर्म अवनति की ओर था। पर ऐसा मानने का कोई स्पष्ट कारण नहीं जान पड़ता। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस काल में पूर्ववर्ती शक और कुषाण शासकों की भाँति बौद्ध-धर्म में शासकों की आस्था न थी; तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि वे उसके प्रति सर्वथा उदासीन थे। यदि ईत्सिंग द्वारा उल्लिखित अनुश्रुति पर विश्वास किया जाय (अविश्वास करने का कोई कारण नहीं जान पड़ता) तो कहना होगा कि गुप्त-वंश के आदि पुरुष श्रीगुप्त ने मृगशिखापत्तन (सारनाथ) में एक बौद्ध-मन्दिर बनवाया था।[२] अन्य चीनी यात्रियों के कथनानुसार सिंहल-नरेश मेघवर्ण के अनुरोध पर समुद्रगुप्त ने बोध-गया में बौद्ध-विहार बनाने की अनुमति प्रदान की थी।[३] युवान-च्वांग के कथन से ज्ञात होता है कि स्कन्दगुप्त (शक्रादित्य) आर उसके उत्तराधिकारियों ने नालन्द में संघाराम बनवाये थे।[४] इस प्रकार स्पष्ट है कि बौद्ध-धर्म को गुप्त-सम्राटों का यदि प्रत्यक्ष नहीं तो अप्रत्यक्ष संरक्षण अवश्य प्राप्त था।

बौद्ध-धर्म के प्रति जन-साधारण के भाव के प्रमाण तत्कालीन अभिलेखों से प्राप्त होते हैं। यद्यपि इन अभिलेखों की संख्या अधिक नहा है तथापि वे बौद्ध-धर्म के केन्द्रों का पर्याप्त संकेत प्रस्तुत करते हैं और लोक-भावना पर प्रकाश डालते हैं। इन अभि-लेखों से बौद्ध केन्द्रों के रूप में मथुरा, साँची, बोधगया, कुशीनगर आदि का परिचय मिलता है। द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय के एक अभिलेख से ज्ञात होता है काकनादबोट में एक महाविहार था। उस विहार को चन्द्रगुप्त के अम्रकारदेव नामक अधिकारी ने पाँच भिक्षुओं के भोजन और रत्नगृह में दीप-प्रज्वलन की नियमित व्यवस्था के लिए

---

१. विस्तृत परिचय के लिए देखिये—कुमारस्वामी, बुद्ध एण्ड द गास्पल आफ बुद्धिज्म; एन० दत्त, आस्पेक्ट्स ऑफ महायान बुद्धिज्म एण्ड इटस रिलेशन टू हीनयान; ए० बी० कीथ, बुद्धिस्ट फिलासफी इन इण्डिया एण्ड सीलोन; रीस डेविड्स, बुद्धिज्म, इट्स हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर; जे० ताकाकुसु, एसेन्शियल्स ऑफ बुद्धिस्ट फिलासफी।

२. पीछे, पृ० १५५, २२७।

३. पीछे, पृ० १४९, १४०।

४. पीछे, पृ० १५४-५५।

२५ दीनार दान किये थे।[१] वहीं से प्राप्त गुप्त संवत् १३१ के एक दूसरे अभिलेख में उपासिका हरिस्वामिनी के दान का उल्लेख है।[२] वहीं के एक स्तम्भ पर विहार-स्वामिन् नामक व्यक्ति द्वारा उस स्तम्भ के दान दिये जाने का उल्लेख है।[३] इस स्तम्भ पर तिथि का अंकन नहीं है पर लिपि के आधार पर वह पाँचवीं शती का अनुमान किया जाता है।

इसी प्रकार मथुरा से प्राप्त अभिलेखों से वहाँ बौद्धों के मन्दिर होने पता लगता है। ४५४-५५ ई० के एक अभिलेख में विहारस्वामिनी द्वारा एक मूर्ति स्थापित किये जाने का उल्लेख है।[४] एक अन्य अभिलेख में जयभट्टा नाम्नी उपासिका द्वारा यशोविहार नामक विहार में प्रभामण्डलयुक्त बुद्ध की खड़ी मूर्ति स्थापित करने का उल्लेख है।[५] कसिया (कुशीनगर) में, जहाँ बुद्ध ने महानिर्वाण प्राप्त किया था, इस काल में एक महाविहार था। उस विहार में स्वामी हरिबल ने बुद्ध की महापरिनिर्वाण मुद्रा में एक विशाल मूर्ति की स्थापना की थी।[६] देवरिया (अरैल, इलहाबाद) से प्राप्त एक अभिलेख में बोधिवर्मन नामक भिक्षु द्वारा बुद्ध मूर्ति की स्थापना की चर्चा है।[७] सारनाथ में तो गुप्त काल में एक अत्यन्त विस्तृत महाविहार था, यह वहाँ के ध्वंसावशेषों से प्रकट है। इन ध्वंसावशेषों में तत्कालीन बुद्ध मूर्तियाँ बड़ी संख्या में प्राप्त हुई हैं। वहाँ से अनेक अभिलेख भी प्राप्त हुए हैं जिनमें इस काल में अनेक लोगों द्वारा बुद्ध-प्रतिमा प्रतिष्ठित किये जाने का उल्लेख है।[८] इस काल में बोधगया में महानाम[९], धर्मगुप्त और दंष्ट्रसेन[१०] द्वारा बुद्धमूर्तियों के स्थापित किये जाने की बात वहाँ से प्राप्त अभिलेखों से ज्ञात होती है। बौद्ध धर्म का प्रभाव प्रमुख केन्द्रों तक ही सीमित रहा हो, ऐसी बात न थी। मानकुँवर से प्राप्त एक बुद्धमूर्ति से[११] प्रकट होता है कि अन्यत्र भी बौद्ध-धर्म की मान्यता बनी हुई थी। वहाँ से जो मूर्ति मिली है, उसे भिक्षु बुद्धमित्र ने स्थापित किया था। कुछ लोगों का अनुमान है कि ये बुद्धमित्र वसुबन्धु के गुरु थे।[१२]

चीनी यात्री फाह्यान ने, जो द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय भारत आये थे, बौद्ध धर्म की तत्कालीन अवस्था का उल्लेख किया है। उनके कथनानुसार मथुरा में तीन हजार

१. का० इ० इ० ३, पृ० ३२-३३।
२. वही, पृ० २६२।
३. वही, पृ० २८०।
४. वही, पृ० २६३।
५. वही, पृ० २७४।
६. वही, पृ० २७३।
७. वही, पृ० २७२।
८. वही, पृ० २८१ : आ० स० इ०, ए० रि०, १९१४-१९१५, पृ० १२४-२५।
९. वही, पृ० २७८-७९।
१०. वही, पृ० १८२।
११. वही, पृ० ४७।
१२. के० बी० पाठक, इ० ए०, १९१२, पृ० २४४; एलन, क० क्वा० गु० सू०, भूमिका, पृ० ४२।

भिक्षु निवास करते थे। संकास्य (आधुनिक संकीसा, जिला फतहपुर) में उन्होंने हीनयान और महायान सम्प्रदायों के एक हजार भिक्षुओं को देखा था। कान्यकुब्ज में उन्हें हीनयानियों से भरे दो विहार मिले थे। पाटलिपुत्र में उन्हें एक महायानी और दूसरा हीनयानी विहार देखने को मिला था। वाराणसी में भी उन्हें बौद्ध भिक्षु दिखाई पड़े थे। इस प्रकार गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत बौद्ध धर्म का विस्तृत प्रसार-प्रचार उन्हें देखने को मिला था। किन्तु साथ ही इस काल में साकेत, श्रावस्ती, कोसल, कपिलवस्तु आदि स्थानों का महत्त्व बौद्ध-धर्म की दृष्टि से घट गया था। फाह्यान को वहाँ के विहार उजाड़ दिखाई पड़े थे।[१]

वैष्णव धर्म—जैन और बौद्ध धर्म व्यक्ति विशेष के चिन्तन और मनन के परिणाम थे और उनका उद्भव वैदिक धर्म की हिंसामयी कर्मकाण्डयुक्त स्वरूप की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ था और उसमें त्याग और तपस्या पर विशेष बल दिया गया था। उन्हीं की भाँति यद्यपि वैष्णव-धर्म भी अहिंसावादी है पर उसका विकास उन धर्मों की तरह विद्रोहात्मक रूप में न होकर समन्वयात्मक रूप में हुआ। सामाजिक जीवन और सामयिक आवश्यकताओं के अनुसार वैदिक-कालीन धार्मिक विश्वासों और कर्मकाण्डों के हिंसात्मक रूप के प्रति लोगों की आस्था घटी और लोक-धर्म ने धीरे-धीरे अपना रूप परिवर्तन करना आरम्भ किया। इस रूप परिवर्तन के क्रम में वैदिक धर्म और कर्मकाण्ड से सान्निध्य बनाये रखते हुए भी लोग अपने विश्वासों को नये साँचे में ढालते गये और कालान्तर में जन-विश्वासों ने एक सर्वथा नया रूप लिया जिसमें इष्टदेव की कल्पना प्रमुख रूप से उभर कर सामने आयी और लोगों ने इष्टदेव की भक्ति और उपासना में ही मुक्ति का मार्ग माना। धर्म के इस नये रूप ने वैष्णव-धर्म का नाम ग्रहण किया।

वैष्णव-धर्म के विकास के सम्बन्ध में अब तक जो शोध और अनुसन्धान हुए हैं, उनसे प्रकट होता है कि इस धर्म के मूल में नारायण नामक एक अवैदिक देवता हैं, जिनका कालक्रम में वैदिक देवताओं के बीच प्रवेश हो गया था और शतपथ ब्राह्मण के समय तक वैदिक देवताओं के बीच उन्होंने प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया था। उनकी कल्पना आदि पुरुष के रूप में की गयी थी और उन्हें भगवत की संज्ञा दी गयी थी। इसी नाम पर उनका सम्प्रदाय भागवत कहा गया। उनके सम्मान में पंचरात्र सत्र किया जाता था जिसमें पुरुषमेध होता था। पीछे इस पुरुषमेध ने लाक्षणिक रूप धारण कर लिया। तदनन्तर किसी समय उनके धर्म में विष्णु नामक एक दूसरे वैदिक देवता भी समाविष्ट हुए। यद्यपि विष्णु का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है पर उनका उस समय कोई विशेष महत्त्व न था। वे इन्द्र के सहायक मात्र समझे जाते थे और देवताओं में उनका स्थान बहुत नीचे था। पर पीछे लोक-विश्वास में उन्हें काफी मान-सम्मान प्राप्त हो गया था। नारायण के साथ विष्णु का सान्निध्य किस प्रकार हुआ और दोनों

१. लेगे, ए रेकर्ड ऑव बुद्धिस्टिक किंगडम्स, पृ० ३६-९६।

कब और किस प्रकार एकाकार हुए कहना कठिन है। अनुमान है कि दोनों देवताओं के रूप और कार्यों में लोक-दृष्टि से काफी साम्य रहा होगा जिसने दोनों को निकट लाकर मिला दिया होगा। फिर नारायण-विष्णु के धर्म में एक और लोक-आस्था की धारा आकर मिली जिसमें वासुदेव की उपासना प्रचलित थी। नारायण और विष्णु की तरह वासुदेव वैदिक देवता न थे वरन् वे मात्र एक वीर थे जिनकी पूजा मथुरा के आसपास रहने वाले वृष्णि लोगों के बीच प्रचलित थी। वासुदेव का जन्म वृष्णि लोगों के सात्वत् नामक समाज में वसुदेव के घर देवकी के गर्भ से हुआ था। उनकी उपासना में अनेक सूत्रों से आये हुए तत्त्व समाहित थे जिसके कारण कदाचित् वह अधिक लोक-प्रचलित था। पाणिनि के अष्टाध्यायी में स्पष्ट रूप से वासुदेव के उपासकों का उल्लेख वासुदेवक के रूप में हुआ है। वासुदेव के समान ही उनके बड़े भाई संकर्षण-बलराम की उपासना भी लोक प्रचलित थी और उनकी उपासना आरम्भ में वासुदेव की उपासना से स्वतन्त्र थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उनके उपासकों की चर्चा है।[1] तदनन्तर वासुदेव और संकर्षण दोनों की सम्मिलित उपासना प्रचलित हुई ऐसा घोसुण्डी अभिलेख से प्रतीत होता है।[2]

संकर्षण और वासुदेव के साथ एक देवी की संयुक्त उपासना भी प्रचलित थी। यह अनेक कुशाणकालीन प्रतिमाओं और गुप्त-कालीन विष्णुधर्मोत्तर पुराण और वराह-मिहिर कृत बृहत्सहिता से ज्ञात होता है। इस देवी का नाम था एकानंशा और वे वासुदेव कृष्ण की धातृमाता यशोदा की पुत्री कही जाती हैं जिन्हें वसुदेव कृष्ण के बदले ले गये थे और ले जाकर कंस को दे दिया था। उनकी उपासना वृष्णियों में कृष्ण की रक्षिका होने के कारण होती थी। संकर्षण-एकानंशा-वासुदेव की उपासना बहुत पीछे तक दसवीं-ग्यारहवीं शती तक होती रही यह अनेक प्रतिमाओं से ज्ञात होता है और उनकी उपासना आज भी जगन्नाथपुरी में जीवन्त है पर उसकी उपासना में एकानंशा ने सुभद्रा का रूप ले लिया है। एकानंशा का रूप समय-समय पर बदलता रहा और वे परवर्ती काल में लक्ष्मी मानी और समझी जाने लगी थीं।[3]

भाइ-भगिनी त्रयी की इस उपासना के अतिरिक्त वृष्णियों के पंचवीर—संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न, शाम्ब और अनिरुद्ध की भी एक सामूहिक उपासना प्रचलित थी। मथुरा में प्रथम शताब्दी में महाक्षत्रप शोडास के शासन काल में तोषा नाम्नी उपासिका ने पंचवीरों की प्रतिमाएँ स्थापित की थी।[4] बनर्जी (ज० ना०) का कहना है कि पंचवीरों में से प्रत्येक की स्वतन्त्र उपासना भी होती थी।[5] उन्होंने मथुरा क्षेत्र से प्राप्त कतिपय मूर्तियों को शाम्ब की मूर्ति होने का अनुमान किया है और बेसनगर और

---

१. अर्थशास्त्र १३।३।६७।

२. ए० इ०, १६, पृ० २७; २२, पृ० २०३।

३. विस्तृत परिचय के लिए देखिये—ज० बि० रि० सो०, ५४, पृ० २२९-४४।

४. ए० इ०, २४, पृ० १९४-२००।

५. प्रो० इ० हि० का०, ७, पृ० ८२-९०।

पवाया (पद्मावती) से प्राप्त गरुड़ध्वज, तालध्वज और मकरध्वज को क्रमशः वासुदेव, संकर्षण और प्रद्युम्न के ध्वज और मन्दिर होने का प्रमाण माना है। उनकी कल्पना में सार हो सकता है क्योंकि विष्णुधर्मोत्तर पुराण में इन पाँचों वीरों की मूर्तियों के निर्माण का विधान है। वराहमिहिर के बृहत्संहिता में अनिरुद्ध को छोड़ कर शेष चार वीरों की मूर्तियों का निर्माण विधान है। इनसे अनुमान किया जा सकता है कि इन वीरों की पूजा गुप्त-काल में भी होती रही होगी। पर इसका अभी तक कोई पुरातात्विक प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

जब वासुदेव नारायण-विष्णु धर्म में समाहित हुए तो वीरों के रूप में पूजित उनके इन सम्बन्धियों का भी इस धर्म में समावेश हुआ पर उनके रूपों में अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए, उनमें मुख्य है व्यूह के रूप में कल्पना। व्यूहवाद के अनुसार भगवत वासुदेव ने अपने पररूप में अपने में से व्यूह संकर्षण और प्रकृति की सर्जना की। संकर्षण और प्रकृति के संयोग से व्यूह प्रद्युम्न और मानस उत्पन्न हुए। और उन दोनों ने संयोग से व्यूह अनिरुद्ध और अहंकार की उत्पत्ति हुई। व्यूह अनिरुद्ध और अहंकार से महाभूत और ब्रह्म की उत्पत्ति हुई जिसने पृथ्वी और उसके अन्तर्गत सारी वस्तुओं की रचना की। वासुदेव में छ आदर्श गुण—ज्ञान, बल, वीर्य, ऐश्वर्य, शक्ति और तेज है। उनमें से केवल दो गुण उनके इन तीनों व्यूहों में मिलते हैं। इस प्रकार इस नये रूप में इन वीरों की विष्णु के गुणों के अंग के रूप में कल्पना की गयी। किन्तु यह व्यूहवाद किस सीमा तक लोक प्रचलित था यह नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में अभी तक कोई गुप्तकालीन पुरातात्विक प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

नारायण-विष्णु के उपासकों के लिए पूर्ववर्ती साहित्य और अभिलेखों में भागवत, पंचरात्र, एकान्तिन और सात्वत नामों का उल्लेख मिलता है। इनसे अनुमान होता है कि तीनों देवताओं के एकाकार होमे के बावजूद लोक मानस में प्रचलित आस्थाओं के अनुसार उपासकों के बीच भेद बना हुआ था। सात्वत वृष्णियों के उस समाज का नाम था जिसमें कृष्ण उत्पन्न हुए थे और जिनमें मूल रूप से उनकी उपासना प्रचलित थी। इस कारण काल-क्रम मे वासुदेव के उपासक सात्वत कहलाते थे। एकान्तिक शब्द का प्रयोग नारायण-भक्तों द्वारा वासुदेव-उपासकों से, जो वासुदेव और उनके परिवार के अन्य लोगों की उपासना करते थे, अपनी भिन्नता प्रकट करने के लिए किया गया था। एकान्तिक अपने को सात्वतों अर्थात् वासुदेव के उपासकों से श्रेष्ठ मानते थे। पंचरात्र और भागवत नामों का सम्बन्ध भी नारायण के मानने वालों से था, और वे इस बात के द्योतक हैं कि नारायण के उपासकों में दो वर्ग थे। पहले का सम्बन्ध उनके पंचरात्र सत्र से और दूसरे का सम्बन्ध उनके भागवत रूप से था। पंचरात्र के मानने वालों पर तन्त्र का प्रभाव अधिक था और भागवतों में भक्ति की प्रधानता थी। किन्तु कालान्तर में ऐसा माना जाने लगा कि नारायण के उपासक पंचरात्र और वासुदेव के उपासक भागवत हैं अर्थात् नारायण और वासुदेव का भक्ति-प्रधान रूप समन्वित हो गया। उसके बाद जब नारायण का प्रभाव जन-मानस से

मिट गया तो इन दोनों नामों के अर्थ भी बदल गये। व्यूहरूप अर्थात् वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के उपासक पंचरात्र और वासुदेव के उपासक भागवत कहलाये।

इन सबके बीच विष्णु के उपासकों अर्थात् वैष्णवों की कोई चर्चा नहीं मिलती। महाभारत में केवल तीन स्थलों पर वैष्णव शब्द का प्रयोग हुआ है और जिन अशों में उसका प्रयोग हुआ है वे बहुत पीछे के कहे जाते हैं। इस शब्द का प्रमुख रूप से उल्लेख पुराणों में मिलता है, जिनकी रचना गुप्त काल में होने का अनुमान किया जाता है। पर किसी गुप्तकालीन अभिलेख में वैष्णव शब्द का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। गुप्त-सम्राट् अपने को परम-भागवत कहते हैं। वैष्णव शब्द का सर्व प्रथम प्रामाणिक उल्लेख पश्चिमी भारत के त्रैकूटकों के सिक्कों पर मिलता है। वे अपने को परमवैष्णव कहते हैं। इससे सहज यह निष्कर्ष निकलता है कि वैष्णव शब्द का प्रयोग बहुत पीछे पाँचवीं-छठी शती ई० में हुआ होगा। वस्तु स्थिति जो भी हो, इतना स्पष्ट है कि उस धर्म में जो पीछे चलकर वैष्णव धर्म के नाम से प्रख्यात हुआ, गुप्तकाल के आरम्भ तक और सम्भवतः गुप्त काल में भी आन्तरिक एकता की कल्पना होते हुए भी बाह्य रूप में उसके माननेवालों के बीच विभिन्न आधारों पर भेद थे।

गुप्त-काल के आस-पास, कदाचित् उससे कुछ पूर्व अथवा उसी काल में नारायण-विष्णु-वासुदेव समन्वित इस धर्म म एक नये तत्त्व—अवतारवाद का प्रवेश हुआ, जो कदाचित् बौद्ध धर्म के बोधिसत्व के सिद्धान्त का प्रभाव था। अब माना यह जाने लगा कि समय-समय पर जब धर्म का ह्रास होता है और अधर्म बढ़ता है तब भगवान् विष्णु धर्म की पुनर्स्थापना के लिए अवतार लेते हैं। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन विस्तार के साथ भगवद्गीता में किया गया है। अवतारवाद की इस कल्पना में आरम्भ में इस बात का प्रयत्न परिलक्षित होता है कि लोक-आस्था के रूप में उस समय जो अन्य देवता पूजित होते रहे, उनको भी इस धर्म के अन्तर्गत समेट लिया जाय। पीछे अवतारों के रूप में विशिष्ट पुरुषों की भी गणना की जाने लगी। आरम्भ में विष्णु के केवल चार अवतारों की कल्पना की गयी और उसके अन्तर्गत वराह, नृसिंह, वामन और मानुष अर्थात् वासुदेव कृष्ण को स्थान मिला। फिर किसी समय अवतारों की संख्या बढ़कर चार से छ हो गयी और उसके अन्तर्गत राम भार्गव (परशुराम) और राम दाशरथि सम्मिलित किये गये। तदनन्तर अवतारों की एक तीसरी सूची प्रस्तुत हुई जिसमें दस अवतारों की कल्पना की गया। दस अवतारों की इस सूची के सम्बन्ध में काफी मतभेद जान पड़ता है। महाभारत में दी गयो सूची में उक्त के नामों के अतिरिक्त शेष चार नाम हैं—हंस, कूर्म, मत्स्य और कल्कि। मत्स्यपुराण में दशावतारों में नारायण, नृसिंह और वामन को देव अवतार की संज्ञा दी गयी है और शेष सात को मानव अवतार कहा गया है और उनकी नामावली इस प्रकार है—दत्तात्रेय, मानधातृ, राम जामदग्नि ('परशुराम), रामदाशरथि, वेदव्यास, बुद्ध और कल्कि। वायुपुराण में भी दशावतारों की यही सूची है; किन्तु उसमें बुद्ध का उल्लेख न होकर कृष्ण का

नाम है। हरिवंश पुराण में दशावतारों की जो सूची है उसमें मत्स्य, कूर्म, राम और बुद्ध के स्थान पर दत्त, पद्म, केशव और व्यास का नाम है। भागवत पुराण में अवतारों की तीन सूचियाँ मिलती हैं। एक सूची में अवतारों को अनन्त बताते हुए २४ नाम दिये गये हैं। अहिर्बुध्न्य संहिता में भगवान् के ३९ विभवों (अवतार) का उल्लेख है।[१]

गुप्त-काल में मूल सूची के चार अवतारों से लोग भली-भाँति परिचित थे और उनकी उपासना भी प्रचलित थी ऐसा तत्कालीन पुरातात्त्विक सूत्रों से ज्ञात होता है। इस काल के वराह, नृसिंह और वामन की मूर्तियाँ और कृष्णचरित सम्बन्धी अनेक फलक प्राप्त हुए हैं। राम भार्गव (जामदग्नि) अर्थात् परशुराम की उपासना दूसरी शती ई० में होती थी ऐसा नासिक से प्राप्त उषवदात के अभिलेख से अनुमान किया जाता है, उसमें रामतीर्थ का उल्लेख है[२] जिसे महाभारत में राम जामदग्नि का निवासस्थान कहा गया है।[३] पर इससे उनके अवतार रूप का कोई संकेत नहीं मिलता। गुप्तकालीन ऐसी कोई सामग्री अभी उपलब्ध नहीं है जिससे उनके किसी भी रूप (अवतार अथवा अन्य) में पूजित होने की बात कही जा सके। रामदाशरथि का उल्लेख कालिदास ने अपने रघुवंश में विष्णु के साथ तादात्म्य उपस्थित करते हुए किया है। उसमें कहा है कि रावण वध के लिए विष्णु ने दशरथ के पुत्र के रूप में जन्म लिया था।[४] इससे स्पष्ट है कि रामदाशरथि की विष्णु के अवतार के रूप में कल्पना प्रतिष्ठित हो चुकी थी। गुप्त-काल में रामचरित का प्रचार हो चुका था, यह देवगढ़ (झांसी) के मन्दिर पर अंकित शिला फलकों[५] तथा अपसढ़ (गया) से प्राप्त चूना-फलकों (स्टक्को)[६] तथा चौसा से मिले मृण्फलक[७] से प्रकट है। उनकी उपासना अवतार अथवा अन्य रूप में प्रचलित हो गयी थी, इसका अनुमान वराहमिहिर के बृहत्संहिता से किया जा सकता है। उसमें राम की मूर्ति के निर्माण का विधान है। इसके अतिरिक्त गढ़वा से प्राप्त एक अभिलेख में चित्रकूटस्वामिन् नाम से देवता के उल्लेख[८] से भी यह भासित होता है। वाकाटक साम्राज्ञी प्रभावती गुप्ता रामगिरिस्वामिन की भक्त थीं।[९] रामगिरिस्वामिन से तात्पर्य राम से ही है ऐसा कालिदास के मेघदूत के आधार पर अनुमान किया जा सकता है। उसमें रामगिरि पर रघुपति-पद के होने का उल्लेख है।[१०]

---

१. विस्तृत परिचय के लिए देखिये—सुवीरा जायसवाल, द ओरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट ऑव वैष्णविज्म।
२. ए० इ०, ८, पृ० ७८, अ० पंक्ति ३।
३. महाभारत, ३।८५।४२।
४. रघुवंश, सर्ग १०।
५. वासुदेवशरण अग्रवाल, स्टडीज इन इण्डियन आर्ट, पृ० २२१-२२।
६. ज० बि० रि० सो०, ५४, पृ० २१६-२१८, फलक १७-२२।
७. पटना म्यूजियम कैटलाग ऑव एण्टीक्वीटीज, पृ० २९१, फलक ४८।
८. का० इ० इ०, ३, पृ० ६६।
९. ज० प्रो० ए० सो० बं०, २० (न० सी०), पृ० ५८, पंक्ति १।
१०. मेघदूत १।१२।

दशावतार की कल्पना गुप्तकाल में प्रचलित थी और यदि प्रचलित थी तो उसका आधार कौन-सी सूची थी और उसमें अन्य कौन से छ अवतार सम्मिलित थे, यह जानने का कोई साधन नहीं है। बनर्जी (रा० दा०) ने कामा (भरतपुर) से एक गुप्त-कालीन खण्डित फलक मिलने और उस पर मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, और वामन अवतारों के अंकित होने की बात कही और अनुपलब्ध अंश में अन्य अवतारों के अंकित होने का अनुमान किया है।[1] इस फलक का अब तक समुचित अध्ययन और प्रकाशन नहीं हुआ है; अतः इसके आधार पर दशावतारों के गुप्तकाल के प्रचार की बात कह सकना कठिन है। देवगढ़ के गुप्तकालीन मन्दिर को लोगों ने दशावतार-मन्दिर के नाम से अभिहित किया है। किन्तु उसका आधार क्या है, इसकी जानकारी हमें नहीं है। यदि वह किसी समसामयिक अभिलेख के आधार पर पुकारा जाता है तो गुप्तकाल में दशावतार के प्रचार की सम्भावना प्रकट की जा सकती है किन्तु दशावतारों का निश्चय करना रह ही जायेगा।

गुप्त काल में विष्णु-उपासना की परिधि में लक्ष्मी नामक देवी का भी समावेश किया गया। इस काल में लक्ष्मी की स्वतन्त्र उपासना पूर्ण रूप में प्रचलित थी। उनका आविर्भाव वैदिक काल में ही हो चुका था। उस समय श्री और लक्ष्मी नामक दो देवियों की कल्पना की गयी थी। पहले कुछ काल तक तो उन दोनों का अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तिव बना रहा। पीछे वे एक देवी के रूप में मानी जाने लगीं। उनकी प्रतिष्ठा और महत्त्व बौद्ध-धर्मावलम्बियों के बीच भी था। सिरि-मा-देवता के रूप में भरहुत की वेदिका पर उनका अंकन प्राप्त हुआ है। यों तो उनके मूल में लोगों ने नाना प्रकार की भावनाओं की कल्पना की है पर वे मुख्यतः धन, ऐश्वर्य और समृद्धि की देवी मानी जाती हैं। उनका यह रूप गुप्तकाल तक निखर आया था और इस रूप में वे लोगों में बहुत ही प्रतिष्ठित थीं। और उनके इस रूप की प्रतिष्ठा आज भी कम नहीं हुई है। अतः स्वाभाविक था कि लोगों के मन में उन्हें वैष्णव धर्म में आत्मसात् करने की भावना का उदय हो। पर नारी होने के कारण नारायण-विष्णु-वासुदेव में न तो समाहित की जा सकती थीं और न उन्हें अवतार के रूप में ग्रहण किया जा सकता था। अतः लोगों ने उनके विष्णु-पत्नी होने की कल्पना की और उन्हें इसी रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा भी की। विष्णु के साथ लक्ष्मी का सर्वप्रथम उल्लेख स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख में मिलता है।[2] तदनन्तर इस प्रकार का उल्लेख मिहिरकुल के ग्वालियर अभिलेख में हुआ है।[3] कालिदास ने भी उनकी चर्चा विष्णु-पत्नी के रूप में की है।[4]

इस प्रकार वैष्णव-धर्म का जो रूप गुप्तकाल में मिलता है वह नाना लोक-आस्थाओं का समन्वय है और उसमें अनेक देवी-देवता इस प्रकार एक साथ उपस्थित

---

१. द एज ऑव इम्पीरियल गुप्ताज, पृ० १२१।

२. पीछे, पृ० २९, अ० पंक्ति १।

३. का० इ० इ०, ३, पृ० १६२, अ० पंक्ति ८।

४. रघुवंश १०।७-१०।

किये गये कि वे विष्णु के साथ एकाकार होकर भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये हुए थे। अन्तर इतना ही हुआ था कि लोक-भावना ने उनके प्रति एक हलका-सा मोड़ ले लिया था। जो किसी एक देवता विशेष को मानता था वह अब सबके प्रति आस्था रखने लगा। उसके इस दृष्टिकोण का आभास विष्णु के लिए अभिलेखों में प्रयुक्त आत्म-भू[1], चक्रभृत[2], चक्रधर[3], चक्रपाणि[4], चित्रकूटस्वामी[5], गदाधर[6], गोविन्द[7], जनार्दन[8], मुरद्विष[9], माधव[10], मधुसूदन[11], नारायण[12], वराहावतार[13], श्वेतवराहस्वामी[14], दामोदर[15], शारंगपाणि[16], शारंगिण[17], वासुदेव[18] आदि नामों से होता है। जनमानस में विष्णु के प्रति जिस भाव ने गुप्तकाल में रूप धारण किया था, उसका परिचय कालिदास ने सहज भाव से अपने रघुवंश में इन शब्दों में दिया है—'उन तक न तो वाण की पहुँच है और न मन की। वे विश्व के स्रष्टा, पालक और संहारक तीनों रूप धारण करते हैं। जिस प्रकार वृष्टि का जल मूलतः एक रस है पर विभिन्न भूमि के सम्पर्क से विभिन्न स्वादयुक्त हो जाता है, वैसे ही समस्त विकारों से दूर, सत्त्व, रज और तम के गुणों से मिलकर वे विभिन्न रूप धारण कर लेते हैं। स्वयं अमाप्य हैं पर सारे लोकों को उन्होंने माप डाला है। स्वयं इच्छाहीन हैं पर सबकी कामनाओं को पूरा करनेवाले हैं; स्वयं अजेय हैं पर उन्होंने सम्पूर्ण संसार को जय कर लिया है। स्वयं अगोचर हैं पर सारे दृश्य जगत् के कारण है। वे हृदय में निवास करते हुए भी दूर हैं; निष्काम होते हुए भी तपःशील हैं; पुराण होते हुए भी नाशरहित हैं; सर्वज्ञ होते हुए भी अज्ञात हैं। सबके आदि के श्रोत हैं पर स्वयं स्वयंभू है। सामवेद के सातो प्रकार के गीतों में उन्हीं

१. का० इ० इ०, ३, पृ० ५१।
२. वही, पृ० ६२, पं० २७।
३. वही, पृ० २२०, पं० २।
४. वही, पृ० २३७, पं० १३; पृ० २४५, पं० १२।
५. वही, पृ० २६८, पं० ३।
६. वही, पृ० ५७, पं० २७।
७. वही पृ० ६१, पं० २५।
८. वही, पृ० ८९, पं० ९; पृ० १७९, पं० ६१।
९. वही, पृ० २८६, पं० ११।
१०. वही, पृ० २०३, पं० १२।
११. वही, पृ० ५७, पं० २१।
१२. वही, पृ० १६०, पं० ७।
१३. वही, पृ० १६०, पं० ७।
१४. ए० इ०, १५, पृ० १३८।
१५. का० इ० इ०, ३, पृ० २०३, पं० ८।
१६. वही, पृ० १४६, पं० २; पृ० १७६, पं० ३२।
१७. वही, पृ० ५४ पं० १७; पृ० ८३, पं० २२।
१८. वही, पृ० ११४, पं० ३; पृ० २८५, पं० ४।

के गुणों का गान है। वे ही सातो समुद्रों के जल में निवास करते हैं; सातो प्रकार का अग्नि उनका मुख है; सातो लोक उनके आश्रित हैं; अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष उनके चार मुखों से निकले हैं। चारो युग चारो वर्ण उनका ही उत्पन्न किया हुआ है। अजन्मा होते हुए भी वे जन्म लेते हैं। कर्म रहित होकर भी वे शत्रुओं का संहार करते हैं। योगनिद्रा में निद्रित होते हुए भी जागरूक हैं। परमानन्द के सभी मार्ग यहीं आकर मिल जाते हैं उनके लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं है। दया दर्शाने के लिए वे अवतार लेते हैं और मनुष्य के सदृश आचरण करते हैं। उनकी महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता, योगी लोग प्राणायाम आदि के द्वारा ज्योतिस्वरूप आपकी ही खोज करते हैं। जो योगी सदा उनका ध्यान करते हैं, जिन्होंने सब कर्म उनको समर्पित पर दिया है और जो राग-द्वेष से परे हैं, उनको वे जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा देते हैं।[1]

जिस किसी भी भारतीय अथवा विदेशी विद्वान् ने गुप्तकालीन इतिहास पर कुछ लिखा है, उसने गुप्त-सम्राटों के वैष्णव होने की बात कही है और यह अनुमान प्रकट किया है कि वैष्णव-धर्म की उन्नति और विकास गुप्त-सम्राटों की छत्र-छाया में हुआ। गुप्तों के वैष्णव होने का अनुमान प्रायः लोग निम्नलिखित बातों के आधार पर किया करते हैं:

(१) गुप्त सिक्कों और अभिलेखों पर अनेक सम्राटों के लिए परमभागवत शब्द का प्रयोग हुआ है।

(२) उनके सिक्कों पर लक्ष्मी का अंकन हुआ है जो विष्णु की पत्नी हैं।

(३) राज-लांछन के रूप में गुप्त-सम्राटों ने गरुड़ को अपनाया था, जो विष्णु के वाहन के रूप में जाना और पहचाना जाता है।

किन्तु इन तीनों ही बातों में से किसी को भी गुप्तों के वैष्णव होने का अकाट्य प्रमाण नहीं माना जा सकता। यह सत्य है कि गुप्तकालीन अनेक अभिलेखों में, जिनमें विष्णु की चर्चा है, भागवत शब्द का प्रयोग इस प्रकार हुआ है कि उनसे यह कहा जा सकता है कि वहाँ भागवत का तात्पर्य वैष्णव से है; फिर भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि भागवत शब्द का व्यवहार मात्र वैष्णव-मतावलम्बियों के लिए किया जाता था। दीक्षितार (व० र० रा०) ने समुचित रूप से इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि भागवत शब्द के मूल में जो भगवन शब्द है उसका प्रयोग मात्र विष्णु के लिए न होकर विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा पूजित देवताओं के लिए समान रूप से होता था। दृष्टान्त-स्वरूप उन्होंने देवी-भागवत का उल्लेख किया है।[2] दीक्षितार की इस बात की पुष्टि के निमित्त पतंजलि के महाभाष्य मे शिव-भागवतों के उल्लेख और यौधेयों के सिक्के पर ब्रह्मण्य (कार्तिकेय) के लिए प्रयुक्त भागवत की ओर

---

१. रघुवंश, १०।१५-३१।
२. गुप्त पॉलिटी, पृ० २९२।

ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है किन्तु जायसवाल (सुवीरा) ने[1] इससे असहमत होते हुए, इस बात को सिद्ध करने के लिए कि भागवत शब्द गुप्तकाल में वैष्णवों के लिए रूढ हो चुका था, वराहमिहिर के इस कथन की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि "भागवतों को विष्णु की, मगों को सूर्य की और भस्मधारी द्विजों को शम्भु की मूर्ति स्थापित करने का कार्य सौंपना चाहिए।"[2] किन्तु वराहमिहिर के इस कथन के बावजूद उनसे सहमत होना कठिन है। यह स्मरणीय है कि वराहमिहिर का समय छठी शती ई० आँका जाता है जो गुप्तों का उत्तरवर्ती काल है। उसके आधार पर निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि पूर्ववर्ती चौथी और पाँचवीं शती ई० में भी यह बात इसी रूप में मान्य थी। द्वितीय चन्द्रगुप्त के मथुरा अभिलेख में शैवाचार्यों के लिए स्पष्ट रूप से भगवत शब्द का प्रयोग हुआ है;[3] जो इस बात का द्योतक है कि चौथी शती ई० में इस शब्द का प्रयोग शैवों के लिए भी होता था। यही बात वलभी के मैत्रकों के, जिनका समय पाँचवीं शती ई० के उत्तरार्ध से आरम्भ होता है, अभिलेखों से प्रकट होता है। उस वंश के ध्रुवसेन प्रथम को उसके अभिलेखों में परम-भागवत कहा गया है किन्तु उस वंश के उसके पूर्ववर्ती और परवर्ती सभी शासक परम माहेश्वर कहे गये हैं। भारतीय समाज का जो परिवेश रहा है उसमें यह कल्पना नहीं की जा सकती कि कोई परम्परागत अपने परिवार के धार्मिक विश्वास को एकदम छोड़कर अपने लिए कोई नया धर्म ग्रहण करेगा और वह उसी तक सीमित रहेगा, उसके उत्तरवर्ती पुनः पूर्वधर्म की ओर झुक जायेंगे। अतः इसका एकमात्र अर्थ यही हो सकता है कि प्रथम ध्रुवसेन भी अपने पूर्ववर्ती और परवर्ती लोगों के समान ही शैव थे। परम-भागवत शब्द का प्रयोग उनके लिए उसी अर्थ में किया गया है। इन तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए यह मानना ही होगा कि भागवत शब्द का व्यवहार गुप्तकाल में वैष्णवों के लिए रूढ़ नहीं हुआ था। इस प्रकार परमभागवत विरुद मात्र से यह नहीं कहा जा सकता कि गुप्त वैष्णव ही थे।

इसी प्रकार सिक्कों पर लक्ष्मी के अंकन किये जाने मात्र से भी गुप्तों को वैष्णव नहीं कहा जा सकता। सिक्कों पर लक्ष्मी का अंकन विष्णु-पत्नी के रूप में हुआ है इसका कोई संकेत सिक्कों से नहीं मिलता। गुप्तकाल से बहुत पहले से वैभव और ऐश्वर्य की देवी के रूप में लक्ष्मी का अपना स्व-अस्तित्व रहा है और इस रूप में वे बहु-पूजित रही हैं। अतः किसी भी वैभवशाली सम्राट् के लिए उनकी उपासना स्वाभाविक है और सिक्कों पर अंकन तो और भी स्वाभाविक। अतः सिक्कों पर अंकित लक्ष्मी को सहज भाव से राजलक्ष्मी होने की भी कल्पना की जा सकती है। फिर लक्ष्मी ही मात्र देवी नहीं है जिनका गुप्त सिक्कों पर अंकन हुआ है। उन पर गंगा और कुमार (कार्तिकेय) का

१. ओरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट ऑव वैष्णविज्म, पृ० १६५।

२. बृहत्संहिता ५९।१९।

३. ए० इ०, २१, पृ० ८, पंक्ति ६-७।

अंकन तो स्पष्ट है ही; दुर्गा और कौमारी के अंकन की कल्पना भी की जा सकती है। अतः इस प्रमाण का भी कोई महत्त्व नहीं है।

गरुड़ के सम्बन्ध में भी ज्ञातव्य है कि वे विष्णु के वाहन मात्र हैं। शिव के वाहन नन्दि (वृष) का अंकन स्कन्दगुप्त के चाँदी के एक भाँत के सिक्कों पर हुआ है। इसी प्रकार कार्तिकेय-वाहन मयूर भी गुप्तों के चाँदी के सिक्कों पर अंकित पाया जाता है। यदि इन सिक्कों पर अंकित वृष और मयूर के आधार पर गुप्तों के शैव होने की कल्पना नहीं की जा सकती तो गरुड़ के आधार पर उनके वैष्णव होने की बात भी नहीं कही जा सकती। गरुड़ के राज-लांछन होने के मूल में धार्मिक भावना ही थी यह किसी प्रकार भी नहीं कहा जा सकता। धार्मिक की अपेक्षा उसके लिए राजनीतिक कारण की बात अधिक बल के साथ कहा जा सकता है। नागों के उन्मूलक के रूप में गुप्तों के लिए गरुड़ से बढ़ और कौन-सा लांछन हो सकता था!

इस प्रकार जिन आधारों पर गुप्तों के वैष्णव होने की बात कही जाती है, उन्हें किसी प्रकार भी सशक्त नहीं कहा जा सकता। गुप्तों के वैष्णव होने का अनुमान जिन सशक्त प्रमाणों के आधार पर किया जा सकता है, उनकी चर्चा सम्भवतः किसी ने भी प्रस्तुत प्रसंग में नहीं की है और न उसकी ओर समुचित रूप से ध्यान ही दिया है। मेहरौली के लौह स्तम्भ के अनुसार चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने भगवान् विष्णु का ध्वज स्थापित किया था। उनके चक्र-विक्रम भाँति के सिक्कों पर चक्रपुरुष का अंकन हुआ है। वह भी उनके वैष्णव होने का संकेत करता है। इसी प्रकार स्कन्दगुप्त द्वारा शारंगिण की मूर्ति स्थापित किये जाने की बात भितरी स्तम्भ-लेख से प्रकट होती है। अतः इन दोनों सम्राटों के वैष्णव होने की बात निस्संदिग्ध रूप से कही जा सकती है। इन्हीं के प्रकाश में अन्य गुप्त-सम्राटों के भी वैष्णव होने की कल्पना की और उसके साथ परम-भागवत का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। पर सभी गुप्तसम्राट् वैष्णव थे ही यह नहीं कहा जा सकता। समुद्रगुप्त और प्रथम कुमारगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ किये थे, जो इस बात का संकेत है कि उनका झुकाव वैदिक कर्मकाण्ड की ओर था। प्रथम कुमारगुप्त का अनुराग कार्तिकेय की ओर भी था, यह उनके सिक्कों से स्पष्ट है। नरसिंहगुप्त का सम्बन्ध बौद्ध-धर्म से था, यह भी काफी जानी और मानी हुई बात है। विदिशा से हाल में उपलब्ध जैन मूर्तियों से यह भी स्पष्ट है कि रामगुप्त का जैनधर्म की ओर झुकाव था।[१] इस प्रकार गुप्त-सम्राटों की वैष्णव-धर्म के प्रति कोई एकाकी निष्ठा थी ऐसा नहीं कहा जा सकता। उन्होंने वैष्णव-धर्म को किसी प्रकार का विशेष संरक्षण प्रदान किया होगा या उन्होंने वैष्णव-धर्म के प्रचार में कोई विशेष रुचि दिखाई होगी, इसकी सम्भावना किसी प्रकार भी प्रकट नहीं होती।

गुप्तकाल में यदि वैष्णव-धर्म का अधिक प्रचार-प्रसार हुआ तो उसका कारण किसी प्रकार का राजाश्रय नहीं था। वरन् उसका अपना स्वरूप था जिसमें सभी प्रकार

१. जर्नल ऑव ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, १८, पृ० २४७-२५१।

के लोक-विश्वासों का एकीकरण हुआ था। उसमें तर्क और बुद्धि की अपेक्षा विश्वास का प्राबल्य था, जो लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करता था। इस प्रकार उससे सभी वर्ग के लोगों की धार्मिक आवश्यकता की पूर्ति होती थी। संक्षेप में वैष्णव भक्ति तत्कालीन सामाजिक दृष्टिकोण के अनुरूप थी। इन सबके बावजूद वैष्णव-धर्म से सम्बन्धित गुप्तकालीन ऐसी कोई पुरातात्त्विक सामग्री नहीं है जिसके आधार पर कहा जा सके कि उसका अन्य धर्मों की अपेक्षा किसी रूप में भी अधिक प्रचार था।

गुप्तकाल में समुद्रगुप्त से पूर्व का ऐसा कोई पुरातात्त्विक प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिससे तीसरी शती अथवा चौथी शती के पूर्वार्ध में वैष्णव-धर्म का अस्तित्व अनुमान किया जा सके। तदनन्तर समुद्रगुप्त के समय में वैष्णव धर्म के प्रसार की बात पूर्ण निश्चितता के साथ नहीं कही जा सकती, अनुमान मात्र ही किया जा सकता है। मुण्डेश्वरी (शाहाबाद, बिहार) से प्राप्त एक अभिलेख में श्रीनारायण के मन्दिर का उल्लेख है। इस अभिलेख में महासामन्त, महाप्रतिहार महाराज उदयसेन और किसी अज्ञात काल की तिथि ३२ का उल्लेख है। लेख की लिपि के आधार पर मजूमदार (एन० जी०) ने इस अभिलेख को चौथी शती के मध्य का अनुमान किया है।[1] यदि उनका अनुमान सत्य है तो इसे बिहार में समुद्रगुप्त के काल में वैष्णव धर्म के प्रचार का प्रमाण कहा जा सकता है। किन्तु उदयसेन के विरुद से इस लेख के इतने प्राचीन होने के प्रति सन्देह होता है। सामंतों के लिए महाराज शब्द का प्रयोग गुप्तशासन के उत्तरकाल में ही हुआ है। महाप्रतिहार विरुद का उल्लेख भी किसी भी गुप्त अभिलेख में प्राप्त नहीं होता। बंगाल में सुसुनिया से प्राप्त एक अभिलेख में चन्द्रवर्मन नामक व्यक्ति को चक्रस्वामिनदासाग्र कहा गया है।[2] यदि इस चन्द्रवर्मन के प्रयाग प्रशस्ति में उल्लिखित चन्द्रवर्मन अनुमान करने की बात ठीक हो तभी, समुद्रगुप्त के काल में वैष्णव धर्मके अस्तित्वका अनुमान किया जा सकता है। राजस्थान में मांडोर नामक स्थान से लाल पत्थर के दो स्तम्भ प्राप्त हुए हैं उन पर कृष्ण-चरित के दृश्य अंकित हैं।[3] ये स्तम्भ किसी वैष्णव-मन्दिर के तोरण रहे होंगे। कला के आधार पर लोग इन्हें चौथी शताब्दी का अनुमान करते हैं पर उनसे भी कोई निश्चित निष्कर्ष प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय में ही पहली बार वैष्णव धर्म के प्रचार के निश्चित प्रमाण उपलब्ध होते हैं। उनका अपना मेहरौली स्थित लौह स्तम्भ तो इसका प्रमाण है ही। उसमें विष्णु-ध्वज स्थापित किये जाने का उल्लेख है।[4] उसके चक्र-विक्रम भाँति के सिक्के से भी इसका अनुमान किया जा सकता है।[5] उदयगिरि (विदिशा) के एक

---

१. इ० ए०, १९२०, पृ० २५।
२. ए० इ०, १३, पृ० १३३।
३. आ० स० इ०, ए० रि०, १९०५-०६, पृ० १३६।
४. पीछे, पृ० १६, अ० पंक्ति ६।
५. पीछे, पृ० ६४।

गुहा पर अंकित अभिलेख से चन्द्रगुप्त के सामन्त सनकानिक महाराज सोढाल द्वारा दान दिये जाने का उल्लेख है। यह दान कदाचित् उक्त गुहा अथवा उस गुहा पर अंकित दो मूर्तियों का था। इनमें से एक चतुर्भुजी विष्णु की है।[१] वहीं एक विशाल वराह का भी अंकन हुआ है जिसे कला के आधार पर इसी काल का अनुमान किया जाता है।[२] मन्दसोर से प्राप्त नरवर्मन (४०४ ई०) के एक अभिलेख में वासुदेव का स्तवन है। उसमें उन्हें अप्रमेय, अज, और विभु तथा सहस्र-शीर्ष पुरुष कहा गया है।[३] इसी प्रकार तुशाम (जिला हिसार, हरियाणा) से प्राप्त अभिलेख में वासुदेव विष्णु का स्तवन है। इसमें एक प्रतिमालय और जलकुण्ड बनाने का उल्लेख है और निर्माण-कर्ता आचार्य सोमत्रात के प्रपितामह को भागवत कहा गया है।[४] लिपि के आधार पर लेख पाँचवीं शती का अनुमान किया जाता है पर इसमें चार पीढ़ियों के भागवत होने की चर्चा है, इससे चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध में वैष्णव धर्म के प्रचार का अनुमान हो सकता है। चन्द्रगुप्त (द्वितीय) की पुत्री वाकाटक साम्राज्ञी प्रभावती गुप्ता और उनके पति महाराज रुद्रसेन (द्वितीय) के वैष्णव होने की बात उनके अभिलेखों में मिलती है। प्रभावती गुप्ता का रिद्धपुर अभिलेख का आरम्भ जितं भगवता से होता है और उसमें रामगिरिस्वामिन् का भी उल्लेख है, जिससे अनुमान किया जाता है कि उसका तात्पर्य रामगिरि स्थित राम अथवा विष्णुपद प्रतिष्ठित मन्दिर से है।[५] उनके पूना ताम्रलेख में भगवत् के चरणों में भूदान अर्पित किये जाने का उल्लेख है।[६] प्रवरसेन द्वितीय के एक लेख में रुद्रसेन के ऐश्वर्य और वैभव को चक्रपाणि की कृपा का फल कहा गया है।[७] बैग्राम (जिला बोगरा, पूर्वी बंगाल) से प्राप्त गुप्त संवत् १२८ (४४७ ई०) के ताम्र-लेख में गोविन्दस्वामिन् नामक देवकुल को दान दिये जाने का उल्लेख है।[८] अभिलेख में यह भी कहा गया है कि उक्त देवकुल दान-दाता के पिता ने निर्माण कराया था। इस प्रकार सहज अनुमान होता है कि यह मन्दिर द्वितीय चन्द्रगुप्त के शासन के अन्तिम चरण में बना होगा। इस प्रकार जो आभिलेखिक प्रमाण उपलब्ध हैं, उनसे ज्ञात होता है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त के शासन-काल में वैष्णव धर्म का प्रचार उत्तर-पश्चिम में हरियाणा तक और दक्षिण-पश्चिम में महाराष्ट्र तक तथा पूर्व में बंगाल और दक्षिण में मध्यभारत तक था। इस प्रकार वैष्णव धर्म के समूचे गुप्त-साम्राज्य में फैल जाने का अनुमान किया जा सकता है। पर आश्चर्यजनक बात तो यह है कि वैष्णव-धर्म के अस्तित्व के ये प्रमाण सीमावर्ती क्षेत्रों के ही हैं, मुख्य केन्द्रीय भाग—उत्तर

---

१. का० इ० इ०, ३, पृ० २१; पीछे, पृ० ११।

२. कुमारस्वामी, हिस्ट्री ऑव इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, फलक १७४।

३. ए० इ०, १२, पृ० ३१५, अ० पंक्ति १।

४. का० इ० इ०, ३, पृ० २७०, पं० ६।

५. ज० प्रो० ए० सो० बं०, २० (न० सी०), पृ० ५८, पंक्ति १।

६. ए० इ०, २५, पृ० ४१, अ० पंक्ति ३०-३१।

७. का० इ० इ०, ३, पृ० ३३६, अ० पं० १३-१४।

८. ए० इ०, २१, पृ० ७८।

प्रदेश और बिहार से वैष्णव-धर्म के अस्तित्व का कोई भी प्रमाण न तो चन्द्रगुप्त द्वितीय के इस काल में मिलता है और न उनके उत्तराधिकारी प्रथम कुमारगुप्त के काल में।

प्रथम कुमारगुप्त के काल के केवल दो अभिलेख उपलब्ध हैं, जिनमें वैष्णव-धर्म की चर्चा है। एक तो गंगधर (झालावाड़, मध्यप्रदेश) से प्राप्त ४२३ ई० का है[1] और दूसरा ४२४ ई० का है, जो नागरी (चित्तौड़, राजस्थान) से प्राप्त हुआ है।[2] दोनों ही अभिलेखों में विष्णु-मन्दिर निर्माण किये जाने की चर्चा है। गंगधर स्थित मन्दिर को मयूररक्षक ने और नागरीवाले मन्दिर को सत्यशूर, सुगन्ध और दास नामक तीन वैश्य-बन्धुओं ने बनवाया था।

तदनन्तर स्कन्दगुप्त के शासन-काल में उत्तर प्रदेश से वैष्णव-धर्म सम्बन्धी प्रमाण पहली बार उपलब्ध होते हैं। वहाँ उनका अपना अभिलेख भितरी (जिला गाजीपुर) में तो है ही, जिसमें शारंगिण की प्रतिमा स्थापित किये जाने का उल्लेख है।[3] सम्भव है उन्होंने वहाँ मन्दिर भी बनवाया हो। गढ़वा (जिला इलाहाबाद) से ४६८ ई० का एक अभिलेख मिला है, जिसमें अनन्तस्वामिन् (कदाचित् विष्णु अथवा संकर्षण) की मूर्ति की स्थापना किये जाने का उल्लेख है साथ ही चित्रकूटस्वामी (सम्भवतः राम) की भी चर्चा है।[4] भीटरगाँव (जिला कानपुर) में ईंटों का बना एक मन्दिर है, जो पाँचवीं शती ई० के उत्तरार्ध का अनुमान किया जाता है।[5] कनिंगहम का अनुमान है कि यह विष्णु-मन्दिर था, किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। तथापि वहाँ से एक मृष्फलक प्राप्त हुआ है, जिस पर शेषशायी विष्णु का अंकन है। उनके नाभि से विकसित कमल पर ब्रह्मा आसीन हैं।[6] इनके अतिरिक्त इस काल में सौराष्ट्र में भी वैष्णव-धर्म के अस्तित्व का पता लगता है। जूनागढ़ में स्कन्दगुप्त से सम्बन्धित जो अभिलेख है, उसका आरम्भ विष्णु की स्तुति से हुआ है। इस अभिलेख के दूसरे खण्ड में चक्रपालित द्वारा चक्रभृत (विष्णु) के मन्दिर के स्थापना की सूचना है।[7]

स्कन्दगुप्तोत्तर काल में वैष्णव-धर्म का परिचय मध्यभारत में मन्दसौर, एरण और खोह से प्राप्त अभिलेखों और बंगाल में दामोदरपुर ताम्रलेख से मिलता है। मन्दसौर से बन्धुवर्मन के काल का सूर्य-मन्दिर सम्बन्धी जो अभिलेख है, उसके अन्त में

---

१. का० इ० इ०, ३, पृ० ७२, अ० पंक्ति ३०-३१।
२. मे० आ० स० इ०, ४, पृ० १२०-२१।
३. पीछे, पृ० ३५, अ० पंक्ति १०।
४. का० इ० इ०, ३, पृ० २६८, पं० ३।
५. जि० ना० बनर्जी, डेवलपमेण्ट ऑव हिन्दू आइकानोग्राफी, पृ० ४०६; स० कु० सरस्वती, क्लासिकल एज, पृ० ५१२।
६. आ० स० इ०, ए० रि०. १९०८-०९, पृ० ४०६-४०७।
७. पीछे, पृ० २९-३०, अ० प० १, ४५।

प्रार्थना की गयी है—विकच-कमल-मालामंस-सक्तां च शार्ङ्गी भवनमिदमुदारं शाश्वतम्सावदस्तु (इस मन्दिर का अस्तित्व तब तक बना रहे, जब तक शारंगिण फुल्ल कमल की माला धारण किये रहें)।[1] एरण से मातृविष्णु और धन्यविष्णु द्वारा स्थापित विष्णु-ध्वज ही प्राप्त हुआ है। उसके शीर्ष पर विष्णु की मूर्ति तो है ही, साथ ही अभिलेख में भी विष्णु का स्तवन है : जयति विभुश्चतुरर्णव-विपुल-सलिल-पर्यंकः जगतः स्थित्युत्पत्ति-न्ययादि हेतुर्गरुडकेतुः।[2] वहीं मातृविष्णु के भाई धन्यविष्णु ने नारायण का एक मन्दिर स्थापित किया था और उसमें वराह की मूर्ति स्थापित की थी। यह मूर्ति और मन्दिर के अवशेष आज भी उपलब्ध हैं। उसके अभिलेख में वराह-रूपी विष्णु की स्तुति है।[3] उच्छकल्प के महाराज जयनाथ के ४९६-९७ ई० के अभिलेख में भगवत नामक देवता के मन्दिर में बलि, चरु, सत्र आदि के लिए दान देने का उल्लेख है।[4] भगवत नामक देवता के मन्दिर के निमित्त महाराज सर्वनाथ द्वारा ग्राम-दान का उल्लेख ५१३ ई० के एक अन्य अभिलेख में भी मिलता है।[5] सम्भवतः दोनों ही दान एक ही मन्दिर को दिये गये थे और भगवत का तात्पर्य विष्णु से है। बुद्धगुप्त के काल के दामोदरपुर ताम्रलेख में कोकामुखस्वामी और श्वेतवराह-स्वामी नामक देवताओं के निमित्त दो मन्दिर निर्माण किये जाने का उल्लेख है।[6] इस मन्दिर की मरम्मत तथा प्रबन्ध के निमित्त दान दिये जाने का उल्लेख गुप्त संवत् २२४ के एक अन्य ताम्रलेख में भी हुआ है।[7]

छठी शताब्दी में गुप्त साम्राज्य की सीमा के अन्तर्गत वैष्णव-धर्म का परिचय देवगढ़ (जिला झांसी) स्थित दशावतार मन्दिर[8], मौखरि ईश्वरवर्मन के जौनपुर अभिलेख[9], मौखरि अनन्तवर्मन के बराबर गुहा (जिला गया) अभिलेख[10] और पहाड़पुर (राजशाही, पूर्वी बंगाल) से प्राप्त मृण्फलकों से मिलता है।[11] देवगढ़ के मन्दिर प्रारम्भिक छठी शताब्दी का अनुमान किया जाता है। वहाँ से प्राप्त एक अभिलेख के अनुसार उस मन्दिर के देवता का नाम केशवपुरस्वामी था और उसके एक स्तम्भ पर दाता के रूप में भागवत गोविन्द का नाम है। मन्दिर पर लगे फलकों पर कृष्ण-चरित के अनेक दृश्य अंकित हैं। एक फलक पर शेषशायी विष्णु और

---

१. का० इ० इ० ३, पृ० ८१, अ० पंक्ति २२।
२. वही, पृ० ८९, अ० पंक्ति १।
३. वही, पृ० १५९, अ० पंक्ति १।
४. वही, पृ० १२२, पं० ७।
५. वही, पृ० १२७, पं० ७।
६. ए० इ०, १५, पृ० १३८, अ० पंक्ति ५-८।
७. वही, पृ० १४२, अ० पंक्ति १८।
८. मे० आ० स० इ० ७० पृ० ११-१८।
९. का० इ० इ०, ३. पृ० २२९-२३०।
१०. वही पृ० २२२-२२३।
११. एक्सकवेशन्स ऐट पहाड़पुर।

दूसरे फलक पर नर-नारायण का अंकन है। एक अन्य फलक पर रामायण के दृश्य हैं। इस प्रकार स्पष्टरूपेण यह पूर्ण वैष्णव मन्दिर था। बराबर गुफा के लेख से वासुदेव कृष्ण की मूर्ति की स्थापना का परिचय मिलता है। इसी प्रकार पहाड़पुर से छठी शती ई० के जो मृण्फलक मिले हैं, उनमें से कुछ पर कृष्ण-चरित का अंकन अनुमान किया जाता है। जौनपुरवाले मौखरि अभिलेख में विष्णु का स्तवन है और उन्हें आत्मभू कहा गया है।

इस प्रकार अभिलेखों से गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत सभी भागों में वैष्णव-धर्म के प्रसार का परिचय मिलता है और उनका समर्थन मूर्तियों तथा मिट्टी की मुहरों से भी होता है। पर उपर्युक्त विश्लेषण से यह भी स्पष्ट है कि उपलब्ध सामग्री के आधार पर उसके किसी व्यापक प्रचार की बात नहीं कही जा सकती। यही कहा जा सकता है कि अन्य धर्मों की तरह ही वह भी उस काल का एक प्रचलित धर्म था।

शैव-धर्म—वैष्णव-धर्म के समान ही शैव-धर्म का उद्‌गम और विकास लोक-आस्थाओं में है। दोनों धर्मों में सैद्धान्तिक अन्तर यह है कि वैष्णव-धर्म का आधार भक्ति है और शैव-धर्म में साधना और तपस्या का महत्त्व है। जहाँ अन्य धर्मों में दुःख के अन्त को मोक्ष माना गया है, शैव-धर्म में दुःख के अन्त के साथ-साथ अलौकिक शक्ति प्राप्त होने की बात भी कही गयी है। ज्ञान और कर्म की समस्त अलौकिक शक्तियाँ मनुष्य शैव-धर्म के विधि-विधानों के दीर्घकालीन अभ्यास से प्राप्त कर सकता है। ऐसी अलौकिक शक्तियों में, जो शैव-मतानुसार प्राप्त की जा सकती हैं, कुछ ये हैं—ऐसी वस्तु को देखना जो सूक्ष्म है, छिपी है अथवा दूर है; मानवश्रवण से परे के सभी नादों को सुन लेना; मन की बातों को जान लेना; सभी विद्याओं और उनके ग्रन्थों को बिना देखे-पढ़े जान और समझ लेना; तत्काल किसी काम को कर डालना; बिना किसी प्रयास से कोई भी रूप या शरीर धारण कर लेना; शक्ति की निष्क्रियता के बावजूद चरम शक्ति प्राप्त कर लेना। शैव-धर्म की उपासना में योग और विधि की विशेष चर्चा है। चित्त के माध्यम से ईश्वर के साथ आत्मा के सम्बन्ध स्थापित करने को योग कहा गया है। विधि के अन्तर्गत जप करना, भस्म रमाना, भीख माँगना, जूठा खाना, नाना प्रकार के ऐसे काम करना जो सामान्यतः घृणा की दृष्टि से देखे जाते हैं, आदि है। सामान्य जन के बीच इस प्रकार की कठोर साधना और तप का विधि-विधान किसी सीमा तक प्रचलित हो सका, यह तो कहना कठिन है, पर गुप्त-कालीन अभिलेखों और मूर्तियों से यही अनुमान होता है कि शैव-धर्म के प्रति भी लोगों की वैष्णव धर्म की तरह ही भक्ति-भाव की ही प्रधानता थी और लोग शिव की उपासना भी, उनके विविध रूपों में भक्ति-भाव से ही करते थे।

अभिलेखों में शिव का उल्लेख ईश[1], महाभैरव[2], भूतपति[3], हर[4], ईश्वर[5],

१. का० इ० इ०, ३, पृ० ८३, पं० २३।
२. वही, पृ० २३६, पं० ४।
३. वही पृ० २२५, पं० ४।
४. वही, पृ० २८३, पं० २१।
५. इ० ए०, ९, पृ० १७०।

जयेश्वर[१], कपालेश्वर[२], कोकमुखस्वामी[३], महेश्वर[४], पशुपति[५], पिनाकी[६], शम्भु[७], शर्व[८], शिव[९], स्थाणु[१०], शूलपाणि[११], शूर भोगेश्वर[१२], त्रिपुरान्तक[१३], भवसृज[१४], आदि नामों से हुआ है। शिव की उपासना मानव और लिंग—दो रूपों में प्रचलित है। यही रूप गुप्त-काल में भी प्रचलित थे। किन्तु उस काल में इन दोनों का एक संयुक्त रूप अधिक प्रचलित दिखाई पड़ता है, जिसमें लिंग-स्वरूपों पर मुख अंकित किया गया था। इस काल में लोगों में एक प्रवृत्ति और दिखाई पड़ती है, वह है अपने गुरु, अपने पूर्वज अथवा अपने नाम पर शिवलिंग अथवा मन्दिर की स्थापना। मथुरा से द्वितीय चन्द्रगुप्त के पाँचवें शासन वर्ष का जो अभिलेख प्राप्त हुआ है, उसमें आर्य उदिताचार्य द्वारा गुर्वायतन में अपने गुरु कपिल और गुरु के गुरु उपमित की स्मृति में कपिलेश्वर और उपमितेश्वर नाम से शिवलिंग अथवा मूर्ति स्थापित करने का उल्लेख है।[१५] प्रथम कुमारगुप्त के मन्त्रिकुमारामात्य बलाधिकृत पृथिवीशेण ने भी अपने नाम पर पृथिवीश्वर नाम से लिंग की स्थापना की थी।[१६] इसी प्रकार कांगड़ा जिले में मिहिरलक्ष्मी नाम्नी महिला ने अपने नाम पर मिहिरेश्वर नाम से शिव-मन्दिर स्थापित किया था।[१७] जलन्धर में ईश्वरा नाम्नी स्त्री ने अपने पति चन्द्रगुप्त की स्मृति में शिव-मन्दिर स्थापित किया था।[१८] यह प्रथा उन दिनों दक्षिण भारत में भी प्रचलित हो गयी थी। पल्लव-नरेश के सेनापति विष्णुवर्धन ने भी अपने नाम पर शिव-मन्दिर की स्थापना की थी।[१९] कुमारगुप्त प्रथम के काल के करमदण्डा-लिंग अभिलेख से यह भी प्रकट

---

१. इ० ए०, ९, पृ० १६६।
२. का० इ० इ०, ३, पृ० २८९, पं० ७।
३. ए० इ० १५, पृ० १३८।
४. का० इ० इ० ३, पृ० १९५, पं० ४; पृ० २८९, पं० ५
५. वही, पृ० २६, पं० ३०; पृ० १९२, पं० ३।
६. वही, पृ० १५२, पं० १।
७. वही, पृ० ३५, पं० ५; पृ० १५२, पं० २।
८. वही, पृ० १६२, पं० ८।
९. वही, पृ० २३६, पं० ५।
१०. वही, पृ० १४६, पं० ६।
११. वही, पृ० १४६, पं० १।
१२. इ० ए०, ९, पृ० १७०।
१३. का० इ० इ०, ३, पृ० २८९, पं० ६।
१४. वही, पृ० १०२, पं० ३।
१५. ए० इ०, २१, पृ० १-९।
१६. वही, १०, पृ० ७१।
१७. का० इ० इ०, ३, पृ० २८९।
१८. ए० इ०, १, पृ० १३।
१९. इ० ए०, ५, पृ० ३२।

होता है कि गुप्त-काल में लोग शिव का जुलूस भी निकालते थे, जो देवद्रोणी कहलाता था।[1]

शैव-धर्म के सम्बन्ध में अनुमान किया जाता है कि वह वैदिक-काल से पूर्व आर्येतर लोगों में प्रचलित था। पीछे शिव रुद्र के रूप में वैदिक समाज द्वारा अपना लिये गये और फिर धीरे-धीरे उनके अन्तर्गत अन्य अनेक देवता समाहित कर लिये गये और गुप्त-काल तक उनसे सम्बन्धित अनुश्रुतियों ने वह रूप धारण कर लिया, जो आज पुराणों में उपलब्ध होता है। उनके इस निर्माण और विकास का स्वरूप अभी बहुत स्पष्ट नहीं हो पाया है। अभी केवल इतना ही कहा जा सकता है कि श्वेताश्वतर उपनिषद् में उन्हें वैदिक देवताओं से भी बड़ा—महादेव कहा गया है और इसी प्रकार केन उपनिषद् में उनकी पत्नी उमा हेमावती को उच्च स्थान दिया गया है। पर आपस्तम्ब गृह्य सूत्र और कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ऐसा प्रतीत होता है कि उनके समय तक शैव-धर्म का लोक-मानस में विशेष मान्यता या महत्त्व न था।

मेगस्थने ने अपने विवरण में डायोनिस नाम से किसी देवता की पूजा के भारत में प्रचलित होने का उल्लेख किया है। विद्वानों का अनुमान है कि यवन देवता के इस नाम से मेगस्थने का तात्पर्य शिव से ही है। यदि यह अनुमान ठीक हो तो इसे शिव-उपासना का अद्यतम उल्लेख कहा जा सकता है। अन्यथा शिव उपासना का स्पष्ट उल्लेख पहली बार पतंजलि के महाभाष्य में ही मिलता है। उसमें शिव-प्रतिमा की तो चर्चा है ही, शिव-उपासकों का भी उल्लेख शिव-भागवत नाम से हुआ है। तदनन्तर शैव-धर्म की चर्चा रामायण और महाभारत में मुखरित रूप से प्राप्त होती है। पुरातात्त्विक दिशा से शिवोपासना का परिचय सर्वप्रथम कुशाण-नरेशों के सिक्कों से मिलता है। विम कदफिस ने अपने सिक्कों पर स्पष्ट रूप से अपने को महीश्वर कहा है।

सम्प्रति समझा यह जाता है कि ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में नकुलिन अथवा लकुलिन नामक किसी ब्रह्मचारी ने इस धर्म का विशेष रूप से प्रतिपादन किया, तभी से इस धर्म का प्रचार-प्रसार बढ़ा। लकुलिन द्वारा प्रतिपादित शिव धर्म का स्वरूप पाशुपत कहलाया और उसके प्रचार में उनके शिष्य कुशिक, गार्ग्य, मैत्रेय और कौरुष ने विशेष योग दिया। इन शिष्यों ने जिस रूप में इस मत का प्रतिपादन किया, उसने पाशुपत मत की शाखाओं का रूप धारण किया। वायु[2] और लिंग[3] पुराण में दी गयी अनुश्रुतियों के अनुसार महेश्वर (शिव) ने ब्रह्मा को बताया था कि जिन दिनों वासुदेव के रूप में विष्णु का जन्म होगा, उन्हीं दिनों वे सिद्धों के देश कायारोहण में एक शव में प्रवेश कर नकुलीन नामक ब्रह्मचारी के रूप में अवतार लेंगे। उदयपुर (राजस्थान) के निकट ही स्थित एकलिंग के मन्दिर के पास ही जो नाथ मन्दिर है,

---

१. ए० इ०, १००, पृ० ७१, अ० पंक्ति ११।

२. वायुपुराण, २४।१२७-१३१।

३. लिंगपुराण, २४।१२७-१३२।

उसमें ९७१ ई० का एक अभिलेख मिला है[1], उसके अनुसार शिव ने लकुलधारी के रूप में भृगुकच्छ में अवतार लिया था। इससे अनुमान होता है कि लकुलीन भृगुकच्छ के निवासी थे। उनके अस्तित्व का कोई ऐतिहासिक आधार हो या न हो, पर उनके शिष्य कुशिक की ऐतिहासिकता में किसी प्रकार भी सन्देह नहीं किया जा सकता। ऊपर द्वितीय चन्द्रगुप्त के जिस मथुरा अभिलेख की चर्चा की गयी है, उसमें आर्य उदिताचार्य ने अपने को भगवान् कुशिक की दसवीं पीढ़ी में बताया है।[2]

गुप्त-काल में शिव का सर्वप्रथम उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में मिलता है। उसमें पशुपति (शिव) के जटाजूट से गंगा के निकलने का उल्लेख हुआ है।[3] इसके आधार पर बनर्जी (रा० दा०) ने प्रशस्तिकार हरिषेण के शैव होने का अनुमान किया है।[4] इस अभिलेख के अनन्तर द्वितीय चन्द्रगुप्त के काल का मथुरा अभिलेख है,[5] जिसकी चर्चा ऊपर दो बार की जा चुकी है। द्वितीय चन्द्रगुप्त के उत्तरवर्ती काल में उनके एक अधिकारी शाब वीरसेन ने उदयगिरि (विदिशा) में शम्भु के मन्दिर के रूप में एक लयण (गुहा) बनवाया था।[6] प्रथम कुमारगुप्त के करमदण्डा अभिलेख[7] में, उनके मन्त्रिकुमारामात्य द्वारा पृथिवीश्वर नामक लिंग स्थापित किये जाने का उल्लेख है। इसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। इस अभिलेख का आरम्भ नमो महादेवाय से होता है और उसमें स्थलेश्वर महादेव का भी उल्लेख है।

कुछ लोगों ने मघ-नरेश भीमवर्मन के काल के कौशाम्बी से प्राप्त शिव-पार्वती की प्रतिमा[8] को स्कन्दगुप्त के काल का अनुमान किया है। उनके इस अनुमान का आधार उस प्रतिमा पर अंकित अभिलेख में दी गयी तिथि १३९ है। वे इस तिथि को गुप्त-संवत् अनुमान करते हैं।[9] किन्तु कला की दृष्टि से मूर्ति गुप्त-काल की तो है ही नहीं, साथ ही उस पर अंकित तिथि भी गुप्त-काल की नहीं है। पुरातात्त्विक प्रमाणों से प्रकट होता है कि मघ गुप्तों से पूर्व कौशाम्बी के शासक थे। इस प्रकार प्रथम कुमारगुप्त के पश्चात् गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत शिव-धर्म सम्बन्धी उल्लेख कदाचित् बुधगुप्त के दामोदरपुर ताम्रलेख में ही है। इस अभिलेख में एक देवता का उल्लेख कोकामुखस्वामी के रूप में हुआ है।[10] कोकामुखस्वामी नाम में अन्तर्निहित भाव अभी तक

---

१. ज० ब० ब्रा० रा० ए० सो०, २२, पृ० १५१।
२. ए० इ०, २१, पृ० ८, अ० पंक्ति ५।
३. पीछे, पृ० ७, अ० पंक्ति ३१।
४. द एज ऑव द इम्पीरियल गुप्ताज, पृ० १०२।
५. ए० इ०, २१, पृ० ८।
६. का० इ० इ०, ३, पृ० ३४।
७. ए० इ०, १०, पृ० ७१।
८. इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता में सुरक्षित।
९. रा० कु० मुकर्जी, द गुप्त इम्पायर, पृ० १३६; जि० ना० बनर्जी, द क्लासिकल एज, पृ० ४३४।
१०. ए० इ०, १५, पृ० १३८।

स्पष्ट नहीं हो पाया है, तथापि लोग अनुमान करते हैं कि उसका तात्पर्य शिव-पार्वती से है। इसी अभिलेख में भाम-लिंग शब्द भी आया है। भाम-लिंग की भी अभी तक समुचित व्याख्या नहीं हो पायी है, तथापि उसके शिव से सम्बन्धित होने की सहज कल्पना की जा सकती है।

इन आभिलेखिक उल्लेखों के अतिरिक्त शैव-धर्म के मध्यप्रदेश में प्रचलित होने का संकेत भूमरा और खोह के शिव-मन्दिरों से मिलता है। राजघाट (वाराणसी) से बड़ी संख्या में जो मिट्टी की मुहरें मिली हैं, उनसे काशी में गुप्त काल में अनेक शिव मन्दिर होने का पता लगता है। कालिदास के मेघदूत में उज्जयिनी के महाकाल के मन्दिर का उल्लेख है।[1] वह भी उज्जैन में शिव के महत्त्वपूर्ण मन्दिर होने का संकेत देता है।

गुप्तों के अधिकारियों में शैव-मतावलम्बी थे यह तो उपर्युक्त अभिलेखों से स्पष्ट है ही। कालिदास भी शिव-भक्त थे यह उनकी रचनाओं से प्रकट होता है। उनके कुमारसम्भव का विषय ही शिव से सम्बन्धित है। गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत सामन्तों में से अनेक, जो पीछे स्वतन्त्र शासक बन बैठे थे, शैव थे। परिव्राजक हस्तिन के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि वे शैव थे।[2] वलभी के मैत्रक अपने अभिलेखों में अपने को परम-माहेश्वर कहते हैं।[3] मौखरि नरेश अनन्तवर्मन ने बराबर गुहा में भूतपति (शिव) की मूर्ति स्थापित की थी।[4] गुप्तों के सम्बन्धी और मित्र वाकाटक नरेश भी शैव थे।[5] गुप्तों के शत्रुओं में यशोधर्मन ने अपने को मन्दसोर अभिलेख में स्थाणु (शिव) भक्त होने की बात कही है।[6] उक्त लेख का आरम्भ शूलपाणि के स्तवन से होता है। हूण मिहिरकुल भी शैव था।[7]

दुर्गोपासना—वैष्णव धर्म की तरह ही शैव धर्म में भी अनेक देवी-देवताओं का प्रवेश हुआ; किन्तु इस धर्म में उन्होंने वैष्णवधर्म की तरह व्यूह अथवा अवतार का रूप धारण न कर परिवार-सदस्य का रूप धारण किया। देवियों की कल्पना शिव-पत्नी के रूप में की गयी, देवताओं को पुत्र का स्थान मिला। इस प्रकार जहाँ वे एक ओर शिव के साथ पूजित हुए, वहीं उन्होंने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भी बनाये रखा। लोग उनकी स्वतन्त्र रूप से उपासना करते रहे।

शिव-पत्नी रूप में प्रतिष्ठित होनेवाली देवियों में रुद्राणी मुख्य हैं। वैदिक देवी के रूप में सूत्र काल से पूर्व रुद्राणी का कोई उल्लेख नहीं मिलता। वाजसनेयि संहिता में अम्बिका का उल्लेख रुद्र की बहिन के रूप में हुआ है। पर वे शीघ्र ही रुद्र-पत्नी मानी

---

१. मेघदूत १।३४।
२. का० इ० इ०, ३, पृ० ९६, १०२, १०७।
३. वही पृ० १६७-१६९; १८१-८९।
४. वही, पृ० २२५।
५. वही, पृ० २४०-४१।
६. वही, पृ० १४७।
७. वही, पृ० १६२, १६३।

जाने लगीं। तैत्तिरीय आरण्यक और केन उपनिषद में शिव-पत्नी के रूप में उमा, पार्वती (हेमवती) आदि नाम मिलते हैं। पीछे चल कर उनकी ख्याति दुर्गा के रूप में हुई। महाभारत के भीष्म और विराटपर्व में उन्हें इसी नाम से पुकारा गया है और उन्हें विजयदात्री कहा गया है। इसी रूप में उनकी स्वतन्त्र पूजा और प्रतिष्ठा हुई। मार्कण्डेय पुराण में उनके द्वारा महिषासुर, रक्तबीज, शुम्भ-निशुम्भ और चण्ड-मुण्ड आदि राक्षसों के विनाश किये जाने की कथाएँ हैं; उनसे प्रकट होता है कि उन्हें इन लोक-अनुश्रुतियों ने ही महत्ता प्रदान की। गुप्त काल में उनकी जो प्रतिमाएँ प्राप्त होती हैं वे प्रायः उनके महिषमर्दिनी रूप की ही हैं। द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय में उनके सनकानिक सामन्त ने जिस गुहा का निर्माण कराया था उसमें महिषमर्दिनी की ही मूर्ति प्राप्त हुई है। भूमरा से भी एक षड्मुखी महिषमर्दिनी मूर्ति इसी काल की प्राप्त हुई है। गुप्त शासकों के सोने के कतिपय सिक्कों पर सिंह-वाहिनी देवी का अंकन हुआ है, वह भी सम्भवतः दुर्गा का ही स्वरूप है।

कार्तिकेयोपासना—शिव-परिवार में कार्तिकेय और गणेश नाम के दो देवताओं का समावेश पुत्र के रूप में हुआ है। कार्तिकेय का स्कन्द और विशाख रूप में सर्व प्रथम उल्लेख पतंजलि के महाभाष्य मे मिलता है। तदनन्तर हुविष्क के सिक्कों पर स्कन्द कुमार, विशाख और महासेन के रूप में उल्लेख हुआ है जिससे ज्ञात होता है कि कार्तिकेय के अन्तर्गत कई देवताओं का समावेश हुआ है। उनकी ख्याति देवताओं के सेनापति अथवा युद्ध-देवता के रूप मे विशेष है। यौधेयों ने उन्हें मुख्य रूप से अपने सिक्कों पर अपनाया है। गुप्तकाल मे प्रथम कुमारगुप्त के सिक्कों पर भी उनका अंकन हुआ है। उन्हीं के काल का एक अभिलेख बिलसड़ (जिला एटा) से प्राप्त हुआ है जिसमें स्वामी महासेन (कार्तिकेय) के मन्दिर में प्रतोली निर्माण कराये जाने का उल्लेख है।[१] स्कन्द का उल्लेख सम्भवतः बिहार स्तम्भ लेख में भी है।[२] कार्तिकेय की गुप्तकालीन मूर्तियाँ अनेक स्थानों से प्राप्त हुई हैं।

सूर्योपासना—प्रकृति देवता के रूप में सूर्य की उपासना इस देश में वैदिक काल से ही प्रचलित थी, ऐसा अनुमान किया जाता है। कुछ लोग तो विष्णु के मूल में सूर्य को ही देखते हैं। गुप्त-काल मे लोग जिस रूप मे सूर्य की उपासना करते थे, उसके सम्बन्ध मे कहा जाता है कि उसका प्रवेश इस देश मे शकों के आने के बाद हुआ। भविष्य, साम्ब, वराह आदि पुराणों मे सूर्योपासना सम्बन्धी जो अनुश्रुतियाँ उपलब्ध हैं, उनसे ज्ञात होता है कि यह धर्म इस देश मे शकद्वीप (पूर्वी ईरान) से आया। वराह-मिहिर ने भी अपने बृहत्संहिता में मगों (प्राचीन ईरान के सूर्य और अग्नि के उपासक) द्वारा ही सूर्य की मूर्ति स्थापित कराये जाने की बात कही है। प्रतिमा-निर्माण सम्बन्धी प्रसंगों में सूर्य की जहाँ भी चर्चा हुई है, वहाँ उन्हें उदीच्यवेश और अव्यंग-धारी बताया गया है। गुप्तकाल में प्रथम कुमारगुप्त के शासन काल में ४३६ ई० में लाट निवासी

१. का०, इ० इ०, ३, पृ० ४२।
२. वही, पृ० ४९, अ० पंक्ति ९।

तन्तुवायों की श्रेणी ने मन्दसौर में एक सूर्य मन्दिर का निर्माण कराया था[1] और उन्होंने ही उसका ५७३ ई० में जीर्णोद्धार कराया।[2] सूर्य का दूसरा गुप्तकालीन उल्लेख स्कन्दगुप्त के समय का है।[3] उनके समय में अन्तर्वेदी विषय स्थित सविता (सूर्य) के मन्दिर को दीप-ज्योति के लिए देवविष्णु नामक ब्राह्मण ने धन-दान किया था। तदनन्तर उच्छकल्प के महाराज सर्वनाग द्वारा आश्रमक स्थित सूर्य-मन्दिर को दान दिया गया था।[4] इसी प्रकार हूण नरेश मिहिरकुल के १५वें शासन वर्ष में सूर्यमन्दिर के निर्माण किये जाने की बात ज्ञात होती है।[5]

मातृका-पूजा—लोक-स्तर पर मातृका की पूजा इस देश में अति प्राचीन काल से चली आ रही है। उसके चिह्न पुरातत्वविदों ने हड़प्पा सभ्यता में ढूँढ़ निकाला है। यह उपासना किस रूप में प्रचलित रही और उसका विकास किस प्रकार हुआ इसका विस्तृत ऊहापोह अभी तक नहीं किया जा सका है। इसलिए सम्प्रति इतना ही कहा जा सकता है कि गुप्तकाल में लोगों के बीच सप्त-मातृका की पूजा भी प्रचलित थी। इन सप्त-मातृकाओं के जो नाम गिनाये गये हैं, वे इस प्रकार हैं—ब्रह्माणी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी, यमी (चामुण्डा)। इन नामों से ऐसा प्रकट होता है कि ये क्रमशः ब्रह्मा, महेश्वर (शिव), कुमार (कार्तिकेय), विष्णु, वराह, इन्द्र और यम की पत्नियाँ हैं और उन्हीं की शक्तियों के रूप में उनकी पूजा होती थी। परन्तु गुप्त काल में ब्रह्मा, इन्द्र और यम का महत्त्व अत्यन्त गौण हो गया था। वराह विष्णु में समाहित हो गये थे। केवल महेश्वर (शिव), कुमार (कार्तिकेय) और विष्णु इस काल में प्रमुख रूप से पूजित थे। साथ ही माहेश्वरी (शिव-पत्नी) का दुर्गा के रूप में अपना महत्त्व बन गया था। इन सबको देखते हुए यह सम्भव नहीं जान पड़ता कि सप्त मातृकाओं की इस रूप की कल्पना गुप्त-काल में हुई होगी। कदाचित् अति प्राचीन काल से चली आती सप्त-मातृकाओं की कल्पना को ही पुराणकारों ने इस काल में वैदिक अथवा पौराणिक देवताओं के साथ समन्वित कर दिया। वस्तुस्थिति जो भी हो, गुप्तकाल में सप्त-मातृकाओं का यह रूप प्रचलित और रूढ़ हो गया था। यह सरायकेला (उड़ीसा) से प्राप्त मूर्तियों से अनुमान किया जा सकता है,[6] जो छठी शती ई० की हैं। मातृकाओं के अपने मन्दिर भी इस काल में बनने लगे थे. ऐसा अभिलेखों से प्रकट होता है। दशपुर नरेश विश्ववर्मन के मन्त्री कुमाराक्ष ने मातृकाओं के लिए मन्दिर बनवाया था।[7] मातृकाओं के लिए मन्दिर निर्माण करने अथवा उसके होने

---

१. का०, इ० इ०, ३, पृ० ८३, अ० पंक्ति १७-१९।

२. वही, अ० पंक्ति २०-२१।

३. वही, पृ० ७०, अ० पं० ७।

४. वही, पृ० १२८-२९।

५. वही, पृ० १६३।

६. जर्नल ऑव ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, १८, पृ० १५३-१५६।

७. का० इ० इ०, ३, पृ० ७४, अ० पंक्ति १६-१७।

का उल्लेख बिहार स्तम्भ लेख में भी मिलता है।[१]

इनके अतिरिक्त अन्य अनेक वैदिक-अवैदिक देवताओं के प्रति भी गुप्त काल में लोगों की श्रद्धा बनी हुई थी ऐसा तत्कालीन अभिलेखों में प्रासंगिक रूप से आये उन देवी-देवताओं के नामों तथा उनकी उपलब्ध मूर्तियों से अनुमान किया जा सकता है। पर उनके माननेवालों की संख्या बहुत थोड़ी रही होगी। उन सबकी चर्चा यहाँ अपेक्षित नहीं है। प्रतिमाओं के प्रसंग में आवश्यकतानुसार उनकी चर्चा की गयी है।

धार्मिक सहिष्णुता—उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट है कि गुप्त-काल में बौद्ध और जैन सरीखे वैदिक भावना विरोधी धर्मों के साथ-साथ वैदिक देवताओं की पृष्ठभूमि में विकसित अनेक देवी-देवताओं से भरे-पूरे वैष्णव और शैव धर्मों का सह-अस्तित्व था। अभिलेखों से यह भी ज्ञात होता है कि बौद्ध और अबौद्ध विचार-धाराओं के बीच प्रायः शास्त्रार्थ होते रहते थे। महानाम के गया-अभिलेख में इस प्रकार के एक शास्त्रार्थ की चर्चा है।[२] इस प्रकार के शास्त्रार्थों में निस्सन्देह काफी गर्मागर्मी होती रही होगी। पर उससे किसी प्रकार लोक-भावना प्रभावित होती रही हो या विभिन्न सम्प्रदायों के बीच वैमनस्य अथवा असहिष्णुता के भाव उठते रहे हों, इसका कोई स्पष्ट उदाहरण उपलब्ध नहीं होता। इसके विपरीत विभिन्न मतावलम्बियों के बीच एक-दूसरे के प्रति आस्था के भाव ही प्रकट होते हैं। हम देखते हैं कि बंगाल में ब्राह्मण नाथशर्मण और उनकी पत्नी रामी ने अजैन होते हुए भी जैन अर्हत की उपासना के लिए दान-व्यवस्था की थी।[३] मध्यप्रदेश में विश्ववर्मन के मन्त्री मयूराक्ष ने वैष्णव होते हुए न केवल विष्णु के मन्दिर का निर्माण कराया था, वरन् उसने मातृकाओं के लिए भी एक मन्दिर बनवाया था।[४] वहीं, बन्धुवर्मन के शासन काल में मन्दसोर में सूर्यमन्दिर बनाने का उल्लेख जिस अभिलेख में है, उसी में साथ ही इस बात की प्रार्थना की गयी है कि वह मन्दिर तब तक स्थायी रहे जब तक शारङ्गिण (विष्णु) के वक्ष पर शोभित कमल-हार उत्फुल्ल रहे।[५] स्वयं गुप्त सम्राटों में किसी एक धर्म के प्रति आग्रह नहीं जान पड़ता। जहाँ समुद्रगुप्त और प्रथम कुमार गुप्त ने वैदिक यज्ञ किये वहीं द्वितीय चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त ने विष्णु के मन्दिर निर्माण कराये थे। रामगुप्त ने जैन मूर्तियों की स्थापना की थी तो स्कन्दगुप्तोत्तर सम्राटों ने नालन्द में बौद्ध महाविहार के निर्माण में योग दिया था। इस प्रकार गुप्त-काल मे साम्प्रदायिक रूढ़िवादिता नहीं झलकती।

भारतीय दर्शन—जैन और बौद्ध धर्मों की चर्चा करते हुए यथास्थान दोनों धर्मों से सम्बद्ध दर्शनों का उल्लेख किया जा चुका है। उनकी तरह ही वैष्णव और

---

१. का०, इ० इ०, ३, पृ० ४९, अ० पंक्ति ९।
२. वही, पृ० २७६।
३. ए० इ०, २०, पृ० ६२।
४. का० इ० इ०, ३, पृ० ७६, पं० ३६-३७।
५. वही, पृ० ८१, अ० पंक्ति २२।

शैव सम्प्रदायों का अपना कोई स्पष्ट और स्वतन्त्र दर्शन रहा हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। देश में वैदिक काल में जो दार्शनिक उद्भावनाएँ स्थापित हुई थीं, उन्हीं का प्रतिपादन विभिन्न सम्प्रदायवादियों ने अपने ढंग से किया है। इस कारण जैन और बौद्ध दर्शनों से इतर जो भी दार्शनिक चर्चा हुई, उसे लोगों ने एक माना और हिन्दू अथवा भारतीय दर्शन के नाम से अभिहित किया।

भारतीय दर्शन के मूल रूप की झलक उपनिषदों में मिलती है। किन्तु उसे किसी व्यवस्थित दर्शन का नाम नहीं दिया जा सकता। तत्कालीन दार्शनिक विचारों को परवर्ती काल में सूत्र रूप में प्रतिपादित किया गया। फिर उन्हीं सूत्रों का लोगों ने भाष्य उपस्थित किया, फिर उन भाष्यों की व्याख्या प्रस्तुत की गयी। इस प्रकार भारतीय दर्शन साहित्य का विकास हुआ। सूत्रों की व्याख्या और भाष्य के अनुसार भारतीय दर्शन का विकास छ स्वतन्त्र विचारधाराओं में हुआ, जिनके प्रतिपादक के रूप में लोग कणाद, गौतम, अक्षपाद, कपिल, पतंजलि, जैमिनी और बादरायण का नाम लेते हैं। ये विचारधाराएँ क्रमशः वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्व-मीमांसा और उत्तर मीमांसा (वेदान्त) के नाम से पुकारी जाती हैं। कालक्रम में विचार-साम्य अथवा किन्हीं अन्य समानताओं के आधार पर ये षट्दर्शन तीन युग्मों में बँट गये। वैशेषिक और न्याय का एक युग्म बना। सांख्य और योग एक में सम्मिलित हुए। इसी प्रकार दोनों मीमांसाओं का एक गुट बना। कालान्तर में इस तीसरे युग्म में मतभेद उत्पन्न हुआ और उत्तर मीमांसा ने वेदान्त नाम से अपना स्वतन्त्र दर्शन प्रस्तुत किया। इन दर्शनों ने कब और किस प्रकार अपना रूप धारण किया यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। उससे हमें यहाँ कोई प्रयोजन भी नहीं है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि सभी दार्शनिक सूत्रों की रचना गुप्तकाल से पूर्व हो चुकी थी। याकोबी की धारणा है कि न्यायसूत्रों की रचना गुप्त काल अर्थात् चौथी शती ई० में हुई पर अन्य विद्वान् उनसे सहमत नहीं हैं। समझा ऐसा जाता है कि गुप्त काल में दर्शन-सूत्रों के भाष्य की ही रचना की गयी।

न्याय-वैशेषिक दर्शन—न्याय और वैशेषिक दर्शन एक-दूसरे से स्वतन्त्र चिन्तन के परिणाम थे अथवा उनका प्रादुर्भाव एक साथ हुआ, इस सम्बन्ध में विद्वानों में काफी मतभेद है। लोग न्याय से पहले वैशेषिक के अस्तित्व की सम्भावना प्रकट करते हैं। दोनों दर्शनों का विकास भले ही एक-दूसरे से स्वतन्त्र रूप में हुआ हो, उन दोनों में इतना अधिक साम्य है कि लोक-परम्परा ने उन्हें कभी भिन्न नहीं माना।

ये दोनों ही दर्शन आत्मा, ईश्वर और बाह्य संसार के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। उनकी दृष्टि में संसार मिट्टी, जल, अग्नि और वायु का समूह है। ये तत्त्व अणुओं के रूप में अविभज्य सीमा तक विभाजित किये जा सकते हैं। संसार आकाश में फैला हुआ है और वह काल के रूप में घटनाओं की बँधी हुई शृंखला है। आकाश और काल दोनों ही अणु रूप में विभज्य नहीं है और उनका विभाजन केवल विचारों में ही किया जा सकता है।

संसार के ये प्रत्येक तत्त्व अपने-आप में सीमित हैं और वे अपने विशेष गुणों के कारण एक-दूसरे से अलग रूप में पहचाने जा सकते हैं। किन्तु साथ ही उनमें कुछ गुण समान भी हैं जिनसे उन्हें वर्गीकृत भी किया जा सकता है। पर उन समूहों में भी विशेष गुणों के कारण पारस्परिक भिन्नता भी देखी जा सकती है। यह तत्त्वमय संसार परिवर्तित होता रहता है। एक के बाद दूसरी घटनाएँ घटती हैं। तात्पर्य यह कि इसका कोई कारण है। कारण का अर्थ किसी नयी वस्तु को अस्तित्व प्राप्त होना है। इस प्रकार वस्तु, उनके गुण, उनका काल और आकाश के साथ सम्बन्ध इन सबको मिला कर संसार का निर्माण हुआ है।

इस संसार में जो ज्ञेय है, उनमे एक आत्मा भी है जिसे ज्ञान है। वह दुःख भोगती है और जीवन की बुराइयों से बचने की आशा रखती है। संसार और आत्मा के अतिरिक्त एक ईश्वर भी है, जिसने संसार की शाश्वत वस्तुओं की रचना की। ईश्वर के अस्तित्व की कल्पना संसार के कारण के रूप में की जा सकती है। ईश्वर ने केवल संसार की सृष्टि की वरन् वेदों की भी रचना की, जो ज्ञान का अचूक साधन है। ईश्वर ने ही शब्दों को वह शक्ति दी जिससे उनमें निहित अर्थ समझा जाता है।

न्याय-दर्शन में ज्ञान के सिद्धान्त पर विशेष बल दिया गया है और उसे लेकर पीछे बहुत-से साहित्य की रचना हुई। न्याय-सूत्र के अद्यतम प्रतिपादक पक्षिलस्वामिन वात्स्यायन कहे जाते हैं। उन्होने न्याय-भाष्य की रचना की थी। उन्होंने बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन के विचारों का खण्डन किया है और उनके विचारों का विवेचन बौद्ध दृष्टि से दिग्नाग ने किया है। इसलिए समझा यह जाता है कि वे इन दोनों बौद्ध दार्शनिकों के बीच किसी समय हुए थे। तदनुसार उनका समय चौथी शती ई० अनुमान किया जाता है। गुप्त काल में ही प्रशस्तपाद ने पदार्थ-धर्म-संग्रह नाम से वैशेषिक सूत्र का भाष्य प्रस्तुत किया। जो भाष्य मात्र न होकर उक्त विषय पर स्वयं एक मौलिक चिन्तन है। प्रशस्तपाद के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे दिग्नाग और वात्स्यायन के विचारों से प्रभावित प्रतीत होते हैं अतः वे निस्संदेह इन दोनों दार्शनिकों से पीछे हुए होंगे। अतः उनका समय पाँचवीं शती ई० अनुमान किया जाता है।

सांख्य और योगदर्शन—सांख्य और योगदर्शन, दोनों एक-दूसरे के पूरक कहे जाते हैं। सांख्य मात्र बौद्धिक दर्शन है। योग में मानसिक साधना को स्पष्ट किया गया है जिससे दर्शन में प्रतिपादित मत के परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं। सांख्य दर्शन का आरम्भ इस कल्पना के साथ होता है कि जीव तीन प्रकार की बुराइयों और दुःखों से त्रस्त है। पहले प्रकार का दुःख और बुराई मनुष्य के अपने शारीरिक और मानसिक विकार से उत्पन्न होता है यथा—रोग और कष्ट। दूसरे प्रकार का दुःख और बुराई अन्य मनुष्यों और पशुओं के कारण उत्पन्न होता है। यथा—मच्छर का काटना, शेर का आक्रमण करना, घर में चोरी, सड़क पर मारपीट आदि। तीसरे प्रकार का दुःख प्राकृतिक तत्त्वों—आग, वायु और जल से प्राप्त होता है। यथा—आग से घर की सम्पत्ति का जल जाना, तूफान से सामान नष्ट हो जाना, बाढ़ से गाँव, घर, पशु

बह जाना आदि। इन सब दुःखों से सत्य के ज्ञान द्वारा मुक्त हुआ जा सकता है। संसार का निर्माण स्वरूप और उसमें मनुष्य का स्थान, इनकी जानकारी ही सत्य का ज्ञान है।

संसार की रचना एक आदिम मूल—शाश्वत नारी—प्रकृति से हुई है। उसके तीन गुण हैं—सत्व, रजस और तमस। तीनों एक-दूसरे में घुले-मिले हैं। ये गुण हर वस्तु—मनुष्य, पशु, जीव, निर्जीव तथा मनुष्य के कर्म में निहित है। प्रकृति के अतिरिक्त असंख्य आत्माएँ हैं, जिन्हें पुरुष कहा गया है। वे कार्य नहीं करते किन्तु कतिपय अवस्थाओं में अनुभव कर सकते हैं और गुमराह भी हो सकते हैं। जब प्रकृति पुरुष के संसर्ग मे आती है (क्यों और कैसे आती है, यह रहस्य है) तब संसार बुद्धि, आत्म-चेतना, मस्तिष्क, ध्यान, पंच-ज्ञानेन्द्रिय, पंच-कर्मेन्द्रिय तथा पंच तत्त्वों के रूप में फैलने लगती है। इस प्रकार प्रकृति और पुरुष सहित संसार के २५ तत्त्व हैं। पुरुष चेतन होते हुए भी सदा निष्क्रिय रहता है और प्रकृति सक्रिय होते हुए भी चेतनाहीन है। किन्तु पुरुष के सम्पर्क में आकर प्रकृति चेतन हो उठती है। यही परम सत्य है जिसका ध्यान करने से संसार की बुराइयों से बचा जा सकता है।

योग-दर्शन में भी इसी सत्य के ध्यान करने की बात कही गयी है। किन्तु उसमें इस ध्यान के लिए मानसिक शक्ति पर अधिक बल दिया गया है और शरीर को ध्यान के योग्य बनाने के लिए शरीर-साधना की बात कही गयी है। परवर्ती काल में तो योग का अर्थ ही शरीर-साधना माना जाने लगा। कहा गया कि शरीर-साधना और ध्यान से अनेक असाधारण और महामानवीय शक्तियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। सांख्य और योग-दर्शन में स्पष्ट अन्तर यह है कि सांख्य ईश्वर को स्पष्ट रूप से नकारता है। उसका कहना है कि ईश्वर है इसका कोई प्रमाण नहीं है। योग-दर्शन ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करता है और कहता है कि वह मनुष्य से केवल इसलिए ऊँचा है कि मनुष्य बुराइयों से घिरा है और ईश्वर उससे अछूता है। किन्तु इस कथन के साथ ही योग ईश्वर को केवल अप्रत्यक्ष रूप से ध्यान की वस्तु के ही रूप में स्वीकार करता है। उसका कहना है कि उनके ध्यान से ही मस्तिष्क स्थिर हो सकता है। इस प्रकार ईश्वर के धार्मिक स्वरूप को सांख्य और योग दोनों ही नहीं मानते।

गुप्त-काल में सांख्य-सूत्र की व्याख्या ईश्वरकृष्ण ने की थी जो सांख्यकारिका के नाम से प्रसिद्ध है। इसका विशेष महत्त्व माना जाता है और उस पर लोगों ने अनेक टीकाएँ प्रस्तुत की हैं। एक टीका गुप्तकाल में ही माठराचार्य ने की थी जो माठर-वृत्ति के नाम से प्रसिद्ध है। गुप्त-काल के एक दूसरे सांख्यदार्शनिक का नाम विन्ध्यवास है। कुछ लोग विन्ध्यवास को ईश्वरकृष्ण का अपरनाम मानते हैं पर इस अनुमान के पक्ष में जो तर्क दिये जाते हैं वे प्रबल नहीं हैं। विन्ध्यवास के सम्बन्ध में अनुश्रुति यह है कि एक बार अयोध्या में विन्ध्यवास और बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु के गुरु बुद्धमित्र में घोर शास्त्रार्थ हुआ जिसमें बुद्धमित्र पराजित हुए और अयोध्यानरेश विक्रमादित्य ने विन्ध्यवास का खूब सम्मान किया और तीन लाख सुवर्ण मुद्राएँ भेंट कीं। इस शास्त्रार्थ

के पश्चात् जब वसुबन्धु अयोध्या आये तो उन्हें अपने गुरु के पराजय का समाचार मिला। उससे वे बहुत क्षुब्ध हुए। उस समय तक विन्ध्यवास की मृत्यु हो चुकी थी। अतः उन्होंने उनके सांख्य-शास्त्र का खण्डन करने के लिए परमार्थ-सप्तति नामक ग्रन्थ प्रस्तुत किया। किन्तु ये दोनों ही ग्रन्थ आज किसी भी रूप में उपलब्ध नहीं हैं। पतंजलि के योगदर्शन पर अग्रतम टीका व्यास की है जिसमें उन्होंने इस दर्शन का मानीकरण किया है। वे कदाचित् गुप्त काल में ही हुए थे। उनका समय माघ से पहले माना जाता है।

मीमांसा-दर्शन—पूर्व और उत्तर मीमांसा-दर्शनों में उस प्रकार की विचारों की समानता नहीं है, जैसी कि उपर्युक्त चार दर्शनों के युग्मों में देखी जाती है। इनकी एकता अथवा समानता उनके मूल सिद्धान्त में ही है, अन्यथा विस्तार में इतना अधिक भेद है कि परवर्ती काल में वे सहज रूप से दो स्पष्ट और स्वतन्त्र विचारधाराओं में बिखर गये। दोनों की मूलभूत एकता केवल इस बात में है कि दोनों ने वैदिक साहित्य—ऋचा, ब्राह्मण और उपनिषद् की व्याख्या अथवा भाष्य उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। उनकी मान्यता है कि ज्ञान के साधन के रूप में वेद अथाह है, इसलिए वह समस्त दर्शन का आधार है। वे ईश्वर की आवश्यकता को अस्वीकार करते हुए कर्म पर जोर देते हैं। उनका कहना है कि वर्ण और धर्म के अनुसार कर्म अनिवार्य है और उसे मृत्यु पर्यन्त करना चाहिए। कर्म की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि कुछ ऐसे कर्म हैं जो अनिवार्य हैं और उन्हें प्रत्येक अवस्था में किया जाना चाहिए। कुछ ऐसे कर्म हैं, जिन्हें तभी करना चाहिए जब किसी वस्तु की प्राप्ति की आवश्यकता हो। यथा—पुत्र की आवश्यकता होने पर ही तत्सम्बन्धी कर्म किया जाना चाहिए। यदि पुत्र की इच्छा न हो तो वह कर्म नहीं करना चाहिए। कुछ ऐसे भी कर्म हैं जिन्हें कदापि नहीं करना चाहिए, अथवा जिनका करना पाप है। उनकी दृष्टि में एक चौथे प्रकार का भी कर्म है जो निषिद्ध कार्य करने के पाप के प्रायश्चित्तस्वरूप किया जाना चाहिए। मीमांसाकार संसार को आभास मात्र बताते हैं किन्तु आत्मा की नित्यता को स्वीकार करते हैं। गुप्तकाल में मीमांसाओं पर किसी प्रकार की व्याख्या या भाष्य प्रस्तुत किया गया हो ऐसा नहीं प्रतीत होता। कदाचित् मीमांसा की ओर लोगों का ध्यान गुप्त काल के पश्चात् ही गया।[1]

---

१. विस्तृत परिचय के लिए देखिये—एस० एन० दास गुप्त, इण्डियन फिलासफी (४ खण्ड); राधाकृष्णन, इण्डियन फिलासफी (२ खण्ड); आर० गार्बे, फिलासफी ऑफ एन्शियण्ट इण्डिया।

साहित्य और विज्ञान

भाषा—गुप्त-काल से पूर्व बौद्ध और जैन धर्म का कुछ अधिक प्रचार था और उनका साहित्य पाली और प्राकृत में प्रस्तुत किया गया था। इस कारण सामान्य धारणा यह है कि गुप्त-काल में उन धर्मों का ह्रास हुआ और उनके साथ वैष्णव और शैव धर्म आगे आया। धर्म सम्बन्धी इस नवचेतना के साथ ही साहित्य में भी पुनर्जागरण हुआ और पाली तथा प्राकृत का स्थान संस्कृत ने ग्रहण किया। किन्तु यह धारणा अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण है। संस्कृत साहित्य किसी समय भी उपेक्षित नहीं रहा। गुप्तों से पूर्व भी लोग उसके महत्त्व को जानते और मानते रहे। इसका प्रमाण भास और अश्वघोष की रचनाएँ हैं। यदि शक नरेश रुद्रदामन (प्रथम) के प्रशस्ति-कार की बात स्वीकार करें तो कहना होगा कि संस्कृत का महत्त्व राज-दरबार में भी बना हुआ था। रुद्रदामन (प्रथम) अपने अवकाश के क्षणों को संस्कृत के अध्ययन में व्यतीत करता था और उसने संस्कृत में अनेक ललित रचनाएँ प्रस्तुत की थीं। धर्म के क्षेत्र में महायानी बौद्धों ने गुप्तों के उत्थान से लगभग एक शताब्दी पहले ही अपने धार्मिक ग्रन्थों की रचना संस्कृत में करना आरम्भ कर दिया था। इस प्रकार संस्कृत की अजस्र धारा जो पूर्ववर्ती काल से चली आ रही थी, वही धारा गुप्त-काल में कुछ अधिक मुखरित हुई यही कहना उचित होगा। इसी प्रकार गुप्त काल में पाली और प्राकृत के ह्रास अथवा उन्मूलन की बात भी गलत है। गुप्त-काल में श्वेताम्बर जैनों के जितने भी धार्मिक ग्रंथ प्रस्तुत हुए वे सब अर्ध-मागधी प्राकृत में हैं। दक्षिण के दिगम्बर जैनों ने महाराष्ट्री और शौरसेनी प्राकृत में अपने ग्रन्थ लिखे। बौद्ध धर्म ग्रंथों पर जो टीकाएँ प्रस्तुत हुई उनमें पाली का व्यवहार हुआ। संस्कृत लेखकों द्वारा भी ये भाषाएँ उपेक्षित नहीं हुई। उन लोगों ने अपनी रचनाओं में यथा अवसर उनका उपयोग किया है।

साहित्य—भाषा के समान ही गुप्त-कालीन साहित्य भी क्रमागत साहित्यिक परम्परा में ही है। उसे किसी भी रूप में स्वतन्त्र अध्याय नहीं कहा जा सकता। इतना ही कहा जा सकता है कि गुप्त शासक स्वयं विद्वान् थे और उन्होंने विद्वानों को संरक्षण प्रदान किया जिसके कारण साहित्य की विभिन्न दिशाओं में विकास करने का विशेष अवसर प्राप्त हुआ और इस काल में उच्च कोटि के साहित्य का सर्जन सम्भव हो सका। गुप्तकालीन साहित्य को सुविधानुसार स्पष्टतः दो रूपों में देखा जा सकता है। एक तो उसका वह रूप है जिसमें विभिन्न धर्मों के साहित्य का सर्जन हुआ। इस प्रकार के साहित्य में प्रधानता दर्शन ग्रन्थों की है जिनकी रचना जैन, बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्मों की पृष्ठभूमि में हुई थी। इन वर्ग के साहित्य की समुचित चर्चा हम पिछले प्रकरण में कर चुके हैं। इनके साथ ही इस काल में पुराणों और धर्मशास्त्रों (स्मृतियों)

का भी निरूपण हुआ। इस काल के साहित्य का दूसरा रूप लोकरंजन का था, जिसके अन्तर्गत काव्य, नाटक, कथा, व्याकरण, अलंकार-ग्रन्थ, कोश आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

पुराण—अथर्ववेद और बृहदारण्यक उपनिषद् में उल्लिखित अनुश्रुतियों के अनुसार पुराण देव कृति है; किन्तु पुराणों का वास्तविक अस्तित्व सूत्र काल से ही प्राप्त होता है। पुराणों की अपनी अनुश्रुतियों के अनुसार उन्हें व्यास के माध्यम से ब्रह्मा से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर लोमहर्षण अथवा उनके पुत्र उग्रश्रवस (सौति) ने प्रस्तुत किया था। पुराण का सीधा-सादा सामान्य अर्थ तो पुरा-वृत्त है किन्तु उसके इस स्वरूप की किसी विशेषता की कोई झलक उनमें नहीं मिलती। परम्परागत परिभाषा के अनुसार उनमें (१) सर्ग अर्थात् विश्व की उत्पत्ति, (२) प्रति-सर्ग अर्थात् प्रलय के पश्चात् पुनरोत्पत्ति, (३) वंश, (४) मन्वन्तर अर्थात् मनु से आरम्भ कर विभिन्न कालों की चर्चा और (५) वंशानुचरित अर्थात् सूर्य और चन्द्र वंश के इतिहास का संकलन हुआ है। किन्तु पुराणों की इस परिभाषा और उपलब्ध पुराणों में काफी अन्तर है। कतिपय पुराणों में तो उपर्युक्त पाँचों विषयों की प्रायः उपेक्षा ही देखने में आती है। उनके स्थान पर उनमें शिव अथवा विष्णु की महत्ता का ही उल्लेख किया गया है और उनसे सम्बन्धित तीर्थों का वर्णन है अथवा वर्णाश्रम धर्म की चर्चा है। इस प्रकार उपलब्ध रूप में पुराणों में हिन्दू धर्म के विविध रूपों—कथा-अनुश्रुति, मूर्ति पूजा, एकेश्वरवाद, अनेकेश्वरवाद, दर्शन, विश्वास, उत्सव, व्रत, आचार आदि का ही वर्णन है।

ऐसा जान पड़ता है कि ईसा-शती से पूर्व पुराणों का जो स्वरूप था, उसे परवर्ती काल में जन-साहित्य का एक नया रूप दिया गया ताकि वैष्णव और शैव धर्मों के साथ प्राचीन कर्मकाण्ड, वैदिक आचार और विश्वास, स्मृतियों और धर्मशास्त्रों आदि सबका समन्वित रूप उपस्थित किया जा सके। उनका मुख्य उद्देश्य वर्णाश्रम-धर्म को प्रमुखता प्रदान करना था। अनुमान है कि तीसरी और पाँचवीं शती ई० के बीच पुराणों का जो स्वरूप था उसमें केवल उन्हीं आचार-व्यवहार सम्बन्धी बातों की चर्चा थी जो मनु, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियों के विषय थे। छठी शती ई० के लगभग उनमें दान, तीर्थ-माहात्म्य, प्रतिमा-प्रतिष्ठा, ग्रह-शान्ति आदि विषयों का समावेश किया गया। इस प्रकार उपलब्ध पुराणों की रचना विभिन्न कालों में की गयी, ऐसा ज्ञात होता है। उनका कोई निश्चित काल-क्रम प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है।

सहज भाव से यही कहा जा सकता है कि विष्णु, वायु, मार्कण्डेय, ब्रह्माण्ड और भागवत पुराणों का संस्कार चौथी और छटीं शती के बीच गुप्त काल में हुआ। वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु और भागवत पुराणों में राजवंशों के प्रसंग मे गुप्त वंश का उल्लेख किया गया है। इस कारण उनको चौथी शती से पूर्व नहीं रखा जा सकता। वायु-पुराण का उल्लेख हर्षचरित में हुआ है जिससे ज्ञात होता है कि सातवीं शती से पूर्व

उसका अस्तित्व था। यही बात मार्कण्डेय पुराण के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। बाणकृत चण्डी-शतक और भवभूति कृत मालती-माधव उक्त पुराण के देवी-माहात्म्य अथवा चण्डी-पाठ से प्रभावित प्रतीत होते हैं।

इन सब पुराणों में मार्कण्डेय पुराण, जिसे ऋषि मार्कण्डेय के मुख से कहलाया गया है, सबसे प्राचीन प्रतीत होता है। उसमें इन्द्र, अग्नि और सूर्य सदृश वैदिक देवताओं का उल्लेख है; साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि उसमें शिव और विष्णु की प्रशंसा का सर्वथा अभाव है। यह पुराण मुख्यतः वर्णनात्मक है और यह अन्य पुराणों में प्रखर रूप से दिखाई पड़नेवाले साम्प्रदायिक तत्त्वों से अपेक्षाकृत मुक्त जान पड़ता है।

विष्णु पुराण में पुराण की मान्य-व्याख्या का परिपालन बहुलांशों में दिखाई पड़ता है और उसमें उनका मूल रूप अधिक सुरक्षित जान पड़ता है। किन्तु साथ ही इसमें विष्णु को सर्वोपरि, संसार का स्रष्टा और रक्षक बताया गया है। इसके प्रथम खण्ड में विश्व की सृष्टि, देव और दानवों की चर्चा है। इनमें वर्णित कथाओं और अनुश्रुतियों में समुद्र-मंथन, ध्रुव और प्रह्लाद की कथाओं का मुख्य रूप से उल्लेख किया जा सकता है। दूसरे खण्ड में स्वर्ग, नरक और पृथ्वी का वैचित्र्यपूर्ण वर्णन है। तृतीय खण्ड में मनु और मन्वन्तरों की चर्चा है। चतुर्थ खण्ड में सूर्य और चन्द्र वंश का इतिहास है। पंचम खण्ड में कृष्ण और उनकी अद्भुत लीलाओं का वर्णन है। छठे और अन्तिम खण्ड में कलियुग सम्बन्धी भविष्यवाणी है।

वायु पुराण में भी मूल बहुत कुछ सुरक्षित जान पड़ता है। इसमें सामान्य बातों के अतिरिक्त शिव की महिमा कही गयी है जिसके कारण लोग इसे शिव पुराण की भी संज्ञा देते हैं। ब्रह्माण्ड पुराण के सम्बन्ध में कहा जाता है कि ब्रह्माण्ड की महिमा प्रकट करने के लिए ब्रह्मा ने इसकी रचना की थी। इसमे भावी कल्पों की चर्चा है। किन्तु उसके उपलब्ध रूप का इस कथन से कोई मेल नहीं है। उसमें तीर्थों की महत्ता का वर्णन और स्तुति मात्र ही है। अध्यात्म-रामायण को इसी पुराण का अंग बताया जाता है। इसमें वेदान्त के एकवाद और राम-भक्ति से मुक्ति प्राप्त करने की बात कही गयी है।

भागवत पुराण विवेच्य काल के अन्तर्गत सबसे बाद की रचना कही जाती है और उसके मूल होने के सम्बन्ध में अनेक लोगों ने सन्देह प्रकट किया है। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि यह बोपदेव की रचना है। इसमे बारह स्कन्ध हैं। दशम स्कन्ध के अतिरिक्त अन्य स्कन्धों में प्रायः वैसी ही बातें कही गयी है जो अन्य पुराणों में पायी जाती है। दशम स्कन्ध में कृष्ण लीला का विस्तृत वर्णन है। इस पुराण की एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि इसमें सांख्य दर्शन के प्रवर्तक कपिल और बुद्ध का उल्लेख विष्णु के अवतारों के रूप में किया गया है।

इन पुराणों के अतिरिक्त कुछ उपपुराण भी कहे जाते हैं, जिनकी रचना प्रायः

स्थानीय लोक-विश्वासों और धार्मिक सम्प्रदायों की दृष्टि से की गयी थी। इन उप पुराणों में विष्णुधर्मोत्तर पुराण के सम्बन्ध में अनुमान है कि वह गुप्त काल की रचना है। यह कश्मीर में रचित वैष्णव ग्रंथ है। किन्तु इसका महत्त्व इस बात में है कि इसमें नृत्य, संगीत, चित्रकला और मूर्तिकला आदि ललित कलाओं का परिचय विस्तार के साथ दिया गया है।

स्मृति-ग्रन्थ—गुप्त काल में प्रस्तुत की गयी स्मृतियों में नारद, कात्यायन और बृहस्पति का प्रमुख स्थान है। इन स्मृतियों में तत्कालीन प्रचलित विधि और विधानों का विस्तृत वर्णन है। इनमें कात्यायन स्मृति अधिक महत्त्व का समझा जाता है और उसका समय ४०० और ६०० ई० के बीच अनुमान किया जाता है। किन्तु यह स्मृति आज उपलब्ध नहीं है; उसका परिचय यत्र-तत्र दिये गये उद्धरणों से ही मिलता है। कुछ लोग देवल स्मृति को भी कात्यायन स्मृति की समकालिक रचना अनुमान करते हैं, किन्तु उसके गुप्तकालीन होने की बात अत्यन्त सन्दिग्ध है।

कुछ लोग व्यास स्मृति को भी गुप्तकालीन मानते हैं। यह चार अध्यायों में विभक्त मात्र २५० श्लोकों में लिखी गयी थी। अपरार्क आदि ने इसके जो उद्धरण प्रस्तुत किये हैं, उनसे ज्ञात होता है कि यह व्यवहारपाद का ग्रन्थ था और उसका मत बहुत कुछ नारद, कात्यायन और बृहस्पति के समान ही था। पाराशर नामक एक अन्य स्मृति के भी इस काल की रचना होने की बात कही जाती है। वह किसी प्राचीन स्मृति का नवसंस्कृत रूप समझा जाता है और इसके अनेक श्लोक मनुस्मृति के समान ही हैं। नवीं शती ई० में इस स्मृति का विशेष महत्त्व माना गया था।

पुलस्त्य, पितामह, हारीति स्मृतियाँ भी ४०० और ७०० ई० के बीच की रचना अनुमान की जाती है पर उनके सम्बन्ध की जानकारी परवर्तीकालीन ग्रन्थों में प्राप्त थोड़े-से उद्धरणों तक ही सीमित है।

गुप्तकाल के अन्तिम भाग में लोग स्मृति-ग्रंथों पर टीका प्रस्तुत करने लगे थे, किन्तु इस काल के टीकाकारों में मात्र असहाय का नाम अभी तक जाना जा सका है। उनका समय ६०० और ७०० ई० के बीच अनुमान किया जाता है। उन्होंने नारद-स्मृति की टीका प्रस्तुत की थी। कदाचित् उन्होंने गौतम और मनुस्मृति की भी टीका की थी।

लोक-रंजक साहित्य—गुप्त काल में लोक-रंजक साहित्य का प्रणयन निस्सन्देह बहुत बड़ी मात्रा में हुआ होगा; किन्तु उनसे सम्बन्धित सामग्री आज बहुत अधिक उपलब्ध नहीं है। जो कुछ सामग्री आज उपलब्ध है, उससे ऐसा प्रकट होता है कि इस प्रकार का साहित्य प्रस्तुत करनेवाले तीन वर्ग के लोग थे। एक तो शासक वर्ग स्वयं था, जो साहित्यकारों को संरक्षण प्रदान करता था, उनकी रचनाओं में रस लेता था और उनके साथ घुल-मिलकर स्वयं भी कुछ साहित्य सर्जन का प्रयास करता था। दूसरा वर्ग ऐसे साहित्यिकों का था जो राज्याश्रय प्राप्त कर राजा की प्रशस्ति-गान में

ही अपने ज्ञान और प्रतिभा का परिचय प्रस्तुत किया करता था। तीसरे प्रकार के साहित्यिक वे थे जिन्होंने अपनी प्रतिभा का अपनी रचनाओं में उन्मुक्त प्रदर्शन किया है और साहित्य के क्षेत्र में उनका अपना मान-सम्मान है। गुप्त काल के प्रथम वर्ग के साहित्यकार शासकों में समुद्रगुप्त, प्रवरसेन और मातृगुप्त का नाम मुख्य रूप से सामने आता है। दूसरे वर्ग अर्थात् प्रशस्तिकारों में हरिषेण, वत्सभट्टि, वसुल और रविशान्ति के नाम हमें उनकी प्रशस्ति रचनाओं से ज्ञात होते हैं। तृतीय वर्ग के उन्मुक्त साहित्यकारों में कालिदास, भर्तृमेण्ठ, विशाखदत्त, शूद्रक, सुबन्धु, भारवि आदि का नाम आज आदर के साथ लिया जाता है। प्रथम दो श्रेणियों के साहित्यकारों का समय बहुत कुछ निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है किन्तु तीसरे वर्ग के साहित्यकारों का समय निर्धारण करना सहज नही है। उन्होंने अपनी रचनाओं में ऐसी कोई सामग्री नहीं दी है जिससे उनके अपने सम्बन्ध की सहज जानकारी हो सके। अन्यान्य साधनों से ही उनके समय का अनुमान करने की चेष्टा विद्वानों ने की है। इस कारण उनके समय के सम्बन्ध में प्रायः गहरा मतभेद पाया जाता है। एक विद्वान् के अनुमान से दूसरे विद्वान् के अनुमान में प्रायः सदियों का अन्तर देखने में आता है। इस प्रकार जिन साहित्यकारों को हमने यहाँ गुप्तकालीन माना है, उनके सम्बन्ध में कुछ लोगों की धारणा हो सकती है कि वे गुप्तकाल से पहले हुए थे अथवा उनका समय गुप्तकाल के बाद है। पाठकों को इस तथ्य के प्रति सजग करते हुए हम यहाँ थोड़े-से प्रमुख साहित्यकारों का ही परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं।

समुद्रगुप्त—प्रयाग प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि सम्राट् समुद्रगुप्त स्वयं विद्वान् थे और साहित्य के प्रति उनकी उच्च कोटि की रुचि थी। उन्होंने अनेक श्रेष्ठ काव्यों की रचना की थी जिनके कारण वे कविराज समझे जाते थे। उनके राज-दरबार में अनेक साहित्यकार थे और वे स्वय अपनी साहित्य-सभा की अध्यक्षता किया करते थे। किन्तु उनकी कोई रचना आज उपलब्ध नहीं है। कृष्ण-चरित नामक एक काव्य के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि वह उनकी रचना है पर यह किसी प्रकार निश्चित नहीं है।[१] उनके राजदरबारी साहित्यकारों के सम्बन्ध की भी कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती।

प्रवरसेन—वाकाटक नरेश और द्वितीय चन्द्रगुप्त के दौहित्र प्रवरसेन के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे महाकवि कालिदास के शिष्य थे और उन्होंने महाराष्ट्री प्राकृत में सेतुबन्ध नामक काव्य की रचना की थी।[२] उसमें उन्होंने राम के लंका-यात्रा से रावण-वध और सीता-प्राप्ति तक की रामायण की कथा प्रस्तुत किया है। इस कारण यह काव्य रावण-वध के नाम से भी पुकारा जाता है। इसकी रचना संस्कृत काव्यों की शैली में हुई है और उसमें उसकी सारी विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं।

---

१. पीछे, पृ० १११।

२. पीछे, पृ० १११-१२।

मातृगुप्त—मातृगुप्त का परिचय कल्हण की राजतरंगिणी से मिलता है। कहा जाता है कि वे जन्मना अत्यन्त निर्धन थे। आश्रय की खोज में वे उज्जयिनी नरेश विक्रमादित्य के दरबार में गये और राजा के सम्मुख अपनी रचनाओं का पाठ किया। विक्रमादित्य ने प्रसन्न होकर उन्हें प्रचुर धन देकर सम्मान प्रदान किया और जब कश्मीर नरेश हिरण्य निःसन्तान मरा तो उसके स्थान पर विक्रमादित्य ने इन्हें ही शासक नियुक्त कर दिया।[1] कुछ लोग मातृगुप्त को कालिदास से अभिन्न मानते हैं। किन्तु ऐसा कहने का कोई प्रबल आधार नहीं है। मातृगुप्त की कोई रचना आज उपलब्ध नहीं है। उनके काव्य का परिचय केवल उन थोड़ी-सी पंक्तियों से मिलता है जो विविध ग्रंथों में उद्धरण के रूप में संकलित है। रावणभट्ट ने अपनी शकुन्तला की टीका में मातृगुप्त के अनेक उद्धरण दिये हैं जिनसे अनुमान होता है कि उन्होंने नाट्यशास्त्र विषयक कोई ग्रंथ लिखा था और सम्भवतः यह ग्रंथ भरत के नाट्यशास्त्र की टीका के रूप में था। उनकी कुछ पंक्तियाँ सुभाषित संग्रहों में भी उपलब्ध होती हैं। उनसे उनके एक अच्छे कवि होने का अनुमान होता है। उनकी भाषा सुन्दर और भावपूर्ण है और वे चित्र प्रस्तुत करने में दक्ष जान पड़ते हैं।

हरिषेण—गुप्तकालीन ज्ञात प्रशस्तिकारों में हरिषेण कदाचित् सबसे प्राचीन हैं। वे सम्राट् समुद्रगुप्त के सान्धिविग्रहिक, महादण्डनायक और कुमारामात्य थे। उनके पिता ध्रुवभूति भी दण्डनायक थे।[2] वे कदाचित् शिवभक्त थे, ऐसा राखालदास बनर्जी का अनुमान है।[3] राज्याधिकारी होते हुए अपने सम्राट् की तरह ही काव्य के प्रति इनकी रुचि थी। यह रुचि कदाचित् सम्राट् के संसर्ग में रहने से ही उत्पन्न हुई थी।[4] इनकी एकमात्र उपलब्ध रचना प्रयाग-प्रशस्ति है जिसमें उन्होंने समुद्रगुप्त का यशोगान किया है।[5] यह चम्पू काव्य है जिसमें आरम्भ में स्रग्धरा और शार्दूलविक्रीडित छन्द है जिनमें समुद्रगुप्त की कीर्ति वर्णन है। तदनन्तर एक बृहत् एक-वाक्यात्मक गद्य है जिसमें समुद्रगुप्त के दिग्विजय की चर्चा है। अन्त मे एक पृथ्वी छन्द है जिसमें उनके विमल यश के त्रैलोक्य में फैलने की बात कही है। प्रशस्ति होते हुए भी यह रचना काव्योचित गुणों से परिपूर्ण है, उसे देखने से ज्ञात होता है कि हरिषेण वैदर्भी (सरल) और गौड़ी (अलंकृत) दोनों शैलियों की रचना में निष्णात थे। अपने गद्य में समास बहुलता उपस्थित कर उन्होंने अपनी गाढ़बन्धता का परिचय दिया है। उनका एक समस्त-पद १२० अक्षरों का है जो कदाचित् संस्कृत भाषा मे प्रयुक्त समस्त-पदों में सबसे लम्बा है। उनकी रचना में अलकार की छटा बिखरी हुई है। उनका शब्द चयन भी

---

१. राजतरंगिणी २।१२५।
२. प्रयाग प्रशस्ति पं० ३२ (पीछे, पृ० ७ ।
३. द एज ऑव इम्पीरियल गुप्ताज, पृ० १०२।
४. समीप-परिसर्पणानुग्रहोन्मीलित मतेः (प्रयाग प्रशस्ति, पं० ११)।
५. पीछे, पृ० ५७।

अनूठा है। उनकी भाषा का ओज उस अंश में देखने में आता है जिसमें उन्होंने समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारी मनोनीत किये जाने की रोमाञ्चक स्थिति का वर्णन किया है। इस प्रशस्ति के देखने से हरिषेण अत्यन्त प्रतिभाशाली काव्य-कुशल प्रकट होते हैं। उनकी शब्दावली और भावों में कालिदास की रचनाओं के साथ इतनी अधिक समता है कि ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास उनसे अत्यधिक प्रभावित थे। आश्चर्य नहीं यदि कालिदास उनके शिष्य रहे हों।

वत्सभट्टि—प्रथम कुमारगुप्त के शासन काल में दशपुर निवासी तन्तुवायों ने जो सूर्य मन्दिर बनवाया था और जिसका उन्होंने पीछे चलकर जीर्णोद्धार कराया, उस पर उन्होंने जो अभिलेख अंकित कराया था[1], उसके रचयिता के रूप में वत्सभट्टि का नाम सामने आता है। इस प्रशस्ति में वत्सभट्टि ने आरम्भ के तीन श्लोकों में विभिन्न वृत्त और ललित शब्दावली सूर्य की स्तुति प्रस्तुत की है। तदनन्तर उन्होंने दशपुर का अत्यन्त मनोरम वर्णन प्रस्तुत किया है पश्चात् वहाँ के स्थानीय शासक की प्रशस्ति है। इस रचना में भाषा-सौष्ठव के साथ-साथ अर्थगौरव भी अपनी विशिष्टता की अभिव्यक्ति करता है। उसे देखने से ज्ञात होता है कि उन पर कालिदास की गहरी छाप है। प्रशस्तिकार होते हुए भी वे निस्सन्देह एक प्रतिभावान कवि थे।

वासुल—वासुल भी दशपुर के ही कवि थे। कदाचित् वे यशोधर्मन् के राजकवि रहे होंगे। उनके पिता का नाम कक्क था। उनकी रचना के रूप में मन्दसोर-प्रशस्ति प्राप्त हुई है[2] जिसमें उन्होंने यशोवर्धन का यशगान किया है। इनकी इस रचना में उत्प्रेक्षा का अच्छा चमत्कार है।

रविशान्ति—रविशान्ति मौखरि नरेश ईशानवर्मन के आश्रित थे। ये गर्गराकट के निवासी थे और उनके पिता का नाम कुमारशान्ति था। उन्होंने मौखरि-वंश की प्रशस्ति हड़हा अभिलेख में प्रस्तुत की है[3] जो समास बहुल है और भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से सराहनीय है।

इन प्रशस्तिकारों के अतिरिक्त गुप्त काल में कुछ अन्य प्रशस्तिकार भी थे जिनकी रचनाओं से तो हम परिचित हैं पर उनके नामों से अनभिज्ञ। उन्होंने अपनी रचनाओं में अपना नामोल्लेख नहीं किया है। ऐसी रचनाओं मे स्कन्दगुप्त कालीन जूनागढ़ अभिलेख है जिसे रचनाकार ने 'सुदर्शन-तटाक-संस्कार-ग्रंथ' का नाम दिया है।[4] इसकी भाषा आलंकारिक होते हुए भी उसकी पदावली अत्यन्त कोमल है और अर्थ तथा भाव की दृष्टि से सराहनीय है।

भर्तृमेण्ट—भर्तृमेण्ट का उल्लेख राजतरंगिणी में मिलता है।[5] कल्हण के

---

१. का० इ० इ०, ३, पृ० ७९।

२. वही, पृ० १४६।

३. ए० इ०, १४, पृ० ११५।

४. पीछे, पृ० २९-३२।

५. राजतरंगिणी, ३।२६०।

कथनानुसार इन्होंने हयग्रीव-वध नामक काव्य की रचना की थी। उसे लेकर वे कश्मीर नरेश मातृगुप्त के यहाँ गये थे। मातृगुप्त ने उनका समुचित आदर किया। मातृगुप्त उस काव्य की रसात्मकता से इतने प्रभावित हुए कि जब भर्तृमेण्ठ अपनी पुस्तक समेटने लगे तो उन्होंने उसके नीचे सोने की थाली रखवा दी, कहीं उसका रस भूमि पर बिखर न जाय। यह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं है; केवल उसकी कुछ पंक्तियाँ यत्र तत्र सूक्ति-संग्रहों एवं काव्य-शास्त्रों में उदाहरण स्वरूप देखने में आयी हैं। उनसे ही इस काव्य के सौन्दर्य और सरसता का अनुमान किया जा सकता है। उनकी वाक्य-रचना अत्यन्त सरल है और भावों में उन्मुक्त स्पष्टता है।

भर्तृमेण्ठ नाम के आधार पर कुछ लोगों का अनुमान है कि वे हाथीवान अथवा महावत थे। संस्कृत में मेण्ट का यही शाब्दिक अर्थ होता है। इसी कारण सूक्ति-संग्रहों में जो पंक्तियाँ हस्तिपक नाम से मिलती हैं, उनको भी लोग भर्तृमेण्ठ की ही रचना मानते हैं। उनके प्रश्रयदाता मातृगुप्त की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। उनकी समसामयिकता के आधार पर इन्हें पाँचवीं शती के पूर्वार्द्ध में रखा जा सकता है।

कालिदास—कालिदास का स्थान भारतीय कवियों और नाट्यकारों में सर्वोपरि माना जाता है। उन्हें कविकुलगुरु कहा गया है। उनकी रचनाएँ सभी कालों में प्रशंसित रही हैं और उन्हें देश में ही नहीं, विदेश में भी लोकप्रियता प्राप्त हुई है। वे भारतीय काव्य शैली के निस्सन्दिग्ध महान् आचार्य थे। उनकी रचनाओं में सौन्दर्य और सादगी दोनों की ही सहज रूप से झलक मिलती है। उनके वाक्यों की सौम्यपूर्ण चारुता, भाषा और भावों की सूक्ष्मता, पुरुष और प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण, सौन्दर्य का आत्म-बोध, उपमा और अलंकारों का साधिकार प्रयोग, विचारों की गम्भीरता, अभिव्यक्ति की तीक्ष्णता, सबने उन्हें अमरत्व प्रदान किया है। उपमाओं का जिस कौशल से उन्होंने प्रयोग किया है, वह अनुपम है। उनकी उपमाओं में विविधता, पटुता और सुन्दरता सभी का अद्भुत मिश्रण देखने में आता है। चरित्र-चित्रण में तो कदाचित् ही कोई उनकी बराबरी कर सके। प्रेम और करुण रस के वर्णन में तो उन्होंने सबको मात दे दिया है। उनकी रचनाओं में काव्यात्मकता और सौन्दर्य-बोध के अतिरिक्त जीवन के विविध क्षेत्रों और विभिन्न समाज के बीच मनुष्य के दायित्व और कर्तव्य की उत्प्रेरणा, जनोपयोगी शिक्षा और नीतिपरक बातें भरी हुई हैं।

कालिदास की रचनाओं की संख्या सात कही जाती है और उनमें चार—ऋतु-संहार, मेघदूत, कुमारसम्भव और रघुवंश काव्य और तीन—मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटक हैं। कवि क्षेमेन्द्र ने कुन्तलेश्वर-दौत्यम् नामक नाटक को भी कालिदास कृत बताया है; किन्तु इस नाटक के कतिपय उद्धरण मात्र ही भोज कृत शृंगार प्रकाश, सरस्वती कण्ठाभरण, मंखुक कृत साहित्य-दर्पण, राजशेखर कृत काव्य-मीमांसा और क्षेमेन्द्र कृत औचित्य-विचार-चर्चा में मिलते हैं।[१]

१. पीछे, पृ० ११२-१३।

उनके आधार पर कालिदास अथवा इस रचना के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

ऋतुसंहार—सम्भवतः कालिदास की आरम्भकालिक रचना है। इसमें केवल १५३ श्लोक है जो छः सर्गों में विभक्त हैं। प्रत्येक सर्ग में एक ऋतु का वर्णन किया गया है। इसमें प्रकृति को विभिन्न भावों और उनका नर-नारी पर पड़नेवाले प्रभावों को अत्यन्त मनोहारी रूप में प्रस्तुत किया गया है। उसमें कवि का सूक्ष्म प्रकृति निरीक्षण और प्रकृति-प्रेम दोनों ही प्रतिबिम्बित होता है। किन्तु विषय की सहजता और चरित्र-चित्रण के अवसर के अभाव के कारण यह रचना पाठकों को अधिक आकृष्ट नहीं कर पाती, तथापि उसका जो निजत्व है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

दूसरी रचना **मेघदूत** भी कालिदास की लघु रचना है। सौ से कुछ अधिक मन्दाक्रान्ता छन्दों में उन्होंने अपनी कवि-कल्पना को सशक्त रूप में बहुज्ञता के साथ प्रस्तुत किया है। अपनी प्रेमिका से बिछुड़ा हुआ यक्ष आषाढ़ के प्रथम दिन उमड़ते हुए मेघ को देखकर उससे अपने निर्वसन स्थान रामगिरि से प्रेमिका के निवास स्थान अलका तक सन्देश ले जाने का अनुनय करता है। कवि ने गन्तव्य स्थल तक जाने-वाले मार्ग का विस्तार के साथ वर्णन किया है और मार्ग में पड़नेवाले उल्लेखनीय विविध स्थानों की चर्चा की है। इसमें कवि ने सम्पूर्ण वातायन को सुनियोजित शब्दावली में मनोरम रूप से प्रस्तुत किया है। नदी, पर्वत, नगर, ग्राम, सब सजीव रूप में उभरते हुए सामने आते हैं। कालिदास ने उन सबको बड़े ही भावोद्रेक के साथ कल्पनापूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। **ऋतुसंहार** में प्रकृति वर्णन की जिस क्षमता के अंकुर दिखाई पड़ते हैं, उसका पूर्ण प्रस्फुटन इस काव्य में हुआ है और मानव की निश्छल, कोमल और गहरी प्रेम भावना इसमे अजस्र रूप मे फूट पड़ी है। फलतः काव्यालोचकों ने इसकी निरन्तर भूरि-भूरि सराहना की है। भारतीय आलोचकों ने तो अभिव्यंजना की सूक्ष्मता, विषय की बहुलता और भावना की अभिव्यक्ति की शक्ति के कारण इसे कालिदास की सर्वोत्कृष्ट रचना ठहराया है। कुछ लोगों ने इसे गीत कहा है तो कुछ ने इसे विरह-सन्देश की संज्ञा दी है और कुछ ने इसे एकान्तालाप कहा है। लोगों की धारणा है कि कालिदास को इसकी प्रेरणा योगिनीमाहात्म्य के आषाढ़-कृष्ण-एकादशी कथा से प्राप्त हुई होगी।

कालिदास की अन्य दो रचनाएँ—**कुमारसम्भव** और **रघुवंश** महाकाव्य की श्रेणी में आते हैं। **कुमारसम्भव** में कवि ने एक अत्यन्त असाधारण विषय को उठाया है और उसे पूरा करने में उन्होंने अद्भुत सफलता प्राप्त की है। उसमें उन्होंने देवताओं के प्रेम और क्रीड़ा का वर्णन किया है। यह काव्य हिमालय-कन्या पार्वती और शिव के प्रेम से आरम्भ होकर कुमार (कार्तिकेय) के जन्म के साथ समाप्त होता है। यह काव्य यद्यपि अठारह सर्गों में मिलता है तथापि उसके केवल प्रथम आठ सर्ग ही कालिदास कृत माने जाते हैं; शेष के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे किसी अथवा

किन्हीं परवर्ती कवियों की रचना है। प्रवाद है कि आठवें सर्ग में कालिदास ने पार्वती के उत्तान शृंगार का जो वर्णन किया है उससे वे कुपित हुई और उन्होंने शाप दे दिया जिससे वे आगे न लिख सके। इन परवर्ती सर्गों की काव्यात्मकता में ओज का अभाव है; जिसके कारण लोगों को उसके कालिदास कृत होने में सन्देह जान पड़ता है।

कथा का आरम्भ हिमालय से होता है। वहाँ शिव तपस्यारत हैं। देवताओं को असुर तारक तंग करता है। उसे ब्रह्मा का वरदान प्राप्त है जिसे वे वापस ले नहीं सकते। इन्द्र काम की सहायता करते हैं। शिव का प्रेम प्राप्त करने में पार्वती की सहायता करने के प्रयास में काम शिव की तपस्या में बाधा उपस्थित करता है और स्वयं शिव के क्रोध से भस्म हो जाता है। तदनन्तर काम (मदन) की पत्नी रति का विलाप है जो अविस्मरणीय भावोद्रेक के साथ प्रस्तुत किया गया है और विश्व-साहित्य के महत्तम अंशों में माना जाता है। रति आत्महत्या को प्रस्तुत होती है, तभी आकाश-वाणी होती है जो उसे आत्महत्या करने से रोकती है और उसे शिव-पार्वती के विवाह के अनन्तर पति के मिलन का विश्वास दिलाती है। पार्वती भी शिव को प्राप्त करने के लिए तपस्या करती हैं और शिव प्रसन्न होते हैं। उसके बाद तारकासुर का वध करनेवाले कुमार (कार्तिकेय) का जन्म होता है। इस ग्रंथ में कालिदास ने पात्रों का चित्रण करने में अपने अद्भुत कौशल का परिचय दिया है। प्रथम सर्ग में हिमालय का जो वर्णन प्रस्तुत किया है वह समग्र संस्कृत साहित्य में सौन्दर्य की दृष्टि से अद्वितीय है। अनुभूतियों की उष्णता, कल्पनाओं की रंगीनी, विषय की विविधता, इस काव्य की विशिष्टता है और वे ही लोगों का मन बरबस अपनी ओर खींच लेते हैं।

दूसरा महाकाव्य रघुवंश रामायण और कतिपय पुराणों पर आधारित है। इसमें सूर्य-वंश के तीस नरेशों की चर्चा है जिनमें रघु ही अकेले ऐसे भाग्यवान् हैं जिनके न केवल पूर्वज ही वरन् उनके तीन पीढ़ी के वंशज भी प्रखर प्रतापी थे। कदाचित् इसी कारण कालिदास ने अपने इस महाकाव्य का नामकरण रघुवंश किया है। इस महाकाव्य में विविध नरेशों की जीवन घटनाओं का अत्यन्त सूक्ष्मता से वर्णन हुआ है। उन सबमें अनेक समानताएँ होते हुए उन सबका अपना-अपना निजत्व भी था जिनका चित्रण कालिदास ने अत्यन्त सफलता के साथ किया है। युद्ध, अभिषेक, विवाह, निर्वासन, विजय, सद्राज्य आदि के वर्णन में कालिदास को अपनी कवि-प्रतिभा को मुखरित करने का प्रचुर अवसर मिला है। इस महाकाव्य के सम्बन्ध में भी लोगों की धारणा है कि वह अपूर्ण है, विलासी अग्निवर्ण की कथा के साथ ही वह समाप्त हो जाता है। अनुमान किया जाता है कि उन्नीसवें सर्ग के बाद कुछ अन्य सर्ग अवश्य रहे होंगे। किन्तु यह भी सम्भावना प्रकट की जाती है कि कालिदास कदाचित् अपनी अस्वस्थता अथवा आकस्मिक निधन के कारण इसे पूरा न कर सके होंगे। कुमारसम्भव की भाँति ही रघुवंश में भी अज-विलाप आदि अनेक मार्मिक

स्थल हैं। काव्य-शास्त्र की परिभाषा के अनुसार इसे महाकाव्य का सर्वोत्तम नमूना कहना अत्युक्ति न होगी।

कालिदास के नाटकों में मालविकाग्निमित्र अद्यतम समझा जाता है। इस बात का संकेत उसके प्राक्कथन में भी मिलता है। उसमें नव-काव्य प्रस्तुत किये जाने की बात कही है। यह नाटक पाँच अंकों का है। इसमें शुंग नरेश अग्निमित्र और विदर्भ राजकुमारी के प्रेम का वर्णन है जो दुरवस्था में पड़ कर अग्निमित्र के अन्तःपुर में उनकी एक रानी की दासी के रूप में रह रही थी। अग्निमित्र अपने मित्र विदूषक की सहायता से विघ्न-बाधाओं को पार कर उसे प्राप्त करने में सफल होता है। यद्यपि आरम्भिक रचना होने के कारण इसमें अनेक दोष देखने में आते हैं तथापि उसमें कालिदास के कवि-कौशल की झलक प्रचुर मात्रा में है।

विक्रमोर्वशीय को कुछ लोग कालिदास की अन्तिम रचना मानते हैं और इस कारण उसमें कवि के प्रतिभा के ह्रास की झलक देखते हैं; किन्तु अन्य लोग उसकी गणना कालिदास की उत्तम रचनाओं में करते हैं। इसकी कथा-वस्तु का निर्माण चन्द्रवंशी पुरूरवा और अप्सरा उर्वशी के प्रेम, विरह और पुनर्मिलन के ताने-बाने से हुआ है। कवि ने ऋग्वेद और शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त वैदिक कथा तथा विष्णु पुराण, भागवत पुराण और सम्भवतः बृहत्कथा में प्राप्त उसके अनेक रूपों को समन्वित कर कथा को एक अपना रूप दिया है जिसमें उन्होंने अपनी ओर से भी कई नये प्रसंग समाविष्ट किये हैं। स्वर्ग जाती हुई अप्सरा उर्वशी का मार्ग में दानव केशी ने अपहरण कर लिया। पुरूरवा उसके हाथों से उर्वशी की रक्षा करता है और दोनों प्रेमबद्ध हो जाते हैं। उसे अब अमरावती का आनन्द फीका लगने लगता है, किन्तु उसके इस आनन्द में बाधा उपस्थित होती है; वह इन्द्र के सम्मुख उपस्थित किये जानेवाले नाटक में लक्ष्मी की भूमिका प्रस्तुत करने के लिए अमरपुरी बुला ली जाती है। लक्ष्मी की भूमिका प्रस्तुत करते हुए उसके मुख से विष्णु के लिए पुरुषोत्तम के स्थान पर पुरूरवा निकल पड़ता है। इस अपराध के लिए नाट्य-निर्देशक भरत उसे मानव रूप धारण करने का शाप दे देते हैं। इस शाप से वह प्रसन्न ही होती है क्योंकि उसे पुरूरवा के पास आने का अवसर मिल जाता है, किन्तु उन दोनों के प्रेम के बीच बार-बार बाधाएँ आती हैं। अन्ततोगत्वा उर्वशी पुत्र को जन्म देती है और उसके अमरपुरी जाने का समय आ जाता है; इन्द्र, युद्धरत होने के कारण उसे पति की मृत्यु तक पृथ्वी पर रहने की अनुमति देते हैं। इस प्रकार इस नाटक में मालविकाग्निमित्र की अपेक्षा अधिक चरित्र-चित्रण देखने में आता है। कवि ने कथा-वस्तु को अत्यन्त कौशल के साथ प्रस्तुत किया है।

अभिज्ञान-शाकुन्तल में कालिदास का नाट्य-कौशल अपने चरम उत्कर्ष रूप में देखने में आता है। वह न केवल संस्कृत वरन् समस्त संसार के साहित्य का उत्कृष्ट नाटक माना जाता है। सात अंकों का यह नाटक महाभारत में वर्णित दुष्यन्त और

शकुन्तला की प्रेम कथा पर आधारित है किन्तु कालिदास ने उस कथा में यत्र-तत्र हल्के परिवर्तन करके और कुछ नये प्रसंग और पात्र जोड़कर एक नया सशक्त रूप उपस्थित किया है। यथा—महाभारत में ऋषि कण्व मात्र फूल लाने गये कहे गये हैं; कालिदास ने उन्हें आवश्यक कार्य के बहाने दूर भेज दिया है और उनके तत्काल लौटने की सम्भावना नहीं है। महाभारत में स्वयं शकुन्तला अपने जन्म की कथा कहती है और दुष्यन्त से प्रस्ताव स्वीकार करने का अनुरोध करती है। कालिदास ने अपनी नाटकीय सूझबूझ के साथ शकुन्तला की सखी अनसूया को प्रस्तुत किया है जो शकुन्तला के अतीत का चर्चा करती है। कालिदास को दो प्रेमी-प्रेमिकाओं के बीच आदान-प्रदान की कल्पना असह्य थी; उन्हें निश्छल कुमारी युवती के हृदय में प्रेम की लुभावनी गुदगुदी उत्पन्न करना अधिक स्वाभाविक जान पड़ा। दुर्वासा का शाप, अँगूठी का खोना, मछुआरों का दृश्य, नाटक के अन्तिम भाग में सस्पेंस का वातावरण कालिदास की अपनी कल्पनाएँ हैं। कालिदास ने इस प्रकार अपनी लेखनी से महाभारत की अनगढ़ कहानी को एक भव्य रूप प्रदान किया है। उन्होंने दुष्यन्त के रूप में आदर्श नरेश का एक सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार शकुन्तला के रूप में उन्होंने विशुद्ध भारतीय युवती का मनमोहक रूप सामने रखा है। नाटक के पार्श्व में कवि ने प्रकृति को सहानुभूत्यात्मक प्रेम के साथ उपस्थित किया है। इस प्रकार चरित्र-चित्रण, कथा-वस्तु संघटन और नाटकीय स्थिति के प्रस्तुतीकरण और भावनाओं के रेखांकन आदि सभी में कालिदास ने अद्भुत कौशल का परिचय दिया है। इस नाटक में उनकी गीत्यात्मकता भी प्रकट होती है।

इस प्रकार कालिदास की लेखनी ने काव्य और नाटक दोनों ही में अपना चमत्कृत रूप प्रस्तुत किया है। उन्होंने साहित्य-रचना का ऐसा ऊँचा स्तर प्रस्तुत किया कि उनके परवर्ती साहित्यकारों में कोई चाहे अपने ढंग पर कितना ही बड़ा क्यों न हो, उनके सामने छोटा ही प्रतीत होता है।

इस महत्ता के होते हुए भी, खेद की बात है कि कालिदास के जीवन के सम्बन्ध में प्रायः कुछ भी ज्ञात नहीं है। उनके सम्बन्ध में अनेक अनुश्रुतियाँ और प्रवाद मात्र उपलब्ध हैं और उनमें वे अपने आरम्भिक जीवन में एक अत्यन्त मूढ़ के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। एक अनुश्रुति के अनुसार ब्राह्मण होते हुए भी उनका पालन-पोषण गोपालों के बीच हुआ था। कवि होने के सम्बन्ध में दन्तकथा है कि काशीनरेश के एक लावण्यमयी कन्या थी जो अत्यन्त विदुषी थी। उसका कहना था कि वह उसी व्यक्ति से विवाह करेगी जो उसे शास्त्रार्थ में पराजित कर देगा। अनेक लोग उससे विवाह की इच्छा लेकर आये पर शास्त्रार्थ में उससे पराजित रहे। इस प्रकार असन्तुष्ट लोगों ने मिलकर राजकुमारी से प्रतिशोध लेने के लिए एक षड्यन्त्र रचा। उन असन्तुष्ट कवियों और विद्वानों ने महामूर्ख कालिदास को ढूँढ़ निकाला और उन्हें राजकुमारी के सम्मुख अपने गुरु के रूप में प्रस्तुत किया। राजकुमारी के साथ उनके शास्त्रार्थ की योजना हुई और उसमें छल से राजकुमारी पराजित घोषित की गयी।

निदान कालिदास के साथ राजकुमारी का विवाह हो गया। जब कालिदास की मूर्खता राजकुमारी पर प्रकट हुई तो उसने उनकी खूब भर्त्सना की। इससे कालिदास ने ग्लानि का अनुभव किया और काली की उपासना की और उनसे वरदान प्राप्त कर कवि बने। अनेक अनुश्रुतियों में उनका उल्लेख विक्रमादित्य के नवरत्नों में हुआ है। **कौन्तलेश्वर-दौत्यम्** के अनुसार कालिदास को विक्रमादित्य ने कुन्तल-नरेश के पास दूत के रूप में भेजा था। वहाँ उन्हें उनकी मर्यादा के अनुसार आसन नहीं दिया गया तो वे भूमि पर ही बैठ गये। उनके सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि उन्होंने प्रवरसेन कृत सेतुबन्ध काव्य का सम्पादन किया था। उनके सम्बन्ध में यह भी अनुश्रुति है कि जिन दिनों वे सिंहल नरेश के अतिथि थे, किसी लालची वेश्या ने उनकी हत्या कर दी।

उनके जीवन सम्बन्धी अनुश्रुतियों में वास्तविकता जो भी हो, उनकी रचनाओं से इतना तो निस्सन्दिग्ध रूप से झलकता है कि वे ब्राह्मण और शैव मत के अनुयायी थे। उनकी रचनाओं में उज्जयिनी और विदिशा के प्रति विशेष आकर्षण झलकता है। इससे अनुमान होता है कि कदाचित् वे मध्यप्रदेश के ही निवासी थे। उनकी कृतियों से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि वे बहुत घूमे-फिरे थे और राज-दरबार के जीवन से उनका निकट का परिचय था। वे बहुविद् थे। वैदिक साहित्य, सांख्य और योगदर्शन, धर्मशास्त्र, कामसूत्र, नाट्यशास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष, संगीत, चित्रकला आदि का उन्होंने गम्भीरता से मनन और चिन्तन किया था। कदाचित् उन्होंने कुछ समय हिमालय की उपत्यकाओं मे भी बिताया था जिसका उन्होंने अपनी रचनाओं में मनोरम चित्रण किया है।

कालिदास के समय के सम्बन्ध में लोगों ने जो मत प्रकट किये हैं, उनका उल्लेख हम अन्यत्र कर चुके हैं।[1] हमारी अपनी धारणा है कि वे द्वितीय चन्द्रगुप्त (विक्रमादित्य) के आश्रित रहे होंगे। रघुवंश में रघु के दिग्विजय का वर्णन समुद्रगुप्त के दिग्विजय का स्मरण दिलाता है। यदि इसका कोई ऐतिहासिक अर्थ हो सकता है तो यही कि कालिदास समुद्रगुप्त के पश्चात् ही हुए होंगे। दूसरी ओर कालिदास की चर्चा बाण ने अपने हर्षचरित में की है। पुलकेशिन (द्वितीय) (६३४-६३५ ई०) के आयहोले अभिलेख में रघुवंश की छाप स्पष्ट परिलक्षित होती है। पुलकेशिन के वर्णन (छन्द १७-३२) को देखकर रघु के दिग्विजय का स्मरण हो आता है। कम्बुज के प्रथम अभिलेख का प्रशस्तिकार भी, जिसका समय सातवीं शती का प्रारम्भ अनुमान किया जाता है, रघुवंश से परिचित ज्ञात होता है। इस प्रकार कालिदास की पंक्ति **यथाविधि हुताग्निनां यथार्कं अर्चितार्थिनां** मंगलेश के महाकूट स्तम्भ-लेख में, जिसका समय ६०२ ई० है, मिलता है। इससे भी पूर्व रघुवंश की एक पंक्ति महानाम के ५८८ ई० के बोधगया अभिलेख में मिलती है। इसी काव्य की एक पंक्ति की छाया नागा-

१. पीछे, पृ० १४१।

जुनी पर्वत स्थित मौखरि अनन्तवर्मन के अभिलेख में भी दिखाई पड़ती है, जिसका लिपि के आधार पर समय छठीं शती ई० का पूर्वार्द्ध ठहरता है। इन सब उल्लेखों से स्पष्ट जान पड़ता है कि कालिदास छठीं-सातवीं शती ई० में पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुके थे और तत्कालीन कवि उनका अनुकरण करने लगे थे। यही नहीं, कीथ आदि विद्वानों की तो यह भी धारणा है कि वत्सभट्टि ने मन्दसोर अभिलेख (४७१ ई०) में मेघदूत और ऋतुसंहार का अनुकरण किया है। इस प्रकार कालिदास का समय समुद्रगुप्त और प्रथम कुमारगुप्त के बीच सहज रूप से अनुमान किया जा सकता है। कालिदास का सम्बन्ध विक्रमादित्य से था यह अनुश्रुतियों से विदित है। उनके इस सम्बन्ध की पुष्टि विक्रमोर्वशीय से भी होती है जिसमे नायक का नाम पुरूरवा से बदल कर विक्रम कर दिया गया है। अस्तु, गुप्त-वंश में इस काल में चन्द्रगुप्त (द्वितीय) और स्कन्दगुप्त दोनों ही विक्रमादित्य कहे गये हैं। कालिदास के आश्रयदाता निश्चय ही स्कन्दगुप्त नहीं रहे होंगे, यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि कालिदास ने हूणों का उल्लेख वक्षु तट पर किया है। हूण भारत की ओर प्रथम कुमारगुप्त के समय में पाँचवीं शती ई० के द्वितीय चरण में ही अग्रसर हुए थे। रघुवंश की रचना इस काल से पूर्व ही हुई होगी। अतः कालिदास चन्द्रगुप्त द्वितीय के ही समकालिक कहे जा सकते हैं। इस अनुमान को उस अनुश्रुति से भी बल मिलता है जिसमें कालिदास द्वारा प्रवरसेन कृत सेतुबन्ध काव्य के सम्पादन किये जाने की बात कही गयी है। प्रवरसेन, वाकाटक राजकुमार और द्वितीय चन्द्रगुप्त के दौहित्र थे।

भास—कालिदास ने भास का उल्लेख किया है और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इससे प्रकट होता है कि वे कालिदास से पूर्व हुए थे। लोगों की धारणा है कि वे कालिदास से लगभग एक शती पूर्व अर्थात् चौथी शती के आरम्भ में हुए होंगे। यदि यह अनुमान ठीक है तो भास को आरम्भिक गुप्त-काल का साहित्यकार कहा जा सकता है। उनकी ख्याति नाटककार के रूप में है। उनकी रचनाओं का एक संग्रह त्रिवेन्द्रम् में मिला है जिसमें तेरह नाटक हैं। उनके नाम हैं—(१) मध्यम-व्यायोग, (२) दूत-घटोत्कच, (३) कर्णभार, (४) उरुभंग, (५) पंचरात्र, (६) दूतवाक्य, (७) बालचरित, (८) प्रतिमा, (९) अभिषेक, (१०) अविमारक, (११) प्रतिज्ञा-योगन्धरायण, (१२) स्वप्न-वासवदत्ता और (१३) चारुदत्त। इनमें से अधिकांश महाभारत और रामायण की कथाओं पर आधारित हैं। कथा-वस्तु को नाटकीय रूप देने में रचयिता ने अपना प्रचुर कौशल व्यक्त किया है। उन सबके चरित्र-चित्रण प्रभावशाली हैं और भाषा तथा शैली प्रवाहमयी और स्पष्ट है।

कुछ विद्वानों की धारणा है कि त्रिवेन्द्रम् से जो तेरह नाटक प्राप्त हुए हैं, वे भास कृत न होकर मध्यम श्रेणी के किसी अन्य कवि के हैं। उनका कहना है कि इन नाटकों में से किसी में भी भास के नाम का उल्लेख नहीं है और मध्यकालीन सूक्ति-संग्रह में भास के नाम से अभिहित जो पंक्तियाँ पायी जाती हैं, उनका इनमें सर्वथा अभाव है। किन्तु त्रिवेन्द्रम् संग्रह में उपलब्ध तेरहों नाटकों में भाषा और कला की जो समानता

परिलक्षित होती है, उसको देखते हुए उनके किसी एक व्यक्ति की रचना होने में किसी प्रकार भी सन्देह नहीं किया जा सकता। इस पृष्ठभूमि में यह द्रष्टव्य है कि प्राचीन कवियों और समालोचकों ने भास द्वारा **स्वप्न-वासवदत्ता** नामक नाटक रचे जाने का जो उल्लेख किया है और उसके जिन गुणों आदि की उन्होंने चर्चा की है, वे प्रायः सभी त्रिवेन्द्रम् संग्रह में प्राप्त स्वप्न-वासवदत्ता में उपलब्ध होते हैं। वे इस बात की ओर इंगित करते हैं कि वह भास की ही रचना है। यदि यह भास की रचना है तो अन्य सभी नाटक भी भास की ही रचनाएँ हैं। यही मत हमें समीचीन प्रतीत होता है।

विशाखदत्त—गुप्त-कालीन तीसरे उल्लेखनीय नाटककार विशाखदत्त हैं। उनकी रचना के रूप में **मुद्रा-राक्षस, अभिसारिका-वंचित** और **देवीचन्द्रगुप्तम्** का उल्लेख मिलता है। इनमें मुद्राराक्षस की विशेष ख्याति है। मुद्राराक्षस मगधनरेश नन्द के उन्मूलन और चन्द्रगुप्त मौर्य के अधिकार प्राप्ति के ऐतिहासिक घटना पर आधारित है। यह कदाचित् संस्कृत साहित्य का एकमात्र ऐसा नाटक है जिसमें राजनीतिक दाँव-पेंच, कूटनीति आदि का विशद और सजीव वर्णन हुआ है। विषकन्या का प्रयोग, मुद्रा (मुहर) का छल-पूर्ण व्यवहार, विभिन्न वेशधारी दूतों के कारनामें, चाणक्य की गूढ़ राजनीतिक चाल प्राचीन भारतीय राजनीतिक जीवन के अप्रतिम रूप को उपस्थित करते हैं। उसे देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि विशाखदत्त की राजनीति में गहरी पैठ थी। उन्होंने अपनी कथा में उसे अत्यन्त कौशल के साथ प्रस्तुत किया है।

विशाखदत्त का दूसरा नाटक **देवीचन्द्रगुप्तम्** भी ऐतिहासिक हैं और उसका सम्बन्ध गुप्त राजवश से है। इस नाटक के कुछ ही अवतरण अभी उपलब्ध हैं, जो नाट्य और काव्यशास्त्रों में उदाहरणस्वरूप उद्धृत हुए हैं। इन सभी उद्धरणों का विस्तार के साथ उल्लेख इस ग्रन्थ में अन्यत्र किया जा चुका है।[1] उनके तीसरे ग्रन्थ का केवल नाम भर ज्ञात है।

विशाखदत्त के परिचय रूप में केवल इतना ही जाना जा सका है कि उनके पिता का नाम महाराज पृथु और पितामह का नाम सामन्त वटेश्वरदत्त था। इनके सामन्त और महाराज कहे जाने से अनुमान किया जा सकता है कि वे गुप्त शासकों के अन्तर्गत करद रहे होंगे अथवा उनके अन्तर्गत किसी भुक्ति अथवा विषय के प्रशासक। मुद्रा-राक्षस के अन्त में उन्होंने जो भरत वाक्य दिया है उससे अनुमान होता है कि वे चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के ही काल में हुए होंगे।

शूद्रक—शूद्रक की गणना अपने काल के उच्च कोटि के नाटककारों में की जाती है। उन्होंने **मृच्छकटिक** नामक नाटक का प्रणयन किया था। इसमें चारुदत्त नामक ब्राह्मण सार्थवाह और वसन्तसेना नामक गणिका की प्रेम कहानी है। इस नाटक में गति के साथ नाटकीयता और चरित्र का निरूपण दोनों देखने में आता है। शूद्रक ने अपने पात्रों को अत्यन्त सजीवता के साथ उनके मानवीय रूप में प्रस्तुत किया है। भाषा,

१. पीछे, पृ० १२१-१२८।

अलंकार, शब्दावली सभी में सादगी के साथ-साथ चमत्कार है। मृच्छकटिक के अतिरिक्त शूद्रक ने सम्भवतः पद्म-प्राभृतक नाम का एक भाण भी लिखा था।

मृच्छकटिक के प्रारम्भिक श्लोक से ऐसा ज्ञात होता है कि शूद्रक किसी राजकुल के थे। वे ऋग्वेद, सामवेद, गणित, वैशिकी-कला (नृत्य, संगीत, वादन) और हस्ति-शास्त्र में प्रवीण थे और उन्हें शंकर की कृपा से ज्ञान प्राप्त हुआ था। उन्होंने कोई अश्वमेध किया था और सौ वर्ष की आयु प्राप्त कर अग्नि प्रवेश किया था। किन्तु इसमें उनके अपने मृत्यु का उल्लेख है, इससे उसे उनका स्वकथन नहीं कहा जा सकता। उसे सम्भवतः पीछे से किसी ने अनुश्रुति के आधार पर जोड़ दिया है। वे कब हुए थे, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। मृच्छकटिक के नवे अंक में बृहस्पति को अंगारक अर्थात् मङ्गल का विरोधी कहा गया है। बृहज्जातक के अनुसार यह मत वराहमिहिर से पूर्व के कुछ आचार्यों का था। वराहमिहिर और परवर्ती ज्योतिर्विद मङ्गल और बृहस्पति को मित्र मानते हैं। इस आधार पर शूद्रक को वराहमिहिर से पूर्व किसी समय होने का अनुमान किया जा सकता है।

सुबन्धु—गुप्त-काल में काव्य और नाटक के समान ही गद्य-साहित्य का भी विकास हुआ होगा पर उसके सम्बन्ध की अधिक सामग्री उपलब्ध नहीं होती। गद्यकार के रूप में मात्र सुबन्धु का नाम ज्ञात होता है। उन्होंने वासवदत्ता नामक प्रेम-कथा प्रस्तुत किया था। इसका गद्य अत्यन्त कठिन है; कदाचित् काठिन्य में अद्वितीय है। रचनाकार के अपने शब्दों में यह **प्रत्यक्षरश्लेषमय प्रबन्ध** है। इसके प्रत्येक पद में ही नहीं, प्रत्युत् अक्षर में श्लेष है। इसमें लेखक ने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जिन्हें किसी अन्य रचयिता ने कभी प्रयोग नहीं किया था और वे केवल कोष में ही पाये जाते हैं। यही नहीं, इसमें लम्बे-लम्बे समासों की भी भरमार है। वर्णन में अतिशयोक्ति और अलंकारों की झंकार भरी हुई है। इन सब बातों के बावजूद बाण, वाक्पतिराज, मंख आदि ने शूद्रक की इस रचना की बहुत प्रशंसा की है।

सुबन्धु के समय के सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने ग्रन्थ में उद्योतकर का उल्लेख किया है अतः वे उनके बाद ही छठी शती में किसी समय हुए होंगे। बाण ने सुबन्धु का उल्लेख किया है, इसलिए वे उनके पूर्ववर्ती ठहरते हैं। इस प्रकार इनका समय गुप्त शासन के अन्तिम चरण में माना जा सकता है।

अलंकार और काव्य-शास्त्र—गुप्त-काल में काव्य का जो निखरा और विकसित रूप देखने में आता है, उससे अनुमान किया जा सकता है कि उस युग में अलंकार और काव्य-शास्त्रों की ओर भी लोगों ने समुचित ध्यान दिया होगा। पर उपलब्ध सामग्री से इस तथ्य की पुष्टि होती नहीं जान पड़ती। रामशर्मा, माधविन और राजमित्र ने तीसरी और चौथी शती ई० में काव्य पर कुछ लिखा था पर उनके ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। इस विषय का प्राचीनतम ज्ञात ग्रन्थ भट्टि कृत **रावणवध** है जिसकी ख्याति भट्टिकाव्य के नाम से अधिक है। मूलतः यह राम-कथा है किन्तु कथा के आवरण में उसमें अलंकार-स्वरूपों को प्रस्तुत किया गया है। इस काल के अन्य

प्रमुख अलंकारशास्त्री हैं—भामह, रुद्रात और दण्डिन। दण्डिन के काव्यादर्श और भामह के काव्यालंकार ने परवर्ती काव्यशास्त्र को बहुत ही प्रभावित किया पर इनमें से किसी में भी ध्वनि और रस जैसे काव्य के मूल तत्वों पर कोई मत प्रस्तुत नहीं किया गया है।

इसी प्रकार छन्दशास्त्र पर भी कोई ग्रन्थ दिखाई नहीं पड़ता। वराहमिहिर को, जिनकी ख्याति गणित और ज्योतिविंद के रूप में है, छन्दकार की संज्ञा दी जा सकती है। उन्होंने अपनी बृहत्संहिता और बृहज्जातक में संस्कृत के बहुत से मान्य छन्दों का प्रयोग किया है और बृहत्संहिता के एक पूरे अध्याय में इस प्रकार के ६० छन्दों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने इन छन्दों के नाम तो बताये हैं पर उनकी कोई परिभाषा प्रस्तुत नहीं की है। उनके देखने से ज्ञात होता है कि गाथा, स्कन्धक, मागधी और गीतक नामक प्राकृत छन्दों से उनका परिचय था। साथ ही वे उनके समानधर्मा, आर्या, आर्यागीति, वैतालीय, नरकूटक नामक संस्कृत छन्दों से भी भिज्ञ थे। अग्नि-पुराण के एक खण्ड में छन्दों की चर्चा हुई है। अनुमान किया जाता है कि उसकी भी रचना गुप्तकाल में हुई थी। इसी प्रकार श्रुतिबोध नामक एक अन्य छन्दशास्त्र का ग्रन्थ है जिसको लोग गुप्त-काल का अनुमान करते हैं। कुछ लोग उसे कालिदास की रचना बताते हैं पर यह बात संदिग्ध है।

व्याकरण—गुप्त-काल में वारेन्द्र (राजशाही, पूर्वी, बंगाल) निवासी बौद्ध विद्वान् चन्द्रगोमिन ने, जो नालन्द में थे, चन्द्र-व्याकरण प्रस्तुत किया था। यह व्याकरण कश्मीर, तिब्बत, नेपाल और सिंहल के बौद्धों में बहुत लोकप्रिय हुआ। उसका तिब्बती अनुवाद प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ में ३१०० नियमों का उल्लेख है जो अध्यायों में विभाजित हैं। प्रत्येक अध्याय में चार खण्ड हैं। उनके देखने से ज्ञात होता है कि चन्द्रगोमिन ने पाणिनि के अनुयायी आचार्यों का सूक्ष्म अध्ययन किया था। उन्होंने उनकी रचनाओं का उन्मुक्त लाभ उठाते हुए अपने व्याकरण में अपनी एक नयी व्यवस्था प्रस्तुत की है, जिसमें परम्परागत ब्राह्मण तत्त्वों का सर्वथा अभाव है। उसमें पाणिनि द्वारा वैदिक उच्चारण और व्याकरण के जो नियम बताये गये थे, उन्हें निकाल दिया गया है; कतिपय सूत्रों को परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किया गया है और २५ नये सूत्र जोड़े गये हैं। बौद्ध-भावनाओं के होते हुए भी इस व्याकरण का सभी वर्ग के विद्वानों में मान था। भर्तृहरि ने उसका उपयोग अपने वाक्यपादीय में किया था। परवर्तीकाल में कालिदास के मेघदूत के २४ वें छन्द की टीका करते हुए मल्लिनाथ ने इसी व्याकरण से सहायता ली है। काशिका वृत्ति (लगभग ६५० ई०) ने भी बिना किसी उल्लेख के इसके कई सूत्र अपने में समाहित कर लिये हैं। भर्तृहरि के गुरु वसुरात ने चन्द्राचार्य को अपना गुरु कहा है। वसुरात के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उनकी मृत्यु ६५० ई० में हुई। इससे अनुमान होता है कि चन्द्रगोमिन छठी सती ई० के प्रथम चरण में हुए होंगे। यदि व्याकरण में उल्लिखित जर्ता (गुप्त ?) के हूण विजय के उल्लेख का तात्पर्य स्कन्दगुप्त और उनके हूण विजय से हो तो उनका समय और पहले मानना होगा।

वररुचि कृत **प्राकृत-प्रकाश** और चन्द कृत **प्राकृत-लक्षण** भी कदाचित् इस काल के ही व्याकरण ग्रन्थ हैं और प्राकृत भाषा के प्राचीनतम व्याकरण कहे जाते हैं। ये दोनों ही ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये हैं और उनकी रचना पाणिनि के अनुकरण पर हुई है। पाली भाषा का व्याकरण **कात्यायन-प्रकरण**, इन दोनों से सर्वथा भिन्न उसी भाषा में लिखा गया है जिससे उनका सम्बन्ध है। ऐसा जान पड़ता है कि इसके रचयिता कात्यायन का परिचय **काशिका-वृत्ति** और **कातन्त्र-व्याकरण** से था। इससे इसके सम्बन्ध में निश्चित नहीं कहा जा सकता कि यह गुप्त-काल की ही रचना है।

कोश—भारत में कोश की परम्परा वैदिक निघण्टुओं से ही आरम्भ हो जाती है किन्तु विशुद्ध कोश का प्रणयन बौद्ध अमरसिंह ने गुप्त-काल में पहली बार किया। वे कदाचित् कवि भी थे। अनुश्रुतियों में उनका उल्लेख विक्रमादित्य के नवरत्नों के रूप में हुआ है। उनके कोश का नाम **लिंगानुशासन** है पर उसकी लोक-प्रसिद्धि **अमरकोश** के रूप में ही विशेष है। इसके टीकाकार क्षीरस्वामी और सर्वानन्द का कहना है कि अमर से पूर्व कोशों की रचना व्याडि, धन्वन्तरि, वररुचि, कात्यायन और वाचस्पति ने की थी और इस विषय के **त्रिकाण्ड**, **उत्पलिनी** और **माला** नामक ग्रन्थ प्रस्तुत किये गये थे। किन्तु अमर ने अपने कोष द्वारा उन्हें महत्त्वहीन कर दिया। उन्होंने वैदिक परम्परा का अनुकरण करते हुए पर्यायों को प्रस्तुत करने से पूर्व एक खण्ड में विविध अर्थी शब्द संग्रहीत किये हैं। इसी कोष को नये ढंग से व्यवस्थित कर अग्निपुराण में समाविष्ट कर लिया गया है। शाश्वत कृत **अनेकार्थ-समुच्चय** इसी काल का एक अन्य कोश अनुमान किया जाता है।

कथा-साहित्य—कथा और कहानियाँ अत्यन्त प्राचीनकाल से ही लोकमानस में तिरती रही हैं किन्तु गुप्त काल से पूर्व उनका कोई संकलन हुआ था, ऐसा स्पष्ट ज्ञात नहीं होता। इस काल में पहली बार ब्राह्मण विष्णुशर्मन ने **पंचतन्त्र** नाम से पाँच भागों में एक कथा-संग्रह प्रस्तुत किया। इस संग्रह का उद्देश्य कहानियों के माध्यम से राजकुमारों को नीतिपरक उपदेश देना था। मूल रूप में यह पञ्चतन्त्र आज उपलब्ध नहीं है किन्तु विश्व-साहित्य को उसने कितना अधिक प्रभावित किया यह पचास से अधिक भाषाओं में उपलब्ध दो सौ अधिक संस्करणों से अनुमान किया जा सकता है। कहा जाता है कि उसका सर्वप्रथम अनुवाद ५७० ई० से पूर्व किसी समय पह्लवी भाषा में किया गया था। फिर इस पह्लवी अनुवाद से उसका अरबी और सीरियाई अनुवाद हुआ। फिर उस अरबी अनुवाद के माध्यम से ग्यारहवीं शती तक पंचतन्त्र यूरोप और एशिया के अनेक देशों में छा गया। सोलहवीं शती आते-आते यवन, लैटिन, स्पेनी, इतालवी, जर्मन, अंगरेजी और प्राचीन स्लाव भाषाओं में उसके अनुवाद प्रस्तुत हो गये। इस प्रकार विश्व में प्रचलित अधिकाश बाल-कहानियाँ इसी पंचतन्त्र की कहानियों के रूप हैं। पंचतन्त्र की रचना गुप्त-काल में कब हुई यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। ५०० ई० के आस-पास पैशाची गद्य में गुणाढ्य ने **बृहत्कथा** नाम से एक दूसरा कथा-संग्रह प्रस्तुत किया था; और उससे प्रभावित होकर धर्मदास और संघ-

दास ने प्राकृत में **वसुदेवहिण्डी** नाम से एक कथा-संग्रह प्रस्तुत किया। इसी काल में प्राकृत भाषा में एक अन्य कथा-संग्रह पादलिप्ति ने **तरंगवतीकथा** नाम से प्रस्तुत किया।

विज्ञान—जिन विषयों की गणना आज हम विज्ञान के अन्तर्गत करते हैं, उनसे सम्बन्धित प्राचीन साहित्य आज इतना कम उपलब्ध है कि भारत में उनका विकास और प्रसार किस रूप में हुआ, यह सहज भाव से नहीं कहा जा सकता। इस विषय की जो कुछ थोड़ी बहुत गुप्तकालीन जानकारी आज उपलब्ध है, वह मुख्यतः गणित, ज्योतिष और आयुर्वेद तक ही सीमित है। रसायन और खनिज विज्ञान का कुछ अनुमान आयुर्वेद सम्बन्धी ग्रन्थों के सहारे ही किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त गुप्त-काल में शिल्पशास्त्र, कामशास्त्र और राजनीति विषयक साहित्य भी प्रस्तुत हुए थे।

गणित—आज की अंक लेखन पद्धति में केवल नौ अंकों और शून्य के सहारे बड़ी-से-बड़ी और छोटी-से-छोटी संख्या का बोध सहज रूप से किया और कराया जा सकता है। एक ही अंक को विभिन्न स्थानों पर रख कर, उससे एक, दस, सौ, हजार, लाख, करोड़ आदि का बोध किया जा सकता है। किन्तु पुराकाल में यह सहज पद्धति अज्ञात थी। उन दिनों प्रथम नौ संख्याओं के अतिरिक्त दस, बीस, तीस, चालीस, पचास, साठ, सत्तर, अस्सी, नब्बे, सौ, हजार आदि के लिए भी अलग-अलग चिह्न थे जिनके कारण आलेखन और अभिव्यक्ति दोनों में दुरूहता थी। यह दुरूह पद्धति बारहवीं शती तक यूरोप में प्रचलित रही। तदनन्तर यूरोपवासियों को अरब के माध्यम से आज वाली लोकप्रचलित नौ अंकों और शून्यवाली दशम पद्धति का ज्ञान हुआ। चूँकि इसका ज्ञान उन्हें अरब द्वारा हुआ, इस कारण उन लोगों ने इस पद्धति को अरबी संख्या-पद्धति का नाम दिया है। वस्तुतः यह आविष्कार अरब का अपना नहीं है। उसे इस पद्धति का ज्ञान भारत से हुआ था। इसी कारण अकों को अरबी में **हिन्दसा** कहते हैं। यह पद्धति भारतीय है और इसका आविष्कार भारत में हुआ, यह अरब लेखकों, यथा इब्न वासिया (नवी शती ई०), अल्-मसूदी (दसवीं शती ई०), अल्-बरूनी (ग्यारवीं शती ई०) ने स्पष्ट रूप से लिखा और स्वीकार किया है।

अंकों की इस दशम पद्धति का आविष्कार भारत में कब हुआ और किसने किया, इसका कोई उल्लेख कहीं प्राप्त नहीं है। १८८१ ई० में पेशावर के निकट बकशाली नामक ग्राम में उत्खनन करते समय एक किसान को एक प्राचीन ग्रन्थ प्राप्त हुआ था जो अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण अवस्था में था और उसका रूप खण्डित था। अध्ययन से ज्ञात हुआ कि वह गणित-ग्रन्थ है और उसकी रचना सम्भवतः तीसरी शती ई० में हुई थी। इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम उक्त दशम अंक पद्धति का प्रयोग हुआ है। इससे धारणा बनती है कि इस पद्धति का आविष्कार इससे पूर्व किसी समय हुआ होगा। किन्तु कुछ विद्वान् इस पद्धति की इतनी प्राचीनता स्वीकार नहीं करते। उनकी धारणा है कि इस ग्रन्थ में इस प्रद्धति का समावेश इस प्रति के प्रस्तोता ने पीछे से किया होगा। लिपि के आधार पर यह प्रति नवीं शती में तैयार की गयी जान पड़ती है। अतः इस धारणा के अनुसार

इसका आविष्कार नवीं शती से पूर्व हुआ होगा। आर्यभट्ट (४९९ ई०) और वराह-मिहिर (५५० ई०) ने इस पद्धति का उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है, अतः इनके साक्ष्य से यह निस्संदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि इसका आविष्कार ही नहीं, वरन् प्रचार भी पाँचवीं शती तक इस देश में हो गया था। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि गणित की यह पद्धति आरम्भिक गुप्त-काल की देन है।

बकशाली से प्राप्त गणित ग्रन्थ, जिसका उल्लेख ऊपर हुआ है, अब तक ज्ञात भारतीय गणित का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। इसमें भाग, वर्गमूल आदि गणित के सामान्य सिद्धान्तों के अतिरिक्त गणित के अनेक उच्चस्तरीय प्रश्नों की भी चर्चा और समाधान है, जिससे तत्कालीन गणित के विकसित ज्ञान का परिचय मिलता है। तद-नन्तर गणित सम्बन्धी उल्लेख आर्यभट्ट रचित आर्यभट्टीय मे मिलता है। यह ग्रन्थ मूलतः ज्योतिष ग्रन्थ है तथापि इसमें गणित, बीजगणित और ज्यामिति की पर्याप्त चर्चा हुई है जो तत्कालीन गणित-शास्त्र के विस्तार की जानकारी प्रस्तुत करती है। इसमें सख्या, वर्ग, घन आदि गणित की बातो, बीजगणित के समीकरणों तथा ज्यामिति सम्बन्धी वृत्त और त्रिभुज सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण गुणों और प्रमेयों की चर्चा है। आर्यभट्ट ने पाइ (π) का जो मूल्य (३.१४१६) प्रस्तुत किया है वह तत्कालीन ज्ञात मूल्यों मे सर्वाधिक शुद्ध है। बाजगणित के प्रसंग मे चार अज्ञात तत्त्वों को लेकर समीकरण के प्रश्नों को हल किया गया है।

ज्योतिष—तीसरी शती से पूर्व इस देश में **पैतामह-सिद्धान्त** का प्रचलन था और वह बहुत कुछ वेदांग ज्योतिष का ही रूप था। उसके अनुसार ३६६ दिन का वर्ष था और ५ वर्ष के युग में दो अधिक मास हुआ करते थे। उसकी गणना राशि से न होकर नक्षत्रों से हुआ करती थी। ३०० ई० के लगभग वशिष्ठ सिद्धान्त का विकास हुआ। इसमें नक्षत्रों का स्थान राशि ने लिया और लग्न की कल्पना भी गयी। इस सिद्धान्त के अनुसार वर्ष ३६५.२५९१ दिन का होता है जो पैतामह सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक शुद्ध है। पर ग्रहण के सम्बन्ध में कोई जानकारी इस सिद्धान्त में नहीं है। ३८० ई० के लगभग **पौलिश-सिद्धान्त** का विकास हुआ जिसमें सूर्य और चन्द्रग्रहण की गणना की मोटी रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है। तदनन्तर ४०० ई० के आस-पास **रोमक-सिद्धान्त** प्रस्तुत किया गया। जैसा इसके नाम से प्रकट होता है यह रोम के माध्यम से भारत तक पहुँचनेवाले पाश्चात्य ज्योतिष सिद्धान्तों पर आधारित है। इसमें २८५० वर्षों का युग कहा गया है। तदनन्तर **सूर्य-सिद्धान्त** का विकास हुआ। इसमें ग्रहण की गणना के कुछ नियम और कतिपय खगोल सम्बन्धी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया गया है। किन्तु इस ग्रन्थ का मूलस्वरूप क्या था, यह अनुमान करना आज सम्भव नहीं है। इसमें परवर्ती काल में अत्यधिक परिवर्तन-परिवर्धन किये गये।

इन सभी ज्योतिष सिद्धान्त ग्रन्थों के रचयिताओं के सम्बन्ध में किसी प्रकार की कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। वराहमिहिर ने अपने ग्रन्थ में इन सिद्धान्तों का सार प्रस्तुत

किया है, उसीसे इनके सम्बन्ध में कुछ जाना जा सका है। वराहमिहिर ने इनके प्रस्तोता के रूप में देवताओं और ऋषियों का उल्लेख किया है। इस प्रकार ज्योतिष पर लिखनेवाले अब तक ज्ञात सर्वप्रथम ऐतिहासिक व्यक्ति आर्यभट्ट हैं जो कदाचित् पाटलिपुत्र के निवासी थे। इनका जन्म शक सवत् ३९८ (४७६ ई०) में हुआ था और उन्होंने २४ वर्ष की अवस्था में अपनी सुविख्यात पुस्तक **आर्यभट्टीय** प्रस्तुत की थी। इस ग्रन्थ के दो खण्ड हैं—(१) **दशगणिकासूत्र** और (२) **आर्याष्टशत**। कुछ लोग इनको **आर्यभट्टीय** से भिन्न स्वतन्त्र ग्रन्थ मानते हैं। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती भारतीय ज्योतिर्विदों के सिद्धान्तों और पद्धतियों का सूक्ष्म रूप से अध्ययन तो किया ही था, साथ ही अलक्सान्द्रिया के यवन ज्योतिषियों के सिद्धान्तों और निष्कर्षों की भी उन्हें पूर्णरूपेण जानकारी थी। उन्होंने दोनों का ही मनन किया किन्तु उनमें से किसी का अन्धानुकरण उन्हें स्वीकार नहीं हुआ। वे स्वयं अध्ययन, मनन और शोध से जिस निष्कर्ष पर पहुँचे, उसका उन्होंने अपने ग्रन्थ में प्रतिपादन किया। श्रुति, स्मृति और पुराणों के प्रति आदर-भाव रखते हुए भी ग्रहण के सम्बन्ध में राहु-केतु के ग्रसनेवाली अनुश्रुति में उनका तनिक भी विश्वास न था। उन्होंने उसे पृथिवी की छाया के बीच अथवा पृथिवी और सूर्य के बीच चन्द्रमा के आने का परिणाम बताया। इसी प्रकार उन्होंने अलक्सान्द्रिया के यवन ज्योतिष के परिणामों को भी आँख मूँद कर स्वीकार नहीं किया वरन् अपने निरीक्षण और गणनाओं के आधार पर उनमें संशोधन-परिवर्तन उपस्थित किये।

आर्यभट्ट प्रथम भारतीय खगोलशास्त्री हैं जिन्होंने पृथिवी के अपनी धुरी पर घूमने की बात कही। उन्होंने दिनों के घटने और बढ़ने की गणना करने का शुद्ध नियम भी प्रस्तुत किया। उन्होंने ग्रहण के सम्बन्ध में अनेक तथ्यों का उद्घाटन किया। इस प्रकार उन्होने ज्योतिष-शास्त्र की दिशा में अनेक महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान प्रस्तुत किये; किन्तु उनके इन अनुसन्धानों के साधन क्या थे, इनके सम्बन्ध में कहीं कोई जानकारी उपलब्ध नहीं होती। जो भी हो, आर्यभट्ट भारत के महान् वैज्ञानिकों में एक थे।

आर्यभट्ट के अनेक शिष्य थे जिनमें निश्शंक, पाण्डुरंगस्वामिन्, विजयनन्दी, प्रद्युम्न, श्रीसेन, लाटदेव, लल्ल आदि के नाम मिलते हैं। लाटदेव के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे **सर्वसिद्धान्तगुरु** थे और उन्होंने पौलिश और रोमक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। लल्ल के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन्होंने **शिष्यधीवृद्धि** नाम से अपने गुरु के ग्रन्थ **आर्यभट्टीय** पर टीका उपस्थित की थी।

गुप्तकालीन अन्य प्रख्यात ज्योतिर्विद के रूप में वराहमिहिर का नाम ज्ञात है। उनका जन्म काम्पिल्य (जिला फरुखाबाद) में हुआ था और उनके पिता का नाम आदित्यदास था। उन्होंने अपनी गणना के लिए शक ४२७ (५०६ ई०) को आधार बनाया, इसलिए कुछ लोगों का अनुमान है कि यह उनके जन्म का समय होगा। एक उल्लेख के आधार पर, जिसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं है, कहा जाता है कि उनकी मृत्यु शक ६०९ (५८७ ई०) में हुई। वे अपने पिता से शिक्षा प्राप्त कर उज्जयिनी

नरेश के यहाँ चले गये थे, ऐसा अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है। उनका उल्लेख विक्रमादित्य के नवरत्नों में भी पाया जाता है, पर तत्सम्बन्ध में कुछ प्रामाणिक रूप से नहीं कहा जा सकता।

वराहमिहिर के कथनानुसार ज्योतिष-शास्त्र के तीन अंग हैं : (१) तन्त्र (खगोल और गणित), (२) होरा अथवा जातक (कुण्डली) और (३) संहिता (फलित ज्योतिष)। इन तीनों ही विषयों पर उन्होंने छः ग्रन्थ प्रस्तुत किये थे। किन्तु उनमें ऐसा कुछ नहीं है जिसे विज्ञान को उनकी मौलिक देन कहा जा सके। किन्तु ज्ञात सामग्री को व्यवस्थित रूप से एक स्थान पर प्रस्तुत करने के कारण वे अपने क्षेत्र में सदैव स्मरण किये जाते हैं। अपनी **पंचसिद्धान्तिका** में उन्होंने पैतमिह, रोमक, पौलिश, वशिष्ठ और सूर्य सिद्धान्तों का संक्षेप में परिचय प्रस्तुत किया है। इसी से इनके सम्बन्ध की जानकारी प्राप्त होती है। इस कारण इतिहास की दृष्टि से इस ग्रन्थ का विशेष महत्त्व है। **बृहत्संहिता** के रूप में उन्होंने एक विश्वकोष प्रस्तुत किया है। उसमें सूर्य, चन्द्र तथा अन्य नक्षत्रों की गति और उनका मानव-जीवन पर प्रभाव की चर्चा तो है ही, साथ ही भूगोल, वास्तुकला, मूर्ति निर्माण, तड़ाग-उत्खनन, उपवन-निर्माण, विभिन्न वर्ग की स्त्रियों और पशुओं के गुण दोष आदि अनेक विषयों के सम्बन्ध में बहुत-सी उपयोगी बातें भी हैं। इसे उन्होंने काव्यमयी भाषा में छन्दोबद्ध प्रस्तुत किया है। विवाह सम्बन्धी शुभ-मुहूर्त से सम्बन्धित उनके दो ग्रन्थ—बृहद् और लघु **विवाहपटल** हैं। **योगमाया** नामक ग्रन्थ में उन्होंने युद्ध सम्बन्धी शकुनों की चर्चा की है। लघु और **बृहज्जातक** में उन्होंने कुण्डली पर विचार किया है। इस विषय पर **शतपंचाशिका** नाम से एक ग्रन्थ उनके पुत्र पृथुयशस का बताया जाता है।

वराहमिहिर पर यवन-ज्योतिष-शास्त्र का बहुत प्रभाव है। उन्होंने यवन ज्योतिर्विदों की भूरि-भूरि सराहना की है। उनका कहना है कि यद्यपि वे म्लेच्छ है तथापि वे खगोल-शास्त्र के अच्छे जानकार हैं, अतः पुराकालीन ऋषियों के समान ही वे भी आदरणीय हैं।

फलित ज्योतिष पर **सारावली** नामक एक ग्रन्थ कल्याणवर्मन नामक किसी राजा ने प्रस्तुत की थी। उसे भी लोग छठी शताब्दी के अन्त की रचना अनुमान करते है।

आयुर्वेद—आयुर्वेद की चर्चा वैदिक काल से ही उपलब्ध होती है और दूसरी शती ई० तक तो **चरक-संहिता** और **सुश्रुत-संहिता** ने अपना वर्तमान रूप धारण कर लिया था। उसकी महत्ता और ख्याति के कारण ही कदाचित् गुप्तकाल में हमें वागभट्ट के **अष्टांग-संग्रह** के अतिरिक्त किसी अन्य आयुर्वेद ग्रन्थ का ज्ञान नहीं हो पाता। इस ग्रन्थ की रचना छठी शती ई० में हुई थी और इसमें पूर्व-ज्ञान का सारांश प्रस्तुत किया गया है। इसी काल में कदाचित् **नावनीतिकम्** नामक ग्रन्थ की भी रचना हुई थी। १८९० ई० में इस ग्रन्थ की प्रति पूर्वी तुर्किस्तान स्थित कुचर नामक स्थान से बावर नामक सैनिक अधिकारी को मिली थी और वह उनके नाम पर **बावर मैनुस्क्रिप्ट** नाम से प्रसिद्ध

है। अन्य ग्रन्थों की भाँति यह आयुर्वेद सम्बन्धी विवेचनात्मक ग्रन्थ न होकर किसी चिकित्सक के नुस्खों का संग्रह मात्र है। इन नुस्खों से १३ भेल-संहिता, २९ चरक-संहिता और ६ सुश्रुत-संहिता से संग्रहीत किये गये हैं। उसमें जो अन्य नुस्खे हैं उनके सम्बन्ध में मूल स्रोत का कोई उल्लेख नहीं है; अनुमान किया जाता है कि वे कदाचित् हारीत, जातुकर्ण, क्षारपाणि और पाराशर की संहिताओं से, जो अब उपलब्ध नहीं है, लिये गये होंगे।

पशु-चिकित्सा सम्बन्धी ग्रन्थ भी इस काल में प्रस्तुत किये गये थे। उत्तर गुप्तकाल में रचित **हस्त्यायुर्वेद** नामक ग्रन्थ में १६० अध्यायों में हाथियों के मुख्य रोगों, उनके निदान और चिकित्सा तथा शल्य का विस्तृत वर्णन है। यह अंग-नरेश रोमपाद और ऋषि पालकाप्य के बीच वार्ता के रूप में है। शालिहोत्र लिखित **अश्वशास्त्र** भी सम्भवतः इसी काल की रचना है।

रसायन और खनिज—भौतिकी, रसायन और खनिज विज्ञान के सम्बन्ध में गुप्तकाल में क्या स्थिति थी, इसकी जानकारी सामान्य रूप में उपलब्ध नहीं है। इस विषय का कोई ग्रन्थ इस काल में कदाचित् नहीं लिखा गया। युवान-च्वांग और अमरनाथ के कथनानुसार सुविख्यात बौद्ध महायान दार्शनिक नागार्जुन रासायनिक और खनिज-शास्त्री भी थे। सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा आदि खनिज धातुओं में भी रोग निवारण की शक्ति है, यह तथ्य उद्घाटित कर उन्होंने रस-चिकित्सा का आविष्कार किया था। चिकित्सा के निमित्त पारद और लोह के उपयोग का उल्लेख वराहमिहिर ने भी किया है। इन सबसे यह अनुमान होता है कि चिकित्सा और रसायन का यह सहयोग, जिसने आगे चल कर विशेष महत्त्व प्राप्त किया, गुप्तकाल में आरम्भ हो गया था।

खनिज-विज्ञान के सम्बन्ध में यद्यपि कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है तथापि मेहरौली स्थित लोह-स्तम्भ इस बात का सबल प्रमाण है कि गुप्तकाल में खनिज-विज्ञान अत्यन्त विकसित अवस्था में था और लोगों को धातु शोधन और ढलाई की कला में अद्भुत दक्षता प्राप्त थी। छः टन वजन के इस २३ फुट ८ इंच लम्बे स्तम्भ की समूची ढलाई एक साथ की गयी है। इतनी लम्बी और वजनी धातु की ढलाई न केवल उन दिनों अन्यत्र अज्ञात थी वरन् आज भी वह सहज नहीं समझी जाती। यह स्तम्भ डेढ़ हजार वर्षों से सर्दी, गर्मी, बरसात सहता हुआ खुले में खड़ा है, पर उसमें तनिक भी न तो जंग लगा है और न किसी प्रकार की विकृति उत्पन्न हुई है। इस स्तम्भ का धातु-शोधन आज तक लोगों के लिए रहस्य बना हुआ है।

शिल्प-शास्त्र—गुप्तकाल में वास्तु-निर्माण और मूर्ति विधान ने विकसित कला और विज्ञान का रूप ले लिया था, यह तो तत्कालीन वस्तुओं और मूर्तियों से, जिनकी चर्चा अन्यत्र की जा रही है, स्पष्ट है। उनके सम्बन्ध में साहित्य भी प्रस्तुत किया जाने लगा था, यह भी वराहमिहिर के **बृहत्संहिता** के वास्तु और मूर्ति सम्बन्धी अध्यायों तथा

विष्णुधर्मोत्तर पुराण से ज्ञात होता है। इनके अतिरिक्त किसी अज्ञात शिल्पविद् ने **मानसार** नाम से शिल्पशास्त्र का एक विस्तृत ग्रन्थ प्रस्तुत किया था।

अर्थशास्त्र—भारतीय राजनीति-शास्त्र का निरूपण अर्थशास्त्र के रूप में सम्भवतः सर्वप्रथम मौर्यकाल में कौटिल्य ने किया था। उनके इस निरूपित आधार पर ही पीछे से लोगों ने राजनीति-विषयक अनेक ग्रन्थ प्रस्तुत किये। इस प्रकार की गुप्तकालीन ग्रन्थ के रूप में लोग कामन्दककृत **नीतिसार** का उल्लेख मुख्य रूप से करते हैं। कहा जाता है कि जिस प्रकार विष्णुगुप्त (चाणक्य—कौटिल्य) ने नरेन्द्र (चन्द्रगुप्त मौर्य) के लिए अपना अर्थशास्त्र प्रस्तुत किया था, उसी प्रकार कामन्दक ने नीतिसार को देव (चन्द्रगुप्त द्वितीय[1]) के लिए लिखा था। काशीप्रसाद जायसवाल ने कामन्दक को करमदण्डा अभिलेख में उल्लिखित द्वितीय चन्द्रगुप्त के मन्त्री शिखरस्वामिन होने का अनुमान किया है। उनकी धारणा है कि कामन्दक शिखरस्वामिन का कुल-नाम था। इस प्रसंग में उन्होंने अबूसालिह लिखित अदाबुल-मुल्क (राज-शिक्षा) नामक ग्रन्थ की ओर संकेत किया है। उक्त ग्रन्थ के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह किसी सिकर या सिफर नामक भारतीय की रचना का सार है। जायसवाल ने सिकर को शिखरस्वामिन बताते हुए यह अनुमान प्रकट किया है कि सालिह ने जिस ग्रन्थ का सार प्रस्तुत किया है, वह यही कामन्दककृत नीतिसार है।[2] किन्तु उनकी इन कल्पनाओं का कोई समुचित आधार नहीं जान पड़ता।

कामन्दकीय नीतिसार की भाषा और शैली में अनेक स्थलों पर गुप्तकालीन कवियों की छाया झलकती है, जो इसके गुप्तकालीन रचना होने की बात को पुष्ट करती जान पड़ती है। इस ग्रन्थ से शक नरेश के छल द्वारा हत्या किये जाने का समर्थन प्राप्त होता है। इस आधार पर भी इस ग्रन्थ के द्वितीय चन्द्रगुप्त से सम्बन्धित होने का कुछ अनुमान किया जा सकता है।

इसमें राज्य के सप्तांगों, राजा के कर्तव्य, दायभाग आदि सभी बातों का विस्तृत विवेचन है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र पर आधारित होते हुए भी इसमें अनेक स्थलों पर उससे भिन्नता और मौलिकता प्रकट होती है। उसकी इस मौलिकता में गुप्तकालीन राजनीति और शासन-व्यवस्था की विशेषताओं को सहज रूप से देखा जा सकता है। इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि इसका अनुवाद बाली में वहाँ की अपनी भाषा में उपलब्ध है।

कामशास्त्र—भारतीय जीवन में, सफलता की दृष्टि से अर्थ और धर्म को जितना महत्त्व आँका गया है, उससे कम महत्त्व काम का नहीं है। इस विषय पर भी लोगों ने काफी ऊहापोह किया था। यद्यपि कामशास्त्र सम्बन्धी प्राचीनतम ग्रन्थ के रूप में आज वात्स्यायन की कृति ही उपलब्ध है, तथापि उसके देखने से प्रकट होता है कि उससे पूर्व

---

१. देव द्वितीय चन्द्रगुप्त का अपर नाम था (पीछे, पृ० २८६)।

२. ज० बि० उ० रि० सो०, १८, पृ० १७-३९।

भी अनेक लोगों ने इस विषय पर ग्रन्थ लिखे थे जो आज लुप्त हो गये हैं। वात्स्यायन-कृत कामशास्त्र की रचना कब हुई, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, पर अनुमान किया जाता है कि उसका प्रणयन चौथी या पाँचवीं शती ई० में हुआ होगा। इस ग्रन्थ की रचना अर्थशास्त्र वाली शैली में हुई है। वह सूत्र और भाष्य दोनों का मिला-जुला रूप है। इसमें सात खण्डों में तत्कालीन विनोद-प्रिय नागरिकों का सजीव चित्र उपस्थित किया गया है। उसमें प्रेमी-प्रेमिकाओं के अनुराग और उसकी सिद्धि की ही चर्चा नहीं वरन् पारिवारिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक बातों का भी विस्तृत उल्लेख है।

कला और शिल्प

वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में ६६ कलाओं[1] की एक ऐसी सूची प्रस्तुत की है, जिनसे परिचित होना उन्होंने नागरिकों के लिए आवश्यक माना है। उनकी यह सूची इस प्रकार है : (१) गायन, (२) वादन, (३) नर्तन, (४) अभिनय, (५) आलेख्य (चित्र रचना), (६) विशेषक अर्थात् मुखादि पर पत्र-लेख रचना, (७) तन्दुल-कुसुम-अवली विकार—अल्पना (चौक पूरना), (८) पुष्पास्तरण, (९) दशन-वसन अंग-रागादि लेपन, (१०) मणिभूमिकारकर्म—पच्चीकारी, (११) शयन रचना, (१२) उदक-वाद्य, कदाचित् जलतरंग की तरह के वाद्य बनाना या बजाना, (१३) उदकाघात अर्थात् जलक्रीड़ा, (१४) चित्रयोग—रूप भरना (मेक-अप करना), (१५) माला गूँथना, (१६) शेखरापीड़योजन—मुकुट बनाना, (१७) नेपथ्य प्रयोग, (१८) कर्णा-भूषण बनाना, (१९) गन्धयुक्ति—सुगन्धित द्रव्य बनाना, (२०) भूषणयोजन, (२१) इन्द्रजाल (जादूगरी), (२२) सौन्दर्य योग, (२३) हस्त-लाघव (हाथ की सफाई), (२४) पाक-कार्य, (२५) पानक-रस-राग-आसव-योजन—शराब बनाना, (२६) सूची-कर्म (सिलाई), (२७) सूत्र-क्रीड़ा—कलाबत्तूका काम, (२८) वीणा-डमरू-वाद्य, (२९) पहेली, (३०) प्रतिमाल, (३१) दुर्वाच्याग—बुझावल, (३२) पुस्तक-वाचन, (३३) नाटक, आख्यायिका-दर्शन (कदाचित् अभिनय करना और कहानियोंको भाव-भंगिमाके साथ सुनाना), (३४) काव्य-समस्या-पूर्ति, (३५) पट्टिका वेत्रवान विकल्प—बेंतकी बुनाई, (३६) सूत कातना, (३७) तक्षण (मूर्ति बनाना), (३८) वास्तु-कला, (३९) रूप-रत्न-परीक्षा, (४०) धातु-वाद, (४१) माणि-राग-आकर-ज्ञान—रत्नों की रंग-परीक्षा, (४२) वृक्षायुर्वेद योग, (४३) मेढ़ा, कुक्कुट, लवा आदि लड़ाना, (४४) शुक-सारिका प्रलाप, (४५) उत्सादन-सम्वाहन (मालिश करना), (४६) केशमर्दन-कौशल, (४७) अक्षरमुष्टिककथन, (४८) म्लेच्छ विकल्प—विदेशी कलाओं का ज्ञान, (४९) देशी बोलियों का ज्ञान, (५०) पुष्पशतिका, (५१) निमित्तयोजन—भविष्य-कथन, (५२) कठपुतली नचाना, (५३) धारण मातृका ?, (५४) सुन कर दुहराना, (५५) मानसी काव्य क्रिया—आशु-काव्य, (५६) अभिधान कोश (शब्द-ज्ञान), (५७) छन्दयोजना, (५८) क्रियाकल्प, (५९) छलितक योग, (६०) वस्त्र-गापन—नकाब धारण करना (?), (६१) द्यूत, (६२) आकर्षण-क्रीड़ा (कदाचित् रस्साकशी), (६३) बाल-क्रीड़ा (बच्चों के साथ खेलना, (६४) वैनयिकी—शिष्टाचार, (६५) वैजयिकी—वशीकरण और (६६) व्यायाम।[2]

वात्स्यायन की इस कला-सूची में न केवल वे ही नाम हैं जिन्हें आज हम ललित-

---

१. सामान्यतः साहित्य में ६४ कलाओं का उल्लेख मिलता है। पर इस सूची में ६६ नाम हैं।

२. वात्स्यायन कामसूत्र, (काशी संस्कृत सीरीज), पृ० २९-३०।

कला या ललित-शिल्प के नाम से पुकारते हैं, वरन् उसमें गृह-सज्जा, सौन्दर्य-प्रसाधन, खाना पकाना, खेलकूद आदि दैनिक, वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन से सम्बन्धित सामान्य कार्य, शिक्षा और ज्ञान से सम्बन्धी बातें और कुलागत अथवा पारिवारिक पेशे के रूप में ज्ञात सामान्य कौशल और शिल्प आदि का भी उल्लेख है। इस प्रकार वात्स्यायन की कला-परिभाषा अत्यन्त व्यापक है जिसके कारण सामान्यतः लोग उनकी इस कला-सूची को गम्भीरता से नहीं ग्रहण करते। वे उसे रूढ़िगत, परम्पराजनित सूची मात्र समझते हैं। किन्तु यदि उस प्रसंग को ध्यान में रखते हुए, जिस प्रसंग में वात्स्यायन ने इस सूची का उल्लेख किया है, इस पर विचार किया जाय तो यह सहज अनुमान किया जा सकता है कि गुप्त-काल में लोग सम्भवतः छोटी-छोटी बातों में भी सौन्दर्य-सृष्टि की ओर सजग थे और वे जीवन की सभी दिशाओं में अपनी भावनाओं को कलात्मक रूप से सजीव, साकार और मौलिक अभिव्यक्ति के साथ प्रस्तुत करने को उत्सुक थे। वे अपने प्रत्येक कार्य को कला के रूप में ही देखने की चेष्टा करते थे। लोगों में प्रत्येक वस्तु को कलागत दृष्टि से देखने के भाव व्याप्त थे और जीवन की यह सुकुमारता (नजाकत) वात्स्यायन की कोरी कल्पना न थी यह पुरातात्त्विक अवशेषों और साहित्यिक वर्णनों से भली भाँति परिलक्षित होता है।

संगीत

गायन, वादन और नृत्य, संगीत के तीन मुख्य अंग कहे गये हैं और उनका पारस्परिक घनिष्ट सम्बन्ध है। गायन और वादन स्वतन्त्र भी होते हैं। पर उन दोनों का संयोग ही विशेष महत्त्व रखता है। इसी प्रकार नृत्य के साथ भी गायन और वादन का घनिष्ट सम्बन्ध है। गुप्त-कालीन साहित्य में हँसी-खुशी, आमोद-प्रमोद की जहाँ भी चर्चा हुई है वहाँ संगीत के इन सभी रूपों का उन्मुक्त रूप से उल्लेख हुआ है। तत्कालीन साहित्य के देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन नागरिक जीवन संगीत से आप्लावित था। संगीत चरम सुख का प्रतीक था और वह लोक-रंजन का प्रमुख साधन था। स्त्री-पुरुष सभी संगीत के प्रेमी थे और उसमें समान रूप से रस लेते थे। राज-घरानों में दिन-रात निरन्तर संगीत होता रहता था।[1] नगर संगीत-ध्वनि से सदा प्रतिध्वनित होते रहते थे।[2] नगरों में संगीत-शिक्षा के निमित्त संगीत-शालाएँ थीं,[3] जहाँ संगीताचार्य लड़के-लड़कियों को संगीत-कला की शिक्षा दिया करते थे। राजमहलों में इसकी स्वतन्त्र व्यवस्था होती थी।

गायन—गुप्त-कालीन गायन के रूप-स्वरूप पर प्रकाश डालनेवाला कोई सिद्धान्त-ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है; पर कालिदास के उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय तक गायन ने एक व्यवस्थित सिद्धान्त का रूप धारण कर लिया था। माल-

१. रघुवंश, १९।५।
२. वही, १९।१४।
३. मालविकाग्निमित्र, अंक १।

विकाग्निमित्र के आरम्भिक दो अंकों के कथनोपकथनों में संगीत सम्बन्धी प्रविधि की पर्याप्त चर्चा है। उनसे ज्ञात होता है कि संगीतशास्त्री कतिपय-सिद्धान्तों का अनुसरण करते, उनको प्रमाण मानते तथा उनके अनुसार अपने गायन का प्रदर्शन करते थे। कालिदास ने अपनी रचनाओं में ताल, लय, स्वर, उपगान, मूर्च्छना आदि अनेक पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख किया है। कई स्थलों पर राग की भी चर्चा है और संगीत के प्रसंग में उन्होंने सारंग, ललित आदि रागों के नाम भी दिये हैं। यही नहीं, उन्होंने बेसुरे राग को ताड़न के समान बताया है।[१] राग से पूर्व, वर्ण-परिचय, स्वरालाप, तत्पश्चात् गायन की विधि की भी चर्चा की है।[२] इनसे जहाँ तत्कालीन संगीत के प्राविधिक रूप का कुछ परिचय मिलता है, वहीं यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि कालिदास ने जहाँ भी गीतों का उल्लेख किया है, वहाँ उन्होंने प्रायः सभी गीत प्राकृत में दिये हैं।[३] इनसे ऐसा अनुमान होता है कि प्राविधिक संगीत के साथ-साथ लोक-संगीत का भी व्यापक प्रचार था अथवा कदाचित् दोनों में कोई विशेष अन्तर न था।

गायन के साथ-साथ वाद्य का भी प्रयोग होता था[४] और गीत के साथ नृत्य का भी योग था, ऐसा मालविकाग्निमित्र[५] से भासित होता है।

वादन--गायन के साथ-साथ वादन का उल्लेख प्रायः गुप्तकालीन साहित्य में मिलता है। कदाचित् उन दिनों तन्त्रागत वाद्यों में वीणा का ही प्रमुख रूप से प्रयोग होता था। कालिदास ने उसी का उल्लेख विशेष किया है।[६] लोग प्रायः वीणा के साथ गायन करते थे। समुद्रगुप्त और प्रथम कुमारगुप्त, दोनों का ही अंकन उनके अपने एक भाँत के सोने के सिक्कों पर वीणावादक के रूप में हुआ है।[७] वीणा के अतिरिक्त वल्लकी, परिवादिनी, तन्त्री आदि तन्त्रीगत वाद्यों का भी उल्लेख तत्कालीन साहित्य में मिलता है। सम्भवतः वे वीणा के ही रूप थे। तत्कालीन साहित्य में सुषिर वाद्यों के रूप में वेणु (बाँसुरी)[८], कीचक[९], शंख[१०] और तूर्य[११] का उल्लेख हुआ है। शख और तूर्य मांगलिक अवसरों तथा रण के समय काम आते थे। संगीत-साधन के रूप में कदाचित् उनका प्रयोग नहीं होता था। लोक-रंजन के रूप में वेणु का ही उपयोग

---

१. कुमारसम्भव, १।४५।
२. अभिज्ञान शाकुन्तल, अंक ५; मालविकाग्निमित्र, अंक २।
३. अभिज्ञान शाकुन्तल १।४; ३।१४; मालविकाग्निमित्र २।४; विक्रमोर्वशीय २।१२।
४. मेघदूत, १।६०; २।२६; रघुवंश २।१२।
५. मालविकाग्निमित्र, २।८।
६. रघुवंश, ८।३३; १९।३५, मेघदूत, १।२६, ४९ आदि।
७. पीछे, पृ० ६२।
८. रघुवंश, १९।३५।
९. रघुवंश, २।१२; कुमारसम्भव, १।८; मेघदूत, १।६०।
१०. रघुवंश, ६।९; ७।६३, ६४; कुमारसम्भव, १।२३।
११. रघुवंश, ३।१९; ६।९; ६।५६; १०।७६; १६।८७; विक्रमोर्वशीय, ४।१२।

होता था। कीचक भी कदाचित् वेणु की ही भाँति का कोई वाद्य था जिसका वास्तविक रूप अभी तक नहीं जाना जा सका है। अनुमान किया जाता है कि वह वायु के प्रवाह से अपने-आप बजनेवाला वाद्य था। चर्मवाद्यों में मुरज[1], पुष्कर[2], मृदंग[3], दुदुम्भि[4], मर्दल[5] आदि का उल्लेख मिलता है। इनमें परस्पर किस प्रकार का भेद था, यह किसी प्रकार ज्ञात नहीं है। भूमरा के शिव-मन्दिर के फलकों पर शिव के गण अनेक प्रकार के वाद्य बजाते अंकित किये गये हैं। उनमें चर्मवाद्यों के तीन रूप प्रकट होते हैं। एक तो छोटा और दूसरा लम्बा है और वे ढोल की तरह कन्धों से लटक रहे हैं। ये दोनों ही गोलाकार हैं। तीसरा वाद्य लम्बा और दोनों छोरों पर चौड़ा है, पर वह बीच में पतला है। उसका आकार कुछ डमरू-सा है। इन चर्मवाद्यों के अतिरिक्त शिव-गण भेरी, झाल आदि बजाते भी दिखाये गये हैं।[6] अजन्ता की १७वीं गुफा में भी अनेक वाद्य-यन्त्रों का अंकन हुआ है। उनसे तत्कालीन वाद्य-रूपों का बहुत कुछ अनुमान किया जा सकता है।

नृत्य—प्राचीन काल से ही इस देश में नृत्य का प्रचार रहा है और साहित्य में स्त्री-पुरुष दोनों के नृत्य करने का उल्लेख मिलता है। पर यह कला नारी-प्रधान ही अधिक थी। गुप्त-काल में नृत्य की लोकप्रियता इतनी अधिक बढ़ गयी थी कि परिवार के भीतर तो लड़कियाँ नृत्य सीखतीं और नृत्य करती ही थीं; परिवार के बाहर भी उसका व्यापक प्रचार था। मन्दिरों में, समाज में, राजदरबार में नृत्य हुआ करते थे। नृत्य ने एक पेशे का रूप धारण कर लिया था और लोगों के बीच नर्तकियों का काफी सम्मान था। लोग पुत्र-जन्म[7], विवाह आदि के अवसरों पर घरों में उनका नृत्य कराते थे।

नृत्य के रूपों के सम्बन्ध में साहित्य से विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। मालविकाग्निमित्र में छलिक नामक नृत्य का उल्लेख हुआ है, पर उसके रूप-स्वरूप की कोई चर्चा नहीं है। इसी प्रकार नर्तकियों द्वारा चामर नृत्य किये जाने का उल्लेख मिलता है।[8] नृत्य के दृश्यों का कतिपय अंकन गुप्तकालीन चित्रों और तक्षण में हुआ है। उनसे उनके स्वरूप का कुछ अनुमान किया जा सकता है। अजन्ता के १७वें लयण में नृत्य का एक अंकन मिलता है। उसमें एक नर्तकी नृत्य कर रही है और उसके साथ चार स्त्रियाँ मँजीरा और एक पुरुष मृदंग बजा रहा है। इसी प्रकार बाघ के चौथे लयण में

---

१. मेघदूत, १।६०; कुमारसम्भव, ६।४०; मालविकाग्निमित्र, १।२२।
२. मेघदूत, २।५; रघुवंश, १९।१४; मालविकाग्निमित्र, १।२१।
३. रघुवंश, १३।४०; १६।१३; १६।६४; मालविकाग्निमित्र, अंक १।
४. रघुवंश, १०।७६।
५. ऋतुसंहार, २।१, ४।
६. आर्कोलॉजिकल सर्वे मेमायर, स० १६।
७. रघुवंश, ५।६५।
८. मेघदूत, १।३९।

दो नृत्य-समूहों का चित्रण हुआ है। इन दोनों ही नृत्य-समूहों में मृदंग, झाल और दण्ड बजाती स्त्रियों से घिरी एक स्त्री नृत्य कर रही है। सारनाथ से प्राप्त एक शिला-फलक पर क्षान्तिवादक जातक का दृश्य अंकित है। उसमें एक स्त्री वेणु, भेरी, झाल और मृदंग बजाती स्त्रियों के बीच नृत्य कर रही है।[१] भूमरा के शिव-मन्दिर के फलकों में भी कुछ नृत्य करते गणों का अंकन हुआ है।

अभिनय—अन्यत्र अनेक नाटकों के गुप्त-काल में रचित होने की बात कही जा चुकी है।[२] इस काल में नाटकों का महत्त्व उनके अभिनय में ही अधिक समझा जाता था। नाटक की सफलता उनके प्रयोगों से ही आँकी जाती थी[३] और इस बात पर तत्कालीन नाटककारों ने काफी बल दिया है।[४] इससे यह सहज अनुमान किया जा सकता है कि उन दिनों नाटकों के प्रति लोगों की काफी अभिरुचि थी और वे राज-सभाओं में तो अभिनीत होते ही थे, बसन्त आदि सार्वजनिक[५] और विवाहादि पारिवारिक आनन्दोत्सवों पर भी नाटकों का अभिनय हुआ करता था। उसमें स्त्री-पुरुष दोनों ही समान रूप से भाग लेते थे और अभिनय-कला में दक्षता प्राप्त करते थे।

गुप्तकालीन अभिनयशाला अथवा रंगमंच का क्या रूप था, इसकी कहीं कोई स्पष्ट चर्चा नहीं मिलती और न अभिनयशाला का कहीं कोई प्राचीन रूप ही उपलब्ध हुआ है। कुछ लोग भरत के नाट्यशास्त्र को गुप्त-काल से पूर्व की रचना मानते हैं और अनुमान करते हैं कि उसमें वर्णित रंगमंच के समान ही गुप्तकालीन रंगमंच भी होते रहे होंगे। भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार रंगशाला की व्यवस्था इस प्रकार की जाती थी कि संलाप, गायन और श्रवण अच्छी तरह हो सके। इसके लिए रंगमंच के सामने दर्शकों के लिए मंचवत अर्थात् सोपान सरीखी गैलरी होती थी।[६] कालिदास ने भी इन्दुमती के स्वयंवर की चर्चा करते हुए रघुवंश में इसी प्रकार के दर्शक-कक्ष का उल्लेख किया है।[७] साहित्य में वर्णित अभिनयशाला का यह रूप रोमक और यवन अभिनयशालाओं से बहुत ही मिलता हुआ है। यदि भारतीय अभिनयशालाओं का वस्तुतः यही रूप था तो यह कल्पना करना अनुचित न होगा कि अभिनयशाला का यह रूप इस देश में वहीं से प्राप्त हुआ होगा।

रंगमंच के दो भाग होते थे। आगे का भाग, जहाँ अभिनय प्रस्तुत किया जाता

---

१. साहनी, सारनाथ संग्रहालय सूची, पृ० २३४; संख्या सी. (डी.)।
२. पीछे, पृ० ५१७-२१।
३. अभिज्ञान शाकुन्तल, १।१; मालविकाग्निमित्र, २।९।
४. मालविकाग्निमित्र, अंक १।
५. वही, अंक १।
६. नाट्यशास्त्र, २।९७।
७. सर्ग ६।

था, प्रेक्षागृह कहलाता था।[1] और उसके पीछे का भाग नेपथ्य[2] कहलाता था और वह आजकल के ग्रीनरूम का काम देता था। वहाँ अभिनेता अभिनय के निमित्त अपनी रूप-सज्जा किया करते थे। प्रत्येक अभिनेता का उसके अभिनय के अनुरूप वस्त्र और भूषा होती थी और अभिनय के समय वे उसी से पहचाने जाते थे। कालिदास ने रंगशाला के प्रसंग में तिरस्करिणी[3] शब्द का प्रयोग किया है। लोगों की धारणा है कि इसका तात्पर्य पर्दे से है जो प्रेक्षागृह में आजकल के समान ही दृश्य की पीठिका प्रस्तुत करते थे। कुछ लोग इस प्रकार के कई पर्दों के उपयोग की भी कल्पना करते हैं, पर इसका कोई स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

नाटक के प्रदर्शन से पूर्व प्रथमोपदेश-दर्शन अर्थात् रिहर्सल होता था। उस समय मांगलिक उद्घाटन के निमित्त ब्राह्मणों की पूजा की जाती थी और उन्हें भोजन करा कर दक्षिणा भेंट की जाती थी।[4] नाटक के आरम्भ में सूत्रधार रंगमंच पर उपस्थित होता था और किसी अभिनेता को बुला कर उसे बताता था कि कौन-सा नाटक अभिनीत होगा और फिर उससे उसकी तैयारी करने को कहता था। तदनन्तर सूत्रधार दर्शकों की ओर आकृष्ट होता था और उनसे सहानुभूतिपूर्वक अभिनय देखने का अनुरोध करता था। तत्पश्चात् नेपथ्य से किसी अभिनेता की आवाज सुनायी पड़ती और अभिनेता मंच पर उपस्थित होते थे और इस प्रकार नाटक आरम्भ होता था।

चित्रकला

चित्र आदिम काल से ही मानव की आन्तरिक अभिव्यक्ति का एक महत्त्व-पूर्ण माध्यम रहा है। अतः लोगों ने संसार में सर्वत्र चित्रकला के विकास की खोज प्रागैतिहासिक गुहा-चित्रों में की है और चित्रकला के विकासक्रम को व्यवस्थित रूप दिया है। किन्तु इस प्रकार की भारतीय चित्रकला की ऐतिहासिक कड़ियों को अभी व्यवस्थित रूप से जोड़ा जाना सम्भव नहीं हो पाया है। मिर्जापुर, होशंगाबाद, पंचमढ़ी आदि अनेक स्थानों से प्रागैतिहासिक गुहाओं के भित्तियों पर बड़ी संख्या में अनेक प्रकार के रेखा-चित्र मिले हैं; पर उनका अभी किसी प्रकार का कोई सम्यक् अध्ययन नहीं हुआ है और न उनका कोई समुचित काल-निर्धारण किया जा सका है। इस प्रकार वे चित्र अभी अपने-आप में अलग-थलग से हैं। इसी प्रकार ऐतिहासिक सीमा के परिगणना के भीतर चित्रकला के आदिम रूप की झलक हड़प्पा सभ्यता और उसके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती सभ्यताओं के अवशिष्ट मृत्भाण्डों पर अंकित और खचित रेखाचित्रों तथा मुहरों के प्रतीकों में देखी जाती है। पर चित्रकला के इतिहास की दृष्टि

१. मालविकाग्निमित्र, अंक १।
२. अभिज्ञान शाकुन्तल, अंक १।
३. मालविकाग्निमित्र, अंक २।
४. वही, अंक २।

से उनकी भी अभी तक कोई समुचित व्याख्या प्रस्तुत नहीं की जा सकी है। भारतीय चित्रकला के प्रारम्भिक इतिहास की एक अन्य कड़ी देश में सर्वत्र बिखरे आहत मुद्राओं पर अंकित आकृतियों में भी देखी जा सकती है। उनका समय बहुत कुछ सातवीं-छठी शती ईसा-पूर्व से लेकर ईसा-पूर्व दूसरी शती तक निर्धारित है और उनमें पशु-पक्षी, वृक्ष, मानव तथा नाना प्रकार के वास्तविक और काल्पनिक रूपों का अंकन हुआ है। पर वे भी अपने-आप में इतने एकांकी हैं कि चित्रकला के परिपृष्ठ में उनका कोई मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।

भारतीय चित्रकला के इतिहास की जो व्यवस्थित कड़ी आज हमें उपलब्ध है, वह अजन्ता के लयणों में प्राप्त होती है। वहाँ के कुछ लयणों में ऐसे भित्ति-चित्रों के अवशेष मिले हैं, जिनका समय ईसा-पूर्व की दूसरी शती के आस-पास अनुमान किया जाता है और वे चित्रकला के अत्यन्त विकसित परम्परा के प्रतीक हैं। यह चित्रकला सहसा प्रादुर्भूत न हुई होगी; उस परम्परा तक पहुँचने के लिए निस्सन्देह कलाकारों ने बहुत बड़ी साधना की होगी और उस साधना में अवश्य ही शताब्दियाँ लगी होंगी, पर उनकी आज कोई जानकारी नहीं है।

इन पुरानी बातों को छोड़ दिया जाय और केवल गुप्तकालीन चित्रों की ही चर्चा की जाय तो सहज रूप से यह कहा जा सकता है कि उसकी चित्रकला की परम्परा की कड़ी उससे लगभग छः सौ बरस पहले से मिलने लगी थी। गुप्त-काल में चित्रकला ने पूर्ण विकसित वैभव प्राप्त कर लिया था। तत्कालीन तकनीकी और ललित, दोनों प्रकार के साहित्य से ज्ञात होता है कि उन दिनों लोग चित्रकला को केवल शौकिया ही नहीं सीखते थे, वरन् नागरिक समाज के उच्च वर्ग और राजमहलों की स्त्रियों और राजकुमारियों के बीच चित्रकला का ज्ञान एक अनिवार्य सामाजिक गुण माना जाता था और सामान्य जन में भी उसका प्रचार-प्रसार काफी था। कामसूत्र में चित्रकला का उल्लेख न केवल नागरक कला के रूप में हुआ है, वरन् उसमें उसके उपकरण, यथा—रंग, ब्रश, फलक आदि की भी चर्चा है और उन्हें नागरक के निजी कक्ष में होना आवश्यक कहा है। राजमहलों और धनिक घरों में चित्रशाला अथवा चित्रसद्म (पिक्चर गैलरी) होने का उल्लेख साहित्य में यत्र-तत्र मिलता है।[1] वह लोगों के चित्रकला के प्रति रुचि का परिचायक है।

यही नहीं, गुप्तकालिक साहित्य से यह भी ज्ञात होता है कि चित्रकला का व्यवहारिक रूप का प्रचुर विकास तो हुआ ही था, उसके सिद्धान्त और तकनीक पर भी गम्भीरता से सोचा जा चुका था और चित्रकला सम्बन्धी सिद्धान्त निर्धारित हो चुके थे। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में चित्रकला सम्बन्धी पूरा एक अध्याय है। उसमें उसके एक अध्याय में सिद्धान्तों पर विचार किया गया है। उसमें चित्र के सत्य (यथावत छवि), वैनिक (छन्दयुक्त), नागर (संस्कृत) और मिश्र चार भेद कहे गये हैं। साथ ही

१. मालविकाग्निमित्र, पृ० २६४; रघुवंश, १४।२५।

वर्णरेखा, वर्ण-पूजन, अवयवों के परिमाण, अंगों के गठन, तनुता-स्थूलता, भावना, चेतना आदि की भी विशद् रूप से चर्चा की गयी है। वात्स्यायन के कामसूत्र पर यशोधर ने जो टीका की है, उसमें सम्भवतः विष्णुधर्मोत्तर के कथन के आधार पर ही चित्रकला के छः अंगों—रूपभेद (विधा अथवा प्रकार), प्रमाण (उचित अवयवीय अनुपात), लावण्य-योजन (सौन्दर्य निरूपण), सादृश्य (तद्रूपता) और वर्णिकभंग (रंग-व्यवस्था) का उल्लेख हुआ है।

चित्र और तत्सम्बन्धी कला का उल्लेख कालिदास की कृतियों में अनेक स्थलों पर मिलता है। उनसे इनके सम्बन्ध की काफी जानकारी प्राप्त होती है। इस प्रसंग में कालिदास ने चित्र[1] और प्रतिकृति[2] दो शब्दों का प्रयोग किया है। प्रतिकृति से उनका तात्पर्य आकृतिचित्र (पोर्ट्रेट) से था। इसके सन्दर्भ उनकी कृतियों में अनेक हैं। विक्रमोर्वशीय में उर्वशी के चित्र, मालविकाग्निमित्र में मालविका के चित्र और रघुवंश में पूजागृह में दशरथ के चित्र का उल्लेख है। कुमारसम्भव में पार्वती द्वारा शंकर का चित्र बनाये जाने का उल्लेख है। ये प्रतिकृतियाँ चित्रकारों ने आकृतियों को देख कर बनाया था, इसका कोई स्पष्ट संकेत नहीं है, पर स्मरण से प्रतिकृतियाँ बनाये जाने की चर्चा तो मेघदूत में स्पष्ट है। विरहिणी यक्षिणी, विरह के लम्बे क्षणों को काटने के लिए अपने प्रियतम का चित्र अपने स्मरण के आधार पर बनाती है।[3] इसी प्रकार यक्ष भी रामगिरि की शिला पर गेरू से मान की हुई अपनी पत्नी का चित्र बनाता है।[4] प्रतिकृतियाँ देख कर अथवा स्मृति से बनायी जाती रही हों, कालिदास के उल्लेखों से इतना तो स्पष्ट है कि वे सभी सजीव और भाव-प्रवण होती थीं।

प्रकृति-चित्रण की समग्र योजना का आभास भी कालिदास की रचनाओं में मिलता है। यथा—अभिज्ञान शाकुन्तल में शकुन्तला के प्रतिकृति को पहचान कर दुष्यन्त उसके भय, औत्सुक्य, शैथिल्य आदि भावों की ओर इंगित करता है। थकान से शिथिल शकुन्तला के केशराशि खुल कर लटक गये हैं, मुख पर पसीने की बूँद झलक रही है।[5] कालिदास ने चिन्तावृद्धि के भी रागबद्ध (चित्रित) किये जाने का उल्लेख किया है।[6] उन्होंने अन्यत्र भावावेगों के चित्रण की ओर संकेत किया है।[7] दुष्यन्त पर्याप्त सीमा तक शकुन्तला का चित्रण कर चुकने पर उसमें अनेक खामियों का अनुभव करता है। कहता है—"अभी कान के ऊपर केशों की गाँठ नहीं डाली, कपोलों पर पराग झर पड़ने वाले शिरीष के कुसुमों के गुच्छे अभी कानों पर नहीं रखे; अभी स्तनों के बीच चन्द्र-

---

१. अभिज्ञान शाकुन्तल, ६।१६।
२. मालविकाग्निमित्र, अंक ४; विक्रमोर्वशीय, पृ० १७४।
३. मेघदूत, २।२२।
४. वही, २।४२।
५. अभिज्ञान शाकुन्तल, पृ० २०९-१०।
६. वही, पृ० १३।
७. वही, पृ० २०८।

किरणों से कोमल मृणालसूत्र बनाना तो रह ही गया।"[१] चित्र की शेष भूमि को कदम्ब-वृक्षों से भर देने की बात भी कही गयी है।[२] शकुन्तला के एक अन्य चित्रण में वह हाथ में नील कमल लिये ओठों पर मँडराते भ्रमर को दूर करते खड़ी बतायी गयी है।[३]

प्रतिकृतियाँ एकाकी और सामूहिक दोनों प्रकार की होती थीं। सामूहिक प्रतिकृतियों के चित्रण का अनुमान मालविकाग्निमित्र के प्रथम अंक से किया जा सकता है। उसमें रानी के साथ दासियों के बीच मालविका के चित्र के होने का उल्लेख है। इसी प्रकार एक चित्र में शकुन्तला के साथ उसकी दो सखियों के होने की चर्चा है। प्रतिकृतियों के अतिरिक्त प्रकृति-चित्रण—भूचित्रण (लैण्ड-स्केप) का भी उल्लेख कालिदास की रचनाओं में मिलता है। उन्होंने दुष्यन्त के माध्यम से एक ऐसे चित्रण की कल्पना की है जिसमें मालिनी की धारा हो, जिसके पुलिनों पर हंस के जोड़े विहर रहे हों, मालिनी के दोनों ओर हिमालय की पर्वतमाला चली गयी हो जिन पर हरिण बैठे हों, फिर दुष्यन्त की कल्पना है कि वह वल्कल लटकाये आश्रम के वृक्षों का अंकन करे। एक की शाखा तले बैठी मृगी अपने प्रिय मृग के सींग से अपना बायाँ नयन खुजा रही हो।[४]

विशाखदत्त के मुद्राराक्षस में **यमपट** नामक एक विशेष प्रकार के चित्र का उल्लेख हुआ है। कदाचित् इस काल से कुछ पहले **चरणचित्र** के नाम से उसकी ही चर्चा बुद्धघोष ने की है। दोनों का ही सम्बन्ध मृत्यु के बाद के जीवन के चित्रण से है। उनके विवरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि कर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग और नरक के सुभोग और कुभोग को दरसाने और अगले जन्म को कर्मानुसार बनाने वाले दृश्यों का अंकन इन इन पटों पर होता था। इस प्रकार वे एक प्रकार के काल्पनिक चित्र थे।

कालिदास के उल्लेखों से यह भी ज्ञात होता है कि आज की तरह ही गुप्त-काल में भी चित्र-रचना में अनेक प्रकार के ब्रशों का प्रयोग होता था। उन्होंने इस प्रसंग में शलाका[५], वर्तिका[६], तूलिका[७], कूर्च, लम्बकूर्च[८] आदि शब्दों का उल्लेख किया है, जो विभिन्न प्रकार के ब्रशों और पेंसिलों के बोधक जान पड़ते हैं। **शलाका** कदाचित् महीन नोंक वाली पेंसिल को कहते थे जिससे चित्रों की सीमा रेखा तथा आकृतियों का बहिरंग खींचा जाता था। रेखाचित्रों के बनाने में भी सम्भवतः इसका प्रयोग होता था। **वर्तिका**

---

१. वही।
२. वही, पृ० २१२।
३. वही, पृ० २१३-१४।
४. वही, अंक ६।
५. कुमारसम्भव, १।२४; ४७।
६. अभिज्ञान शाकुन्तल, अंक ६।
७. कुमारसम्भव, १।३२।
८. अभिज्ञान शाकुन्तल, पृ० ११६।

सम्भवतः विविध रंगों के मोटे पेंसिल को कहते रहे होंगे, जो रंग भरने का काम आता रहा होगा। तूलिका सम्भवतः रुई से बनी नरम कूँची थी। बालों से बने ब्रश को कूर्च कहते रहे होंगे और लम्बे आकार वाला ब्रश लम्बकूर्च कहा जाता रहा होगा। ब्रशों आदि को जिस पेटिका में रखते थे उसे वर्तिका-करण्डक कहते थे।[१] उसी में कदाचित् रंग आदि भी रखते रहे होंगे। यह भी सम्भव है कि रंग रखने के लिए अलग पेटिका अथवा करण्डक होती रही हो। रंगों की चर्चा साहित्य में स्पष्ट रूप से नहीं हुई है, पर तत्कालीन जो चित्र आज उपलब्ध हैं, उनसे ज्ञात होता है कि उन दिनों चित्ररचना में प्रयोग किये जाने वाले प्रधान रंग गेरू, लाल, पीला, नीला (काला) और सफेद थे। ये सभी वनस्पतियों और खनिज से बनाये जाते थे।

जिस आधार पर चित्र बनाये जाते थे, उन्हें चित्रफलक[२] कहा गया है। इससे अनुमान होता है कि वह लकड़ी का बना चोकोर तख्ता होता रहा होगा। पटों की ऊपर चर्चा की गयी है, उनसे यह अनुमान होता है कि कपड़ों पर भी चित्र बनाये जाते थे। किन्तु इन दोनों ही प्रकार के तत्कालीन चित्रों का नमूना आज उपलब्ध नहीं है। मेघदूत में यक्ष द्वारा चट्टान पर चित्र अंकित किये जाने का उल्लेख है। साहित्यिक सूत्रों से यह भी ज्ञात होता है कि धनिक नागरिकों के घरों तथा राजमहलों के भित्ति और छत चित्रों से अलंकृत होते थे।[३] इनसे भित्ति चित्रों की परम्परा का परिचय मिलता है। गुप्त-कालीन आवास और राजमहल अभी तक प्रकाश में नहीं आये हैं, पर पर्वतों को काट कर जो धार्मिक लयण-मन्दिर बनाये गये थे, उनमें भित्ति और छत दोनों ही अलंकृत मिलते हैं। वे सम्भवत राजमहलों के भित्ति-चित्र परम्परा में ही हैं। उनके देखने से ज्ञात होता है कि चित्रांकन से पहले भित्ति की भूमि तैयार की जाती थी। इस तैयारी अथवा चित्रों की प्रस्तुति-भूमि को विष्णुधर्मोत्तर पुराण में वज्रलेप कहा गया है। जान पड़ता है कि पहले दीवार घिस कर चिकनी कर ली जाती थी अथवा अन्य प्रकार से उसे समतल रूप दिया जाता था। फिर उस पर प्रस्तरचूर्ण, मिट्टी और गोबर मिला कर हीरे की सहायता से लेप बना कर चढ़ाते थे। वह भूमि पर चढ़ कर पलस्तर की तरह जम जाता था। फिर उसे चिकना कर गीला रहते ही चूने के पानी से धो देते थे। इस प्रकार भूमि तैयार हो जाने पर उस पर चित्रांकन किया जाता था।

गुप्तकालीन सिद्धान्तकारों की दृष्टि में चित्रकला मात्र हस्तकौशल न थी। उसे उन लोगों ने योग की संज्ञा दी है, समाधिकर्म कहा है। चित्रालेखन की विशेषता ध्यान और योग की क्रिया की सहायक शक्ति में है। कहा गया है कि आलेखक को ध्यान-विधि में निष्णात होना चाहिये। ध्यान के अतिरिक्त स्वरूप को जानने का कोई दूसरा साधन नहीं है, प्रत्यक्ष दर्शन भी नहीं। आलेखक को आलेखन से पूर्व समाधिस्थ होकर

१. वही, पृ० ११९।

२. वही, पृ० १०८, ११५, १२०; विक्रमोर्वशीय, पृ० १७८।

३. मेघदूत, २।१, ६, १७; रघुवंश, १६।१६।

बैठना चाहिये और जब चित्र का भीतर-बाहर सब कुछ सर्वांग रूप से उसके मानस में उभर आये तभी वह आलेखन का प्रयास करे अन्यथा वह असफल होगा; उसमें शिथिल-समाधि का दोष आ जायगा। मूलतः यह बात मूर्ति-निर्माण के प्रसंग में कही गयी है[1], पर वह चित्र-आलेखन पर भी समान रूप से लागू थी, यह कालिदास के माध्यम से ज्ञात होता है। मालविकाग्निमित्र[2] में राजा चित्रशाला में जाता है और हाल के बने मालविका के चित्र को देखता है, उसके रूप से वह चमत्कृत हो जाता है; कहता है—'नारी चाहे कितनी सुन्दर क्यों न हो, वह इतनी (इस चित्र के समान) सुन्दर नहीं हो सकती।' वह उस आलेख्य को अतिरञ्जित मानता है। किन्तु जब वह मालविका को नृत्याभिनय करते हुए देखता है तब सहसा कह उठता है—'चित्र में इसका जो रूप देखा था, वह तो कुछ भी नहीं है। चित्रकार उसके वास्तविक रूप को पकड़ नहीं सका है। यह दोष तो निश्चय ही चित्रकार के शिथिल समाधि के कारण है।'

भित्ति-चित्र—ऊपर धार्मिक लयणों में भित्ति-चित्रों के अंकित होने की चर्चा हुई है। इस प्रकार के भित्ति-चित्र, जिनका समय तीसरी और छठी शती ई० के बीच आँका जाता है, अजन्ता, बाघ, बदामी, बेदसा, कन्हेरी, औरंगाबाद, पीतलखोरा आदि अनेक स्थानों में मिले हैं। इनमें बेदसा के चित्र सम्भवतः सबसे पुराने है। उनका चित्रण काल तीसरी शती ई० माना जाता है। पर वहाँ की चित्र-सम्पदा प्रायः नष्ट हो गयी है। कुछ धुँधली-सी पृष्ठभूमि और कुछ रेखा मात्र बच रहे हैं। छठी शती में चित्रित कन्हेरी (लयण १४), औरंगाबाद (लयण ३ और ६) और पीतलखोरा (चैत्य १) के चित्रों की भी प्रायः यही दशा है। केवल अजन्ता (५००-६५० ई०), बाघ (लगभग ५०० ई०) और बादामी (छठी शती ई०) के लयणों में ही किसी सीमा तक चित्र सुरक्षित बच रहे हैं। उनसे ही इस काल के चित्रकला की महत्ता प्रकट होती है। किन्तु अजन्ता गुप्त-साम्राज्य की परिधि से बाहर वाकाटकों की सीमा में स्थित है। इसी प्रकार बदामी भी चालुक्यों की राज-सीमा के अन्तर्गत रहा है। केवल बाघ के ही लयण, जो मालवा में, मालवा-गुजरात के वणिक्पथ पर अमझेरा के निकट स्थित हैं, गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत स्थित कहे जा सकते हैं। किन्तु उनकी रचना गुप्तों के शासन-काल में ही हुई, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। हो सकता है, इन्हें भी वाकाटकों का संरक्षण प्राप्त रहा हो। वस्तुस्थिति जो भी हो, अजन्ता और बाघ के चित्रों की चर्चा गुप्त-कालीन कला के रूप में होती चली आ रही है। अतः उसी परम्परा में ही यहाँ उसकी चर्चा की जा रही है।

अजन्ता—अजन्ता के लयण सह्याद्रि की पर्वतशृंखला में औरंगाबाद से लगभग ५० मील की दूरी पर स्थित एक उपत्यका में एक अर्ध-चन्द्राकार पर्वत में काट कर बनाये गये हैं। उनकी संख्या चौबीस है और उनका निर्माण ईसा-पूर्व दूसरी शती से

---

१. शुक्रनीति, ४।४।१४७-५०।
२. अंक १।

सातवीं शती ई० के बीच हुआ था। इनकी चर्चा किसी प्राचीन साहित्य में नहीं मिलती; किन्तु मध्यकालीन इतिहासकारों से ज्ञात होता है कि किसी समय औरंगजेब की सेना ने वहाँ से गुजरते समय इन लयणों को देखा था। पर वे भी इसके सम्बन्ध की कोई जानकारी प्रस्तुत नहीं करते। १८१९ ई० में अंगरेजी सेना के एक अधिकारी ने, उस मार्ग से जाते समय इन लयणों के सम्बन्ध में कुछ किंवदन्तियाँ सुनीं और उसने उन्हें देखने की चेष्टा की। उस समय इन लयणों में या तो जंगली पशु-पक्षी निवास करते थे या फिर कुछ घुमन्तू लोग; साधु-संन्यासी उनमें आकर रहते या ठहरते रहे। उसी अंगरेज सैनिक अधिकारी ने सर्वप्रथम इन लयणों का परिचय संसार को दिया और लोगों की दृष्टि उस ओर गयी। फिर यथा समय उनकी खुदाई, सफाई और संरक्षण की ओर लोग उन्मुख हुए और उसका महत्त्व आँका गया। इन लयणों की विस्तृत चर्चा वास्तुकला के प्रसंग में की जायगी, यहाँ केवल यही कहना उपयुक्त होगा कि इन लयणों के प्रकाश में आने के पश्चात् बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी के अनुरोध पर १८४४ ई० मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने चित्रों की अनुकृति बनाने के लिए मद्रास सेना के मेजर राबर्ट गिल को भेजा। पश्चात् १९१५ ई० मे लेडी हेरिंगहम ने अजन्ता के चित्रों की अनुकृति बना कर प्रकाशित किया। तदनन्तर निजाम सरकार ने अजन्ता के चित्रों का एक विस्तृत चित्राधार प्रकाशित कराया।

अजन्ता के २४ लयणों मे से केवल सात (लयण १, २, ९, १०, १६, १७ और १९) में अब चित्र बच रहे हैं। इन सात में भी दो (लयण ९ और १०) के चित्र दूसरी पहली शती ईसा पूर्व के हैं; शेष पाँच का समय ५०० ई० और ६५० ई० के बीच आका जाता है। लयण १६ में, जो प्रस्तुत काल-सीमा के अन्तर्गत प्राचीनतम आँका जाता है, कुछ थोड़े से ही चित्र बच रहे हैं। उनमें बुद्ध के तीन चित्र, एक सोयी हुई स्त्री का चित्र और षड्दन्त जातक का मरणासन्न राजकुमारी वाला दृश्य है। मरणासन्न राजकुमारी का यह चित्र कला के इतिहास में भाव और करुणा की अभिव्यक्ति की दृष्टि से अद्वितीय है। ग्रिफिथ, बर्जेस और फर्गुसन ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इसी लयण के एक चित्र मे नन्द के संघ प्रवेश वाला दृश्य भी है जो अत्यन्त रागमय और करुण है। लयण १७ में, जो लयण १६ के बाद का है, वृत्तात्मक चित्रों का बाहुल्य है। उसमे बुद्ध के जन्म, जीवन और निर्वाण के अनेक मनोरम दृश्य हैं। उसमे सिंहलावदान, कपिलवस्तु की वापसी तथा महाहंस, मातृपोषक, रुरु, षड्दन्त, शिवि, विश्वन्तर और नालगिरि जातकों का अंकन है। सिंहलावदान वाला चित्र, जिसमें जलप्लावन (सागर विप्लव) के बाद अपने बचे साथियों के साथ राजकुमार के सिंहल की भूमि पर अवतरण का दृश्य है, अपनी असाधारण गति और सुघराई के लिए अप्रतिम समझा जाता है। एक अन्य चित्र में शिशु लिये दो उँगलियों के सहारे कुछ गुनती हुई नारी अद्भुत कोमलता के साथ अंकित की गयी है। एक तीसरे चित्र में आकाशचारी तीन अप्सराओं की गति-छन्दस देखते ही बनती है। इस लयण में अंकित सिंह और श्याम मृग के शिकार और हाथियों के समूह का अंकन भी असाधा-

रण रूप में हुआ है। लेडी हेरिंगहम के शब्दों में उनमें छाया और प्रकाश का जो संयोजन हुआ है, वह इटली में भी १७वीं शती ई० से पूर्व देखने में नहीं आता। यह संयोजन और सामूहीकरण अद्भुत रूप से स्वाभाविक और आधुनिक है।

लयण १९ में, जो सम्भवतः लयण १७ से कुछ पीछे का है, बुद्ध के अनेक चित्र और कपिलवस्तु की वापसी का दृश्य है। लयण १ और २ इस क्रम में सबसे बाद के हैं। लयण १ में मार-धर्षण, पंचिक-कथा, शिवि और नाग जातक तथा कुछ अन्य दृश्य हैं इस लयण में पद्मपाणि बोधिसत्त्व का एक अनुपम चित्र है। उसकी धनुषाकृति भौंहें, छाया में अधखुली आँखें, पँखुड़ियों से उँगलियों में पकड़ा हुआ सुकुमार पद्म, एकावलि के बीच इन्द्रनील आदि सभी आश्चर्यजनक रूप से अंकित हुए हैं और वे सभी काल के चित्रकारों के लिए एक चुनौती देते हुए से जान पड़ते हैं। लयण २ के चित्रों में श्रावस्ती का चमत्कार, क्षदन्तिवादिन और मैत्रीबल जातक तथा राजप्रासाद, इन्द्रलोक आदि के दृश्य हैं। इस लयण के आकृति अंकन में चित्रकारों ने अद्भुत् भाव-भंगिमाओं का संयोजन किया है। इस लयण के चित्रों में वाम-पाद मोड़ कर स्तम्भ से टिके बाँयें कर के अँगूठे और अनामिका को मिलाये गुनती-सी नारी और झूला झूलती रानी इरन्दी के अंकन में अद्भुत् अल्हड़ता टपकती है।

विषय की दृष्टि से इन लयणों के सभी चित्र धार्मिक हैं और उनके अंकन का उद्देश्य भी धार्मिक ही है। किन्तु वातावरण, भाव आदि दृष्टियों से उनकी अभिव्यञ्जना लौकिकता और नागरकता ही अधिक दिखायी देती है। अजन्ता के चित्रकार सौन्दर्य उद्घाटन और रस-बोध में चरम सीमा तक रम गये हैं; किन्तु उन्हें अपनी रचना की विषय-भूमि एकदम भूल गयी हो, आध्यात्मिकता और बौद्धिकता का एकदम लोप हो गया हो, यह बात नहीं है। उनमें धार्मिक चेतना की झलक बनी हुई है। अनेक दृश्यों में उन्होंने प्रधान व्यक्ति को अन्तर्ज्योति में पूर्ण और विराग-मय भाव से परिप्लावित इस ढंग से अंकित किया है कि वे समस्त दृश्य पर छाये हुए प्रतीत होते हैं।

अजन्ता के चित्रकारों ने नगरों, महलों, घरों, कुटियों, जलाशयों आदि दृश्य नाना रूपों में अंकित किये हैं। मानव आकृतियाँ, जीवन से अविच्छिन्न सम्बन्ध बनाये हुए, अपने विविध रूपों में चित्रित की गयी हैं। उनके अर्ध-निमीलित नेत्र, कमल की पँखुरियों-सी छन्दस की गतिशील मुद्राओं में नमित होती हुई उँगलियाँ, उनकी भंग, द्विभंग, त्रिभंग आदि भंगिमाएँ देख कर लगता है कि चित्रकारों ने उनके अंकन में रंगमंच के नटों की गति, नृत्यकला का कम्पन, स्फुरण, तरंग-विस्तरण तथा छन्दस-क्रिया के अत्यन्त सुकोमल रूप को आत्मसात् कर अपनी तूलिका से आकृतियों में रूपायित किया है। ये चित्रकार न केवल रूपायन में कुशल, वरन् मानवीय जीवन के प्रति संवेदनशील और उदार भी थे।

वृत्तचित्र और आकृति-अंकन के अतिरिक्त अलंकरण उपस्थित करने में भी अजन्ता

के चित्रकारों ने अपना अद्भुत कौशल प्रदर्शित किया है। उन लोगों ने चित्रों के अलंकरण के निमित्त पत्रावली, पुष्प, वृक्ष, पशु, पक्षियों का अनन्त रूप में प्रयोग किया है। उनमें सूक्ष्मतर विविधता इतनी अधिक है कि किसी प्रकार की पुनरावृत्ति उनमें ढूँढ़ पाना कठिन ही नहीं, प्रायः असम्भव है। यही नहीं, उन्होंने अपने अलंकरणों में सुपर्ण, गरुड़, यक्ष, गन्धर्व, अप्सराओं आदि का भी जगह-जगह मनोरम और सुकुमार रूप में उपयोग किया है। अलंकरण में चित्रकारों की कल्पना ने अद्भुत उड़ान भरी है। इस प्रकार के अलंकरण लयण १ में विशेष हैं, लयण २ की छत भी ऐसे ही अलंकरणों से भरी है। पहले लयण की छत में साँड़ों की लड़ाई का जो अंकन हुआ है, वह अपनी गति और अभिव्यक्ति में असाधारण है।

बाघ—बाघ के लयण, जैसा कि ऊपर कहा गया है, मध्यप्रदेश में महू सैनिक छावनी से ९० मील दूर अमझेरा नामक स्थान के निकट, बाघ नामक नदी के किनारे स्थित है। यहाँ के लयणों की संख्या नौ है। अजन्ता की अपेक्षा यहाँ का पत्थर अधिक नरम होने के कारण वे अधिक क्षतिग्रस्त हैं। इन लयणों को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय लेफ्टिनेण्ट डैंगरफील्ड को है। उन्होंने १८१८ ई० में इसके सम्बन्ध में जानकारी प्रकाशित की थी। जब लोगों का ध्यान इन लयणों की ओर गया तब ग्वालियर राज्य के पुरातत्त्व विभाग ने उनकी रक्षा और सफाई की व्यवस्था की। अजन्ता के समान ही इन लयणों की दीवारें, छतें, स्तम्भ आदि चित्रित थे। किन्तु इन चित्रों के केवल कुछ ही अंश अब लयण ४ और ५ में बच रहे हैं। उनके जो अंश आज पहचाने जा सकते हैं, उनसे केवल यही अनुमान किया जा सकता है कि वे कदाचित् बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित न होकर जातक और अवदान की कथाओं के आधार पर बने थे। किन्तु वे किन कथाओं के अंश हैं, यह पहचानना आज सम्भव नहीं है। चित्रों के जो टुकड़े वहाँ बच रहे हैं, उनका उल्लेख मात्र इन शब्दों में किया जा सकता है[1]—

१. दो स्त्रियाँ चँदोवे के नीचे बैठी हैं। उनमें एक शोकाकुल है। वह अपने मुख को एक हाथ के सहारे आँचल से ढँके हुए है। दूसरी स्त्री उसे सान्त्वना दे रही है अथवा उसकी करुण कहानी सुन रही है। चँदोवे के ऊपर कबूतर के दो जोड़े अंकित जान पड़ते हैं।

२. किसी जंगल या बगीचे के बीच चार साँवले व्यक्ति (सम्भवतः सभी पुरुष) अधोवस्त्र मात्र पहने नीले और श्वेत गद्दीनुमा आसन पर पद्मासन बैठे शास्त्रार्थ कर रहे हैं। बाँयीं ओर बैठे दो व्यक्ति रत्न-जड़ित शिरोवस्त्र धारण किये हुए हैं। दाहिनी ओर बैठे शेष दो व्यक्ति नंगे सिर हैं।

३. इस अंश के स्पष्टतः ऊपर-नीचे दो भाग हैं। ये दोनों विभाग किसी एक दृश्य से सम्बन्धित हैं अथवा दो भिन्न दृश्यों के अंश हैं, कहना कठिन है। ऊपर वाले

---

१. द बाघ केव्ज, पृ० ४७-५७।

अंश में छः (अथवा पाँच) पुरुष हैं जो बादलों के बीच उड़ते हुए प्रतीत होते हैं। उनमें से एक अधोवस्त्र धारण किये हुए है। शेष के केवल उत्तमांग ही दिखाई पड़ रहे हैं; उनका शेष अंश बादलों में छिपा है। उनके हाथ फैले हुए हैं। उनकी यह मुद्रा या तो उनके उड़ने का द्योतक है या वे देवगण हैं और किसी को आशीर्वाद दे रहे हैं। निचले अंश में पाँच सिर दिखाई पड़ते हैं जो सम्भवतः नर्तकियों के हैं। उनमें एक वीणा लिये जान पड़ती है। इन्होंने अपने केशों को एक गाँठ के रूप में पीछे बाँध रखा है। एक की केशग्रन्थि में श्वेत रज्जुका तथा नील पुष्प ग्रथित हैं।

४. इसमें गायिकाओं के दो समूहों का अनुमान किया जाता है। बायीं ओर के समूह में सात स्त्रियाँ एक पुरुष नर्तक को घेर कर खड़ी हैं। नर्तक चोगा और पाजामा पहने (कथक नृत्य के वेश से मिलता-जुलता) खड़ा है, उसके केश दोनों ओर बिखरे हुए हैं। उसका दाहिना पैर झुका और हथेली नृत्य मुद्रा में ऊपर उठी है। गायिकाओं में एक मृदंग, तीन दण्ड तथा तीन मँजीरा बजा रही हैं। दाहिने ओर के समूह में भी गायिकाओं के मध्य एक नर्तक है। इस समूह में स्त्रियों की संख्या केवल छः है। उनमें एक मृदंग, दो मँजीरा और शेष तीन दण्ड बजा रही हैं।

५. सम्भवतः यह घोड़ों के जुलूस का दृश्य है। इसमें सत्रह घुड़सवार हैं जो पाँच या छः पंक्तियों में चल रहे हैं। उनमें मध्य में स्थित एक घुड़सवार राज-चिह्नों से सुशोभित लगता है।

६. यह भी जुलूस का दृश्य जान पड़ता है। इसमें छः हाथी और तीन घुड़सवार हैं, जिनमें से अब केवल एक घुड़सवार के चिह्न बच रहे हैं। जुलूस में जो सबसे आगे हाथी था वह नष्ट हो गया है, केवल उसका सवार ही दिखाई पड़ता है, जो कदाचित कोई राज-पुरुष है। इसके ठीक पीछे एक घोड़ा है। जुलूस के मध्य में छः हाथियाँ हैं। उनमें दो बड़ी और दो छोटी हैं। छोटी हाथियों में से एक आगे बढ़ने को सचेष्ट है, महावत अंकुश लगा कर उसे रोकने की चेष्टा कर रहा है। बड़ी दो हाथियों पर केवल महावत जान पड़ते हैं। दोनों छोटी हाथियों पर महावत के अतिरिक्त तीन-तीन स्त्रियाँ बैठी हैं। इस दृश्य के पीछे कदाचित् तोरणद्वार सरीखी कोई वास्तु है।

बाघ के ये चित्र छठी शती ई० के आस-पास के अनुमान किये जाते हैं और वे अजन्ता के चित्रों की ही परम्परा में हैं; किन्तु चित्रों के जो अंश उपलब्ध हैं, उनमें आध्यात्मिकता की वह झलक नहीं है जो अजन्ता में दिखाई पड़ती है। इस दृष्टि से इन्हें अजन्ता के चित्रों से कुछ भिन्न कहा जा सकता है। अन्यथा जिस लौकिकता और नागरिकता का चित्रण अजन्ता में हुआ है, वही यहाँ भी प्रस्फुटित है। अल्हड़, उल्ल-सित, उन्मद अनियन्त्रित जीवन की झलक दिखाई पड़ती है। यहाँ भी चित्रकारों ने मानव और पशुओं को एक-सी सजीवता के साथ प्रस्तुत किया है।

देश में अन्यत्र बदामी आदि के लयणों में जो चित्र मिलते हैं, वे प्रस्तुत पुस्तक की परिधि के बाहर के हैं; तथापि वे सभी इसी परम्परा के अगले क्रम में हैं। यह क्रम परवर्ती काल में नालन्द विश्वविद्यालय के माध्यम से ताड़पत्रीय ग्रन्थों के चित्रण में उतर

आया था, जिसकी परम्परा नेपाल और तिब्बत में दिखाई देती है। तिब्बत के पटचित्र (थान-का) भी इसी परम्परा में हैं। चित्रकला की यह गुप्तकालीन परम्परा यहीं तक सीमित नहीं रही। वह भारत की भौगोलिक सीमाओं को लाँघ कर विदेशी कला और आस्था में भी प्रतिष्ठित हुई। सिगरिया (सिंहल), चम्पा, हिन्द-एशिया, तुंग-हुआंग (चीन), मध्य-एशिया आदि की चित्रकला में गुप्तकालीन भारतीय चित्रकला का प्रभाव मुखरित रूप में देखा जा सकता है।

मूर्तिकला

मूर्तिकला मूर्तन की एक दूसरी ऐसी विधा है जिसमें लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति के साथ किसी भी वस्तु की तद्वत् अनुकृति प्रस्तुत की जा सकती है। कलाकार अपनी क्षमता और कल्पना के अनुसार उसमें सौन्दर्य और रस दोनों का तालमेल तद्वत्ता के साथ प्रस्तुत कर सकता है। चित्रकला की भाँति ही मूर्तिकला की उद्भावना मनुष्य के मस्तिष्क में उसके सांस्कृतिक जीवन के विकास के आरम्भ काल ही में हो गया था। उस काल की मूर्तिकला के भारतीय नमूने अभी तक नहीं प्राप्त हुए हैं, पर अन्यत्र वे देखे और पहचाने गये हैं। इस देश में मूर्तिकला के प्राचीनतम नमूने हड़प्पा संस्कृति के अवशेषों में ही मिले हैं। वहाँ वे पत्थर, धातु और मिट्टी के माध्यमों में प्रस्तुत किये गये हैं। वैदिक संस्कृति भी मूर्तियों से परिचित थी, ऐसा कतिपय वैदिक ऋचाओं और सूक्तों के आधार पर अनुमान किया जाता है। किन्तु भारतीय मूर्तिकला का वास्तविक विकास और प्रसार मौर्य-काल में और उसके बाद ही देखने में आता है। विभिन्न माध्यमों द्वारा प्रस्तुत भारतीय मूर्तिकला अपने माध्यम के अनुरूप अपनी निजी विशेषताएँ रखती हैं और उनका अपना-अपना स्वतन्त्र इतिहास है। अतः उनकी चर्चा उनके माध्यमों के अनुसार अलग-अलग करना सुविधाजनक और समीचीन होगा।

प्रस्तर-मूर्तिकला—प्रस्तर में कोरी गयी मूर्तियों के अद्यतम नमूने हड़प्पा-संस्कृति के अवशेषों में मिले हैं; किन्तु भारतीय मूर्तिकला का शृंखला-बद्ध इतिहास मौर्यकाल अथवा उससे कुछ पहले से मिलता है। वहाँ इसके स्पष्ट दो रूप दिखायी पड़ते हैं। इन रूपों को सहजभाव से राजाश्रित और लोकाश्रित कला का नाम दिया जा सकता है। अशोक के स्तम्भ शीर्ष में अंकित पशु और पाटलिपुत्र से प्राप्त पुरुष-मूर्ति का शिर-विहीन ऊर्ध्वांग तथा चामरधारिणी (दीदारगंज यक्षी) की मूर्ति आदि इस काल के राजाश्रित कला से अनुपम नमूने हैं। लोकाश्रित कला के नमूने यक्ष और यक्षियों की मूर्तियों के रूप में उत्तर-भारत के अनेक स्थानों से प्राप्त हुए हैं। ये सभी निरवलम्ब खड़ी मूर्तियाँ हैं। इनका तक्षण चतुर्दिक्दर्शी रूप में हुआ है अर्थात् वे आगे-पीछे सभी ओर से देखी जा सकती हैं। किन्तु निर्माताओं का उद्देश्य रहा है कि वे केवल सामने से ही देखी जायँ; अतः इन मूर्तियों के तक्षण में पृष्ठ भाग की अपेक्षा अग्रभाग की ओर ही अधिक ध्यान दिया गया है। ये मूर्तियाँ महाकाय हैं अर्थात् वे शारीरिक

शक्ति की असाधारण अभिव्यक्ति करती हुई काफी लम्बी और स्थूलकाय हैं। यक्ष-मूर्तियों की इसी परम्परा में आगे चल कर कुषाणकाल में बोधिसत्त्वों की महाकाय चतुर्दिक्दर्शी मूर्तियों का प्रादुर्भाव हुआ।

मौर्योत्तर-काल में मूर्तिकला की एक दूसरी विधा प्रस्फुटित हुई। इस काल में चतुर्दिक्दर्शी मूर्तियों के स्थान पर शिलाफलकों का आधार बनाकर प्रत्यक्षदर्शी (सामने की ओर से देखी जानेवाली) मूर्तियाँ उच्चित्र (रिलीफ) के रूप में उकेरी जाने लगीं। इस नयी विधा का विकास मुख्य रूप से बौद्ध धर्म की छत्रछाया में हुआ। बौद्ध धर्मावलम्बियों ने अपनी उपासना-प्रतीक के रूप में बोधिवृक्ष, स्तूप, उष्णीष, धर्मचक्र आदि को अपनाया और प्रतीकों को मूर्तिमान किया फिर उनका ध्यान अपने वास्तुओं—स्तूपों, चैत्यों और विहारों की ओर गया। इस प्रकार मूर्तिकला ने एक अत्यन्त व्यापक रूप धारण किया। भारहुत और साँची के स्तूपों के तोरण और वेदिका तथा बोधगया के अवशेष इस नयी विधा में उकेरी गयी ईसा पूर्व दूसरी-पहली शती के नमूने हैं। विषय की दृष्टि से भी इस नयी विधा की मूर्तियाँ मौर्यकालीन मूर्तियों से सर्वथा भिन्न हैं। इन पर बोधिवृक्ष आदि प्रतीक ही नहीं, भगवान् बुद्ध के जीवनसम्बन्धी कथाएँ तथा जातकों की कहानियाँ और लोक-विश्वासों में व्याप्त यक्ष-यक्षी, देवता और नागों का भी अंकन हुआ है। इनमें धार्मिकता की पार्श्व-भूमि में जीवन भी विशद रूप में झलकता दिखाई पड़ता है।

ईसा की आरम्भिक शताब्दियों अर्थात् कुषाणकाल में मूर्तिकला का विकास गन्धार और मथुरा को केन्द्र बनाकर दो स्वतन्त्र धाराओं में हुआ। कुषाणकाल की गन्धार और मथुरा की कला-शैलियों में कहीं कोई सामंजस्य नहीं है। गन्धार शैली की मूर्तियाँ स्वातघाटी में उपलब्ध होनेवाले काही रंग के स्लेटी (सिस्ट) किस्म के पत्थर में उकेरी गयीं। मथुरा शैली की मूर्तियों का अंकन मथुरा के आस-पास सीकरी, रूपवास, करों आदि स्थानों से प्राप्त होनेवाले लाल रंग के सफेद चित्तीदार बलुहे पत्थरों में हुआ। इस प्रकार दोनों ही केन्द्रों की मूर्तियाँ अपने पत्थरों से ही दूर से पहचानी जा सकती हैं। गन्धार शैली की मूर्तियों का विषय बौद्ध-धर्म से सम्बन्धित है। उनमें बुद्ध, बोधिसत्व और उनसे सम्बन्धित वृत्तों और कहानियों का अंकन हुआ है। इस शैली में बनी कदाचित् ही कोई मूर्ति जैन और ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित मिली हो। इसके विपरीत मथुरा की मूर्तिकला ब्राह्मण, जैन और बौद्ध, तीनों ही धर्मों पर समान रूप से छायी हुई है। गन्धार शैली की मूर्तियों का विषय और भाव-भूमि भारतीय अवश्य है पर उसके अंकन की विधा यवन और रोमक कला से अत्यधिक प्रभावित है। उन्हें देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनके निर्माता कदाचित् विदेशी कलाकार थे अथवा विदेशी कला-परम्परा में दीक्षित थे। सम्भवतः अपने इसी विदेशीपन के कारण गन्धार की मूर्तिकला प्रादेशिक शैली मात्र बनकर रह गयी और उत्तर-पश्चिमी भाग से आगे देश के भीतर उनका प्रसार न हो सका। मथुरा के मूर्तिकारों ने भारतीय पूर्व

परम्परा का अनुगमन करते हुए अपनी मूर्ति-रचना में अपनी मौलिक कल्पनाओं को प्रतिष्ठित किया। उन्होंने हलकी विदेशी प्रतिच्छाया ग्रहण की पर शैली और तकनीक की दृष्टि से अपनी भारतीय एवं स्थानीय वैशिष्ट्य को बनाये रखा। इसी कारण उनकी कला उत्तर भारत में सर्वत्र समान रूप से समादरित हुई। मथुरा की बनी मूर्तियाँ पश्चिम में पंजाब और राजस्थान से लेकर पूर्व में बिहार और बंगाल तक निर्यात की गयीं। गंगा-यमुना काँठे में तो ये मूर्तियाँ कौशाम्बी, श्रावस्ती, सारनाथ आदि स्थानों में प्रचुर मात्रा में पायी जाती हैं; नीचे की ओर उनका प्रसार साँची तक था। यही नहीं, इस कला-शैली से सुदूर दक्षिण के अमरावती की कला भी प्रभावित हुई जान पड़ती है और उसका यह प्रभाव दीर्घकाल तक बना रहा।

सामान्यतः समझा यह जाता है कि कुषाणकालीन माथुर-शैलीकी परम्परा ही गुप्त काल में नये साँचे में ढलकर सामने आयी। यही नहीं, यह भी मान लिया गया है कि भारतीय-कला में जो कुछ भी उत्कृष्ट है वह सब गुप्तकालीन है और यह धारणा इतनी प्रबल है कि कुमारस्वामी ने बिना इस बात का ध्यान दिये कि चालुक्यों द्वारा प्रशासित प्रदेश कभी गुप्तों के राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक प्रभाव में नहीं रहा, दक्षिणी-पश्चिमी आरम्भिक चालुक्य-कला को भी गुप्त-कला के भीतर समेट लिया है।[1] गुप्त कला सम्बन्धी इस प्रकार की धारणाएँ नितान्त भ्रमात्मक हैं; उनके मूल में तथ्य यह है कि अभिलेख-युक्त प्रामाणिक मूर्ति-सामग्री को सामने रखकर कभी यह जानने की चेष्टा नहीं की गयी कि जिस कला-शैली को हम गुप्तकालीन नाम देते हैं, उसका विकास कब और किस रूप में हुआ। और न इसको दृष्टिगत कर गुप्तकालीन मूर्तिकला का क्रमबद्ध और व्यवस्थित अध्ययन का कोई प्रयास ही किया गया। गुप्तकालीन मूर्तिकला का वास्तविक स्वरूप जानने के लिए आवश्यक है कि पहले अभिलेखयुक्त प्रामाणिक सामग्री को आधार बनाकर उसके इतिहास की सुनियोजित छानबीन की जाय।

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि गुप्त-साम्राज्य के विकास के आरम्भिक दिनों में मथुरा मूर्ति-कला का प्रमुख केन्द्र था। यह भी एक मान्य तथ्य है कि प्रथम कुमारगुप्त के शासन काल (गुप्त संवत् १२९) में बनी बुद्ध की मूर्ति, जो मानकुवर (जिला इलाहाबाद) से प्राप्त हुई है, मथुरा से निर्यात की हुई है। उसका मूर्तन करी के लाल चित्तीदार पत्थर में हुआ है। यह मथुरा से निर्यातित अन्यतम ज्ञात मूर्ति है। इस मूर्ति को बुद्ध की मूर्ति केवल इसलिए कहा जाता है कि उस पर अंकित अभिलेख में उसे इसी नाम से अभिहित किया गया है, अन्यथा उसमें वे दोनों ही विशेषताएँ पायी जाती हैं, जो कुषाणकालीन कही जानेवाली मथुरा की जिन (तीर्थंकर) की मूर्तियों में पायी जाती हैं अर्थात् उसका सिर कपर्दिन के समान मुण्डित है और हाथ अभय मुद्रा में है। यही नहीं, इस मूर्ति का अनुपात, वक्ष का गढ़न, मुँह के भाव, आदि भी मथुरा की कुषाण मूर्तियों से किसी प्रकार भिन्न नहीं है, उसके आसन के

---

१. हिस्ट्री ऑव इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृ० ७५-७६।

नीचे के सिंह, चक्र आदि भी उसके किसी भिन्न पहचान में सहायक नहीं होते। निष्कर्ष यह कि मानकुवर से प्राप्त यह मूर्ति इस बात का उदाहरण अथवा प्रमाण है कि मथुरा के मूर्तिकार, कमसे कम इस मूर्ति के निर्माणकाल (पाँचवीं शती ई० के मध्य) तक कुषाणकालीन मूर्तन परम्परा का पालन कर रहे थे और वे किसी अन्य मूर्तन शैली से परिचित न थे।

इस तथ्य का समर्थन एक अन्य अभिलिखित मूर्ति से होता है जो मथुरा से ही प्राप्त हुई है और उपर्युक्त मूर्ति के समान ही प्रथम कुमारगुप्त के काल की है, अन्तर इतना ही है कि इसका मूर्तन उपर्युक्त मूर्ति से १६ वर्ष पूर्व (गुप्त संवत् ११३ में) हुआ था। मथुरा वाली यह मूर्ति जिन (तीर्थंकर) की है। इस मूर्ति में अनुपात की कोई धारणा परिलक्षित नहीं होती, पैरों में आकृति का अभाव है। इस मूर्ति को मानकुवरवाली मूर्ति के साथ रख कर देखा जाय तो ज्ञात होगा कि दोनों ही मूर्तियों के धड़ की गढ़न एक-सी है और दोनों ही प्रत्येक बातों में विशुद्ध कुषाण परम्परा में हैं। मानकुवरवाली मूर्ति में उठे हुए उष्णीश के सिवा उसमें परवर्ती काल का कहने को कुछ नहीं है। पर दोनों की तुलना करते हुए, इस बात पर अधिक बल नहीं दिया जा सकता; क्योंकि जिन की इस मूर्ति का सिर अनुपलब्ध है। इन दोनों ही मूर्तियों में वह समता और सन्तुलन तो है ही नहीं, जो गुप्तकालीन कही जानेवाली मूर्तियों में पायी जाती है। अतः यह मूर्ति भी यही व्यक्त करती है कि प्रथम कुमारगुप्त के काल तक कुषाण मूर्ति-शैली की परम्परा मथुरा में अक्षुण्ण थी और उस समय तक बुद्ध और जिन की मूर्तियाँ उसी शैली में बनती थीं; किसी नयी शैली का विकास नहीं हुआ था।

कहा जा सकता है कि इस प्रकार का निष्कर्ष निकालने के लिए ये दो मूर्तियाँ पर्याप्त नहीं हैं। अतः इस तथ्य की ओर भी ध्यान आकृष्ट करना उचित होगा कि विदिशा से रामगुप्त-कालीन अभिलिखित जिन की जो मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, वे भी उपर्युक्त दोनों मूर्तियों की ही परम्परा में हैं और उनका भी निर्माण कुशाण-शैली में ही हुआ है।[1] उनमें और मथुरा की कुषाणकालीन जिन मूर्तियों में इतनी समानता है कि यदि वे अभिलेखयुक्त न हों तो किसी भी कला-मर्मज्ञ के लिए कल्पना करना कदापि सम्भव न होगा कि उनका मूर्तन गुप्त-काल में किसी समय हुआ।

इन सभी मूर्तियों की *शृंखला* मथुरा के कंकालीटीला आदि स्थानों से मिली अभिलेखयुक्त उन जिन मूर्तियों के साथ भी जुटी हुई दिखाई पड़ती है जिनकी अंकित तिथियों को अपनी पुस्तक *द सीथियन पीरियड* में लोहूयुजें-द लीयु ने शतक विहीन कुषाण तिथि का अनुमान किया है और जिन्हें उत्तर-कुषाणकालीन बताया है।[2] तथाकथित उत्तर-कुषाणकालीन ये मूर्तियाँ अपनी कला और गढ़न में रामगुप्त और प्रथम कुमारगुप्त-

---

१. ओरियण्टल कानफ्रेंस, जादवपुर अधिवेशन के इतिहास-विभाग का अध्यक्षीय भाषण, पृ० १०।
२. अध्याद ५-६।

कालीन उपर्युक्त अभिलेखयुक्त मूर्तियों के इतने निकट हैं कि उन्हें इन गुप्तकालीन मूर्तियों से कुषाणकालीन कह कर बहुत दूर नहीं रखा जा सकता। उन मूर्तियों के अभिलेखों की लिपि भी उनके गुप्त-कालकी परिधि में ही होने का संकेत करती है। इस तथ्य से परिचित होकर भी इस पर कभी गम्भीरता से सोचा नहीं गया है। अतः हमारी धारणा है कि कंकालीटीला की ये सभी मूर्तियाँ प्रारम्भिक गुप्तकाल की हैं और उन पर अंकित तिथियाँ शतक-विहीन कुषाण-तिथि न होकर आरम्भकालिक गुप्त-तिथि हैं। हमारी यह धारणा तिथि के प्रसंग में भले ही निकट विश्लेषण की अपेक्षा रखती हो, कला के इतिहास-प्रसंग में तो सभी बातों को व्यवस्थित रूप से समेट कर निस्संदिग्ध भाव से यह कहा ही जा सकता है कि गुप्तकाल में मथुरा में प्रथम कुमारगुप्त के समय तक कुषाण-मूर्तन शैली किसी नयी विधा की ओर उन्मुख नहीं हुई थी; इस काल तक पूर्व परम्परागत रूप में ही जिन और बुद्ध का मूर्तन होता रहा। गुप्तकालीन कही जानेवाली किसी शैली का तब तक जन्म नहीं हुआ था।

मथुरा से गुप्तकाल की अभिलेखयुक्त ब्राह्मण-मूर्ति अब तक केवल एक प्राप्त हुई है और वह लकुलीश की है। लकुलीश का यह अंकन एक स्तम्भ पर हुआ है; उस स्तम्भ पर गुप्त संवत् ६१ का, द्वितीय चन्द्रगुप्त के पाँचवें राजवर्ष का अभिलेख है। कुषाण-कालीन अभिलेखयुक्त ऐसी कोई ब्राह्मण मूर्ति नहीं मिली है जिसको सामने रखकर इस मूर्ति के कला के विकास पर कुछ कहा जा सके। किन्तु यदि इस मूर्ति की उन मूर्तियों से तुलना की जाय, जिन्हें लोग विशुद्ध गुप्तकला के अन्तर्गत रखते हैं तो स्पष्ट जान पड़ेगा कि यह उनकी परम्परा में नहीं है। उनकी कोई भी विशेषता इसमें परिलक्षित नहीं होती। इसके विपरीत इसका बे-डौल अंकन उसे कुषाण-कला के ही निकट रखता है।

इस पृष्ठभूमि में ही मथुरा की उन मूर्तियों को देखना चाहिये जिन्हें सामान्यतया गुप्तकालीन कहा जाता है। ये तथाकथित गुप्तकालीन मूर्तियाँ उपर्युक्त ऐतिहासिक तथ्यों के प्रकाश में पूर्व गुप्तकाल (प्रथम कुमारगुप्त के काल से पूर्व) की कदापि नहीं कही जा सकतीं। ये मूर्तियाँ यदि कुषाणकला से ढल कर विकसित हुई होतीं, जैसा कि अब तक समझा जाता है, तो उनमें किसी प्रकार का विकास-क्रम परिलक्षित होना चाहिये। कुछ मूर्तियाँ तो ऐसी मिलनी ही चाहिये जिन्हें हम संक्रान्तिकाल (ट्रांज़िशनल पीरियड) की कह सकें। किन्तु ये उत्तरवर्ती मूर्तियाँ पूर्ववर्ती गुप्तकालीन माथुर-कुषाण कला से इतनी अलग-थलग हैं कि उनके माथुर-कुषाण परम्परा से विकसित होने की किसी प्रकार की कोई कल्पना की ही नहीं जा सकती। ऐसा जान पड़ता है कि यह नयी कला-शैली मथुरा की अपनी नहीं है; वह अन्यत्र से लाकर वहाँ प्रत्यारोपित की गयी है। यदि ये मूर्तियाँ चित्तीदार लाल पत्थर में न बनी हों तो यह सहज कहा जा सकता है कि वे काशिका (सारनाथ) कला-शैली का प्रतिनिधित्व करती हैं। इन मूर्तियों पर माथुर-कुषाण परम्परा का यदि कोई प्रभाव है तो बस इतना ही कि उनमें बुद्ध के परिधान का सिकुड़न, जो कुषाण कला की प्रमुखता थी, किसी सीमा तक बनी हुई है।

इस प्रकार मथुरा की गुप्तकालीन मूर्तियों की स्पष्ट दो धाराएँ हैं। पूर्ववर्ती गुप्त-

कालीन मूर्तियाँ (प्रथम कुमारगुप्त के काल और उससे पूर्व की मूर्तियाँ) कुषाण शैली की अनुगामिनी हैं। इन्हें आभिलेखिक प्रमाण के अभाव में कुषाण काल की मूर्तियों से किसी प्रकार अलग नहीं किया जा सका है। इसी प्रकार उत्तरवर्ती गुप्तकाल (प्रथम कुमारगुप्त और उनके बाद) की मूर्तियाँ काशिका (सारनाथ) शैली की अनुगामिनी हैं। काशिका शैली का प्रत्यारोपण मथुरा में प्रथम कुमारगुप्त के शासनकाल में कब और किस प्रकार हुआ स्पष्ट रूप से नहीं जाना जा सकता। किन्तु इस सम्बन्ध में यह बात द्रष्टव्य है कि प्रथम कुमारगुप्त के शासनकाल (गुप्त संवत् ९६) का एक अभिलेख मथुरा क्षेत्र में स्थित एटा जिले के बिलसड़ नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। यह अभिलेख जिन स्तम्भों पर अंकित हुआ है, उन पर कनिंगहम की सूचना के अनुसार कुछ उच्चित्रण हैं।[१] ये उच्चित्रण कला-इतिहास के इस ऊहापोह में उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। पर इनकी ओर कला-मर्मज्ञों का ध्यान कदाचित् अभी तक नहीं गया है; इन उच्चित्रों की चर्चा कहीं भी प्राप्त नहीं है। कनिंगहम ने उनकी जो प्रतिच्छाया उपस्थित की है, वे बहुत सन्तोषजनक नहीं कहे जा सकते; फिर भी उनसे उन स्तम्भों में काशिका-शैली की मूर्तन कल्पना उभरती हुई दिखाई पड़ती है। किन्तु उनमें उस सुघरता का अभाव है जो गुप्तकालीन कही जानेवाली कला में दिखाई पड़ता है। उसका अंकन भी बहुत सुडौल नहीं है। इसके आधार पर यह कल्पना की जा सकती है कि प्रथम कुमारगुप्त के शासनकाल के आरम्भ में काशिका-शैली का प्रसार मथुरा क्षेत्र की ओर होने लगा था। इस प्रकार कदाचित् प्रथम कुमारगुप्त के शासनकाल के आरम्भ से ही मथुरा क्षेत्र में माथुर-कुषाण शैली और काशिका-शैली दोनों समानान्तर रूप से प्रचालित थीं। फिर भी आश्चर्य की बात है कि वे एक दूसरे को तनिक भी प्रभावित नहीं करतीं। कम-से-कम अभी तक ऐसी कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है जिससे मथुरा में प्रचलित पूर्ववर्ती और उत्तरवती इन दोनों कला-धाराओं के संगम को देखा जा सके।

मथुरा के बाद काशी (सारनाथ) गुप्तकला का केन्द्र कहा जाता है और साथ ही यह भी कहा जाता है कि मथुरा कला की ही एक धारा नयी ताजगी लेकर यहाँ फूटी है। वस्तुतः माथुर-कला-शैली के विकास से बहुत पूर्व से ही काशिका प्रदेश कला-केन्द्र रहा है। यह तथ्य अशोक के स्तम्भों तथा मौर्यकालीन अन्य कला-कृतियों के चुनार के बालू-पत्थर में बने होने से स्वतः प्रमाणित है। मौर्योत्तरकाल में यह कला किस रूप में जीवित थी, इसका ऊहापोह अभी तक करने की चेष्टा नहीं की गयी है। इस प्रकार के ऊहापोह के लिए न तो यह अवसर है और न स्थान। अतः इतना ही कहा जा सकता है कि सारनाथ में कुषाणकाल में मथुरा से कुछ मूर्तियाँ निर्यात हुई थीं, जो कदाचित् इस बात का संकेत देती हैं कि उस समय यहाँ की स्थानीय कला बहुत उद्बुद्ध न थी। किन्तु साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि सारनाथ से ही कुछ ऐसी भी मूर्तियाँ भी मिली हैं जो माथुर-कुषाण-शैली में बनायी गयी हैं पर उसका पत्थर चुनार का है। इस प्रकार वे

---

१. क० अ० स० रि०, ११, पृ० १७, फलक ६।

निस्सन्देह स्थानीय कला के नमूने हैं। उसका निर्माण कुषाणकाल में ही हुआ था या मथुरा की तरह यहाँ भी वे माथुर-कुषाण-शैली में पूर्व-गुप्तकाल में बनीं, यह निश्चय-पूर्वक कहने के लिए कोई आधारभूत सामग्री नहीं है। इन मूर्तियों में से कुछ पर लाल रंग पुते होने के चिह्न प्राप्त हुए हैं, वे उनके रंगीन होने का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। उनके रंगने का उद्देश्य उन्हें मथुरा के मूर्तियों के रंग में उपस्थित करना था अथवा यह काशी की किसी अपनी परम्परा में था, यह भी स्पष्ट नहीं है। वस्तु-स्थिति जो भी हो, इस कला-शैली की मूर्तियाँ बहुत कम प्राप्त हुई हैं।

काशिका कला-शैली का जो जाग्रत रूप मिलता है और जिसे गुप्तकालीन कला-शैली का नाम दिया जाता है, उसका माथुर-कुषाण शैली से किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं जान पड़ता। इस शैली की जो सामग्री मिलती है, वह अपने-आप में इतनी प्रौढ़ और इतनी विकसित है कि किसी के लिए यह समझ पाना कठिन है कि वह कहाँ से और कैसे इस रूप में फूट पड़ी। काशी के कलाकारों ने अपनी कला-चातुरी को इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि लगता है कि उन्होंने पत्थरों को काटकर मोम की तरह ढाल दिया है। काशिका-शैली की मूर्तियाँ अपने सौन्दर्य में अप्रतिम, भाव-व्यंजना में असीम और व्यापक प्रभावोत्पादिनी हैं। यही नहीं, वे धार्मिक तत्त्वबोध से भी अनुप्राणित हैं। यहाँ बुद्ध और बोधिसत्वों की जो मूर्तियाँ बनीं, उनका कायिक सौन्दर्य तो साँचे में ढलकर निखरा जान पड़ता ही है, उनका अन्तरंग भी बहिरंग के माध्यम से ज्योति फेंकता हुआ प्रतीत होता है। कलाकारों ने बुद्ध की मूर्तियों में व्यक्त के माध्यम से अव्यक्त को साकार उपस्थित किया है। काशिका-कला के इस रूप का अनुपम उदाहरण है सारनाथ की धर्मचक्र-प्रवर्तन मुद्रा में बैठी बुद्ध की मूर्ति—बाह्य के कोला-हल से विरत, अन्तःशान्ति से प्रसन्न और अभयप्रदायिनी शक्ति से परिपूर्ण समाधि की निष्ठा में रत। भावस्पन्दन और काया-लावण्य में सारनाथ की इस मूर्ति की अनुगामिनी एक बुद्ध-मूर्ति मथुरा से भी प्राप्त हुई है जो लाल-पत्थर में बनी निरवलम्ब आदमकद खड़ी है। यह मूर्ति कदाचित् सारनाथ की मूर्ति के कुछ बाद की है। इसका अनुमान दोनों मूर्तियों के प्रभामण्डल की तुलना करके किया जा सकता है। सारनाथवाली मूर्ति में प्रभामण्डल में ऊपरी और निचली रेखाओं के बीच केवल एक कमल-नालों की तरंगायित पट्टिका है; मथुरावाली मूर्ति में इस पट्टिका के अतिरिक्त रज्जुवाकार अनेक पट्टिकाएँ हैं और मस्तक के ठीक पीछे कमल के खुले हुए पत्र हैं।

उपरोल्लिखित बिल्सड़ के उच्चित्रों से अनुमान होता है कि काशिका कला-शैली का प्रसार अपने क्षेत्र के बाहर प्रथम कुमारगुप्त के शासनकाल के आरम्भ में ही होने लगा था। अतः इस आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि उसका आरम्भ काशिका क्षेत्र में इससे कुछ पहले ही हुआ होगा; किन्तु इस अनुमान को पुष्ट करनेवाली प्रामाणिक सामग्री स्वयं काशिका प्रदेश में नहीं है। सारनाथ से अभिलिखित प्रमाण-पूर्ण जो सामग्री प्राप्त होती है, वह द्वितीय कुमारगुप्त और बुधगुप्त से पहले की नहीं है;

और यह सामग्री भी अपने-आप में अधूरी है। ये अभिलेख जिन आसनों पर उत्कीर्ण हैं, उनकी मूर्तियाँ अक्षुण्ण रूप में प्राप्त नहीं हैं। अतः इन अभिलेखों के सहारे काशिका-कला के इनके काल से पहले विकसित होने मात्र का अनुमान किया जा सकता है; कितने पहले इसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ अन्य मूर्तियों पर ऐसे अभिलेख मिले हैं जिनमें न तो शासक का नाम है और न तिथि; किन्तु उनके लिपि परीक्षण से यह बात परिलक्षित होती है कि उनमें "म" अक्षर का जो रूप है, उसका प्रयोग प्रथम कुमारगुप्त के करमदण्डा अभिलेख में सर्वत्र हुआ है। दूसरी ओर "म" का यह रूप न तो समुद्रगुप्त के प्रयाग प्रशस्ति में दिखायी पड़ता है और न द्वितीय चन्द्रगुप्त के मथुरा अभिलेख में। अतः यह कल्पना की जा सकती है कि "म" के इस रूप का विकास जल्द से जल्द द्वितीय चन्द्रगुप्त के काल में किसी समय हुआ होगा। और इसके आधार पर इस कला के द्वितीय चन्द्रगुप्त के उत्तरवर्ती काल अथवा प्रथम कुमारगुप्त के आरम्भिक काल में विकसित होने की बात सहज भाव से सोची जा सकती है।

काशिका-कला से सम्बन्धित अभिलेखयुक्त सामग्री सारनाथ के बाहर प्रथम कुमारगुप्त के करमदण्डा लिंग और कहाँव (जिला देवरिया) स्थित स्कन्दगुप्त के काल के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण जैन मूर्तियों के रूप में प्राप्त है। करमदण्डा का लिंग, मात्र लिंग होने के कारण तत्कालीन कला-स्वरूप पर किसी प्रकार का प्रकाश डालने में सर्वथा अक्षम है। कहाँव के स्तम्भ पर शीर्ष के रूप में जिन का सर्वतोभद्रिका अंकन हुआ है अर्थात् उसके चारों ओर जिन की एक-एक मूर्ति है। स्तम्भ के तल में एक ओर पार्श्व-नाथ का अंकन हुआ है। कला की दृष्टि से इनका अभी तक कोई अध्ययन नहीं हुआ है। बहुत चेष्टा करने पर भी स्तम्भ पर अंकित इन मूर्तियों का कोई चित्र हमें भारतीय पुरातत्व विभाग से प्राप्त न हो सका। किन्तु उसके अभाव में प्रस्तुत विवेचन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि वह सारनाथ से ज्ञात अभिलिखित सामग्री के बीच के काल का ही है। उसी काल के स्वरूप की पुष्टि के निमित्त उसकी चर्चा की जा सकती है।

काशिका-कला अथवा गुप्तकालीन कला समझी जाने वाली कला का वैभव अधिक दिनों टिकाऊ नहीं रहा, यह राजघाट (काशी) से बुधगुप्त के काल (गुप्त संवत् १५९) के एक अभिलेखयुक्त स्तम्भ से अनुमान किया जा सकता है। इस स्तम्भ के चारों ओर चार विष्णु-मूर्तियाँ अंकित हैं और इन चारों ही मूर्तियों का उच्चित्रण अत्यन्त साधारण है। उनमें किसी प्रकार की गुप्तकालीन कला का ओज दिखायी नहीं पड़ता। इस स्तम्भ का निर्माण एक सामान्य नागरिक ने कराया था; अतः उसे किसी अत्यन्त साधारण मूर्तिकार की कृति कहकर गुप्तकालीन कला के ह्रास के प्रमाण के रूप में उसकी उपेक्षा की जा सकती है। किन्तु एरण से प्राप्त इसी काल के कला-प्रमाणों को इतनी सहजता के साथ टाला नहीं जा सकता। वहाँ से अभिलेखयुक्त दो मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। उन दोनों का ही निर्माण एक ही व्यक्ति महाराज मातृविष्णु द्वारा कराया गया था। उनमें एक तो

स्तम्भ-शीर्ष है, जिस पर द्विजभुज खड़े हाथ में सर्प लिए गरुड़ का अंकन हुआ है। इसका निर्माण बुधगुप्त के राजकाल (गुप्त संवत् १६५) में हुआ। दूसरी मूर्ति वराह की है जिसका निर्माण कुछ वर्ष पश्चात् तोरमाण के आरम्भिक वर्ष में हुआ था। इस रूप में ये दोनों ही मूर्तियाँ उत्तरवर्ती गुप्तकाल की स्थिति पर प्रकाश डालने की पूर्ण क्षमता रखती हैं। गरुड़ के अंकन में गुप्तकालीन कला-सौष्ठव अपने मूल रूप में बहुत कुछ बना हुआ है पर उसमें इतना भारीपन है कि वह ढलती हुई कला का ही परिचय देता है। इस काल में गुप्त-कला ह्रासोन्मुख हो रही थी यह अधिक स्पष्टता के साथ वराह की मूर्ति में देखी जा सकती है। उसमें तो इतना अधिक भारीपन है कि वह वराह की अपेक्षा हाथी प्रतीत होता है। कलाकार ने उसके शारीरिक बनावट की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया है। इसी प्रकार उसके मानव आकृतियों में भी जड़ता दिखायी पड़ती है। गुप्तकालीन कला में नारी की जिस सुकुमारता की कल्पना की जाती है, वह यहाँ पृथिवी के अंकन में नाम मात्र भी दिखायी नहीं पड़ती। इन बातों को देखते हुए यह सोचना अनुचित न होगा कि बुधगुप्त के समय गुप्त-कला अवनति की ओर अग्रसर होने लगी थी।

गुप्तकालीन काशिका कला-शैली पूर्व में बिहार, बंगाल और आसाम तक फैली हुई थी ऐसा कुछ मूर्ति-प्रमाणों के आधार पर समझा जाता है। कुछ लोग तो इस विस्तार में मगध अथवा पाटलिपुत्र की अपनी शैली की भी झलक देखते हैं। मौर्यकाल में मगध अथवा पाटलिपुत्र की अपनी कोई कला-शैली थी, ऐसा किसी प्रमाण से ज्ञात नहीं होता। मौर्यकाल की जो कला-सामग्री इस प्रदेश में प्राप्त हैं वे सब चुनार पत्थर की हैं और वे अपने वहाँ से निर्यात किये जाने की घोषणा करती हैं। बोध-गया और पाटलिपुत्र से प्राप्त कला-सामग्री के आधार पर मौर्योत्तरकाल में स्थानीय कला-विकास की बात कही जा सकती है; पर इस सामग्री पर उसके पत्थर आदि की दृष्टि से अभी तक कोई विचार नहीं हुआ है। उनका निर्माण स्थानीय है, इस बात को निश्चितता के साथ नहीं कहा जा सकता। कुषाणकाल में तो मूर्तियाँ मथुरा से निर्यात होती रहीं, यह यहाँ प्राप्त मूर्तियों के लाल पत्थर में बने होने से ही स्पष्ट है। हाँ, मगध क्षेत्र में अन्यत्र से कुछ ऐसी भी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जो मथुरा के लाल पत्थर में नहीं हैं किन्तु उनकी शैली कुषाणकालीन है। पर इन मूर्तियों की संख्या इतनी अल्प है कि कहा नहीं जा सकता कि वे मगध में ही मूर्तित हुईं या काशी से उनका निर्यात हुआ था। उनके सम्बन्ध में यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वे कुषाणकाल में ही बनीं। उनके गुप्तकाल में मूर्तित होने की सम्भावना राजगृह से प्राप्त कतिपय जैन मूर्तियों से होता है। वहाँ वैभार पर्वत पर एक ध्वस्त मन्दिर के दीवारों में लगी कुछ जिन मूर्तियाँ रामप्रसाद चन्दा ने देखी थीं।[१] इन मूर्तियों में तीर्थंकारों की खड़ी तीन मूर्तियाँ थीं जो बालू-पत्थर में बनी हुई थीं। उनमें से एक के प्रकाशित चित्र से ज्ञात होता

१. आ० सा० इ०, ए० रि०, १९२५-२६, पृ० १२५-२६।

है कि इन सबके स्कन्ध भारी हैं; लटकते हुए हाथों का मूर्तन अत्यन्त भद्दा और त्रुटिपूर्ण है; बाहों के सामने के हिस्से को ऊपर वाले हिस्से के साथ बगल से जोड़ा गया है। पैरों की बनावट भी भद्दी है। उन्हें किसी प्रकार भी गुप्तकालीन कृति नहीं कहा जा सकता; पर चन्दा ने उनके गुप्तकालीन होने का अनुमान किया है। उनके अनुमान का आधार कदाचित् उसी ध्वस्त मन्दिर की दूसरी दीवार में लगी काले पत्थर की एक मूर्ति है, जिस पर उन्होंने गुप्तलिपि में एक अभिलेख देखा था। यह अभिलेख यद्यपि बहुत ही विकृत अवस्था में था, तथापि उस पर उन्होंने [म]हाराजा [धि]रा[ज] श्री चन्द्र पढ़ने की बात कही है। यदि उनका पाठ ठीक है तो इस मूर्ति के गुप्तकाल में मूर्तित किये जाने की बात कही जा सकती है और तब उसके आधार पर अन्य तीन मूर्तियों को भी गुप्त-कालीन कहा जा सकता है।

गुप्त-वंश में एक से अधिक चन्द्रगुप्त हुए, इसलिए यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह मूर्ति गुप्तकाल में कब मूर्तित हुई; चन्दा ने उसे द्वितीय चन्द्रगुप्त के काल की होने का अनुमान किया है। यह अभिलेखयुक्त मूर्ति पद्मासन स्थित है। आसन के नीचे बीच में चक्र है और चक्र के बीच एक पुरुष खड़ा है जिसका बायाँ हाथ अभय मुद्रा में है। दायें हाथ के टूटे होने के कारण उसकी स्थिति स्पष्ट नहीं है। चक्र के दोनों ओर शंख है। इस चक्रपुरुष के दोनों ओर एक-एक पद्मासन स्थित जिन मूर्तियाँ हैं और आसन के दोनों छोरों पर खड़े सिंहों का अंकन हुआ है। शंख के अंकन के आधार पर इस मूर्ति को नेमिनाथ का कहा गया है। चन्दा ने चक्र के भीतर खड़ी आकृति को राजकुमार अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) अनुमान किया है किन्तु उमाकान्त शाह के अनुसार यह 'चक्रपुरुष मात्र है।[१] चक्रपुरुष गुप्तकालीन कल्पना कही जाती है; अतः अभिलेख के अतिरिक्त यह तथ्य भी इसके गुप्तकालीन होने का संकेत देता है। चक्रपुरुष के अतिरिक्त कुन्तल केश, चक्रपुरुष की एकावली आदि एक आध अन्य चिह्न और भी ऐसे हैं जो उसके गुप्तकालीन होने का संकेत प्रस्तुत करते हैं। किन्तु यदि आसन के निचले अंश पर ध्यान न दिया जाय और केवल जिन की मुख्य मूर्ति को ही देखा जाय तो उसमें कुषाण-कला की प्रतिच्छाया स्पष्ट रूप में दिखायी देती है। अतः राजगृह से प्राप्त मूर्तियाँ इस बात का संकेत प्रस्तुत करती हैं कि द्वितीय चन्द्रगुप्त के काल तक मगध में गुप्तकालीन कही जाने वाली शैली का विकास नहीं हुआ था। उस समय तक वहाँ पूर्ववर्ती कला का प्रभाव बना था।

राजगृह की इन मूर्तियों के अतिरिक्त मगध के किसी अन्य क्षेत्र से कोई ऐसी कला-सामग्री प्राप्त नहीं है जो पूर्ववर्ती गुप्तकाल की कही जा सके। गुप्तकाल की जो भी सामग्री ज्ञात है वह मुख्यतः नालन्द से प्राप्त हुई है और नालन्द के सम्बन्ध में युवानच्वांग के कथन से स्पष्ट है कि उसका विकास स्कन्दगुप्त (कुछ लोगों की व्याख्या के अनुसार प्रथम कुमारगुप्त) से पहले नहीं हुआ। वहाँ की अभिलेख सामग्री भी इसमे

१. स्टडीज इन जैन आर्ट, पृ० १४।

पूर्व कला के अस्तित्व का कोई संकेत नहीं देती। अतः यहाँ की जो भी कला-सामग्री है वह उत्तरवर्ती गुप्त काल की है और इस उत्तरवर्ती गुप्तकला ने ही आगे चलकर पाल-कला के रूप में मोड़ ले लिया।

गुप्तकालीन मूर्तिकला के विश्लेषणात्मक इतिहास की टोह में पश्चिम की ओर बढ़ने पर दृष्टि उदयगिरि (विदिशा) की ओर जाती है। वहाँ अनेक उत्खनित लयण हैं, जिनके भीतर और बाहर अनेक मूर्तियाँ उकेरी हुई हैं। इस लयण समूह में द्वितीय चन्द्रगुप्त के काल के दो अभिलेख हैं। एक पर गुप्त संवत् ८२ की तिथि है, दूसरा तिथि विहीन है। परिस्थितियों के विश्लेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि यह लेख पहले लेख का समसामयिक ही है। वहाँ एक तीसरा अभिलेख भी है, जिसमें किसी शासक का उल्लेख नहीं है, केवल १०६ की तिथि है, जो गुप्त संवत् की द्योतक जान पड़ती है। इसके अनुसार वह प्रथम कुमारगुप्त के शासन-काल का अभिलेख होगा। अतः लोग समग्र लयण-समूह को, उसके साथ ही वहाँ की मूर्तियों को भी, आरम्भिक पाँचवीं शती ई० (द्वितीय चन्द्रगुप्त और प्रथम कुमारगुप्त के काल) का मानते हैं। उदयगिरि के लयणों और उनकी मूर्तियों के इन दोनों गुप्त शासकों के काल अथवा समग्र गुप्तकाल में निर्मित किये जाने की सम्भावना स्वीकार करते हुए भी ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। अभिलेखों के आधार पर जहाँ लयण ६ और १० को गुप्तकाल (द्वितीय चन्द्रगुप्त और प्रथम कुमारगुप्त के काल) में उत्खनित होने की बात को निश्चित माना जा सकता है, वहीं वहाँ की कुछ लयणों को, उनकी मूर्तनकला को दृष्टिगत करते हुए गुप्तकालीन होने में सहज भाव से सन्देह प्रकट किया जा सकता है। यथा—लयण ३ के पिछली दीवार पर अंकित विष्णु की द्विभुजी मूर्ति और लयण १२ में उच्चित्रित नृसिंह की मूर्ति को निस्संकोच गुप्तकाल से पहले का कहा जा सकता है। यह बात दूसरी है कि मथुरा के पूर्ववर्ती गुप्तकालीन मूर्तियों के समान ही, यहाँ भी चली आती पूर्व परम्परा में वे गुप्तकाल में ही उकेरी गयी हों।

लयण ६ की मूर्तिकला पर विचार करते समय सबसे पहले ध्यान उसके द्वार की ओर जाता है। इसके द्वारशीर्ष (सिरदल) में अलंकार की चार पट्टिकाएँ हैं। सबसे ऊपर की पट्टिका में आड़ी लकारों को समानान्तर रखकर छोटे-छोटे गोल आकृत बनाकर उनकी एक पाँत सजा दी गयी है। उसके नीचे की दो पट्टिकाओं में रज्जुका (रस्सी) की तरह का अलंकार हुआ है; पहली रज्जुका पतली और दूसरी मोटी है। दोनों रज्जुकाओं का यह अलंकरण द्वार-शाखाओं (बाजुओं) पर अंकित होता हुआ नीचे तक चला गया है। चौथी पट्टिका का अलंकरण स्पष्ट नहीं है; कदाचित् वह पत्रलता का अंकन है। यह पत्रलता आगे बढ़कर द्वार-शाखाओं पर उतरी है, या उन पर कुछ भिन्न अंकन है, सम्प्रति निश्चय करना सम्भव नहीं है। दोनों द्वार-शाखाओं की इन पट्टिकाओं के बगल में, बाहर की ओर अर्ध-स्तम्भ का अंकन हुआ है। दोनों ओर लगभग चौथाई भाग तो सादा या अनगढ़ है और तब उसके ऊपर चौकोर आधार पर तिपहल अर्ध-स्तम्भ है। अर्धस्तम्भ के ऊपर परगह है। परगहे में पहले सादी गोल मेखला है, मेखला

के ऊपर फुल्ल-कमल वाली लम्बोतरी बैठकी है और बैठकी के ऊपर दुहरा कण्ठा है। दोनों कण्ठों के बीच में कुछ अन्तर है। ऊपरी कण्ठ के ऊपर चौकी है जिस पर दो बैठे हुए सिंह अंकित किये गये हैं। दोनों ओर के इन अर्ध-स्तम्भों की बैठकी के ऊपर एक-एक रथिका (ताक, आला) है जिनमें एक ओर गंगा और दूसरी ओर यमुना की मूर्तियाँ हैं। गंगा-यमुना का मूर्तन कुषाण-कला में सर्वथा अनजाना है। इस प्रकार कदाचित् ये गंगा-यमुना की अग्रतम मूर्तियों में हैं। इसका समर्थन इस तथ्य से भी होता है कि गंगा और यमुना दोनों ही यहाँ मकरवाहिनी अंकित की गयी हैं। किन्तु उदयगिरि में ही महावराह के बगल में इन दोनों नदियों के अवतरण का जो उच्चित्रण हुआ है, उसमें गंगा मकर पर और यमुना कच्छप पर आरूढ़ अंकित की गयी है। इससे अनुमान होता है कि द्वार पर उक्त अंकन के बाद ही मूर्तिकारों का ध्यान इस तथ्य की ओर गया कि गंगा में मकर की और यमुना में कच्छप की प्रधानता है; और तब उन्होंने उनके स्वतन्त्र वाहनों के रूप में मकर और कच्छप की कल्पना की। इस प्रकार उदयगिरि का यह लयण-द्वार, गुप्तकालीन कहे जानेवाले द्वारों के अलंकरण की तुलना में बहुत ही सादा है और गुप्तकालीन द्वार का प्रामाणिक ढंग पर प्रारम्भिक स्वरूप उपस्थित करता है। इसके सहारे अन्य द्वारों के क्रम विकास पर विचार किया जा सकता है किन्तु इसके आधार पर मूर्तन कला के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कुछ भी कहा नहीं जा सकता।

इस लयण की मूर्तियों की चर्चा करने से पूर्व, द्वारों के अलंकरण के प्रसंग में एक अन्य आवश्यक तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट कर देना आवश्यक है और वह यह है कि गुप्तकालीन द्वारों की द्वारशाखाओं के निचले भाग में, जो इस लयण-द्वार में अमूर्तित छोड़ दिया गया है, प्रायः द्वारपालों का अंक पाया जाता है। द्वारपालों का अंकन इस लयण में भी हुआ है पर वे द्वारा-शाखाओं से अलग उनके बगल में स्वतन्त्र रथिकाओं (ताखों, आला) में अंकित किये गये हैं। मात्र द्वारपाल का अंकन तवा-गुफा (लयण ७) में हुआ है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अकेले द्वारपालों के अंकन की कोई परम्परा पहले से चली आ रही थी, उसी का निर्वाह यहाँ द्वार के अलंकरण की उपर्युक्त नयी विधा के साथ किया गया है।

लयण ६ के बाहरी भाग में द्वार के दोनों ओर द्वारपालों के बगल में अन्य रथिकायों में देवमूर्तियों का अंकन हुआ है। द्वारपालों को छोड़कर दाहिनी ओर दो और बायीं ओर एक मूर्ति है। दाहिनी ओर की मूर्तियों में एक तो चतुर्भुज विष्णु की है, उनके आगे के दोनों हाथ कटिविनयस्थ हैं और पीछे के दोनों हाथ नीचे की ओर हैं जो असाधारण रूप से लम्बे हैं। पीछे के दाहिने हाथ में गदा और बायें हाथ में चक्र है और दोनों का अंकन आयुध-पुरुष के रूप में हुआ है। दूसरी मूर्ति आसन पर बैठी द्वादश-भुजी महिषासुरमर्दिनी की है। उनके दाहिने हाथों में (नीचे से ऊपर की ओर) पहले में कदाचित् थैली सरीखी कोई वस्तु है जो स्पष्ट नहीं है। दूसरे हाथ में बाण है,

तीसरे हाथ में, जो स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होता, त्रिशूल है जो महिष के पीठ में चुभा हुआ है। चौथे में वज्र, पाँचवें में खड्ग है; दाहिनी ओर का छठा और बायीं ओर का पहला (ऊपर से नीचे) ऊपर को उठा है; इन दोनों हाथों से सम्भवतः वे गोध (गोह) को उठाये हुए हैं। बायीं ओर के दूसरे हाथ में ढाल और तीसरे हाथ में झाड़ू जैसी कोई चीज है। शेष तीन हाथों के अग्रभाग टूटे हुए हैं। बायीं ओर द्वारपाल के बगल में चतुर्भुज विष्णु की मूर्ति है। यह मूर्ति भी खड़ी है और इसके सामने के दोनों हाथ कटिविनयस्थ हैं, अग्रभाग क्षतिग्रस्त होने के कारण इन हाथों के आयुध स्पष्ट नहीं हैं। पीछे के हाथ अपेक्षाकृत लम्बे हैं। उनके दाहिने हाथ में गदा और बाँये हाथ में चक्र है जो मूढ़े सदृश आधार पर रखा हुआ है।

दाहिनी ओर के विष्णु और महिषासुरमर्दिनी की मूर्तियों के ठीक ऊपर अभिलेख है; इस लेख के आधार पर उनके गुप्त-काल में उत्कीर्ण किये जाने के प्रति कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। बायीं ओर की मूर्तियाँ भी उसी काल में उच्चित्रित हुई थीं, यह केवल उनके द्वार के दूसरी ओर अंकित किये जाने के आधार पर ही अनुमान किया जा सकता है। किन्तु द्वार के दोनों ओर की मूर्तियों का कलागत स्वरूप ऐसा नहीं है कि उनको देख कर कहा जा सके कि उनका अंकन एक ही काल में हुआ होगा। उनमें परस्पर कोई कलागत समानता दृष्टिगोचर नहीं होती। गुप्तकालीन कही और समझी जानेवाली मूर्तियों की तुलना में ये सभी नितान्त अप्रौढ़, कठोर और जकड़ी हुई जान पड़ती हैं। बायीं ओर के विष्णु को सहज भाव से कथित गुप्त-कला से अलग किया जा सकता है। उसके आकार, गढ़न, रूप किसी में भी गुप्तकालीन कही और समझी जानेवाली विशेषताएँ परिलक्षित नहीं होतीं। इसी प्रकार उसके बगलवाले द्वारपाल को हम केवल उसके केश-विन्यास से ही गुप्तकालीन अनुमान कर सकते हैं; किन्तु यह केश-विन्यास भी अत्यन्त भोड़े रूप में उपस्थित किया गया है। अन्य बातों में वह कुषाण-कालीन यक्ष-परम्परा का प्रतिनिधित्व करता अधिक दिखायी पड़ता है। इनकी अपेक्षा दाहिनी ओर की मूर्तियाँ गुप्तकालीन-परम्परा की ओर अधिक झुकी हुई हैं। इस ओर का द्वारपाल दूसरी ओर के द्वारपाल की तरह कठोर न होकर कुछ भंगिमा के साथ खड़ा है; उसके शरीर की मांसलता में भी सजीवता की झलक मिलती है; और गले की एकावली (बनावट में कुछ भद्दी होने पर भी) गुप्तकालीन परम्परा में है। उसका केशविन्यास यद्यपि बायेंवाले द्वारपाल के समान ही है, तथापि उसमें सुघरता है। दाहिनी ओर के विष्णु में भी बायीं ओर के विष्णु की अपेक्षा अधिक सजीवता है। किन्तु स्वयं उसमें गुप्तकालीन कला की कोमलता उतनी नहीं है जितनी उसके आयुधपुरुषों में दिखायी पड़ती है। महिषासुरमर्दिनी की मूर्तिकला अपेक्षाकृत अधिक विकसित है। इस प्रकार लयण ६ की इन मूर्तियों के आधार पर यही अनुमान किया जा सकता है कि इस क्षेत्र में पहले से कोई कला-परम्परा चली आ रही थी। यह परम्परा साँची, बेसनगर आदि स्थानों की स्थानीय मौर्योत्तर कला-परम्परा में ही थी अथवा वह कुषाण-कला से, जिसके चिह्न इस क्षेत्र में बहुत कम मिलते हैं, उद्भूत हुई थी, सम्प्रति कहना कठिन है। प्रस्तुत प्रसंग में

यही कहा जा सकता है कि उदयगिरि की पूर्व प्रतिष्ठित परम्परा द्वितीय चन्द्रगुप्त के काल में एक नया रूप धारण करने की ओर उन्मुख हुई। उनके काल में पूर्ववर्ती और परवर्ती कला-धाराओं के बीच प्रयोग की स्थिति थी। इस अनुमान पर कुछ अधिक प्रकाश लयण ७ (तवा-गुहा) की मूर्तियों से पड़ सकता था; पर वे ऐसी अवस्था में उपलब्ध नहीं हैं कि उनको अध्ययन का विषय बनाया जा सके। प्रथम कुमारगुप्तकालीन लयण १० (जैन गुहा) की मूर्ति भी अब अनुपलब्ध है। अतः वह भी इस पर प्रकाश डालने में किसी प्रकार सहायक नहीं है। किन्तु इस नयी धारा ने शीघ्र ही प्रयोग की स्थिति समाप्त कर अपना एक सुघर रूप धारण कर लिया यह वहीं से प्राप्त महावराह के उच्चित्रण से प्रकट होता है। कुछ लोग उसे द्वितीय चन्द्रगुप्त के काल का और कुछ प्रथम कुमारगुप्त के काल का अनुमान करते हैं। लयण ६ की मूर्तियों को देखते हुए उसे प्रथम कुमारगुप्त अथवा उसके बाद का ही कहा जा सकता है। उसमें अंकित सभी आकृतियों में लोच भरी हुई है। पृथिवी की कमनीयता, जो वराह के कन्धे पर हल्के से बैठी हैं और उनके दाँत को बड़े की संभाल के साथ पकड़े हैं, उसे उदयगिरि के सभी अंकनों से अलग खड़ा कर देती है। कला की यह नयी सुकुमारता नाग और उसके पीछे के शीर्षहीन आकृति में भी है।

कला सम्बन्धी ऐतिहासिक ऊहापोह में आगे बढ़ने पर दृष्टि गढ़वा की ओर जाती है, जो इलाहाबाद जिले में यमुना के दक्षिणी तट से कुछ हट कर भीटा और कौशाम्बी से लगभग समान दूरी पर स्थित है। इसका प्राचीन नाम क्या था, यह तो किसी सूत्र से अभी तक जाना नहीं जा सका है, किन्तु मध्यकाल से इसे भटगाँव या भटग्राम कहते थे। कला-सामग्री के रूप में यहाँ से अनेक उच्चित्रित वास्तुफलक प्राप्त हुए हैं।

मथुरा की कुषाण कला में उत्कीर्ण वास्तु-फलक नगण्य हैं; अतः जो लोग गुप्तकालीन कला को मथुरा की कुषाण-कला परम्परा से जोड़ने का प्रयास करते हैं, उन्हें गढ़वा के उच्चित्र अनजाने से लगते हैं। काशिका (सारनाथ) के उच्चित्रों के साथ भी उनका तालमेल बैठता दिखायी नहीं पड़ता। किन्तु यदि इस बात पर ध्यान दिया जाय कि गढ़वा से भारहुत बहुत दूर नहीं है तो, यह सहज अनुमान किया जा सकता है कि गढ़वा के उच्चित्र भारहुत के उच्चित्रण-परम्परा में हैं। भारहुत परम्परा से गढ़वा की कला के विकासक्रम को ढूँढने का प्रयास अब तक नहीं किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इस प्रकार का प्रयास सम्भव नहीं है; किन्तु गढ़वा की कला में गुप्तकालीन कला की सुकुमारता के साथ भारहुत कला का भारीपन सहज रूप में देखा जा सकता है और यह कहा जा सकता है कि नचना-कुठारा, खोह आदि की मूर्तियाँ भी इसी विकास परम्परा में हैं। गुप्तकालीन कलाकारों ने भारहुत और साँची के कलाकारों से प्रेरणा प्राप्त कर अपनी कला में दृश्य-उच्चित्रण को प्रधानता प्रदान की; साथ ही उन्होंने लता-गुल्मों के बीच से मानव को अलग कर उन्हें अपने ढंग से रूपायित किया और लता-गुल्मों की नयी तरंगायित अभिव्यंजना प्रस्तुत की।

गढ़वा की यह कला भारहुत की परम्परा से कब और किस प्रकार अलग हुई, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। वहाँ से अब तक जो भी कला-सामग्री प्राप्त हुई है, उनमें से कोई भी अभिलिखित नहीं है। किन्तु वहाँ से जो चार स्वतन्त्र अभिलेख प्राप्त हुए हैं, वे सभी गुप्तकालीन हैं। इनमें से एक द्वितीय चन्द्रगुप्त के और दो प्रथम कुमारगुप्त के काल के हैं। चौथे अभिलेख में शासक का नाम उपलब्ध नहीं है; केवल (गुप्त) संवत् १४८ की तिथि प्राप्त होती है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि वह स्कन्दगुप्त के शासनकाल का होगा। इन अभिलेखों में प्रथम तीन में सत्र-संचालन की व्यवस्था के लिए दिये गये दानों का उल्लेख है। अन्तिम अर्थात् स्कन्दगुप्त-कालीन अभिलेख में अनन्तस्वामिन की मूर्ति की स्थापना की चर्चा है। इन सब अभिलेखों से यह अनुमान होता है कि गुप्तकाल में वहाँ कोई वैष्णव संस्थान था और इस प्रकार यह भी अनुमान किया जा सकता है कि जो उच्चित्रित फलक वहाँ प्राप्त हुए हैं, वे इसी संस्थान के भवनों (मन्दिरों आदि) के होंगे। और तब यह कहा जा सकता है कि इन फलकों का उच्चित्रण द्वितीय चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त के बीच किसी समय हुआ होगा।

इस प्रकार अब तक जो भी गुप्तकालीन कला-सामग्री उपलब्ध है, उनको आभिलेखिक प्रमाणों के प्रकाश में देखने पर यही कहा जा सकता है कि गुप्तकालीन कला का विकास द्वितीय चन्द्रगुप्त के काल में आरम्भ हुआ। उपलब्ध कला-सामग्री अधिकांशतः प्रथम कुमारगुप्त के काल की है; बुधगुप्त के काल में यह कला ह्रासोन्मुख होने लगी थी। गुप्तकाल का राजनीतिक इतिहास भी इसी तथ्य का समर्थन करता है। चन्द्रगुप्त (द्वितीय) से पूर्व की राजनीतिक स्थिति अशान्तिपूर्ण थी, यह पिछले पृष्ठों में की गयी चर्चा से स्पष्ट है। अतः उस काल में कला के विकसित होने का कोई अवसर न था; इसी प्रकार बुधगुप्त के शासनकाल में गुप्त-साम्राज्य की श्री विचलित होने लगी थी। उस समय कला का स्तर बनाये रखना सम्भव न था। प्रथम कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त का शासनकाल ही कुछ शान्तिमय था; उसी शान्तिपूर्ण वातावरण में गुप्तकालीन कला को मुकुलित होने का अवसर मिला होगा। इस तथ्य के साथ उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि गुप्तकालीन कला मथुरा की कुषाणकालीन कला से सर्वथा स्वतन्त्र रूप में विकसित हुई। उसके विकास का प्रथम केन्द्र काशी था जहाँ देवमूर्तियों का मूर्तन हुआ। फलकों के उच्चित्रण की परम्परा ने गढ़वा और उसके निकटवर्ती क्षेत्रों में जन्म लिया और वह प्रायः उसी क्षेत्र में सीमित रही। अन्यत्र रजौना (जिला मुंगेर) को छोड़कर उच्चित्र देखने में नहीं आते।

गुप्तकालीन कलाकारों ने पूर्वकालिक कला-रूढ़ियों से हट कर मानव-आकृतियों का प्राकृतिक और सन्तुलित रूप में मूर्तन किया है। उनकी रचनाओं में यौवन अपने चरम रूप में प्रस्फुटित हुआ है। उन्हें जीवन की अन्तर्भावना की पूर्ण अभिव्यक्ति यौवन में ही दिखायी पड़ी है। उनकी कला में शरीर की मांसलता की बाह्य चिकनाहट ही नहीं वरन् उनका अन्तर भी प्रकाशमान होता दिखायी पड़ता है। उनकी कला में

सूक्ष्म आध्यात्मिकता भी प्रवाहित होती जान पड़ती है। दैदीप्यमान मुखड़ा, अधखुली आँखें, प्रत्यक्ष संसार की ओर देखने की अपेक्षा अन्तर की ओर देखती जान पड़ती हैं। यह बात न केवल देवी-देवताओं के अंकन में ही वरन् सामान्य स्त्री-पुरुषों के मूर्तन में भी दिखायी पड़ती है। उन्होंने स्त्री-पुरुष दोनों को एक नये परिवेश में उपस्थित किया है। पुरुष कन्धे तक लटकते हुए कुन्तल-कुञ्चित केशों के साथ प्रस्तुत किये गये हैं; स्त्रियों ने अलक-जाल धारण किया। सीमान्त की स्पष्ट रेखा खींच कर वे सीमन्तिनी बनी हैं। आभूषणों का भार छोड़ कर वे हलकी हुईं। जो भी आभूषण उन्होंने धारण किये, वे सुरुचिपूर्ण और इने-गिने हैं। गले में मोतियों की एकावली उनकी अपनी विशेषता है। वस्त्र धारण में जो परिष्कार और सुरुचि है, उसमें सुडौल गठी काया स्पष्ट झलकती है। संक्षेप में जीवन के अंग-अंग में रसी रसात्मक कला अपना निखार लिए विहसती दिखायी पड़ती है।

गुप्तकालीन कला मूर्तन में सर्वत्र एक सार्वभौमिकता झलकती है। फिर भी उनमें कुछ प्रादेशिक अन्तर देखे जा सकते हैं। यथा—उत्तर-पश्चिम और पश्चिम के कलाकारों ने, जो भारहुत और साँची की परम्परा से प्रभावित हैं, नारी के पूर्णतः उभरे हुए वक्षों का अंकन किया है और काशिका शैली के अनुयायियों ने नारी के क्षीण कटि को अपना आदर्श बनाया है। इसी प्रकार काशिका की मधुर और बारीक भावसत्ता, मध्यप्रदेश की कला में भारी हो गयी है, उनकी रेखाएँ काया की गोलाई में मोटी और मांसल हैं।

देव-मूर्तन—देव-मूर्तन की पूर्ववर्ती परम्पराओं ने गुप्तकाल में आकर एक निश्चित विधा का रूप धारण कर लिया। प्रत्येक देवी-देवता का एक निश्चित रूप-स्वरूप निर्धारित हुआ और उसके अनुसार उनका अंकन किया जाने लगा जो आगे चलकर रूढ़ हो गया। इस प्रकार निर्धारित देव-मूर्तियों के मूर्तन-स्वरूप का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

बौद्ध मूर्ति—कुषाण काल से पूर्व तक बौद्ध-धर्म निवृत्ति का मार्ग था; तब तक बुद्ध का अंकन मानवीय रूप में न होकर प्रतीक के माध्यम से होता था। कुषाणकाल में जब बौद्धधर्म ने महायान के रूप में भक्ति-प्रधान धर्म का रूप धारण किया तब उनकी अभिव्यक्ति मूर्तिकला में मानव रूप में की जाने लगी और वे खड़े और बैठे दोनों रूपों में अंकित किये गये। बुद्ध की कुषाणकालीन मूर्तियाँ केश-मुण्डित कपर्दिन रूप में हैं। गुप्तकालीन कपर्दिन रूप की बुद्ध की मूर्ति अब तक केवल एक ज्ञात है। वह मानकुवर (जिला इलाहाबाद) से प्राप्त हुई थी। बुद्ध की गुप्तकालीन बैठी मूर्तियाँ निम्न-लिखित मुद्राओं में मिलती हैं।

१. **अभय-मुद्रा**—इस मुद्रा में बुद्ध पद्मासन बैठे होते हैं और दाहिना हाथ ऊपर की ओर उठा स्थित रहता है और हथेली सामने की ओर होती है। इस मुद्रा की बैठी मूर्ति अब तक केवल एक ही प्राप्त हुई है और वह मानकुवर (जिला इलाहाबाद) से प्राप्त प्रथम कुमारगुप्त के काल की है।

२. ध्यान-मुद्रा—इस मुद्रा में बुद्ध ध्यान-मग्न होते हैं और दोनों करतल अंक में एक के ऊपर दूसरा रखा होता है। इस प्रकार की मुद्रायुक्त मूर्ति का संकेत बुद्ध के बोधि-वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित बैठने की ओर होता है। इस कारण किन्हीं-किन्हीं मूर्तियों में पीछे की ओर बोधि-वृक्ष का भी अंकन मिलता है।

३. भूमि-स्पर्श मुद्रा—इस मुद्रा में बुद्ध का बायाँ हाथ अंक में तथा दाहिना हाथ आसन पर नीचे (अर्थात् पृथिवी) की ओर इंगित करता अंकित होता है। इस मुद्रा का अभिप्राय यह बताना है कि बुद्धत्व प्राप्ति के बाद बुद्ध ने मार पर जो विजय प्राप्त की थी, उसका साक्षी पृथिवी है। इस प्रकार की मूर्तियों में भी कभी-कभी बोधि-वृक्ष का अंकन मिलता है। किन्हीं-किन्हीं मूर्तियों में आसन के नीचे पृथिवी का भी अंकन होता है।

४. धर्म-चक्र-प्रवर्तन मुद्रा—इस मुद्रा में प्रवचन की अभिव्यक्ति हाथों द्वारा की जाती है। इसमें दोनों हाथ वक्ष के सामने होते हैं और दाहिने हाथ का अँगूठा और कनिष्ठिका, बायें हाथ की मध्यमिका को स्पर्श करती होती है। कहा जाता है कि इसी भाव से बुद्ध ने सारनाथ में कौण्डिन्य आदि पाँच भद्रों को शिक्षा दी थी। इस प्रकार की मूर्तियों में प्रायः आसन के नीचे दो मृगों के बीच चक्र का अंकन होता है। मृग मृगदाव अर्थात् सारनाथ के, जहाँ बुद्ध ने पहला प्रवचन किया था, और चक्र बुद्ध के धर्म-चक्र के प्रवर्तन का बोधक है। किन्हीं-किन्हीं मूर्तियों के आसन के नीचे पंच-भद्र भी अंकित होते हैं।

इसी प्रकार गुप्तकालीन बुद्ध की खड़ी मूर्तियाँ दो मुद्राओं—**अभय और वरद** में पायी जाती हैं। अभय मुद्रा वाली मूर्तियाँ कुषाण काल से ही प्राप्त होने लगती हैं। इनमें दाहिने हाथ का अगला भाग ऊपर की ओर उठा स्थिर रहता है और हथेली सामने की ओर होती है। बायाँ हाथ संघाटी का छोर पकड़े हुए होता है। यह सम्बोधि के पश्चात् बुद्ध के अभयत्व का प्रतीक है। वरद मुद्रा में दाहिना हाथ लम्ब रूप में नीचे की ओर और करतल सामने होता है। बायें हाथ में संघाटी होती है। इसका अभि-प्राय बुद्ध को उत्सर्जन (दान) के भाव में दिखाना है।

इन सभी गुप्तकालीन बुद्ध की मूर्तियों में उनका परिधान सादा अथवा चुन्नटदार होता है और उसमें उनका अंग-प्रत्यंग झलकता रहता है। कुछ मूर्तियों में उनकी हथेलियाँ जालांगुल होती हैं अर्थात् उनकी उंगलियाँ जाल सरीखी जुड़ी होती हैं।

गुप्तकालीन मूर्तिकारों ने बुद्ध के साथ-साथ बोधिसत्वों का भी मूर्तन किया है। बुद्धत्व प्राप्त करने के प्रयास में बुद्धत्व की ओर अग्रसर होते हुए बुद्ध ने अनेकानेक जन्म धारण किये उनको बोधिसत्व की संज्ञा दी गयी है। वे मनुष्य की कोटि से ऊपर उठे हुए माने जाते हैं, पर बुद्धत्व तक नहीं पहुँच सके हैं, उसकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। मूर्तिकला में उनका अंकन यद्यपि पूर्णतः राजकुमारों की तरह नहीं होता तथापि वे मुकुट-मण्डित और आभूषणों से अलंकृत होते हैं। बोधिसत्वों की जो कल्पना की गयी है, उसमें उनका सम्बन्ध पाँच ध्यानी बुद्धों के साथ जोड़ा गया है। अतः प्रत्येक बोधि-

सत्व मूर्तिकला में अपने ध्यानी बुद्ध से पहचाने जाते हैं, जिनका अंकन उनके मुकुट में रहता है। ये ध्यानी बुद्ध मूर्तिकला में अन्य कोई नहीं, बुद्ध के ऊपर कहे गये पाँचों मुद्राओं वाले रूप हैं। बोधिसत्वों को इस प्रकार पहचाना जा सकता है :

बोधिसत्व	ध्यानी बुद्ध	मुद्रा
१. अवलोकितेश्वर	अमिताभ	ध्यान
२. सिद्धैकवीर	अक्षोभ	भूमिस्पर्श
३. मंजुश्री	रत्नसम्भव	वरद
४. मैत्रेय	अमोघसिद्धि	अभय
५. सम्बर	वैरोचन	धर्मचक्र प्रवर्तन

गुप्तकालीन मूर्तिकला में बोधिसत्वों में अवलोकितेश्वर, मंजुश्री और मैत्रेय की ही मूर्तियाँ प्रायः देखने में आती हैं और इनके अनेक रूप हैं।

बुद्ध और बोधिसत्व के एकाकी मूर्तन के अतिरिक्त गुप्तकालीन मूर्तिकारों ने मौर्योत्तर-कालीन भारहुत और साँची की उच्चित्रों वाली परम्परा में बुद्ध से सम्बन्धित वृत्तफलक प्रस्तुत किये। किन्तु यह विधा इस काल में गौण ही है। वस्तुतः इस विधा की महत्ता कुषाण काल में ही घट गयी थी। कुषाणकालीन मूर्तिकारों ने अपने उच्चित्रण के विषय के रूप में बुद्ध के जीवन की केवल चार प्रमुख घटनाओं—(१) जन्म, (२) सम्बोधि, (३) धर्मचक्रप्रवर्तन और (४) महापरिनिर्वाण तथा तीन गौण घटनाओं—(१, इन्द्र को बुद्ध का दर्शन, (२) बुद्ध का त्रयत्रिंश स्वर्ग से माता को ज्ञान देकर लौटना और (३) लोकपालों द्वारा बुद्ध को भिक्षापात्र अर्पण—को अपनाया था। गुप्तकालीन कलाकारों ने भी वृत्त-मूर्तन के निमित्त बुद्ध के जीवन की उपर्युक्त चार मुख्य घटनाओं को ही अपना विषय बनाया। गौण घटनाओं के अंकन के लिए उन्होंने पूर्व सूची से केवल त्रयत्रिंश स्वर्ग से लौटने की घटना को लिया और साथ ही तीन नयी घटनाओं को चुना। ये घटनाएँ हैं : (१) नालागिरि का दमन, (२) वानरेन्द्र का मधुदान और (३) विश्वरूप प्रदर्शन। इनके अतिरिक्त मायादेवी का स्वप्न, महानिष्क्रमण आदि घटनाओं का भी अंकन देखने में आता है, पर बहुत कम।

जैन मूर्ति—जैन धर्म में जिन (तीर्थंकरों) की महत्ता है। वे मूर्ति रूप में पूजे जाते हैं। किन्तु उनका मूर्तन कब आरम्भ हुआ, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पाटलिपुत्र (लोहानीपुर) से प्राप्त मौर्यकालीन शिरविहीन पुरुष मूर्ति को, जो नग्न है और जिसके जानुओं के अगल-बगल कुछ ऐसे चिह्न हैं जिनसे मूर्तियों के आजानुबाहु होने का अनुमान किया जा सकता है, लोग जिन (तीर्थंकर) की मूर्ति अनुमान करते हैं। यदि यह अनुमान ठीक है तो उसे तीर्थंकर की प्राचीनतम मूर्ति कहा जा सकता है किन्तु इस एकाकी मूर्ति के अतिरिक्त कुषाणकाल से पूर्व की तीर्थंकरों की और कोई मूर्ति अब तक प्राप्त नहीं हुई है। कुषाणकाल से जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी और पद्मासन में बैठी दोनों रूपों में बड़ी संख्या में मिलती हैं।

जैन धर्म में २४ जिन (तीर्थंकर) माने गये हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं : (१) आदिनाथ, (२) अजितनाथ, (३) सम्भवनाथ, (४) अभिनन्दननाथ, (५) सुमतिनाथ, (६) पद्मप्रभ, (७) सुपार्श्वनाथ, (८) चन्द्रप्रभ, (९) सुविधिनाथ, (१०) शीतलनाथ, (११) श्रेयांसनाथ, (१२) वासुपूज्य, (१३) विमलनाथ, (१४) अनन्तनाथ, (१५) धर्मनाथ, (१६), शान्तिनाथ, (१७) कुन्थुनाथ, (१८) अरनाथ, (१९) मल्लिनाथ, (२०) मुनिसुव्रत, (२१) नमिनाथ, (२२) नेमिनाथ, (२३) पार्श्वनाथ और (२४) महावीर। गुप्तोत्तरकाल में प्रत्येक तीर्थंकर के लिए एक-एक लांछन की कल्पना की गयी जिनसे उनकी मूर्तियाँ अलग-अलग तीर्थंकरों के रूप में पहचानी जा सकती हैं। किन्तु पार्श्वनाथ और ऋषभनाथ को छोड़ कर अन्य तीर्थंकरों की कुषाण और गुप्तकाल की मूर्तियों को तब तक पहचानना सम्भव नहीं है जब उन पर कोई लेख न हो और उस लेख में तीर्थंकर का नाम अंकित न हो। पार्श्वनाथ के ऊपर सर्प का छत्र होता है और ऋषभनाथ के कन्धों के ऊपर दोनों ओर केश लटकते होते हैं, इस कारण वे सहज ही पहचाने जा सकते हैं।

जैन तीर्थंकरों और बुद्ध की मूर्तियों में इतनी बाह्य समानता है कि उन दोनों के बीच सामान्यतः अन्तर करने में भूल हो सकती है। लोगों की सामान्य धारणा है कि जिन मूर्तियों के वक्ष पर श्रीवत्स का अंकन होता है; पर आरम्भकालिक कुषाण और गुप्त मूर्तियों में यह चिह्न अनिवार्य रूप से मिलता हो, ऐसी बात नहीं है। इन मूर्तियों के आसन के नीचे दो सिंहों के बीच चक्र का अंकन पाया जाता है, जो उन्हें बुद्ध मूर्तियों से अलग करने में कुछ सीमा तक सहायक होता है।

जैन तीर्थंकरों की एकाकी बैठी और खड़ी मूर्तियाँ तो मिलती ही हैं। इनके अतिरिक्त वे एक अन्य रूप—सर्वतोभद्र (अर्थात् चौकोर शिला के चारों ओर एक-एक तीर्थंकर का अंकन) रूप में भी मिलती हैं। सर्वतोभद्रिका मूर्तियों में ऋषभनाथ, सुपार्श्वनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर का खड़े या बैठे रूप में अंकन होता है।

ब्राह्मण मूर्ति—ब्राह्मण देवी-देवताओं की मूर्तियाँ सम्भवतः मौर्योत्तर काल में ही बनने लगी थीं; किन्तु उनका विकास ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में अर्थात् कुषाण काल में ही देखने में आता है। गुप्त-काल के आते-आते उनके मूर्तन की एक निश्चित और स्थायी कल्पना बन गयी। प्रत्येक देवी-देवता के लिए उनके वाहनों की कल्पना कुषाणकाल में ही हो गयी थी; उनके साथ ही उनके आयुधों की कल्पना का भी विकास हुआ। और गुप्त-काल में पहली बार देवी-देवियों के मूर्तन-विधान की व्यवस्थित रूप-रेखा लिपि-बद्ध की गयी। वराहमिहिरकृत **बृहत्संहिता** तथा **विष्णु-धर्मोत्तर पुराण** इस विषय के अब तक ज्ञात प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। उनमें देवताओं के स्वरूप, उनके आयुध और वाहनों का विशद उल्लेख है। गुप्तकाल में देवी-देवताओं के अतिरिक्त उनके आयुधों और वाहनों की मानवरूपी कल्पना की गयी और वे उस रूप में रूपायित हुए। गुप्तकालीन साहित्य में वर्णित सभी देवताओं और उनके सभी रूपों की मूर्तियाँ अभी तक ज्ञात नहीं हो पायी हैं। यदि ज्ञात भी हों तो उनका समुचित

अध्ययन नहीं हुआ है। इसलिए यहाँ हम केवल उन्हीं देवी-देवताओं का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं, जिनकी गुप्तकालीन मूर्तियाँ प्रायः देखने में आती हैं।

ब्रह्मा—ब्रह्मा का अंकन प्रायः दाढ़ी, जटा-जूटयुक्त, चतुर्भुज (सम्मुखाभिमुख अंकन में केवल तीन ही मुख अंकित मिलते हैं, चौथा मुख पीछे अदृश्य समझा जाता है) और तुन्दिल रूप में किया जाता है। उनका एक हाथ अभय मुद्रा में होता है, अन्य हाथों में आयुध होते हैं। गुप्त-कालीन ब्रह्मा की मूर्ति बहुत ही कम देखने में

विष्णु—विष्णु सामान्यतः खड़े, शंख, चक्र, गदा और पद्मधारी, चतुर्भुज, मुकुट, अधोवस्त्र और उत्तरीय धारण किये अंकित किये जाते हैं। अपने चारों आयुधों के चारों हाथों में विभिन्न क्रम से धारण करने के कारण उनकी मूर्तियाँ विभिन्न नामों से पुकारी जाती हैं। इस रूप की अब तक कोई कुषाण-कालीन मूर्ति ज्ञात नहीं हो सकी है। जिन कुषाण-कालीन मूर्तियों को विष्णु की मूर्ति समझा जाता है, उनमें पद्म का सर्वथा अभाव है। इनके पीछे के दोनों हाथों में क्रमशः गदा, चक्र और सामने का दाहिना हाथ अभय मुद्रा में उठा हुआ निरायुध और बाँया हाथ कटिविनयस्थ तथा शंख अथवा अमृतघट लिये होता है। ये मूर्तियाँ वस्तुतः वासुदेव (कृष्ण) की हैं।[1] गुप्तकाल में भी वासुदेव के इस रूप का मूर्तन होता था। इस ढंग की एक मूर्ति ग्वालियर संग्रहालय में है।

चतुर्भुज मूर्तियों के अतिरिक्त विष्णु को द्विभुज और अष्टभुज रूप में भी मूर्तित किया गया है। गदा और चक्रधारी द्विभुज रूप को महाभारत में नारायण कहा गया है। इस प्रकार का मूर्तन नाँद (राजस्थान) से प्राप्त एक शिवलिंग के निचले भाग पर हुआ है। रूपबास (भरतपुर) से भी विष्णु की एक द्विभुजी मूर्ति प्राप्त हुई थी इसका उल्लेख जितेन्द्रनाथ बनर्जी ने चक्रधर विष्णु के रूप में की है। कदाचित् इसके दूसरे हाथ में गदा है। विदिशा से प्राप्त और ग्वालियर संग्रहालय में सुरक्षित एक द्विभुजी मूर्ति भी, जिसे लोग अबतक सूर्य की मूर्ति अनुमान करते आये हैं, सम्भवतः विष्णु की ही है। इस मूर्ति का दाहिना हाथ अभय मुद्रा में ऊपर को उठा हुआ और बायाँ हाथ कटिविनयस्थ है। इससे इस मुद्रा से जहाँ मूर्ति का दैवत्व निःसंदिग्ध रूप से प्रकट है, वहीं आयुध के अभाव में उसे किसी देवता विशेष के रूप में पहचानना सहज नहीं है। इस मूर्ति के पीछे जो प्रभामण्डल है, उसके आधार पर ही लोगों ने इसे सूर्य अनुमान किया था; किन्तु इस रूप में जिस प्रकार की भारतीयता परिलक्षित होती है, वह सूर्य में गुप्तकाल तक सर्वथा अज्ञात थी। इसके प्रभामण्डल की तुलना एरण के स्तम्भ-शीर्ष पर अंकित गरुड़ के प्रभामण्डल से की जाय तो ज्ञात होगा कि दोनों में अद्भुत सादृश्य है; और यह इस बात का द्योतक माना जा सकता है कि दोनों का मूर्तन एक ही परम्परा में हुआ है। और इस प्रकार इसे विष्णु की मूर्ति अनुमान किया जा सकता है।

---

१. इसके विशद विवेचन के लिए देखिए ज० बि० रि० सो०, ५४, पृ० २२९-४८।

अष्टभुजी विष्णु का उल्लेख विष्णुधर्मोत्तर पुराण, बृहत्संहिता, ब्रह्मपुराण और हरिवंश में मिलता है। इस रूप की कुछ खण्डित मूर्तियाँ मथुरा क्षेत्र से प्राप्त हुई हैं, जो कदाचित् गुप्तकालीन हैं।

विष्णु की बैठी हुई कुषाणकाल की केवल एक मूर्ति मथुरा से ज्ञात है। इस रूप में गुप्तकाल में विष्णु प्रायः लक्ष्मी के साथ ही मूर्तित हुए हैं। पर यह रूप भी दुर्लभ ही है। इस प्रकार का मूर्तन उदयगिरि के एक लयण द्वार पर हुआ है। विष्णु की एक तीसरे प्रकार की मूर्ति शेषशायी रूप में प्राप्त होती है। विष्णु शेषनाग के ऊपर लेटे हुए होते हैं और लक्ष्मी उनके पैर के पास होती हैं और उनकी नाभि से एक कमल निकला होता है जिस पर ब्रह्मा बैठे होते हैं। इस प्रकार का गुप्तकालीन मूर्तन देवगढ़ (झाँसी) के मन्दिर में हुआ है।

विष्णु-मूर्तियों की अपेक्षा उनके वराह, नरसिंह और वामन अवतारों की मूर्तियाँ गुप्तकाल में अधिक प्राप्त होती हैं। उनके वामन अवतार की कुछ मूर्तियाँ त्रिविक्रम रूप की मिलती हैं। वराह का मूर्तन दो रूपों में मिलता है। एक रूप में मानव-शरीर के साथ वराह-मुख का अंकन हुआ है। इस प्रकार की मूर्ति को **भू-वराह** अथवा **आदि वराह** कहते हैं। इस प्रकार की एक भव्य मूर्ति उदयगिरि के लयणद्वार के बाहर भित्ति पर उकेरी हुई है; एक दूसरी मूर्ति एरण से प्राप्त हुई है। दूसरे रूप में उनका अंकन पशु-वराह के रूप में ही हुआ है। इस प्रकार की एक गुप्तकालीन मूर्ति एरण से प्राप्त हुई है जिस पर हूण तोरमाण के आरम्भिक वर्ष का लेख अंकित है। एक अन्य सुन्दर मूर्ति अपसढ़ (जिला गया) में है, जिसके सम्बन्ध में लोगों को प्रायः जानकारी नहीं है। इन दोनों ही रूपों में वराह के एक दाँत के ऊपर पृथिवी टिकी हुई होती है।

मथुरा से गुप्त-कालीन कुछ ऐसी मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं जो त्रिमुख हैं। इनमें बीच का मुख मानव-मुख है और उसके एक ओर वराह का और दूसरी ओर सिंह का मुख है। इसे नृसिंह-वराह-विष्णु की संज्ञा दी गयी है और पुराणों में इसका उल्लेख महाविष्णु अथवा विश्वरूप-विष्णु के नाम से हुआ है। कुछ मूर्तियों में इन मुखों के अतिरिक्त मूर्ति के प्रभामण्डल में ८ वसु, ११ रुद्र और १२ आदित्यों आदि का अंकन मिलता है। इस प्रकार की एक मूर्ति गढ़वा (जिला इलाहाबाद) से प्राप्त हुई थी। मथुरा से भी इस प्रकार का एक उच्चित्रण प्राप्त है। मथुरा से एक ऐसी भी मूर्ति प्राप्त हुई है जिसमें आयुध-धारी विष्णु के कन्धों और सिर के पीछे से आकृतियाँ उद्भूत होती अंकित की गयी हैं। इन आकृतियों की पहचान संकर्षण, अनिरुद्ध और प्रद्युम्न के रूप में करके अनुमान किया जाता है कि वह विष्णु के चतुर्व्यूह रूप का प्रतीक है।

विष्णु की इन सभी प्रकार की मूर्तियों में से अनेक में गदा और चक्र का अंकन मानुषी रूप (आयुध-पुरुष) में हुआ है। यद्यपि इसका आरम्भ कुषाण-काल में हो गया था[1] तथापि यह गुप्त काल का ही निजस्व है।

---

१. अधिक सम्भावना है कि कुषाणकाल की कही जानेवाली ये मूर्तियाँ आरम्भिक गुप्तकाल की होंगी।

इसी प्रकार विष्णु के वाहन गरुड़ का भी मानुषी रूप में स्वतन्त्र मूर्तन मिलता है। एरण के मातृविष्णु-धन्यविष्णु वाले ध्वज-स्तम्भ के शीर्ष के रूप में गरुड़ का मानवी रूप में अंकन हुआ है। वहाँ वे दोनों ही हाथों से सर्प पकड़े हुए हैं; उनके सिर के पीछे चक्राकार प्रभामण्डल है।

कृष्ण—गुप्तकाल में कृष्ण का अंकन विष्णु से स्वतन्त्र हुआ है। और उनका यह अंकन प्रायः गोवर्धनधारी के रूप में ही हुआ है। गोवर्धनधारी कृष्ण की एक विशाल गुप्तकालीन मूर्ति काशी के भारत-कला-भवन में है।

शिव—शिव का उल्लेख वैदिक-साहित्य में प्राप्त है और हड़प्पा संस्कृति मे शिवोपासना के प्रचलित होने का अनुमान किया जाता है। किन्तु उनकी उपासना का वास्तविक स्वरूप क्या था, कहा नहीं जा सकता। सामान्य धारणा है कि शिव की लिंग रूपी उपासना प्राचीनतम है। किन्तु अब तक गुप्तकाल से पूर्व का कोई ऐसा मूर्तन उपलब्ध नहीं है जिसमें मात्र लिंग का वास्तविक अथवा प्रतीकात्मक अंकन हुआ हो। अब तक प्राचीनतम जो लिंग ज्ञात हो सका है, वह दक्षिण भारत के गुड़िमलम् नामक स्थान से मिला है और लोग उसे मौर्योत्तरकाल (ईसा पूर्व प्रथम शती) का अनुमान करते हैं। यह पाँच फुट ऊँचा प्राकृतिक लिंग की अनुकृति है और उसके सम्मुख भाग पर कुब्जक पर खड़े द्विभुज परशुधारी शिव का अंकन हुआ है।[1] इस अंकन में शिव के दोनों हाथ नीचे को लटक रहे हैं, जो मौर्योत्तर और कुषाणकालीन देव-मूर्तियों की हस्त-मुद्राओं की दृष्टि से असाधारण है। यह तथ्य उसके इतने प्राचीन मानने में बाधा उपस्थित करती है। वस्तुस्थिति जो भी हो, वैसा ही एक दूसरा लिंग उत्तर भारत में मथुरा से प्राप्त हुआ था। इसमें चतुर्भुज शिव का अंकन हुआ है। उनका सामने का बायाँ हाथ अभय मुद्रा में और दाहिना हाथ कटिविनयस्थ है। पीछे के दोनों हाथों से वे सिर पर रखे किसी वस्तु को सँभाले हुए हैं।[2] यह लिंग दूसरी-तीसरी शती ई० का अनुमान किया जाता है। इनसे यह निःसन्दिग्ध अनुमान होता है कि शिव की आरम्भकालिक मूर्तन की कल्पना मात्र लिंग की न थी; मूल कल्पना इसी प्रकार के मानवाकृति-मिश्रित किसी रूप की रही होगी।

कुषाण काल से पूर्व (५० ई०) का एक पंचमुखी लिंग भीटा से प्राप्त हुआ है[3] जो प्राचीनता की दृष्टि से उपर्युक्त लिंगों के ही क्रम में है। यह इस बात का प्रतीक है कि सामान्य लिंगों से पूर्व मुख-लिंगों का प्रादुर्भाव हो गया था।

शिव का मानव-रूपी स्वतन्त्र अंकन सर्वप्रथम कुषाण-नरेश विमकदफिस के सिक्कों पर मिलता है। उन पर वे त्रिशूल लिये एकाकी खड़े हैं या फिर उनके पीछे उनका नन्दी (वृष) खड़ा है। सिक्कों के अतिरिक्त कुषाणकाल या उसके पूर्व किसी

१. हिस्ट्री ऑव इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृ० ३९, चित्र ६३।
२. वही, पृ० ६७, चित्र ६८।
३. आ० स० इ०, ए० रि०, १९०९–१०।

अन्य माध्यम में शिव का मानवीय अंकन नहीं मिलता। इसलिए कुछ विद्वानों की जो यह धारणा है कि परवर्ती काल में मुखलिंगों के रूप में शिव के मानवीय और लिंग रूपों का एकाकार हुआ, युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। कदाचित् मानव-आकृति युक्त लिंगों से मुख-लिंग का आविर्भाव हुआ और मानव-रूपी शिव का अंकन किसी स्वतन्त्र परम्परा का परिणाम है; और यह परम्परा पीछे की है।

कुषाणकालीन लिंग-मूर्तियों का कोई सम्यक् अध्ययन या विवरण प्राप्त नहीं है जिससे उसके तत्कालीन स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ कहा जा सके। गुप्तकालीन जो लिंग-रूप प्राप्त हैं, उनमें कोई ऐसा नहीं है जिससे लिंग की पीठिका पर शिव का समग्र मूर्तन हो। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इसकी परम्परा गुप्तकाल से पहले समाप्त हो चुकी थी। गुप्तकालीन लिंग या तो एक-मुखी हैं या बहुमुखी अर्थात् द्विमुखी, पंचमुखी (चतुर्मुखी), अष्टमुखी आदि। अतः गुप्तकालीन मुख-लिंगों की परम्परा पहले से चली आती भीटावाली परम्परा में है। इस काल में पंचमुखों की चली आती पूर्व परम्परा के साथ एक मुखवाली नयी परम्परा का आविर्भाव हुआ। गुप्तकालीन एकमुखी लिंग ही अधिक पाये जाते हैं। उनके सुन्दर नमूने खोह और भूमरा से प्राप्त हुए हैं। इन लिंगों के उद्भूत मुख में मस्तक के बीच खड़ा तीसरा नेत्र, कण्ठ में एकावली, गोल बँधे जटाजूट के साथ दोनों ओर लहराती जटाएँ हैं यह सब मिलकर मूर्त को एक अनोखी भव्यता प्रदान करते हैं। मथुरा में गुप्तकालीन एकमुखी लिंग आज भी अनेक स्थानों में पूजित देखे जाते हैं। बिहार में भी गुप्तकाल में एकमुखी लिंग बड़ी संख्या में बने और पूजित हुए थे, यह तथ्य अभी हाल में किये गये एक सर्वेक्षण से प्रकाश में आया है।[1]

द्विमुखी लिंग बहुत कम देखने में आते हैं। इसका एक उदाहरण मथुरा संग्रहालय में है। पञ्चमुखी लिंग अपेक्षाकृत अधिक प्राप्त होते हैं। सम्भवतः इन मुखों का तात्पर्य सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान से है (इन पञ्चमुखी लिंगों मे से अधिकांश में चारों दिशाओं के चार मुख ही देखे जाते हैं)। अष्टमुखी लिंग मन्दसोर से प्राप्त हुआ है, इसमें चार मुख लिंग के मध्यभाग में और चार उनके नीचे निम्न भाग में हैं।

मुख-लिंगों के अतिरिक्त गुप्तकाल में प्रतीकात्मक लिंगों की भी प्रतिष्ठा हुई। ये लिंग-मूर्तियाँ लिंग का आभास मात्र प्रस्तुत करती हैं। ये लिंग आकार में बहुत छोटे किन्तु बहुत मोटे हैं और प्रायः त्रिभागात्मक हैं। उनका ऊपर का भाग गोल और निचला भाग चौकोर तथा बीच का भाग अठपहल है। इस प्रकार के एक लिंग की स्थापना प्रथम कुमारगुप्त के मन्त्री पृथिवीषेण ने की थी जो करमदण्डा (जिला फैजाबाद) से प्राप्त हुआ है और अब लखनऊ संग्रहालय में है।

---

१. यह सर्वेक्षण बिहार के गुप्तकालीन मूर्तियों के अध्ययन के प्रसङ्ग में मिनेसोटा (अमेरिका) विश्व-विद्यालय के कला-इतिहास विभाग के प्राध्यापक फ्रेडरिक एम० ऐशर ने किया है, जो अभी अप्रकाशित है।

गुप्त-काल में शिव के मानव-रूपी मूर्तन भी हुए थे, इसका अनुमान उस काल के प्राप्त होनेवाले अनेक शिव-मस्तकों से होता है। पर तत्कालीन खड़ी या बैठी समग्र मूर्ति बहुत कम देखने में आयी है। गणों के साथ खड़ी शिव की एक मूर्ति मन्दसोर के दुर्ग में है। शिव का मानव-रूपी एकाकी अंकन एक अन्य रूप में प्राप्त होता है, जिसे लकुलीश कहते हैं। यों तो पाशुपत मत के प्रवर्तक का नाम लकुलीश है, पर मूर्तन में इसका अभिप्राय शिव के एक रूप से समझा जाता है। इस रूप में वे ऊर्ध्वरेतस और लकुटधारी अंकित किये जाते हैं। गुप्तकाल की अद्यतम लकुलीश की मूर्ति मथुरा से उस स्तम्भ पर प्राप्त हुई है जिस पर द्वितीय चन्द्रगुप्त के पाँचवें राज-वर्ष का अभिलेख है। मस्तक पर कदाचित् तीसरा नेत्र (जो स्पष्ट नहीं है) है। वे बायें हाथ में लकुट लिये हैं और दाहिना हाथ कटिविनयस्थ है। उनके दाहिने हाथ में भी कदाचित् कोई वस्तु है जो दो लहरों के रूप में नीचे की ओर लहरा रही है। कमर में योगपट्ट इस प्रकार बँधा है कि पेट आगे को निकल कर तुन्दिल हो गया है। इसकी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि यह ऊर्ध्वरेतस नहीं है। मथुरा से लकुलीश की एक दूसरी बैठी हुई मूर्ति मिली है। इसमें वे घुटनों के सहारे बैठे हैं, योगपट्ट बँधा है और दोनों हाथ व्याख्यान की मुद्रा में हैं।

गुप्तकाल में शिव के पार्वती के साथ खड़े अंकित किये जाने का अनुमान कुछ लोग करते हैं। उनके इस अनुमान की पृष्ठभूमि कुषाणकालीन वह उच्चित्र है जिसमें एक ऊर्ध्वरेतस पुरुष के बगल में एक नारी खड़ी है। वह कुषाणकाल और उसके पूर्व के मिथुन फलकों के इतने निकट है कि यदि ऊर्ध्वरेतस की ओर ध्यान न जाय तो उसे उन फलकों से कदापि भिन्न नहीं कहा जा सकता। उसमें अन्य कुछ ऐसा नहीं है जिससे उसे देव-मूर्ति कह सकें। इसकी पृष्ठभूमि में लोग कौशाम्बी से प्राप्त उस दम्पती मूर्ति को भी शिव-पार्वती कहते हैं, जिस पर मघ-नरेश भीमवर्मन का नाम और १३९ की तिथि दी हुई है। वे लोग इस तथ्य की उपेक्षा कर कि मघ-नरेश गुप्तों से पहले हुए थे, तिथि को गुप्त-संवत् में होने की कल्पना कर इसे गुप्तकाल में रखते हैं। वस्तुतः यदि यह मूर्ति शिव-पार्वती की है तो वह गुप्तकाल से पहले की है। गुप्तकाल की शिव-पार्वती की बैठी दम्पती-मूर्ति बहुत कम प्रकाश में आयी है। ऐसी एक मूर्ति ग्वालियर संग्रहालय में है।

अर्धनारीश्वर—शिव-पार्वती की दम्पती-मूर्ति की अपेक्षा गुप्तकालीन मूर्तिकारों को अर्धनारीश्वर के रूप में उन दोनों का संयुक्त रूप अधिक भाया था। गुप्तकालीन कलाकारों ने इस रूप में आधे पुरुष और आधी नारी शरीर को जिस प्रकार संयुक्त कर मूर्तन किया है, वह उनकी कला-चातुरी की ही नहीं, वरन् उनकी दार्शनिक भूमिका का भी परिचय प्रस्तुत करता है। मथुरा संग्रहालय में अर्धनारीश्वर की दो सुन्दर मूर्तियाँ हैं। उनमें शिववाले अंग का (अर्थात् दाहिना) हाथ अभय मुद्रा में ऊपर को उठा हुआ है; पार्वतीवाले अंग के (अर्थात् बायें) हाथ में दर्पण है। पुरुष भाग में जटा-जूट और नारी-अंश में स्तन का प्रमुख रूप से अंकन हुआ है। दोनों के कर्ण-भूषण में

कोई अन्तर नहीं है किन्तु कटि की मेखला में स्पष्ट दो-रूपता है। सारनाथ के संग्रहालय में एक चतुर्भुज अर्धनारीश्वर की मूर्ति होने की बात कही जाती है।

हरिहर—शिव का एक अन्य संयुक्त रूप में मूर्तन हुआ है जो हरिहर के नाम से ख्यात है। इसमें आधा भाग विष्णु (हरि) का और आधा भाग शिव (हर) का होता है। दोनों ही के पुरुष आकृति होने के कारण, दोनों के बीच का भेद अवयवों की अपेक्षा उनके जटा-जूट और मुकुट तथा हाथों में धारण किये गये आयुधों में ही प्रकट होता है। हरिहर की एक गुप्तकालीन मूर्ति दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में है जो विदिशा से प्राप्त हुई थी। इसमें शिव (हर) ऊर्ध्वरेतस हैं। हरिहर की एक चतुर्भुज मूर्ति प्रयाग संग्रहालय में भी है। इसमें शिव का त्रिशूल और विष्णु का चक्र आयुध-पुरुष के रूप में अंकित किया गया है। मुण्डेश्वरी (जिला शाहाबाद) से प्राप्त हरिहर की एक गुप्तकालीन मूर्ति पटना-संग्रहालय में है।

पार्वती—पार्वती का एकाकी अंकन भारतीय मूर्तिकला में बहुत ही कम हुआ है, गुप्तकाल में तो और भी कम। अब तक पार्वती की एक ही मूर्ति हमारे देखने में आयी है जो पटना संग्रहालय में है। यह कदाचित् मुण्डेश्वरी से प्राप्त हुई है। इसमें वे वल्कल-धारिणी, तपस्या-रत अंकित की गयी हैं।

महिषासुरमर्दिनी—पार्वती का अधिक प्रसिद्ध मूर्तन सिंहवाहिनी, चतुर्भुज दुर्गा के रूप में हुआ। उनके इस रूप का अंकन कुषाणकाल में आरम्भ हुआ और उसने गुप्तकालीन मूर्तिकारों को भी आकृष्ट किया। उनका अंकन इस काल में अपेक्षाकृत अधिक हुआ और वे द्विभुजी, चतुर्भुजी और नाना रूप में बहुभुजी मूर्ति की गयीं। उदयगिरि में उनका मूर्तन द्वादशभुजी रूप में हुआ है।

कार्तिकेय—कार्तिकेय का अंकन सामान्यतः खड़े अथवा बैठे दोनों रूपों में मिलता है और वे हाथ में शक्ति धारण किये होते हैं। उनके वाहन के रूप में कुक्कुट अथवा मयूर का अंकन होता है। गुप्तकाल में कार्तिकेय का मूर्तन मयूरपृष्ठाश्रयित (मयूर पर चढ़े हुए) ही विशेष रूप से हुआ है। इस प्रकार की एक सुन्दर मूर्ति भारत कला-भवन, काशी में है और ठीक उसी तरह की एक दूसरी मूर्ति पटना संग्रहालय में है। मथुरा संग्रहालय में भी इस भाँति की एक मूर्ति है; उस मूर्ति की विशेषता यह है कि उनके दाहिने चतुर्मुख ब्रह्मा और बायें शिव खड़े हैं। शिव हाथ में जल-पात्र लिये हैं और ब्रह्मा कार्तिकेय का अभिषेक कर रहे हैं। पटना संग्रहालय में कार्तिकेय की एक खड़ी मूर्ति भी है, जिसमें उनके शक्ति का अंकन आयुध-पुरुष के रूप में हुआ है। इसमें कार्तिकेय के बायीं ओर एक खड़ी नारी मूर्ति है जिसके सिर पर शक्ति अंकित है, कार्तिकेय उस पर अपना हाथ रखे हुए हैं। कार्तिकेय का अंकन षड्-मुख रूप में भी हुआ है। उनके इस रूप का एक मूर्ति-फलक पवाया (ग्वालियर) से प्राप्त हुआ है जो ग्वालियर संग्रहालय में है। कश्मीर से उत्तर-गुप्त काल की एक कांस्य-मूर्ति प्राप्त हुई है, उसमें भी कार्तिकेय षडानन हैं। इसमें वे चतुर्भुज हैं और उनका आयुध शक्ति और वाहन मयूर दोनों का ही अंकन मानुषी रूप में हुआ है।

गणेश—गणेश का महत्त्व आज ब्राह्मण देवताओं में सर्वाधिक है और प्रायः हर मांगलिक अवसरों पर उनकी पूजा की जाती है। उनका अंकन गजमुख, द्विभुजी अथवा चतुर्भुजी बैठे अथवा नृत्य-मुद्रा में खड़े होता है और वाहन के रूप में उनके साथ मूषक (चूहा) होता है। वासुदेवशरण अग्रवाल का कहना है कि आरम्भ में गणेश एक यक्ष मात्र थे और इस रूप में उनका अंकन मथुरा और अमरावती की आरम्भकालिक कला में मिलता है। उसी यक्ष को ही परवर्ती काल में गणपति अथवा गणेश के नाम से प्रतिष्ठा मिली। वस्तु-स्थिति जो भी हो, साहित्य में गणेश का उल्लेख सर्वप्रथम आठवीं शती ई० में मालती-माधव में प्राप्त होता है। इससे पूर्व उनकी पूजा और प्रतिष्ठा कब हुई, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। मथुरा के कुषाणकालीन एक शिला-पट्टिका पर एक पंक्ति में पाँच गज-मुख गणों का अंकन हुआ है। वहीं से इसी काल की एक छोटी-सी गजानन मूर्ति मिली है, जो नग्न, ऊर्ध्वरेतस, तुन्दिल और नाग का यज्ञोपवीत धारण किये हुए है। यह मूर्ति शिव के किसी रूप की है या गणेश की, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। यदि इसे गणेश के रूप में पहचाना जा सके तो यही गणेश की प्राचीनतम मूर्ति होगी। गणेश का मूर्तन गुप्तकाल में होने लगा था, ऐसी कुछ लोगों की धारणा है। उन्होंने गणेश की कुछ मूर्तियों को गुप्त-कालीन रूप में पहचानने की चेष्टा भी की है, जिसमें भूमरा से ज्ञात एक खण्डित मूर्त प्रमुख है। किन्तु उन मूर्तियों के सम्बन्ध में विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे गुप्तकालीन हैं ही।

सूर्य—सूर्य का प्राचीनतम अंकन बोधगया के एक वेदिका-स्तम्भ पर मिलता है जिसे शुंग-कालीन अनुमान किया जाता है। उसमें वे चार घोड़ों के रथ पर धोती और उष्णीश धारण किये अंकित किये गये हैं। किन्तु सूर्य की जो कुषाणकालीन मूर्तियाँ मिलती हैं, उनमें वे उदीच्य वेशधारी अर्थात् कोट, पाजामा और जूता पहने दिखाये गये हैं। उनका यह रूप शकों के साथ ईरान से आया था। इन मूर्तियों में वे प्रायः पर्यंक-लीलासन (कुर्सीपर पैर नीचे लटका कर बैठनेवाला आसन) में बैठे पाये जाते हैं। उनके एक हाथ में पुष्प और दूसरे हाथ में तलवार अथवा कटार होता है। जहाँ वे रथ पर बैठे दिखाये गये हैं, वहाँ उनके घोड़ों की संख्या सात है। गुप्त-काल में कटार अथवा तलवार के स्थान पर दूसरे हाथ में भी पुष्प धारण करने की परम्परा आरम्भ हुई और उनका यह मूर्तन परवर्ती काल में स्थायी हो गया। गुप्तकालीन सूर्य की मूर्तियों में उनके दोनों ओर उनके भृत्य दण्ड और पिंगल भी अंकित किये जाने लगे। पिंगल का अंकन दावात के साथ और दण्ड का अंकन दण्ड धारण किये हुए किया गया। सूर्य के अंकन का जब कुछ और विस्तार हुआ तो उनके साथ उषा और प्रत्यूषा, राज्ञी और निक्षुभा नाम्नी देवियों का भी अंकन किया जाने लगा।

अग्नि—अग्नि का आदिम मूर्तन पंचाल-नरेश अग्निमित्र के सिक्कों पर और तदनन्तर अथ्शो (आतिश-अग्नि) नाम से कुषाण शासकों के सिक्कों पर हुआ है। किन्तु उनकी कोई मूर्ति गुप्तकाल से पूर्व प्राप्त नहीं होती। अग्नि की जो मूर्तियाँ मिली हैं,

उनमें वे तुन्दिल, जटाजूट और दाढ़ी युक्त, यज्ञोपवीत धारण किये और दाहिने हाथ में अमृतघट लिए अंकित हुए हैं। उनके प्रभामण्डल का अंकन अग्नि-शिखाओं के रूप में हुआ है। पटना संग्रहालय में अग्नि की एक सुन्दर गुप्तकालीन मूर्ति है।

सप्त-मातृका—गुप्तकाल में देवताओं की अपेक्षा देवियों का मूर्तन बहुत ही कम हुआ है। लक्ष्मी, जो कुषाण-पूर्व काल में मूर्तन में विशेष स्थान रखती थीं और गुप्तकाल में भी सिक्कों पर उनका विशिष्ट अंकन हुआ है, प्रस्तर मूर्तियों में प्रायः अनजानी हैं। कुछ इसी प्रकार की बात अन्य देवियों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि गुप्तकाल में देवियाँ उपेक्षित हो गयीं। उनका अंकन इस काल में एक नये धरातल पर हुआ। उनकी कल्पना उपास्य देवताओं की शक्तियों के रूप में की गयी और सात शक्तियों की कल्पना कर उन्हें सप्त-मातृका के नाम से सामूहिक रूप से प्रतिष्ठित किया गया। सप्त-मातृका समूह की देवियाँ खड़ी कम, बैठी ही अधिक मिलती हैं और उन सबके अंकन में नाम मात्र की भिन्नता देखी जाती है। उनका अन्तर उनके आयुधों और वाहनों से प्रकट होता है, जो प्रायः वे ही हैं जो उनसे सम्बन्धित देवताओं के हैं। कभी-कभी उनके मातृत्व के प्रतीक स्वरूप उनके साथ एक बालक का भी अंकन पाया जाता है। सप्त-मातृका समूह का परिचय इस प्रकार है—

मातृका	देवता	आयुध	वाहन
माहेश्वरी	महेश्वर (शिव)	त्रिशूल	वृष
वैष्णवी	विष्णु	चक्र अथवा गदा	गरुड़
ब्रह्माणी	ब्रह्मा	अक्ष (माला)	हंस
कौमारी	कुमार (कार्तिकेय)	शक्ति	मयूर
वराही	वराह		महिष, वराह
इन्द्राणी (ऐन्द्री)	इन्द्र	वज्र	हाथी
यमी (चामुण्डा)	यम		शव, उलूक

सप्त-मातृका समूह की सातों देवियों की मूर्तियाँ एक साथ बहुत ही कम प्राप्त होती हैं। इनका एक गुप्तकालीन पूर्ण सेट पटना संग्रहालय में है जो सरायकेला से प्राप्त हुआ था। इनमें से प्रत्येक मातृका की गोद में एक बालक है। अमझरा से इस काल की माहेश्वरी, इन्द्राणी, कौमारी और वराही की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। श्यामलाजी से भी इन चारों की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इन्द्राणी की एक भव्य मूर्ति भारत कला भवन, काशी में है। मथुरा संग्रहालय में कौमारी की एक खण्डित मूर्ति है।

गंगा-यमुना—मकरवाहिनी गंगा और कच्छपवाहिनी यमुना की कल्पना सर्वप्रथम गुप्तकाल में प्राप्त होती है। हिमालय से उतरती हुई जल धारा के बीच इनका सर्वप्रथम अंकन उदयगिरि में एक उच्चित्र के रूप में हुआ है। पर वे प्रायः गुप्तकालीन द्वार के दोनों ओर ऊपर या नीचे ही अंकित मिलती हैं। द्वारों से अलग, स्वतन्त्र रूप में उनका अंकन प्रायः अनजाना है।

इनके अतिरिक्त कुबेर, यक्ष-यक्षी, नागी आदि का भी मूर्तन यदाकदा देखने में आता है।

देवी-देवताओं के वैयक्तिक मूर्तन के अतिरिक्त गुप्तकाल में शिला-फलकों पर राम, कृष्ण और शिव से सम्बन्धित अनुश्रुतियों और कथाओं का भी उच्चित्रण हुआ था। देवगढ़ (झांसी) के दशावतार मन्दिर के जगती-पीठ पर राम और कृष्ण कथा के दृश्य अनेक फलकों पर अंकित किये गये हैं। उन पर राम-कथा के निम्नलिखित दृश्य पहचाने गये हैं। (१) ऋषि अगस्त्य के आश्रम में राम, लक्ष्मण और सीता का आगमन; (२) अहल्योद्धार, (३) शूर्पणखा का नाकोच्छेदन; (४) बाली-सुग्रीव संग्राम; (५) सेतु-बन्धन की तैयारी; (६) हनुमान का संजीवनी बूटीवाले पर्वत का ले जाना। इनके अतिरिक्त रामायण के कुछ और भी दृश्य वहाँ हैं जिनके पहचान की ओर अभी तक समुचित ध्यान नहीं दिया गया है। कृष्ण-कथा के फलकों पर कृष्ण-जन्म, नन्द-यशोदा द्वारा कृष्ण-बलराम का लालन-पालन, शकटलीला, कृष्ण और सुदामा आदि का अंकन हुआ है। भारत कला-भवन में एक शिला-फलक है जिस पर यशोदा के दधिमंथन का दृश्य अंकित है। शिव सम्बन्धी अनुश्रुतियों में किरातार्जुनीय के दृश्य रजौना (जिला मुंगेर) से प्राप्त स्तम्भों पर अंकित हैं।[1] इनमें गंगावतरण, शिवद्वारा मानिनी पार्वती को मनाने का प्रयास, गणों का नृत्य, अर्जुन द्वारा पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति, किरात रूपी शिव के साथ अर्जुन का युद्ध आदि दृश्य अंकित हैं। मथुरा से प्राप्त एक फलक पर, जो कदाचित् गुप्तकाल का है, रावण के शिव सहित कैलाश उठा लेने के दृश्य का अंकन है।

देव-मूर्तियों के प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि कालिदास के साहित्य में प्रभा-मण्डल के प्रयोग का बहुशः उल्लेख हुआ है; उसे छायामण्डल भी कहा गया है। किन्तु गुप्तकालीन जो मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं, उनमें प्रभामण्डल बुद्ध और जिन की मूर्तियों में ही विशेष देखने को मिलता है। प्रभामण्डल-युक्त हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बहुत ही कम हैं। कला-विधान में इसका प्रयोग कुषाणकाल में ही आरम्भ हो गया था।

१. राखालदास बनर्जी ने भारतीय पुरातत्व विभाग की १९११-१२ की रिपोर्ट में इन स्तम्भों के चण्डीमऊ (जिला पटना) से मिलने की बात कही है। उसके आधार पर प्रायः सर्वत्र इसका उल्लेख चण्डीमऊ के नाम से होता चला आ रहा है। किन्तु यह बात गलत है। ये स्तम्भ कनिंगहम को रजौना (जिला मुंगेर) से मिले थे (क० आ० स० रि०, ३, पृ० १५४–५५)। बनर्जी को स्वयं अपने कथन की असत्यता का बोध हो गया था और उन्होंने उसका निराकरण अपने "द एज ऑव इम्पीरियल गुप्ताज" (पृ० १७१–७२, पा० टि० ३) में कर दिया था। पर उसकी ओर किसीने ध्यान नहीं दिया और यह गलती दुहराई चली आ रही है। इस गलती के दुहराये जाने के मूल में कदाचित् यह बात भी है कि ये स्तम्भ इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता में हैं और उसके आलेखों में यह गलत बात आज भी अंकित है और जब कभी वे इन स्तम्भों के सम्बन्ध में किसी को कोई सूचना अथवा चित्र देते हैं तो उसी गलत बात को दुहरा देते हैं।

उस समय उसका अलंकरण अत्यन्त सादा था; गुप्तकाल में उसने अलंकारपूर्ण रूप लिया जिसमें उत्फुल्ल कमल, पद्मलता और पक्षियों को समन्वित किया गया है। गुप्तकालीन प्रभामण्डलों की एक विशेषता यह भी है कि उनसे प्रकाशरश्मि स्फुरित होता हुआ दिखायी पड़ता है; ऐसा जान पड़ता है केन्द्र से तीर की तरह प्रकाशरश्मियाँ निकल रही हैं।

धातु-मूर्ति—मूर्तिकला में धातु का प्रयोग हड़प्पा-सभ्यता के युग में ही होने लगा था। मुहें-जो-दड़ों से कांस्य की बनी एक भैंस और एक नर्तकी की मूर्ति प्राप्त हुई है। तदनन्तर मौर्योत्तर काल से पूर्व धातु-मूर्ति के सम्बन्ध में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती। ऐतिहासिक काल की प्राचीनतम धातु-मूर्ति के रूप में लोग प्रायः सोने के उस फलक की चर्चा करते हैं जिस पर नारी का अंकन है और जो लौरियानन्दनगढ़ (बिहार) से प्राप्त हुआ था और जिसका समय ईसा पूर्व तीसरी शती आँका जाता है। किन्तु इस प्रकार के सुवर्ण-फलक मूर्तियों की अपेक्षा आभूषणों की श्रेणी में आते हैं और उनकी चर्चा उसी प्रसंग में उचित कही जायगी। मूर्तियों के प्रसंग से प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम में सुरक्षित पार्श्वनाथ की कांस्य प्रतिमा ही सबसे प्राचीन समझी जाती है। इसका समय लोग ईसा पूर्व प्रथम शती मानते हैं।[1] तदनन्तर प्राचीनतम धातुमूर्तियों की जानकारी चौसा (जिला शाहाबाद, बिहार) से प्राप्त मूर्तियों से होती है। ये मूर्तियाँ मिट्टी खोदते समय प्राप्त हुई थीं और अब पटना संग्रहालय में हैं। इन मूर्तियों में एक धर्म-चक्र, एक कल्प-वृक्ष और १६ जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ हैं।[2] इनमें धर्मचक्र और कल्प-वृक्ष को प्राचीनतम अर्थात् ईसा पूर्व दूसरी-पहली शती का अनुमान किया जाता है। तीर्थंकर की दस मूर्तियों को, जो कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी हैं, कुषाणकाल का समझा जाता है[3] और शेष छः मूर्तियाँ, जो बैठी हैं, प्रारम्भिक गुप्तकाल की समझी जाती हैं। ये सभी मूर्तियाँ नग्न हैं। इनके सम्बन्ध में अभी कुछ विशेष प्रकाशित नहीं हुआ है। इनमें दो मूर्तियाँ केशवल्लरी के कारण पार्श्वनाथ की मूर्ति के रूप में पहचानी जाती हैं। दो को शिरश्चक्र में चन्द्र के अंकन के कारण चन्द्रप्रभ का समझा जाता है, दो की पहचान किसी तीर्थंकर के रूप में नहीं की जा सकती। गुप्तकालीन कही जाने वाली कुछ जैन मूर्तियाँ अकोटा (बड़ौदा) से भी प्राप्त हुई हैं। ये मूर्तियाँ एक बड़े दफीने के रूप में प्राप्त हुई थीं जिनमें से केवल ६८ मूर्तियों की जानकारी हो सकी है। इन मूर्तियों का काल पाँचवीं शती ई० के उत्तरार्ध से ग्यारहवीं शती ई० तक आँका जाता है। इनमें दो पाँचवीं शती के उत्तरार्ध की हैं। इनमें एक ऋषभनाथ की और एक जीवन्त-स्वामी

---

१. स्टडीज इन जैन आर्ट, पृ० ८-९।

२. जैन ब्रांजेज इन पटना म्युजियम, स्वर्ण-जयन्ती ग्रन्थ, श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, पृ० २७५-२८१।

३. इनमें से पार्श्वनाथ की एक मूर्ति को उमाकान्त शाह ईसा पूर्व प्रथम शती की मानते हैं (अकोटा ब्रांजेज, पृ० २०, फलक १ब)।

(महावीर) की है। ये दोनों ही मूर्तियाँ खड़ी हैं। ऋषभनाथ की मूर्ति कुन्तल केश और उष्णीशयुक्त है; जीवन्तस्वामी की मूर्ति मुकुटधारी है। दोनों ही मूर्तियाँ अधोवस्त्र धारण किये हुए हैं। इस प्रकार वे श्वेताम्बर सम्प्रदाय की हैं। तीन अन्य मूर्तियाँ छठी शती की कही जाती हैं।[1]

इन जैन मूर्तियों की तरह ही गुप्तकाल में धातु की बौद्ध-मूर्तियाँ भी बनी थीं। समुद्रगुप्त के शासनकाल में सिंहल-नरेश मेघवर्ण द्वारा सोने-चाँदी में ढले रत्नमण्डित बुद्ध-मूर्ति के बोधगया में स्थापित कराने की बात कही जाती है।[2] पर वहाँ से इतनी प्राचीन कोई मूर्ति अब तक नहीं मिली है। गन्धार से चौथी शती ई० की एक बुद्ध-मूर्ति प्राप्त हुई है और उसी तरह की एक अन्य मूर्ति लन्दन के विक्टोरिया एण्ड अल्बर्ट म्यूजियम में है।[3] किन्तु ये दोनों ही गुप्त-साम्राज्य के परिधि से बाहर की हैं। गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत धनेसरखेड़ा (उत्तर प्रदेश) में चौथी-पाँचवीं शती की दो बुद्ध-मूर्तियाँ प्राप्त हुई थीं, जो काशिका कला के निकट प्रतीत होती हैं।[4] आजमगढ़ जिले से भी पाँचवीं-छठी शती का बुद्ध का एक सिर प्राप्त हुआ है, जो लखनऊ संग्रहालय में है। इन मूर्तियों के सम्बन्ध में अब तक विशेष कुछ प्रकाशित नहीं है। उत्तरवर्ती गुप्तकाल की एक साढ़े सात फुट ऊँची विशाल मूर्ति सुल्तानगंज (जिला भागलपुर, बिहार) से प्राप्त हुई थी जो इस समय बरमिंगहम (इंगलैण्ड) के संग्रहालय में है। नालन्द और कुर्किहार (जिला गया) से बहुत बड़ी संख्या में बौद्ध-मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। उनमें से कुछ के सम्बन्ध में गुप्तकालीन होने का अनुमान किया जाता है, पर उनके सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। तथापि सुल्तानगंज वाली मूर्ति के परिप्रेक्ष्य में देखते हुए यह अनुमान किया जा सकता है कि कांस्य की बौद्ध-मूर्तियों का मूर्तन गुप्तकाल में निश्चय ही बड़ी मात्रा में हुआ होगा और ये मूर्तियाँ दो-तीन इंच के आकार से लेकर विशालाकार रही होंगी।

बौद्ध और जैनधर्म से इतर धातु मूर्तियाँ गुप्तकाल में बनीं, यह बहुत निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता। अब तक ब्रह्मा की ही एक मूर्ति ऐसी है जो गुप्तकालीन कही जाती है।[5] यह सिन्ध में मीरपुर खास से प्राप्त हुई थी और कराची संग्रहालय में है। कला की दृष्टि से वह ईडर (गुजरात) से प्राप्त गुप्तकालीन मूर्तियों के निकट जान पड़ती है। अतः उसे पश्चिमी भारत की कांस्यकला का नमूना अनुमान किया जाता है।

धातु-मूर्तियों के निर्माण के निमित्त पहले मधुच्छिष्ट (मोम) में मूर्तियाँ हाथ से गढ़कर कोर रूपायित कर ली जाती थीं; फिर उनके चारों ओर मिट्टी लपेट दी जाती थी और

१. उमाकान्त शाह, अकोटा ब्रांजेज।
२. विंसेण्ट स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, १९२४, पृ० ३०४ तथा पाद टिप्पणी
३. आर्ट ऑव इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, फलक २०, चित्र १२६, पृ० ३१।
४. वही, पृ० ४८, ६६; चित्र १९७।
५. वही, फलक ३२।

उसे आग पर गर्म किया जाता था जिससे मिट्टी पककर कड़ी हो जाती, भीतर से मोम पिघल कर निकल जाता और आकृति की छाप मिट्टी के भीतरी भाग पर रह जाती और भीतर खोखला हो जाता था। इस प्रकार मूर्तियों के लिए साँचा तैयार हो जाता था। उसमें पिघली हुई धातु डाल दी जाती जो जमकर साँचे के भीतर बने आकार को ग्रहण कर लेती। पश्चात् साँचे को तोड़ कर मूर्ति निकाल ली जाती, फिर आवश्यकतानुसार छील और रेत कर उसे निखार प्रदान किया जाता। इस प्रकार ढली धातु-मूर्तियों के भारीपन को कम करने के उद्देश्य से मोम के बीच में मिट्टी के एक अनगढ़ स्वरूप की गुठली दे दी जाती थी। मोम के निकल जाने पर भी वह साँचे के भीतर अपनी जगह पर बना रहता। इससे पिघली हुई धातु केवल साँचे और गुठली के बीच की खाली जगह में ही फैलती। इससे धातु कम लगता और मूर्ति के वजन में भी कमी आ जाती थी। गुप्तकाल की अधिकांश मूर्तियाँ इसी पद्धति पर बनी हैं। धातु-मूर्तन की इस विधा को **मधुच्छिष्ट विधा** (सर-पर्ड्यू) कहते हैं। इस विधा में एक साँचे से केवल एक मूर्ति तैयार हो सकती है।

मृण्मूर्ति—मिट्टी के माध्यम से मूर्तियों के सर्जन की कल्पना कदाचित् मानव ने अपने उन्नत जीवन के विकास के आरम्भिक दिनों में ही कर लिया था। और उसकी यह परम्परा अजस्र रूप में आज तक चली आ रही है। इस देश में मृण्मूर्ति-कला का प्रसार दक्षिण की अपेक्षा उत्तर में ही अधिक रहा। उत्तर भारत के मैदानों में चिकनी मलिल-मृत्तिका इतने सहज रूप में उपलब्ध रही है कि सामान्य जन भी अपनी कला प्रतिभा को मिट्टी के माध्यम से प्रदर्शित कर सकता था।

भारतीय परम्परा में मिट्टी की मूर्तियों का परिचय सर्वप्रथम हड़प्पा सभ्यता के अवशेषों में मिलता है। मुहें-जो-दड़ो, हड़प्पा तथा तत्प्रभृति अन्य स्थलों से मातृकाओं की मिट्टी की मूर्तियाँ बड़ी मात्रा मे मिली हैं। पर वे संस्कृत कला की अपेक्षा लोक-कला की ही परिचायक अधिक हैं। उनका निर्माण हाथ से ही गीली मिट्टी में आँख, नाक, कान, मुँह आदि बनाकर किया गया है। उनमें मानव आकृति का आभास मात्र प्राप्त होता है। इस परम्परा की मूर्तियाँ आज भी देश के प्रायः सभी प्रदेशों में नारियाँ समय-समय पर अपने घरों में बनाती रहती हैं। इस प्रकार की मिट्टी की मूर्तियों में काल-भेद से किसी प्रकार का रूप-भेद अथवा कला-भेद नहीं किया जा सकता। वे सभी काल में प्रायः एक-सी ही बनती रही हैं। सम्भवतः आज की भाँति ही प्राचीनकाल में भी इस प्रकार की मूर्तियों की उपयोगिता तात्कालिक पूजा तक ही सीमित थी। निर्माण के पश्चात् उपयुक्त अवसर पर ये पूजी जातीं और फिर उनका त्याग कर दिया जाता। इस प्रकार की मिट्टी की मूर्तियाँ उत्खनन में गुप्तकाल के स्तर में भी मिलती हैं।

कलात्मक ढंग से बनी मिट्टी की मूर्तियाँ पहली बार मौर्यकाल में देखने में आती हैं और वे पाटलिपुत्र से प्राप्त हुई हैं। तदनन्तर शुंग-काल और उनके पश्चात् की मृण्मूर्तियाँ उत्तर भारत में प्रायः सर्वत्र, विशेषतः गंगा-यमुना के काँठे और बंगाल में मिलती हैं। इन मूर्तियों में काल-भेद और स्थान भेद से स्पष्ट रूप-भेद देखा जा सकता

है। प्रत्येक काल और प्रत्येक स्थान की मृण्मूर्ति-कला का अपना निजस्व है। ये सभी मूर्तियाँ या तो मूर्तन-पद्धति (माडलिंग) द्वारा गढ़ी हुई हैं या साँचों में ढाली गयी हैं। मूर्तन-पद्धति में कलाकार अपने हाथों अपनी कल्पना के सहारे मूर्ति को रूप देता है और चाकू की सहायता से छील-गढ़ कर उसे सुन्दर और सुडौल रूप प्रदान करता है। इस प्रकार के मूर्तन में कलाकार की कल्पना, प्रतिभा, सौन्दर्य-बोध सभी कुछ उसकी क्षमता के अनुसार प्रस्फुटित होता है। इस प्रकार बनी प्रत्येक मूर्ति का अपना निजस्व होता है। दूसरी पद्धति में पहले किसी मूर्ति के ऊपर गीली मिट्टी दबा कर उसकी छाप प्राप्त कर ली जाती थी और फिर उसे आग में पका कर पक्का कर लिया जाता था। यह साँचे का काम देता था। फिर इस प्रकार के साँचे में मिट्टी को दबा कर साँचे में उतरी छाप प्राप्त कर लेते थे और आवश्यकतानुसार उसे साज-सँवार लिया जाता था। इस पद्धति से एक जैसी अनेक मूर्तियाँ तैयार की जा सकती थीं। अतः यह कला की अपेक्षा शिल्प की ही पद्धति अधिक कही जा सकती है। इसमें कला की सीमा साँचे के लिए स्वरूप अथवा आदर्श (माडल) प्रस्तुत करने तक ही है। एक बार माडल बन जाने पर उससे असंख्य साँचे और प्रत्येक साँचे से असंख्य मूर्तियाँ तैयार की जा सकती थीं। साँचे का प्रयोग इकहरे और दुहरे दो रूपों में होता था। इकहरे साँचे का प्रयोग मूर्ति के उच्चित्र (रिलीफ) के रूप में प्रस्तुत करने के लिए और दुहरे साँचे का प्रयोग मूर्ति के चतुर्दिक् स्वरूप को व्यक्त करने के लिए किया जाता था। दुहरे साँचों से मूर्तियाँ बनाने के लिए दो साँचों के बीच गीली मिट्टी को दबा दिया जाता था। किन्तु इस प्रकार बनी मूर्ति ठोस और भारी होती थी। अतः उन्हें हल्का बनाने के लिए आगे-पीछे के साँचों से अलग-अलग छाप तैयार कर उन्हें बाद में जोड़ देते थे। इससे मूर्तियाँ भीतर से पोली हो जाती थीं। आज भी मिट्टी के खिलौनों के बनाने में इसी प्रकार के दुहरे साँचों का ही प्रचलन है। प्राचीन काल में विशेषतः गुप्त-काल में, इकहरे साँचे से ही मिट्टी की मूर्तियों के बनाने का प्रचलन था। इस प्रकार बनी मूर्तियों को मूर्ति फलक कहना अधिक उपयुक्त होगा।

मूर्तन की हुई और साँचे से बनायी हुई, दोनों प्रकार की मृण्मूर्तियों पर आग में पकाये जाने से पूर्व मिट्टी के बनाये पतले घोल से पुताई कर दी जाती थी जिससे पकने पर उनमें चमक आ जाय; तदनन्तर उन्हें आग में पका लिया जाता था। पकाने के भी अनेक ढंग थे जिनके अनुसार पक कर मूर्तियाँ विभिन्न रंग धारण कर लेती थीं। गुप्त-कालीन पकी हुई मूर्तियों का रंग प्रायः गहरे बिस्कुट के रंग का होता है। यह उस काल की मूर्तियों की अपनी निजी विशेषता है। शैली आदि की विशेषताओं के अतिरिक्त वे रंग की इस विशेषता के कारण भी सहज ही पहचानी जा सकती हैं।

आज के मिट्टी के खिलौनों की तरह ही प्राचीन काल में भी मिट्टी की मूर्तियाँ रंगीन बनायी जाती थीं। मैके के कथनानुसार मुहें-जो-दड़ो की कुछ मृण्मूर्तियों पर रंग के अवशेष पाये गये हैं। गंगा-यमुना काँठे में कुषाणकाल में रंगीन मृण्मूर्तियाँ बनना आरम्भ हो गया था; पर उसके विशेष चिह्न आज उपलब्ध नहीं हैं। गुप्तकाल में इसका

विशेष प्रचलन था। तत्कालीन साहित्य में मिट्टी के बने रंगीन पक्षी (खिलौनों) का उल्लेख मिलता है। अभिज्ञान शाकुन्तल के सातवें अंक में भरत के मिट्टी के मयूर के साथ खेलने का उल्लेख है। उसी अंक में ऋषि-पुत्र मार्कण्डेय के वर्ण-चित्रित-मृत्तिका मयूर की चर्चा है। तत्कालीन जो मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, उनसे भी उनके रंगीन होने का परिचय मिलता है। मार्शल को भीटा की खुदाई में एक रंगीन मृण्मूर्ति प्राप्त हुई थी। राजघाट (वाराणसी) से प्राप्त कुछ मृण्मूर्तियों में रंगीन रेखाओं और विभिन्न रंगों के अवशेष देखे गये हैं। उनमें कुछ पर साड़ियों का अंकन रक्त और श्वेत लहरियों द्वारा हुआ है; कुचपट्टिका काली बनायी गयी हैं। एक छोटे-से बालक की मूर्ति में उसका अधोवस्त्र रंगीन पट्टियों का बना है। कुछ नारी आकृति में काले केश देखे जाते हैं। कुछ में स्तन-हार आदि आभूषण भी रंगीन हैं। अहिच्छत्रा से भी जो गुप्त-कालीन मृण्मूर्तियाँ मिली हैं, उनमें से कुछ पर रंगों के अवशेष मिले हैं। वहाँ से मिली एक नारी की चोली धारीदार है। कसया (कुशीनगर) से भी प्राप्त एक नारी मूर्ति में, जो लखनऊ संग्रहालय में है, रंग के चिह्न हैं। इनसे तत्कालीन मृण्मूर्तियों के रंगीन होने का परिचय मिलता है किन्तु जिन मूर्तियों पर रंग के चिह्न मिले हैं; उनकी संख्या अधिक नहीं है।

गुप्तकालीन जो मृण्मूर्तियाँ प्रकाश में आयी हैं, उनमें सबसे अधिक संख्या इकहरे साँचे से बने छोटे आकार के उच्चित्रों की है। वे सभी नित्य प्रति के मानव जीवन से सम्बन्धित हैं। उनमें तत्कालीन सामाजिक रुचि, फैशन और मान्यताओं का प्रमुख रूप से अंकन हुआ है। उन्हें मृण्मूर्तिकारों ने सशक्त गति, उन्मुक्त स्वच्छन्दता और असीम भावुकता के साथ उपस्थित किया है। इन लघु मृण्फलकों में नारी-जीवन का विभिन्न रूपों मे अंकन किया गया है। इनमें वे अल्पाभरण धारण किये प्राकृतिक और उन्मुक्त सौन्दर्य के साथ अंकित की गयी हैं। प्रसाधन के रूप में उनमें केश-विन्यास की प्रधानता दिखायी पड़ती है। ये केश-विन्यास नाना प्रकार के हैं। उनके देखने से वात्स्यायन के कला-सूची में केश-विन्यास के उल्लेख का मर्म सहज समझ में आता है। उनके देखने से ज्ञात होता है कि उन दिनों अलकों अर्थात् कुन्तल केशों (घुँघराले बालों) का विशेष प्रचलन था। कभी-कभी बीच से सीमान्त अथवा केश-वीथी (माँग) निकाल कर अलग-अलग और ऊपर की ओर केशों को छत्राकार बनाते थे। कभी-कभी माँग के दोनों ओर के केशों को इस प्रकार बनाते थे कि वह मयूरपुच्छ सा जान पड़ता था। इस प्रकार के केश-विन्यास का उल्लेख साहित्य में बर्हभार के नाम से हुआ है। कभी-कभी केशों की रचना मधुमक्खी के छत्ते की तरह की जाती थी। कभी-कभी सीमान्त को चुटुल (एक प्रकार का आभूषण) से सजाते थे। कभी सँवारे हुए केश के ऊपर भ्रमर सरीखे आभूषण का प्रयोग होता था। मृण्मूर्तियों में स्त्रियों की तरह ही पुरुषों का भी अंकन हुआ है। वे भी निराभरण और केश-विन्यास से अलंकृत पाये जाते हैं। पुरुषों के बीच दोनों ओर लटकते हुए कुन्तल (घुँघराले) केशों का प्रचलन था।

स्त्री-पुरुषों के एकाकी, दम्पती-रूप, क्रीड़ा-रत आदि बहुविध रूपों के अतिरिक्त राजघाट (वाराणसी) से प्राप्त गुप्तकालीन मृण्मूर्तियों में बालकों की भी मूर्तियाँ हैं। वे प्रायः कन्दुक (गेंद) अथवा अन्य वस्तु लिये अंकित किये गये हैं। इस प्रकार के लघु मृत्फलकों का प्रयोग कदाचित् लोग घरों में दीवालों को सजाने के लिए करते थे। इस प्रकार की मूर्तियों में ऊपर प्रायः छेद देखने में आता है जिसमे लोग डोरा पिरो कर उन्हें लटकाते रहे होंगे।

इन लघु मृत्फलकों के अतिरिक्त गुप्तकाल में बड़े मृण्मूर्ति भी बनते थे। उनमें हाथ द्वारा मूर्तन की कला ही प्रधान थी; आवश्यकतानुसार उनमें साँचो का भी प्रयोग होता था। कलाकार शरीर के विभिन्न अंगो को साँचों के माध्यम से अलग-अलग तैयार कर हाथों और छुरी की सहायता से मूर्तन करते और अलंकरण आदि के लिए छापों को काम में लाते थे। इस पद्धति से गुप्तकाल में कलाकारों ने आदम कद से भी बड़ी मूर्तियाँ तैयार की थीं। इस प्रकार की बड़ी मूर्तियों को हलकी बनाने की दृष्टि से बीच से खोखला रखते थे। इसके लिए वे मूर्तन करते समय सूखे गोबर के ऊपर गीली मिट्टी की पर्त चढ़ा देते और मिट्टी के उस पर्त पर मूर्तन करते थे। पीछे अथवा नीचे की ओर छेद रहता था जिससे पकाते समय गोबर का कण्डा जल कर राख के रूप में बाहर निकल जाय। इस तकनीक से बनी गुप्त-कालीन मूर्तियाँ संकीसा, राजघाट, अहिच्छत्रा आदि स्थानों से मिली हैं। वे प्रधानतः सिर हैं, उनके आँखों और ओठों में स्वाभाविक भाव झलकते हैं और लघु मृत्फलकों के समान ही इनमें भी केश-विन्यास की विविधता देखने में आती है। अहिच्छत्रा से इस तकनीक से बने स्त्री-पुरुष दोनों के सिर और कुछ देवी-देवताओं की मूर्तियाँ मिली हैं। उनमें पाँचवी-छठी शती की गुप्त-शैली के केश-विन्यासों की छटा देखन को मिलती है। किन्तु वहाँ के शिव-मन्दिर से प्राप्त शिव और पार्वती का सिर सबसे मनोरम है। मथुरा से प्राप्त एक सिर का, जो अब लखनऊ सग्रहालय में है, इतना सुन्दर मूर्तन हुआ है कि वह पत्थर की मूर्ति का भ्रम उत्पन्न करता है। राजघाट से भी इस प्रकार के कुछ सिर मिले है। इन सिरों के अतिरिक्त, अहिच्छत्रा से कुछ मूर्तियों के धड़ भी प्राप्त हुए हैं। इनमें एक शिर-विहीन पीठासीन चामुण्डा की मूर्ति है, जो पूर्ण रूप में दो फुट की रही होगी। अहिच्छत्रा से गंगा और यमुना की आदमकद मूर्ति भी मिली हैं जो शिव मन्दिर के ऊपरी भाग में जानेवाली सीढ़ी के दोनों ओर लगी हुई थी और अब राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली में हैं। लखनऊ संग्रहालय में भी एक बैठी हुई नारी की आदमकद मूर्ति है जो दो बच्चों को लिये हुए है। यह कसिया से प्राप्त हुई है। भीतर से यह खोखली, बिन पकी है और उस पर रंग के चिह्न हैं।

आवासों और मन्दिरों के निर्माण के लिए जहाँ सहज रूप से पत्थर उपलब्ध न था अथवा जिन वास्तुओं का निर्माण ईंटों से हुआ था, उनके अलंकरण के लिए गुप्तकाल में कलाकारों ने मिट्टी में बड़े आकारों के अलंकरण-फलक और दृश्य-फलक प्रस्तुत किये

थे। मृण्मूर्तियों के समान ही इन फलकों के बनाने में साँचे के साथ-साथ हाथ का प्रयोग किया गया था। इस प्रकार की जो सामग्री आज उपलब्ध है उनसे जान पड़ता है कि मिट्टी के वास्तु-फलकों का प्रयोग कुषाण काल के अन्त अथवा गुप्तकाल के आरम्भ में शुरू हुआ। इस प्रकार के प्राचीनतम फलक हरवान (कश्मीर) और बीकानेर के सूरतगढ़, रंगमहल, बारपाल और हनुमानगढ़ से मिले हैं। सिन्ध में मीरपुर खास के स्तूपों में भी इस प्रकार मृत्फलकों का प्रयोग हुआ है। उत्तर-पश्चिम और पश्चिम से इस कला का प्रसार पूर्व की ओर हुआ और गुप्तकाल में गङ्गा-काँठे में इसका काफी प्रचार था। मिट्टी के ये वास्तु-फलक या तो पूर्णतः आलंकारिक हैं और उनमें अलंकरणों और प्रतीकों का मूर्तन हुआ है या फिर उनमें कथा-कहानी और जीवन के दृश्यों का अंकन है।

पूर्णतः आलंकारिक मृण्वास्तु फलकों में शतरंजी, लहरिया आदि प्रमुख हैं और उनके साथ पशु-पक्षियों, विशेषतः मकर और कीर्तिमुख का अंकन हुआ है। किन्हीं-किन्हीं मन्दिरों में गोल अथवा चौकोर छोटे-बड़े आलानुमा फलकों का उपयोग हुआ है जिनके बीच सिर अथवा अन्य प्रकार की आकृति का अंकन है। इस प्रकार की गुप्त-कालीन अलंकृत ईंटें और फलक सतुहाकुण्ड (मथुरा), लुम्बिनी, सारनाथ, कसिया (कुशीनगर), भीतरगाँव, नालन्द, गया आदि के मन्दिरों और स्तूपों में मिले हैं। किन्तु कलात्मक दृष्टि से अधिक महत्त्व के वे मृण्वास्तु-फलक हैं जिन पर विविध प्रकार के दृश्यों का अंकन है। इस प्रकार के अलंकरणों से युक्त गुप्तकालीन अवशिष्ट मन्दिर भीतरगाँव (कानपुर) में है। इस मन्दिर के अधिकांश फलक इतने क्षति-ग्रस्त हैं कि उनके विषयों के सम्बन्ध में अब कुछ भी कह सकना सम्भव नहीं है। कनिंगहम ने पश्चिमी दीवार के बीच में वराह का और उत्तरी दीवार पर चतुर्भुजी दुर्गा तथा दक्षिणी दीवार पर चतुर्भुज गणेश अंकित फलक देखे थे। फोगल ने पूर्वी दीवार पर तोरण के दोनों ओर गङ्गा और यमुना का अंकन अनुमान किया है। अब दाहिनी ओर का ही फलक बच रहा है जिसमें मकर पर खड़ी नारी (गङ्गा) को देखा जा सकता है। उनके साथ दो परिचारिकाएँ हैं एक उनके आगे खड़ी है और दूसरी उनके पीछे छत्र लिये है। इन बड़े फलकों के अतिरिक्त इस मन्दिर का अलंकरण अनेक आकार के छोटे फलकों से किया गया था। उनमें एक में शेषशायी विष्णु का अंकन है। यह फलक अब कलकत्ता के इण्डियन म्यूजियम में है। लखनऊ संग्रहालय में इस मन्दिर के अनेक छोटे फलकों का संग्रह है। उनके देखने से प्रतीत होता है कि भीतरगाँव के मृण्मूर्तियों का सुडौल मूर्तन हुआ था। उनमें गति है और वे गुप्त-कालीन कला के उत्कृष्ट नमूने हैं।

१९०७-८ ई० में सहेत-महेत (प्राचीन श्रावस्ती) का जो उत्खनन हुआ था उसमें कच्ची कुटी के आसपास असंख्य खण्डित मृत्फलक मिले थे। वे सभी गुप्त-कालीन हैं और उनमें पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती सरीखे दो भेद जान पड़ते हैं। पूर्ववर्ती वास्तु-फलकों में भीतरगाँव की कला झलकती है और कदाचित् वे उसी के समकालिक हैं। उत्तरवर्ती

फलक उनसे कुछ पीछे के हैं और आकार में भिन्न और कुछ मोटे हैं। ये पूरी तरह पके नहीं हैं। रंग में काले और भीतर से कुछ नरम है। पूर्ववर्ती फलकों के विषय शिव, पार्वती अथवा अन्य देवी-देवता जान पड़ते हैं। उत्तरवर्ती फलकों पर रामायण का दृश्य अंकित है। कदाचित् कुछ पर कृष्ण के बाल-जीवन का भी अंकन हुआ है।

अहिच्छत्रा के उत्खनन से एक गुप्तकालीन शिव-मन्दिर प्रकाश में आया है। इसके फलकों पर शिव-चरित का अंकन हुआ है। एक फलक से, जिसमें जयद्रथ और युधिष्ठिर के युद्ध का अंकन है, ऐसा अनुमान होता है कि वहाँ के कुछ फलकों पर महाभारत के दृश्य भी अंकित हुए थे।

मन्दिरों के अवशेषों से ज्ञात इन फलकों के अतिरिक्त कुछ फुटकल वास्तु-फलक भी मथुरा और चौसा (जिला शाहाबाद, बिहार) से प्राप्त हुए हैं। मथुरा के फलक मथुरा संग्रहालय में हैं और वे ईसापुर के निकट यमुना-तल में मिले थे। सम्भवतः उसके आसपास ही कोई मन्दिर रहा होगा, जिनके वे अवशेष हैं। वे अब तक ज्ञात समस्त मृण्वास्तु-फलकों में उत्कृष्टतम हैं। इन फलकों में से एक में कार्तिकेय मयूरासीन दूसरे में पार्वती के गोद में स्कन्द का अंकन हुआ है। एक तीसरे फलक में एक योगी अपना गला काटता दिखाया गया है। एक अन्य फलक में विदूषक के साथ एक नारी के कौतुक का चित्रण है। चौसा से जो फलक मिला है वह पटना संग्रहालय में है और उस पर रामायण का एक दृश्य है। उसमें राम-लक्ष्मण के साथ वानरों का अंकन है। खण्डित फलक होने के कारण दृश्य की समुचित पहचान सम्भव नहीं हो सकी है। यह एकाकी फलक कला की दृष्टि से भीतरगाँव के फलकों की तरह ही भव्य है।

सुधामयी-मूर्ति—मिट्टी में कोर कर मूर्तन करने की जो कला थी, उसे गुप्त-कालीन कलाकारों ने एक और नयी विधा में प्रस्तुत किया और वह था चूने और ईंटों के चूर्ण के मिश्रण से गचकारी या सुधामयी तैयार कर मूर्तन की विधा। इसे अंग्रेजी में स्टको कहते हैं। इस विधा का प्रचार गुप्त-साम्राज्य की सीमा के भीतर अभी तक केवल बिहार में देखने में आया है। राजगृह स्थित मणियार मठ के चारों ओर स्तम्भ-अलंकृत रथिकाओं के बीच गचकारी के बने अनेक सुन्दर उच्चित्र थे जिनका समय पाँचवीं शती अनुमान किया जाता है। अब ये उच्चित्र समूल नष्ट हो गये हैं; उनका परिचय अब केवल पुरातत्व विभाग द्वारा प्रस्तुत चित्रों से ही मिलता है। उन उच्चित्रों में एक लिंग का, दूसरा बाणासुर का, तीसरा षड्-हस्त शिव का और अन्य अनेक नाग-नागियों के थे। कला सौष्ठव की दृष्टि से वे उत्कृष्ट थे। नालन्द के मन्दिर के चारों ओर की दीवारें भी गचकारी की मूर्तियों से अलंकृत रही हैं और अब भी वे उन पर देखी जा सकती हैं। वे कदाचित् छठी शती के किसी समय की होंगी ऐसा अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार अपसढ़ में, जो मगध के उत्तरवर्ती गुप्त वंश के आदित्यसेन के अभिलेख के कारण प्रसिद्ध है, एक विशाल मन्दिर का अवशेष है जो अभी तक टीले के रूप में दबा पड़ा है। उसके निम्नतम भाग के एक अंश की मिट्टी

बह जाने से मन्दिर का एक कोना बाहर निकल पड़ा है। उसकी दीवारों पर भी गचकारी के माध्यम से रामायण के अनेक दृश्य अंकित हैं। इसका समय भी छठी शती के आस पास अनुमान किया जा सकता है। गचकारी मूर्ति-विधा का विशेष प्रचार गन्धार और उसके आगे के प्रदेशों में ही जान पड़ता है। वहाँ यह विधा लगभग चौथी शती अथवा कुछ बाद से आरम्भ होकर कई शताब्दियों तक जीवित रही। कला की दृष्टि से वे मूर्तियाँ भी गुप्त-क्रम के रूप में ही हैं।

सुवर्णकार कला—गुप्तकालीन साहित्य आभूषणों की चर्चा से भरा हुआ है। इसका उल्लेख हम अन्यत्र कर चुके हैं।[1] मृण्मूर्तियों तथा अन्य प्रकार के मूर्तनों से भी तत्कालीन आभूषणों का परिचय मिलता है। किन्तु तत्कालीन आभूषणों के नमूने पुरातात्विक उत्खनन में अभी तक बहुत ही कम उपलब्ध हुए हैं; उनकी ओर कला-मर्मज्ञों और इतिहासकारों ने भी ध्यान नहीं दिया है। उनपर ध्यान दिया जाय तो ज्ञात होगा कि भारत की सुवर्णकार कला, मूलतः अभी हाल तक प्राचीनकालीन ढंग पर ही चलती चली आ रही थी। आज की तरह ही प्राचीन सुवर्णकार भट्ठी, भाथी और फुंकनी का प्रयोग कर आग प्रज्वलित करते थे। जिस धातु का उन्हें उपयोग करना होता उसे वे घरिया में रख कर गलाते थे। आभूषण बनाने में वे निहाई, हथौड़ी, विभिन्न प्रकार के ठप्पों और साँचों का प्रयोग करते थे। निहाई पर धातु को रख कर हथौड़ी से पीट कर पतला करते और फिर ठप्पों अथवा साँचों के माध्यम से उसे रूपायित करते। छेनी, रेती, कतरनी आदि उनके अन्य छोटे-मोटे औजार थे। सुवर्णकारों के इन औजारों में से साँचे और ठप्पे यदा-कदा पुरातात्विक उत्खनन में प्राप्त हुए हैं। उनका एक संक्षिप्त अध्ययन इन पंक्तियों के लेखक ने अन्यत्र प्रस्तुत किया है।[2] इस प्रकार के साँचों से बने सुवर्ण के कुछ आभूषण भी कुछ स्थानों से प्राप्त हुए हैं, जिनमें प्राचीनतम लौरियानन्दनगढ़ से प्राप्त नारी आकृतिवाला फलक है। यद्यपि ज्ञात साँचों और ठप्पों में से किसी को भी गुप्तकालीन नहीं कहा जा सकता तथापि यह सहज कहा जा सकता है कि गुप्तकालीन सुवर्णकार भी उसी प्रकार के साँचों और ठप्पों का प्रयोग करते थे। इस काल के ठप्पों अथवा साँचों में उकेरा गया गुप्तकालीन नारी आकृतियुक्त एक आभूषण सुल्तानगंज (जिला भागलपुर, बिहार) से प्राप्त हुआ है; उसी प्रकार के कुछ अन्य आभूषण वैशाली के उत्खनन में भी मिले हैं।

आभूषणों की तरह ही सिक्कों और मुहरों के बनाने की कला का भी सम्बन्ध सुवर्णकारों अथवा तत्प्रभृति कलाकारो से रहा है। वे लोग सिक्के और मुहरों को बनाने के लिए धातु अथवा अन्य माध्यम में आकृतियों को महीन औजारों से उकेरते थे। उनकी उकेरने की यह कला कितनी विकसित थी यह गुप्तकालीन सोने के सिक्कों और मुहरों के,

---

१. पीछे, पृ० ४४३।

२. ज्वेलरी मोल्ड्स इन एन्शियण्ट इण्डिया, बुलेटिन ऑव प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम, ८, पृ० ७-१७।

जो बड़ी मात्रा में प्राप्त हुए हैं, देखने से प्रकट होता है। उनकी यह कला उन दिनों चरम उत्कर्ष पर थी।

कुम्भकार कला—गुप्तकालीन कुम्भकार भी कला-भावना से उत्प्रेरित थे। उनके गढ़े भाण्डों में मूर्तिकला ही एक दूसरा रूप लेकर मुखरित हुई है। उन्होंने अपने बनाये मृण्भाण्डों को कमलदल, पुष्प, लता, आदि रूपों, गोल और चौकोर ज्यामितिक आकारों, लहरिया, चक्र, नन्दिपद आदि अनेक चिह्नों से सुरुचिपूर्ण ढंग से अलंकृत किया था। ये अलंकरण या तो ठप्पे छाप कर किये गये हैं या सीधे पात्र पर ही उन्हें मोटे कलम की सहायता से खचित किया गया है। कुछ भाण्डों को रंग के माध्यम से चित्र-खचन पद्धति से भी अलंकृत किया गया है। इस प्रकार गुप्त-कालीन कुम्भकार चित्र और मूर्ति दोनों की तकनीकों से परिचित थे। मृण्भाण्डों का निखरा रूप राजघाट, अहिच्छत्रा, शाकम्बरी आदि स्थानों से प्राप्त मृण्भाण्डों के टोटियों में देखने में आता है। कुम्भकारों ने उन्हें, मकरमुख, वराहमुख, हस्तिमुख, सिंहमुख आदि विविध पशुओं के मुखों के रूप में बनाया है; उनमें उतनी ही सजीवता है जितनी सजीवता के साथ मिट्टी के खिलौने बनाने वालों ने पशुओं का मूर्तन किया था। जलपात्रों के हत्थों पर भी गंगा की मूर्तियों का अंकन मिलता है।

हमारे पुरातत्वविदों का ध्यान प्रागैतिहासिक भाण्ड-खण्डों के ढूँढ़ने, पहचानने और अध्ययन करने में इतना अधिक लगा हुआ है कि उन्हें ऐतिहासिक काल के भाण्डों और भाण्ड-खण्डों के व्यवस्थित अध्ययन करने का अवकाश ही नहीं है। जिन पुरातत्वविदों को इसका अवसर और अवकाश है भी, वे ऐतिहासिक काल के भाण्डों के अध्ययन के महत्व को समझने में असमर्थ हैं और उसके अध्ययन की आवश्यकता नहीं समझते। इस कारण अभी तक मृत्भाण्डों के विकास का कोई सम्यक् इतिहास उपलब्ध नहीं है। अहिच्छत्रा के उत्खनन के आधार पर गंगा-यमुना कांठे के मृत्भाण्डों का सामान्य परिचय प्राप्त किया जा सकता है। उसके अनुसार गुप्तकालीन अधिकांश मृत्भाण्ड चाक पर बनाये गये हैं और उनमें कुण्डे, मटके, तश्तरियाँ, कटोरियाँ, सुराहियाँ आदि छोटे-बड़े सभी प्रकार के प्रयोग में आने वाले बर्तन हैं। वे सभी लाल रंग के हैं और उन पर लाल अथवा भूरे रंग की हलकी रंगाई हुई है। लाल रंग वाले कुछ बर्तनों का बाहरी भाग इतना चिकना है कि लगता है कि उन पर किसी प्रकार की पालिश की गयी थी। इनके निर्माण में सामान्य मिट्टी का ही प्रयोग हुआ है। किन्हीं-किन्हीं भाण्डों में चमक की दृष्टि से मिट्टी में अभ्रक का चूर भी मिलाया गया जान पड़ता है।

वास्तु-कला

विगत सौ-डेढ़ सौ वर्षों से इस देश में प्राचीन स्थलों के ध्वंसावशेषों के उत्खनन का कार्य होता चला आ रहा है, पर हमारे पुरातत्वविद् किसी नगर अथवा नगर के भीतर स्थित नागरिक आवासों और राजप्रासादों के रूप-स्वरूप को उपस्थित करने में

असमर्थ रहे हैं। उत्खननों में वास्तुओं के जो अवशेष मिलते हैं, उनके सहारे हमारे पुरातत्त्वविदों ने तत्कालीन जन-जीवन का कोई ऐसा चित्र उपस्थित नहीं किया है, जैसा कि उपस्थित करने में अन्य देशों के पुरातत्त्वविद समर्थ हो सके हैं। हमारे यहाँ अभी सर्जनात्मक पुरातत्त्व की कोई कल्पना नहीं की जा सकी है। अतः प्राचीन नागरिक जीवन की चर्चा का मुख्य आधार साहित्य ही है। गुप्तकालीन नगर और निवासों की चर्चा कालिदास के आधार पर ही कुछ किया जा सकता है। अस्तु,

दुर्ग और नगर—नगरों, सैनिक छावनियों और राजप्रासादों की सुरक्षा के लिए दुर्गों के निर्माण की परम्परा भारत में अति प्राचीन काल से चली आती रही है। वैदिककालीन साहित्य में तो उसकी चर्चा है ही, हड़प्पा संस्कृति के उत्खनन से भी उनके अवशेष प्रकाश में आये हैं। ऐतिहासिक काल के दुर्ग का प्राचीनतम अवशेप राजगृह में पत्थरों से बने प्राचीर के रूप में प्राप्त हुए हैं। पाटलिपुत्र के दुर्ग के जो कुछ थोड़े-बहुत चिह्न मिले हैं, उनसे ऐसा जान पड़ता है कि दुर्ग-प्राचीरों के निर्माण में लकड़ी का प्रयोग किया गया था। कौशाम्बी और राजघाट (काशी) के उत्खननों से भी प्राचीन दुर्ग के कुछ चिह्न मिले हैं किन्तु उनसे दुर्गों का पूर्ण स्वरूप सामने नहीं आता। साहित्य में प्राप्त उल्लेखों में भी इस सम्बन्ध में कुछ अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती। कालिदास ने दुर्गों की जो चर्चा की है, उनसे ज्ञात होता है कि गुप्तकाल में नगरों की रक्षा के निमित्त दुर्ग थे। किन्तु यह नहीं जाना जा सकता कि वे दुर्ग गुप्तकाल में बने अथवा पहले के बने थे। गुप्त शासकों ने कोई दुर्ग बनवाया हो, इसका भी कोई उल्लेख कहीं प्राप्त नहीं होता। तथ्य जो भी हो, तत्कालीन दुर्ग मिट्टी अथवा ईंट के बने चौड़ी दीवारों के रूप में थे; उन पर जगह-जगह बुर्जियाँ बनी होती थीं और उनके बाहर चारों ओर चौड़ी खाइयाँ पानी से भरी रहती थीं।

एरण गुप्तकालीन नगर था, ऐसा वहाँ उपलब्ध अवशेषों से ज्ञात होता है। कनिंगहम को वहाँ काफी दूर तक दुर्ग के अवशेष मिले थे। उनसे ज्ञात होता है कि आरम्भ में नगर को वीणा नदी के तट पर इस प्रकार बसाया गया था कि नदियाँ ही दुर्ग के लिए खाई का काम दें। तीन ओर से वह वीणा नदी से घिरा हुआ था, चौथी ओर दो अन्य छोटी नदियाँ थीं, जो नगर के पश्चिम भाग में बहती थीं और वीणा नदी में गिरती थीं। नदियों द्वारा बने इस प्राकृतिक खाई के भीतर दुर्ग का जो प्राचीर रहा होगा, उसका वह भाग जो वीणा नदी को छूता था, कदाचित् कालान्तर में नदी में ढह कर नष्ट हो गया। उसके दक्षिणी-पश्चिमी भाग के ही अवशेष कनिंगहम को देखने को मिले थे। उन्होंने इन अवशेषों का अपनी रिपोर्ट में संलग्न मानचित्र में जो अंकन किया है,[१] उससे ज्ञात होता है कि नदी के किनारे के दुर्ग के प्राचीर कदाचित् एकदम सीधी दीवारों के रूप में रहे होंगे। इसका अनुमान उत्तर-पश्चिमी भाग में उपलब्ध सीधी दीवार के अवशेषों से किया जा सकता है। दक्षिण-पश्चिम की ओर का जो अंश

---

१. क० आ० स० रि०, १०, फलक २३।

वीणा नदी की परिधि से बाहर था, वहाँ दीवारों में थोड़ी-थोड़ी दूर पर घुमाव दिया गया है। इन घुमावदार भाग में कदाचित् ऊँची गोल बुर्जियाँ रही होंगी। इस विस्तृत प्राचीर के भीतर दक्षिणी कोने पर एक दूसरा छोटा प्राचीरों का घेरा था, कदाचित् यह घेरे के भीतर राजप्रासाद अथवा सैनिक छावनी का रहा होगा। इस दुर्ग से बाहर कुछ हटकर ही गुप्तकालीन मन्दिरों के अवशेष मिले हैं; इससे ऐसा अनुमान होता है कि उस समय लोग दुर्ग के बाहर भी बसते थे।

सामान्यतः दुर्ग के भीतर नगर होता था। नगर में सड़कें समानान्तर एक-दूसरे को काटती हुई सर्वत्र फैली रहती थीं। कालिदास ने सड़कों का उल्लेख राजपथ, राजवीथी, वणिक्पथ, पण्यवीथी आदि नामों से किया है। सम्भवतः राजपथ और राजवीथी नगर की प्रमुख सड़क अथवा राजप्रासाद की ओर जानेवाली सड़क को कहते थे। वणिक्पथ और पण्यवीथी बाजार के बीच से जानेवाली सड़कें कही जाती रही होंगी; और इनके दोनों ओर दूकानें होती होंगी।

नगर में लोगों के अपने वर्ण अथवा पेशे के अनुसार मुहल्ले होते थे, ऐसा तत्कालीन साहित्य से ज्ञात होता है। इस प्रकार की पद्धति देश में बहुत काल तक चलती रही। यह आज भी मुहल्लों के नामों में परिलक्षित होता है।

सामान्य नागरिकों के आवास उनकी आर्थिक स्थिति अथवा सामाजिक सामर्थ्य के अनुसार छोटे-बड़े हुआ करते थे। सामान्यतः वे आकृति में चौकोर होते थे। उनके भीतर बीच में आँगन होता और आँगन के चारों ओर बरामदा और बरामदे के बाद कमरे होते, जो आवश्यकता और सुविधा के अनुसार सोने, रहने, रसोई बनाने, सामान रखने, स्नान करने आदि के काम आते थे। कमरों में तोरणयुक्त द्वार और खिड़कियाँ होती थीं और आवश्यकता अनुसार उनमें बारजे भी होते। घर का मुख्य द्वार सड़क या गली में निकलता था।

राजप्रासाद—साहित्यिक उल्लेखों से ऐसा जान पड़ता है कि राजप्रासाद कई मंजिलोंवाले, ऊँचे और आकार में काफी विशाल होते थे।[१] उनके लिए सौध, हर्म्य, विमानप्रतिच्छन्द, मेघप्रतिच्छन्द, देवच्छन्दक आदि नामों का प्रयोग साहित्य में हुआ है। ये राजप्रासादों के विविध रूपों के बोधक जान पड़ते हैं। कालिदास ने ऊँचे प्रासादों का उल्लेख **सौध** और **हर्म्य** नाम से किया है। कुछ लोगों की धारणा है कि सौध सुधा (चूना) से पलस्तर किये हुए भवन को कहते थे। मानसार में **हर्म्य** को सात तल्लोंवाला कहा गया है। **विमानप्रतिच्छद** (विमानच्छन्द) मत्स्यपुराण के अनुसार आठ तल्लोंवाला, अनेक बुर्जियों से युक्त चौतीस हाथ चौड़ा प्रासाद होता था। **मेघप्रतिच्छन्द** का ही सम्भवतः मानसार में **मेघकान्त** नाम से उल्लेख हुआ है। यह दस तल्लोंवाला प्रासाद कहा गया है। **देवच्छन्दक** भी इसी प्रकार का कोई प्रासाद रहा होगा। इन राजप्रासादों की ऊँचाई का उल्लेख अभ्रलिह (गगनचुम्बी) आदि

१. रघुवंश १४।२९; मेघदूत २।१।

शब्दों से किया गया है। नीचे से विभिन्न तलों में जाने के लिए सीढ़ियाँ (सोपान) होती थीं।[1] राजप्रासादों का सबसे ऊपरी भाग खुली छत के रूप में होता था, उसे **विमानाग्रभूमि, पृष्ठतल** आदि कहा जाता था। वहाँ से चन्द्रशोभा भली प्रकार देखी जा सकती थी।[2] गर्मियों में लोग सम्भवतः इन खुली छतों पर सोते थे।[3]

राजप्रासाद सामान्यतः दो भागों में बँटा होता था। भीतरी भाग अन्तःपुर (हरम) कहलाता था; वहाँ राजनारियाँ रहती थीं और शयनागार होता था। बहिर्भाग में आँगन, सभा-गृह, चित्रशाला, संगीतशाला. यज्ञशाला, पशुशाला, कारागृह आदि होता था।

एक विशेष प्रकार के राजप्रासाद का उल्लेख मत्स्यपुराण, भविष्यपुराण और बृहत्संहिता तथा अन्य साहित्य ग्रन्थों में **समुद्रगृह** के नाम से हुआ है। ऐसा ज्ञात होता है कि वह ग्रीष्म काल के उपयोग के लिए शीत-प्रासाद था। प्राचीन नाटककारों ने कामदग्ध प्राणियों को इसी भवन में जाने की बात कही है।[4] इस प्रकार के भवनों के चारों ओर यन्त्रधाराएँ (फव्वारे) चलती रहती थीं जिससे प्रासाद का वातावरण शीतल रहता था। मत्स्यपुराण के अनुसार यह भवन दुतल्ला और सोलह पहलवाला होता था।[5] सम्भवतः ये समुद्र-गृह सावन-भादों के महल कहे जानेवाले मध्यकालीन राजप्रासादों के ही रूप होंगे। रघुवंश में कालिदास ने ऐसे धारागृहों का उल्लेख किया है जहाँ धनिक लोग यन्त्रचालित, शीतल, चहुँ ओर चन्दन से धवल विशिष्ट शिलाओं पर सो कर गर्मी के दिन बिताते थे। यह कदाचित् समुद्रगृह का ही कोई रूप रहा होगा। कुछ ऐसे भी उल्लेख हैं जिनसे अनुमान होता है कि आज की भाँति ही स्नानगृहों में नलों—यन्त्र से चलनेवाली जल-धाराओं का प्रयोग होता था।

प्रासादों की खिड़कियों के लिए वातायन, आलोकमार्ग, जालमार्ग, गवाक्ष आदि अनेक नाम मिलते हैं। **वातायन** का सामान्य अर्थ ऐसी खिड़की होती है, जिससे वायु का प्रवेश कमरे के भीतर होता हो; पर कुछ लोग इसका तात्पर्य बड़ी खिड़की मानते हैं। **आलोकमार्ग** कदाचित् झरोखे को कहते थे, जहाँ बैठकर बाहर का दृश्य देखा जा सकता रहा होगा। **जालमार्ग** उन खिड़कियों को कहते रहे होंगे जिनमें कटावदार जालियाँ होती होंगी। **गवाक्ष** नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि उसका आकार गाय अथवा बैल के नेत्र की तरह होता था।

उद्यान और दीर्घिका—राजप्रासादों से लगी हुई वाटिका होती थी, जिसे साहित्यकारों ने **प्रमदवन** की संज्ञा दी है। वहाँ राजा इच्छानुसार अपना मनोरंजन किया

---

१. विक्रमोर्वशीय, पृ० १९६।

२. वहीं, पृ० १९६-९७।

३. ऋतुसंहार, १।२८।

४. मालविकाग्निमित्र, पृ० ३२४।

५. मत्स्यपुराण, २६९।३८।५३।

करता था।[१] इस प्रमदवन में जाने का मार्ग राजप्रासाद से लगा हुआ होता था। कदाचित् उसमें जाने के लिए गुप्त मार्ग भी होता था ताकि राजा सबकी आँख बचाकर जा सके।[२] इस वन में नाना प्रकार के पुष्प, लताकुंज, वृक्ष होते थे और उसमें बैठने के लिए शिला-फलक रहते थे। सरोवर, फौव्वारों की व्यवस्था होती थी और उनमें अनेक प्रकार के पक्षी भी रहते थे।

प्रमदवन की तरह ही सामान्य नागरिकों के लिए भी प्राचीन काल में सार्वजनिक उद्यान होते थे जो नगर से बाहर होते थे और वे दूर तक फैले रहते थे। इनमें वापी, कूप, दीर्घिका आदि होते थे। दीर्घिकाओं में जल से लगी और जल के भीतर से उठती ढाल पर छिपे कमरे होते थे जिनमे श्रीमन्त लोग जलक्रीड़ा के समय विहार किया करते थे। नवाब वाजिद अली शाह ने लखनऊ की चित्रशाला से लगी तालाब मे इस प्रकार के कमरे बनवाये थे। उन दिनों उद्यानों मे क्रीड़ाशैल (नैकली पर्वत–राकरी) भी हुआ करते थे ऐसा मेघदूत से ज्ञात होता है। उसमें अलका में कदलीवेष्ठित वापी से लगे क्रीड़ाशैल का उल्लेख हुआ है। इन उद्यानों में कदाचित् वारियन्त्र (फौव्वारों) की भी व्यवस्था होती थी, जिनका जल पनालियों के रास्ते बाहर निकलता था और क्यारियों के सींचने के काम आता था।

चीनी यात्री फाह्यान ने मथुरा के मार्ग से जाते हुए खेतों, मकानों, उद्यानों और बगीचों का उल्लेख किया है। वैशाली में उन्होंने नगर के दक्षिण, सड़क से पश्चिम उद्यान देखे थे। पाटलिपुत्र में अशोक के राजप्रासाद और सभा-गृह आदि के देखने की बात उन्होंने कही है और कहा है कि वे बड़ी सुघरता के साथ अलंकृत थे और उनपर काफी मृतन हुआ था। किन्तु उसके कथन से यह स्पष्ट नहीं होता कि अशोक के इन राज-प्रासादों का ही उपयोग गुप्त सम्राट् कर रहे थे अथवा उनका अपना कोई निजी राज-प्रासाद भी था।

गुप्तकालीन नगरों के स्वरूप की चर्चा गुप्त सम्राटों के अभिलेखों मे तो नहीं है पर मध्यप्रदेश के समकालिक नरेशों के कतिपय अभिलेखों में हल्का-सा उल्लेख हुआ है। विश्ववर्मन के गंगधर अभिलेख में गर्गर नदी के तट पर स्थित नगर के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह सिंचाई के कुओं, तालाबों, मन्दिरों, वापी और उद्यानों और दीर्घिकाओं से अलंकृत था। प्रथम कुमारगुप्त और बन्धुवर्मन के मन्दसोर अभिलेख में दशपुर के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह कदली वनों से अलंकृत था। घरों के सम्बन्ध में कहा गया है कि धवल और बहुत ऊँचे और कई तल्लों के थे। इनसे साहित्यिक उल्लेखों का समर्थन होता है।

नागरिक वास्तुओं का कोई गुप्तकालीन चित्र अथवा उचित्र उत्तर भारत में उपलब्ध नहीं है जिससे मूल वास्तु स्वरूपों के अभाव में इन मौखिक कथनों का दृश्य-समर्थन प्राप्त हो; किन्तु दक्षिण में अमरावती और नागार्जुनीकोंडा में गुप्तकाल से कुछ

१. अभिज्ञानशाकुन्तल, पृ० १०७; विक्रमोर्वशीय, पृ० १७२।
२. मालविकाग्निमित्र, पृ० ३२२।

पूर्व के उच्चित्रण उपलब्ध हुए हैं, उनमें राजप्रासादों का अंकन देखने को मिलता है। उनसे राजप्रासादों के अनेक तल्लेवाले होने की बातों का समर्थन होता है और उनकी भव्यता परिलक्षित होती है। उनसे तोरणयुक्त खिड़कियों, अनेक प्रकार के बारजों, खम्भों आदि का परिचय मिलता है। उनमें छतें कुब्ज-पृष्ठ, चौकोर, गाल कई रूपों में अंकित हुई हैं। छत और बारजे खुले और ढके दोनों प्रकार के हैं। उनसे प्रासादों के बाहर चहारदीवारी होने का भी पता मिलता है। उनमें तोरणयुक्त प्रवेशद्वार होते थे। किन्तु समसामयिक अजन्ता के चित्रों में राजप्रासादों का इस प्रकार का कोई अंकन कहीं भी दिखाई नहीं पड़ता। उनमें तो राजसभा के रूप में चार स्तम्भों पर खड़े मण्डपों का ही अंकन हुआ है। कदाचित् ये समसामयिक राजप्रासादों की अपेक्षा उस काल के स्थापत्य के प्रतीक हों, जिस काल की कथा को चित्रकारों ने अङ्कित किया है।

धार्मिक वास्तु—गुप्तकालीन नागरिक वास्तुओं की अपेक्षा धार्मिक वास्तुओं के अवशेष अधिक मात्रा और ठोस रूप में उपलब्ध हैं। ये वास्तु दो परम्पराओं में विभक्त हैं। एक तो पश्चिमी और दक्षिणी भारत में पहले से प्रचलित परम्परा के क्रम में है जिनमें पर्वतों को काट कर बनाये गये लयण वास्तु हैं; दूसरी परम्परा चिनाई द्वारा ईंट और पत्थर के वास्तु निर्माण की है।

लयण-वास्तु—पर्वतों को काट कर लयण (गुहा) बनाने की परम्परा का आरम्भ भारत में मौर्य काल में हुआ था। उस समय बिहार प्रदेश में बड़ाबर की पहाड़ियों में अशोक और उसके पौत्र दशरथ ने अनेक लयण बनवाये थे। इस परम्परा का जन्म यद्यपि उत्तर भारत—बिहार में हुआ था पर विकास दक्षिण और पश्चिम भारत में ही हुआ। यह परम्परा लगभग आठवीं शती ई० तक इस देश में जीवित रही। इस परम्परा के जो वास्तु बने वे मुख्यतः बौद्ध हैं। बौद्ध-धर्म में प्रव्रज्या पर जोर दिया गया है। बौद्ध-भिक्षुओं को ऐसे स्थानों की आवश्यकता थी जो जन-कोलाहल से दूर हों। अतः उन्होंने प्राचीन ऋषि-मुनियों का अनुकरण किया। जिस प्रकार प्राचीन ऋषि-मुनि गिरि-गुफाओं और कन्दराओं में रहते थे, उसी प्रकार बौद्ध भिक्षुओं ने भी अपने निवास के लिए विहार (संघाराम) और उपासना के लिए चैत्य, जंगलों के बीच, नदी के किनारे स्थित पर्वतों को काटकर लयण के रूप में बनाये।

चैत्य (बौद्ध-संघ का पूजागृह) शब्द के मूल में चि धातु है जिसका अर्थ है 'चयन' अथवा 'राशि एकत्र करना'। इससे वेदिका के अर्थ में 'चित्य' बना और फिर 'चैत्य' के रूप में वह महान् व्यक्तियों के स्मारक तथा देवालय के अर्थ में प्रयोग में आने लगा। पश्चात् वह बौद्ध-संघ के पूजागृह के अर्थ में रूढ़ हो गया। यह सामान्यतः एक लम्बोतरा वास्तु था जिसका पिछला भाग गोल होता था और गोलवाले भाग के बीच में पूजा के निमित्त स्तूप अथवा बुद्ध की प्रतिमा होती थी। उसके चारों ओर एक प्रदक्षिणा पथ होता था। इन चैत्यगृहों की छत प्रायः कुब्जपृष्ठ होती थी। इनका

निर्माण विहार (संघारामों) के साथ ही किया जाता था। संघ की बैठकों में सम्मिलित होने अथवा वर्षावास करने जब भिक्षु विहारों में एकत्र होते तो उन्हें उपासना के लिए चैत्य-गृहों की आवश्यकता होती थी। इसी प्रकार विहार भी मात्र भिक्षुओं के निवास-स्थान न थे। वे निवास-स्थान के साथ-साथ श्रवण-वाचना और संघ की परिषदों के लिए मण्डप का भी काम देते थे।

इस प्रकार के जो लयण चैत्य और विहार गुप्तकाल में बने वे अधिकांशतः गुप्त साम्राज्य के बाहर—अजन्ता, वेरूळ[1] (इलोरा) और औरंगाबाद में हैं। गुप्त साम्राज्य के भीतर इस परम्परा के लयण केवल मध्यप्रदेश में बाघ नामक स्थान पर देखने में आते हैं। बौद्धों की इस वास्तु परम्परा का अनुकरण ब्राह्मण और जैन-धर्म के माननेवालों ने कदाचित् गुप्तकाल में करना आरम्भ किया। उनके बनाये लयण वेरूर (इलोरा) में काफी संख्या में देखने में आते हैं। पर गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत उन्होंने प्रारम्भिक प्रयोग मात्र ही किया। इस प्रकार के लयण मध्यप्रदेश में विदिशा के निकट उदयगिरि में ही अब तक जाने गये थे। उनमें प्रायः सभी ब्राह्मण हैं केवल एक जैन है। इस प्रकार का एक ब्राह्मण लयण गुप्तकाल में बिहार में भी बना था। यह लयण भागलपुर जिले में मन्दारगिरि पर है। पर उसकी ओर अभी तक पुरातत्त्वविदों का ध्यान नहीं गया है। उसकी चर्चा पहली बार यहाँ की जा रही है। सम्भव है, इस प्रकार के कुछ लयण और भी हों, जो अभी अज्ञात हैं।

अजन्ता के लयण—अजन्ता स्थित लयणों की संख्या २९ है। उनमें से पाँच तो ईसा पूर्व की शताब्दियों के हैं। शेष का निर्माण विवेच्यकाल में हुआ है। इन गुप्तकालीन चैत्यों में दो (लयण १९ और २६) चैत्य और शेष सब विहार हैं। चैत्यों में लयण १९, लयण २६ से पहले का बना प्रतीत होता है। ये चैत्यगृह अपनी सामान्य रूपरेखा में गुप्त-पूर्व के चैत्यों के समान ही हैं। कुब्जपृष्ठ के नीचे दोनों ओर पंक्तिबद्ध स्तम्भ टोड़ों के ऊपर छत को उठाये पूरी गहराई तक चले गये हैं और स्तूप के पीछे अर्ध-वृत्त बनाते हैं। स्तूप गर्भभूमि पर हर्मिका और छत्रावली के साथ खड़ा है। इन चैत्यों की उल्लेखनीय बात यह है कि पूर्ववर्ती चैत्यों के भीतर-बाहर कहीं भी बुद्ध मूर्ति का उच्चित्रण नहीं हुआ था। इन गुप्तकालीन चैत्यों के भीतर-बाहर अनेक स्थलों पर बुद्ध की मूर्ति का उच्चित्रण हुआ है; स्तूप में भी सामने की ओर उनकी मूर्ति उकेरी गयी है।

विहारों में गुप्तकालीन प्राचीनतम विहार ११, १२ और १३ कहे जाते हैं; उनका समय ४०० ई० के आसपास अनुमान किया जाता है। १६वीं लयण का निर्माण वाकाटक नरेश हरिषेण के मन्त्री ने और लयण १७ को उनके एक माण्डलिक सामन्त ने कराया था। इनका समय ५०० ई० के आसपास है। लयण १ और २, ६०० ई०

---

१. इलोरा का मूल नाम वेरूळ है; किन्तु यह नाम भुला-सा दिया गया है। इलोरा नाम ही अधिक प्रसिद्ध है।

के आसपास बने होंगे। १६वें और १७वें लयण की ख्याति मुख्य रूप से अपने चित्रों के कारण है; किन्तु वास्तु-कला की दृष्टि से भी वे उतने ही महत्त्व के हैं। लयण १६, ६५ फुट वर्गाकार २० स्तम्भों का मण्डप है, जिसके अगल-बगल भिक्षुओं के रहने की ६-६, बरामदे के दोनों सिरों पर दो-दो और पीछे दो कोठरियाँ हैं। पीछे की दो कोठरियों के बीच में एक चौकोर गर्भगृह है जिसमें बुद्ध की प्रलम्बपाद (पैर नीचे किये) मूर्ति है। स्तम्भों का सौन्दर्य अवर्णनीय है। उनमें कोई भी एक-सा नहीं है फिर भी उनमें ऐसी समन्वयता है कि उनकी विविधता किसी प्रकार खटकती नहीं। लयण १७ भी लयण १६ के समान ही है। इन दोनों लयणों की दीवारों पर बुद्ध और जातक कथाओं के चित्र अंकित किये गये थे और छतें बहुविध चित्रों से अलंकृत थीं। इनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। लयण २ का मण्डप समस्त लयणों के मण्डपों से बड़ा है, वह ८७ फुट वर्गाकार है और उसमें २८ स्तम्भ हैं। अन्य लयणों में केवल लयण २४ ही उल्लेखनीय है, इसका मण्डप ७५ फुट वर्ग मे है और उसमें २० स्तम्भ हैं। कदाचित् पल्लव नरेश नरसिंहवर्मन् द्वारा चालुक्य-नरेश पुलकेशी के पराजय के पश्चात् सातवीं शती के मध्य में लयणों का निर्माण अजन्ता में समाप्त हो गया।

इलोरा (वेरूळ) के लयण—अजन्ता से प्रायः ७५ मील दूर सह्याद्रि की पर्वत-शृंखला में वेरूळ (इलोरा) के लयण हैं। इस समूह में बौद्ध, ब्राह्मण और जैन तीनों ही धर्मों से सम्बन्धित लयण हैं। किन्तु बौद्ध लयण अन्य दो धर्मों के लयणों से पहले के हैं। ये बौद्ध-लयण शृंखला में दक्षिणी छोर पर स्थित हैं और संख्या में १२ हैं। उनका निर्माण काल ५५० और ७५० ई० के बीच आँका जाता है। इन १२ लयणों में से केवल ५, जो प्राचीनतम हैं, गुप्तकाल के हैं। पाँचवें लयण के अतिरिक्त अन्य सब लयण अजन्ता के लयण-विहारों के समान ही वर्गाकार है। लयण ५ वर्गाकार न होकर आयताकार है। वह लम्बाई मे ११७ फुट और चौड़ाई में ७० फुट है। मण्डप के भीतर गर्भ-भूमि तक दोनों ओर स्तम्भों की पाँत चली गयी है।

औरंगाबाद के लयण—औरंगाबाद के लयण भी अजन्ता और इलोरा के लयणों की शृंखला मे ही हैं। यहाँ उनकी संख्या १२ है; उनमें एक चैत्य और शेष विहार है। चैत्य का निर्माणकाल तीसरी शती ई० और विहारों का छठी शती ई० कहा जाता है। ये सभी अजन्ता के लयणों के समान ही बने है पर आकर्षणहीन हैं। उनमें कोई उल्लेखनीय विशेषता परिलक्षित नहीं होती। लयण ३ में उचित्रित दम्पती दर्शकों को अवश्य अपनी ओर आकृष्ट करते हैं।

बाघ के लयण—बाघ के लयणों की संख्या ९ है और वे सभी संघाराम (विहार) रहे हैं।[1] उपलब्ध संकेतों से ऐसा अनुमान होता है कि उनका निर्माण ५०० और ६०० ई० के आसपास हुआ होगा; किन्तु यह कहना कठिन है कि वे गुप्त सम्राटों की

---

१. द बाघ केव्ज, पृ० ६-१६।

छत्रछाया में निर्मित हुए अथवा उनका निर्माण वाकाटक अथवा अन्य किसी शासक के अन्तर्गत।

जिस पर्वत-शृंखला में इन लयणों का निर्माण हुआ है उसका पत्थर बहुत ही नरम किस्म का है; परिणामस्वरूप वहाँ के तीन लयण (लयण ७, ८, ९) तो एकदम नष्ट हो गये हैं। लयण ७ के सम्बन्ध में इतना अनुमान किया जा सकता है कि वह लयण २ की अनुकृति ही रहा होगा और उसके स्तम्भ तथा स्तूप अन्य लयणों सरीखे ही रहे होंगे। अन्य दो लयणों के सम्बन्ध में तो इतना भी नहीं कहा जा सकता। शेष लयणों में लयण १ के सामने का मण्डप, जिसमें प्रवेश द्वार था, नष्ट हो गया है। मूल लयण २३ फुट लम्बा और १४ फुट चौड़ा कमरा सरीखा है जिसमें चार स्तम्भ हैं, और उनकी भी हालत खस्ता है; अतः इसके सम्बन्ध में कुछ भी कथनीय नहीं है।

लयण २, जिसे लोग पाण्डवों की गुफा के नाम से पुकारते हैं, सब गुफाओं में अधिक सुरक्षित है और देखने में भी भव्य है। इसके वाह्य में स्तम्भयुक्त मण्डप है, उसके दो ओर छोटी-छोटी कोटरियाँ हैं। पीछे की ओर स्तूप (चैत्य) गृह है और सामने स्तम्भ युक्त बरामदा इस प्रकार यह लगभग डेढ़ सौ फुट लम्बा है। सामने का बरामदा गिर गया है, उसके छः अटपहल स्तम्भों के केवल निचले अंश बच रहे हैं। बरामदे के सामने दायें मूर्तियों के लिए रथिकाएँ (आले) बनी हुई हैं; एक में तो मूल मूर्ति अब भी है किन्तु पहचानी नहीं जाती, दूसरी में किसी ने गणेश की मूर्ति लाकर रख दी है। बरामदे से मण्डप के भीतर जाने के लिए तीन दरवाजे हैं और उन दरवाजों के बीच की जगह में हवा और रोशनी जाने के लिए दो खिड़कियाँ हैं।

भीतर मण्डप और कोटरियों के बीच चारों ओर बीस स्तम्भ हैं और चार कोनों पर चार अर्ध स्तम्भ। इन स्तम्भों के नीचे एक पतला-सा चौकोर पीठ है, उसके ऊपर कण्ठ है और कण्ठ के ऊपर चार फुट तक स्तम्भ सपाट चौपहल है; उसके ऊपर के भाग के रूपों में भिन्नता है। कुछ अटपहले, कुछ सोलह पहले कुछ बीस पहले और कुछ चौबीस पहले हैं, कुछ में चक्करदार लहरिया है, कुछ अन्य रूप लिये हुए है, और तब टोड़ा (ब्रैकेट) है। मण्डप के बीच में भी चार स्तम्भ हैं। अजन्ता, वेरूळ (इलोरा) आदि में, जहाँ के पत्थर अच्छे किस्म के हैं, इससे बड़े-बड़े मण्डप बिना किसी स्तम्भ के सहारे के बने हैं। यहाँ इन अतिरिक्त स्तम्भों की आवश्यकता कमजोर किस्म के पहाड़ होने के कारण छत का बोझ सँभालने के लिए हुई। इसे बाघ के लयणों की नवीनता अथवा विशेषता कह सकते हैं।

अगल-बगल की कोठरियाँ संख्या में बीस हैं। और वे सभी लगभग आठ फुट लम्बी तथा उतनी ही चौड़ी और ऊँची है। उनके भीतर दीपक रखने के स्थान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पूरब के कोने की एक कोटरी से लगी दो अधबनी कोठरियाँ और हैं। उत्तर के कोने की तीन कोटरियों के पीछे भी कुछ ऊँचाई पर कुछ और कोठरियाँ हैं जो कदाचित् दूसरे लयण की होगी पर उनका लगाव इस लयण से

भी जान पड़ता है। पीछे के चैत्यगृह के सामने एक छोटा सा मण्डप है, जिसमें बड़े मण्डप की ओर दो स्तम्भ हैं। इस छोटे मण्डप की दीवारों पर मूर्तन हुआ है। चैत्य-गृह के द्वार के अगल-बगल एक-एक द्वारपाल और बगल की दीवारों पर बुद्ध और उनके साथ दो अन्य आकृतियाँ उचित्रित हैं। चैत्यगृह में पर्वत काट कर ही स्तूप बनाया गया है जो छत से लगा हुआ है।

तीसरा लयण, जो हाथीखाना के नाम से प्रसिद्ध है, संयोजन में दूसरे लयण से सर्वथा भिन्न है। इसमें प्रवेश मण्डप के सामने आठ अठपहल स्तम्भ से युक्त एक लम्बा मण्डप है और उसके पीछे एक दूसरा मण्डप है; वह भी आठ स्तम्भों पर खड़ा है। सामनेवाले प्रवेश-मण्डप और उससे लगे मण्डप के दोनों ओर कोठरियाँ रही होंगी; किन्तु एक ओर की कोटरी के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता, दूसरी ओर की कोटरियों को दो विभागों में बाँटा गया है। प्रवेश-मण्डप से लगी कोठरियाँ संख्या में तीन हैं और तीन दिशाओं में बनी हैं और गलियारों द्वारा एक-दूसरे से अलग की गयी हैं। इसी प्रकार भीतरवाले मण्डप से लगी पाँच कोठरियाँ हैं। वे भी एक-दूसरे से अलग हैं। अन्तिम मण्डप के साथ कोई कोटरी नहीं है। इस प्रकार इस लयण की बनावट सामान्य विहारों (संघारामों) से भिन्न है।

चौथा लयण, जो रंगमहल कहलाता है, कदाचित् सब लयणों से सुन्दर रहा होगा। यह तीसरे लयण से लगभग २५० फुट हट कर है पर पाँचवीं लयण से सटी हुई है। इन दोनों लयणों के सामने एक संयुक्त खुला बरामदा था। इस बरामदे में २२ स्तम्भ थे। पर स्तम्भ और मण्डप के छत का अधिकांश भाग गिर गया है, केवल दोनों कोने के अर्ध-स्तम्भ बच रहे हैं। यह लयण, लयण २ के अनुरूप ही है। उसी की तरह सामने तीन द्वार और दो खिड़कियाँ हैं, उसी की तरह का स्तम्भयुक्त मण्डप भी है, अगल-बगल कोटरियाँ हैं और पीछे की ओर चैत्यगृह है। इस लयण का मुख्य मण्डप ९४ फुट॰ लम्बा है और इसमें ३८ स्तम्भ हैं, इस प्रकार यह लयण २ से बड़ा है; इसमें कोटरियों की संख्या भी अधिक है। इसमें उनकी संख्या २८ है। इसमें चैत्यगृह से लगी कोटरी के पीछे एक और कोटरी है, इसी प्रकार दक्षिणी कोने की कोटरी के पीछे भी एक दूसरी कोटरी है। यह दूसरी कोटरी पहली कोटरी के फर्श से नीचे है। मुख्य मण्डप में छत को सँभालने के लिए लयण २ के समान बीच में चार स्तम्भ तो हैं ही, साथ ही उसके तीन ओर दो-दो स्तम्भ और हैं वे जिनपर कोटरियों के सामने के बरामदों से आगे की ओर निकले हुए छज्जे टिके हुए हैं। इन छज्जों पर मानवमुखयुक्त गवाक्षों का उच्चित्रण हुआ है; इस लयण के स्तम्भ दूसरे लयण के स्तम्भों की तरह ही है, पर अधिक विभिन्नताओं से भरे हैं। इनके शीर्ष कल्पित और वास्तविक पशुओं से उच्चित्रित हैं, कुछ पर सवार भी हैं बाहर बीच के द्वार के ऊपर एक पंक्ति बुद्ध की मूर्तियों की है, उसके नीचे मानवमुखयुक्त गवाक्षों की है। कोनेपर दोनों ओर कुब्जक सहित मकरवाहिनी वृक्षिकाओं की है, जिसने गुप्तकला में आगे चल कर गंगा-यमुना का रूप धारण किया। द्वार के सिरदल और बाजुओं पर लता-

पत्रों का अंकन हुआ है। बाजुओं में सिरदल के क्रम में आते लतापत्र के अतिरिक्त अलंकरणों के तीन पाँत और हैं। भीतर से पहली पाँत अलंकृत रज्जुका की है, उसके बाद अर्धस्तम्भ का अंकन है जिसके नीचे के भाग सादे हैं। ऊपर काफी चौड़ी शीर्ष-पीठ है जिसके ऊपर दो फुल्ल-कमल अंकित हैं। उसके ऊपर कण्ठ पर कलश और उसके ऊपर पुनः तिहरा कण्ठ और एक अर्धकलश है।

पाँचवें लयण का बरामदा चौथे लयण के विस्तार में ही है, यह ऊपर कहा गया है; किन्तु यह स्पष्ट पता नहीं चलता कि चौथे और पाँचवें लयण का निर्माण साथ साथ हुआ था। बरामदे की दीवार के चित्रण से ही दोनों समसामयिक अनुमान किये जा सकते हैं। यह लयण भिक्षुओं के रहने का विहार न होकर कदाचित् सभामण्डप मात्र था। यह ९५ फुट लम्बा और ४४ फुट चौड़ा हाल सरीखा है जिसमें स्तम्भों के दो पाँत हैं। इसके सभी स्तम्भ एक ही ढंग के हैं—गोल और एकदम सादे, ऊपर भी सादा कण्ठ और शीर्ष। इसमें एक प्रवेशद्वार और तीन खिड़कियाँ हैं। वे सब भी सादी हैं। यदि इस लयण में कोई अलंकरण हुआ था तो वह चित्रों के रूप में ही।

छठा लयण पाँचवें लयण के क्रम में ही है। पाँचवें लयण के बरामदे से ही छटे लयण में जाने का एक मार्ग है। यह लयण ४६ फुट का वर्गाकार मण्डप है, सामने बरामदा रहा होगा पर अब उसके कोई चिह्न नहीं हैं। इसमें एक प्रवेश द्वार और उसके अगल-बगल एक-एक खिड़की है। बीच में चार-अठपहल खम्भे हैं। पीछे की ओर तीन कोठरी और एक ओर दो कोठरियाँ हैं। पाँचवीं गुफा में प्रवेश करने के द्वार के अर्धस्तम्भों को छोड़कर इस लयण में कोई अलंकरण ज्ञात नहीं होता।

बाघ के ये लयण अपनी भू-योजना में अजन्ता के संघारामों के सदृश ही कहे जायेंगे किन्तु उनकी अपेक्षा ये बहुत ही सादे हैं। उनसे इनका अन्तर इस बात में भी है कि जहाँ अजन्ता में स्तूपों पर बुद्ध की प्रतिमा का अंकन हुआ है, यहाँ के स्तूपों में उसका अभाव है। अन्य विशेषताओं के रूप में बीच के अतिरिक्त स्तम्भों की चर्चा पहले की ही जा चुकी है।

उदयगिरि के लयण—उदयगिरि विदिशा के निकट, बेसनगर से दो मील दक्षिण-पश्चिम और साँची से ५ मील पर स्थित लगभग डेढ़ मील लम्बी पर्वत-शृंखला है; उसकी अधिकतम ऊँचाई उत्तर-पूर्वी भाग में २५० फुट है। इसके बीच का भाग नीचा है जिसमें पहाड़ के आरपार एक सँकरी गली कटी हुई है। इसे किसी समय फाटक लगाकर बन्द किया जाता रहा होगा। उसके उत्तरी भाग में फाटक के चिह्न अब भी वर्तमान हैं। इस पहाड़ी का पत्थर नर्म और परतदार है और इसी परतदार पत्थर होने का लाभ उठा कर उसके उत्तर-पूर्वी भाग में दस-बारह लयण काटे गये थे।[१] अधिकांशतः बहुत छोटे हैं; किन्तु जो भी लयण है, उनके द्वार के सामने चिनाई कर बरामदे अथवा मण्डप बनाये गये थे। इन लयणों में से दो में द्वितीय चन्द्रगुप्त

१. क० आ० स० रि०, १०, पृ० ४६-५४

के काल के अभिलेख हैं, तीसरे में गुप्त संवत् १०६ का लेख है, उसमें किसी शासक का नाम नहीं है किन्तु उसे प्रथम कुमारगुप्त के काल का कहा जा सकता है।

पहला लयण पहाड़ी की आधी ऊँचाई पर स्थित है। उसे लयण कहना कुछ असंगत लगता है, क्योंकि उसका सामना और एक किनारा चिनाई कर खड़ा किया गया है। उसकी छत प्राकृतिक पर्वत के आगे निकले भाग से बनी है। यह ७ फुट लम्बा और ६ फुट चौड़ा कमरा है। सामने चार खम्भे हैं। बीच में खम्भों में तीन फुट का अन्तर है और इधर-उधर खम्भे केवल एक फुट के अन्तर पर हैं। पीछे की दीवार में पर्वत को कोर कर कोई प्रतिमा बनायी गयी थी, किन्तु अब वह नष्ट हो गयी है केवल एक खड़ी आकृति की रेखा भर बच रही है। दूसरा लयण लगभग भूमितल के निकट है और बहुत कुछ नष्टप्राय है। यह लयण लगभग आठ फुट लम्बा और ६ फुट चौड़ा था। सामने की दीवाल नष्ट हो गयी है किन्तु पर्वत में दो अर्ध-स्तम्भों के चिह्न बच रहे हैं।

तीसरा लयण दूसरे लयण से लगभग ४१ फुट हट कर दायीं ओर है। इस लयण के द्वार के ऊपर वीणावादक के उच्चित्रण के आधार पर कनिंगहम ने इसका उल्लेख वीणा-लयण के नाम से किया है। यह लयण लगभग १४ फुट लम्बा और पौने बारह फुट चौड़ा है और उसमें ६ फुट ऊँचा और सवा दो फुट चौड़ा अलंकृत द्वार है। द्वार के सिरदल और बाजू में अलंकरणों की तीन पाँत हैं। सिरदल के निचली पाँत में पाँच कमल हैं जिनके बीच गोल फलक में आकृति अंकित है। बीचवाले कमल में सिंह, अगल-बगलवाले में मकर और शेष दो में वीणावादक और सितारवादक अंकित हैं। अलंकरण पातों के बाहर अर्ध-स्तम्भों का अंकन हुआ है जिनके ऊपर घण्टाकार शीर्ष है और उनके ऊपर मकरवाहिनी है। भीतर एकमुखी लिंग प्रतिष्ठित है। लयण के सामने चिना हुआ मण्डप था जो अगल-बगल दो छोटे तथा बीच में दो बड़े स्तम्भों के सहारे खड़ा था। यह मण्डप एक अन्य खुले लयण के आगे तक चला गया था। यह खुला लयण सवा दस फुट लम्बा और पौने सात फुट चौड़ा है। उसमें अष्टमातृकाओं का उच्चित्रण हुआ है।

चौथा लयण भी खुला हुआ है और २२ फुट लम्बा, पौने तेरह फुट ऊँचा और केवल तीन फुट चार इञ्च गहरा (चौडा) है। इसकी दीवार पर वराह का सुप्रसिद्ध उच्चित्रण हुआ है। वराह के दोनों ओर गंगा-यमुना के अवतरित हो और मिल कर समुद्र में जा मिलने का सुन्दर उच्चित्रण हुआ है। गंगा और यमुना नदी धाराओं के बीच क्रमशः मकर और कच्छप पर खड़ी घट लिये नारी के रूप में अंकित की गयी हैं और समुद्र को वरुण के रूप में पुरुष रूप में घट लिये दिखाया गया है।

वराह लयण से थोड़ा हट कर पाँचवीं लयण है जिसमें द्वितीय चन्द्रगुप्त के ८२वें वर्ष का उनके सनकानिक सामन्त का अभिलेख है। इसकी चर्चा हम आगे सनकानिक लयण के नाम से करेंगे। यह लयण १४ फुट लम्बा और साढ़े बारह फुट चौड़ा है।

प्रवेश द्वार के सामने पत्थर काट कर बनाया गया २३ फुट आठ इञ्च लम्बा और ५ फुट १० इञ्च चौड़ा बरामदा है। द्वार जो बरामदे के दक्षिणी छोर के निकट है, काफी अलंकृत है; ऊपर दोनों ओर मकरवाहिनी वृक्षिकाएँ हैं जिसका लोगों ने सामान्यतः गंगा-यमुना के रूप में उल्लेख किया है। इस द्वार अलंकरण की अन्यत्र विस्तृत चर्चा की जा चुकी है।[1] द्वार के दोनों ओर उच्चित्रण है और एक ओर के उच्चित्रण के ऊपर उपर्युक्त अभिलेख है।

इस लयण से कुछ हट कर दायीं ओर पर्वत को काट कर स्तूपनुमा वास्तु का निर्माण हुआ है, जिसका आधार चौकोर है और छत तवानुमा पत्थर का बना है। इस कारण लोग इसको तवा लयण कहते हैं। इसके उत्तरी भाग में एक द्वार है और उसके भीतर १३ फुट १० इञ्च लम्बा और ११ फुट ९ इञ्च चौड़ा कमरा है। कमरे के पिछली दीवार पर एक अभिलेख है जिससे ज्ञात होता है कि उसे द्वितीय चन्द्रगुप्त के सचिव पाटलिपुत्र निवासी वीरसेन ने निर्मित कराया था। हम आगे इसकी चर्चा तवा लयण के स्थान पर वीरसेन लयण के नाम से करेंगे। इसके सामने पहले मण्डप था इसका अनुमान द्वार के ऊपर बने खड्डे से होता है जिसके सहारे छत का निर्माण किया गया रहा होगा। द्वार के दोनों ओर द्वारपालों का अंकन हुआ था जो अब बहुत ही विकृत अवस्था में हैं। कमरे के छत के ऊपर साढ़े चार फुट व्यास के फुल्ल कमल का अंकन हुआ है।

वीरसेन लयण (तवा लयण) के बगल से पर्वत के आरपार गली बनी हुई है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इस गली के बनाने के लिए गहराई में केवल १२ फुट पत्थर काटे गये थे और लम्बाई में यह गली १०० फुट होगी। इस गली के बनाने से दोनों ओर जो दीवार निकली उसका उपयोग उच्चित्रण के लिए किया गया है। इस उच्चित्रण में अनन्त-शैय्या का दृश्य अंकित है। भगवान् विष्णु शेषनाग पर लेटे हुए हैं और गरुड़ तथा सात अन्य आकृतियाँ उनके निकट हैं। यह काफी बड़ा उच्चित्रण है किन्तु अब बहुत कुछ नष्ट हो गया है।

इस गली से आगे आठवाँ लयण है जो १० फुट ४ इञ्च लम्बी और १० फुट चौड़ी कोठरी मात्र है। द्वार पर अर्ध-स्तम्भ बना है जिस पर घण्टाकार कटावदार शीर्ष है। इसमें एक ओर गणेश और दूसरी ओर माहेश्वरी का उच्चित्रण है। इससे उत्तर-पूर्व कुछ हट कर उदयगिरि ग्राम के निकट नवा लयण है, जिसे कनिंगहम ने अमृत-लयण का नाम दिया है। इसके भीतर शिवलिंग प्रतिष्ठित है; किन्तु संवत् १०९३ (१०३६ ई०) के एक अभिलेख से जिसे किसी यात्री ने एक स्तम्भ पर अंकित किया है, ज्ञात होता है कि उन दिनों उसमें विष्णु की उपासना होती थी। यह उदयगिरि के समस्त लयणों में सबसे बड़ा है अर्थात् २२ फुट लम्बा और १९ फुट चार इञ्च चौड़ा है। छत को सँभालने के लिए चार बड़े-बड़े स्तम्भ हैं जो ८ फुट ऊँचे और १ फुट

---

१. पीछे, पृ० ५५७-५८।

७ इञ्च वर्गाकार हैं। इन स्तम्भों के शीर्ष काफी अलंकृत हैं। उनमें चार कोनों पर चार पक्षधारी शृंगयुक्त पशु अपनी पिछली टाँगों पर खड़े हैं और अगले पंजों से अपना मुँह छू रहे हैं। इसकी छत भी अन्य लयणों से भिन्न है। स्तम्भ के ऊपर बने धरण से वह नौ वर्गों में बँटा है। बीच के वर्ग में चार वृत्तोंवाला फुल्ल कमल का अंकन है। उसकी खाली जगह भी रेखाओं से भरी हुई है। इस लयण का द्वार भी अन्य लयणों की अपेक्षा अधिक अलंकृत है। ऊपर दोनों ओर मकरवाहिनी का अंकन है; बीच में समुद्रमन्थन का दृश्य उच्चित्रित है और इसके ऊपर नवग्रह का अधबना उच्चित्रण है। इस लयण के सामने एक तीन द्वारोंवाला बरामदा था जिसमें बाद में एक हाल जोड दिया गया जिससे उसका आकार २७ फुट वर्ग के मण्डप-सा बन गया। इस मण्डप के कुछ स्तम्भ और दीवार ही अब बच रहे हैं। कदाचित् यह लयण समग्र लयण समूह में सबसे बाद का है, ऐसा कनिंगहम का मत है।

दसवाँ लयण पर्वत के उत्तरी-पश्चिमी छोर पर है और उस तक पहुँचना सहज नहीं है। यह लयण ५० फुट लम्बा और १६ फुट चौड़ा है और अनगढ़ पत्थर चुन कर बने दीवारों से पाँच कमरों के रूप में विभक्त है। आखिरी कमरे से लगा एक और लयण है जिसमें इसी प्रकार बने तीन कमरे हैं। पहले लयण में एक अभिलेख है जिससे ज्ञात होता है कि इस लयण का निर्माण गुप्त संवत् १०६ में हुआ था और उसके द्वार पर पार्श्वनाथ की स्थापना की गयी थी। उदयगिरि के लयणों में अकेला यही लयण जैन-धर्म से सम्बद्ध है; अन्य सब ब्राह्मण लयण हैं।

उदयगिरि के इन लयणों में न तो वह भव्यता है और न वह सुचारुता जो अन्यत्र ज्ञात बौद्ध लयणों में देखने में आती है। इनके बाहर मण्डप चिन कर बनाये गये थे, यह कुछ असाधारण-सी बात है, यह भी अन्यत्र अज्ञात है। वास्तुकला के दो विधाओं का यह समन्वय मितव्ययता की दृष्टि से किया गया था अथवा पत्थर की अनुपयुक्तता के कारण, कहा नहीं जा सकता। किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि चिनाई के काम में भी वह सुघरता नहीं है जो अन्य चिने हुए वास्तुओं में देखने में आता है।

मन्दारगिरि लयण—मन्दारगिरि भागलपुर (बिहार) जिले में बंका से सात मील दक्षिण स्थित ७०० फुट ऊँची पहाड़ी है। इसका उल्लेख पुराणों में पाया जाता है। इस पहाड़ी के पश्चिमी भाग में ढाल पर विष्णु का एक भग्न मन्दिर है, उससे कुछ हट कर पश्चिम की ओर एक पन्द्रह फुट लम्बा और दस फुट चौड़ा कोठरीनुमा लयण है। इस लयण की छत सम्भवतः कुब्ज पृष्ठ है।[1] इस लयण के भीतर एक श्रोत-निर्झर है जिसे लोग आकाश-गंगा कहते हैं। साथ ही इसमें पर्वत में ही उकेरी गयी नृसिंह की एक मूर्ति है।[2] इसमें चौथी - पाँचवीं शती के गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि मे एक अभिलेख

१. इ० ए०, १, पृ० ४६-५१।

२. क० आ० स० रि०, ८, पृ० १३०-१३६। इस लयण के भीतर कुछ और मूर्तियाँ है जिन्हें वामन, मधु और कैटभ के रूप में पहचाना गया है।

भी है जिसमें वर्ष ३० के भाद्रपद १२ की तिथि दी हुई है।[1] यह वर्ष किस संवत् में है, यह कहना कठिन है किन्तु यह भूभाग गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत था, इस कारण इस तिथि के गुप्त संवत् में होने का ही अनुमान होता है। इस प्रकार यह भी अनुमान होता है कि इस लयण का निर्माण आरम्भिक गुप्तकाल में हुआ था और इसमें प्रतिष्ठित मूर्ति भी इसी काल की होगी। बिहार में बड़ाबर के मौर्यकालीन लयणों के पश्चात् गुप्तकाल में इस लयण का निर्माण, इस बात का द्योतक है कि लयण निर्माण की परम्परा इस भाग में जीवित थी। इस प्रकार गुप्तकालीन वास्तुकला और मूर्तिकला की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व है; किन्तु इसकी ओर पुरातत्त्वविदों ने अबतक कोई ध्यान नहीं दिया है। इसका उल्लेख यहाँ इस रूप में पहली बार किया जा रहा है।

चिनाई के वास्तु—ईंट अथवा पत्थर के टुकड़ों को चुन कर वास्तु-निर्माण की परम्परा इस देश में यों तो हड़प्पा संस्कृति में देखने को मिलती है; किन्तु परवर्ती काल में उत्तर भारत में यह गुप्तकाल से पहले कदाचित् कहीं देखने में नहीं आती। गुप्तकाल में चुन कर बने वास्तुओं में पत्थर के टुकड़े समतोल कर एक के ऊपर एक सजाये गये हैं अथवा वे लोहे के अंकुशों के सहारे जोड़े गये हैं। कहीं-कहीं उनके जोड़ने में चूने-गारे का भी प्रयोग हुआ है। ईंट से बने सभी वास्तु चूने-गारे के माध्यम से चुने गये हैं।

विहार—बौद्ध भिक्षुओं के निवास के लिए संघाराम और विहार सारे देश में फैले रहे होंगे, ऐसी कल्पना इस धर्म के प्रचार-प्रसार की पृष्ठभूमि से सहज अनुमान किया जा सकता है। फाह्यान और युवान-च्वांग के कथन से भी ज्ञात होता है कि वे देश भर में बड़ी मात्रा में बिखरे हुए थे। किन्तु आज विहारों के अवशेष के रूप में उनके छेकन मात्र ही उपलब्ध होते हैं। जिनसे ज्ञात होता है कि बड़े आँगन के चारों ओर बरामदा होता था और उसके आगे भिक्षुओं के रहने की कोठरियाँ थीं। इस रूप में वे नागरिकों के निवास से मिलते जुलते ही थे। अन्तर केवल यह था कि कोठरियाँ छोटी और भिक्षुओं के निवास के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में नहीं आती थीं। हो सकता है जिस प्रकार लयण संघारामों और विहारों में पीछे की ओर चैत्यगृह अथवा बुद्ध-मूर्ति से प्रतिष्ठित गर्भगृह होते थे, उसी प्रकार के चैत्यगृह अथवा गर्भगृह इनमें भी होते रहे हों। चीनी यात्रियों के विवरण से यह बात ज्ञात होती है कि ईंट-पत्थर के चिने विहार कई तल्लों के होते थे। फाह्यान और युवान-च्वांग, दोनों का कहना है कि विहार छः-छः और आठ-आठ मंजिलों को थीं। इन विहारों में शिक्षा की व्यवस्था भी थी। युवान-च्वांग ने नालन्द महाविहार की विश्वविद्यालय के रूप में चर्चा की है। उनका कहना है कि वहाँ के प्रत्येक विहार चौमंजिला थे और संघाराम के मण्डपों के स्तम्भों पर देवमूर्तियों का अंकन था।

स्तूप—स्तूपों का विकास मूलतः अस्थिसंचायक के रूप में हुआ था पर पीछे वे

---

१. ए० इ०, ३६, पृ० ३०५।

अस्थिसंचायक और स्मारक दोनों रूपों में बनने लगे। गुप्त काल में दोनों ही प्रकार के स्तूप बने। गन्धार और मध्यप्रदेश में उनकी विस्तृत परम्परा थी; किन्तु ईंटों के बने होने के कारण प्रायः वे सभी नष्ट हो गये। मथुरा में कुषाणकालीन जैन-स्तूप के चारों ओर की वेदिका की स्तम्भ और बड़ेरियाँ मिली हैं जो उनसे तत्कालीन और परवर्ती स्तूपों की कुछ कल्पना की जा सकती है।

गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत अवशिष्ट स्तूपों में बस सारनाथ स्थित धमेख स्तूप ही ऐसा है जिसकी कुछ चर्चा की जा सकती है। यह सम्भवतः छठी शती ई० का है। यह ईंटों का बना १२८ फुट ऊँचा और आकार में गोल नलाकार है। आज वह जिस रूप में उपलब्ध है, उसके तीन अंग हैं। नीचे का आधार, बीच का भाग और तूदा। आधार ठोस पत्थर का बना है और उसमें आठ दिशाओं में आगे को निकला हुआ शिखरयुक्त पतला उभार है जिसके बीच में मूर्तियों के लिए रथिकाएँ बनी हैं। उनकी मूर्तियाँ अब अनुपलब्ध हैं। शेष भाग पर सुन्दर ज्यामितिक तथा लतापत्र की एक चौड़ी पट्टी है। ऊपर का तूदा ईंटों का बना है।

इसी आकार का एक दूसरा स्तूप राजगृह में है जो जरासन्ध की बैठक के नाम से प्रसिद्ध है और सम्भवतः इसी काल का है। इसका आकार कुछ मीनार सरीखा है, कदाचित् इसीलिए युवान-च्वांग ने उसका उल्लेख मीनार के रूप में किया है।

मन्दिर—मन्दिरों के उद्भव और विकास का इतिहास काफी ऊहापोह के बाद भी तिमिराच्छन्न ही है। ऋग्वेद में एक स्थल पर यक्ष-सद्म का उल्लेख हुआ है।[1] उससे अनुमान होता है कि यक्षों के लिए, जो सामान्य जन में देवताओं की भाँति मान्य थे, किसी प्रकार का वास्तु बनता था। किन्तु उसका क्या रूप था इसकी कोई कल्पना नहीं की जा सकती। परवर्ती साहित्य में यक्ष-भवन, यक्ष-चैत्य अथवा यक्ष आयतन के जो उल्लेख प्राप्त होते हैं, उनसे उनके सामान्य चबूतरे से लेकर दीवारों से घिरे कोठरी तक की कल्पना उभरती है।[2] पर यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि उसका क्या रूप था। उत्खनन में नगरी के नारायण-वाटक का जो स्वरूप सामने आया है उससे तो यही प्रकट होता है कि वह मात्र एक चौकोर घेरा था जिसके बीच में पूजा-शिला रही होगी।[3] भारहुत, बोधगया और मथुरा के कुछ उच्चित्रों से देवस्थल का अंकन अनुमान किया जा सकता है। भारहुत के उच्चित्रों से ऐसा अनुमान होता था कि देवगृह वर्गाकार और आयताकार होते थे और उनके ऊपर गोल अथवा कुब्ज-पृष्ठ छत होती थी जिसमें दोनों सिरों पर अथवा बीच में आधुनिक मान्दरों के कलश के समान पतले शिखर होते थे। उनके द्वार प्रायः मिहराबदार होते थे। बोधगया में जो उच्चित्र हैं उसमें

---

१. ऋग्वेद, ४।३।१३.

२. पृथ्वीकुमार, गुप्त टेम्पल आर्चिटेक्चर, पृ० ७।

३. वासुदेवशरण अग्रवाल, प्राचीन मध्यमिका की नारायणवाटिका, पोद्दार अभिनन्दनग्रन्थ (मथुरा, १९६३), पृ० ८९९।

केवल सामने का अनुमान होता है। भवन का रूप गोल अथवा आयताकार दोनों ही हो सकता है। किन्तु यह स्तम्भ पर बने मण्डप सरीखा जान पड़ता है और दुतल्ला है। इसी प्रकार मथुरा के उच्चित्रों में देवगृह का काफी विकसित रूप प्रकट होता है। पंचाल-नरेशों के सिक्कों पर भी देवायतन का जो अंकन मिलता है उसमें वह मिहराबदार मण्डप-सा दिखाई पड़ता है जिससे दोनों ओर छज्जे निकले दिखाई पड़ते हैं और ऊपर कुछ शिखर-सा है।[1] औदुम्बरों के सिक्कों पर शिव-मन्दिर भी गोल छतोंवाला मण्डप ही है।[2] इन सबसे एक ही कल्पना उभरती है कि ईसा पूर्व की शताब्दियों में और कदाचित् ईसा की आरम्भिक शताब्दी में भी जो मन्दिर बने वे सभी गोल मण्डप या कुब्जपृष्ठ-भवन थे। उसके बाद हुविष्क के सिक्कों पर स्कन्दकुमार, विशाख और महासेन का जो अंकन हुआ है, उसमें पहली बार हमें सपाट छत का मण्डप दिखाई पड़ता है; लेकिन उसके दोनों छोरों पर तिरछा ढाल है। सपाट छतवाला होते हुए भी उसमें किसी प्रकार की शैशविकता की कल्पना नहीं की जा सकती।

इस पृष्ठभूमि में जब हम गुप्तकाल पर दृष्टिपात करते हैं और तत्कालीन अभिलेखों में मन्दिरों की चर्चा पाते हैं[3] तो लगता है कि इस काल में मन्दिर बहुत बड़ी संख्या में

---

१. ब्रि० मु० म्यू० सू०, प्राचीन भारत, फलक २७, मुद्रा १९।

२. ज० न्यू० सो० इ० ४, पृ० ५३।

३. (१) गढ़वा से प्राप्त द्वितीय चन्द्रगुप्त (गुप्त संवत् ८८) और प्रथम कुमारगुप्त (गुप्त संवत् ९८) के अभिलेखों में सत्रों का उल्लेख है (का० इ० इ०, ३, पृ० ३७, ३९, ४०)। ये सत्र निश्चय ही मन्दिर से सम्बद्ध रहे होंगे।

(२) बिलसड़ से प्राप्त प्रथम कुमारगुप्त के काल (गुप्त संवत् ९६) के अभिलेख मे महासेन के मन्दिर का उल्लेख है (का० इ० इ०, ३, पृ० ४२)।

(३) गंगधर (झालावाड़) से प्राप्त मालव संवत् ४८० के अभिलेख में विष्णु-मन्दिर के निर्माण की चर्चा है (का इ० इ०, ३, पृ० ७३)।

(४) नगरी (चित्तौड़) मे प्राप्त कृत संवत् ४८१ के अभिलेख में तीन भाइयों द्वारा विष्णु के मन्दिर बनाने का उल्लेख है (मे० आ० स० इ०, ४, पृ० १२०-१२१)।

(५) तुमेन (ग्वालियर) से प्राप्त प्रथम कुमारगुप्त के काल (गुप्त संवत् ११६) के अभिलेख में पाँच भाइयों द्वारा एक मन्दिर बनाने का उल्लेख है (ए० इ०, २६, पृ० ११५)।

(६) मन्दसोर के मालव संवत ५२९ के अभिलेख में प्रथम कुमारगुप्त और बन्धुवर्मन के समय में सूर्य-मन्दिर बनाये जाने का उल्लेख है (का० इ० इ०, ३, पृ० ७९)।

(७) भितरी (जिला गाजीपुर) स्थित स्कन्दगुप्त के स्तम्भ लेख में विष्णु (शार्ङ्गिन्) के मन्दिर की स्थापना का उल्लेख है (का० इ० इ०, ३, पृ० ५३)। अभी हाल में काशी विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित उत्खनन में मन्दिर के अवशेष प्रकाश में आये हैं।

(८) गुप्त सवत् १२८ का बैग्राम से प्राप्त ताम्रलेख में दाता के पिता द्वारा मन्दिर निर्माण कराये जाने का उल्लेख है (ए० इ०, २१, पृ० ७८)।

(९) कहौंव (जिला देवरिया) स्थित स्कन्दगुप्त के काल (गुप्त संवत् १४१) के स्तम्भ-लेख

बने होंगे और वे अपने रूप में काफी विकसित होंगे। किन्तु गुप्तकालीन कहे और समझे जानेवाले मन्दिर-अवशेषों से जो रूप सामने आता है, वह वास्तुकला की दृष्टि से मन्दिरों का अत्यन्त शैशविक रूप ही प्रकट करता है। ईसा पूर्व और ईसा की आरम्भिक शताब्दियों के उच्चित्रों और सिक्कों से ज्ञात देव-गृहों की तरह इनमें से कोई भी मन्दिर छत के रूप में कुब्जपृष्ठ अथवा स्तूपिका स्वरूप नहीं है। वे कुषाण सिक्कों पर अंकित देव-मण्डप की तरह सपाट ओरीयुक्त छतवाले भी नहीं हैं। उनकी छत एकदम सपाट है। इस प्रकार ये उनसे एकदम अलग-थलग हैं। उच्चित्र फलकों और सिक्कों पर देवगृहों की कोई भू-योजना नहीं झलकती, इस कारण कहा नहीं जा सकता कि भू-योजना की दृष्टि से गुप्तकालीन मन्दिर उनके कितने निकट थे। खड़े रूप में उच्चित्रों में देवगृह स्तम्भों पर बने मण्डप और दीवारों से घिरे कमरे दोनों ही रूपों में दिखाई पड़ते हैं। गुप्तकालीन मन्दिर अधिकांशतः दीवारों से घिरे कमरे ही हैं। इस दिशा में गुप्तकालीन वास्तुकारों के लिए पूर्ववर्ती वास्तुकारों से प्रेरणा ग्रहण करने जैसी कोई बात जान नहीं पड़ती।

सभी बातों को सम्यक् रूप से सामने रख कर सन्तुलित रूप से देखने पर यही प्रतीत होता है कि गुप्तकालीन मन्दिरों की परम्परा उक्त उच्चित्रों और सिक्कों पर

(का० इ० इ०, ३, पृ० ६५) के निकट ही बुकानन ने दो ध्वस्त मन्दिर देखे थे। कनिंगहम को भी उनकी छेकन देखने को मिली थी। ये छेकन अब भी देखे जा सकते हैं।

(१०) इन्दौर (जिला बुलन्दशहर) से प्राप्त स्कन्दगुप्त के काल (गुप्त संवत् १४६) के ताम्र लेख में सूर्य-मन्दिर का उल्लेख है (का० इ० इ०, ३, पृ० ६८)।

(११) बिहार (जिला पटना में) प्राप्त पुरुगुप्त के किसी पुत्र के स्तम्भलेख में स्कन्द तथा मातृकाओं के मन्दिर बनाने का उल्लेख है (का० इ० इ०, ३, पृ० ४७)।

(१२) बुधगुप्त के काल का दामोदरपुर ताम्रलेख में दो देवकुलों के बनाने का उल्लेख है (ए० इ०, १५, पृ० १३८)। इनमें से एक का उल्लेख एक अन्य ताम्रलेख में भी है (ए० इ०, १५, पृ० १४२)।

(१३) बुधगुप्त के शासनकाल (गुप्त संवत् १६५) के एरण स्थित स्तम्भ लेख में दो भाइयों द्वारा विष्णु-ध्वज स्थापित करने का उल्लेख है (का० इ० इ०, ३, पृ० ८९)। इस ध्वज-स्तम्भ का सम्बन्ध निश्चय ही किसी मन्दिर से रहा होगा।

(१४) गढ़वा से प्राप्त गुप्त संवत् १४८ के अभिलेख में अनन्तस्वामिन् की मूर्ति की स्थापना का उल्लेख है (का० इ० इ०, ३, पृ० २६८)। यह मूर्ति किसी मन्दिर में ही स्थापित की गयी होगी।

(१५) एरण स्थित तोरमाण के प्रथम वर्ष का अभिलेख (का० इ० इ०, ३, पृ० १५९) जिस वराह मूर्ति पर अंकित है वह जिस मन्दिर में स्थापित की गयी थी उसके अवशेष उपलब्ध हैं (का० आ० स० रि०, १०, पृ० ८२-८३)।

(१६) हूण तोरमाण के राजवर्ष १५ के ग्वालियर अभिलेख (का० इ० इ०, ३, पृ० १६२) में सूर्य के शैलमय प्रासाद का उल्लेख है।

अंकित वास्तुपरम्परा से सर्वथा भिन्न थी। हो सकता है गुप्तकालीन वास्तुकारों ने सपाट छतोंवाले मन्दिर निर्माण की प्रेरणा लयण-वास्तु से ग्रहण की हो।[१]

इस काल के ज्ञात मन्दिरों का परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है :—

१. कुण्डा स्थित शंकरमढ़—जबलपुर में तिगोवा[२] से तीन मील पूरब कुण्डा नामक ग्राम में एक छोटा-सा लाल पत्थर का बना शिव-मन्दिर है, जिसे स्थानीय लोग शंकरमढ़ कहते हैं। इसकी ओर अभी हाल में ही ध्यान आकृष्ट हुआ है। यह छोटी-सी कोठरी मात्र है, जो भीतर से लगभग वर्गाकार (५ फुट ७ इञ्च लम्बा और ५ फुट १० इञ्च चौड़ा) है; बाहर से वह १० फुट ८ इञ्च लम्बा और १० फुट १० इञ्च चौड़ा है। यह बिना चूने-गारे के पत्थर की लम्बी पटियों को रख कर बनाया गया है। छत पत्थर के दो पटियों से बनी है जो लोहे के अंकुशों से जुड़े हुए हैं। मण्डप की छत पर सम्भवतः फुल्ल कमल का उच्चित्रण हुआ था पर अब उसके कुछ अंश छत की एक पटिया पर ही बच रहे हैं। द्वार के बाजुओं पर दोनों ओर उभरती हुई तीन पट्टियाँ हैं और ऊपर के सिरदल के दोनों कोनों पर चौकोर सामान्य अलंकरण हैं। इस मूल वास्तु के निर्माण के पश्चात् किसी समय इसके आगे एक मण्डप जोड़ दिया गया था जो अब नष्ट हो गया है। इसे गुप्तकाल के अत्यारम्भ का मन्दिर अनुमान किया जाता है। ऐसा समझा जाता है कि मण्डप भी गुप्तकाल के आरम्भ में ही किसी समय बनाया गया होगा।[३]

२. मुकुन्द-दर्रा मन्दिर—कोटा (राजस्थान) स्थित एक पहाड़ी दर्रे के भीतर, जो मुकुन्द-दर्रा के नाम से ख्यात है और प्राचीनकाल में मालवा और उत्तर भारत के यातायात मार्ग को जोड़ता था, एक छोटा-सा सपाट छत का स्तम्भों पर खड़ा मण्डप है। इस मण्डप का निर्माण ४४ फुट × ७४ फुट के चबूतरे के ऊपर हुआ है। उस पर जाने के लिए सामने की ओर बायीं और दायीं ओर किनारे सीढ़ियाँ हैं। गर्भगृह अथवा मण्डप का निर्माण चार चौपहल खम्भों पर हुआ है जो साढ़े पाँच फुट के अन्तर पर खड़े किये गये हैं। प्रत्येक स्तम्भ पर चौपहल शीर्ष है जो चारों ओर आगे को निकले हुए हैं और उन पर पत्र-लता का उच्चित्रण हुआ है। स्तम्भों के इन निकले हुए भागों के सहारे चारों ओर एक-एक सिरदल रखा हुआ है और उनके ऊपर छत के लिए पटिया रखी हुई है जिसके बीच में पत्र-लता से घिरा दुहरे पत्रों का उत्फुल्ल कमल अंकित है। उसी ढंग के चार फुल्ल कमल उसके चारों कोनों पर भी बने हैं। इस मण्डप से पौने चार फुट हट कर तीन ओर दो-दो अर्ध-स्तम्भ हैं, उनके ऊपर शीर्ष है

---

१. मौर्यकालीन लयणों की, जो इस परम्परा में बहुत पहले आते हैं, प्रायः सभी लयणों की छत सपाट है।

२. इसका वास्तविक नाम तिगमा या तिगवाँ है; किन्तु लोग अंग्रेजी में तिगोवा लिखते चले आ रहे हैं और वही इतिहास-ग्रन्थों में प्रचलित हो गया है।

३. देबाला मित्रा, शंकरमढ़ एट कुण्डा, ज० ए० सो०, ८ (४ थी सी०), पृ० ७९-८१।

और जिन पर सिरदल है और उनके ऊपर फुल्लकमल अंकित चौकोर पत्थर रखे हैं। सामने की ओर मण्डप के स्तम्भों की सीध में साढ़े पाँच फुट के अन्तर पर दो और स्तम्भ हैं और उनके ऊपर पत्थर की पटिया रखी है, इस प्रकार मुख्य मण्डप के चारों ओर प्रदक्षिणा-पथ है। मन्दिर के चारों ओर प्रदक्षिणा-पथ के स्तम्भों के अर्ध-स्तम्भों से दो फुट दो इञ्च के अन्तर पर तीन और सोलह इञ्च ऊँची पत्थर की चुनी हुई चहार-दीवारी है। इससे १८ फुट हट कर पूरब की ओर सम्भवतः चार स्तम्भों पर खड़ा एक छोटा मण्डप और था।[१] इस मण्डप का वास्तु-विन्यास बहुत कुछ महोली (मथुरा) से प्राप्त बोधिसत्व के वर्गाकार छत से मिलता हुआ है जो चार पतले स्तम्भों पर खड़े किये जाते थे। सम्भव है, इस प्रकार के गुप्तकालीन मण्डप इन्हीं वर्गाकार छत्रों से विकसित हुए हों।

३. साँची स्थित मन्दिर—साँची के महास्तूप से दक्षिण-पूर्व हट कर एक छोटा-सा सपाट छतों वाला मन्दिर है जो भीतर से वर्गाकार ८ फुट २ इञ्च और बाहर से २० फुट लम्बा और पौने तेरह फुट चौड़ा है। इसके सामने छोटा-सा चार स्तम्भों पर खड़ा मण्डप अथवा बरामदा है। ऊपर छत पर पानी निकलने के लिए पनाली लगी है। स्तम्भों को छोड़ कर इस भवन में किसी प्रकार का कोई अलंकरण ज्ञात नहीं होता।[२] स्तम्भ नीचे चौपहल और ऊपर अठपहल हो गये हैं, उसके बाद चौकोर पीठ के ऊपर शीर्ष है जिन पर पशुओं का उच्चित्रण हुआ है।

४. उदयपुर का मन्दिर—विदिशा से ३४ मील उत्तर उदयपुर में साँची के मन्दिर के अनुरूप ही एक छोटा-सा मन्दिर है। इसमें भी छोटा-सा गर्भगृह है जो समान लम्बाई-चौड़ाई का है; उसकी भी छत सपाट है। सामने मण्डप अथवा बरामदा है और अलंकरण के नाम पर बाहर तीन पतली पाँतें हैं जिन पर ईंटें कटी हुई हैं। किन्तु इसमें छत पर पानी निकलने के लिए साँची के मन्दिर की तरह इसमें कोई पनाली नहीं है।[३]

५. तिगोवा का मन्दिर—जबलपुर जिले में तिगोवा, किसी समय मन्दिरों का गाँव था, किन्तु अब वहाँ के सभी मन्दिर नष्ट हो गये हैं। केवल गुप्तकालीन एक मन्दिर बच रहा है। पत्थर का बना यह मन्दिर १२ फुट ९ इञ्च का वर्गाकार है, ऊपर सपाट छत है; जिस पर भीतर फुल्लकमल का अंकन है। सामने चार स्तम्भों पर खड़ा मण्डप है : भीतर गर्भगृह वर्गाकार केवल ८ फुट है। उसके भीतर नृसिंह की मूर्ति

---

१. वासुदेवशरण अग्रवाल, अ न्यु गुप्त टेम्पल एट दर्रा इन मालवा, ज० यू० पी० हि० सो०, २१, पृ० १९६; स्टडीज 'न गुप्त ऑर्ट, पृ० २२६-२७। इसका उल्लेख फर्गुसन ने (इण्डियन आर्कि-टेक्चर, पृ० १३२) और पर्सी ब्राउन (इण्डियन आर्चिटेक्चर, पृ० ५०-५१) ने भी किया था; किन्तु उसके महत्त्व की ओर संकेत अग्रवालजी ने ही किया है।

२. क० आ० स० इ०, १०, पृ० ६२।

३. हरमन गोयत्स, इम्पीरियल रोम एण्ड जेनेसिस ऑव क्लासिकल इण्डियन आर्ट, ईस्ट एण्ड वेस्ट, १०, पृ० १५३।

प्रतिष्ठित है। मण्डप के स्तम्भ नीचे तो चौपहल है, कुछ दूर जाकर वे अठपहल और फिर सोल पहल हो जाते हैं और फिर वे लगभग गोल रूप धारण कर लेते हैं। उसके ऊपर कुम्भ है और तदनन्तर तीन भागों में विभक्त पीठिका और तब शीर्ष पीठिका के ऊपरी भाग पर गवाक्षों का उच्चित्रण है और शीर्ष पर चारों ओर दो बैठे हुए सिंह और उनके बीच वृक्ष अंकित है। इस प्रकार इस मन्दिर के स्तम्भ काफी अलंकृत हैं। स्तम्भों की तरह ही द्वार भी अलंकृत है। उसके अगल-बगल अर्धस्तम्भों का अंकन हुआ है और उनके ऊपर गंगा-यमुना का अंकन है। सिरदल के ऊपर तेरह चौकोर टोड़े निकले हुए हैं, जो लकड़ी के धरण के अनुकृति जान पडते हैं।[1] काष्ठ के उपकरण का पत्थर में अनुकरण, वास्तु की शैशविकता की ओर संकेत करता है।

६. एरण के मन्दिर—समुद्रगुप्त और बुधगुप्त के अभिलेख तथा तोरमाण के काल के वराह मूर्ति के कारण एरण पुरातत्त्वविदों और इतिहासकारों के लिए एक परिचित स्थान है जो मध्यभारत के सागर जिले में स्थित है। यहाँ गुप्तकालीन तीन मन्दिर पाये गये हैं।

(क) नृसिंह-मन्दिर—यह मन्दिर प्रायः ध्वस्त हो गया है। जिन दिनों कनिंगहम ने इसे देखा था, केवल सामने का हिस्सा यथास्थित था। उसके मलबे की सामग्री का अध्ययन कर उन्होंने उसका जो रूप निर्धारित किया है, उसके अनुसार यह साढ़े बारह फुट लम्बा और पौने नौ फुट चौड़ा था। सामने चार स्तम्भों पर स्थिर मण्डप था। बीच के दो स्तम्भों में साढ़े चार फुट का और किनारे के स्तम्भ में सवा तीन फुट का अन्तर था। इसके स्तम्भ तो अपने स्थान पर नहीं हैं पर चबूतरे पर उसके जो चिह्न हैं उससे ज्ञात होता है कि वे चौपहल थे। इस मन्दिर के भीतर नृसिंह की जो मूर्ति प्रतिष्ठित थी वह ७ फुट ऊँची है। छत अन्य मन्दिरों की तरह ही सपाट थी और १३ फुट आठ इञ्च लम्बे और साढ़े सात फुट चौड़े दो शिला-फलकों से बनी थी। इनका किनारा कुछ उठा था और दोनों फलकों के जोड़ पर एक तीसरा पतला फलक रख दिया गया था।[2]

(ख) वराह मन्दिर—कनिंगहम ने जिन दिनों इस मन्दिर को देखा था, उस समय तक उसका समूचा ऊपरी भाग गिर गया था; नीचे की दीवारें और मण्डप के दो स्तम्भ बच रहे थे। भीतर प्रतिष्ठित वराह मूर्ति यथास्थान थी। इस मूर्ति की ऊँचाई ११ फुट २ इञ्च है और लम्बाई में १३ फुट १० इञ्च और चौड़ाई में ५ फुट डेढ़ इञ्च है। इन सूत्रों के आधार पर कनिंगहम ने मन्दिर का जो रूप उपस्थित किया है, उसके अनुसार इस मन्दिर में ३१ फुट लम्बा और साढ़े पन्द्रह फुट चौड़ा गर्भगृह तथा उसके सामने ९ फुट चौड़ा मण्डप था; दीवार की मोटाई ढाई फुट थी। इस प्रकार समग्र मन्दिर बाहर से साढ़े बयालीस फुट लम्बा और साढ़े बीस फुट चौड़ा रहा

---

१. क० आ० स० रि०, ९, पृ० ४२, ४५-४६।

२. वही, १०, पृ० ८८।

होगा। छत का अवशेष उपलब्ध नहीं हो सका; किन्तु गर्भगृह के दीवारों और मण्डप के अवशेषों से स्पष्ट अनुमान होता है कि उसके ऊपर छत अवश्य रही होगी। मण्डप के स्तम्भ का शीर्ष उपलब्ध नहीं है। उसको छोड़ कर स्तम्भ की ऊँचाई दस फुट है, उसका चौकोर तल वर्गाकार दो फुट चार इञ्च है।[१] तल चार पट्टियों में विभक्त है। सबसे निचली पट्टी के ऊपर दो पतले कण्ठ हैं तब एक गोल पट्टी है तदनन्तर फिर पतला दुहरा कण्ठ है और उसके ऊपर दो पट्टियाँ हैं। इन पट्टियों के ऊपर एक कण्ठ है और इस तल के ऊपर स्तम्भ का धड़ है जो वर्गाकार एक फुट साढ़े सात इञ्च है। स्तम्भ का यह भाग ९ खण्डों में विभक्त है। नीचे दो फुट दो इञ्च का पूर्णघट है जिससे लताएँ बाहर निकल रही हैं। घट के नीचे रज्जुका है। घट के ऊपर लता-पत्र की एक पतली पट्टी है और तब उसके ऊपर पाँच फुट दस इञ्च भाग सोलहपहला है। इसमें चार दिशाओं के चार पहलों में जञ्जीरयुक्त घण्टे का अंकन है और ऊपरी भाग में प्रत्येक पहल में अर्धवृत्त बना है। इसके ऊपर उलटा कमल-घट है और फिर उसके ऊपर दो फुट दो इञ्च का वैसा ही पूर्णघट है जैसा तल में है। इस पूर्णघट के ऊपर आमलिका रूपी कण्ठ है तदनन्तर आठ इञ्च की चौकोर बैठकी है जिसके चार कोनों पर घुटनों के सहारे खड़ी चार मानवाकृतियाँ हैं और बीच में दो परस्पर गुँथे सर्प हैं, उनके ऊपर अर्धफुल्ल है। इसकी बैठकी के ऊपर कटावदार कण्ठ है और इस कण्ठ के ऊपर पुनः दो भागों में विभक्त बैठकी है जो दो भिन्न रूपों में अलंकृत है। इसके ऊपर शीर्ष रहा होगा।[२] इस प्रकार इस स्तम्भ का अलंकरण अत्यधिक और भारी है।

इस मन्दिर का महत्त्व इस दृष्टि से है कि इसमें प्रतिष्ठित वराह मूर्ति पर हूण-नरेश तोरमाण के शासन काल के प्रथम वर्ष का अभिलेख है।[३] इस अभिलेख के अनुसार मातृविष्णु के छोटे भाई धन्यविष्णु ने इसका निर्माण कराया था और इन दोनों भाइयों ने कुछ ही पहले बुधगुप्त के शासन काल (गुप्त संवत् १६५) में एरण में ही विष्णुध्वज स्थापित किया था।[४] इस प्रकार इस मन्दिर का निर्माण काल निश्चित है।

(ग) विष्णु-मन्दिर—वराह मन्दिर के उत्तर एक अन्य मन्दिर था जिसमें तेरह फुट दो इञ्च विष्णु प्रतिष्ठित थे। यह मन्दिर आकार में लम्बोतरा था, उसके सामने मण्डप बना था। बाहर से यह साढ़े बत्तीस फुट लम्बा और साढ़े तेरह फुट चौड़ा था। भीतर से यह केवल १८ फुट लम्बा और ६ फुट चौड़ा था। मण्डप दो अत्यधिक अलंकृत स्तम्भों पर बना था जिसकी टोड़ों के साथ ऊँचाई १३ फुट थी। ये स्तम्भ यथास्थान खड़े हैं। किन्तु गर्भगृह की दीवारें एकदम गिर गयी हैं। इस मन्दिर का द्वार, जो उपलब्ध है, काफी अलंकृत है। द्वार के सिरदल के बीच में गरुड़ का उश्चित्रण

---

१. क० आ० स० रि०, १०, पृ० ८२-८३।

२. वही, फलक २७।

३. का० इ० इ०, ३, पृ० १५९-६०।

४. वही, पृ० ८९।

है। द्वार के बाजू का अलंकरण तीन भागों में बँटा है। भीतरी भाग सर्प की कुण्डलियों से मण्डित है, बीच के भाग में पुष्पांकन है और किनारे पत्तियाँ अंकित हैं। बाजू के निचले भाग में गंगा और यमुना का अंकन है। इस मन्दिर का छत भी सपाट था किन्तु अन्य मन्दिरों की तुलना मे काफी भारी था और मण्डप के स्तम्भों से सवा तीन फुट ऊपर था। छत और मण्डप के स्तम्भों के बीच के भाग में अलंकरण की एक पट्टी थी।[१] इस मन्दिर की एक उल्लेखनीय बात यह है कि इसके अगल-बगल और पीछे के दीवारों के बिचले भाग कुछ आगे को उभरे हुए हैं जो पूर्वोल्लिखित किसी मन्दिर में देखने में नहीं आता और परवर्ती मन्दिरों मे विकसित रूप में देखने को मिलता है। कनिंगहम में इस मन्दिर के साथ समुद्रगुप्त के लेख का सम्बन्ध होने का अनुमान किया है;[२] किन्तु उनके इस अनुमान का कोई आधार नहीं है। लेख मन्दिर से काफी दूर प्राप्त हुआ था।

७. भूमरा का शिव-मन्दिर—जबलपुर-इटारसी रेल-मार्ग पर स्थित उँचहरा रेलवे स्टेशन से छः मील पर स्थित भूमरा नामक स्थान में एक शिव-मन्दिर है; जो मूलतः वर्गाकार ३५ फुट का था; उसके सामने २९ फुट ११ इञ्च लम्बा और १३ फुट चौड़ा मण्डप था। मण्डप के सामने बीच में ११ फुट तीन इञ्च लम्बी और ८ फुट ५ इञ्च चौड़ी सीढ़ियाँ थीं। सीढ़ियों के दोनों ओर ८ फुट २ इञ्च लम्बी और ५ फुट आठ इञ्च चौड़ी एक-एक कोठरी थी। मण्डप के सामने मूल वास्तु के भीतर बीच में साढ़े पन्द्रह फुट का वर्गाकार लाल पत्थर का सपाट छतवाला गर्भगृह था। गर्भगृह के चारों ओर ढँका प्रदक्षिणा पथ रहा होगा, किन्तु उसका कोई चिह्न अवशिष्ट नहीं है; उसका अनुमान नचनाकुटारा के मन्दिर के आधार पर किया जाता है।[३] गर्भगृह के द्वार के बाजू अलंकरण के तीन पट्टियों से सजे हुए हैं। भीतरी और बाहरी पट्टी की ज्यामितिक और पुष्प का अलंकरण ऊपर सिरदल पर भी फैला हुआ है। सिरदल के बीच में शिव की भव्य मूर्ति है। बाजुओं के नीचे गंगा और यमुना का अंकन हुआ है। छत पत्थर की बड़ी-बड़ी पटियों से बना था। दीवार बिना जुड़ाई के पत्थर के गढ़े हुए पत्थर रख कर बनायी गयी थी। मण्डप के स्तम्भ और द्वार के अवशेष सफाई करने पर मलबे में प्राप्त हुए थे। वे भी काफी अलंकृत हैं।

८. नचना-कुठारा का पार्वती-मन्दिर—भूमरा से दस मील पर अजयगढ़ के निकट स्थित नचना-कुठारा में एक मन्दिर है जिसे कनिंगहम ने पार्वती मन्दिर का नाम दिया है।[४] राखालदास बनर्जी उसे शिव-मन्दिर कहते हैं।[५] यह मन्दिर अपने मूल

---

१. क० अ० स० रि०, १०, पृ० ८५-८६।

२. वही, पृ० ८९।

३. राखालदास बनर्जी, द एज ऑव इम्पीरियल गुप्ताज, पृ० १३७-३८; द टेम्पल ऑव शिव एट भूमरा (मे० आ० स० इ०, १६)।

४. क० आ० स० रि०, २१, पृ० ९६।

५. राखालदास बनर्जी, द एज ऑव इम्पीरियल गुप्ताज, पृ० १३८-३९।

रूप में बहुत कुछ सुरक्षित है और भू-योजना में भूमरा के मन्दिर के समान ही है। इस मन्दिर का गर्भगृह भीतर से वर्गाकार ८ फुट और बाहर से १५ फुट है। इसी प्रकार प्रदक्षिणा-पथ भीतर से २६ फुट और बाहर से ३३ फुट है। इसके सामने का मण्डप २६ फुट लम्बा और १२ फुट चौड़ा है। उसके सामने बीच में १८ फुट लम्बी और १० फुट चौड़ी सीढ़ी है। गर्भगृह की छत सपाट है और उसके ऊपर एक और कोठरी है जो बाहर-भीतर से एकदम सादी है; किन्तु उसमें जाने के लिए किसी सीढ़ी का पता नहीं चलता। इस कोठरी की भी छत सपाट है। गर्भगृह में प्रकाश जाने के लिए अगल-बगल की दीवारों में एक-एक झरोखे हैं जिनमें चौपहल छेद हैं। इसी प्रकार का झरोखा बाहरी दीवारों में भी है। इसका द्वार अन्य मन्दिरों के द्वारों की अपेक्षा कुछ अधिक अलंकृत है। उसके बाजुओं पर मिथुनों का अंकन हुआ है और निचले भाग में एक ओर गंगा और दूसरी ओर यमुना का अंकन है। प्रदक्षिणा-पथ की बाहरी दीवार तीन ओर बीच में कुछ आगे को निकली हुई है।

९. देवगढ़ का विष्णु-मन्दिर—झाँसी जिले में बेतवा नदी के तट पर स्थित देवगढ़ में एक ध्वस्त विष्णु-मन्दिर है जो साढ़े पैतालीस फुट वर्गाकार लगभग पाँच फुट ऊँचे चबूतरे (जगतीपीठ) के बीच में बना है।[१] चबूतरे के चारों ओर साढ़े पन्द्रह फुट लम्बी सीढ़ियाँ हैं। राखालदास बनर्जी का अनुमान है कि गर्भगृह के चारों ओर ढँका प्रदक्षिणा-पथ रहा होगा,[२] पर इसके सम्बन्ध में अन्य लोग मौन हैं। गर्भगृह बाहर से वर्गाकार साढ़े अठारह फुट और भीतर से पौने दस फुट है। उसके चारों ओर की दीवारें ३ फुट सात इञ्च मोटी हैं। पश्चिम की ओर गर्भगृह में अत्यलंकृत द्वार हैं और शेष तीन ओर की दीवारों के बीच में रथिका है जिसमें गजेन्द्रमोक्ष, नर-नारायण और अनन्तशायी विष्णु का उच्चित्र है। इन रथिकाओं और द्वार की रक्षा के लिए कनिंगहम,[३] बनर्जी,[४] पर्सी ब्राउन[५] आदि के मतानुसार चारों ओर चार छोटे मण्डप थे; किन्तु माधोस्वरूप वत्स इस मत से सहमत नहीं हैं। उनकी धारणा है कि वहाँ मण्डप न होकर ऊपर से आगे को निकला छज्जा मात्र था।[६] छज्जा अथवा मण्डप में से वहाँ क्या था, कहना कठिन है; केवल यही कहा जा सकता है कि मूर्तियों और द्वार की रक्षा के लिए किसी प्रकार छाजन अवश्य था। द्वार का छ पट्टियों में भव्य अलंकरण हुआ है। भीतर की दो पट्टियों पर लता-पत्र का दो भिन्न रूपों में अंकन है। तीसरी पट्टी में अनेक प्रकार के मानव-युग्मों का अंकन है। चौथी पट्टी अर्धस्तम्भ के रूप में है जो

---

१. क० आ० स० रि०, १०, पृ० १०५; माधोस्वरूप वत्स, गुप्तटेम्पुल एट देवगढ़ (मे० आ० स० इ०, ७०)।

२. द एज ऑव द इम्पीरियल गुप्ताज, पृ० १४५-४७।

३. क० आ० स० रि०, १०, पृ० १०५।

४. द एज ऑव द इम्पीरियल गुप्ताज, पृ० १४६।

५. इण्डियन आर्किटेक्चर, पृ० ५०।

६. गुप्त टेम्पल एट देवगढ़, पृ० ६।

कई भागों में बँटी है और प्रत्येक भाग अलग-अलग ढंग से सजाया गया है। उसके बाद एक पतली गहरी पट्टी है और उसके बाद पुनः अर्धस्तम्भ-सा है जिस पर विभिन्न ढंग के अलंकरण हैं। इन सभी पट्टियों के निचले भाग में बड़े आकार में द्वारपाल और द्वारपालिकाएँ अंकित हैं। बाहरी अर्धस्तम्भ के ऊपर एक ओर गगा और दूसरी ओर यमुना का अंकन है। सिरदल के उस अंश में जो बाजुओं की भीतरी तीन पट्टियों के क्रम में है, उन्हीं के अलंकरणों का विस्तार है और बीच में शेष पर बैठे विष्णु की मूर्ति है। इस सिरदल के ऊपर कई पट्टियाँ हैं जिनमें मानव-मुखयुक्त गवाक्ष है। उसके ऊपर बाजुओं के बाहरी अर्धस्तम्भ के क्रम में ही अलंकरण है। और उन सबके ऊपर सिंह मुख की पाँत चली गयी है। नीचे जगतीपीठ के चारों ओर रामायण और कृष्ण-चरित्र आदि के दृश्यों का अलग-अलग फलकों पर अंकन है।

इस मन्दिर का महत्त्व इस बात में अधिक है कि इसमें शिखर है जो क्रमशः ऊपर की ओर पतला होता गया है। किन्तु शिखर का निचला अंश मात्र बच रहा है। उसके शिखरस्वरूप की कल्पना लोग मन्दिर के द्वार पर अलंकृत पट्टिकाओं में से एक पर अलंकृत वास्तु-स्वरूप के अलंकरण से करते हैं।

१०. **मुण्डेश्वरी-मन्दिर**—बिहार के शाहाबाद जिले में भभुआ से छः मील दूर रामगढ़ की पहाड़ी के शिखर पर एक अठपहल मन्दिर है, जिसको सर्वप्रथम १९०२–०३ में ब्लाख ने खोज निकाला था।[1] उसकी कुछ चर्चा राखालदास बनर्जी ने की है[2] पर उसकी ओर अभीतक समुचित ध्यान नहीं दिया जा सका है। यह मन्दिर अन्य मन्दिरों से भिन्न अठपहल है और बाहर से व्यास में ४० फुट है, दीवाल की मोटाई दस फुट है। इसमें चारों दिशाओं में चार दरवाजे थे जिनमें अब पूर्व की ओर का दरवाजा ईंटों की जाली से चुना हुआ है। दरवाजों के चौखट बेलबूटों से विस्तृत रूप से सजाये हुए हैं और बाजुओं के नीचे दोनों ओर मूर्तियाँ हैं। दक्षिणवाले द्वार के अगल-बगल द्वारपाल, पश्चिमवाले द्वार के अगल-बगल शिव, पूर्व के द्वार के अगल-बगल गंगा-यमुना और उत्तर के द्वार के एक ओर दुर्गा और दूसरी ओर कोई अन्य देवी का मूर्तन है। मुख्य द्वार के सामने स्तम्भों पर खड़ा एक मण्डप था; उसके कुछ खम्भे कहा जाता है कि १९०२ ई० तक यथास्थान लगे थे। किन्तु अब गायब हैं। शेष चार पहलों में से प्रत्येक में तीन-तीन खिड़कियाँ हैं। बीच की खिड़की अगल-बगल की खिड़की से बड़ी है और उसके सामने दो स्तम्भ हैं जिनके सहारे एक पतला-सा बारजा निकला हुआ है। खिड़कियों के खम्भों पर पूर्णघट और बेलों का अलंकरण है। छोटी खिड़कियों के ऊपर गवाक्ष तोरण का अलङ्करण है। दीवारों और उसके कोनों में पुश्ते के ऊपर उभरी हुई कारनीस है जो भवन के आकार के अनुपात में बहुत भारी ज्ञात होती है। भीतर भी मन्दिर अठपहल है और उसका व्यास केवल बीस फुट है। भीतर की कोणवाली

---

१. आ० स० इ०, ए० रि०, १९०२-०३, पृ० ४२; १९२३-२४, पृ० २३।

२. द एज ऑव द इम्पीरियल गुप्ताज, पृ० १५६-१५८।

दीवारों के बीच में छोटी-छोटी रथिकाएँ हैं किन्तु वे मूर्ति शून्य हैं। बीच में चार खम्भे हैं जो नीचे-ऊपर चौकोर और बीच में अठपहल है। उसके ऊपर सपाट छत है जिसका निर्माण आधुनिक लोकनिर्माण विभाग ने किया है। मूल छत का रूप क्या था कहा नहीं जा सकता। राखालदास बनर्जी ने उसके ऊपर शिखर होने की कल्पना की है[1] किन्तु इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। दो वर्ष पूर्व इन पंक्तियों के लेखक ने इस मन्दिर का सर्वेक्षण किया था। उस समय उसे मन्दिर से बाहर दो चौकोर पत्थर की काफी लम्बी-चौड़ी पटिया देखने को मिली थीं। प्रत्येक पटिये पर बहुत बड़ा और विस्तृत अलंकृत फुल्लकमल का आधा भाग बना हुआ था। दोनों जोड़ का पूरे फुल्लकमल का रूप उपस्थित करते थे। निश्चय ही ये छत के पत्थर हैं। उनका उपयोग मूल मन्दिर के छत के लिए किया गया था अथवा वह किसी मण्डप का छत था यह कहना कठिन है। बहुत सम्भव है पालकाल में किये गये जीर्णोद्धार से पूर्व यह मन्दिर गुप्तकालीन मन्दिरों के क्रम में ही सपाट छतोंवाला रहा हो।

मन्दिर के प्रांगण में एक स्तम्भ पर एक लेख प्राप्त हुआ है, जो किसी अज्ञात संवत् अथवा शासन वर्ष ३० का है।[2] उसमें किसी महासामन्त महाप्रतिहार महाराज उदयसेन का नाम है और विनीतेश्वर के मन्दिर के निकट नारायण के मन्दिर (मठ) की स्थापना तथा मण्डलेश्वर के मन्दिर के यज्ञ के निमित्त दो प्रस्थ चावल की दैनिक व्यवस्था तथा प्रबन्ध के लिए ५०० दीनार दान देने की चर्चा है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ एक नहीं अनेक मन्दिर थे, पर उनके सम्बन्ध में अभी तक ऊहापोह नहीं हुआ है। अङ्कित तिथि को हर्ष संवत् मान कर ही इस मन्दिर को सातवीं शती का अनुमान किया जाता है; किन्तु इस लेख की लिपि गुप्तकालीन अधिक प्रतीत होती है; इस लिए इस बात की सम्भावना हो सकती है कि यह तिथि गुप्त संवत् की हो। किन्तु उदयसेन के विरुद्ध उसके आरम्भिक गुप्तकालीन होने में सन्देह प्रकट करते हैं। वस्तुस्थिति जो हो, उत्तर गुप्तकालीन मन्दिरों के क्रम में इस मन्दिर का उल्लेख होना चाहिए और वास्तु-कला के इतिहास की दृष्टि से इसका महत्त्व आँका जाना चाहिए।

११. भीटरगाँव का ईंटों का मन्दिर—कानपुर जिले में स्थित भीटरगाँव में ईंटों का बना मन्दिर सर्व-प्रथम देखने में आता है। इसका महत्त्व ईंट का प्राचीनतम मन्दिर होने में ही नहीं है वरन् इस बात में भी है कि उसमें शिखर है। यह मन्दिर काफी ऊँचे चबूतरे (जगतीपीठ) पर बना है। इसकी तीन ओर की बाहरी दीवारें बीच में आगे की ओर निकली हुई हैं। सामने अर्थात् पूर्व की ओर ऊपर जाने की सीढ़ियाँ और द्वार है। द्वार के भीतर सात फुट वर्ग का एक छोटा-सा कमरा अथवा मण्डप है और फिर उसके आगे गर्भगृह में जाने का द्वार है। गर्भगृह वर्गाकार १५ फुट है। प्रवेशद्वार और गर्भगृह का द्वार दोनों ही के सिरदल अर्ध-वृत्तनुमा है और दोनों ही कमरों की छतें छज्जों की तरह दोनों ओर से कोणाकार हैं। गर्भगृह के

१. वही, पृ० १५७।
२. ए० इ०, ९, पृ० २८२-८३।

ऊपर एक कमरा है, जो आकार में उससे आधे से भी कम है। कदाचित् वह मूल रूप में बन्द था। कनिंगहम की सूचना के अनुसार अठारहवीं शती में किसी समय बिजली गिरने से शिखर का ऊपरी भाग ढह गया तब ऊपर का यह कमरा दिखाई पड़ा।[१]

इस मन्दिर का बाहरी भाग बहुत ही ध्वस्तावस्था में है, फिर भी उसके आकार की विशालता का भली प्रकार अनुमान किया जा सकता है। वह चारों ओर मिट्टी के उच्चित्रित फलकों से पूर्णतः मण्डित था, ऐसा उपलब्ध अवशेषों से ज्ञात होता है। शिखर और मन्दिर के गर्भगृह के बीच दुहरी कारनीस थी और उसके ऊपर गवाक्षों की एक के ऊपर एक पातें थीं जो दोनों ओर से कम होती गयीं। अनुमान किया जाता है कि ऊपर जाकर उनका अन्त कुब्ज-पृष्ठ के रूप में हुआ होगा।

१२. बोधगया का महाबोधि मन्दिर—बोधगया में आज जो महाबोधि मन्दिर है, उसका वह रूप है जो उसे ग्यारहवीं शती में बर्मियों ने मरम्मत कर प्रदान किया; किन्तु विश्वास किया जाता है कि उसमें उसका बहुत कुछ वह रूप अक्षुण्ण है जिस रूप में उसे ६४७ ई० के आस-पास चीनी यात्री युवान-च्वांग ने देखा था। उसका कहना है कि यह विहार (मन्दिर) १६०-१७० फुट ऊँचा था और नीचे उसकी चौड़ाई ५० फुट के लगभग थी। वह नीलछौ रंग के ईंटों से बना था; उस पर पलस्तर किया हुआ था और उसमें रथिकाओं की अनेक पातें थीं जिनमें बुद्ध की चमकती मूर्तियाँ थीं।[२] लोग इस मन्दिर में प्रायः भीटरगाँव के मन्दिर के साथ सामंजस्य का अनुभव करते हैं। कहते हैं कि दोनों ही ईंटों के बने हैं, दोनों के शिखरों के किनारे सीधे हैं। दोनों में चारों ओर रथिकाओं (गवाक्षों) की पातें थीं। दोनों में ऊपर कमरे थे और दोनों के द्वार के सिरे वृत्ताकार थे।[३]

१३. नालन्द का मन्दिर—युवान-च्वांग ने नालन्द में बालादित्य द्वारा २०० फुट ऊँचे मन्दिर के बनवाने का उल्लेख किया है, जो बोधगया के मन्दिर से अपने रूप और भव्यता में बहुत सादृश्य रखता था।[४] उत्खन में वहाँ एक मन्दिर का जगती-पीठ मिला है जो वर्गाकार ६४ फुट है। उसके देखने पर जान पड़ता है कि उसकी भूयोजना बोधगया के मन्दिर के समान ही थी। ईंटों पर चूने का पलस्तर हुआ था और कदाचित् उसमें बुद्ध की आकृतियों की पाँत थी।

१४. कुशीनगर का मन्दिर—कुशीनगर (कसिया) का निर्वाण मन्दिर भी ईंटों का बना था। इसके भीतर बुद्ध की एक विशाल महापरिनिर्वाण मूर्ति प्रतिष्ठित थी। इस मूर्ति पर गुप्तकालीन लिपि में अभिलेख है, जिससे मन्दिर के गुप्त काल में बनने का अनुमान किया जाता है। इस मन्दिर के छेंकन मात्र ही उत्खनन में प्राप्त हुए हैं,

---

१. क० आ० सा० रि०, ११, पृ० ४०; आ० स० इ०, ए० रि०, १९०८-०९, पृ० ८।

२. कनिंगहम, महाबोधि ऑर द ग्रेट बुद्धिस्ट टेम्पल एट बोधगया, पृ० १८।

३. क० आ० सा० रि०, ११, पृ० ४२-४४; कुमार स्वामी, हिस्ट्री ऑव इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृ० ८१; स० कु० सरस्वती, क्लासिकल एज, पृ० ५१७-१८।

४. क० आ० स० रि०, ११, पृ० ६२।

जिससे ज्ञात होता है कि मन्दिर ४८ फुट लम्बा और ३२ फुट चौड़ा था। उसके गर्भगृह की लम्बाई ३५ फुट और चौड़ाई १५ फुट थी और दीवार दस फुट मोटी थी। इस मन्दिर का जगतीपीठ भीटरगाँव की तरह ही अलंकृत मृत्फलकों से सजा हुआ था।

१५. **कहाँव का मन्दिर**—कहाँव (जिला देवरिया) में स्कन्दगुप्त के काल (गुप्त संवत् १४१) का जो जैन ध्वज स्तम्भ है, उसके निकट बुकानन ने दो ध्वस्त मंदिर देखे थे। उन्होंने उन्हें एक के ऊपर एक कोठरी के रूप में पाया था[1] अर्थात् वे भीटरगाँव और बोधगया के मन्दिरों की तरह ही थे। कदाचित् उनकी तरह शिखर युक्त भी रहे हों। कनिंगहम ने जब उस स्थान को देखा तो उन्हें केवल एक मंदिर का छेकन मात्र मिला जिससे ज्ञात हुआ कि गर्भगृह मात्र ९ वर्ग फुट है और उसकी दीवार केवल डेढ़ फुट मोटी है। इस प्रकार यह मन्दिर बाहर से केवल साढ़े बारह फुट वर्गाकार था।[2] ध्वजस्तम्भ से इस मंदिर का क्या सम्बन्ध था निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इन पंक्तियों के लेखक को यह छेंकन स्तम्भ से काफी दूर पर देखने को मिला है।

१६. **अहिच्छत्रा का शिव मन्दिर**—१९४० से १९४४ तक अहिच्छत्रा (जिला बरेली) में जो उत्खनन हुआ था उसमें एक शिवमन्दिर के जगतीपीठ के अवशेष प्रकाश में आये। इस उत्खनन का विवरण अभी तक अप्रकाशित है; उसके सम्बन्ध में जो कुछ भी जानकारी प्राप्त होती है वह अमलानन्द घोष[3] और वासुदेव शरण अग्रवाल[4] के प्रासंगिक उल्लेखों से ही। उनके उल्लेखों से ज्ञात होता है कि इस मन्दिर का निर्माण कई तल्लों की पीठिका पर हुआ था और पीठिका का प्रत्येक तल अपने ऊपर के चौकोर स्वरूप के चारों ओर प्रदक्षिणा-पथ का काम देता था। ऊपर के चौकोर स्वरूप का निर्माण छोटी-छोटी कोठरियों को मिट्टी से भर कर बनाया गया था। इसके ऊपर कोई विशाल शिवलिंग स्थापित रहा होगा, ऐसा लोगों का अनुमान है। इस प्रकार उन लोगों के मत में यह बौद्ध स्तूपों के अनुकरण पर बना प्रतीत होता है। किन्तु इस सम्भावना पर ध्यान नहीं दिया गया है ऊपर का चौकोर स्वरूप गर्भगृह का आधार हो और उसके ऊपर वर्गाकार कमरा रहा हो। ऊपरी तल मिट्टी के उच्चित्रित फलकों से चारों ओर अलंकृत था और उस पर जाने के लिए जो सीढ़ी थी उसके दोनों ओर मिट्टी की बनी गंगा और यमुना की आदमकद मूर्ति थी। इस मन्दिर का निर्माण किसी कुषाण वास्तु के ऊपर हुआ था; इस कारण इसे गुप्त काल का अनुमान किया जाता है। मृत्फलकों के उच्चित्रण की शैली के आधार पर लोग उसका समय ४५० और ६५० ई० के बीच रखते हैं।

---

१. बुकानन, ईस्टर्न इण्डिया, २, पृ० ३६७।
२. कनिंगहम, क० आ० स० रि०, १, पृ० ९४।
३. एन्शियण्ट इण्डिया, १, पृ० ३८।
४. वही, ४, पृ० १३३, १६७।

१७. पद्मावती (पवाया) का मन्दिर—अहिच्छत्रा के समान ही तीन तल्लों वाला ईंटों का बना एक चौकोर वास्तु पद्मावती (पवाया) से प्रकाश में आया है। इसका सबसे निचले तल्ले का ठोस भाग एकदम सादा है। उसके ऊपर जो दो तल हैं उनका बाहरी भाग अनेक फलकों और अर्धस्तम्भों से अलंकृत था और उनके ऊपरी भाग में गवाक्षों की पाँत थी। उपलब्ध अवशेषों से ज्ञात होता है कि इन तलों के ऊपर गर्भगृह रहा होगा और नीचे के ये तल उसके लिए प्रदक्षिणापथ काम देते रहे होंगे।[1] वह मन्दिर कदाचित् विष्णु का था।

१८. मणियार मठ—राजगृह में उत्खनन से ईंटों का बना एक विचित्र वास्तु प्रकाश में आया जो रूप में गोल नलाकार है। उसका यह रूप कई युगों के क्रमशः परिवर्तन, परिवर्धन और निर्माण का परिणाम है। अपने प्राचीनतम रूप में वह पाँच फुट मोटी दीवार का नलाकार वास्तु था उसमें चार दिशाओं में आगे को निकले हुए चार छज्जे थे। गुप्त काल में पूर्ववर्ती दीवाल के ऊपर एक दूसरी गोल दीवाल उसी तरह छज्जे के साथ खड़ी की गयी और उसके ऊपर गचकारी की बनी दस मूर्तियाँ दीर्विकाओं में स्थापित थीं। अब ये मूर्तियाँ नष्ट हो गयी हैं। मूल अवस्था में बाहरी दीवार भी गोल थी पर पीछे उसका रूप चौकोर हो गया। बाहरी दीवार में उत्तर की ओर जो छज्जा है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि भीतरी और बाहरी दीवार के बीच का खाली हिस्सा प्रदक्षिणा-पथ का काम देता रहा होगा।[2] इस वास्तु का गोल नलाकार रूप किसी नये वास्तु-रूप की कल्पना की अपेक्षा पूर्वानुकरण मात्र है। अतः गुप्तकालीन वास्तुकला के इतिहास की दृष्टि से इसका कोई महत्त्व नहीं है।

इन मन्दिरों के अतिरिक्त कुछ अन्य मन्दिरों का भी उल्लेख गुप्तकालीन मन्दिरों के प्रसंग में किया जाता है; किन्तु उनका विस्तृत विवरण उपलब्ध न होने से उन पर विचार नहीं किया जा सकता; इसलिये हमने उनकी उपेक्षा की है।

मन्दिरों का विकासक्रम—गुप्त-कालीन मन्दिर-वास्तु के विकास-क्रम के सम्बन्ध में विद्वानों ने जो कुछ भी चर्चा की है, उसमें उन लोगों ने मुख्यतः शैली की विवेचना कर के ही कुछ कहा है; उसके लिए उन्होंने कोई ठोस आधार उपस्थित नहीं किया है।

गुप्तकालीन कहे जाने वाले मन्दिरों का विभाजन मोटे रूप में पत्थर और ईंट के वास्तु के रूप में दो भागों में किया जा सकता है। ईंट के बने मन्दिरों में भीटरगाँव के मन्दिर को छोड़ कर अन्य किसी मन्दिर के बाह्य स्वरूप की कोई ठोस कल्पना नहीं की जा सकती। इस मन्दिर के क्रम में बोधगया के महाबोधि के मन्दिर को रखते हैं, पर उसका इतनी बार जीर्णोद्धार हुआ है कि उसके आधार पर प्रामाणिक

१. ग्वालियर राज्य के पुरातत्त्व विभाग की वार्षिक रिपोर्ट, १९२७ ई०, पृ० १९।

२. आ० स० इ०, ए० रि०, १९०४-०५; कुरेशी तथा घोष, ए गाइड टु राजगिर (दिल्ली, १९३९)।

ढंग से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। भीटरगाँव के मन्दिर के सम्बन्ध में राखालदास बनर्जी का मत है कि वह मध्यकाल से पूर्व का मन्दिर नहीं है।[१] कनिंगहम की दृष्टि में वह ७-८वीं शती का वास्तु है।[२] पर्सी ब्राउन ने उसे पाँचवीं शती का[३] और फोगल ने चौथी शती ई० का[४] कहा है। पृथ्वीकुमार का कहना है कि समय क्रम में इस मन्दिर को देवगढ़ के मन्दिर से दूर नहीं रखा जा सकता, क्योंकि इसका उससे बहुत सादृश्य है। इसलिये वे उसे ४९०-५०० ई० के आसपास रखते हैं।[५] पृथ्वीकुमार के कथन से जहाँ इस बात में सहज भाव से सहमत हुआ जा सकता है कि देवगढ़ और भीटरगाँव के मन्दिरों में पर्याप्त सादृश्यता है और दोनों कालक्रम में एक-दूसरे से बहुत दूर न होंगे, वहीं उनके निर्धारित तिथि को भी सहज भाव से नकारा जा सकता है। देवगढ़ के मन्दिर के लिए वे जिस आधार पर तिथि निर्धारित करते हैं, उसका कोई आधार ही नहीं है। इसकी विवेचना हम आगे चल कर करेंगे। यहाँ हम मगध के उत्तरवर्ती गुप्तवंशीय नरेश जीवितगुप्त (द्वितीय) द्वारा बनवाये गये देव वर्णार्क (जिला शाहाबाद, बिहार) के उस मन्दिर की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहेंगे जिसकी ओर अभी तक किसी विद्वान् ने ध्यान नहीं दिया है और जो भीटरगाँव और बोधगया की ईंटों वाली परम्परा में ही बना है और जिसमें उनकी तरह ही गर्भगृह के ऊपर दूसरी कोठरी बनी हुई थी। जीवितगुप्त का अभिलेख इसके मण्डप के एक स्तम्भ पर प्राप्त हुआ है, जो आठवीं शती ई० के आरम्भ का है। इस प्रकार यदि हम भीटरगाँव और बोधगया के मन्दिरों को इससे पूर्व का मानें तो भी वह सातवीं शती के उत्तरार्ध से पहले का कदापि नहीं हो सकता। कनिंगहम ने उसे ठीक ही सातवीं-आठवीं शती में रखा था।

देवगढ़ का मन्दिर ईंट का न होकर पत्थर का बना है और पत्थर के बने गुप्तकालीन कहे जाने वाले मन्दिरों में एक यही ऐसा है जो शिखरयुक्त है। मूर्तिकला के आधार पर उसका काल निर्धारित करते हुए कनिंगहम उसे ६०० ई० से पहले का नहीं मानते।[६] राखालदास बनर्जी ने उसका समय ५७५ ई०[७] माधोस्वरूप वत्स ने छठी शती का आरम्भ[८] और पर्सी ब्राउन ने ५०० ई० के आसपास[९] माना है। दयाराम साहनी ने स्व-अन्वेषित दो पंक्तियों के गुप्त-लिपि के एक अभिलेख के आधार पर इसे आरम्भिक

१. आ० स० इ०, ए० रि०, १९०८-०९, पृ० ६।

२. क० आ० स० रि०, ११, पृ० ४०-४६।

३. इण्डियन आर्चिटेक्चर, पृ० ४१।

४. पृथिवीकुमार द्वारा गुप्त टेम्पुल आर्चिटेक्चर (पृ० ४७) में उल्लेख।

५. गुप्त टेम्पुल आर्चिटेक्चर, पृ० ४७।

६. क० आ० स० रि०, १०, पृ० ११०।

७. द एज ऑव इम्पीरियल गुप्ताज, पृ० १४७।

८. द गुप्त टेम्पल एट देवगढ़।

९. इण्डियन आर्चिटेक्चर, पृ० ५०।

गुप्त-काल में रखने की चेष्टा की है।[1] इस अभिलेख को वासुदेवशरण अग्रवाल[2] और पृथ्वीकुमार[3] ने विशेष महत्त्व दिया है। यह लेख साइनी को देवगढ़ मन्दिर के प्रांगण में एक स्तम्भ पर अंकित मिला था। वह इस प्रकार है : **केशवपुरस्वामी-पादीय भागवत गोविन्दस्य दानं**। इस लेख में उल्लिखित भागवत गोविन्द को वासुदेवशरण अग्रवाल ने द्वितीय चन्द्रगुप्त के पुत्र गोविन्दगुप्त के होने का अनुमान किया है और कहा है कि सम्भवतः उन्होंने ही देवगढ़ स्थित विष्णु-मन्दिर का निर्माण कराया था। अपने पिता की इसी बात को पकड़ कर पृथ्वीकुमार ने देवगढ़ के मन्दिर के द्वितीय चन्द्रगुप्त के उत्तरवर्ती काल अथवा प्रथम कुमारगुप्त के शासनकाल के आरम्भ में रखने की चेष्टा की है और कहा है कि उन दिनों गोविन्दगुप्त मालवा में शासन कर रहा था। इस प्रकार उन्होंने उसका समय ४०० और ४३० ई० के बीच अनुमान किया है।

किन्तु देवगढ़ के अभिलेख के **भागवत गोविन्द** को गुप्तवंशीय गोविन्दगुप्त के पहचानने में वासुदेवशरण अग्रवाल ने कतिपय तथ्यपरक भूलें की हैं। उनके कथन से ऐसा झलकता है कि बसाढ़ की मुहर और ग्वालियर संग्रहालय के अभिलेख में गोविन्दगुप्त का उल्लेख भागवत गोविन्द के रूप में हुआ है। उनकी मूल शब्दावली हमने अन्यत्र उद्धृत की है।[4] वस्तुतः ऐसी कोई बात न तो बसाढ़ वाली मुहर में है और न ग्वालियर संग्रहालय वाले अभिलेख में। पहले इस बात की ओर संकेत किया जा चुका है कि गुप्त शासक अपने को **भागवत** नहीं **परमभागवत** कहते थे; लेख में मात्र **गोविन्द** का उल्लेख है, **गोविन्दगुप्त** का नहीं। यदि शासक के रूप में गोविन्दगुप्त ने इस मन्दिर को बनवाया होता तो अपनी वंशपरम्परा और मर्यादा के अनुरूप ही उन्होंने विस्तृत प्रशस्ति अंकित कराया होता।[5] एक सामान्य दाता के लेख को गोविन्दगुप्त का लेख मान कर उसके आधार पर देवगढ के मन्दिर की तिथि कदापि निर्धारित नहीं की जा सकती। यदि गोविन्दगुप्त के समय में देवगढ़ की तरह का शिखरयुक्त मन्दिर बनना आरम्भ हो गया होता तो कोई कारण नहीं कि उसका अनुकरण बुधगुप्त के समय में धन्यविष्णु द्वारा वराह मन्दिर बनवाने में न किया जाता। ४१५ ई० के आस पास शिखर की विकसित परम्परा आरम्भ हो जाने के ७० वर्ष बाद भी गुप्त संवत् १६४ (४८४ ई०) में एरण के वास्तुकार सपाट छतों वाली शिलावेश्म परम्परा से चिपटे रहे, यह इतिहास की एक अनहोनी घटना ही कही जायेगी। तथा

---

१. ए० प्रो० रि० आ० स० इ० (नार्दर्न सर्किल), १९१८, पृ० ८, ४२।

२. स्टडीज इन इण्डियन आर्ट, पृ० २२४-२२५।

३. गुप्त टेम्पुल आर्किटेक्चर, पृ० ३८।

४. पीछे, पृ० ३०१, पा० टि० २।

५. स्कन्दगुप्त ने भितरी में विष्णुमन्दिर की स्थापना के प्रसंग में अपना विस्तृत प्रशस्ति अंकित करायी थी।

६. गुप्त टेम्पुल आर्किटेक्चर, पृ० ३३।

रूप में यही स्वीकार करना होगा कि पाँचवीं शती के अन्त तक शिखर शैली का विकास नहीं हुआ था। देवगढ़ के मन्दिर का निर्माण ५०० ई० से पूर्व कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता। साथ ही, जैसा ऊपर कहा गया है देवगढ़ का मन्दिर भीटरगाँव के मन्दिर के क्रम में है और भीटरगाँव के मन्दिर का समय सातवीं शती के उत्तरार्ध से पहले नहीं हो सकता। देवगढ़ और भीटरगाँव के मन्दिरों के बीच पौने दो सौ वर्ष के अन्तर वर्ष की कल्पना नहीं की जा सकती; इसलिए यही कहना होगा कि शिखर शैली ने ५०० ई० के बहुत बाद तक जन्म नहीं लिया था। जन्म के बाद भी देवगढ़ के शिखर सरीखा रूप लेने के लिए कुछ समय अपेक्षित है। इसलिए हमें कनिंगहम का ही अनुमान युक्तिसंगत जान पड़ता है, देवगढ़ का मन्दिर ६०० ई० से पहले का नहीं है।

शिखर शैली के विकास के सम्बन्ध में पृथ्वीकुमार ने महुआ के मन्दिर का उल्लेख किया है, जिसका परिचय न तो उन्होंने दिया है और न अन्यत्र कहीं हमें प्राप्त हो सका। किन्तु उन्होंने उसका जो चित्र प्रकाशित किया है,[1] उससे ज्ञात होता है कि वह भी सपाट छतों वाला मन्दिर है : अन्य सपाट छतों वाले मन्दिरों से इसमें अन्तर यह है कि मण्डप की छत से गर्भगृह की छत ऊँची है। अतः पृथ्वीकुमार की कल्पना है कि दो या तीन (एक से अधिक) शिला-फलकों को ये एक के ऊपर एक रख कर बनायी गयी छत शिखर के विकास के प्रथम चरण रहे होंगे। पर उनकी इस कल्पना में महुआ के मन्दिर की छत का कोई योग दिखायी नहीं पड़ता और न शिखर के विकास की कोई कल्पना ही उभरती है। यदि पृथ्वीकुमार की इस कल्पना को आधार बनाया जाय तो अधिक संगत भाव से नचना-कुठारा के पार्वती मन्दिर की ओर ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है और उसे शिखर के मूल में सरलता से रखा जा सकता है। छत सपाट होते हुए भी शिखर वाले आरम्भिक मन्दिरों के साथ उसकी समानता इस बात में है कि उनकी तरह ही इस पर भी गर्भगृह के ऊपर कोठरी है और उस पर जाने के लिए कोई सीढ़ी नहीं है। कोठरी के ऊपर कोठरी, जाकर सरलता से शिखर का रूप धारण कर सकती है, जैसा कि बोधगया में हम देखते हैं। यदि हमारी इस कल्पना में तथ्य है तो नचना-कुठारा के इस मन्दिर के निर्माणकाल को शिखर के विकास का आरम्भकाल कहा जा सकता है। यह मन्दिर सम्भवतः परिव्राजक महाराज हस्तिन के काल (४७५-५१० ई०) में बना था। इसके पश्चात् ही शिखर-शैली का विकास हुआ होगा। इस प्रकार समग्र गुप्तकाल तक मन्दिर सपाट छतों वाले ही बनते रहे, यह सहज रूप से कहा जा सकता है।

सपाट छतों वाले मन्दिर जो गुप्त-काल के अन्तर्गत आते हैं, उन पर दृष्टि डालने पर वे स्पष्टतः तीन वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं :

(१) भूमरा और नचना-कुठारा के मन्दिर अपनी भू-योजना में अन्य सब मन्दिरों से अलग हैं। वे ऊँचे चबूतरे पर बने एक वर्गाकार घेरे के भीतर छोटे वर्गाकार गर्भ-

---

१. वही, फलक १६ अ।

गृह के रूप में हैं और दोनों के बीच का भाग ढका प्रदक्षिणापथ सरीखा था। उनके सामने मण्डप और उसके आगे चढ़ने-उतरने के लिए सीढ़ियाँ थीं। इस प्रकार ये मन्दिर अन्य मंदिरों की तुलना में स्पष्टतः काफी विकसित हैं। नचना-कुठारा के मन्दिर के सम्बन्ध में ऊपर कहा जा चुका है कि उसका समय पाँचवीं शती का अन्त अथवा छठी शती का आरम्भ होगा। भूमरा का मन्दिर भी उसी क्रम में है अतः उसका भी समय वही आँका जा सकता है। इस प्रकार ये मन्दिर गुप्तकाल के अन्त के हैं। पर इन दोनों में कौन पहले का है, इस सम्बन्ध में एक मत नहीं है। राखालदास बनर्जी भूमरा के मन्दिर को पहले रखते हैं[1] और सरसीकुमार सरस्वती नचना-कुठारा को।[2]

(२) कनिंगहम ने एरण के विष्णु मन्दिर के साथ समुद्रगुप्त के अभिलेख के सम्बद्ध होने की कल्पना प्रस्तुत की है।[3] यदि उनकी कल्पना को स्वीकार किया जाय तो सपाट मन्दिरों की शृंखला में इसको प्राचीनतम मानना होगा। पर उन्होंने अपनी इस कल्पना के लिए कोई आधार प्रस्तुत नहीं किया है और न किसी अन्य साधन से उसका समर्थन ही होता है। इस मन्दिर के रूप-योजना पर दृष्टि डालने से प्रकट होता है कि उसके अगल-बगल और पीछे की दीवारों का बीच का भाग कुछ आगे को निकल कर उभरा हुआ है। यह विशेषता कुछ सीमा तक नचना-कुठारा के पार्वती मन्दिर के बाहरी दीवालों में भी देखने को मिलती है। इन दोनों मन्दिरों के अतिरिक्त अन्य किसी सपाट छतों वाले मन्दिर में यह बात नहीं है। दीवारों के निचले भाग का उभार परवर्ती मन्दिरों में अनिवार्य रूप से देखने में आता है। इस तथ्य को ध्यान में रखने पर इस मन्दिर को प्राचीनतम अर्थात् समुद्रगुप्त के काल का तो कहा ही नहीं जा सकता। उसे अपनी इस विशेषता के कारण नचना-कुठारा के मन्दिर के साथ ही रखना होगा। हो सकता है उससे कुछ पूर्व का हो। इस प्रकार उसका समय पाँचवीं शती का उत्तरार्ध अनुमान किया जा सकता है।

(३) उपर्युक्त तीन मन्दिरों को छोड़ कर शेष सपाट छतों वाले मन्दिर—कुण्डास्थित शंकरमढ़, मुकुन्ददर्रा मण्डप, साँची स्थित मन्दिर, उदयपुर का मन्दिर, तिगोवा का मन्दिर, एरण के नृसिंह और वराह मन्दिर, ऐसे हैं जो आयताकार हैं या वर्गाकार। उनकी भूयोजना या रूप-योजना में ऐसा कुछ नहीं है, जिससे उनके कालक्रम का किसी प्रकार विवेचन किया जा सके। उनके अलंकरण ही एक मात्र ऐसे साधन जान पड़ते हैं, जिनसे काल-क्रम के विवेचन में कुछ सहायता प्राप्त हो सकती है। इन मन्दिरों में ये अलंकरण (१) छतों पर फुल्ल कमल के उच्चित्रण के रूप में; (२) द्वार के अलंकरण के रूप में और (३) स्तम्भों के स्वरूप में उपलब्ध हैं। किन्तु इनके तुलनात्मक अध्ययन

---

१. द एज ऑव इम्पीरियल गुप्ताज, पृ० १३७।
२. द क्लासिकल एज, पृ० ५०७।
३. क० आ० स० रि० १०, पृ० ८९।

की ओर अभी विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। सम्प्रति हम भी अधिक कहने की स्थिति में नहीं हैं; हलकी-सी चर्चा ही कर पायेंगे।

इन सपाट मन्दिरों से उदयगिरि के लयण अपनी भूयोजना और रूप-योजना में बहुत कुछ समानता रखते हैं। उनकी छतें इन्हीं के समान सपाट हैं; उनके सामने इन्हीं की तरह मण्डप रहा है जिनमें इन्हीं की तरह स्तम्भ थे और इन्हीं की तरह उनके भी द्वार अलंकृत थे। इस प्रकार वे लयण होते हुए भी सहज भाव से इनके क्रम में आ जाते हैं। इनको इस रूप में सपाट छतों वाले क्रम में रखने का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इन लयणों में से कुछ अभिलेखयुक्त हैं, अतः उनसे काल सीमा निर्धारित करने में सहायता मिल सकती है। अस्तु,

फुल्लकमल का छतों के बीच में अंकन द्वितीय चन्द्रगुप्त के काल में आरम्भ हो गया था, यह उदयगिरि के वीरसेन (तवा) लयण से स्पष्ट है, उसमें साढ़े चार फुट व्यास का फुल्ल कमल छत के बीच में अंकित है। यह फुल्ल कमल चार वृत्तों का है। भीतर का सबसे छोटा वृत्त कदाचित् निरालंकरण है। उसके बाद के वृत्त में अन्तर्मुखी कमल की पँखुड़ियाँ हैं। तीसरे वृत्त की पँखुड़ियाँ बहिर्मुखी हैं। चतुर्थ वृत्त रज्जुका सदृश है। इस लयण में जो अभिलेख है, उससे इसका समय द्वितीय चन्द्रगुप्त के शासन के उत्तरवर्ती भाग में निश्चित-सा है। वह गुप्त संवत् ८२ और ९३ के बीच या उसके आस-पास किसी समय अर्थात् चौथी शती ई० के अन्तिम चरण में बना होगा। उदयगिरि के एक अन्य लयण (अमृत लयण) में भी छत पर फुल्ल कमल का अंकन है जो सात वृत्तों का बना काफी विस्तृत है। इसमें भी भीतर का सबसे छोटा वृत्त निरालंकरण प्रतीत होता है। उसके बाद का वृत्त रज्जुका का है तदनन्तर दो वृत्त कमल दलों के हैं। फिर एक पतली रज्जुका का वृत्त है। तदनन्तर हस्तिनखयुक्त कोई अलंकरण है। सबसे बाहरी वृत्त रज्जुका सदृश है। फुल्ल कमल के बाहर आस-पास का अंश भी अलंकृत है। कनिंगहम का मत है कि उदयगिरि की लयण-शृंखला में यह सबसे बाद का है। उसका निश्चित समय तो नहीं कहा जा सकता पर दसवीं लयण में गुप्त संवत् १०६ का एक अभिलेख प्राप्त है, उसको सामने रख कर कहा जा सकता है कि अमृत लयण इस काल के बाद ही बना होगा। इस प्रकार उस लयण के फुल्ल कमल के स्वरूप को पाँचवीं शती के उत्तरार्ध में रखा जा सकता है।

चिनाई वाले सपाट छतों के मन्दिरों में छतों पर फुल्ल कमल का उल्लेख शंकर-मढ़, मुकुन्ददर्रा और तिगोवा के मन्दिरों में ही मिलता है। शंकरमढ़ के फुल्ल कमल का रूप निश्चित नहीं किया जा सकता। तिगोवा के फुल्लकमल का चित्र हमें उपलब्ध नहीं हो सका। अतः मुकुन्ददर्रा के ही फुल्लकमल के सम्बन्ध में ही हमारे लिए कुछ कहना सम्भव है। उसका फुल्लकमल तवा लयण के फुल्लकमल की तुलना में काफी विकसित किन्तु अमृत लयण की तुलना में कम विकसित है; अर्थात् इसमें केवल पाँच वृत्त हैं। सबसे छोटा वृत्त सादा, उसके बाद का रज्जुकानुमा, फिर दो वृत्त कमल-दल के हैं और सबसे बाहरी अन्य प्रकार के अलंकार का है। उसके चारों ओर जो छोटे

फुल्लकमल हैं वे केवल चार वृत्तों के हैं। इसके आधार पर मुकुन्ददर्रा का समय पाँचवीं शती का आरम्भ अनुमान किया जा सकता है।

एरण के मन्दिरों में वराह मन्दिर का समय तो उसके अभिलेख से बुधगुप्त के काल में निश्चित ही है। नृसिंह मन्दिर के सम्बन्ध में कहने के लिए कुछ नहीं है। एरण में एक खण्डित शिलाफलक पर फुल्लकमल का अंश अंकित मिला है जो किसी गुप्तकालीन मन्दिर का ही छत होगा। वह इस मन्दिर का छत है यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। किन्तु यदि हो तो उससे कुछ अनुमान किया जा सकता है। इस फुल्लकमल में पाँच वृत्त हैं। पहला वृत्त सादा, दूसरा बड़ा वृत्त कमलदल का, तीसरा रज्जुका का, चौथा लता-पत्र का् और पाँचवाँ पुष्प का है। लता-पत्र और पुष्प का अंकन उपर्युक्त किसी भी फुल्लकमल में देखने में नहीं आता। यह सम्भवतः बाद की कल्पना है। अतः हमारी दृष्टि में कुमारगुप्त के बाद का मानना उचित होगा, हो सकता है यह फुल्लकमल वराह मन्दिर का समकालिक हो। पर उससे नृसिंह मन्दिर के काल पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

साँची के मन्दिर में छत पर फुल्ल कमल का अलंकरण नहीं है, यद्यपि वहीं एक दूसरे मन्दिर, (मन्दिर ४९) में वह उपलब्ध है। इसलिए यह सहज भाव से कहा जा सकता है कि साँची वाले मन्दिर का निर्माण छतों पर फुल्ल कमल अंकित करने की कल्पना आरम्भ होने से पहले हुआ होगा। इस प्रकार वह द्वितीय चन्द्रगुप्त के आरम्भिक काल अथवा उसके पहले का अनुमान किया जा सकता है।

द्वार के अलंकरण के सम्बन्ध में वराहमिहिर का कहना है कि द्वारशाखा के चौथाई भाग में प्रतिहारी (द्वारपाल का अंकन किया जाना चाहिये। शेष में मंगल-विहग, श्रीवृक्ष, स्वस्तिक, घट, मिथुन, पत्रवल्ली, प्रमथ (कुब्जक) अंकित करना चाहिये।[1] वासुदेवशरण अग्रवाल ने गुप्तकालीन द्वारों के अलंकरणों की चर्चा करते हुए ललाट बिम्ब (सिरदल) के बीच में आगे निकले हुए मूर्तन का उल्लेख किया है, बाजुओं के चौथाई भाग में प्रतिहारी के अंकित किये जाने की बात कही है और अलंकरणों के रूप में मांगल्य विहग (सामान्यतः हंस), श्रीवृक्ष, स्वस्तिक, पूर्ण-घट, मिथुन, पत्रलता, फुल्लवल्ली और प्रमथ (कुब्ज) और गंगा-यमुना का उल्लेख किया है।[2] किन्तु इन दोनों ही प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों ने इस बात का कोई संकेत प्रस्तुत नहीं किया है कि वे द्वारों के अलंकरण के किस अवस्था का उल्लेख कर रहे हैं। उन लोगों का यह उल्लेख समग्र गुप्तकाल के द्वार-अलंकरणों के लिए समान रूप से लागू नहीं होता। ये सभी अलंकरण समान रूप से तत्कालीन सभी द्वारों पर नहीं पाये जाते।

उदयगिरि के वीरसेन (तवा) लयण के द्वार पर प्रतिहारियों (द्वारपालों) के अतिरिक्त कदाचित् किसी प्रकार का कोई अंकन नहीं था। सनकानिक लयण में प्रतिहा-

१. बृहत्संहिता ५६।१४-१५।
२. स्टडीज इन इण्डियन आर्ट, पृ० २११।

चन्द्रगुप्त प्रथम (राजदम्पति)

समुद्रगुप्त (धनुर्धर)

समुद्रगुप्त (अश्वमेध)

चन्द्रगुप्त द्वितीय (अश्वारोही)
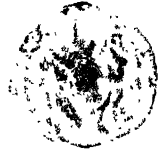
चन्द्रगुप्त द्वितीय (सिंह निहन्ता)

चन्द्रगुप्त द्वितीय (पर्यंकासीन)

कुमारगुप्त प्रथम (अश्वारोही)

कुमारगुप्त प्रथम (अश्वमेध)

कुमारगुप्त प्रथम (ललित गन्धर्व)

कुमारगुप्त प्रथम (कार्तिकेय)

काचगुप्त (चक्रध्वज)　　चन्द्रगुप्त द्वितीय (धनुर्धर)

चन्द्रगुप्त द्वितीय (चक्र विक्रम)

कुमारगुप्त प्रथम (अप्रतिघ)

कुमारगुप्त प्रथम (राजदम्पती)　　क्रमादित्य (छत्र)

कुमारगुप्त प्रथम (चाँदी)　　स्कन्दगुप्त (चाँदी)
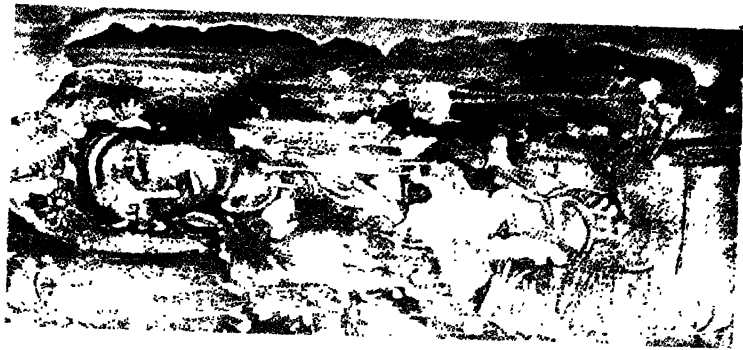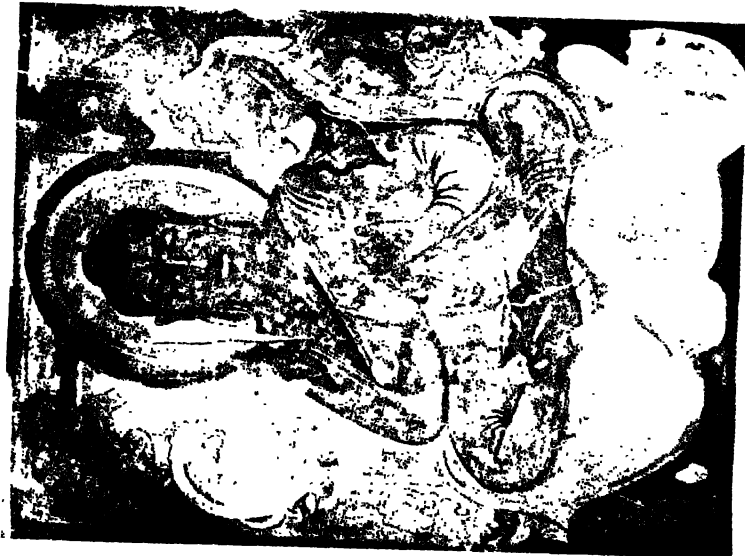
बाघ लयण के चित्र (सौजन्य-पुरातत्त्व विभाग, मध्यप्रदेश)
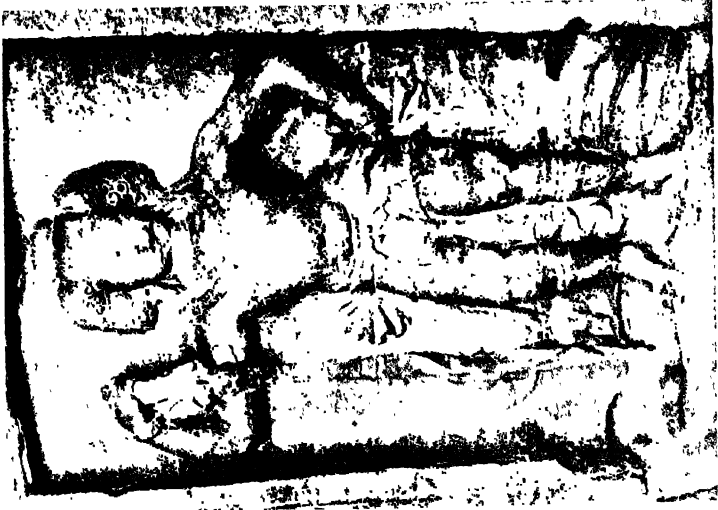
द्वारपाल (मनकानिक लयण, उदयगिरि) (सौजन्य—अमेरिकन अकादमी ऑव बनारस)
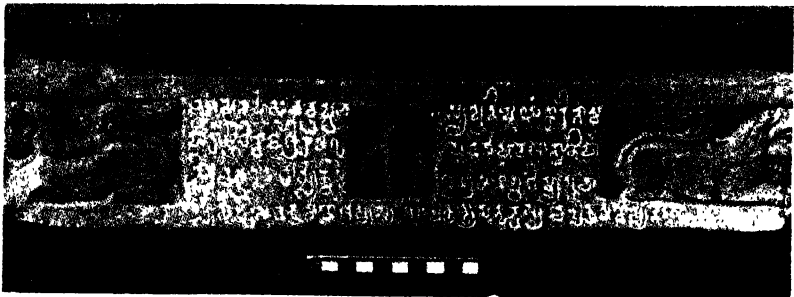
रामगुप्त के अभिलेख सहित जैन तीर्थंकर (विदिशा)

(सौजन्य—भारतीय पुरातत्त्व विभाग)
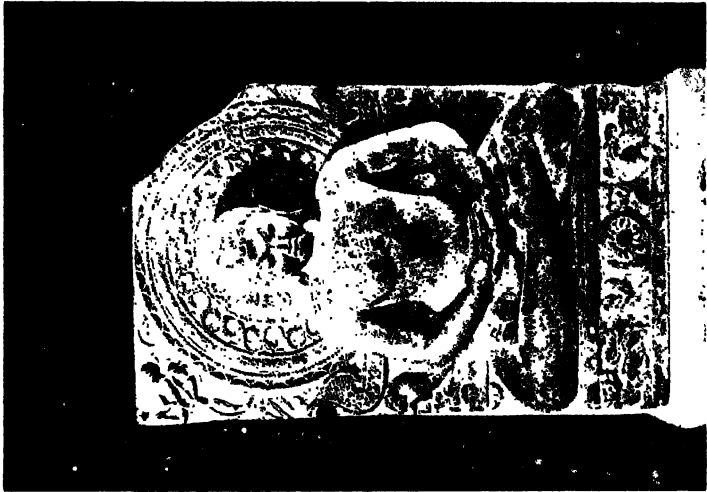
बुद्ध (मानकुँवर) लखनऊ संग्रहालय

(सौजन्य-अमेरिकन अकादमी ऑव बनारस)

तीर्थंकर (मथुरा) लखनऊ संग्रहालय
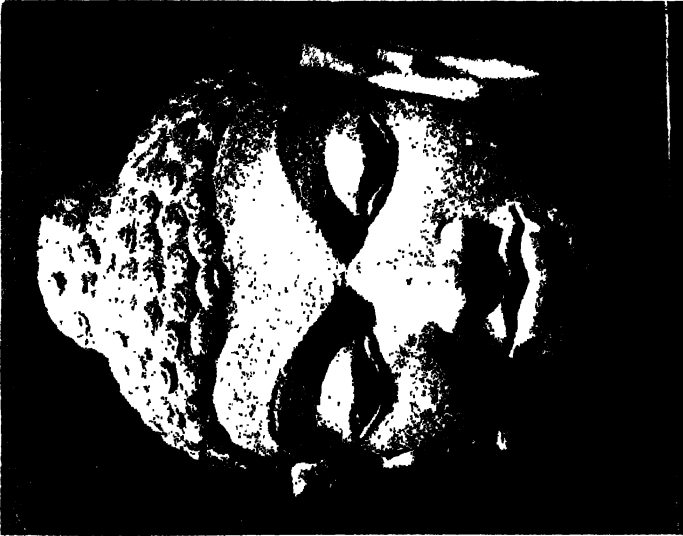
बुद्धमस्तक (सारनाथ)
(गोपीकृष्ण कानोडिया संग्रह)
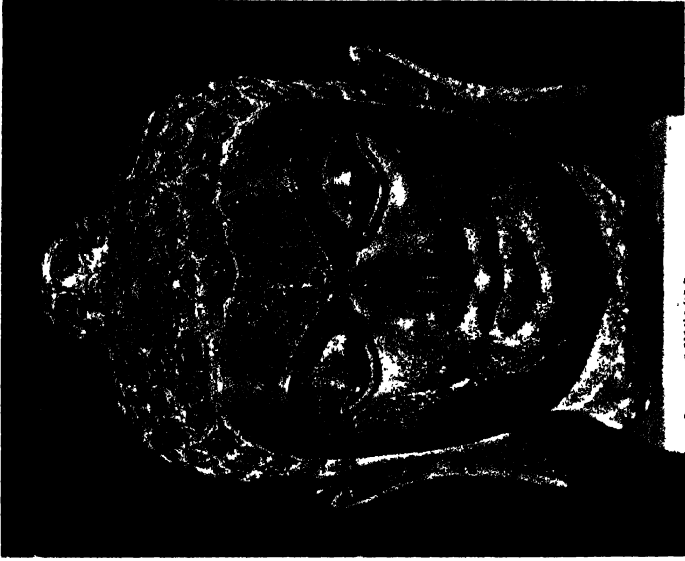
बुद्धमस्तक (सुल्तानगंज, बिहार)
(विक्टोरिया एण्ड एलबर्ट म्युजियम, लन्दन)

एकमुखी लिंग (खोह) (प्रयाग संग्रहालय)
(सौजन्य-अमेरिकन अकादमी आॅव बनारस)

एकमुखी लिंग (भूमरा)
(सौजन्य-अमेरिकन अकादमी आॅव बनारस)

अष्टमुखी लिंग (मन्दसौर)
(सौजन्य-श्री कृष्णदत्त वाजपेयी)

लकुलीश
मथुरा संग्रहालय
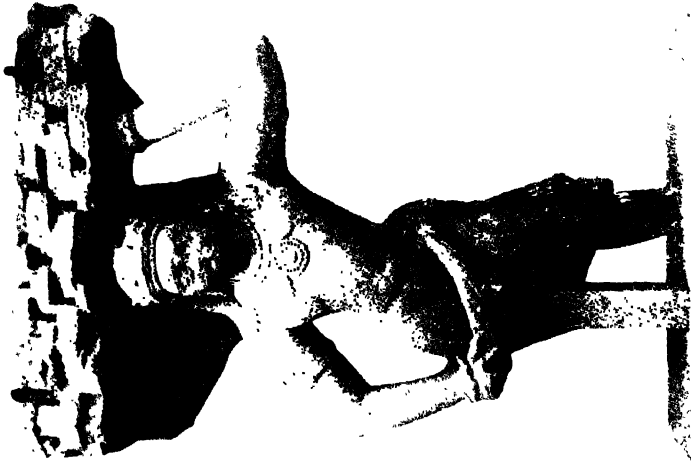
गोवर्धनधारी कृष्ण (सारनाथ)
भारतकला भवन, काशी

वराह (एरण)
(सौजन्य-श्री कृष्णदत्त वाजपेयी)

इन्द्राणी (काशिका शैली)
भारत कला भवन, काशी

विष्णु (राजघाट स्तम्भ)
भारत कला भवन, काशी
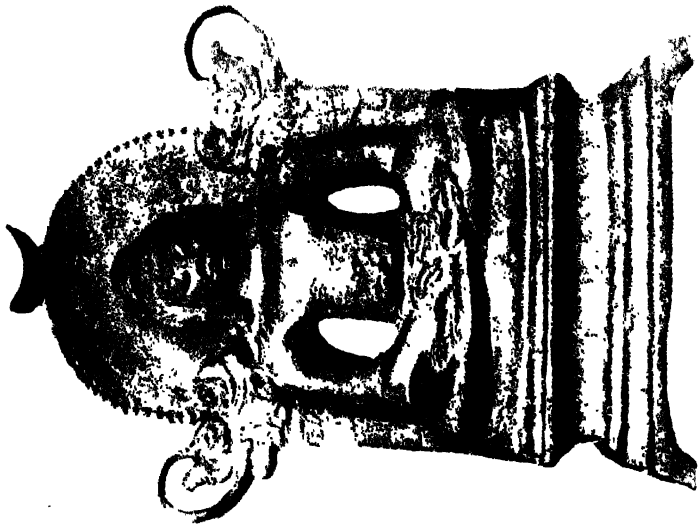
चन्द्रप्रभ (धातुमूर्ति, चौसा)
पटना संग्रहालय

↑ नेमिट (माहाकुण्ड: बिहार)
(सौजन्य — फ्रेडरिक गिगर)

वराह (एरण)
(सौजन्य—अमेरिकन अकादमी ऑव बनारस)
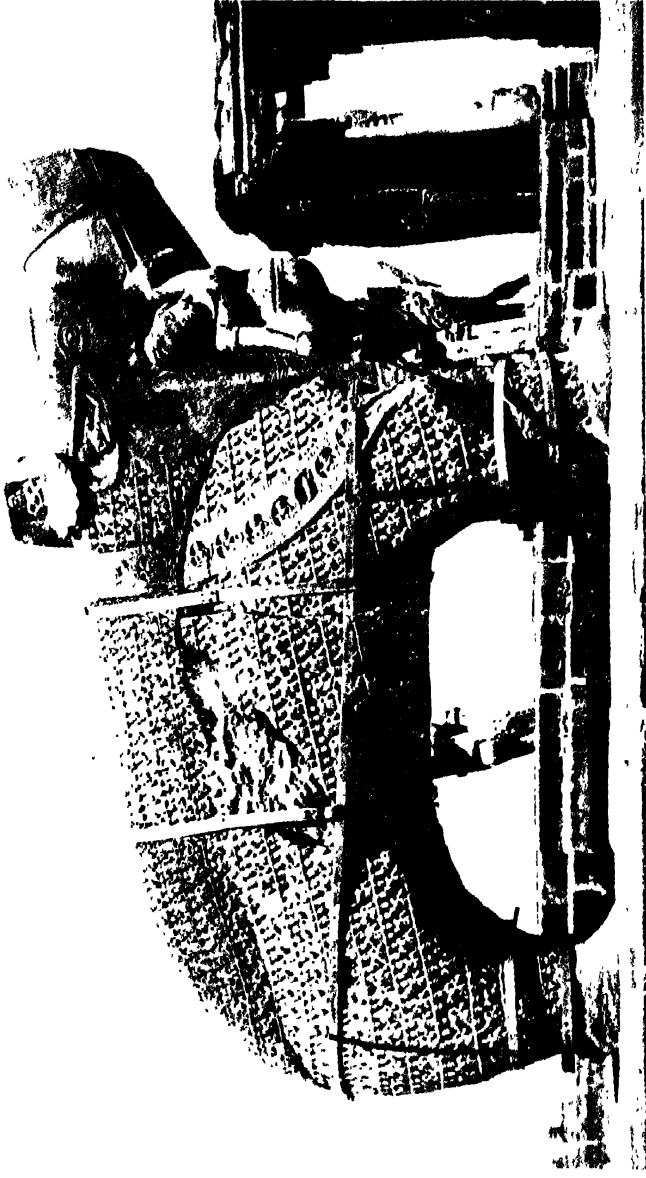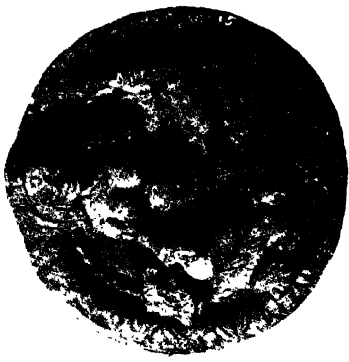
पंचानन शिव-पार्वती (रंगमहल)
(सौजन्य-भारतीय पुरातत्त्व विभाग)

सहेत-महेत (लखनऊ संग्रहालय)

बोधिसत्त्व

सिंहवाहिनी दुर्गा

स्त्री शीर्ष: अहिच्छत्रा
(भा० पु० विभाग)

त्रिनेत्र शिव, राजघाट
भारत कला भवन

पुरुशीर्ष, राजघाट
भारत कला भवन

नृत्य-दृश्य (देवगढ़, झाँसी)
(सौजन्य-श्री कृष्णदत्त वाजपेयी)
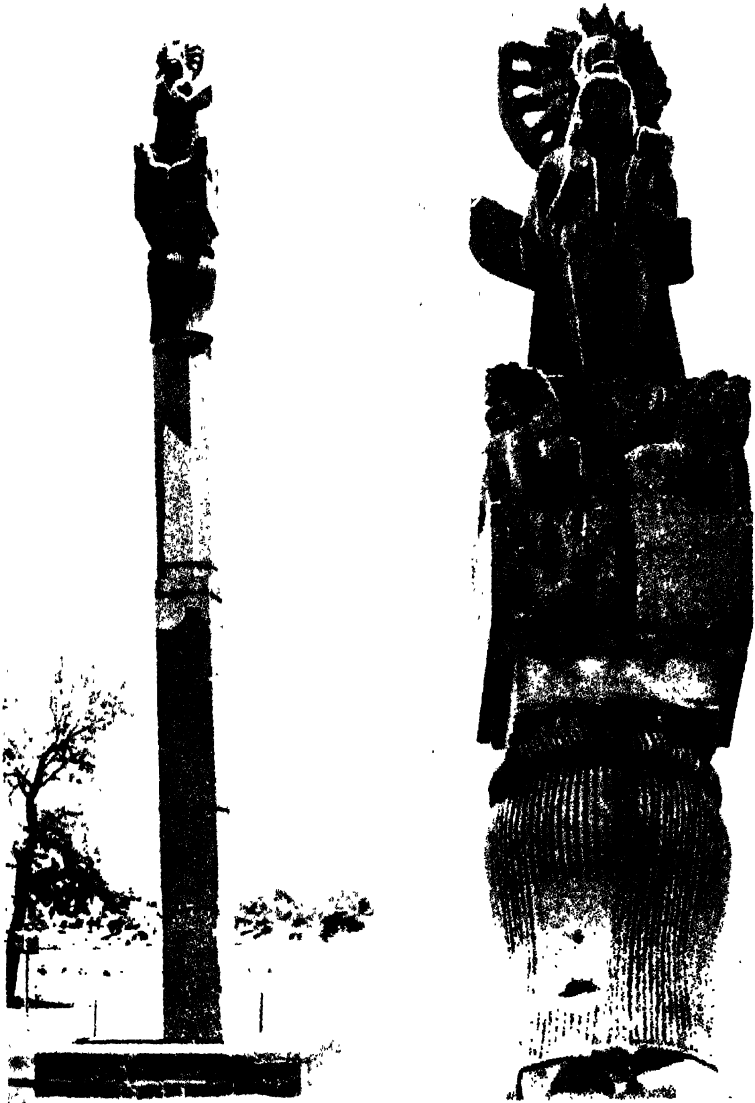
बुधगुप्त-कालीन विष्णु-ध्वज (एरण)
(सौजन्य—अमेरिकन अकादमी ऑव बनारस)

सांची-मन्दिर

मुण्डेश्वरी-मन्दिर
(सौजन्य—पृथ्वीकुमार अग्रवाल)

रियों का अंकन द्वार के बाजुओं से हट कर हुआ है। ये दोनों ही लयण द्वितीय चन्द्रगुप्त के काल के हैं, यह उनमें उपलब्ध अभिलेखों से सिद्ध है। इसलिए द्वार के बाजुओं के अलंकरण में प्रतिहारियों का समावेश निश्चय ही पीछे हुआ होगा। सनकानिक लयण के द्वार के बाजुओं में भीतर से बाहर को उभरती हुई तीन पट्टियाँ हैं। भीतर की दो पट्टियाँ बहुत पतली हैं। उसमें से भीतर वाली पट्टी में फुल्लवल्ली अथवा पत्रलता का अंकन है। उसके बाद वाली पट्टी में एक पतली और एक मोटी रज्जुका का अंकन है तथा ये दोनों पट्टियों का अंकन ऊपर सिरदल में भी हुआ है। इन दो पट्टियों के बाद एक चौड़ी पट्टी है जिसका नीचे का एक तिहाई भाग एकदम अनलंकृत, सादा अथवा अनगढ़ है। उसके ऊपर लगभग एक तिहाई भाग में अर्धस्तम्भ का अंकन है। नीचे चौकोर आधार है, उस पर तिपहल अर्धस्तम्भ है, उसके ऊपर परगाह है। परगहे में पहले सादी मेखला है, उसके ऊपर फुल्ल कमल वाली लम्बोतरी बैठकी है और बैठकी के ऊपर दुहरा कण्ठा है। ऊपरी कण्ठ के ऊपर चौकी है, जिस पर दो बैठे हुए सिंह अंकित किये गये हैं। दोनों ओर की इन बैठकियों के ऊपर रथिका हैं जिनमें मकरवाहिनी वृक्षिका (वृक्ष के नीचे) नारी है। सिरदलपर बाजुओं से आये हुए अलंकरणों के ऊपर खरबूजों के पाँत जैसा अलंकरण है।

अमृत गुहा के द्वार में भी अलंकरण की तीन उभरती हुई पट्टियाँ हैं; किन्तु ये तीनों पट्टियाँ चौड़ाई में एक-सी हैं। बाहर की पट्टी जो पूर्वोक्त लयण में नीचे की ओर खाली थी, प्रतिहारी का अंकन किया गया है। शेष उसी के समान है। उसके बगल वाली पट्टी में नीचे की ओर परिचारिकाओं का अंकन है और उनके ऊपर छोटे-छोटे फलकों में मिथुनों का अंकन हुआ है। भीतरवाली पट्टी में लतापत्र का अंकन हुआ है। यही बात सिरदल में भी है। उसके अगल-बगल वही मकरवाहिनी वृक्षिकाएँ हैं। ऊपर समुद्रमन्थन का दृश्य अंकित है। इस प्रकार इस द्वार का अलंकरण काफी विकसित है।

अब यदि हम चिने हुए मन्दिरों पर दृष्टि डालते हैं तो पाते हैं कि कुण्डा स्थित शकरमढ़ के द्वार में तीन उभरी हुई पट्टियाँ तो हैं, पर वे निरलंकृत हैं। निरलंकृत होने के कारण उसे उदयगिरि के सनकानिक लयण से पहले का अनुमान करने में कोई कठिनाई नहीं जान पड़ती। साँची वाले मंदिर के द्वार का अलंकरण सनकानिक लयण के सदृश ही है, अतः उसे उसके आस-पास रखा जा सकता है। एरण के वराह मन्दिर के द्वार का जो अंश उपलब्ध है, उसमें द्वार की दो ही पट्टियाँ हैं। भीतर की पट्टी चौड़ी है और उसमें पत्रलता का अंकन है तथा बाहरी पट्टी पतली है, उसपर रज्जुका का अलंकरण है। इन दोनों पट्टियों के नीचे दोनों ओर घट लिये परिचारिकाएँ हैं। इसके आगे कोई तीसरी पट्टी रही हो तो उस पर अर्धस्तम्भ का अंकन अनुमान किया जा सकता है। पर निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। वराहमन्दिर के द्वार के अलंकरण की एक ओर सनकानिक लयण के भीतरी दो पट्टियों के अलंकरण से समानता है तो दूसरी ओर उसकी समानता अमृत लयण में नीचे की ओर अंकित परिचारिकाओं के

साथ है। इसमें अमृत लयण में अंकित मिथुन फलकों का सर्वथा अभाव है। इस तथ्यों के आधार पर वराहमन्दिर को उदयगिरि के सनकानिक लयण के बाद और अमृत लयण से पहले का सुविधापूर्वक अनुमान किया जा सकता है और तब इस तथ्य के सहारे कि वराहमन्दिर बुधगुप्त के काल का है, अमृत लयण को बुद्धगुप्त के काल के पीछे का कहा जा सकता है।

तिगोवा के मन्दिर के द्वार के बाजू में तीन पट्टियाँ हैं, किन्तु इनमें से केवल अगल-बगल की पट्टी ही अलंकृत हैं और उनमें पुष्पवल्ली का अलंकरण है। इसका सिरदल प्रायः अनलंकृत-सा है, केवल बीच में गरुड़ का अंकन है। उसके दायें-बायें, उदयगिरि के लयणों के द्वार अलंकरणों की तरह वृक्ष के नीचे नारी (वृक्षिका) का अंकन है। किन्तु यहाँ दोनों ओर वे मकर पर खड़ी नहीं हैं। वे एक ओर मकर पर और दूसरी ओर कच्छप पर खड़ी हैं। इस रूप में वे गंगा और यमुना के रूप में पहचानी जाती हैं। इसके अलंकरण की सादगी के साथ काष्ठ के धरणों का छत में अनुकरण इसे उदयगिरि के चन्द्रगुप्त लयण से पहले के होने का अनुमान प्रस्तुत करता है। वहीं ललाट-बिम्ब में गरुड़ का अंकन और वृक्षिकाओं का गंगा-यमुना रूप, उसके परवर्ती होने का संकेत देता है। इसलिए इसके आधार पर तिगोवा के मन्दिर के काल के सम्बन्ध में कुछ कहना कठिन है।

एरण के नरसिंह-मन्दिर के द्वार के अलंकरण का कोई विवरण कनिंगहम ने प्रस्तुत नहीं किया है; दूसरे किसी सूत्र से भी वह प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार उदयपुर के मन्दिर के द्वार-अलंकरण के सम्बन्ध में हमें कोई जानकारी प्राप्त न हो सकी। अतः उनके द्वार-अलंकरण के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त वर्णित सभी मन्दिरों से भूमरा, नचना-कुठारा तथा देवगढ़ के मन्दिरों के द्वारों का अलंकरण विस्तृत है, जो स्वतः इस बात का द्योतक है कि वे इन मन्दिरों से पीछे के हैं। देवगढ़ के मन्दिर का अलंकरण भूमरा और नचना-कुठारा के मन्दिरों की तुलना में अधिक विस्तृत है। उसमें अलंकरणों की छह पट्टियाँ हैं और प्रायः सभी चौड़ी हैं। भीतर की पहली पट्टी लता-पत्रों की, उसके बाद दूसरी फुल्लवल्ली की और तीसरी मिथुन फलकों की है। चौथी पट्टी, अन्य मन्दिरों के अर्ध-स्तम्भों वाली पट्टी है, किन्तु इसमें अर्ध-स्तम्भ ऊपर के एक चौथाई भाग में सिमट कर रह गया है। इसके सबसे ऊपर दोनों ओर लतापत्रों के लहराने वाले घटों की है तथा फिर थोड़ा-सा रेखांकित स्तम्भ-दण्ड का। और तब दो फलकों में मन्दिर-वास्तु के मुखस्वरूप का अंकन है जिनमें विभिन्न भंगिमाओं में मानव आकृति खड़ी है। और फिर नीचे परिचारिका का अंकन है। अन्तिम पट्टी में नीचे प्रमद (कुब्जक) और ऊपर गंगा-यमुना का अंकन है। लोगों की धारणा है कि गंगा-यमुना का अंकन आरम्भ में ऊपर होता था, पर बाद में नीचे हो गया। इस आधार पर लोग देवगढ़ के मन्दिर को आरम्भ काल में रखते हैं। पर द्वार-शाखाओं (बाजुओं) का विस्तार इसका समर्थन नहीं करता। इसलिए गंगा-यमुना के स्थान को कालक्रम के निर्धारण में महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

भूमरा और नचना-कुठारा के मन्दिरों के द्वारों में भूमरा के मन्दिर की अपेक्षा नचना-कुठारा का मन्दिर अधिक भव्य और विकसित है। द्वारों के स्वरूप के आधार पर भूमरा के मन्दिर को पहले और तब नचना-कुठारा के मन्दिर को तथा सबसे पीछे देवगढ़ के मन्दिर को रखा जा सकता है।

गुप्त-कालीन मन्दिरों के अलंकरण में तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है उनका स्तम्भ। लयण और चिने दोनों प्रकार के मन्दिर वास्तुओं के सामने की ओर समान रूप से मण्डप होता था जिनमें स्तम्भ होते थे। इन स्तम्भों को अलंकरण की दृष्टि से स्पष्ट तीन भागों में बाँटा जा सकता है : (१) आधार, (२) बीच का दण्ड और (३) ऊपर का परगहा। और इन अंगों को अलग-अलग तुलनात्मक ढंग से देखने पर उनके विकास-क्रम को समझा जा सकता है।

साँची के मन्दिर के स्तम्भों का नीचे का एक तिहाई भाग चौकोर और निरलंकृत है। उसके बाद दूसरे एक तिहाई में स्तम्भ-दण्ड है। इस भाग का निचला आधा अठपहल है, उसके ऊपर का चौथाई भाग सोलहपहल हो गया है, तदनन्तर शेष चौथाई भाग में कटाव वाला घण्टकार शीर्ष है और इस शीर्ष के ऊपर एक-तिहाई भाग में चौकोर बैठकी है। यह बैठकी आधे से कुछ कम भाग पर पहुँच कर कुछ चौड़ी हो गयी है और यह चौड़ी बैठकी पतली पट्टी की तरह है। उसके ऊपर एक तीसरी बैठकी है जिसकी पतली पट्टी के ऊपर एक-दूसरे की ओर पीठ किये दो सिंहों का चारों ओर अंकन है। हर ओर दोनों सिंहों के बीच वृक्ष है। उदयगिरि के सनकानिक लयण के स्तम्भ भी लगभग इसी रूप के हैं। इसलिए दोनों की समकालिकता का अनुमान किया जा सकता है। बैठकी पर स्थित सिंह-युग्म अशोक-तम्भों की सीधी परम्परा में हैं और वे बोधगया और भारहुत में देखने में आते हैं। अतः इन्हें गुप्तकालीन स्तम्भों का निजस्व तो नहीं कह सकते पर ये पीछे बुधगुप्त के काल तक बराबर चलते चले गये हैं। इसी प्रकार कटाववाला घण्टाकार शीर्ष अशोक स्तम्भों की विशेषता रही है और वह उसका क्रम बेसनगर से प्राप्त मकरध्वज और विष्णुध्वज में भी प्राप्त होता है और गुप्तकाल में द्वितीय चन्द्रगुप्त के मेहरौली लौह स्तम्भ के शीर्ष के रूप में भी उपलब्ध है। इस प्रकार गुप्त-स्तम्भों का यह भाग पूर्वपरम्परा से गृहीत है पर परवर्ती काल में इस कटावदार घण्ट-शीर्ष का लोप हो जाता है।

तिगोवा के मन्दिर के चारों स्तम्भ एक से हैं। इन स्तम्भों का निचला एक तिहाई भाग साँची और उदयगिरि के स्तम्भों की तरह ही चौकोर और सादा है। उसके ऊपर का एक तिहाई भाग दण्ड का है। यह अंश भी स्पष्ट तीन भागों में बँटा है। निचला एक-तिहाई अठपहल, उसके बाद का तिहाई हिस्सा सोलह-पहल और ऊपर का तिहाई हिस्सा गोल है जो दो भागों में विभक्त है। गोल अंश में कटाव है। इसके ऊपर दुहरे पत्रांकित कण्ठ के ऊपर कुम्भशीर्ष है, जिसके ऊपरी कोनों से लतापत्र बाहर को उलट रहे हैं। इस शीर्ष के ऊपर स्तम्भ का अन्तिम तिहाई अंश बैठकी के रूप में है। यह बैठकी लगभग चार समान भागों में बँटी हुई है। नीचे का एक चौथाई चौकोर और सादा

है; उसके ऊपर का चौथाई आगे को निकलती हुई पाँच पट्टियों में बँटा है। उसके ऊपर के तीसरे चौथाई में चारों ओर दो-दो गवाक्ष-मुखों का अंकन है और सबसे ऊपर के चौथाई में सिंहयुग्म, चारों ओर है और उनके बीच में वृक्ष है। स्तम्भ का यह अंकन साँची के स्तम्भ के क्रम में ही है पर दो बातों में उससे भिन्न है। एक तो इसका अलंकरण अधिक भारी है, दूसरे इस स्तम्भ में कटावदार घण्ट-शीर्ष के स्थान पर लता-पत्रयुक्त कुम्भ है। यह अन्तिम विशेषता उसे साँची के मन्दिर से अलग करती है।

एरण के नृसिंह मन्दिर के स्तम्भों का तिगोवा के स्तम्भों से काफी साम्य है। जहाँ तक बैठकी और दण्ड का सम्बन्ध है, दोनों प्रायः एक से हैं। तिगोवा के स्तम्भ के समान ही बैठकी में वृक्ष के साथ सिंह-युग्म हैं, उसके नीचे की बैठकी में गवाक्ष-मुख है, अन्तर यह है कि इसमें दो के स्थान पर तीन हैं। उसके नीचे तिगोवा के समान ही दो और बैठकी हैं पर इसमें पाँच पतली पट्टियों के स्थान पर एक चौड़ी पट्टी है और उसके नीचे काफी चौड़ी चौथी बैठकी। उसके नीचे तिगोवा के स्तम्भों के समान ही लता-पत्रयुक्त कुम्भ है। उसके नीचे के दुहरे कण्ठे के अलंकरण में कुछ भिन्नता है और फिर उसी तरह सोलह-पहल और अठपहल दण्ड है। इसके दण्ड में बीच मे कीर्तिमुखों और झालरों का अलंकरण है जो तिगोवा में नहीं है। नीचे के आधार का सपाट चौकोर रूप ने यहाँ एक सर्वथा नया रूप लिया है। वह पाँच भागों में बँट गया है और सीढ़ी-नुमा रूप धारण कर लिया है। इस प्रकार यह स्तम्भ तिगोवा के स्तम्भ के क्रम में होते हुए उससे कुछ अधिक विस्तृत और विकसित है। इस प्रकार यह तिगोवा के मन्दिर के बाद का है, किन्तु बहुत बाद का नहीं।

एरण के वराह मन्दिर के स्तम्भ पूर्वोल्लिखित स्तम्भों से अपने अलंकरणों में सर्वथा भिन्न है। इसका आधार छोटे-बड़े नौ कारनीसों में बँटा है। उनमें बीच का एक बड़ा कार्नीस नुकीला न होकर गोल है। इस आधार के ऊपर चौकोर स्तम्भ दण्ड है जो चारों ओर लतापत्र युक्त कुम्भ से अलंकृत है। इसमे लतापत्र नीचे तक आये हैं। उसके ऊपर लगभग आधा भाग सोलहपहल है। जिसके ऊपरी भाग में हस्ति-नख का अंकन है और चारों ओर जंजीर से लटकता घण्टा है। उसके ऊपर उलटे कमल का कण्ठ है जिसके ऊपर-नीचे के समान ही पत्रलतायुक्त कुम्भ है। उसके ऊपर पुनः आमलकीनुमा गोल कण्ठ है जिसके ऊपर एक बैठकी है जिस पर दो गुँथे हुए सर्प हैं और कोनों पर घुटनों पर खड़ी मानवाकृति। इस बैठकी के ऊपर कटे हुए खरबूजे की तरह कण्ठ है, उस पर पुनः चौकोर बैठकी है जो दो भागों में बँटी है। दोनों भाग दो भिन्न ढंग से अलंकृत हैं। इसके ऊपर सम्भव है सिंह युग्म रहे हों पर वह उपलब्ध नहीं हैं। अपने इस रूप में ये स्तम्भ नृसिंह मन्दिर के स्तम्भों से कहीं अधिक विकसित हैं। इसमें उससे सम्बन्ध जोड़ने वाला कुम्भ ही है पर उसमें भी काफी भिन्नता है। इससे अनुमान होता है कि वराहमन्दिर नृसिंहमन्दिर से कम-से-कम पचास वर्ष पीछे का होगा।

एरण के विष्णुमन्दिर के स्तम्भ का आधार वराहमन्दिर के स्तम्भों के आधार सरीखा ही है तथा उसमें बैठकी के सबसे ऊपरी भाग में वृक्षयुक्त सिंह का अंकन है। इस प्रकार यह भी उपयुक्त स्तम्भों के क्रम में आता है किन्तु यह बहुत बाद का है। यह उसके मध्य भाग से प्रकट होता है जो अपने रूप और अलंकरण में अन्य सभी मन्दिरों के स्तम्भों से भिन्न है।

नचना-कुठारा और भूमरा तथा देवगढ़ में स्तम्भ यथास्थान प्राप्त नहीं हुए हैं और जो कुछ भी उपलब्ध हैं उनसे उनकी समुचित कल्पना नहीं उभरती, अतः उनकी चर्चा का कोई महत्त्व नहीं है। कुण्डा के शंकरमढ़ में मूलतः मण्डप नहीं था। पीछे के मण्डप के संकेत ही मिलते हैं। अतः उसके स्तम्भों के सम्बन्ध में भी कुछ नहीं कहा जा सकता।

मुकुन्ददर्रा का मन्दिर स्वयं मण्डप सरीखा है। उसका निर्माण स्तम्भों पर ही हुआ है। पर उसके स्तम्भ उपर्युक्त स्तम्भों की परम्परा से सर्वथा भिन्न हैं। वे स्तूपों की वेदिकाओं के स्तम्भों की परम्परा में जान पड़ते हैं। उसमे चारों ओर बस फुल्लकमल का सादा अलंकरण हुआ है।

गुप्तकालीन लयण और चिने मन्दिरों को उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निम्नलिखित काल-क्रम मे रखा जा सकता है:

१. कुण्डा का शंकरमढ़ ३५० ई० से पूर्व।
२. साँची मन्दिर ३५०-३७५ ई०।
३. मुकुन्द-दर्रा मन्दिर लगभग ४०० ई०।
४. सनकानिक लयण (उदयगिरि) ४०२ ई०।
५. वीरसेन (तवा) लयण (उदयगिरि) ४०२–४१२ ई०।
६. जैन लयण (उदयगिरि) ४१५ ई०।
७. तिगोवा का मन्दिर लगभग ४२५ ई०।
८. एरण का नृसिंह मन्दिर ४३०–४५० ई०।
९. एरण का वराह मन्दिर ४८५–५०० ई०।
१०. अमृत लयण (उदयगिरि) ५०० ई०।
११. एरण का विष्णु मन्दिर ५००–५५० ई०।
१२. भूमरा ५००–५५० ई०।
१३. नचना-कुठारा का मन्दिर ५००–५५० ई०।
१४. देवगढ़ का मन्दिर ६०० ई०।
१५. मुण्डेश्वरी मन्दिर ६०० ई०।

कीर्ति-स्तम्भ और ध्वज-स्तम्भ—मौर्य सम्राट् अशोक ने स्थान-स्थान पर स्तम्भ खड़ा कर उन पर अपना धर्म-शासन अंकित कराया था। स्तम्भों पर अभिलेख अंकन की यह परम्परा उसने स्वयं स्थापित की थी अथवा वह पूर्व की किसी परम्परा का अनुगमन था, कहा नहीं जा सकता। परवर्ती काल में स्तम्भ-स्थापन की दो परम्पराएँ देखने में आती हैं। (१) शासकों ने अपनी कीर्ति स्थायी करने के निमित्त

स्तम्भों पर अभिलेखों को अंकित कराया। (२) धर्मानुगामिनी जनता ने अपनी धार्मिक भावना के द्योतकस्वरूप मन्दिरों के सामने ध्वजस्तम्भ खड़े कराये।

ध्वजस्तम्भों की परम्परा ईसा पूर्व की शताब्दीमें बेसनगर में देखने में आता है। वहाँ से अनेक स्तम्भशीर्ष उपलब्ध हुए हैं। कीर्ति-स्तम्भों की परम्परा कब स्थापित हुई कहा नहीं जा सकता। समुद्रगुप्त की प्रशस्ति सर्व प्रथम इलाहाबाद में स्थित एक स्तम्भ पर देखने में आती है। किन्तु यह स्तम्भ मूलतः उसका अपना न था। वरन् उससे पहले अशोक ने उस पर अपना लेख अंकित कराया था। तदनन्तर कीर्तिस्तम्भ के रूप में चन्द्र का मेहरौली (दिल्ली) स्तम्भ प्राप्त होता है। यह स्तम्भ लोहे का बना २३ फुट ८ इंच लम्बा और आकार में गोल है। यह नीचे से ऊपर क्रमशः पतला होता गया है। उसका नीचे का व्यास १६ इंच और ऊपर १२ इंच है। यह नीचे से ऊपर तक लेख के अंश को छोड़ कर एकदम सादा है। ऊपर सिरे पर अशोक स्तम्भों की परम्परा में कटावदार घण्टे का शीर्ष है। उसके ऊपर एक के ऊपर एक पाँच कण्ठ हैं। नीचे और ऊपर के कण्ठ सादे और बीच के तीन कण्ठ आमलकीनुमा हैं। उसके ऊपर एक चौकोर बैठकी है। इस बैठकी के ऊपर विष्णु अथवा गरुड़ की मूर्ति रही होगी जो अब अनुपलब्ध है।

स्कन्दगुप्त की प्रशस्तियुक्त पत्थर का स्तम्भ भितरी (जिला गाजीपुर) में है। यह कदाचित् कीर्ति-स्तम्भ की अपेक्षा ध्वज-स्तम्भ ही रहा होगा। किन्तु इस स्तम्भ का विवरण हमें उपलब्ध न हो सका।

स्कन्दगुप्त के काल का एक ध्वजस्तम्भ कहाँव (जिवा देवरिया) में है। यह स्तम्भ भी सम्भवतः अभी तक कहीं प्रकाशित नहीं है। पत्थर का बना यह स्तम्भ नीचे चौकोर है जिसके एक भाग में पार्श्वनाथ का उच्चित्रण हुआ है। उसके ऊपर कुछ अंश अठ-पहल है। फिर वह गोल है जिसमें गहरे कटाव हैं। उसके ऊपर कीर्तिमुख का अंकन है और तब कटावदार घण्टानुमा उसी प्रकार का शीर्ष है, जिस प्रकार का शीर्ष चन्द्र के मेहरौली स्तम्भ में है। इसके ऊपर बैठकी के चारों ओर चार तीर्थंकरों का उच्चित्रण है।

तदनन्तर बुधगुप्त के शासनकाल में मातृविष्णु और धन्यविष्णु नामक दो भाइयों ने एरण में गरुड़ध्वज स्थापित किया था। यह स्तम्भ आज भी अपने स्थान पर अक्षुण्ण है। यह स्तम्भ ४३ फुट ऊँचा और तेरह फुट वर्गाकार आधार पर खड़ा है। इसका नीचे २० फुट तक २ फुट सवा दस इंच वर्गाकार है, उसके ऊपर आठ फुट तक अठपहल है। और तब साढ़े तीन फुट ऊँचा, तीन फुट व्यास का कटावदार घण्टे की शकल का शीर्ष है। उसके ऊपर डेढ़ फुट की बैठकी है जिसके ऊपर तीन फुट की दूसरी बैठकी है जिसका नीचे का आधा भाग सादा है और ऊपर के आधे भाग में चारों ओर बैठे हुए सिंह-युग्म हैं और तब उसके ऊपर ५ फुट ऊँची गरुड़ की दोरुखी मूर्ति है जिसके पीछे चक्र का अंकन है।

मन्दसौर में यशोधर्मन विष्णुवर्धन का कीर्ति-स्तम्भ प्राप्त हुआ है; किन्तु इसका गोल दण्ड ही उपलब्ध हुआ है और उसमें लेख के अतिरिक्त और कुछ उल्लेखनीय नहीं है।

अनुक्रमणिका

भ

य

ल

श

ह

क्ष

त्र

(देखिये 'त')